पालि भाषा और साहित्य का इतिहास



प्रोफेसर भागचन्द्र जैन

पालि भाषा और साहित्य का इतिहास

(History of Pali Language and Literature)

डॉ. भागचन्द्र जैन भास्कर

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
महाकवि ज्ञानसागर जैनदर्शन पीठ



सन्मति प्राच्य शोध संस्थान, नागपुर

ज. रामानन्दाचार्य रा. संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर
२०१५

मानव संसाधन विभाग, शिक्षा मंत्रालय, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान,
नई दिल्ली द्वारा प्रदत्त आर्थिक सहायता के अंतर्गत प्रकाशित

पालि भाषा और साहित्य का इतिहास

महामहोपाध्याय, जैनरत्न

डॉ. भागचन्द्र जैन भास्कर

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
महाकवि ज्ञानसागर जैनदर्शन पीठ
ज. रामानन्दाचार्य, रा. संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर

आय.एस.बी.नं. ८१-८५७८३-४६-२

प्रथम संस्करण २०१५
५०० प्रतियां

मूल्य : ₹ २०८.००

प्राप्ति-स्थान : कला प्रकाशन, बी. ३३/३३ए ए-१, न्यू साकेत कॉलोनी,
बीएचयू., वाराणसी-५
मोतीलाल बनारसीदास, चौक, वाराणसी
वेस्टर्न बुक डिपो, सदर, नागपुर-४४०००१

प्रकाशक

ज. रामानन्दाचार्य रा. संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर
सन्मति प्राच्य शोध संस्थान, नागपुर (आलोक प्रकाशन)
रजि. अधिनियम १८६० के अंतर्गत नो.क्र. महा. ५७१/८८, नागपुर
कस्तूरबा वाचनालय के पास, सदर, नागपुर-४४०००१, फो. ०७१२-२५४१७२६

मुद्रक : सना कम्प्युटस, गोरेवाडा रोड, नागपूर, मो. ०९८९०७६२९१५

प्रकाशकीय

बौद्धधर्म श्रमण विचारधारा से संबद्ध एक मानवतावादी धर्म है जिसके संस्थापक तथागत गौतमबुद्ध ने छठी शताब्दी ई.पू. में अहिंसा और करुणा के सिद्धान्तों की महासरिता का उद्‌भावन किया और सांसारिक दुःखों से संतप्त जन सामान्य को चतुरार्यसत्य तथा प्रतीत्य समुत्पाद जैसे सकारात्मक दर्शन देकर उसे अन्धकाराच्छन्न महापथ पर नई ज्योति प्रदान की। कालान्तर में हीनयान और महायान जैसे सम्प्रदायों में वह विभक्त हुआ और पालि के साथ संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश जैसी भारतीय भाषाओं में अपार साहित्य का सृजन हुआ। चीनी, तिब्बती आदि भाषाओं ने भी इस बौद्ध साहित्य को सुरक्षित रखने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

बौद्धधर्म का पालि साहित्य थेरवादी परम्परा से संबद्ध है। उसके त्रिपिटक और त्रिपिटक पर रचित अट्ठकथाओं, टीकाओं, अनुटीकाओं, वंस, व्याकरण, काव्य आदि विविध विधाओं के ग्रन्थ सांस्कृतिक सामग्री से आपूर हैं। भाषाविज्ञान, इतिहास, भूगोल, दर्शन, संस्कृति, साहित्य आदि जैसे शैक्षणिक क्षेत्रों में शोधकार्य के लिए इसमें बहुत सम्भावनाएं सन्निहित हैं।

प्रोफेसर डॉ. भागचन्द्र जैन हमारे विश्वद्यालय के जैन दर्शन पीठ के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हैं। वे जैनदर्शन के साथ ही बौद्धदर्शन और पालि-प्राकृत, संस्कृत और पुरातत्त्व के भी निष्णात विद्वान हैं। अनेक विश्वविद्यालयों में कार्यरत रहे प्रोफेसर जैन को २००४ में इस क्षेत्र में विशिष्ट योगदान के लिए राष्ट्रपति पुरस्कार से भी सम्मानित किया जा चुका है।

प्रस्तुत प्रकाशन **पालि भाषा और साहित्य का इतिहास** मानव संसाधन विभाग, शिक्षा मंत्रालय, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली द्वारा प्रदत्त आर्थिक सहायता के अंतर्गत प्रकाशित हो रहा है। तदर्थ हम उनके सधन्यवाद आभारी हैं। आशा है, विद्वज्जगत और छात्र जगत के लिए यह पुस्तक निश्चित ही रुचिकर और उपयोगी होगी।

प्रोफेसर विनोद शास्त्री
कुलपति

विषय - सूची

आद्यमिताक्षर

बौद्ध संस्कृति भारतीय संस्कृति का अभेद्य अंग है। श्रमण संस्कृति का अंगभूत होकर उसने अपने उतपत्तिकाल से ही मानव की आध्यात्मिक चिन्तन शक्ति को ज्ञान और तर्क की भूमिका पर खडे होकर विकसित किया है। श्रद्धा के सजग प्रहरी के रूप में निष्पक्ष विचार और अन्तःस्पर्शी तर्क का होना व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है। आत्म तत्त्व की साधना भी ज्ञान और तर्क के बिना संभव नहीं। चारित्र की स्थिति इसके उपरान्त ही आती है। कालान्तर में दर्शन, ज्ञान और चारित्र का समन्वित रूप स्वतत्त्व के विकास में मूलकारण सिद्ध होता है। बौद्धधर्म अपने मूलरूप में इसी भूमिका पर खडा हुआ था।

श्रमण संस्कृति का अभिन्न अंग होने से बौद्धधर्म समानता, समता, कर्मक्षय और आत्मपुरुषार्थ पर विश्वास करता है। वहां ईश्वर मार्गदृष्टा है, सृष्टिकर्ता-हर्ता-धर्ता नहीं। अतः व्यक्ति ईश्वर के प्रसाद पर निर्भर नहीं बल्कि स्वयं के पुरुषार्थ और सत्कर्म उसे निर्वाण तक ले जाते हैं। उसकी मूल साधना है आत्मचिन्तन और भेदविज्ञान। चाहे ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र, सभी को आत्मचिन्तन और मुक्ति प्राप्त करने का समान अधिकार है। कोई भी व्यक्ति मात्र गोत्र या धन से श्रेष्ठ नहीं, उसकी श्रेष्ठता तो उसके उत्तम कर्म, विद्या, धर्म व शील से है (विसुद्धिमग्ग)। आत्मा अथवा चित्त स्वरूपतः निर्मल और निर्विकार है। हमारे कर्म उसके इस मूल स्वरूप को आवृत कर लेते हैं । आत्मा के इस विकार भाव को दूर करने के लिए शुद्ध भावपूर्वक अहिंसात्मक साधना अपेक्षित है। इस प्रकार समानता और अहिंसा श्रमण संस्कृति की मूलभूत विशेषताएं हैं। भगवान बुद्ध इसी संस्कृति के पोषक थे।

बौद्ध संस्कृति का इतिहास एक समृद्ध क्षेत्र है। उसे सुधारवादी आन्दोलन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जा सकता है। सामाजिक और आध्यात्मिक क्षेत्र की परिवर्तित अवस्था को सुचिन्तित ढंग से सुव्यवस्थित करना बौद्धधर्म का मूल कर्तव्य था। उस पर वैदिक संस्कृति की अपेक्षा जैन संस्कृति का प्रभाव बहुत अधिक दिखाई देता है। वस्तुतः ऐसी कोई विशेष बात नहीं दिखाई देती जो तत्कालीन जैनधर्म में न रही हो। कथन-प्रकार में अथवा शब्दावली में अन्तर अवश्य हुआ है जो स्वाभाविक भी है।

जैनधर्म मोहेनजोदडो-हडप्पा कालीन तो है ही। वह प्राचीनतम श्रमणधर्म है। इस दृष्टि से जैनधर्म और बौद्धधर्म का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाना अभीशेष है।

बौद्धधर्म का उद्भव आज से लगभग २६०० वर्ष पूर्व लुम्बिनी कपिलवस्तु (भारत वसुन्धरा) में हुआ। बौद्धधर्म के संस्थापक तथागत गौतम बुद्ध ने आत्मसाधना कर संसार को यह दर्शन दिया कि आत्म तत्त्व कुछ नहीं मात्र शारीरिक और मानसिक अंगों का एक पुंज है जो इच्छा और तृष्णा के कारण जन्म जन्मान्तरों में भ्रमण करता रहता है। इच्छा या तृष्णा का अन्त करने से ही दु:खों का अन्त हो जाता है। इसके लिए हमें मानसिक पवित्रता लानी होगी और शील का पालन कर प्रज्ञा और समाधि को ग्रहण करना होंगा। आत्मा जैसा कोई नित्य तत्त्व नहीं है जो जन्म-जन्मान्तर तक जाये। इच्छा और तृष्णा के जो संस्कार बच जाते हैं वही कर्म के साथ भवान्तरों का कारण बनते हैं। बौद्धधर्म का यह परम्परागत अनात्मवाद यद्यपि विकास का परिणाम है पर दार्शनिक क्षेत्र में इसे हम एक क्रान्तिकारी कदम कह सकते हैं।

दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में ६२ प्रकार की मिथ्यादृष्टियों का उल्लेख मिलता है जिनमें तत्कालीन प्रमुख छह सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धान्तों का पता चलता है - पूरण कस्सप का अक्रियावाद, मक्खलि गोसाल का नियतिवाद, अजित केसकंबलि का भौतिकवाद, पकुधकच्चायन का अकृततावाद या अक्रियावाद-उच्छेदवाद, संजय वेलाट्ठिपुत्त का अनिश्चिततावाद या अमराविक्खेपवाद और निग्गण्ठ नातपुत्त का चातुर्यामसंवरवाद। तथागत बुद्ध का मध्यममार्गवाद भी इसमें जोड दिया जाना चाहिए। इन वादों में निग्गण्ठ नातपुत्त के नाम पर जो चार्तुयामसंवरवाद का उल्लेख आया है वह भ्रमोत्पादक है। वह वस्तुत: तीर्थंकर पार्श्वनाथ की परम्परा से संबद्ध था जिसे लोक में अधिक प्रचलित होने के कारण महावीर से जोड दिया गया। उन्हें अंगुत्तरनिकाय (भाग ३, पृ. २७६) में पावाश्रव के पांच कारणों के रूप में देखा जा सकता है। जैनागम में तो यह सब मिलता ही है।

जहां तक ६२ प्रकार की मिथ्यादृष्टियों का प्रश्न है उन्हें मुख्यत: दो भागों में विभाजित किया गया है - १) आदि सम्बन्धी १८ मत और २) अन्त: सम्बन्धी ४४ मत। सूत्रकृतांग में ऐसे ही मतमतान्तरों की गणना ३६३ बतायी गई है - १. क्रियावाद १८०, २. अक्रियावाद ८४, ३. अज्ञानवाद ६७ और वैनयिकवाद ३२ (१८०+८४+६७+३२=३६३ कुल)।

तथागत बुद्ध का मूल व्यक्तित्व एक ऐतिहासिक महापुरुष का व्यक्तित्व था। परन्तु उनकी जीवन घटनाओं का क्रमिक आलेखन कहीं नहीं हुआ। साधारणतः महापुरुषों के प्रारम्भिक जीवन के विषय में अधिक नहीं मिला करता। पालि साहित्य में जो कुछ भी उल्लेख मिलते हैं वे सुव्यवस्थित नहीं है। पर जो भी उल्लेख मिलते हैं उनसे यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनका परिवार तीर्थंकर पार्श्वनाथ का अनुयायी था और बुद्ध ने स्वयं जैन मुनि बनकर कुछ समय तपस्या की थी (मज्झिम १.७७-८०) सिद्धार्थ और शुद्धोदन नाम भी इसके प्रमाण हैं। इसे हमने अपने पी-एच.डी. शोधप्रबन्ध में सिद्ध करने का प्रयत्न किया है (श्रीलंका, १९६५)। पालि साहित्य में बोधिवृक्ष का उल्लेख नहीं मिलता पर उसकी पहचान अश्वत्थ वृक्ष से की जाती है।

पालि साहित्य में विखरे उल्लेखों के आधार पर बुद्ध की जीवनी का किंचित् आलेखन किया जा सकता है। पिता शुद्धोदन के द्वारा संयोजित सुन्दरियों के सौन्दर्य पर कृष्णा गौतमी की एक टिप्पणी ''**निब्बुता नून सा माता, निब्बुतो नून सो पिता** (निदानकथा, पृ. ७५) में प्रयुक्त निब्बुता शब्द का अर्थ आत्मशान्ति लिया जा सकता है जिससे उन्हें एक नया मार्ग दर्शन हुआ। बाद में उन्हें सघन विरागता आती गई और फलतः गृहत्याग किया जिसका वर्णन बोधिराजकुमार सुत्त (म.नि. २.४.५) में उपलब्ध होता है। इस उल्लेख से स्पष्ट है, भ. बुद्ध ने प्रव्रज्या अपने पारिवारिक सदस्यों के समक्ष ली। गुप्त महाभिनिष्क्रमण उत्तरकालीन ग्रन्थों के आधार पर प्रचलित हुआ। मार संघर्ष का वर्णन भी उत्तरकालीन पालि साहित्य और संस्कृत साहित्य में मिलता है जिसे मानसिक द्वन्द्व का प्रतीक माना गया है। इसके कथात्मक विकास पर समुचित विचार किया जाना चाहिए जैसा थामस ने विचार व्यक्त किया है।

सम्बोधि प्राप्ति के बाद धम्मपद (११.८९) के अनुसार भगवान ने सर्वप्रथम निम्नलिखित उद्गार व्यक्ति किये - अनेकजाति संसारं संघाविस्सं अनिब्बिसं....। महावग्ग और उदान में ये उद्गार इस प्रकार हैं - यदा हवे पातु भवन्ति धम्मा आतापिनो झायतो ब्रम्हणस्स...। ललितविस्तर में कुछ और ही वचन इस प्रसंग में उल्लिखित हैं - छिन्नवर्त्मोपशान्तरजाः...। ब्रह्मयाचना पर भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। मेरी दृष्टि में यदि इसे सांसारिक प्राणियों की चेतना और शक्ति का अवबोध प्राप्त करने की मनःस्थिति का सूचक मान लि जाये तो कहीं अधिक युक्तिसंगत होगा।

त्रिरत्न

बौद्धधर्म में बुद्ध, धर्म और संघ को त्रिरत्न कहा जाता है। तथागत बुद्ध को भिषगाचार्य की संज्ञा दी गई है। संसारियों के लिए धर्म दवा है और संघ उसकी देखभाल करने वाला घटक है। शाक्यमुनि की जीवन घटनाओं में यथासमय परिवर्तन/परिवर्धन होता रहा है। अनेक कथाएं और अनुश्रुतियां उसमें जुड गईं। बोधिचित्तोत्पाद के बाद वे बोधिसत्त्व बन गये। असंख्येय कल्पों की साधना हुई। शक्यमुनि ने अपना ज्ञान दीपंकर को दिया और उसके बाद उनकी उत्तराधिकारी परम्परा का निर्माण हुआ।

भ. बुद्ध ने मध्यममार्ग, चतुर्ण्यसत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि का उपदेश देते हुए अस्सी वर्ष की अवस्था में परिनिर्वाण प्राप्त किया। यह कहते हुए कि **''वयधम्मा सरवारा अप्पमादेन सम्पादेथ''**। इस सन्दर्भ में विद्वानों में अनेक परम्पराएं प्रचलित हैं जिनमें सिंहल और वर्मा की परम्परा पर विश्वास अधिक ठहरता है। त्रिपिटक व जैनागमों में आये हुए उल्लेखों के आधार पर बुद्ध का परिनिर्वाण ५४४-५४३ ई.पू. निश्चित किया जा सकता है और चूंकि वे अस्सी वर्ष की अवस्था तक धर्मदिशना करते रहे इसलिए उनका जन्म ६२४-६२३ ई.पू. माना जाना युक्तिसंगत है।

तथागत बुद्ध के जीवनकाल में चतुर्विध संघ का निर्माण हो गया था। भिक्षु और उपासक वर्ग के बीच कौन श्रेष्ठ था इस विषय पर बुद्धकाल में विवाद तो नहीं पनपा पर आगे उस पर प्रश्न चिन्ह अवश्य खडा हो गया। उपासकवर्ग ने अपने को श्रेष्ठत्तर माना। तब महायन ने उन्हें यह स्थिति दे दी कि वे भी बोधिसत्त्व अवस्था के माध्यम से निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं। इसी तरह पांच वर्ष बाद भिक्षुणीसंघ बन गया और संघ का भी विकास होने लगा। उपासकों को पंचशल के शिक्षापद दिये। बाद में तीन मिलानेपर अष्टांगशील तथा पांच मिलानेपर दश शीलों की शिक्षा दी। उपसंपदा देकर उन्हें संघ में दीक्षित किया गया। और फिर महाप्रजापति गौतमी के नेतृत्व में भिक्षुणीसंघ की भी स्थापना हुई। बाद में ज्ञाप्ति (प्रस्ताव) और तीन कर्मवाचना (प्रस्ताव को दुहराना) अर्थात् ज्ञप्तिचतुर्थ के माध्यम से श्रामणेरों को दीक्षित किया गया।

भिक्षु के पास तीन चीवर रहते हैं - उत्तरासंग, अन्तरावासक और संघाटी। भिक्षुणी इनके अतिरिक्त संकक्षिका और कुशूल भी रखती हैं। ये सभी काषाय वस्त्र होते हैं। उपानह वैकल्पिक हैं। वह रेजर, सुई, भिक्षापात्र आदि आठ वस्तुएं भी रख सकता है। वह विकाल भोजन से दूर रहता है। विहार, पर्णशीला, प्रासाद, हर्म्य, गुहा, संघाराम में वह रहकर आध्यात्मिक साधना करता है।

इस त्रिरन्त को गान्धारकला में चक्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है। बुद्ध की जीवन घटनाओं का भी कला में उत्कीर्णन हुआ है। वहां माता माया कोख में पुत्र को प्रविष्ट होती देखती है गज के रूप में (भारहुत)। महाभिनिष्क्रमण काल में वे अश्वर पर बैठकर निकले और फिर अश्व को छोड दिया। इसका चित्रण अमरावती कला में हुआ है। बोधिवृक्ष, धर्मचक्र प्रवर्तन, निर्वाण दृश्य आदि भी बौद्धकला में चित्रित हुए हैं। तिब्बती, चीनी पेन्टिंग्स, अजन्ता पेन्टिंग, आदि में ऐसे चित्र उपलब्ध हुए है। अजन्ता की गुफा नं. १६ में बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध अनेक चित्रों का अंकन हुआ है। बुद्ध की अनेक मुद्राओं और भावों का चित्रण चित्रकला की विविधता को स्पष्ट करता है। अनेक बौद्ध जातकों के कथानकों को चित्रकार ने अपनी तूलिका से भित्तियों पर सजीवता पूर्वक उतार दिया है। यहीं बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण का चित्र अंकित है। सोये हुए पुत्र तथा पत्नी पर दृष्टि डालते हुए बुद्ध का सुन्दर अंकन किया गया है। इस प्रकार अनेक चित्र प्रभाव ढंग से अजन्ता की गुफाओं में उकेरे
गये हैं।

मूल बौद्धधर्म का प्रश्न

साधारण तौर पर यह माना जाता है कि दीघनिकाय और मज्झिमनिकाय तथा चीनी आगम साहित्य में सुरक्षित बौद्धधर्म मूल बौद्धधर्म है। अशोक के समय तक मूल बौद्धधर्म सुरक्षित रहा है यह निर्विवाद तथ्य है। सर्वास्तिवाद का अस्तित्व उसके बाद ही सामने आया। उत्तरकालीन में महासांघिक सम्प्रदाय के विकास का परिणाम महायान का रूप है। महायान की समुन्नत कथाओं और वर्णन विधाओं को मौखिक रूप देना सरल नहीं था। उनका दर्शन तथा पौराणिक रूप भी उत्तरकालीन लगता है। चमत्कार और भक्ति तत्त्व यद्यपि पालि साहित्य में भी मिलते हैं पर उनका सघन रूप महायान साहित्य में मिलता है।

इसके बावजूद महायानी बौद्ध यह मानते हैं कि उनका दर्शन बौद्धिक वर्ग के लिए है और थेरवाद साधारण व्यक्ति के लिए है। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि थेरवाद बौद्धधर्म का मूल रूप है। जिसका विकसित महायान में उपलब्ध है। फिर भी शालिस्तम्भसूत्र जैसे कतिपय महायानी ग्रन्थ ऐसे है जिनका तुलनात्मक अध्ययन करने से यह पता चलता है कि उसका मूल आधार पालि त्रिपिटक रहा है। उसके प्रतीत्यसमुत्पादवाद सिद्धान्त की व्याख्या पालि तथा सर्वास्तिवादी परम्परा पर आधारित है।

बौद्धदर्शन के प्रमुख तत्त्वों का विकासात्मक रूप

बौद्धधर्म-दर्शन की दोनों परम्पराएं थेरवाद किंवा हीनयान और महायान स्वयं को तथागत बुद्ध से सीधा सम्बन्ध स्थापित करती हैं। बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग २५० तक थेरवादी और सर्वास्तिवादी परम्पराएं काफी सीमा तक एक साथ चलती रहीं। अशोक के बाद इन परम्पराओं में विकास हुआ और सभी दार्शनिक सिद्धान्तों के रूप विकसित होते गये। प्रथम काल में अर्हत्प्राप्ति और व्यक्तिगत निर्वाण की उपलब्धि को चरम लक्ष्म स्वीकार किया गया। द्वितीयकाल में बौद्धधर्म बहुत्ववाद से हटकर मौलिक एकत्वाद की ओर परिवर्तित हुआ। सनात्मवाद और नि:स्वभाववाद से नैरात्मवाद की ओर प्रस्थान किया। तृतीयकाल में न्यायशास्त्र आया जिसमें आलयविज्ञान और अनादि वासना को स्थापित किया गया। इस समूचे दर्शन को चार शाखाओं में विभक्त किया गया - हीनयान की दो शाखाएं - वैभाषिक और सौत्रान्तिक तथा महायान की दो शाखाएं - योगाचार और माध्यमिक।

यहां हम बौद्धधर्म दर्शन के प्रमुख तत्त्वों का संक्षिप्त विकासात्मक रूप देखेंगे -

१) अव्याकृततावाद

प्राचीनकाल में रहस्यात्मक प्रश्न उपस्थित किये जाते थे जिनका उत्तर विधेयात्मक या निषेधात्मक होता था। बुद्ध इन प्रश्नों का उत्तर दोनों रूपों में न देकर उनके विषय में मौन रहना चाहते थे। ऐसे प्रश्नों की संख्या मूलत: दस थी, जैसे लोक शाश्वत है या अशाश्वत, अन्तवान् है या अनन्तवान्, वही जीव और वही शरीर, अन्य जीव और अन्य शरीर, मरने के बाद तथागत (आत्मा ?) संसार में पुन: आता है या नहीं आदि। भ. बुद्ध ने यह कहकर उन्हें टाल दिया कि उनसे न निर्वेद होगा, न विराग। उन्होंने आगे कहा कि उनके वचनों का मूल्यांकन तर्क की कसौटी पर कसकर ही किया जायें तो अच्छा है।

बुद्ध का यह अव्याकृततावाद विवादग्रस्त दार्शनिक प्रश्नों से दूर रहकर आध्यात्मिक चिरन्तन शान्त की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था। परन्तु उत्तरकाल में उनका मौन भंग कर दिया गया और मूल बौद्ध सिद्धान्तों को समयानुकूल विकसित, परिवर्तित एवं परिवर्धित स्वरूप में उपस्थित किया गया। आचार क्षेत्र में इसी चिन्तन को बुद्ध ने 'मज्झिम पटिपदा' के रूप में प्रयुक्त किया।

अनात्मवाद अथवा निरात्मवाद

निरात्मवाद बुद्ध का एक सफल क्रान्तिकारी प्रयोग है। उन्होंने सर्वप्रथम यह व्याख्या की कि चूंकि यह समूचा जगत अनित्य, भयावह और दुःखकारी है इसलिए इसे अनात्म (अपना नहीं है) मानो। अत्तदीपो विहरथ, अत्तानं गवेसे पयाथ आदि उपदेशों में बुद्ध ने यही उपदेश दिया है। इसके बाद अतभाव की परवर्ती व्याख्या अहं भाग भी है जिसका परित्याग निर्वाणोन्मुखी भिक्खु के लिए अपरिहार्य बताया गया है। इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि बुद्ध ने संसार से वैराग्य जाग्रत करने के लिए दुक्खसमुदय निरोध की भावना से अनात्मवाद की स्थापना की थी। (म.नि. ३.५.६) अनात्मवाद विकास का यह प्रथम चरण था।

आत्मास्तित्ववाद के दुराग्रह को समाप्त करने के लिए उन्होंने अनेक उपमाओं का सहारा लिया और तथागत (आत्मा) के अस्तित्व, अनस्तित्व, जन्म-मरण आदि को अनैकांशिक धर्म कहा। उनके द्वारा पुनर्जन्म और कर्म की स्थिति स्वीकार किये जाने से आत्मा की असत् स्थिति स्वतः कमजोर हो जाती है। अनात्मवाद के विकास का यह द्वितीय चरण है।

इसके बाद का विकास रहा आत्मा के अस्तित्व को व्यावहारिक दृष्टिकोण से तो स्वीकार करना परन्तु पारमार्थिक दृष्टिकोण से उसका निषेध करना। पोट्ठपाद से उन्होंने यही विचार व्यक्त किया। (दी.नि. पोट्ठपादसुत्त)। पुद्गलवाद के बीज संयुत्तनिकाय के भारहारसुत्त में दृष्टव्य है। यहां पुद्गल अर्थात् आत्मा के लिए स्कन्धों को आगन्तुक और पृथक् माना गया है। परवर्ती पुद्गलवादियों ने मध्यम मार्ग के आधार पर पुद्गल को स्कन्धों से न भिन्न और न अभिन्न कहा एवं स्कन्धों को साथ पुद्गल का सम्बन्ध अवक्तव्य बताया। अर्थात् आत्मा का सर्वथा निषेध नहीं किया। अनत्तलक्खणसुत्त में पंचस्कन्ध स्वरूप माना आत्मा को। संयुत्तनिकाय में पंचस्कन्धों के समवायात्मक रूप को सम्मुतिसच्च की दृष्टि से आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया परन्तु परमत्थसच्च की दृष्टि से उसको अस्तित्वहीन माना (यथा हि अंगसंभारा होति सद्दो रथो इति... पंचम लक्खणुत्त)। अर्थात् प्रज्ञप्तिसत् से उसका अस्तित्व है और द्रव्यसत् से उसका नास्तित्व है। इस सन्दर्भ में मिलिन्दपंह में ग्रीक राजा मिलिन्द (मेनान्डर) और नागसेन के बीच हुआ संवाद भी विचारणीय है। यहां नागसेन ने अनातमवाद को पुद्गल नैरात्म्य के रूप में प्रस्तुत किया है - परमत्थतो पनेत्थ पुद्गलो नूपलब्मति। वात्सीपुत्री भी इसी प्रकार

पुद्गलवादी हैं। उनकी दृष्टि से आत्मा पुद्गल स्कन्धों से न भिन्न है, और न अभिन्न है। यदि भिन्न अथवा अभिन्न होता तो शाश्वतवाद और अशाश्वत या उच्छेदवाद का प्रसंग उपस्थित् होता। परन्तु यह सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं हो सका। पुद्गलवादी आत्मवाद की स्वीकृति को धर्मीशून्य धर्म के साथ संगत नहीं कर सके। अनात्मवाद के विकास का यह तृतीय चरण है। 'अवक्तव्य' भी इसी परिधि में आता है। पुद्गल की सत्ता स्वीकार न करने से पुनर्जन्म, स्मृति, सर्वज्ञता आदि का अपलाप हो जायेगा। आत्मा के नास्तित्ववाद को बुद्ध ने दृष्टिस्थान की संज्ञा दी।

बौद्धधर्म में आत्मा के स्थान पर 'सन्तान' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। यहं सन्तान चित्त चैतसिक धर्मो से उत्पन्न होकर प्राप्ति नामक संस्कार विशेष से परस्पर सम्बद्ध हो जाता है। नागसेन एवं अश्वघोष ने इसे दीपशिखा के उदाहरण से स्पष्ट किया है। पुनर्जन्म के प्रश्न का भी समाधान इस दृष्टान्त से हो जाता है। अनातम्वाद के स्थान पर निरात्मवाद शब्द का जन्म भी इसी काल में हुआ है। अभिधर्म में 'चित्त' शब्द ने भी यही कार्य किया है। इस सिद्धान्त के विकास का यह चतुर्थ चरण है।

पंचस्कन्धवाद अथवा सन्ततिवाद की स्थापना करने पर अनेक प्रश्न खडे हुए। स्थिर आत्मा के अभाव में कर्मफल का कर्तृत्व, भोक्तृत्व, जन्मान्तरग्राहित्व, जातिस्मरण आदि का [illegible] कहां और कैसे बनेगा ?इसका समाधान प्रतीत्यसमुत्पाद और मध्यमप्रतिपदा सिद्धान्त से किया गया। विज्ञानवाद की उत्पत्ति हुई और उसने आलयविज्ञान की स्थापना कर चित्तसन्तति को ही संसार का कारण मान लिया। आत्मा के स्थान पर चित्त की स्थापना करने से निरात्मवाद से उत्पन्न प्रश्नों का भी समाधान हो गया। इस सन्दर्भ में वसुबन्धु ने वात्सीयपुत्रों के पंचस्कन्धवाद का खण्डनकर आत्मा को मात्र हेतु प्रत्यय जनित धर्म माना। सन्तानवाद का आश्रय लेकर उनके सभी प्रश्नों का उत्तर दिया। वैभाषिक सस्वरवादी है और बहुधर्मवादी हैं वे किसी भी पदार्थ को शाश्वत नहीं मानते। वसुबन्धु ने विंशतिका में 'चित्तमात्रं भो जिनपुत्र यदुत त्रैधातुकम्' कहकर महायान में त्रैधातुक को विज्ञप्तिमात्र स्वीकार किया है। इससे बाह्यार्थ का प्रतिषेध हो जाता है। नागार्जुन की माध्यमिक कारिका और आर्यदेव के चतु:शतक तथा इन दोनों पर चन्द्रकीर्ति की टीकाएं शून्यवाद (माध्यमिक सम्प्रदाय) की प्रस्थापना करती हैं। उन्होंने आत्मप्रतिषेध के लिए स्वतन्त्र प्रकरण लिखे हैं अनात्मवाद के विकास का यह पंचम चरण है।

प्रतीत्य समुत्पाद

प्रतीत्य समुत्पाद बौद्धधर्म और दर्शन का मूल सिद्धान्त है। उसका तात्पर्य है - कारण के सद्भाव में उत्पत्ति और कारण के असद्भाव में उत्पत्ति का अभाव - इमस्मिं सति इदं होति, इमस्स उप्पादा इदं उप्पज्जति, इमस्मिं असति इदं न होति, इमस्स निरोधा इदं निरुज्झति। अदेर, फ्रांके आदि जैसे कतिपय विद्वान इसे बुद्ध की मूल देशना में सम्मिलित नहीं करते। पर यह सही नहीं है। क्योंकि तथागत ने सम्बोधिकाल में इसका साक्षात्कार किया था (विनय पिटक, महावग्ग)। बुद्ध ने ही इसे मूल देशना में सम्मिलित कर चतुरार्यसत्य के अन्तर्गत इसकी गणना की थी और मज्झिमपटिपदा के नाम से इसे परिचित कराया था।

बुद्ध का यह प्रतीत्यसमुत्पाद शाश्वतवाद, अहेतुवाद, विषमहेतुवाद, नियतिवाद, उच्छेदवाद, अक्रियावाद, नास्तिकवाद आदि सिद्धान्तों के खण्डन का प्रतीक है। हेतुओं पर निर्भरता, ईश्वरवाद अथवा भवितव्यता की अस्वीकृति वं दुःख परम्परा का निरोध-प्रदर्शन इस सिद्धान्त का मूल उद्देश्य था। ये धम्मा हेतुप्पभवा, हेतु तेसं तथागतो आह। तेसं च यो निरोधे, एवं वादी महासमणो वि. महावग्ग)। यह कथन प्रतीत्यसमुत्पाद की सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत करता है। यही इसका प्रथम चरण है।

प्रतीत्यसमुत्पाद अविद्यादि द्वादशनिदानों पर आधारित है। ये बारह निदान अनुलोम-विलोम के माध्यम से क्रमशः दुक्खसमुदय और दुक्खनिरोध का निरूपण करते है। हेतु या कारण मूल का नाम है। राग, द्वेष और स्नेह ये तीन हेतु हैं जो चित्त की अवस्थाओं को विकृत करते हैं। जो धर्म जिस धर्म की स्थिति अथवा उत्पत्ति का कारक होता है, वह उसका प्रत्यय कहा जाता है। ऐसे चौबीस प्रत्यय हैं जो धर्म की उत्पत्ति अथवा निवृत्ति में उपकारक होते हैं। प्रतीत्य समुत्पाद का सम्बन्ध अविद्या और कर्म से हैं। उनके विनष्ट हो जाने पर निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। इन द्वादश निदानों में प्रथम दो निदान अतीत भव से, तीन से दस तक के निदान वर्तमान भव से और शेष दो निदान अनागत भव से सम्बद्ध हैं। यह इसके विकास का द्वितीय चरण है।

उत्तरकालीन बौद्धाचार्यो ने प्रतीत्यसमुत्पद का सैद्धान्तिक पक्ष दार्शनिक रूप से विकसित किया। आचार्य बुद्धघोष ने इसकी विविध प्रकार से मीमांसा करते हुए शून्यता रूपी अनात्मवाद की सिद्धि का आधार माना है (विसुद्धि. परि. १७)। सर्वास्तिदाद के अनुसार प्रतीत्यमुत्पाद के चार भेद हैं - क्षणिक, प्राकर्षिक (अनेक

जन्मिक), सांबन्धिक (हेतु-फल सम्बन्ध युक्त) और आवस्थिक (पंचस्कन्धिक बारह अवस्थाएं)। विज्ञानवाद में प्रतीत्यमुत्पाद को आलयविज्ञान के माध्यम से व्यक्त किया गया है। वहां आलयविज्ञान सांक्लेशिक बीजों का संग्रह स्थान, मूल विज्ञान, कर्मस्वभाव अथवा कारणस्वभाव भी है। उसे न शाश्वत, और न उच्छिन्न प्रत्युत सन्ततिमूलक स्वीकार किया गया है। श्वांनच्यांग के प्रतीत्यसमुत्पाद को आलयविज्ञान का स्वभाव होने के कारण सस्वभावी (हेतु-फल की निरन्तर प्रवृत्त रूप) माना है। यहां प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ गतिशील विश्व माना गया है। नागार्जुन, आर्यदेव, चन्द्रकीर्ति आदि आचार्यों ने शून्यता की सिद्धि में प्रतीत्यसमुत्पाद का ही आधार माना है। इसके विकास का यह तृतीय चरण है।

ईश्वरकल्पना और कर्मवाद

दार्शनिक क्षेत्र में ईश्वर का स्वरूप आज भी विवादग्रस्त है। श्रमण संस्कृति के आचार्यों ने प्रारम्भ से ही ईश्वर के साथ वीतरागता को जोडकर उसे श्रृष्टि का कर्ता-हर्ता-धर्ता न मानकर उसे मात्र पथदर्शक का रूप मानते आ रहे हैं। पथिकसुत्त (दी.नि. २४) आदि सुत्तों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भ. बुद्ध की दृष्टि से ईश्वर की सत्ता मानसिक सत्ता है। यद्यपि उसका सृष्टिकर्ता के रूप में कोई अस्तित्व नहीं है।

प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन में ईश्वर का स्वरूप अधिक स्पष्ट नहीं हो सका। उसने थोडा-बहुत अवक्तव्य का स्थान ले लिया है यद्यपि अव्याकृत प्रश्नों में उसका कोई स्थान नहीं है। चूल सकुलदायी सुत्तन्त में उसे 'परमवर्ण' कहा और तेविज्ज्ञसुत्त में उसका स्वरूप अन्धवेणी के समान बताया। फिर तित्थायतन सुत्त में कहा कि सुख-दुःख आदि ईश्वरकर्तृक नहीं। कर्मवाद बौद्धधर्म की विशेषता है। जिस कर्म को भ. बुद्ध ने गहकारक (गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि, धम्मपद ११.९) माना है, उसे ही सुख-दुःख का कारण भी स्वीकार किया है। ऊंच-नीच, दरिद्र-अमीर के बीच जो खाई बनी है, उसका भी मूल कारण हमारे कर्म हैं (म.नि. चुलकम्मविभंगसुत्तन्त)। इसलिए माणक को उन्होंने कहा था कि प्राणी कर्मस्वक है, कर्मदायाद, कर्मयोनि, कर्मबन्धु और कर्मप्रतिशरण है (वही)। भव भ्रमण का कारण भी कर्म ही है (विभंग पृ. ४२६)। स्वयंकृत परिश्रम के बिना कोई तारक नहीं हो सकता (तुम्हेहि किच्चं आतप्पं, अक्खातारो तथागता, ध.प. २०.४)। 'अत्तदीपो भव' भी इसीलिए कहा गया है।

प्रतीत्य समुत्पाद भव श्रमण के मूल कारणको अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने का साधन है। परन्तु शून्यवाद तक आते-आते बौद्धदर्शन ने पदार्थों की सृष्टि में इस

नियम को मिथ्या कह दिया। नागार्जुन ने इस सन्दर्भ में कहा कि उत्पन्न नष्ट होने वाले पदार्थों में कार्य-कारण भाव की स्थापना करना संभव नहीं है। न कोई पदार्थ स्वतः उत्पन्न होता है, परतः और न स्वत् और अहेतु से उत्पन्न होता है। इसे उन्होंने 'अजातिवाद' कहा है। इसी सन्दर्भ में शान्तिदेव ने नैयायिकों के ईश्वरकर्तृत्ववाद का खण्डन किया है (बोधिचर्यावतार, ९.११७-१४३)। अजातिवाद के प्रतिपथी त्रैकाल्यवादी सर्वास्तिवादियों के अनुसार काल परिवर्तन का नाम ही उत्पाद, स्थिति भंग है (अतिधर्मकोश, ५.२५.६)। शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में और आर्यदेव ने चतुःशतक में 'ईश्वरपरीक्षा' कर उसका खण्डन किया है। यह सव विकासात्मक चरणो का परिणाम है।

त्रिकायवाद

त्रिकायवाद बौद्धदर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। स्थविरवादी विचारधारा के अनुसार भ. बुद्ध पूर्णतः मानव थे। शनैःशनैः उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को मानवोत्तरीय बनाया गया। त्रिकायवाद इसी का दिग्दर्शक है। पालि साहित्य में बुद्ध के दो कायों का उल्लेख मिलता है - रूपकाय और धर्मकाय। कायकल्पना का विकास महासांघिक सम्प्रदाय से प्रारम्भ हुआ। विज्ञानवादियों ने इसे त्रिकाय कल्पना के रूप में विकसित किया।वहां स्थूल रूपकाय को निर्माणकाय और सूक्ष्म रूपकाय को संभोगकाय नाम दिया। निर्माण काय में बुद्ध का अवतार मात्र उपायकौशल प्रदर्शन के निमित्त था। प्रातिहार्य प्रदर्शन इस काय का वैशिष्ट्य है। असंग के अनुसार शिल्प, जन्म, अभिसंबोधि तथा निर्वाणदर्शन और परार्थसिद्धि निर्माण काय की मुख्य विशेषताएं हैं (महायान सुत्रा ९.६४)।

धर्मकाय मूलतः बुद्ध के उपदेशों से सम्बद्ध हैं। धर्म और बुद्ध की एकाकारता धर्मकाय की विशेषता है। धर्मकाय की प्राप्ति आश्रवक्षय का परिणाम है। यह धर्मता प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान है जो दुर्ज्ञेय है। महायान सूत्रालंकार में इसका उल्लेख स्वभावकाय के रूप में किया गया है। माध्यमिक परम्परा में तथागत निःस्वभाव हैं अतः संसार भीनिःस्वभाव है। विज्ञानवाद (योगाचार) शून्यता के 'वस्तुमात्र' माना है जिसे चित्तविज्ञान और अलयविज्ञान की संज्ञा दी गई है। अतः धर्मकाय अलयविज्ञान का आधार है।

स्थविरवाद में संभोगकाय की कल्पना नहीं दिखती। लोकोत्तरवादी तत्त्व के साथ इस कल्पना का विस्तार हुआ है। इसमें बुद्ध के भास्वर शरीर का वर्णन किया जाता

है। महाकरुणा इसका आधार है। संसारी प्राणियों को असहाय देखकर बोधिसत्त्व यह प्रणिधान करता है कि जब तक वह समस्त संसारियों को मुक्त नहीं कर देता तब तक वह स्वयं मुक्त नहीं होगा।

निर्वाण

समस्त कर्माश्रवों का क्षय निर्वाण है। जो निर्वाण इसी जन्म में प्राप्त होता है ह सोपधिशेष निर्वाण है। उसे अच्युत की संज्ञा दी गई है। उस निर्वृत अवस्था के बाद की अवस्था का नाम है निरुपधिशेष निर्वाण[१]। उन्हें क्रमशः स्कन्ध सहवात और स्कन्ध विनिर्मुक्त निर्वाण भी कहा जाता है।

निर्वाण को अजात और असंस्कृत भी माना गया है। बुद्धघोष ने निर्वाण को निषेधात्मक दृष्टिकोण से भी प्रस्तुत किया है। इस तरह स्थविरवादी परम्परा में निर्वाण सकल दुःखों का अभाव रूप है। उसे अभावात्मक माना गया है। उसे प्रतीत्यसमुत्पन्न कैसे कहा जाये और अनात्मवाद का समर्थन कैसे होगा ?ये प्रश्न दार्शनिकों के मन में उठते रहे हैं। अश्वघोष ने इन प्रश्नों का समाधान ''दरियों यथा निर्वृतिमभ्युपेता... आदि कहकर किया है। सौत्रान्तिक निर्वाण को क्लेशजन्म का अभाव रूप मानते हैं पर वैभाषिक उसे प्रतिसंख्या निरोध (सांसारिक आश्रवों का क्षय रूप) कहते हैं।

महायानी परम्परा में निर्वाण का कुछ और विकास हुआ। हीनयान दर्शन में मात्र पुद्गलनैरात्म्य की कल्पना थी जिससे क्लेशावरण का उच्छेद होता है पर महायान दर्शन में इसके अतिरिक्त धर्मनैरात्म्य की भी कल्पना की गई जिसके ज्ञान से ज्ञेयावरण दूर होता है। यहां चरम लक्ष्य अर्हत् प्राप्ति न मानकर बुद्धत्व प्राप्ति स्वीकार किया गया। आलयविज्ञान आत्मा और जीवितेन्द्रिय का काम करता है। शून्यवाद के संस्थापक नागार्जुन ने निर्वाण को न भाव माना, न अभाव माना और न भाव-अभाव माना। उन्होंने उसे अप्रवृत्तिमात्र स्वीकार किया है। आर्यदेव और चन्द्रकीर्ति ने भी उसे अभावात्मक कहा है।

बौद्धदर्शन के विकास का यह संक्षिप्त इतिहास है। इसी परम्परा में प्रमाण लक्षण, प्रमाण भेद, हेत्वाभास, वादविवाद आदि क्षेत्रों में भी बौद्धाचार्यो का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, नागार्जुन, आर्यदेव, धर्मकीत्रि, प्रज्ञाकरगुप्त, शान्तिदेव, अर्चट, शान्तभद्र, धर्मोत्तर आदि आचार्यो के योगदान ने बौद्धदर्शन को एम नया क्षितिज दिया है जिससे सभी दर्शनों के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि बौद्धधर्म का जितना विकास दार्शनिक क्षेत्र में हुआ उतना विनय के क्षेत्र में नहीं हुआ। स्थविर (हीनयानी) साधना में साधक आत्मकेन्द्रित रहता है पर महायानी साधना इस सीमा को स्वीकार नहीं करती। उसमें तो साधक बहुमुखी व्यक्तित्व सम्पन्न और लोकपरायण हो जाता है। उसकी साधना के प्रमुखतः तीन भेद हैं - बोधिचित्त के द्वारा पारमिताओं की प्राप्ति, दशभूमियां तथा त्रिकायवाद। महायानी साधना को बोधिसत्त्व साधना भी कहा गया है। यहां हम समयाभाव के कारण इसके विकासात्मक इतिहास की ओर अपना दृष्टिपात नहीं कर रहे हैं।

अभिधर्म दर्शन भी एक ऐसा विषय है जिसका एक स्वतन्त्र साहित्य हमारे समक्ष है। पालि में अभिधम्म साहित्य की सर्जना का विशेष श्रेय आचार्य बुद्धघोष को दिया जा सकता है। उसके बाद आचार्य अनिरूद्ध का अभिधर्म दर्शन और वसुबन्धु का अभिधर्मकोश का योगदान भी बडा महत्त्वपूर्ण है। पालि और संस्कृत में अभिधर्म पर लिखा विशाल साहित्य है। अभिधर्म दर्शन में भी काफी विकास हुआ है। संस्कृत साहित्य का लेखा जोखा भी किया जाना आवश्यक है।

बौद्धधर्म भारत का कदाचित् प्रथम धर्म है जो विश्व के कोने-कोने में फैला हुआ है। इस दृष्टि से उसकी कला और स्थापत्य में भी वैविध्य देखा जा सकता है। यह एक विस्तृत विषय है जिसका लेखा-जोखा समय सापेक्ष है। बौद्धधर्म-दर्शन के लिए पालि साहित्य एक महाउत्स है। यह तथ्य किसी से प्रच्छन्न नहीं है कि पालि भाषा और साहित्य की परिपूर्ण जानकारी के बिना न तो थेरवाद समझा जा सकता है और न उत्तरकालीन अन्य बौद्ध सम्प्रदायों का दर्शन। हीनयान और महायान के लगभग सभी दार्शनिक बिन्दुओं के बीज पालि त्रिपिटक तथा उसकी अट्ठकथाओं में उपलब्ध होते हैं। भाषाविज्ञान की दृष्टि से पालि वस्तुतः प्राचीन प्राकृत का ही एक भेद है। वह मगध और उसके आसपास की एक प्रादेशिक बोली थी जिसमें तथागत बुद्ध ने अपना धर्मोपदेश देकर संसारी जीवों का कल्याण किया था। बाद में धार्मिक ग्रन्थों की भाषा होने के कारण इसका स्वतन्त्र अस्तित्व हो गया।

पालि का एक भाषिक दर्शन है। उसका उत्तरकालीन विकसित रूप प्राकृत, अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय भाषाओं में आसानी से देखा जा सकता है। इतना ही नहीं, दक्षिण भारतीय भाषाओं पर तथा दक्षिण-पूर्व एशियायी भाषाओं पर भी उसका प्रभाव परिलक्षित होता है।

पालि साहित्य तत्कालीन भारतीय सांस्कृतिक सामग्री का अगाध सागर है।

उसमें दर्शन, मनोविज्ञान, आयुर्वेद, इतिहास, संस्कृति, भूगोल, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विविध विधाओं से संबद्ध ऐसे ढेरों उल्लेख मिलते हैं जिन्हें एकत्रितकर पूरा भव्य प्रासाद खड़ा किया जा सकता है। जैनधर्म को प्राचीनतर सिद्ध करने में पालि साहित्य की अहं भूमिका रही है।

पालि साहित्य के इतिहास पर छात्र जगत के लिए कोई विशेष उपयोगी पुस्तक हमारे देखने में नहीं आई जो संक्षिप्त, सारगर्भित और सुबोध हो। लगभग चालीस वर्ष के शिक्षण अनुभव ने इस पुस्तक को लिखने का मार्ग प्रशस्त किया है। इसमें हमने यथाशक्य प्रयत्न किया है कि छात्र समुदाय को वह सारी सामग्री प्रामाणिक रूप से इसमें मिल सके जो उसे भिन्न-भिन्न परीक्षाओं में आवश्यक होती है। आधुनिककाल तक लिखित पालि-बौद्ध साहित्य को भी यहां समाहित किया है। साथ ही पालि-बौद्ध अध्ययन के पुनरुत्थान का भी लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है।

इस ग्रन्थ को तैयार करने में जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय के सारस्वत मनीषी विद्वद्वरेण्य पूर्व कुलपति प्रोफेसर रामानुज देवनाथन्, वर्तमान कुलपति प्रो. विनोद शास्त्री के हम अत्यन्त आभारी हैं जिन्होंने समय-समय पर स्नेहिल प्रेरणा और सुझाव देकर हमें उपकृत किया है। इसी तरह कुशल प्रबन्धक कुलसचिव श्रीमती सीमा सिंह, प्रो. देवर्षि कलानाथ शास्त्री, प्रो. दयानंद भार्गव तथा अनुसन्धान केन्द्र के पूर्व निदेशक प्रोफेसर ताराशंकर शर्मा तथा वर्तमान निदेशक प्रो. अशोक तिवारी के भी हम कृतज्ञ हैं जिन्होंने पर्याप्त सुविधाएं और महत्त्वपूर्ण सुझाव देकर हमारे शोधकार्य में अनवरत सहायता प्रदान की है। इसी प्रसंग में अपनी विदुषी पत्नी प्रोफेसर डॉ. पुष्पलता जैन का सहयोग भी अविस्मरणीय है जिन्होंने गाहर्स्थिक भार से मुक्त रखकर ग्रन्थ को पूरा करने में अपनी समिधा अर्पित की है। साथ ही उन लेखकों के प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त करते हैं जिनके ग्रन्थों का उपयोगकर हमने सामग्री एकत्रित की है।

हमारी असावधानतावश जहां कहीं टंकण की भूलें हुई हों उन्हें सुधी पाठक कृपया सुधार लें। उनकी इस असुविधा के लिए क्षमस्व । सुविधा की दृष्टि से हमने पुस्तक-संदर्भ और उद्धरण साथ ही देते चले गये हैं और शब्दसूची का आकार कम करने के लिए मात्र संक्षिप्त शीर्षक शब्दसूची को ही प्रस्तुत किया है । आशा है, पाठक को इससे कोई असुविधा नही होंगी । प्रथम संस्करण अल्प समय में ही समाप्त हो गया जो इस पुस्तक की लोकप्रियता का प्रतीक है ।

प्रोफेसर भागचन्द्र जैन

दिनांक : ०४/०४/२०१६

परिवर्त १
पालि भाषा और व्याकरण

पालि भाषा और साहित्य

पालि मध्यकालीन भारतीय भाषाओं में अन्यतम है। शौरसेनी, अर्धमागधी, मागधी, पैशाची आदि बौद्धयुगीन भाषाएं प्रादेशिक भाषाएं रही हैं। भाषाविज्ञान की दृष्टि से ये सभी मूलतः प्रादेशिक बोलियां थीं जो उत्तरकाल में भाषा के रूप में परिणत हो गई। इन बोलियों को प्राकृत कहा जाता था। महावीर, बुद्ध जैसे महात्माओं ने मगध और पार्श्ववर्ती प्रदेशों में अपने धर्म का प्रचार और उपदेश इन्हीं प्रादेशिक बोलियों में किया था। बाद में उनके उपदेशों का संकलन हुआ। तब तक इन बोलियों का विकास भी होता रहा। संकलन काल तक आते-आते उनमें विविध भाषिक प्रवृत्तियों ने जन्म लिया। इसलिए उनमें भाषागत वैविध्य मिलने लगा। वैयाकरणों ने इस वैविध्य का उल्लेख विकल्पात्मक स्थिति के रूप में देखा और उन्हें किसी तरह नियमों में बांधा। उनके सामने तब तक संस्कृत का प्रारूप आ चुका था। संस्कृत को सामने रखकर उन्होंने पालि, प्राकृत व्याकरणों की रचना की। संस्कृत तो लगभग वैसी ही बनी रही पर वैदिककाल से लेकर प्राकृत में सतत् परिवर्तन होता रहा जिसे हम भाषा के विकासात्मक सोपान कह सकते हैं।

पालि उसी विकासात्मक सोपान का प्राचीनतम रूप है जिसमें भगवान बुद्ध ने उपदेश दिया था। बौद्धधर्म का विशेष प्रचार होने के कारण उसका महत्त्व और बढ गया। मगध से वह मथुरा, अवन्ती, गुजरात, आन्ध्र, तमिल, कर्णाटक, कश्मीर, श्रीलंका पहुंची और वहां प्रथम शताब्दी में पालि साहित्य का संगायन हुआ। उसकी इस लम्बी यात्रा ने स्वाभाविक रूप से अनेक परिवर्तन स्वीकार किये। वर्मा, थाईलेण्ड, कम्बोडिया, लाओस, चीन, तिब्बत आदि देशों ने एक ओर पालि साहित्य का सृजन किया तो दूसरी ओर उसका अनुवाद या उसपर टिकायें कर अपने-अपने देश में बौद्धधर्म का प्रचार किया।

पालि : बुद्धवचन के अर्थ में

परिवर्तन के स्वरूप की मीमांसा करने पर प्रश्न यह उठता है कि पालि फिर किस प्रदेश की भाषा मानी जानी चाहिए ? साधारण तौर पर यह माना जाता है कि

पालि शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ में लगभग चौदहवीं शताब्दी के पूर्व नहीं मिलता। पर यह तथ्य भी उतना ही सही है कि पालि शब्द का प्रयोग बुद्ध वचन के अर्थ में लगभग छठी शताब्दी में हुआ है। आचार्य बुद्धघोष (४-५ वीं शताब्दी) ने इस शब्द का प्रयोग बुद्धवचन या पालि त्रिपिटक के अर्थ में स्वयं कदाचित् प्रथम बार किया है - **इमानि ताव पालियं, नेव पालियं न अट्ठकथायं आगतं**। पाठान्तरों का निर्देश करने के लिए भी उन्होंने **'इति पि पालि', 'ति पि पाठो'** कहकर पालि के अर्थ में कहीं-कहीं पाठ शब्द का भी प्रयोग किया है। पर पाठ शब्द का यथार्थ प्रयोग पालि अर्थ में न होकर पाठपरम्परा को द्योतित करने के अर्थ में अधिक दिखाई दे रहा है। दीपवंस में **''पिटकत्तयपालिं च तस्सा अट्ठकथं पि च''** (२०.२०) तथा चूलवंस-महावंस में **'पालिमत्तं इधानीतं नत्थि अट्ठकथा** इध'' (३७.२२७) से भी पालि शब्द प्रयोग की सूचना बुद्धवचन या पालि त्रिपिटक के अर्थ में दिखाई देती है। इसी तरह के और भी अनेक उत्तरकालीन ग्रन्थों में पालि शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। अर्थात् बुद्धघोष के पूर्व पालि शब्द का प्रयोग बुद्धवचन के अर्थ में हमें दिखाई नहीं देता। बुद्धघोष का दिया हुआ अर्थ चौदहवीं शताब्दी तक चलता रहा। बाद में उसका प्रयोग भाषा के अर्थ में होने लगा इसलिए कि बुद्धवचन पालि के रूप में जाने जाते थे।

पालि शब्द की व्युत्पत्ति

बुद्धघोष के पूर्व पालि शब्द की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में विद्वानों ने जो प्रयत्न किये हैं उनका संक्षिप्त उल्लेख हम इस प्रकार कर सकते हैं -

१) पालि शब्द का प्राचीनतम रूप परियाय रहा होगा - **को नामो अयं भन्ते धम्मपरियायो ति (ब्रह्मजालसुत्त, दीघ. १.१.), भगवता अनेकपरियायेन धम्मो पकासितो (सामञ्ञफलसुत्त, दीघ. १.२)**। यहां परियाय शब्द का प्रयोग बुद्धोपदेश अर्थ में हुआ है। यही शब्द पलियाय होते हुए पालियाय और पालि बन गया। पालियाय शब्द का प्रयोग सम्राट् अशोक के शिलालेखों में भी मिलता है - **इमानि भन्ते धम्मपलियानि... भाब्रु शिलालेख**। यहीं से संक्षिप्त रूप पालि शब्द बुद्ध वचन के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। भिक्षु जगदीश कश्यप ने इस मत की स्थापना अपने 'पालि महाव्याकरण की भूमिका में की है। पेय्याल शब्द भी इसी शब्द का रूपान्तरण है।

भिक्षु जगदीश कश्यप का यह सिद्धान्त अधिक तर्क संगत लगता है। भले ही पलियाय शब्द का प्रयोग अधिक नहीं हुआ हो पर पालि व्याकरण के आधार पर परि-पलि शब्द का पालि रूप तो बन ही जाता है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी इस मान्यता को स्वीकार करने में कोई बाधा दिखाई नहीं देती।

२) दूसरा मत भिक्षु सिद्धार्थ ने संस्कृत व्याकरण के आधार पर पालि भाषा का उद्गम और उसके विकास पर दृष्टिपात करते हुए पालि या पाळि शब्द को संस्कृत 'पाठ' शब्द का विकृत रूप प्रस्थापित किया। हम जानते हैं, प्राचीन काल में वैदिक परम्परा में वेद वाक्यों के लिए 'पाठ' शब्द का प्रयोग किया जाता था। बौद्ध परम्परा में आकर ब्राह्मण समुदाय ने बुद्ध वचनों के लिए भी उसी पाठ शब्द का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। उनकी इसी परम्परा वृत्ति ने संहिता, तन्त्र, प्रवचन जैसे शब्दों को भी सहित, तन्त्र या तन्ति, और पावचन बना दिया। यही पाठ शब्द भिक्षुसंघ में 'पाळ' बन गया। पालि-प्राकृत भाषाओं में संस्कृत मूर्धन्य ध्वनियां 'ळ' में परिवर्तित हो जाती हैं, जैसे आटविक, पटच्चर, दृढ शब्द पालि में क्रमशः आळविक, पळच्चर, दळ्ह हो जाते हैं। बाद में पाल शब्द ही पालि हो गया, जैसे अंगुल से अंगुलि, सर्वज्ञ से सब्बञ्ञू हो गया। इसे हम मिथ्यासादृश्य का उदाहरण कह सकते हैं। अतः पाठ>पाळ> पाळि>पालि शब्द का प्रयोग चल पडा।

भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह मत भले ही सही दिखाई देता हो पर पालि साहित्य में 'पाळि' शब्द का प्रयोग दिखाई न देने से इस मत की आधार भूमि सबल दिखाई नहीं देती। अट्ठकथाओं में पाळि के स्थान पर 'इति पि पाठो' शब्द का प्रयोग मिलता है। अतः यह मत सही नहीं लगता।

३) तीसरे मत की स्थापना डॉ. विधुशेखर भट्टाचार्य ने पालि शब्द की व्याख्या 'पंक्ति' के साथ बैठाकर की है। महावग्ग में **'पालि'** शब्द का प्रयोग पंक्ति अर्थ में ही हुआ है। अभिधानप्पदीपिका (१२ वीं शती) में भी **'पालि'** का अर्थ पंक्ति के साथ ही बुद्धवचन भी किया है - **''तन्ति बुद्धवचनं पन्ति पालि''**। अम्बपालि, दन्तपालि जैसे शब्द भी इस मत का समर्थन करते हैं। बुद्धघोष ने भी पालि को तन्ति के अर्थ में प्रयुक्त किया है।

विद्वानों को इस मत को स्वीकार करने में यह आपत्ति हुई कि त्रिपिटक के मूल रूप को पंक्ति के साथ कैसे बैठाया जाये ? फिर उदान में प्रयुक्त पालि जैसे शब्दों में पालि का अर्थ पंक्ति ठीक नहीं लगता। उसका प्रयोग बहुवचन में भी नहीं मिलता। पर यह आपत्ति अधिक तर्कनिष्ठ दिखाई नहीं देती। 'पंक्ति' शब्द परम्परा का सूचक है और बुद्धवचन का प्रयोग उसके अलिखित या लिखित अवस्था में हुआ है । अतः पंक्ति शब्द के अर्थ में पालि शब्द का प्रयोग भ्रममूलक नहीं माना जा सकता। बुद्धघोष ने इसका प्रयोग परम्परा के अर्थ में किया है।

इसके बाद विद्वानों ने और भी अनेक अवधारणाओं को जन्म दिया। जैसे मैक्समूलर ने पाटलि या पाडलि (पाटलिपुत्र) का ही संक्षिप्त रूप पालि माना, किसी ने

'पल्लि' भाषा (ग्रामीण भाषा) को पालि बताया तो किसी ने उसका सम्बन्ध संस्कृत प्रालेय या प्रालेयक (पडौसी) से प्रस्थापित किया। पर ये सभी मत लोकप्रिय नहीं हो सके।

डॉ. भरतसिंह उपाध्याय ने अभिधानप्पदीपिका में प्रदत्त पंक्ति शब्द की व्युत्पत्ति की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। वहां लिखा है - **पालि पा रक्खणेति, पाति रक्खतीती पालि; पाली ति एकच्चे तन्ति बुद्धवचनं, पन्ति पालि, भगवता वुच्चमानस्स अत्थस्स वोहादस्स च दीपनातो सद्दो एव पालि नामा ति गण्ठिपदेसु वुत्तं ति अभिधम्मट्ठकथाय लिखितं**। जो बुद्धवचन की रक्षा करे वह पालि है। इसी सन्दर्भ में वट्टगामणि ने संगीति के माध्यम से बुद्धवचन की रक्षा की। दीपवंस (२०.२०.२१) और महावंस (३३.१००-१०१) में भी निम्न गाथाओं में इसी अर्थ में त्रिपिटक और अट्ठकथा को पालि कहा गया। परियाय आदि अर्थ भी इसी शब्द में खोजे जा सकते हैं -

पिटकत्तय पालिं च तस्सा अट्ठकथं पि च।
मुखपाठेन आनेसुं पुब्बे भिक्खु महामति।।
हानिं दिस्वान सत्तानं तदा भिक्खु समागता।
चिरट्ठितत्थं धम्मस्स पोत्थकेसु लिखापयुं।।

समीक्षा

पालि शब्द पंक्ति का सूचक है। कहा जाता है कि यह शब्द नेपाल के मधेश प्रदेश से सम्बद्ध है। यहां 'ने' का लोप हो गया। अन्य भाषाओं में भेद स्थापित करने के लिए यह पालि शब्द प्रचलित हो गया जो पंक्ति का अर्थ द्योतित करता है। अट्ठकथाओं में इसी अर्थ पर विशेष बल दिया गया है। चायल्डर्स ने इसी अर्थ को प्रमाणिक माना है। उन्होंने इसे मगध की बोली माना है और अर्थ किया है कि पालि भाषा का तात्पर्य है पालि ग्रन्थों की परम्परा। यही थेरवादी ग्रन्थों की भाषा थी। अशोक के पश्चिमी शिलालेखों में इंसका प्रयोग हुआ है। अत: सम्भव है उत्तरकाल में पालि मगध से गुजरात तक फैल गई हो। यह भी संभव है कि पालि नेपाल और मगधवर्ती प्रदेशों तक फैली रही हो प्रारम्भिक स्तर पर ।पालि प्राकृत परिवार की भाषा है जिसे सर्वप्रथम श्रीलंका में लिपिबद्ध किया गया प्रथम शती ई.पू. में। यहीं यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि कतिपय समानताओं के बावजूद इसका सम्बन्ध न ऋग्वेद से रहा और न अधिक संस्कृत से। स्टेनकोनो, फेलिक्स लकोट और आल्फ्रेड मास्टर ने पालि का सम्बन्ध पैशाची प्राकृत से स्थापित किया और कहा कि प्रारम्भ में उसे पैशाची कहा जाता था। परन्तु अट्ठकथाओं ने उसे मगध प्रदेश की बोली माना है। अशोक के गिरनार शिलालेखों की भाषा और हाथीगुम्फा शिलालेख की भाषा में विशेष साम्य है। बुद्धघोष के अनुसार उसका अनुवाद

सिंहली में हुआ। रिजडेविड्स ने इसको जनबोली माना जिसका फैलाव इन सारे प्रदेशों तक था। गायगर ने भी इस विचार का समर्थन किया। चाइल्डर्स ने इसे प्राचीन मागधी कहा। मेक्समूलर ने पालि का सम्बन्ध पाटलि या पाडलि से जोडा है।

आधुनिक भारतीय विद्वानों ने भी इस विषय पर चिन्तन किया। भिक्खु बोधि ने कहा कि पालि तत्कालीन प्राकृत बोलियों का मिश्रित रूप है। वार्डर ने पालि को पश्चिम भारत में बोली जानेवाली प्राकृत माना है। उन्होंने उसे अवन्ति जनपद की बोली कहा जहां थेरवाद अधिक लोकप्रिय था और फिर उसका गिरनार लेखों से साम्य बताया। डॉ. वापट ने पालि को अर्धमागधी का साहित्यिक रूप माना। सुनीतीकुमार चाटुर्ज्या, नलिनाक्ष दत्त आदि वद्वानों के ये मत किसी न किसी दृष्टि से सही हैं। पालि चूंकि जनबोली थी अतः उसका सीधा सम्बन्ध प्राकृत से होना स्वाभाविक है क्योंकि वह भाषाविज्ञान की दृष्टि से प्राकृत का ही प्राचीनतम प्राप्त भेद है। पालि का हर शब्द प्राकृत से जुडा हुआ है। संस्कृत से सम्बन्ध अवश्य हुआ पर उत्तरकाल में। अट्ठकथाओं में भी उसे जनबोली ही माना है। संस्कृत को भले ही श्रद्धावश देवभाषा कहा गई हो पर भाषा होने के कारण उसमें परिवर्तन बहुत कम हुआ। परिवर्तन होता है जनबोलियों में जो हम प्राकृत में देखते ही हैं।

रिजडेविड्स, तकाकुसु, अनेसकी, सुजुकी, चन्द्रदास, नागई, वानवे, बुद्धदत्त, हरप्रसाद शास्त्री, कौशाम्बी, बी.एन.बरुआ, सतीशचन्द्र विद्याभूषण, सरतचन्द्र दास, भदन्त सुमंगल, वापट, हरमथडे, अनागारिक धम्मपाल, लेदी सयदव, गुणरत्न, जयतिलक, नारद, डेसिल्वा, तेलंग, जोयस, मौंगतिन, मलालशेखर, सिद्धार्थ, भिक्षु जगदीश कश्यप, सामतानी आदि विद्वानों ने पालि और पालि साहित्य पर अच्छा कार्य किया है।

पालि भाषा का प्रारम्भिक रूप वैदिक और छान्दस् साहित्य में उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ देवेभिः देवेहि, यमामसे, पच्चरे, कातवे इत्यादि रूप पालि भाषा में यथावत् मिलते हैं परन्तु संस्कृत में उनका लोप हो गया है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से पालि का आन्तर्भाव प्राकृत में हो जाता है। परन्तु तथागत बुद्ध ने मागधी या पालि के जिस रूप में उपदेश दिया है उसकी पृथक् पहचान हो जाने के कारण पालि को पृथक् सा माना जाने लगा। अन्यथा उसे हम प्राकृत का ही प्राचीनतम रूप कह सकते हैं। पालि-प्राकृत जनबोलियां थीं। उन्हीं का विकसित रूप आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में दृष्टव्य है। दूसरी ओर संस्कृत का कोई विशेष विकास नहीं हुआ इसलिए कि वह वस्तुतः लोकभाषा नहीं थी।

पालि शब्द का प्रयोग बुद्धवचन के अर्थ में पहले प्रयुक्त हुआ है और फिर तन्ति, पलियाय आदि अनेक सोपानों को पार करता हुआ यह पालि शब्द कालान्तर में स्थविरवादी त्रिपिटक की मूल भाषा के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। वस्तुतः उसका मूल

शब्द था मागधी। तथागत बुद्ध ने मागधी में ही अपना धर्मोपदेश दिया था। कच्चान व्याकरण में उसे मूल भाषा कहकर सम्मानित किया गया है - **"सा मागधी मूल भासा... सम्बुद्धा चापि भासरे"**। समन्त पासादिका में बुद्धघोष ने भी इसी का समर्थन किया है - **"सम्मासम्बुद्धेन वुत्तप्पकारो मागधको वोहारो"**। इतना ही नहीं, उन्होंने तो आस्थावश उसे **"मागधिकाय सब्बसत्तानं मूलभासाय"** कहकर गौरवान्वित किया है। उन्हीं का अनुकरण कर चूलवंस (परि. ३७) में **"सब्बेसं मूलभासाय मागधाय निरुत्तिया"** भी कह दिया गया। अट्ठकथाओं तक की भाषा को मागधी ही कहा जाता था। रेवत स्थविर ने बुद्धघोष को आदेश दिया कि वे सिंहली अट्ठकथाओं को पालि में अनुदित करें - **"मागधानं निरुत्तिया परिवत्तेहि"** जिसे बुद्धघोष ने यह कहकर अनुकरण किया - **"परिवत्तेसि सब्बा पि सीहलट्ठकथा तदा। सब्बेसं मूलभासाय मागधाय निरुत्तिया"**। दीघनिकाय अट्ठकथा में उन्होंने अनेक बार मागधी के स्थान पर भासा शब्द का भी प्रयोग किया है। उसी को उत्तरकाल में पालि कहा जाने लगा। इसी प्रकार मोग्गलान (१२वीं शती) ने भी **'भासिस्सं मागधी सद्दलक्खण'** कहा। यही मागधी भाषा लगभग १४ वीं शताब्दी में पालि के नाम से प्रचलित हो गई।

पालि का अर्थ अभिधानप्पदीपिका में **'सेतुस्मिं तन्ति मन्तासु नारियं पालि कथ्यते'** कहा गया है (९९६)। यहाँ उसका प्रयोग तीन अर्थों में सूचित है - सेतु, तन्ति और मन्त। सेतु का अर्थ परम्परा हो सकता है। सम्भव है सेतु अर्थ करने में मोग्गलान थेर के समक्ष अशोक के भाब्रू शिलालेख में प्रयुक्त 'पलियाय' शब्द का अर्थ रहा हो। भिक्षु जगदीश काश्यप का मत इसी अर्थ पर आधारित होना चाहिए (पालि महाव्याकरण, भूमिका भाग)। पालि का दूसरा अर्थ तन्ति अथवा पंक्ति दिया गया है। यह पंक्ति बुद्धवचन की परम्परा का प्रतीक है। विधुशेखर भट्टाचार्य का मत इसी पंक्ति से सम्बद्ध रहा है। पालि का तीसरा अर्थ मन्त (मन्त्र) दिया गया है जिसे हम मन्त्रणा, विचारणा अर्थात् पाठ कर सकते हैं। भिक्षु सिद्धार्थ का अभिमत इसी अर्थ पर आधारित है।

पिटक शब्द का अर्थ अभिधानप्पदीपिका में **'पिटकं भाजने वुत्तं तथेव परियत्तियं'** (९९०) किया गया है। बुद्धघोष ने भी अट्ठसालिनी की निदान कथा में **"पिटकं पिटकत्थविदू परियत्तिभाजनत्थतो आहु"** कहा है। पिटक का अर्थ यहाँ भाजन और परियत्ति (परम्परा) किया गया है। यह परम्परा बुद्ध वचनों की ही है। अर्थात् बुद्धवचनों को एक परम्परा (पीढ़ी) से दूसरी परम्परा (पीढ़ी) तक पहुँचाने वाला साधन अथवा भाजन पिटक कहलाता है। मोग्गलान थेर ने दीघादि निकाय के अर्थ में आगम शब्द का भी प्रयोग किया है (९५१)।

पालि शब्द भाषा के अर्थ में वस्तुतः १३-१४ वीं शताब्दी में प्रयुक्त हुआ है यह सही है। पर इस समय तक इस शब्द का प्रयोग संस्कृत-प्राकृत में विविध अर्थो में प्रयुक्त होने लगा था। उदाहरणतः संस्कृत में उसका प्रयोग अनेक अर्थो में हुआ है - जिनमें

हमारे सन्दर्भित अर्थ हैं - १) मर्यादा, सीमा, २) पंक्ति, ३) स्थान, ४) सेतु, ५) अन्तःकरण, ६) दीर्घाकार जलाशय, ७) प्रस्थ, ८) गुरु द्वारा शिष्य का संरक्षण। ये अर्थ किसी न किसी रूप में पालि शब्द से सम्बद्ध हैं। पालि शब्द का प्रयोग पालि वाङ्मय में भी इन अर्थों में हुआ है - जैसे पंक्ति (दाठावंस, ३.६१; सुत्त निपात अट्ठ. ८७)। पालि शब्द का प्रयोग पिटक में नहीं हुआ। उसका विकसित और ध्वन्यात्मक अर्थ का प्रयोग अट्ठकथा साहित्य में अवश्य हुआ है (**पाळितो अट्ठुपपत्तितो**, धम्मपद अट्ठ. ४.९३)। पालि वण्णना शब्द भी वहां मिलता है (वि.मग्ग. २४०)। **पालेति (पालयति) रक्खति** शब्द भी अनेक बार प्रयुक्त हुआ है (जातक १-५५, ४.१२७; मिलिन्दपञ्हो ४. पठवी लोकं पालेति) आदि। शब्द भी वहां मिलता है (वि.मग्ग. २४०)। पालेति (पालयति) रक्खति शब्द भी अनेक बार प्रयुक्त हुआ है (जातक १-५५, ४.१२७; मिलिन्दपञ्हो ४. **पठवी लोकं पालेति**) आदि।

प्राकृत साहित्य में भी यह शब्द लोकप्रिय हो चुका था लगभग इन्हीं सब अर्थों में। भगवती सूत्र (५.८८) और प्रश्न व्याकरणांग में पालि, अंतकृतदशांग (३.८९, १०१) में पाली और पालित जैसे शब्दों का प्रयोग परम्परा और संरक्षण अर्थ में रूढ हो गया था। वृहत्कल्पभाष्य (३७०६) में पाली शब्द का प्रयोग उपाश्रय या प्रवास स्थल के पालन/संरक्षण के अर्थ में होने लगा। अंगविज्ञा (पृ. २४१) में उसका प्रयोग मर्यादा अर्थ में हुआ है।

पालि/पाली शब्द के इन सभी अर्थों की समीक्षा करने पर ऐसा लगता है कि प्रारम्भिक बौद्धधर्म में बुद्ध वचनों के संरक्षण की आवश्यकता अधिक थी। सुभद्र जैसे वृद्ध भिक्षुओं से भगवान बुद्ध के वचनों पर आघात आ रहा था। महासांघिक/महायान सम्प्रदाय उनके प्रवचनों में कांट-छाट कर नवीन अर्थों को विस्तार दे रहा था। ऐसी स्थिति में बुद्ध वचनों को यथासंभव मूल रूप में सुरक्षित रखने का एक जबरदस्त आन्दोलन चला। इसके लिए पालि शब्द से अधिक सार्थक कोई दूसरा शब्द आचार्यों को नहीं दिखा। बुद्धघोष से लेकर १३-१४वीं शताब्दी तक इस शब्द ने थेरवाद में भावनात्मक सम्बन्ध स्थापित किया और पालि शब्द का प्रयोग मूल बुद्ध वचन के अर्थ में स्थिर हो गया। पर यह भी उल्लेखनीय है कि इस लम्बे अन्तराल में बुद्धवचनों में विकासात्मक चिन्तन को नहीं रोका जा सका। यहां तक कि अट्ठकथाकारों ने भी बुद्ध वचनों के अनेक अर्थ प्रस्तुत किये और उन सभी को बुद्ध परम्परा से जोड दिया। इसलिए पालि शब्द का प्रयोग, बुद्धवचन, परम्परा और पाठान्तरण से सम्बद्ध रहा है, किसी एक अर्थ में नहीं, ऐसी मेरी अवधारणा है।

पालि और मागधी

वस्तुतः यह **पालि और मागधी** का विषय बडा विवादग्रस्त और उलझा हुआ है। इसका सम्बन्ध मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा युग (५०० ई.पू से १००० ई. तक)

से रहा है। इसे हम जन भाषा (Lingua franca) कह सकते हैं। ऋग्वेद काल से लेकर यह भाषा जनता के बीच प्रचलित रही और यथासमय संस्कृत के साथ प्रवाहित होती हुई पलती-पुसती रही। इसे हम साधारण शब्दों में प्राकृत कह सकते हैं। इसके बीज ऋग्वेद और अन्य वैदिक ग्रन्थों में पाये जाते हैं। वैदिक संस्कृत से पाणिनि ने लौकिक संस्कृत का रूप देकर संस्कृत को तो स्थिर कर दिया पर प्राकृत जनभाषा होने के कारण स्थिर नहीं की जा सकी। वह सतत विकासशील बनी रही। प्रादेशिक स्तरों पर उसने विविध रूप धारण किये। उसके मागधी रूप को इसी प्रादेशिक रूप का एक भेद कहा जा सकता है। वह प्राकृत का ही एक भेद है।

तथागत बुद्ध ने इसी मागधी में अपना धर्मोपदेश दिया था। कालान्तर में बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार बढा और बुद्ध ने उसे अपनी-अपनी भाषा में अनुदित करने का अनुमोदन किया। इसलिए मागधी के यथार्थ वैयाकरणिक रूप भी परिवर्तित होते गये। त्रिपिटक भी मूल बुद्धवचन नहीं रहा। उसमें भी भाषागत वैविध्य दिखाई देता है। मागधी का 'श' और 'ल' वाला रूप त्रिपिटक और अट्ठकथाओं में भले ही न मिलता हो पर उडीसा, बिहार और उत्तर प्रदेश में पाये जाने वाले अशोक के शिलालेखों में तो मिलता ही है। पालि के प्राचीन सुत्तों में भी उसका यह रूप भलीभांति देखा जा सकता है। पश्चिमोत्तर भारत से दक्षिण भारत और श्रीलंका तक की यात्रा करनेवाला त्रिपिटक अपने मूल रूप को कहां तक सहेज सकता था ? शौरसेनी-महाराष्ट्री के प्रभाव से उसे मुक्त कैसे रखा जा सकता था ? पूर्वीय मागधी भाषा में परिवर्तन होना स्वाभाविक था।

पालि किस प्रदेश की भाषा थी ?

पालि वस्तुत: किस प्रदेश की भाषा थी, इस विषय पर विद्वानों में काफी ऊहापोह हुआ। रायस डेबिड्स ने उसे कोशल प्रदेश की भाषा कहा तो वैस्टरगार्ड और कुह्न ने उसे गिरनार अशोक के शिलालेख से उसका अधिक साम्य बताकर उसे उज्ञयिनी प्रदेश की भाषा माना। फ्रेंक और कोनो ने विन्ध्य प्रदेश को पालि भाषा का उद्गम कहा तो ओल्डनवर्ग और मुलर ने उसे कलिंग की मूल भाषा बताया। विद्वानों के ये विविध मत यह तो स्थापित कर ही देते हैं कि पालि किसी एक प्रदेश की मूल भाषा नहीं थी। यह बात सही है कि तथागत बुद्ध कोशल प्रदेश में उत्पन्न हुए थे। परन्तु जैसे राजनीतिक-भौगोलिक सीमाएं बदलती रहती हैं उसी तरह भाषा भी प्रादेशिक स्तर पर परिवर्तित होती रहती है। कोशल प्रदेश जब मगध राज्य में अन्तर्भुक्त हो गया तो उसकी भाषा के रूप में भी परिवर्तन आ गया। मागधी भाषा वस्तुत: अर्धमागधी के समान एक मिश्रित भाषा बन गई और उसके श और ल वाले रूप उत्तरकाल में समाप्त होते गये। त्रिपिटक के संगायनकाल तक ये रूप प्राय: अदृश्य हो गये।

यह तथ्य भी प्रच्छन्न नहीं है कि पालि / मागधी पर पश्चिमी बोली का प्रभाव सर्वाधिक पडा। फिर भी मागधी का रूप समाप्त नहीं किया जा सका। प्राचीन मागधी

पालि का आधार रही है। ग्रियर्सन ने पश्चिमी बोली को ही पालि का आधार कह दिया जो किसी भी स्थिति में स्वीकार्य नहीं हो सकता। गायगर ने उनके मत का खण्डन करते हुए यह प्रस्थापित किया कि पालि मागधी भाषा का ही रूप है जिसमें भ. बुद्ध ने अपना उपदेश दिया था। बुद्ध स्वयं मगध के नहीं थे। पर उनकी अधिकांश गतिविधियों का केन्द्र मगध ही रहा है अतः उनके वचनों को भी मागधी कह दिया गया। चूंकि वह मागधी एक जनभाषा थी इसलिए उसमें अन्य भाषाओं का मिश्रण होना स्वाभाविक था, फिर भी मागधी रूप बहुतायत में बना रहा।

उत्तरकालीन प्राकृत वैयाकरणों ने मागधी की जिन विशेषताओं का वर्णन किया है वे विशेषताएं पालि में निश्चित ही नहीं मिलतीं। र का ल तो किसी तरह पालि में मिल भी जायेगा पर स का श तो मिलता ही नहीं है। मागधी शकारबहुला भाषा है। अशोक के मनसेहरा शिलालेख में यह रूप उपलब्ध होता है। इसी तरह पुल्लिंग और नपुंसक लिंग के अकारान्त शब्दों के रूप पालि में प्रथमा एक वचन में ओकारान्त और अनुस्वारान्त होते हैं, एकारान्त नहीं। अतः प्राकृत वैयाकरणों ने जिस मागधी रूप का वर्णन किया है उसे पालि का आधार नहीं माना जा सकता। वह तो वस्तुतः उसका उत्तरकालीन विकास का परिणाम है। पालि का तो आधार मागधी ही है जो मगध की बोली रही है। यह मध्य मण्डल अर्थात् पश्चिम में कुरु जनपद से पूर्व में मगध तक और उत्तर में श्रावस्ती से दक्षिण में अवन्ती तक फैला हुआ था। इतने विस्तृत प्रदेश में भाषा का संमिश्रण होना स्वाभाविक है।

पालि का मूल आधार

यहां यह उल्लेखनीय है कि ल्यूडर्स ने अशोक के शिलालेखों और अश्वघोष के नाटकों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि पालि का मूल आधार प्राचीन अर्धमागधी होना चाहिए। यह मत किसी सीमा तक सही हो सकता है। संभव है, महावीर ने भी मागधी में ही उपदेश दिया हो। श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य आगम ग्रन्थ पंचम शताब्दी का परिणाम है जब देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने उनका सम्पादन कर वर्तमान में उपलब्ध आगमों को स्थिर किया। इन आगमों में प्राप्त अर्धमागधी का विकास पालि से उत्तरकाल में हुआ है। शौरसेनी और अर्धमागधी के रूप उसमें मिलते अवश्य हैं पर वे उसके संमिश्रण का फल है। पालि त्रिपिटक का संगायन प्रथम शताब्दी में हुआ। लगभग ५०० वर्षो के बीच भाषा का विकास होना स्वाभाविक है। राजनीतिक परिवर्तन ने भी इस विकास में गति दी। नाना प्रदेशों से आये बौद्ध भिक्षुओं की भाषा का भी उसमें मिश्रण होता रहा है। कुछ भिक्षुओं ने इस मिश्रण को दूषण माना और पालि-मागधी रूप को छान्दस् में परिवर्तित करने का सुझाव दिया (**सकायनिरुत्तिया बुद्धवचनं दूसेन्ति, हन्द मयं भन्ते बुद्धवचनं छन्दसो आरोपेमाति**) तो बुद्ध ने उसे दुष्कृत अपराध की

संज्ञा दी और सभी को अपनी-अपनी भाषा में सीखने की अनुज्ञा दी (**अनुजानामि भिक्खवे सकायनिरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणिंतु-चुल्लवग्ग**) । गायगर के अनुसार यहां बुद्धघोष ने सकायनिरुत्तिया का अर्थ मागधी किया है। अर्थात् बुद्ध ने भिक्षुओं से कहा कि वे बुद्धवचन को मागधी में ही पढें/समझें। पर यह सही नहीं है। बुद्ध अपने वचनों को मागधी तक ही सीमित रखने के पक्षधर कभी नहीं रहे। किसी एक भाषा के प्रयोग में उनका आग्रह भी नहीं था। मागधी तो अन्य भाषाओं के मिश्रण से प्रभावित हो गई और इसलिए प्रादेशिक आवश्यकताओं के अनुसार उसके उच्चारण आदि में परिवर्तन आ गया। फिर भी मूल मागधी का रूप पूर्णत: परिवर्तित नहीं हुआ। अत: पालि त्रिपिटक का आधार मागधी ही माना जाना चाहिए। उत्तरकाल में उसे संस्कृत में रूपान्तरित किया गया।इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि पालि प्राकृत का ही एक प्राचीनतम भेद है और प्राकृतों में शौरसेनी प्राकृत प्राचीनतम और प्रमुख है। प्राचीनतम प्राकृत वैयाकरण वररुचि ने अपने प्राकृत प्रकाश में मागधी और पैशाची के सन्दर्भ में शौरसेनी (१०, १-२, ११, १-२) कहकर यह स्पष्ट कर दिया कि मागधी और पैशाची की प्रकृति शौरसेनी है और शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत है (प्रकृतिः संस्कृतम १२-१-२)। पालि भी संस्कृत के अधिक समीप है। यही कारण है कि पालि में शौरसेनी के तत्त्व अधिक उपलब्ध होते हैं। यह पालि प्राचीन मागधी और शौरसेनी का ही रूपान्तरण है। भरत मुनि ने भी इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। कालान्तर में प्राकृत को भी सुसंस्कृत किया गया। हेमचन्द्र ने प्राकृत की प्रकृति संस्कृत को माना, उसके पीछे यह मूल भाव था, न कि यह वि. संस्कृत उसकी जन्मदात्री है।

पालि-प्राकृत का अन्तःसम्बन्ध

पालि वस्तुत: प्राकृत का प्राचीनतम भेद है। दोनों की समानता वैदिक संस्कृत के साथ अधिक है। इससे यह निष्कर्ष निकालना अत्युक्तिमय नहीं होगा कि पालि का गठन वैदिक संस्कृत और प्राकृत के मिश्रण से हुआ है। उसमें भी शौरसेनी प्राकृत का प्रभाव उसपर अधिक दिखाई देता है। जैस े१) मध्यवर्ती व्यंजनों का अलोप,२) मध्यवर्ती न का अपरिवर्तन,३) शब्द के प्रारम्भिक य का ज में अपरिवर्तन,४) दानि, इदानी आदि शब्दों का प्रयोग। अन्य प्राकृतों की विशेषताएं भी पालि में दृष्टव्य हैं। जैसे१) पालि के समान अर्धमागधी में एव का येव होता है। पैशाची प्राकृत से भी समानताएं पालि में देखी जा सकती हैं। जैसे-१)य और र का अपरिवर्तन,२) घोष स्पर्शो के स्थान पर अघोष स्पर्शो का होना, ३)पुल्लिंग अकारान्त शब्दों में प्रथमा एक वचन में ओकारान्त का होना। इनके अतिरिक्त पालि प्राकृत में और भी समानताएं दृष्टव्य हैं। जैसे१) ध्वनि समूह में समानता,२) विसर्ग के प्रयोग का अभाव,३) ए और ओ का प्रयोग,४) तालव्य और मूर्धन्य श, ष के स्थान पर दन्त्य स का होना,५) ऋ-ॠ-ऌ-ॡ-ऐ का लोप, ६)मूर्धन्य ध्वनि का सद्भाव,७) द्विवचन का अभाव,८) चतुर्थी और षष्ठी विभक्ति के रूप समान,९) ए-ओ का समान प्रयोग।

पालि-प्राकृत का यह अन्तः सम्बन्ध दोनों भाषाओं को सम्बद्ध किये हुए है। ये दोनों भाषाएं मध्यकालीन आर्यभाषाओं की आर्ष प्राकृत हैं। पालि-प्राकृत भाषाओं के विद्वानों और वैयाकरणों ने पालि-प्राकृत को दो रूपों में देखा है १)एक रूप है उनका छान्दस् आधार और२) दूसरा रूप है जनभाषा। वैदिक प्राकृत तत्त्व उत्तरकाल में देशी शब्द बन गये। प्राकृत समूचे भारत की बोली थी इसलिए उसमें एक ही शब्द के अनेक रूप मिलते हैं। वस्तुतः पालि प्राकृत की प्रथम अवस्था थी जो एक सीमित प्रदेश में रही और फिर बौद्ध ग्रन्थों तक सीमित हो गई। कुछ विद्वानों ने उनकी प्रकृति को संस्कृत में खोजा और उसी आधार पर व्याकरण ग्रन्थों की रचना हुई। बाद में प्राकृतों का जनभाषिक रूप विकसित होता रहा। इसलिए उनमें एक ही शब्द के विविध रूप उपलब्ध होते हैं। संस्कृत में यह स्थिति नहीं है। पालि में भी शब्द रूपों का वैविध्य अधिक नहीं मिलता। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि पालि-प्राकृत का अन्तःसम्बन्ध घनिष्ठ दिखाई देता है।

पालि प्राकृत का ही प्राचीनतम भाग

भाषाविज्ञान की दृष्टि से पालि निश्चित ही प्राकृत का ही प्राचीनतम भाग है। पालि मूलतः मागधी का ही साहित्यिक सुरक्षित प्रारूप है जो अशोक के पूर्वी शिलालेखों में भी मिलता है। पालि-प्राकृत के अन्य रूप पश्चिमी बोली के शौरसेनी में और पश्चिमोत्तरी बोली के पैशाची रूप में दिखाई देते हैं। पालि-प्राकृत वस्तुतः बोलियां थीं जो भारत के विभिन्न भागों में प्रचलित थीं। कालान्तर में महाराष्ट्री प्राकृत का भी बहुविध प्रचार हुआ जो सम्भवतः शौरसेनी का ही विकसित रूप है। इसे ही सामान्य प्राकृत मानकर वररुचि ने प्राकृत प्रकाश में पेशाची, मागधी और शौरसेनी का विवरण दिया और "**शेषं महाराष्ट्रीवत्**" कहकर शौरसेनी की सामान्य विशेषताओं का वर्णन कर उन्हें छोड दिया। उन्होंने शौरसेनी प्राकृत को आधारभूत माना-प्रकृतिः-शौरसेनी (प्रा.प्र. ११)। यहां मागधी की प्रकृति शौरसेनी को ही माना गया-**अस्या मागध्याः प्रकृतिः शौरसेनी ति वेदितव्यम्** (वही २.११)। त्रिविक्रम ने भी इसी विचार का समर्थन किया (३.२.२७)। भरत की दृष्टि भी यही थी।

पालि-प्राकृत में समानताएं भी बहुत हैं, जैसे १)ध्वनिसमूह, २) ऋ, ॠ, ऌ, ॡ का अभाव, ३) ऋ का परिवर्तन, ४)विसर्ग का अभाव, ५) श और ष का अभाव, ६) द्विवचन का अभाव, ७) चतुर्थी-षष्ठी विभक्ति का रूप प्रायः समान, ८)संयुक्त व्यंजनों का समीकरण, ९)चतुर्थी का प्रयोग हेत्वर्थ में , १०) त को द, ११)ज को य, १२) ड को ळ , १३) प को व, १४)य को ज, १५) क को ग, १६) द्य को ज्ज, १७) प्रथम एकवचन का रूप ओकारान्त, १८) अघोष स्पर्शो का घोष रूप में परिवर्तन, १९) दूण/तून पूर्वकालिक अव्यय का प्रयोग आदि ऐसी समानताएं पैशाची आदि अन्य प्राकृतों के साथ

भी देखी जा सकती हैं। उत्तरकाल में पालि थेरवादी ग्रन्थों की ही भाषा बनकर रह गई और प्राकृतों का यथासमय विकास होता रहा। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं प्राकृत की भूमि पर ही खडी हुई हैं, द्रविड भाषाओं पर भी प्राकृत का विशेषतः शौरसेनी का प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है।

पालि-प्राकृत में असमानताएं

प्राकृत के विस्तृत घटाटोप में यद्यपि पालि समाविष्ट हो जाती है फिर भी प्रादेशिक बोलियों के समान उनमें कतिपय विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है।

१) प्राकृत में ए का परिवर्तन इ में होता है - वेदना- विअणा, पर पालि में कहीं कहीं ए का ओ होता है - द्वेष-दोस

२) प्राकृत में त को ह होता है - वितस्ति - विहत्थि, पर पालि में विदत्थि होता है।

३) पालि में प्रथमा तथा द्वितीया के बहुवचन में प्राकृत के णो प्रत्यय की तरह नो प्रत्यय भी लगता है जैसे - सारभतिनो, गहपतिनो

४) पालि में ण को न होता है - पवचन और ळ भी -वेळु।

५) प्राकृत में पुढवी या पुहवी होता है तो पालि में पढवी होता है।

६) प्राकृत में कतिपय का कहवाह और पालि में कतिपयाह रूप बनता है।

७) प्राकृत में ल को ण होता है - ललाट -णलाड। पालि में न होता है -नंगल, पजान।

८) प्राकृत में क्ष को छ या च्छ होता है - क्षण - छण, अक्ष - अच्छि, पर पालि में क्ष को क्ख होता है पक्ष - पक्ख

९) प्राकृत में ड्म को प होता है - कुड्मल - कुंपल। पालि में डुम होता है कुडुमल

१०) प्राकृत में ह्ल को ल्ह होता है। प्रल्हाद - पल्हाअ। पालि ह्लाड के हिलाद बोलते हैं।

११) प्राकृत में सव्व रूप होता है तो पालि में सब्ब।

१२) प्राकृत में साधारण तौर पर य को ज होता है पर पालि में नहीं होता।

१३) पालि में भूतकाल सूचक अ का आगम होता है पर प्राकृत में नहीं होता।

१४) पालि में प्राकृत के समान प्रेरक प्रत्यय लगाते हैं पर अन्तर यह है कि आव के स्थान पर आप तथा आवे के स्थान पर आपे प्रत्यय लगते हैं। जैसे कराव, कराव, कराने के स्थान पर पालि में, कारापेमि, कारापेथ।

१५) कर्मणि प्रयोग में प्राकृत में ईय, इज्ज प्रत्यय लगते हैं पर पालि में य, इय, ईय प्रत्यय लगते हैं।

१६) प्राकृत में राय (राजा) शब्द है पर पालि में राज है। प्राकृत में राइणा बनता है तो पालि में रञ्ञा बनता है।

१७) प्राकृत में हेत्वर्थ कृदन्त में तुं और तए प्रत्यय लगते हैं जबकि पालि में तुं तथा तवे का प्रयोग होता है। भूतकृदन्त में प्राकृत में तूण, तुआण, इत्ताण आदि प्रत्यय लगते हैं। जबकि पालि में त्वा, त्वान, तून या य प्रत्यय लगते हैं। जैसे करित्वा-करित्ता, कत्तून-कातून आदि।

ये कतिपय विशेषताएं हैं जो प्रादेशिक बोलियों को स्वरात्मक और व्यंजनात्मक परिवर्तन की ओर संकेत करती हैं। पालि चूंकि प्राकृत की प्रारंभिक अवस्था है इसलिए इसमें एक शब्द के रूप अधिक नहीं मिलते जबकि प्राकृत में ये रूप अनेक मिलते हैं।

पालि व्याकरण और उसके सम्प्रदाय

पालि व्याकरण में सामान्यतः तीन सम्प्रदाय दिखाई देते हैं - कच्चायन, मोग्गल्लायन और सद्दनीति। इनमें १)कच्चायन सम्प्रदाय प्राचीनतम है। इसका समय साधारणतः ७-८ वीं शती माना जाता है। इसी समय वह सिंहल द्वीप में लोकप्रिय हो चुका था। कच्चायन व्याकरण में ६७५ सूत्र हैं। इस व्याकरण पर संस्कृत के ऐन्द्र व्याकरण का प्रभाव अधिक है।२) मोग्गल्लान ने अपना व्याकरण पराक्रमभुज के शासनकाल (११५३-११८६ ई.) में लिखा। इसमें ८१७ सूत्र हैं। ३) तीसरे सद्दनीति सम्प्रदाय के संस्थापक ब्रह्मदेश के अग्गवंस थे। उन्होंने अपनी व्याकरण सद्दनीति ११५४ई. में तैयार की। इसमें १३९१ सूत्र हैं। प्रथम दो सम्प्रदायों की अपेक्षा इस सद्दनीति में प्रगल्भता अधिक है। इन सभी सम्प्रदायों के व्याकरणिक ग्रन्थों पर समय-समय पर विद्वानों ने टीकाएं लिखीं हैं।

इन सभी पालि व्याकरणिक ग्रन्थों पर संस्कृत व्याकरणों का प्रभाव स्पष्ट झलकता है । यह स्वाभाविक भी है। इस समय तक प्रमुख संस्कृत व्याकरण ग्रन्थों का लेखन हो चुका था। उनके समक्ष पाणिनि व्याकरण एक आदर्श के रूप था। पाणिनि के सूत्र और उनके अभिप्राय को पालि वैयाकरणों ने भरपूर आत्मसात किया है।

पालि व्याकरण

यहां हम पालि साहित्य के अभ्यासकों की दृष्टि से पालि व्याकरणों के इन तीनों व्याकरणों के आधार पर पालि भाषा के वैशिष्ट्य को संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं -

१. वर्ण प्रकरण

ध्वनि के प्रतीकात्मक चिन्ह वर्ण कहलाते हैं। ये वर्ण अर्थप्रकाशक होते हैं।

इन्हीं वर्णो को 'अक्षर' भी कहा जाता है। पालि की वर्णमाला संस्कृत वर्णमाला की अपेक्षा भिन्न है। मोग्गल्लान के अनुसार उसमें स्वरों में से ऋ, ॡ, ऐ और औ नहीं हैं। इसी तरह व्यंजनों में से श और ष का अभाव है। इस प्रकार पालि वर्णमाला त्रिपिटक में इस प्रकार उपलब्ध होती है। यहां मोग्गल्लान के अनुसार वर्णो की कुल संख्या ४३ है **(आदयो तितालीस वण्णा, मो.१.१)**। ऍ और ऑ ये दो स्वर विशिष्ट हैं परन्तु कच्चायन उनकी संख्या ४१ मानते हैं **(अक्खरापादयो एकचत्तालीसं - क. १.१.२)**।

स्वर : स्वर वह घोष ध्वनि है जिसके उच्चारण में हवा अवाध गति से मुख विवर से निकल जाती है। ये स्वर व्यंजनों से संयुक्त होकर उच्चारण योग्य बन जाते हैं। पालि में ये स्वर दो प्रकार के होते हैं - हृस्व और दीर्घ **(दसादो सरा-मो. १०२; तत्थोदन्ता सरा, अट्ठकथा, १.१.३.)**

हृस्व स्वर : अ, इ, उ, ऍ और ऑ
दीर्घ स्वर : आ, ई, ऊ, ए और ओ

संयोग के पूर्व कहीं-कहीं ए और ओ स्वर हृस्व भी मान लिये जाते हैं। पालि में विसर्ग नहीं होते।

१. **संवृत स्वर** - इ, ई, उ, ऊ २. **विवृत स्वर** - अ, आ, ३. **अर्धसंवृत स्वर**- ए, ओं ४. **अर्ध विवृत स्वर** - अग्रस्वर - ई, ए, ऍ; मध्य स्वर - अ; पश्च स्वर - आ, ऊ, ओ।

व्यंजन: व्यंजन वह ध्वनि है जिसके उच्चारण में हवा अबाध गति से नहीं निकलती, उसे स्पर्श, घर्षण या लुण्ठन पूर्वक आगे बढना पडता है, स्वर पर वह आश्रित रहता है। तभी वह शब्दार्थ को प्रकाशित करने में सक्षम होता है, अकेला व्यंजन अर्थ प्रतिपादक नहीं हो सकता। स्वरों के बिना उनका उच्चारण नहीं हो पाता। इन स्वरों और व्यंजनों के उच्चारण में प्रयत्न और उच्चारण स्थान दोनों ही आवश्यक हैं। इसलिए ध्वनियों के वर्गीकरण के दो प्रधान आधार हैं -१) प्रयत्न तथा २)उच्चारण स्थान। पालि में व्यंजनों की संख्या ३२ है -

क् वर्ग - क्, ख्, ग्, घ्, ङ्	(Gutturals)
च् वर्ग - च्, छ्, ज्, झ्, ञ्	(Palatals)
ट् वर्ग - ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्	(Cerebrals)
त् वर्ग - त्, थ्, द्, ध्, न्	(Dentals)
प् वर्ग - प्, फ्, ब्, भ्, म्	(Labials)
अन्तःस्थ - य्, र्, ल्, व्, ळ्	(Semi Vowels)

ऊष्माक्षर - स्, ह् (Aspirants or sibilants)
निग्गहीत - अं (बिन्दु निग्गहीतं, मो.१.८) (Nasal)

उच्चारण स्थान के आधार पर स्वर व व्यंजनों का वर्गीकरण :-

कंठ्य - अ, आ, क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, ह् (**अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः**)
तालव्य - इ, ई, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, य् (**इचुयशानां तालुः**)
मूर्धन्य - ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, र् (**ऋटुरषाणां मूर्ध्नः**)
दन्त्य - त्, थ्, द्, ध्, न्, स् (**लृतुलसानां दन्ताः**)
ओष्ठ्य - उ, ऊ, प्, फ्, ब्, भ्, म् (**उपूपध्मानीयानामोष्ठौ**)
अनुनासिक - ञ्, म्, ङ्, ण्, न् (**ञमङणनानां नासिका च**)
कण्ठ्य तालव्य - ए, ऍ (**एदैतोः कण्ठतालुः**)
कण्ठ्य ओष्ठ्य - ओ, ऑ (**ओदौतोः कण्ठोष्ठम्**)
दन्त्य ओष्ठ्य - व् (**दन्तोष्ठवकारस्य**)
अनुनासिक - अनुस्वार (**नासिकाऽनुस्वारस्य**)

प्रयत्न के आधार पर व्यंजनों का वर्गीकरण

वर्णो के उच्चारण के लिए जो प्रयत्न किया जाता है वह प्रयत्न कहलाता है। यह प्रयत्न दो प्रकार का होता है - आभ्यन्तर प्रयत्न और बाह्य प्रयत्न। जो प्रयत्न मुख के अन्दर होता है वह आभ्यन्तर प्रयत्न है और जो प्रयत्न मुख विवर से बाहर होता है वह बाह्य प्रयत्न कहलाता है।

(अ) आभ्यन्तर प्रयत्न पांच प्रकार के हैं -

१. **स्पृष्ट - ईषत् स्पृष्ट - य्, र्, ल्, व्, इ,** ३. **ईषत् विवृत** - स्, ह वर्ण, ४. **विवृत** - स्वर, ५. **संवृत** - उ।

(ब) बाह्य प्रयत्न - बाह्य प्रयत्न ११ प्रकार के हैं -

१) **विवार - वे वर्ण जिनका उच्चारण** करते समय मुख खुले। जैसे खर् (वर्ग के १,२, श्, ष्, स्) वर्ण

२) **संवार - वे वर्ण** जिनका उच्चारण करते समय मुख न खुले। जैसे - हश् (वर्ग के ३,४,५ य्, र्, ल्, व्, ह्) वर्ण

३) **श्वास - जिनका उच्चारण** स्वरतन्त्रियों के घर्षण के बिना हो जाये। जैसे खर् वर्ण

४) **नाद** - जिनका उच्चारण स्वर तन्त्रियों से घर्षण करते हुए हो। जैसे हश् वर्ण

५) **घोष** - जिनके उच्चारण के समय स्वर तन्त्रियों में कंपन पैदा हो, जैसे वर्ग के ३,४,५ तथा य्, र्, ल्, व्, ह्, ळ्।

६) **अघोष** - जिनके उच्चारण में घोष (गूंज) न हो। जैसे खर् वर्ण-वर्ग का प्रथम और तृतीय वर्ण तथा स।

७) **अल्पप्राण** - जिनका उच्चारण करते समय कम श्वास की आवश्यकता पडे। जैसे वर्ग के १,३,५ और यण (य,र,ल,व) वर्ण।

८) **महाप्राण** - जिनका उच्चारण करते समय अधिक श्वास की आवश्यकता पडे। जैसे - वर्ग के २,४ और शल् (श्, ष्, स्, ह्) वर्ण

९) **उदात्त** - जिनका उच्चारण तालु आदि के ऊर्ध्वभाग से हो।

१०) **अनुदात्त** - जिनका उच्चारण तालु आदि के अधोभाग से हो

११) **स्वरित** - उदात्त अनुदात्त का मिश्रित रूप

२. सन्धि प्रकरण

सन्धि (सम्+धा) शब्द का अर्थ होता है जोड। अर्थात् दो वर्णो के परस्पर एकत्रीकरण होने से उत्पन्न होने वाला विकार। संयोग में यह विकार नहीं होता। पालि में सन्धि तीन प्रकार की होती हैं -१) स्वर,२) व्यंजन और ३)निग्गहीत। पालि में यह सन्धि व्यवस्था अपवादों से भरी हुई है।

१. स्वर सन्धि

सन्निकटस्थ दो स्वरों के परस्पर संयोग से उत्पन्न होने वाले विकार को स्वर सन्धि कहते हैं। पालि में स्वरसन्धि के आठ भेद हैं -

क) लोप सन्धि -

१) यदि स्वर के समीप दूसरा स्वर हो तो कभी-कभी पूर्व स्वर का लोप हो जाता है (**सरा सरे लोपं, क. १.२.१**)। जैसे -

अ+इ=इ - तत्र+इमे =तत्रिमे, यस्स+इन्द्रियानि=यस्सिन्द्रियानि
आ+इ=इ - सद्धा+इन्द्रियं=सद्धिन्द्रियं
इ+ए=ए - नोहि+एतं=नोहेतं
ई+ओ=ओ - भिक्खुनी+ओवादो=भिक्खुनी ओवादो
उ+आ=आ - समेतु+आयस्मा=समेतायस्मा
ऊ+आ=आ- अभिभू+आयतन=अभिभायतन

ए+आ=अ - पुत्तामे+अत्थि=पुत्तामत्थि
ओ+ए=ए - असन्तो+एत्थ=असन्तेत्थ।

२) यदि स्वर के समीप स्वर हो तो विकल्प से दूसरे स्वर का लोप हो जाता है। जैसे -

ओ+अ=ओ - सो+अपि=सो पि
ए+अ=ए - ते+अहं=तेहं
ए+इ=ए - आकासे+इव=आकासेव
आ+ए=आ - सा+एव=साव
ओ+उ=ओ - यतो+उदकं=यतोदकं
ओ+इ=ओ - चत्तारो+इमे=चत्तारो मे
उ+इ=उ - किन्नु+इमाव=किन्नुमाव

ख) दीर्घ सन्धि - (दीघं. का. १.२-४)

पालि में संस्कृत के समान दीर्घसन्धि का रूप नहीं मिलता। जो भिन्न रूप मिलता है उसमें पूर्व (प्रथम) स्वर का लोप होने पर उत्तरवर्ती स्वर विकल्प से दीर्घ हो जाता है (दीघं, क. २. २-४)। जैसे -

आ+इ=ई - सद्धा+इध=सद्धीध
अ+उ=ऊ - च+उभयं=चूभयं

ग) गुणसन्धि - (क्वचासवण्णं लुत्ते, का. १२३, मो. १२९)

लुप्त स्वर के बाद आनेवाला स्वर कहीं-कहीं असवर्ण हो जाता है। जैसे -

अ+इ=ए - तस्स+इदं=तस्सेदं, वन्धुस्स+इव=वन्धुस्सेव
अ+ई=ए - वात+ईरितं=वातेरितं
अ+उ=ओ - वाम+उरु=वामोरु
इ+उ=ओ - वि=उदकं=वोदकं
आ+ए=रि - यथा+एव=यथरिव

अपवाद - यस्स+इन्द्रियानि= यस्सिन्द्रियानि,
तथा+उपमं= तथूपमं यथा+एव=यथाएव

घ) यण सन्धि - (यमेदन्तस्सादे सो का. १२६, य वा स रे मो. १.३०)

इ और उ के बाद यदि स्वर हो तो विकल्प से उनके स्थान पर क्रमशः य और व हो जाता है। जैसे -

इ+आ=य - वि+आकतो=व्याकतो
इ+अ=य - इति+अस्स=इच्यस्स, वुत्ति+अस्स=वुत्यस्स
उ+आ=व - सु+आगतं=स्वागतं
ओ+अ=व - खो+अस्स=ख्वस्स, सो+अस्स=स्वस्स
उ+आ=व - बहु+आबाधो=बव्हाबाधो
उ+ए=व - वत्थु+एत्थ=वत्थ्वेत्थ

अपवाद - पंचेहि+अङ्गेहि=पंचहङ्गेहि, ते+अनागता=तेनागता।

ङ) अय सन्धि - (एओनं. मो. १.३१)

ए और ओ के बाद यदि स्वर हो तो विकल्प से उनके स्थान पर क्रमशः य और व हो जाता है। जैसे -

ए+अ=य - ते+अज्ज=त्यज्ज
ओ+अ=व-सो+अहं=स्वाहं, गो+अस्सं=गवास्सं

च) ह्रस्व-दीर्घ सन्धि - (पुब्बोच- क. १.२.५)

उत्तरवर्ती स्वर का लोप हो जाने पर विकल्प से पूर्व स्वर को दीर्घ स्वर हो जाता है। जैसे -

उ+इ=ऊ-किंसु+इध=किंसूध, साधु+इति=साधूति।

छ) प्रकृति भाव - (सरा पकति व्यञ्जन- क. १.३.९)

स्वर के बाद यदि व्यंजन या स्वर हो तो सन्धि नहीं होगी। जैसे -

मनोपुब्बङ्गमा+धम्मा= मनोपुब्बङ्गमा धम्मा
तिण्णो+पारगतो= तिण्णो पारगतो।

२) व्यंजन सन्धि - (व्यञ्जनेदीघरस्सा- मो. १.३३)

व्यंजन सन्धि - वर्ण के साथ व्यंजन या स्वर के मिल जाने से जो विकार उत्पन्न होता है वह व्यंजन सन्धि है।

मुनि+चरे = मुनीचरे
खन्ति+परमं = खन्ती परमं
सम्म+धम्मं = सम्मा धम्मं
जायति+सोको = जायती सोको

भोवादि+नाम = भोवादी नाम।
अपवाद-सम्मा+समाधि = सम्मासमाधि।
को+इमं = को इमं

अपवाद - अपस्सुतो + अयं = अप्पस्सुतायं

क) यदि उत्तर में व्यंजन हो तो पूर्ववर्ती ह्रस्व व दीर्घ स्वरों को क्रमशः दीर्घ और ह्रस्व स्वर हो जाता है। जैसे -

ख) उत्तरवर्ती व्यंजन के पूर्ववर्ती स्वर का लोप और उसके स्थान पर आकार का आगमन होता है। जैसे-

सो+नीलवा = स सीलवा
एसो+धम्मो = एस धम्मो सो+वे=स वे
अपवाद - सो+मुनि = सो मुनि; सो+कासावं = सो कासावं।

ग) स्वर के बाद रहने वाले व्यंजन का विकल्प से द्वित्व होता है। जैसे -

इध+पमादो = इधप्पमादो ; प+गहो=पग्गहो
दु+कतं = दुक्कतं, प+बजं=पब्बजं

अपवाद - इध+मोदति = इध मोदति;

पेच्च+मोदति = पेच्च मोदति

घ) स्वर के बाद रहने वाले घोष या अघोष व्यंजन के स्थान पर उसी वर्ग के प्रथम अथवा तृतीय अक्षर का द्वित्व हो जाता है। जैसे -

अ+खन्ति = अक्खन्ति ; नि+ठानं=निट्ठानं
यस+थेरो = यसत्थेरो; यत्र+ठितं=यत्रट्ठितं
एसोवत+झानफलो = एसो वचज्झानफलो
अपवाद - इध+चेतसो = इध चेतसो
चेतसो+दळहं = चेतसो दळहं

ङ) इति के स्थान पर एव होता है। जैसे -

इति+एव = इत्वेव; विकल्प से-इच्चेव।
पुथु+एव = पुथगेव; इध+अहु = इधमाहु

च) छ शब्द के बाद यदि स्वर आये तो विकल्प से उसके स्थान पर ळ का आगम होता है। जैसे -

छ+अंगं = छळङ्गं
छ+आयतनं = छळायतनं

छ) स्वर के पूर्व आने वाले अभि का अब्भ, अधि का अज्झ और पति का पटि होता है। जैसे -

अभि+उदीरितं = अब्भुदीरितं
अभि+उग्गच्छति = अब्भुग्गच्छति
अधि+ओकासो = अज्झोकासो
अधि+अगमा = अज्झगमा

ज) व्यंजन के पूर्व आनेवाले पुथ शब्द का अन्तिम स्वर उकार में परिवर्तित हो जाता है। जैसे -

पुथ+जनो = पुथुज्जनो; आव+नद्धा = ओनद्धा।
झ) व्यंजन के पूर्ववर्ती आव का ओ आदेश होता है। जैसे -
आव+नद्धा = ओनद्धा
ञ) विकल्प से त, थ, न, द को क्रमशः ट, ठ, ण और ल होता है। जैसे -
अत्थ+कथा = अट्ठकथा; गहनं = गहणं
परिघो = पलिघो

३) निग्गहीत सन्धि में अनुस्वार का कार्य होता है -

(वग्गन्तं वा वग्गे- क. १.४.२; वग्गे वग्गन्तं- मो. १.४१)

क) व्यंजन के बाद आने वाले निग्गहीत (अनुस्वार) के स्थान पर विकल्प से उसी वर्ग का अन्तिम अक्षर होता है। जैसे -

तं+निब्बुतं = तन्निब्बुतं; धम्मं+चरे = धम्मञ्चरे
तं+ठानं = तण्ठानं; तं+पति = तम्पति
एवं+खो = एवङ्खो
अपवाद - तं+कम्मं = तं कम्मं
तं+कतं = तं कतं; विकल्प से-पुमस्स+लिंगं = पुंलिंगं

ख) कहीं-कहीं स्वर अथवा व्यंजन के बाद निग्गहीत का आगम होता है-

चक्खु+उदपादि = चक्खुं उदपादि
याव+चिदं = यावंचिदं
त+खण = तंखणे
पुरिम+जाति = पुरिमंजाति

अणु+थुलानि = अणुंथुलानि
अपवाद - अध+एव = इधेव
पेच्च+सग्गे = पेच्चसग्गे; न+हि = नही।

ग) कहीं-कहीं निग्गहीत का लोप हो जाता है। जैसे -

तासं+अहं = तासाहं; विदूनं+अग्गं = विदूनग्गं
सं+रम्भो = सारम्भो; एवं+अहं = एवाहं
गन्तु+कामो = गन्तुकामो
अपवाद - अहं+एव = अहमेव, एतं+अत्थं = एतदत्थं

घ) निग्गहीत के बाद आनेवाले स्वर का कहीं-कहीं लोप होता है। जैसे-

त्वं+असि = त्वंसि; बीजं+इव = बीजंव
अलं+इदानि = अलन्दानि; इदं+अपि = इदम्पि
अपवाद - अहं+एव = अहमेव
एतं+अहोसि = एतदहोसि

ङ) व्यंजन के बाद आनेवाले निग्गहीत का कभी-कभी लोप हो जाता है-

अरियसच्चानं+दस्सनं = अरियसच्चानदस्सनं
बुद्धानं+सासनं = बुद्धान सासनं

च) निग्गहीत के बाद आनेवाले स्वर का लोप होने पर संयुक्त व्यंजन असंयुक्त हो जाता है। जैसे -

एवं+अस्स = एवंस
पुप्फ+अस्सा = पुप्फंसा

छ) य, एव और हि शब्द आने पर निग्गहीत का विकल्प से ञ्ञ होता है-

य+यं+एव = यंञदेव
तं+एव = तंञेव; तं+हि = तञ्हि

ज) स्वर के पूर्ववर्ती निग्गहीत का विकल्प से म, य, द आदेश होता है। जैसे -

तं+अहं = तमहं
तं+इदं = तमिदं
तं+अलं = तदिलं

३. सुबन्त प्रकरण अथवा शब्दरूप

शब्द के तीन प्रकार होते हैं -१) नाम, २) आख्यात, और ३) अव्यय। नाम का

तात्पर्य है प्रातिपदिक। उसमें सुप् वगैरह प्रत्यय लगने पर 'संज्ञा' पद का निर्माण होता है जिसे सुबन्त कहते हैं। पालि में ये सुबन्त संस्कृत के समान पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंगी होते हैं। उनमें दो वचन होते हैं - एक वचन और बहुवचन। द्विवचन नहीं होते। तीन पुरुष होते हैं - प्रथम, द्वितीय और तृतीय पुरुष। सुबन्त में सात प्रकार की विभक्तियां होती हैं -१) कर्ता (प्रथम),२) कर्म (द्वितिया),३) करण (तृतिया), ४)संप्रदान (चतुत्थी),५) अपादान (पंचमी), ६) सम्बन्ध (षष्ठी) और ७) अधिकरण (सप्तमी)। चतुर्थी और षष्ठी साधारणतः समान होती हैं। आलपन (सम्बोधन) मिलाकर विभक्तियों की संख्या आठ भी हो जाती है। इनके विभक्ति प्रत्यय इस प्रकार हैं - १) सि-यो, २) अं. यो ३) ना - हि, ४) स - नं, ५) स्मा, म्हा - हि, ६) स्स - नं, ७) स्मिं, म्हि - सु, और ८) सि - यो।

स्वरान्त शब्दों में सभी अकारान्त शब्द पुल्लिंग अथवा नपुंसक लिंग होते हैं। आकारान्त शब्द प्रमुख रूप से स्त्रीलिंग में समाविष्ट होते हैं। इकारान्त और उकारान्त शब्दों का प्रयोग तीनों लिंगों में होता है। दीर्घ ईकारान्त शब्द प्रमुख रूप से स्त्रीलिंग में मिलते हैं। उकारान्त शब्द पुल्लिंग अथवा स्त्रीलिंग में समाविष्ट होते हैं।

१) अकारान्त शब्द की प्रथमा विभक्ति 'सि' को 'ओ' या 'ए' आदेश होता है और 'यो' के स्थान पर य (अ) आदेश होता है। जैसे - बुद्धो, बुद्धे, बुद्धा। २) दुतिया विभक्ति में अं तथा 'यो' को हे (ए) (जैसे - बुद्धे), ३) ततिया विभक्ति के 'ना' को एन (जैसे बुद्धेन) तथा हि और भि ४) चतुर्थी विभक्ति के 'स' को आय किंवा स्स, और नं ५) पंचम विभक्ति में स्मा, म्हा तथा हि और भि (जैसे - बुद्धाय, बुद्धस्स, बुद्धानं) आदेश होता है। ६) स्स और नं तथा ७) सप्तमी विभक्ति में स्मि, म्हि तथा सु प्रत्यय लगते है। इस प्रकार अकारान्त पुल्लिंग के शब्दरूप इस तरह होते हैं -

पठमा	बुद्धो, बुद्धे	बुद्धा,
दुतिया	बुद्धं	बुद्धे
ततिया	बुद्धेन	बुद्धेहि, बुद्धेभि
चतुत्थी	बुद्धाय, बुद्धस्स	बुद्धानं,
पञ्चमी	बुद्धा, बुद्धम्हा, बुद्धस्मा	बुद्धेहि, बुद्धेभि
छट्ठी	बुद्धस्स	बुद्धानं
सत्तमी	बुद्धे, बुद्धम्हि, बुद्धस्मिं	बुद्धेसु
आलपन	बुद्ध, बुद्धा	बुद्धा

आकारान्त शब्द पालि में प्राय: मिलते नहीं। इसी आधार पर शेष सभी शब्द संस्कृत शब्दों के समान रूपान्तरित हो जाते हैं। यहां हम उन सभी शब्दों के रूपों का उल्लेख नहीं कर रहे हैं। सखा शब्द नियमबद्ध नही है । उसके रूप इस प्रकार होंगे -

पठमा	सखा	सखायो, सखानो, सखिनो सखा
दुतिया	सखानं, सखारं, सखं	सखी, सखायो,सखानो,सखिनो
ततिया	सखिना	सखारेहि, सखारेभि, सखेहि, सखेभि
चतुत्थी	सखिस्स,सखिनो	सखीनं, सखानं, सखारानं
पञ्चमी	सखिना, सखारा, सखारस्मा	सखेहि, सखेभि, सखारेहि, सखारेभि
छट्ठी	सखिनो, सखिस्स	सखीनं, सखानं, सखारानं
सत्तमी	सखे	सखेसु
आलपन	सख,सखा,सखि,सखी,सखे	सखायो,सखानो, सखिनो,सखा

इकारान्त पुल्लिंग शब्द
मुनि (इकारान्त पुल्लिंग शब्द)

पठमा	मुनि	मुनी, मुनयो
दुतिया	मुनिं	मुनी, मुनयो
ततिया	मुनिना	मुनीहि, मुनीभि
चतुत्थी	मुनिनो, मुनिस्स	मुनीनं
पञ्चमी	मुनिना, मुनिम्हा, मुनिस्मा	मुनीहि, मुनीभि
छट्ठी	मुनिनो, मुनिस्स	मुनीनं
सत्तमी	मुनिम्हि, मुनिस्मिं	मुनिसु, मुनीसु
आलपन	मुनि, मुनी	मुनी, मुनयो

इसी प्रकार अग्गि, पति, हरि, गहपति, इसि, गिरि, [illegible] इत्यादि इकारान्त शब्द के रूप मुनि शब्द के समान बनते हैं।

ईकारान्त पुल्लिंग शब्द
दण्डी (तपस्वी) ईकारान्त

पठमा	दण्डी	दण्डी, दण्डिनो

दुतिया	दण्डिनं, दण्डिं	दण्डी, दण्डिनो, दण्डिने
ततिया	दण्डिना	दण्डीहि, दण्डीभि
चतुत्थी	दण्डिनो, दण्डिस्स	दण्डीनं
पञ्चमी	दण्डिना, दण्डिस्मा, दण्डिम्हा	दण्डीहि, दण्डीभि
छट्ठी	दण्डिनो, दण्डिस्स	दण्डीनं
सत्तमी	दण्डिनि, दण्डिम्हि, दण्डिस्मिं	दण्डिसु, दण्डीसु
आलपन	दण्डि, दण्डी	दण्डी, दण्डिनो

इसी तरह पक्खी, हत्थी, सामी, गणी, चक्की, योगी, चागी, माली, सिखी, संधी, ञाणी, सुखी इत्यादि ईकारान्त शब्द के रूप दण्डी शब्द के समान चलते हैं।

उकारान्त पुल्लिंग शब्द

भिक्खु (भिक्षु) (उकारान्त)

पठमा	भिक्खु	भिक्खू, भिक्खवो
दुतिया	भिक्खुं	भिक्खू, भिक्खवो
ततिया	भिक्खुना	भिक्खूहि, भिक्खूभि
चतुत्थी	भिक्खुनो, भिक्खुस्स	भिक्खूनं
पञ्चमी	भिक्खुना, भिक्खुस्मा, भिक्खुम्हा	भिक्खूहि, भिक्खूभि
छट्ठी	भिक्खुनो, भिक्खुस्स	भिक्खुनं
सत्तमी	भिक्खुस्मिं, भिक्खुम्हि	भिक्खुसु, भिक्खूसु
आलपन	भिक्खु	भिक्खू, भिक्खवे, भिक्खवो

इसी प्रकार भानु, साधु, वायु, विण्णु, राहु, मञ्जु, हेतु, विभु इत्यादि शब्दों के रूप भिक्खु शब्द के समान होते हैं।

ऊकारान्त पुल्लिंग शब्द

सब्बञ्ञू (सर्वज्ञ) (ऊकारान्त)

पठमा	सब्बञ्ञू	सब्बञ्ञू, सब्बञ्ञुनो
दुतिया	सब्बञ्ञुं	सब्बञ्ञू, सब्बञ्ञुनो

ततिया	सब्बञ्ञुना	सब्बञ्ञूहि, सब्बञ्ञूभि
चतुत्थी	सब्बञ्ञुनो, सब्बञ्ञुस्स	सब्बञ्ञूनं
पञ्चमी	सब्बञ्ञुना, सब्बञ्ञुस्मा सब्बञ्ञुम्हा	सब्बञ्ञूहि, सब्बञ्ञूभि
छट्ठी	सब्बञ्ञुनो, सब्बञ्ञुस्स	सब्बञ्ञूनं
सत्तमी	सब्बञ्ञुम्हि, सब्बञ्ञुस्मिं	सब्बञ्ञुसु
आलपन	सब्बञ्ञु	सब्बञ्ञू, सब्बञ्ञुनो

इसी प्रकार धम्मञ्ञू, मग्गञ्ञू, कालञ्ञू, मत्तञ्ञू, वेदगू, पारगू इत्यादि ऊकारान्त पुल्लिंग शब्दों के रूप सब्बञ्ञू शब्द के समान चलते हैं।

ओकारान्त पुल्लिंग शब्द

गो (गाय)

पठमा	गो, गवो, गोणो	गावो, गवो, गोणो
दुतिया	गावुं, गावं, गवं, गोणं	गावो, गवो, गोणो
ततिया	गावेन, गवेन, गावा, गवा	गोहि, गोभि, गोणेहि
चतुत्थी	गावस्स, गवस्स, गवं	गवं, गुन्नं, गोनं, गोणानं
पञ्चमी	गवा, गावा, गावस्मा, गावम्हा, गवस्मा, गवम्हा	गोहि, गोभि, गोणेभि
छट्ठी	गावस्स, गवस्स, गवं	गवं, गुन्नं, गोनं, गोणानं
सत्तमी	गावे, गवे, गावम्हि	गावेसु, गवेसु, गोसु, गोणेसु
आलपन	गो, गोण	गावो, गवो

स्वरान्त स्त्रीलिंग शब्दरूप

आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दरूप

लता (आकारान्त स्त्रीलिंग शब्द)

पठमा	लता	लता, लतायो
दुतिया	लतं	लता, लतायो
ततिया	लताय	लताहि, लताभि
चतुत्थी	लताय	लतानं

पञ्चमी	लताय	लताहि, लताभि
छट्ठी	लताय	लतानं
सत्तमी	लतायं, लताय	लतासु
आलपन	लते	लता, लतायो

इसी प्रकार कञ्ञा, बाला, पभा, पमदा, पञ्ञा, सद्धा, पजा, माला, सेना, तण्हा, अविज्जा, करुणा, पटिपदा, मेत्ता, गाथा इत्यादि आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के रूप लता शब्द के समान होते हैं।

इकारान्त स्त्रीलिंग शब्दरूप

रत्ति (रात)

पठमा	रत्ति	रत्ती, रत्तियो, रत्यो
दुतिया	रत्तिं	रत्ती, रत्तियो, रत्यो
ततिया	रत्तिया, रत्या	रत्तीनं
चतुत्थी	रत्तिया, रत्या	रत्तीनं
पञ्चमी	रत्तिया, रत्या	रत्तीनं
छट्ठी	रत्तिया, रत्या	रत्तीनं
सत्तमी	रत्तियं, रत्यं, रत्या, रत्तिं	रत्तीसु, रत्तिसु
	रत्यो, रत्तिया	
आलपन	रत्ति	रत्ती, रत्तियो, रत्यो

इसी प्रकार पीति, भूमि, सति, तन्ति, बुद्धि, सिद्धि, यट्ठि, बोधि, पालि इत्यादि इकारान्त शब्दो के रूप रत्ति शब्द के समान होते है।

जाति (इकारान्त स्त्रीलिंग शब्दरूप)

पठमा	जाति	जाति, जातियो
दुतिया	जातिं	जाती, जातियो
ततिया	जातिया, जत्या, जच्चा	जातीहि, जातीभि
चतुत्थी	जातिया, जत्या, जच्चा	जातीनं
पञ्चमी	जातिया, जत्या, जच्चा	जातीहि, जातीभि
छट्ठी	जातिया, जत्या, जच्चा	जातीनं
सत्तमी	जातिया, जातियं जत्यं, जच्चं	जातीसु
आलपन	जाति	जाती, जातियो, जत्यो, जच्चो

इकारान्त स्त्रीलिंग शब्दरूप

इत्थी (स्त्री)

पठमा	इत्थी	इत्थी, इत्थियो
दुतिया	इत्थियं, इत्थिं	इत्थी, इत्थियो
ततिया	इत्थिया	इत्थीहि, इत्थीभि
चतुत्थी	इत्थिया	इत्थीनं
पञ्चमी	इत्थिया	इत्थीहि, इत्थीभि
छट्ठी	इत्थिया	इत्थीनं
सत्तमी	इत्थियं, इत्थिया	इत्थीसु
आलपन	इत्थि	इत्थी, इत्थियो

नदी (ईकारान्त इत्थिलिंग सद्दो)

पठमा	नदी	नदियो, नदी, नज्जो
दुतिया	नदिं	नदी, नदियो, नज्जो
ततिया	नदिया, नज्जा	नदीहि, नदीभि
चतुत्थी	नदिया, नज्जा	नदीनं
पञ्चमी	नदिया, नज्जा	नदीहि, नदीभि
छट्ठी	नदिया, नज्जा	नदीनं
सत्तमी	नदिया, नदियं, नज्जा, नज्जं	नदीसु
आलपन	नदी	नदी, नदियो, नज्जो

इसी प्रकार दासी, ब्राह्मणी, कुमारी, मही, नारी, पुरी, महिसी, इत्यादी ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के रूप इत्थी, नदी शब्दों के समान होते हैं।

उकारान्त स्त्रीलिंग शब्दरूप

धेनु (गाय)

पठमा	धेनु	धेनु, धेनुयो
दुतिया	धेनुं	धेनू, धेनुया
ततिया	धेनुया	धेनूहि, धेनूभि
चतुत्थी	धेनुया	धेनूनं
पञ्चमी	धेनुया	धेनूहि, धेनूभि
छट्ठी	धेनुया	धेनूनं

सत्तमी	धेनुयं, धेनुया	धेनूसु, धेनुसु
आलपन	धेनु	धेनू, धेनुयो

इसी प्रकार रज्जु, विज्जु, धातु, यागु, कच्छु, दद्दु, इत्यादि शब्दों के रूप धेनु शब्द समान होते हैं।

ऊकारान्त स्त्रीलिंग शब्दरूप

वधू (वहू)

पठमा	वधू	वधू, वधुयो
दुतिया	वधुं	वधूं, वधुयो
ततिया	वधुया	वधूहि, वधूभि
चतुत्थी	वधुया	वधूनं
पञ्चमी	वधुया	वधूहि, वधूभि
छट्ठी	वधुया	वधूनं
सत्तमी	वधुयं, वधुया	वधूसु
आलपन	वधु	वधू, वधुयो

इस प्रकार सस्सू, वामोरू, जम्बू, चमू, सरभू, इत्यादि उकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के रूप वधू शब्द समान होते हैं।

स्वरान्त नपुसकलिंग शब्दरूप

अकारान्त नपुसकलिंग शब्द

फल (फळ)

पठमा	फल	फला, फलानि
दुतिया	फलं	फले, फलानि
ततिया	फलेन	फलेहि, फलेभि
चतुत्थी	फलाय, फलस्स	फलानं
पञ्चमी	फला, फलम्हा, फलस्मा	फलेहि, फलेभि
छट्ठी	फलस्स	फलानं
सत्तमी	फले, फलम्हि, फलस्मि	फलेसु
आलपन	फल, फला	फलानि

कम्म (अकारान्त नपुंसकलिंग शब्द)

पठमा	कम्मं	कम्मा, कम्मानि
दुतिया	कम्मं	कम्मे, कम्मानि
ततिया	कम्मेन, कम्मना, कम्मुना	कम्मेहि, कम्मेभि
चतुत्थी	कम्मस्स, कम्मुनो	कम्मानं
पञ्चमी	कम्मा, कम्मस्मा, कम्मम्हा	कम्हेहि, कम्हेभि
छट्ठी	कम्मस्स, कम्मुने	कम्मानं
सत्तमी	कम्मे, कम्मस्मिं, कम्मम्हि, कम्मनि	कम्मेसु
आलपन	कम्म	कम्मा, कम्मानि

इसी प्रकार सुक्ख, दुःख, कुल, बल, मरण, त्राण, वन इत्यादि अकारान्त नपुसकलिंग शब्दों के रूप फल, कम्म शब्द के समान होते हैं।

इकारान्त नपुसकलिंग शब्दरूप

दधि (दही)

पठमा	दधि	दधी, दधीनि
दुतिया	दधिं	दधी, दधीनि
ततिया	दधिना	दधीहि, दधीभि
चतुत्थी	दधिनो, दधिस्स	दधीनं
पञ्चमी	दधिना, दधिम्हा, दधिस्मा	दधीहि, दधीभि
छट्ठी	दधिनो, दधिस्स	दधीनं
सत्तमी	दधिम्हि, दधिस्मिं	दधिसु, दधीसु
आलपन	दधि	दधी, दधीनि

इसी प्रकार अक्खि, अट्ठि, वारि इत्यादि इकारान्त नपुसकलिंग शब्दों के रूप दधि शब्द के समान होते है।

ईकारान्त नपुंसकलिंग शब्द

सुखकारी (ईकारान्त).

पठमा	सुखकारि	सुखकारी, सुखकारिनि
दुतिया	सुखकारिं	सुखकारी, सुखकारिनि

ततिया	सुखकारिना	सुखकारीहि, सुखकारीभि
चतुत्थी	सुखकारिनो, सुखकारिस्स	सुखकारीनं
पञ्चमी	सुखकारिना, सुखकारिम्हा, सुखकरिस्मा	सुखकारीहि, सुखकारीभि
छट्ठी	सुखकारिनो, सुखकारिस्स	सुखकारीनं
सत्तमी	सुखकारिनि, सुखकारिम्हि, सुखकारिस्मिं	सुखकारिसु, सुखकारिसु
आलपन	सुखकारि	सुखकारी, सुखकारीनि

उकारान्त नपुंसकलिंग शब्द

आयु

पठमा	आयु	आयू, आयूनि
दुतिया	आयुं	आयू, आयूनि
ततिया	आयुना	आयूहि, आयूभि
चतुत्थी	आयुनो, आयुस्स	आयूनं
पञ्चमी	आयुना, आयुस्मा, आयुम्हा	आयूहि, आयूभि
छट्ठी	आयुनो, आयुस्स	आयूनं
सत्तमी	आयुम्हि, आयुस्मिं	आयुसु, आयूसु
आलपन	आयु	आयू, आयूनि

इसी प्रकार चक्खु, धनु, अम्बु, दारु, मधु, अस्सु, वत्थु, वसु, इत्यादि उकारान्त नपुसकलिंग शब्दों के रूप आयु शब्द के समान होते हैं।

ओकारान्त नपुंसलिंग शब्द

चित्तगो

पठमा	चित्तगु	चित्तगू, चित्तगूनि
दुतिया	चित्तगुं	चित्तगू, चित्तगूनि
ततिया	चित्तगुना	चित्तगूहि, चित्तगूभि
चतुत्थी	चित्तगुनो, चित्तगुस्स	चित्तगूनं

पञ्चमी	चित्तगुना, चित्तगुम्हा, चित्तगुस्मा	चित्तगूहि, चित्तगूभि
छट्ठी	चित्तगुनो, चित्तगुस्स	चित्तगूनं
सत्तमी	चित्तगुम्हिं, चित्तगुस्मिं	चित्तगुसु, चित्तगूसु
आलपन	चित्तगु	चित्तगू, चित्तगुनि

अनियमित शब्द

पुल्लिंग शब्द

कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनके रूप निर्देशित रूपों की अपेक्षा भिन्न होते हैं। उन्हें अनियमित शब्द कहा जाता है। उनके रूप इस प्रकार हैं-

अत्त (आत्मा)

पठमा	अत्ता	अत्तानो, अत्ता
दुतिया	अत्तं, अत्तानं,	अत्तानो, अत्ते
ततिया	अत्तेन, अत्तना	अत्तेहि, अत्तेभि, अत्तनेहि, अत्तनेभि
चतुत्थी	अत्तनो, अत्तस्स	अत्तानं
पञ्चमी	अत्तना, अत्तस्मा, अत्तम्हा	अत्तेहि, अत्तभि, अत्तनेहि, अत्तनेभि
छट्ठी	अत्तनो, अत्तस्स	अत्तान
सत्तमी	अत्तनि, अत्तस्मिं, अत्तम्हि, अत्ते	अत्तनेसु, अत्तेसु
आलपन	अत्त, अत्ता	अत्ता, अत्तानो

राज (राजा)

पठमा	राजा	राजा, राजानो
दुतिया	राजानं, राजं	राजानो
ततिया	रञ्ञा, राजेन, राजिना	राजेहि, राजूहि, राजेभि, राजूभि
चतुत्थी	रञ्ञो, रञ्ञस्स, राजिनो, राजस्स	रञ्ञं, राजूनं, राजानं
पञ्चमी	रञ्ञा, राजम्हा, राजस्मा	राजेहि, राजेभि, राजूहि, राजूभि
छट्ठी	रञ्ञो, रञ्ञस्स, राजिनो, राजस्स	रञ्ञं, राजूनं, राजानं

सत्तमी	रञ्ञे, राजिनि, राजस्मिं राजम्हि	राजूसु, राजेसु
आलपन	राज, राजा	राजानो, राजा

ब्रह्म (ब्रह्मा)

पठमा	ब्रह्मा	ब्रह्मा, ब्रह्मानो
दुतिया	ब्रह्मानं, ब्रह्मं	ब्रह्मानो
ततिया	ब्रह्मुना, ब्रम्ह्मना	ब्रह्मेहि,ब्रह्मेभि,ब्रह्मूहि,ब्रह्मूभि
चतुत्थी	ब्रह्मनो, ब्रह्मस्स	ब्रह्मानं, ब्रह्मूनं
पञ्चमी	ब्रह्मना,ब्रह्मुना	ब्रह्महि,ब्रह्मभि,ब्रह्मूहि, ब्रह्मूभि
छट्ठी	ब्रह्मुनो, ब्रह्मस्स	ब्रह्मानं, ब्रह्मूनं
सत्तमी	ब्रह्मे, ब्रह्मनि,ब्रह्मस्मिं, ब्रह्मम्हि	ब्रह्मेसु,
आलपन	ब्रह्मे	ब्रह्मा, ब्रह्मानो

सा (कुक्कुर)

पठमा	सा	सा, सानो
दुतिया	सं, सानं	से, साने
ततिया	सेन, साना	सेहि, सेभि, सानेहि, सानेभि
चतुत्थी	सस्स, साय, सानस्स	सानं
पञ्चमी	सा, सस्मा, सम्हा, साना	सेहि, सेभि, सानेहि, सानेभि
छट्ठी	सस्स, सानस्स	सानं
सत्तमी	से, सस्मिं, सम्हि, साने	सासु
आलपन	स, सान	सा, सानो

युव (युवक-तरुण)

पठमा	युवा	युवा, युवानो, युवाना
दुतिया	युवं, युवानं	युवे, युवाने
ततिया	युवेन, युवानेन, युवाना	युवेहि, युवेभि, युवानेहि,युवानेभि
चतुत्थी	युवस्स, युवानस्स, युविनो	युवानं, युवानानं
पञ्चमी	युवाना, युवानस्मा, युवानम्हा	युवेहि,युवेभि, युवानेहि, युवानेभि

छट्ठी	युवस्स, युवानस्स, युविनो	युवानं, युवानानं
सत्तमी	युवस्मिं, युवानस्मिं, युवे, युवाने, युवम्हिं, युवानम्हि	युवेसु, युवासु, युवानेसु
आलपन	युव, युवा, युवाना, युवान	युवानो, युवाना

पुम (मनुष्य)

पठमा	पुमा, पुमो	पुमो, पुमानो
दुतिया	पुमानं, पुमं	पुमानो, पुमाने, पुमे
ततिया	पुमाना,पुमुना,पुमेन	पुमानेहि,पुमानेभि,पुमेहि,पुमेभि
चतुत्थी	पुमुनो, पुमस्स	पुमानं
पञ्चमी	पुमाना, पुमुना, पुमा, पुमम्हा, पुमस्सा	पुमानेहि,पुमानेभि, पुमेहि,पुमेभि
छट्ठी	पुमस्स, पुमुनो	पुमानं
सत्तमी	पुमे, पुमाने, पुमस्मिं, पुमम्हि	पुमासु, पुमानेसु, पुमेसु
आलपन	पुम, पुमं	पुमा, पुमानो.

गुणवन्तु (गुणवंत)

पठमा	गुणवा	गुणवन्तो, गुणवन्ता
दुतिया	गुणवन्तं	गुणवन्ते
ततिया	गुणवता, गुणवन्तेन	गुणवन्तेहि, गुणवन्तेभि
चतुत्थी	गुणवतो, गुणवन्तस्स	गुणवतं, गुणवन्तानं
पञ्चमी	गुणवता, गुणवन्तम्हा, गुणवन्तस्मा	गुणवन्तेहि, गुणवन्तेभि
छट्ठी	गुणवतो, गुणवन्तस्स	गुणवतं, गुणवन्तानं
सत्तमी	गुणवति, गुणवन्ते, गुणवन्तम्हिं, गुणवन्तस्मिं	गुणवन्तेसु
आलपन	गुणवं, गुणवा, गुणव	गुणवन्तो, गुणवन्ता

वन्तु और मन्तु प्रत्यय शब्दों के रूप गुणवन्तु शब्द समान होते हैं। जैसे - यसवन्तु, धनवन्तु, चक्खुमन्तु, मतिमन्तु।

गच्छन्त (जाते हुए)

पठमा	गच्छ, गच्छन्तो	गच्छन्तो, गच्छन्ता
दुतिया	गच्छन्तं	गच्छन्ते
ततिया	गच्छता, गच्छन्तेन	गच्छन्तेहि, गच्छन्तेभि
चतुत्थी	गच्छतो, गच्छन्तस्स	गच्छतं, गच्छन्तानं
पञ्चमी	गच्छता, गच्छन्तम्हा, गच्छतस्मा	गच्छन्तेहि, गच्छन्तेभि
छट्ठी	गच्छतो, गच्छन्तस्स	गच्छतं, गच्छन्तानं
सत्तमी	गच्छति, गच्छन्तस्मिं गच्छन्तम्हिं, गच्छन्ते	गच्छन्तेसु
आलपन	गच्छं, गच्छ, गच्छा	गच्छन्तो, गच्छन्ता

दातु (दाता)

पठमा	दाता	दातारो, दाता
दुतिया	दातारं	दातारे, दातारो
ततिया	दातारा, दातुना	दातारेहि, दातारेभि, दातूहि, दातूभि
चतुत्थी	दातु, दातुनो, दातुस्स	दातारानं, दातानं
पञ्चमी	दातारा, दातुना	दातारेहि, दातारेभि, दातूहि दातूभि
छट्ठी	दातु, दातुनो, दातुस्स	दातारानं, दातानं
सत्तमी	दातरि	दातारेसु, दातुसु
आलपन	दात, दाता	दातारो

इस प्रकार अत्तु, नेत्तु, सोत्तु, वत्तु, जेत्तु, छेत्तु, ञात्तु, कत्तु, भातु, सत्थु आदि शब्दों के रूप दातु शब्द के समान चलते हैं।

पितु (पिता)

पठमा	पिता	पितरो
दुतिया	पितरं	पितरे, पितरो
ततिया	पितरा	पितरेहि, पितरेभि, पितूहि, पितूभि

चतुत्थी	पितु, पितुनो, पितुस्स	पितरानं, पितानं, पितूनं
पञ्चमी	पितरा	पितरेहि, पितरेभि, पितूहि, पितूभि
छट्ठी	पितु, पितुनो, पितुस्स	पितरानं, पितानं, पितूनं
सत्तमी	पितरि	पितरेसु, पितूसु
आलपन	पित, पिता	पितरी

इसी तरह भातु, जामातु आदि शब्दों के रूप पितु शब्द के समान चलते हैं।

उकारान्त पुल्लिंग गुणवन्तु (गुणवान्)

पठमा	गुणवा, गुणवं	गुणवन्ते, गुणवन्ता
दुतिया	गुणवन्त	गुणवन्ता
ततिया	गुणवता गुणवन्तेन	गुणवन्तेहि, गुणवन्तेभि
चतुत्थी	गुणवन्तस्स, गुणवतो	गुणवन्तानं, गुणवतं
पञ्चमी	गुणवता, गुणवन्ता गुणवन्तस्मा, गुणवन्तम्हा	गुणवन्तेहि, गुणवन्तेभि
छट्ठी	गुणवतो, गुणवन्तस्स	गुणवतं, गुणवन्तानं
सत्तमी	गुणवति, गुणवन्ते, गुणवन्तस्मिं, गुणवन्तम्हि	गुणवन्तेसु
आलपन	गुणवं, गुणव, गुणवा	गुणवन्तो, गुणवन्ता

इसी प्रकार कुलवन्तु, धनवन्तु, गतिवन्तु, द्युतिमन्तु, पञ्ञवन्तु, यसवन्तु, महन्तु, चक्खुमन्तु, बुद्धिमन्तु, मतिमन्तु आदि शब्दों के रूप गुणवन्तु शब्द के समान चलते हैं।

सत्थु (शास्ता, बुद्ध)

पठमा	सत्था	सत्था, सत्थारो
दुतिया	सत्थारं, सत्थरं	सत्थारो, सत्थारे
ततिया	सत्थरा, सत्थारा, सत्थुना	सत्थारेहि, सत्थारेभि
चतुत्थी	सत्थु, सत्थुनो, सत्थुस्स	सत्थारानं, सत्थानं, सत्थूनं
पञ्चमी	सत्थरा, सत्थारा, सत्थुना	सत्थारेहि, सत्थारेभि
छट्ठी	सत्थु, सत्थुनो, सत्थुस्स	सत्थारानं, सत्थानं, सत्थूनं

सत्तमी	सत्थरि	सत्थारेसु, सत्थूसु
आलपन	सत्थ, सत्था	सत्था, सत्थारो

सखा (मित्र)

पठमा	सखा	सखायो, सखानो, सखिनो, सखा
दुतिया	सखानं, सखं, सखारं, सखा सखायं	सखायो, सखानो, सखिनो,
ततिया	सखिना	सखेहि, सखेभि, सखारेहि, सखारेभि
चतुत्थी	सखिनो, सखिस्स	सखीनं, सखारानं, सखानं
पञ्चमी	सखिना, सखारा, सखारस्मा	सखेहि, सखेभि, सखारेहि सखारेभि सखिस्मा, सखस्मा
छट्ठी	सखिनो, सखिस्स	सखीनं,-सखारानं, सखानं
सत्तमी	सखे	सखारेसु, सखेसु
आलपन	सख, सखा, सखि, सखे	सखानी, सखिनो, सखा

भगवन्त (भगवत)

पठमा	भगवा, भगवन्तो	भगवन्ता, भगवन्तो
दुतिया	भगवं, भगवन्तो	भगवन्ते
ततिया	भगवन्तेन, भगवता	भगवन्तेहि, भगवन्तेभि
चतुत्थी	भगवन्तस्स, भगवतो	भगवन्तानं, भगवतं
पञ्चमी	भगवन्ता, भगवन्तस्मा, भगवन्तम्हा, भगवता	भगवन्तेहि, भगवन्तेभि
छट्ठी	भगवन्तस्स, भगवतो	भगवन्तानं, भगवतं
सत्तमी	भगवन्ते, भगवन्तस्मिं भगवन्तम्हि, भगवति	भगवन्तेसु
आलपन	भगवन्त, भगवन्ता, भगवा, भगवं	भगवन्ता, भगवन्तो

अरहन्त सद्दो

पठमा	अरहा, अरहं	अरहन्ता
दुतिया	अरहन्तं, अरहं	अरहन्ते

ततिया	अरहन्तेन, अरहता	अरहन्तेहि, अरहन्तेभि
चतुत्थी	अरहन्तस्स, अरहतो	अरहन्तानं अरहतं
पञ्चमी	अरहन्ता, अरहन्तस्स अरहन्तम्हि, अरहति	अरहन्तेहि, अरहन्तेभि
छट्ठी	अरहन्तस्स, अरहतो	अरहन्तानं, अरहतं
सत्तमी	अरहन्ते, अरहन्तस्मिं, अरहन्तम्हि, अरहति	अरहन्तेसु
आलपन	अरहन्त, अरहन्ता	अरहन्ता, अरहन्तो

अद्ध (मार्ग)

पठमा	अद्धा	अद्धा, अद्धानो
दुतिया	अद्धानं	अद्धाने
ततिया	अद्धना, अद्धुना	अद्धानेहि, अद्धानेभि
चतुत्थी	अद्धुनो	अद्धानं
पञ्चमी	अद्धना, अद्धुना	अद्धानेहि, अद्धानेभि
छट्ठी	अद्धुनो	अद्धानं
सत्तमी	अद्धनि, अद्धाने	अद्धानेसु
आलपन	अद्ध	अद्धा, अद्धानो

भवन्त (भवत)

पठमा	भवं, भवन्तो,	भवन्ता, भवन्तो, भोन्तो
दुतिया	भवन्तं, भोतं	भवन्ते, भोन्ते
ततिया	भवन्तेन, भवता, भोता	भवन्तेहि, भवन्तेभि
चतुत्थी	भवन्तस्स, भवतो	भवन्तानं, भवतं
पञ्चमी	भवन्ता, भवन्तस्मा, भवन्तम्हा, भवता	भवन्तेहि, भवन्तेभि
छट्ठी	भवन्तस्स, भवतो	भवन्तानं, भवतं
सत्तमी	भवन्ते, भवन्तस्मिं, भवन्तम्हि, भवति	भवन्तेसु
आलपन	भवन्त, भवन्ता, भवं, भवा	भवन्ता, भवन्तो

अनियमित स्त्रीलिंग शब्द

मातु (माता)

पठमा	माता	मातरो, माता
दुतिया	मातरं	मातरे, मातरो
ततिया	मातुया, मातरा	मातुरेहि, मातुरेभि
चतुत्थी	मातुया, मातु	मातरानं, मातानं, मातूनं
पञ्चमी	मातुया, मातरा	मातुरेहि, मातुरेभि
छट्ठी	मातुया, मातु	मातरानं, मातानं, मातूनं
सत्तमी	मातरि, मातुया, मातुयं	मातरेसु, मातुसु, मातूसु
आलपन	मात, माता	मातरो

इसी प्रकार दुहितु, धीतु आदि शब्दों के भी रूप मातु शब्द के समान चलते हैं।

गच्छती इत्थीलिङ्गो

पठमा	गच्छती	गच्छती, गच्छतियो
दुतिया	गच्छतिं	गच्छती, गच्छतियो
ततिया	गच्छतिया	गच्छतीहि, गच्छतीभि
चतुत्थी	गच्छतिया	गच्छतीनं
पञ्चमी	गच्छतिया	गच्छतीहि, गच्छतीभि
छट्ठी	गच्छतिया	गच्छतीनं
सत्तमी	गच्छतिया, गच्छतियं	गच्छतीसु
आलपन	गच्छति	गच्छती, गच्छतियो

गच्छन्ती इत्थीलिङ्गो

पठमा	गच्छन्ती	गच्छन्ती, गच्छन्तियो
दुतिया	गच्छन्तिं	गच्छन्ती, गच्छन्तियो
ततिया	गच्छन्तिया	गच्छन्तीहि, गच्छन्तीभि
चतुत्थी	गच्छन्तिया	गच्छन्तीनं
पञ्चमी	गच्छन्तस्मा	गच्छन्तीहि, गच्छन्तीभि
छट्ठी	गच्छन्तिया	गच्छन्तीनं

सत्तमी	गच्छन्तिया, गच्छन्तियं	गच्छन्तीसु
आलपन	गच्छन्ति	गच्छन्ती, गच्छन्तियो

ईकारान्त इत्थिलिङ्गो गुणवन्ती सद्दो

पठमा	गुणवन्ती	गुणवन्ती, गुणवन्तियो
दुतिया	गुणवन्तिं	गुणवन्ती
ततिया	गुणवन्तिया	गुणवन्तीहि, गुणवन्तीभि
चतुत्थी	गुणवन्तिया	गुणवन्तीनं
पञ्चमी	गुणवन्तिया	गुणवन्तीहि, गुणवन्तीभि
छट्ठी	गुणवन्तिया	गुणवन्तीनं
सत्तमी	गुणवन्तिया, गुणवन्तियं	गुणवन्तीसु
आलपन	गुणवन्ती	गुणवन्ती, गुणवन्तियो

इसी प्रकार कुलवन्ती, अगवन्ती, महन्ती, सतिमन्ती आदि शब्दों के भी रूप गुणवन्ती शब्द के समान चलते हैं।

अनियमित अकारान्त नपुंसक लिंग शब्द

मन

पठमा	मनो	मना, मनानि
दुतिया	मनं, मनो	मने, मनानि
ततिया	मनसा, मनेन	मनेहि, मनेभि
चतुत्थी	मनसो, मनस्स	मनानं
पञ्चमी	मनसो, मनम्हा, मनस्सा	मनेहि, मनेभि
छट्ठी	मनसो, मनस्स	मनानं
सत्तमी	मनसि, मने, मनम्हि, मनस्मिं	मनेसु
आलपन	मन, मना	मनानि

इसी प्रकार सिर, उर, तेज, रज, वायु, पय, यस, तप, वच, चेत, अय, सर आदि शब्दों के भी रूप मन शब्द के समान चलते हैं।

गच्छन्त (जाते हुए)

पठमा	गच्छं, गच्छन्तं	गच्छन्ता, गच्छन्तानि, गच्छन्ति

दुतिया	गच्छन्तं	गच्छन्ते, गच्छन्तानि, गच्छन्ति
ततिया	गच्छता, गच्छन्तेन	गच्छन्तेहि, गच्छन्तेभि
चतुत्थी	गच्छतो, गच्छन्तस्स	गच्छतं, गच्छन्तानं
पञ्चमी	गच्छतो, गच्छन्तम्हा, गच्छन्तस्मा	गच्छन्तेहि, गच्छन्तेभि
छट्ठी	गच्छतो, गच्छन्तस्स	गच्छतं, गच्छन्तानं
सत्तमी	गच्छति, गच्छन्तस्मिं गच्छन्तम्हि	गच्छन्तेसु
आलपन	गच्छं, गच्छन्त	गच्छन्ता, गच्छन्तानि, गच्छन्ति

सर्वनाम शब्दरूप

सब्ब (सर्व) पुल्लिंग

पठमा	सब्बो	सब्बे
दुतिया	सब्बं	सब्बे
ततिया	सब्बेन	सब्बेहि, सब्बेभि
चतुत्थी	सब्बस्स	सब्बेसं, सब्बेसानं
पञ्चमी	सब्बम्हा, सब्बस्मा	सब्बेहि, सब्बेभि
छट्ठी	सब्बस्स	सब्बेसं, सब्बेसानं
सत्तमी	सब्बम्हि, सब्बस्मिं	सब्बेसु
आलपन	सब्ब, सब्बा	सब्बे

इसी प्रकार पुब्ब, पूर्व, इतर अञ्ञ, अञ्ञतर, अञ्ञतम, उभय, कतर, कतम आदि शब्दों के भी रूप सब्ब शब्द के समान चलते हैं।

सब्ब (सर्व) स्त्रीलिंग

पठमा	सब्बा	सब्बा, सब्बायो
दुतिया	सब्बं	सब्बा, सब्बायो
ततिया	सब्बेय	सब्बाहि, सब्बाभि
चतुत्थी	सब्बस्सा, सब्बाय	सब्बासं, सब्बासानं
पञ्चमी	सब्बाय	सब्बाहि, सब्बाभि
छट्ठी	सब्बस्सा, सब्बाय	सब्बासं, सब्बासानं
सत्तमी	सब्बास्सं, सब्बायं, सब्बाय	सब्बासु
आलपन	सब्बे	सब्बा, सब्बायो

सब्ब (सर्व) नपुंसकलिंग

पठमा	सब्बं	सब्बानि
दुतिया	सब्बं	सब्बे, सब्बानि
ततिया	सब्बेन, सब्बा	सब्बानि

शेष रूप पुल्लिंग शब्दों के समान चलेंगे

इसी प्रकार कतर, कतम, उभय, इतर, अञ्ञ, अञ्ञतर, पुब्ब, पर, अपर, उत्तर, दक्खिण, अधर शब्दों के भी रूप सब्ब शब्द के समान चलते हैं।

किं (कौन?) (पुल्लिंग)

पठमा	को	के
दुतिया	कं	के
ततिया	केन	केहि, केभि
चतुत्थी	कस्स, किस्स	केसं, केसानं
पञ्चमी	कम्हा, कस्मा, किस्मा	केहि, केभि
छट्ठी	कस्स, किस्स	केसं, केसानं
सत्तमी	कम्हि, किम्हि, कस्मिं, किस्मिं	केसु

किं (कौन?) स्त्रीलिंग

पठमा	का	का, कायो
दुतिया	कं	का, कायो
ततिया	काय	काहि, काभि
चतुत्थी	कस्सा, काय	कासं, कासानं
पञ्चमी	काय	काहि, काभि
छट्ठी	कस्सा, काय	कासं, कासानं
सत्तमी	कस्सं, काय	कासु

किं (कौन?) नपुंसकलिंग

पठमा	किं, कं	के, कानि
दुतिया	किं, कं	के, कानि

शेष रूप पुल्लिंग शब्द के समान चलेंगे।

इसी प्रकार य (जो) शब्दों के भी रूप तीनों लिंग में किं शब्द के समान चलेंगे।

त, त्य (वह) पुल्लिंग

पठमा	सो, स्यो	ते, ने
दुतिया	तं, नं	ते, नं
ततिया	तेन, नेन	तेहि, नेहि, तेभि, नेभि
चतुत्थी	तस्स, नस्स, अस्स	तेसं, नेसं, तेसानं, नेसानं
पञ्चमी	तम्हा, अम्हा, नम्हा, तस्मा, नस्मा, अस्मा	तेहि, नेहि, तेभि, नेभि
छट्ठी	तस्स, नस्स, अस्स	तेसं, नेसं, तेसानं, नेसानं
सत्तमी	तम्हि, अम्हि, नम्हि तस्मिं, नस्मिं	तेसु, नेसु

त, त्य (वह) स्त्रीलिंग

पठमा	सा, स्या	ता, ना, तायो, नायो
दुतिया	तं, नं	ता, ना, तायो, नायो
ततिया	ताय, नाय, तिस्सा, निस्सा	ताहि, नाहि, ताभि, नाभि
चतुत्थी	तिस्साय, तस्साय, अस्साय, तिस्सा, तस्सा, ताय	तासं, आसं, तासानं,
पञ्चमी	ताय, नाय, तस्सा	ताहि, नाहि, ताभि, नाभि
छट्ठी	तिस्साय, तस्साय, अस्साय तस्सा, अस्सा, ताय	तासं, नासं, तासानं
सत्तमी	तिस्सं, तस्सं, अस्सं, तायं, तिस्सा, नस्सं	तासु, नासु

त शब्द नपुंसकलिंग

पठमा	तं, नं	ते, ने, तानि, नानि
दुतिया	तं, नं,	ते, ने, तानि, नानि

शेष शब्द पुल्लिंग के समान चलेंगे।

अम्ह (मैं) पुल्लिंग, स्त्रीलिंग व नपुंसकलिंग

पठमा	अहं	मयं, अस्मा, अम्हं, नो

दुतिया	मं, मयं	अम्हं, अम्हाकं
ततिया	मया, मे	अम्हेहि, अम्हेभि, नो
चतुत्थी	मम, मय्हं, अम्हं, मयं, मे	अस्माकं, अम्हाकं, अम्हं, अम्हे, नो
पञ्चमी	मया	अम्हेहि, अम्हेभि
छट्ठी	मम, मय्हं, अम्हं, ममं, मे	अम्हाकं, अम्हं, अम्हे, नो
सत्तमी	मयि	अस्मासु, अम्हेसु

तुम्ह (तुम) पुल्लिंग, स्त्रीलिंग व नपुंसकलिंग

पठमा	त्वं, तुवं	तुम्हे, वो
दुतिया	तं, तवं, तुवं, त्वं	तुम्हं, तुम्हाकं, तुम्हे, वो
ततिया	त्वया, तया, ते	तुम्हेहि, तुम्हेभि, वो
चतुत्थी	तव, तुय्हं, तुम्हं, ते	तुम्हाकं, तुम्हे, वो
पञ्चमी	त्वया, तया, त्वम्हा	तुम्हेहि, तुम्हेभि
छट्ठी	तव, तुय्हं, तुम्हं, ते	तुम्हांक, तुम्हे, वो
सत्तमी	त्वयि, तयि	तुम्हेसु

एत (यह) पुल्लिंग

पठमा	एसो	एते
दुतिया	एतं	एते, एने
ततिया	एतेन	एतेहि, एतेभि
चतुत्थी	एतस्स	एतेसं, एतेसानं
पञ्चमी	एतम्हा, एतस्मा	एतेहि, एतेभि
छट्ठी	एतस्स	एतेसं, एतेसानं
सत्तमी	एतम्हि, एतस्मिं	एतेसु

एत (यह) स्त्रीलिंग

पठमा	एसा	एता
दुतिया	एतं	एता, एने
ततिया	एताय	एताहि, एताभि
चतुत्थी	एतिस्साय, एतिस्मा, एताय	एतासं, एतासानं
पञ्चमी	एताय	एताहि, एताभि

छट्ठी	एतिस्साय, एतिस्मा, एताय	एतासं, एतासानं
सत्तमी	एतिस्सं, एतस्सं, एतासं	एतासु

एत (यह) नपुंसक लिंग

पठमा	एतं	एते, एतानि
दुतिया	एतं	एते, एतानि

बाकी रूप एत पुल्लिंग शब्द के समान चलते हैं।

इम (यह) पुल्लिंग

पठमा	अयं	इमे
दुतिया	इमं	इमे
ततिया	अनेन, इमिना	एहि, एभि, इमेहि, इमेभि
चतुत्थी	अस्स, इमस्स	एसं, एसानं, इमेसं, इमेसानं
पञ्चमी	अस्मा, इमम्हा, इमस्मा	एहि, एभि, इमेहि, इमेभि
छट्ठी	अस्स, इमस्स	एसं, एसानं, इमेसं, इमेसानं
सत्तमी	अस्मिं, इमम्हि, इमस्मिं	एसु, इमेसु

इम (यह) स्त्रीलिंग

पठमा	अयं	इमा, इमायो
दुतिया	इमं	इमा, इमायो
ततिया	इमाय	इमाहि, इमाभि
चतुत्थी	अस्साय,अस्सा, अमिस्साय इमिस्सा, इमाय	इमासं, इमासानं
पञ्चमी	इमाय	इमाहि, इमाभि
छट्ठी	अस्साय,अस्सा, अमिस्साय इमिस्सा, इमाय	इमासं, इमासानं
सत्तमी	अस्सं, इमिस्सं, इमायं	इमासु

इम (यह) नपुंसकलिंग

पठमा	इदं, इमं	इमे, इमानि
दुतिया	इदं, इमं	इमे, इमानि

शेष रूप पुल्लिंग 'इम' (यह) शब्द के समान चलते हैं।

अमु (वह) पुल्लिंग

पठमा	असु, अमु	अमू, अमुयो
दुतिया	अमुं,	अमू, अमुयो
ततिया	अमुना	अमूहि, अमूभि
चतुत्थी	अमुस्स, अमुनो	अमूसं, अमूसानं
पञ्चमी	अमुना, अमुम्हा, अमुस्मा	अमूहि, अमूभि
छट्ठी	अमुस्स, अदुस्स, अमुनो	अमूसं, अमूसानं
सत्तमी	अमुम्हि, अमुस्मिं	अमूसु

अमु (वह) स्त्रीलिंग

पठमा	असु, अमु	अमू, अमुयो
दुतिया	अमुं,	अमू, अमुयो
ततिया	अमुया	अमूहि, अमूभि
चतुत्थी	अमुस्सा, अमुया	अमूसं, अमूसानं
पञ्चमी	अमुया	अमूहि, अमूभि
छट्ठी	अमुस्सा, अमुया	अमूसं, अमूसानं
सत्तमी	अमुस्सं, अमुयं, अमुया	अमूसु

अमु (वे) नपुंसकलिंग

पठवा	अदुं, अमुं	अमू, अमूनि
दुतिया	अदुं, अमुं	अमू, अमूनि

शेष रूपे पुल्लिंग 'अमु' के शब्द समान चलते हैं।

एक (१) पुल्लिंग

पठमा	एको	एके
दुतिया	एकं	एके
ततिया	एकेन	एकेहि, एकेभि
चतुत्थी	एकस्स	एकेसं, एकेसानं
पञ्चमी	एकम्हा, एकस्मा	एकेहि, एकेभि
छट्ठी	एकस्स	एकेसं, एकेसानं
सत्तमी	एकम्हि, एकस्मिं	एकेसु

एक (१) स्त्रीलिंग

पठमा	एका	एका, एकायो

दुतिया	एकं	एका, एकायो
ततिया	एकाय	एकाहि, एकाभि
चतुत्थी	एकस्सा, एकाय	एकासं, एकासानं
पञ्चमी	एकाय	एकाहि, एकाभि
छट्ठी	एकस्सा, एकाय	एकासं, एकासानं
सत्तमी	एकस्सं, एकायं	एकासु

एक (१) नपुंसकलिंग

पठमा	एकं	एके, एकानि
दुतिया	एकं	एके, एकानि

शेष रूप पुल्लिंग संख्या वाचक 'एक' शब्द के समान चलता हैं।

'द्वि' (२) शब्द बहुवचन हैं। इसी प्रकार उनके रूप तीन्हों लिंग में 'एक' संख्यावाचक शब्द के समान चलते हैं।

पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग (संख्यावाचक शब्द)

द्वि (दो - २)

विभक्ति	अनेकवचन
पठमा	दुवे, द्वे
दुतिया	दुवे, द्वे
ततिया	द्वीहि, द्वीभि
चतुत्थी	द्विन्नं, दुविन्न
पञ्चमी	द्वीहि, द्वीभि
छट्ठी	द्विन्नं, दुविन्नं
सत्तमी	द्वीसु

उभ शब्द अनेकवचनी हैं, और उनके रूप तीन्हों लिंग में समान रूप होते हैं।

उभ (दोन्हो)

विभक्ति	अनेकवचन
पठमा	उभो, उभे
दुतिया	उभो, उभे
ततिया	उभेहि, उभेभि, उभोहि, उभोभि
चतुत्थी	उभिन्नं

पञ्चमी	उभोहि, उभोभि, उभेहि, उभेभि
छट्ठी	उभिन्नं
सत्तमी	उभोसु, उभेसु

ति (तीन ३) और चतु (चार ४) शब्द अनेकवचनी हैं, और तीन्हों लिंग में रूप अलग-अलग होते हैं।

ति (तीन ३)

विभक्ति	**पुल्लिंग**	**स्त्रीलिंग**	**नपुंसकलिंग**
पठमा	तयो	तिस्सो	तीणि
दुतिया	तयो	तिस्सो	तीणि
ततिया	तीहि, तीभि	तीहि, तीभि	तीहि, तीभि
चतुत्थी	तिण्णं, तिण्णन्नं	तिस्सन्नं	तिण्णं, तिण्णन्नं
पञ्चमी	तीहि, तीभितीहि, तीभि	तीहि, तीभि	
छट्ठी	तिण्णं, तिण्णन्नं	तिस्सन्नं	तिण्णं, तिण्णन्नं
सत्तमी	तीसु	तीसु	तीसु

चतु (चार ४)

विभक्ति	**पुल्लिंग**	**स्त्रीलिंग**	**नपुंसकलिंग**
पठमा	चत्तारो, चतुरो	चतस्सो	चत्तारि
दुतिया	चत्तारो, चतुरो	चत्तस्सो	चत्तारि
ततिया	चतूहि, चतूभि	चतूहि, चतूभि	चतूहि, चतूभि
चतुत्थी	चतुन्नं	चतस्सन्नं	चतुन्नं
पञ्चमी	चतूहि, चतूभि	चतूहि, चतूभि	चतूहि, चतूभि
छट्ठी	चतुन्नं	चतस्सन्नं	चतुन्नं
सत्तमी	चमुसु	सतूस	चतूसु

पञ्च (५), छ (६), सत्त (७), अट्ठ (८), नव (९), दस (१०), एकादस-एकारस (११), द्वादस-बारस (१२), तेरस (१३), चुद्दस-चोद्दस-चतुद्दस (१४), पञ्चदस-पन्नरस (१५), सोळस-सो़रस (१६), सत्तरस (१७) और अट्ठारस (१८) इन शब्दों के रूप बहुवचन में चलता है, उसी तरह तीन्हों लिंग में समान रहता हैं। उदा.-

पञ्च (पांच ५)

विभक्ति	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	नपुंसकलिंग
पठमा	पञ्च	पञ्च	पञ्च
दुतिया	पञ्च	पञ्च	पञ्च
ततिया	पञ्चहि, पञ्चभि	पञ्चहि, पञ्चभि	पञ्चहि, पञ्चभि
चतुत्थी	पञ्चन्नं	पञ्चन्नं	पञ्चन्नं
पञ्चमी	पञ्चहि, पञ्चभि	पञ्चहि, पञ्चभि	पञ्चहि, पञ्चभि
छट्ठी	पञ्चन्नं	पञ्चन्नं	पञ्चन्नं
सत्तमी	पञ्चसु	पञ्चसु	पञ्चसु

एकूनवीसति (१९) से नवुति (९०) तक सब संख्यावाचक शब्दों के रूप स्त्रीलिंग और एकवचन होते हैं। उदा.-

विभक्ति	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	नपुंसकलिंग
पठमा	एकूनवीसति	एकूनवीसति	एकूनवीसति
दुतिया	एकूनवीसति	एकूनवीसतिं	एकूनवीसति
ततिया	एकूनवीसतिया, एकोवीसत्या	एकूनवीसतिया एकूनवीसतिया	एकूनवीसतिया एकूनवीसतिया
चतुत्थी	एकूनवीसतिया	एकूनवीसतिया	एकूनवीसतिया
पञ्चमी	एकूनवीसतिया	एकूनवीसतिया	एकूनवीसतिया
छट्ठी	एकूनवीसतिया	एकूनवीसतिया	एकूनवीसतिया
सत्तमी	एकूनवीसतियं	एकूनवीसतियं	एकूनवीसतियं

सतं (सौ १००) शब्द नपुसक लिंग एकवचनी हैं। जैसे -

सतं (सौ १००)

एकूनसतं -९९ (नपुंसकलिंग संख्यावाचक शब्द)

विभक्ति	एकवचन
पठमा	एकूनसतं
दुतिया	एकूनसतं
ततिया	एकूनसतेन

चतुत्थी	एकूनसतस्स, एकूनसताय
पञ्चमी	एकूनसता, एकूनसतस्मा, एकूनसतस्मिं
छट्ठी	एकूनसतस्स
सत्तमी	एकूनसते, एकूनसतम्हि,एकूनसतस्मिं

सौ (शत् १००) शब्दों से लेकर एक लाख (१,०००००) शब्द पर्यंत संपूर्ण संख्यावाचक शब्द नपुंसकलिंग एकवचनी होते हैं। कोटि-करोड (१०००००००) कोटि-प्रकोटि (१०००००००००००००००००००००) और अक्षोहिणी (१०००००००००००००० ००००००००००००००००००००००००००००) पर्यंत शब्द स्त्रीलिंगी एकवचनी होते हैं।

संख्या शब्द

संख्या शब्द	आंकडे	संख्या शब्द	आंकडे
एको	१	द्वे	२
तयो	३	चत्तारो	४
पञ्च	५	छ	६
सत्त	७	अट्ठ	८
नव	९	दस	१०
एकादस, एकारस	११	बारस,द्वादस	१२
तेरस	१३	चुद्दस, चतुद्दस	१४
पन्नरस	१५	सोळस, सोरस	१६
सत्तरस	१७	अट्ठारस, अट्ठादस	१८
एकोनवीसति	१९	वीसति	२०
एकवीसति	२१	द्वेवीसति	२२
तेवीसति	२३	चतुवीसति	२४
पञ्चवीसति, पण्णुवीसति	२५	छब्बीसति	२६
सत्तविसति	२७	अट्ठवीसति	२८
एकूनतिंसति	२९	तिसंति	३०
एकतिंसति	३१	द्वतिंसति, वत्तिंसति	३२
तेत्तिंसति	३३	चतुत्तिंसति	३४

पञ्चतिंसति	३५	छत्तिंसति	३६
सत्ततिंसति	३७	अट्ठ तिंसति	३८
एकूनचत्ताळीसति	३९	चत्तालीसति	४०
एकचत्ताळीसति	४१	द्वाचत्ताळीसति, द्विचत्ताळीसति	४२
तेचत्ताळीसति तिचत्ताळीसति	४३	चतुचत्ताळीसति, चोत्तालीसति	४४
पञ्चचत्ताळीसति	४५	पंच चुत्ताळीसति	
छचत्ताळीसति	४६	सत्तचत्ताळासति	४७
अट्ठ चत्ताळीसति,अट्ठ चत्तारीसति	४८	एकूनपञ्ञासा	४९
पञ्ञासा	५०	एकपञ्ञासा	५१
द्वेपञ्ञासा, द्विपञ्ञासा	५२	तेपञ्ञासा, तिपञ्ञासा	५३
चतुपञ्ञासा	५४	पञ्चपञ्ञासा	५५
छपञ्ञासा	५६	सत्तपञ्ञासा	५७
अट्ठपञ्ञासा	५८	एकूनसट्ठि	५९
सट्ठि	६०	एकसट्ठि	६१
द्वासट्ठि	६२	तेसट्ठि, तिसट्ठि	६३
चतुसट्ठि	६४	पञ्चसट्ठि	६५
छसट्ठि	६६	सत्तसट्ठि	६७
अट्ठसट्ठि	६८	एकूनसत्तति	६९
सत्तति	७०	एकसत्तति	७१
द्वासत्तति, द्विसत्तति	७२	तेसत्तति, तिसत्तति	७३
चतुसत्तति	७४	पञ्चसत्तति	७५
छसत्तति	७६	सत्तसत्तति	७७
अट्ठसत्तति	७८	एकूनासति	७९
असीति	८०	एकासति	८१
द्वेअसति, द्वासीति	८२	तेअसीति	८३
चतुरासीति	८४	पञ्चासीति	८५
छासीति	८६	सत्तासीति	८७
अट्ठासीति	८८	एकूननवुति	८९

नवुति	९०	एकनवुति	९१
द्विनवुति	९२	तेनवुति	९३
चतुनवुति	९४	पञ्चनवुति	९५
छन्नवुति	९६	सत्तनवुति	९७
अट्ठ नवुति	९८	एकूनसतं	९९
सतं	१००		

सहस्सं	१०००
नहुतं	१०,०००
सतसहस्सं	१,०००००
कोटि	१,०००००००
पकोटी	१००००००००००००००
कोटिप्पकोटि	१०००००००००००००००००००००
(पुन) नहुत	१००००००००००००००००००००००००००००

संख्या शब्द	एकपर	संख्या शून्य
निन्नहुतं	१ के (सामने)	३५ शून्य
अक्षोहिणी	१ के (सामने)	४२ शून्य
बिन्दु	१ के (सामने)	४९ शून्य
अब्बुदं	१ के (सामने)	५६ शून्य
निरब्बुदं	१ के (सामने)	६३ शून्य
अहहं	१ के (सामने)	७० शून्य
अबबं	१ के (सामने)	७७ शून्य
अटटं	१ के(सामने)	८४ शून्य
सोगन्धिकं	१ के (सामने)	९१ शून्य
उप्पलं	१ के (सामने)	९८ शून्य
कुमुदं	१ के (सामने)	१०५ शून्य
पुण्डरीक	१ के (सामने)	११२ शून्य
पदुमं	१ के (सामने)	११९ शून्य
कथानं	१ के (सामने)	१२६ शून्य

महाकथानं	१ के (सामने)	१३३ शून्य
असंखेय्यं	१ के (सामने)	१४० शून्य

'कति' (कितने) शब्दों के प्रयोग सदा ही अनेकवचनी होते हैं। उनकी तीन्हो लिंग में समान रूप होते हैं।

कति (कितने?) (अनेकवचनी)

	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	नपुंसकल्लिंग
पठमा	कति	कति	कति
दुतिया	कति	कति	कति
ततिया	कतीहि, कतीभि	कतीहि, कतीभि	कतीहि, कतीभि
चतुत्थी	कतीनं, कतिन्नं	कतीनं, कतिन्नं	, कतीनं, कतिन्नं
पञ्चमी	कतीहि, कतीभि	कतीहि, कतीभि	कतीहि, कतीभि
छट्ठी	कतीनं, कतिन्नं	कतीनं, कतिन्नं	कतीनं, कतिन्नं
सत्तमी	कतीसु	कतीसु	कतीसु

पूरणार्थक शब्द

	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	नपुंसकलिंग
१	पठमो	पठमा	पठमं
२	दुतियो	दुतिया	दुतियं
३	ततियो	ततिया	ततियं
४	चतुत्थो चतुत्थी,	चतुत्था	चतुत्थं
५	पञ्चमो	पञ्चमी	पञ्चमं
६	छट्ठो, सट्ठो	छट्ठा, छट्ठी	छट्ठ
७	सत्तमो	सत्तमा, सत्तमी	सत्तमं
८	अट्ठमो	अट्ठमा, अट्ठमी	अट्ठमं
९	नवमो	नवमा, नवमी	नवमं
१०	दसमो	दसमा, दसमी	दसमं
११	एकादसो, एकादसमो	एकादसी	एकादसमं

१२	बारसो, बारसमो	द्वादसी	बारसमं, द्वादसमं
१३	तेरसो, तेरसमो	तेरसी	तेरसमं
१४	चतुद्दसमो	चतुद्दसी, चातुद्दसी	चतुद्दसमं
१५	पञ्चदसमो, पण्णरसमो	पञ्चदसी, पण्णरसी	पञ्चदसमं, पण्णरसमं
१६	सोळसमो	सोळसी	सोळसमं
१७	सत्तरसमो, सत्तदसमो	सत्तरसी, सत्तदसी	सत्तरसमं, सत्तदसमं
१८	अट्ठारसमो, अट्ठादसमो	अट्ठारसी, अट्ठादसी	अट्ठारसमं, अट्ठादसमं
१९	एकूनवीसतिमो	एकूनवीसतिमा	एकूनवीसतिमं

इसके बाद के संख्यावाचक शब्दों को 'म' जोडकर पूरणार्थक शब्द बनाया जाता है। जैसे - एकवीसतिमो। यह सौ या हजार से अधिक है' अर्थात सत्यन्त, अत्यन्त, ईसान्त, आसान्त और दसान्त संख्या के आगे ड प्रत्यय होता है। जैसे - वीसति अधिका अस्मिं सते ति-वीसं सतं, सहस्सं, सतसहस्सं वा. तिसं सतं, एकतिंसं सतं।

१. उत्यन्त- नवुति +ड+सतं = नवुतं सतं, सहस्सं, सतसहस्सं

२. ईसान्त - चत्तारीसं सतं, सहस्स, सतसहस्सं वा

३. आसान्त - पञ्ञासं सतं, सहस्सं, सतसहस्सं वा

४. दसान्त - एकादस सतं, सहस्सं, सतसहस्सं वा

इसी प्रकार अड्ढ(अर्ध) शब्द के आगे चतुत्थ और ततिय शब्द को क्रम से उड्ढ और तिय आदेश होते हैं। जैसे- अड्ढेन चतुत्थो- अड्ढुड्ढो (साढे तीन), अड्ढेन ततियो-अड्ढततियो (अढाई), अड्ढेन दुतियो- दियड्ढो, दिवड्ढो (डेढ)।

४. क्रिया प्रकरण

शब्दों के मूल रूप को धातु कहा जाता है जो क्रिया के अर्थ को अभिव्यक्त करता है। धातुओं में प्रत्यय जुडने के बाद वे क्रियापद का रूप ले लेती हैं। पालि के क्रियापद में द्विवचन नहीं होता। वहां आत्मनेपद के रूपों का ह्रास, विविध कालों के रूपों की समानता इत्यादि जैसे तत्त्व भाषाविज्ञान की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। संस्कृत में इन धातुओं को दस गणों में विभक्त किया गया है परन्तु पालि में सात गण ही मिलते हैं - १) भ्वादिगण, २) रुधादिगण, ३) दिवादि गण, ४) क्यादि गण, ५) स्वादि

गण, ६) तनादिगण और ७) चुरादिगण। संस्कृत के अदादिगण, तुदादिगण और जुहोत्यादिगण का अन्तर्भाव यहां भ्वादिगण में हो गया है।

प्रत्येक गण की कुछ विशेषताएं हैं। उनके अनुसार धातुरूपों में परिवर्तन होता है। इन धातुरूपों के प्रयोग वर्तमान, भूत, भविष्य, आज्ञा, विधि और क्रियातिपत्ति के संदर्भ में होते हैं। आशीर्लिङ् और लुट् के प्रयोग प्रायः पालि में नहीं मिलते।

धातु के दो प्रकार होते हैं - **परस्मैपद और आत्मनेपद** । परस्मैपद क्रिया का प्रयोग कर्तृवाच्य में होता है और आत्मनेपद क्रिया का प्रयोग कर्मवाच्य में होता है। इन दोनों क्रियापदों में एकवचन और अनेकवचन होते हैं, द्विवचन नहीं होता। प्रथम, द्वितीय और तृतीय पुरुष, ऐसे तीन ही पुरुष होते हैं। तिप् इत्यादि प्रत्ययों को 'तिङ्' कहा जाता है। ये प्रत्यय परस्मैपद में इस प्रकार हैं - १. मि, म, २. सि, थ, ३. ति, अन्ति और आत्मनेपद में - १. ए, म्हे, २. से व्हे, ३. ते, अन्ते। फिर करोति आदि रूपों का निर्माण होता है । पर्वत के समान आचरण के अर्थ में 'पब्बतायति' का प्रयोग होता है। इसमें ईय प्रत्यय भी लगता है। जैसे पुत्तीयति।

वर्तमान काल में लट्, भूतकाल में लिट्, अद्यतन भूतकाल में लुङ्, भविष्यत् काल में लृट्, कालातिपत्ति में लृङ्, हेतुफल के अर्थ में विधिलिङ् और अनुज्ञा में लोट् लकार का प्रयोग होता है। पालि भाषा में भूतकालवाची लुङ् के प्रयोग अधिक मिलते हैं।

वर्तमान काल (प्रत्युत्पन्न)

(१) प्रत्युत्पन्न काल में वर्तमान विभक्ति होती है। जैसे- गच्छति आदि । इनके अंत में ति अन्ति इत्यादि १२ पदों की वर्तमान संज्ञा होती है। ये प्रत्यय धातु और प्रातिपदिकों के ब्राद जोडे जाते हैं । जैसे- करोति आदि । प्ररणार्थक अर्थ में कारेति शब्द का प्रयोग होता है ।

(२) आचरण के अर्थ में उपमान रूप से आय प्रत्यय लगाया जाता है, जैसे - पर्वत के समान आचरण करने के अर्थ में पब्बतायति, चिच्चिटायति, पुत्तीयति ।

(३) वर्तमान काल में लट् लकार का प्रयोग होता है ।

भूतकाल (अतीत)

भूतकाल के अर्थ में लिट् लकार प्रयोग होता है । जैसे - जगाम, जगमू । अद्यतन भूतकाल में लुङ् लकार का प्रयोग होता है । लङ् और लुङ् कहीं - कहीं एक जैसे दिखाई देते हैं। पालि भाषा में लुङ् के प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक मिलते हैं। अनद्यतन अर्थ में लङ् लकार होता है । जैसे - अगमा, अगमू ।

भविष्यत् काळ (अनागत)

भविष्यकाल के अर्थ में लट् लकार होती है। इसके प्रत्यय होते हैं- स्सामि, स्साम,स्ससि, स्सथ, स्सति, स्सन्ति।

कालातिपत्ति (Conditional)

किसी कारणवश जब क्रिया निष्पन्न नहीं होती तो उसे कालातिपत्ति कहा जाता है। इस अर्थ में लृङ् लकार होती है। वर्तमान काल में कालातिपत्ति होने की संभावना नही होती। मात्र भूतकाल और भविष्यकाल में कालातिपत्ति होती है। जैसे- सचे पठमवये पब्बज्जं अलभिस्सा, अरहा अभविस्सा। इसके प्रत्यय होते हैं- स्सं, स्सम्हा, स्से, स्सथ, स्ससे, स्स से।

विधि लिङ्

हेतु और फल के अर्थ में विधि लिङ् लकार होती है। उसमें धातु के अंत में एय्य प्रत्यय लगाया जाता है। प्रश्न, प्रार्थना और विधि के अर्थ में इस लकार का प्रयोग होता है। जैसे - गच्छेय्यं वाहं उपोसथं न वा गच्छेय्यं?

प्रार्थना अर्थ में - पस्सेय्यं तं वस्ससतं अरोगं

विधि अर्थ में - भवं पुञ्ञं करेय्य, इह भवं नियदेय्य

इस लकार में ये प्रत्यय लगाए जाते हैं - एय्यामि, एय्याम, एय्यासि, एय्याथ, एय्य, एय्युं।

अनुज्ञा

अनुज्ञा अर्थ में किंवा प्रश्न, प्रार्थना और विधि अर्थ में लोट् लकार होता है। जैसे गच्छतु, एवं करोहि। इसके प्रत्यय इस प्रकार होते हैं- मि,म, हि, थ, तु, अन्तु।

पालि की णिजन्त प्रक्रिया (प्रेरणार्थक क्रिया) भी संस्कृत के समान है। इसमें णि (इ), णा, पि (आपि) प्रत्यय लगते हैं। इन प्रत्ययों के स्थान पर अय और आयय आदेश हो जाता है। जैसे - कारयामि, कारापयामि, आदेति, आदयति। सन्नन्त प्रक्रिया (इच्छार्थक) में संस्कृत जैसा तुं प्रत्यय लगता है। जैसे भोत्तुं इच्छतीति बुभुक्खति। यङ्न्त और यङ्लुगन्त प्रक्रिया (बारंबार अथवा अतिशय द्योतनार्थ) में यङ् और यङ्लुक् प्रत्यय लगते हैं। जैसे - चङ्कमति। पालि में इसका प्रयोग कम हुआ है। नामधातु प्रक्रिया का प्रयोग तद्वत् आचरण व्यक्त करने के लिए होता है। इसमें संस्कृत के समान ५ प्रत्ययों का प्रयोग होता है। जैसे - १. ईय (पुत्तं इच्छतीति पुत्तीयति), २. आय (पब्बतो

इवाचरतीति पब्बतायति, ३. अस्स (नमस्सति) ४. इ (कुसलं पुच्छतीति कुसलयति), और ५. आपि (जैसे सुखापेति, सुखापयति)।

पालि में संस्कृत के समान तीन वाच्य होते हैं - कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य। कर्तृवाच्य में कर्ता प्रथमान्त, कर्म द्वितियांत और क्रिया लिंग, वचन और पुरुष के अनुसार होती है। जैसे - वालो कुक्कुरं पस्सति। कर्मवाच्य में कर्ता तृतियान्त, कर्म प्रथमान्त और क्रिया कर्म के लिंग, वचन और पुरुष के अनुसार होती है। जैसे - रञ्ञा धनं दीयते। भाववाच्य में कर्ता तृतियान्त होता है और कर्म नहीं होता। इसमें क्रिया का रूप कर्मवाच्य के समान होता है। उसमें क्रिया नपुंसकलिंग, प्रथम पुरुष और एकवचनी होती है। भाववाच्य में धातु अकर्मक होती है। जैसे - मया हसितं।

धातु गण

वैय्याकरणों ने धातुओं को १० वर्गो में विभक्त किया है। पालि व्याकरण में वे सभी गण उपलब्ध होते हैं।

१. भ्वादिगण

भू धातु का प्रथम उल्लेख होने के कारण इसे भ्वादिगण कहा जाता है। इसकी मुख्य विशेषता है की इसमें अ प्रत्यय लगता है। जैसे- भू+अ+ति भवति। इसमें अदादिगण, तुदादिगण और जुहोत्यादिगण का अंतर्भाव होता है।

भू (होना) लट् लकार

परस्मैपद

तृतीय पुरुष	भवति, होति	भवन्ति, होन्ति
द्वितीय पुरुष	भवसि, होसि	भवथ, होथ
प्रथम पुरुष	भवामि,होमि	भवाव, होम

आत्मनेपद

तृतीय पुरुष	भवते, होते	भवन्ते, होन्ते
द्वितीय पुरुष	भवसे, होसे	भवव्हे, होव्हे
प्रथम पुरुष	भवे, होते	भवाम्हे, होम्हे

लुट् लकार

परस्मैपद

तृतीय पुरुष	भविस्सति, हेस्सति	भविस्सन्ति, हेस्सन्ति

द्वितीय पुरुष	भविस्ससि, हेस्ससि	भविस्सथ, हेस्सथ
प्रथम पुरुष	भविस्सामि, हेस्समि	भविस्साम, हेस्साम

आत्मनेपद

तृतीय पुरुष	भविस्सते, हेस्सते	भविस्सन्ते, हेस्सन्ते
द्वितीय पुरुष	भविस्ससे, हेस्ससे	भविसव्हे, हेस्सव्हे
प्रथम पुरुष	भविस्सं, हेस्ससं	भविस्साम्हे, हेस्साम्हे

लोट् लकार

परस्मैपद

तृतीय पुरुष	भवतु, होतु	भवन्तु, होन्तु
द्वितीय पुरुष	भव, भवाहि	भवथ, होथ
प्रथम पुरुष	भवामि, होमि	भवामि, होम

आत्मनेपद

तृतीय पुरुष	भवतं, होतं	भवन्तं, होन्तं
द्वितीय पुरुष	भवस्सु, होस्सु	भवव्हे, होव्हे
प्रथम पुरुष	भवे	भवामहे

लङ् लकार

परस्मैपद

तृतीय पुरुष	अभवि, भवि, अभवी, भवि, अहुवि	अभवु, भवुं, अंभविंसु, भविंसु, अभवंसु, भवंसु, अहुव
द्वितीय पुरुष	अभवो, भवो, अभवि,, भवि अहुवो	अभवित्थ, भवित्थ, अभवुत्थ, भवुत्थ, अहुवत्थ
प्रथम पुरुष	अभविं, अहुविं	अभवम्हसे, अहुवम्हा, भविम्हा

आत्मनेपद

तृतीय पुरुष	अभवत्थ, अहुवत्थ	अभवत्थु, अहुवत्थुं
द्वितीय पुरुष	अभवे, अहुवसे	अभवव्हं, अहुवव्हं
प्रथम पुरुष	अभविं, अहुविं	अभवम्हसे, अहुवम्हसे

विधिलिङ् लकार

परस्मैपद

तृतीय पुरुष	भवेय्य, भवे, हुवेय्य	भवेय्युं, हुवेय्युं, भवेय्याथ,
द्वितीय पुरुष	भवेय्यासि, भवे, हुवेय्यासि	भवेय्याथ, हुवेय्याथ
प्रथम पुरुष	भवेय्यामि, भवे, हुवेय्यामि	भवेय्याम, हवेय्याम

आत्मनेपद

तृतीय पुरुष	भवेथ, हवेथ	भवेरं, हवेरं
द्वितीय पुरुष	भवेथो, हवेथो	भवेय्यव्हो, हवेय्यव्हो
प्रथम पुरुष	भवेय्यं, भवे	भवेय्याम्हे, हवेय्याम्हे

लिट् लकार

	परस्मैपद		आत्मनेपद	
तृतीय पुरुष	वभूव,	वभूव	वभूवित्थ	वभूविरे
द्वितीय पुरुष	वभूवे	वभूवित्य	वभूवित्यो	वभूविव्हो
प्रथम पुरुष	वभूव	वभूविम्ह	वभूवि	वभूविम्हे

लृङ् लकार

परस्मैपद

तृतीय पुरुष	अभविस्स, अभविस्सा	अभविस्संसु
द्वितीय पुरुष	अभविस्से, अभविस्स	अभविस्सथ
प्रथम पुरुष	अभविस्सं	अभविस्सम्हा, अभविस्सम्ह

आत्मनेपद

तृतीय पुरुष	अभविस्स	अभविस्सिंसु
द्वितीय पुरुष	अभविस्से	अभविस्सव्हे
प्रथम पुरुष	अभविस्सं	अभविस्साम्हसे

लुङ् लकार

परस्मैपद

तृतीय पुरुष	अभवी, अभवि, अहुवा	अभवुं, अभवू, अहुवू, अभविंसु

द्वितीय पुरुष	अभवो, अहुवो, अभवि	अभवित्थ, अहुवत्थ
प्रथम पुरुष	अभवि,अभवुं,अहुवं	अभविम्हा,अहुवम्हा,अभिविम्हा

आत्मनेपद

तृतीय पुरुष	अभवित्थ, अहुवत्थ, अभवा	अभवत्थुं, अभवू,
द्वितीय पुरुष	अभविसो, अभविसे	अभवव्हं,अहुवव्हं,अभविव्हे
प्रथम पुरुष	अभविं,अहुविं,अभव	अभवम्हसे,अहुवम्हसे, अभिविम्हे

ठा धातु (स्थिर रहना)

लट् लकार

तृतीय पुरुष	ठाति, तिट्ठति	ठन्ति, तिट्ठन्ति
द्वितीय पुरुष	ठासि, तिट्ठासि	ठाथ, तिट्ठाथ
प्रथम पुरुष	ठामि, तिट्ठामि	ठाम, तिट्ठाम

लोट् लकार

तृतीय पुरुष	ठातु, तिट्ठतु	ठन्तु, तिट्ठन्तु
द्वितीय पुरुष	ठाहि, तिट्ठ	ठाथ, तिट्ठथ
प्रथम पुरुष	ठामि, तिट्ठामि	ठाम, तिट्ठाम

विधिलिङ्

तृतीय पुरुष	ठेय्य, तिट्ठेय्य	ठेय्युं, तिट्ठेय्युं
द्वितीय पुरुष	ठेय्यासि, तिट्ठेय्यासि	ठेय्याथ, तिट्ठेय्याथ
प्रथम पुरुष	ठेय्यामि, तिट्ठेय्यामि	ठेय्याम, तिट्ठेय्याम

लृट् लकार

तृतीय पुरुष	ठास्सति	ठास्सन्ति
द्वितीय पुरुष	ठास्ससि	ठास्सथ
प्रथम पुरुष	ठास्सामि	ठास्साम

गम धातु (गमन अर्थ में)

लट् लकार

तृतीय पुरुष	गच्छति	गच्छन्ति
द्वितीय पुरुष	गच्छसि	गच्छथ
प्रथम पुरुष	गच्छामि	गच्छाम

लोट् लकार

तृतीय पुरुष	गच्छतु	गच्छन्तु
द्वितीय पुरुष	गच्छहि, गच्छ	गच्छथ
प्रथम पुरुष	गच्छामि	गच्छाम

विधिलिङ् लकार

तृतीय पुरुष	गच्छेय्य, गच्छे, गमेय्य	गच्छेय्युं, गमेय्यु
द्वितीय पुरुष	गच्छेय्यासि, गच्छे, गमे	गच्छेय्याथ, गमेय्याथ
प्रथम पुरुष	गच्छेय्यामि, गच्छे, गमे	गच्छेय्याम, गमेय्याम

लिट् लकार

	परस्मैपद		आत्मनेपद	
तृतीय पुरुष	जगाम, जगम	जगमु	जगमित्थ	जगमिरे
द्वितीय पुरुष	जगमे	जगमित्थ	जगमित्थो	जगमिव्हो
प्रथम पुरुष	जगम	जगमिम्ह	जगमि	जगमिम्हे

लृङ् लकार

तृतीय पुरुष	अगच्छिस्स, अगच्छिस्सा	अगच्छिस्संसु
द्वितीय पुरुष	अगच्छिस्से, अगच्छिस्स	अगच्छिस्सथ
प्रथम पुरुष	अगच्छिस्सं	अगच्छिस्सम्हा, अगच्छिस्स

लङ् लकार
परस्मैपद

तृतीय पुरुष	अगच्छा, अगमा	अगच्छु, अगमु
द्वितीय पुरुष	अगच्छो, अगमो	अगच्छथ, अगमत्थ
प्रथम पुरुष	अगच्छ, अगच्छं, अगम, अगमं	अगच्छम्ह, अगच्छम्हा

आत्मनेपद

तृतीय पुरुष	अगच्छत्थ, अगमत्थ	अगच्छथुं, अगमथुं
द्वितीय पुरुष	अगच्छसे, अगमसे	अगच्छव्हं, अगमव्हं
प्रथम पुरुष	अगच्छिं, अगमिं,	अगच्छम्हसे, अगमम्हसे

लुङ् लकार

तृतीय पुरुष	अगच्छि, अगमी, अगमि अगञ्छि, अगा	अगच्छुं, अगच्छिंसु, अगमुं अगमिंसु, अगञ्छुं, अगुं
द्वितीय पुरुष	अगच्छो, अंगच्छि, अगमो अगमि, अगञ्छो, अगा	अगच्छित्थ, अगमित्थ अगमुत्थ, अगञ्छित्थ, अगुत्थ
प्रथम पुरुष	अगच्छिं, अगमिं, अगञ्छिं अगं	अगञ्छिम्ह, अगुम्ह

नी धातु पापुणने (ले जाना)

लट् लकार

तृतीय पुरुष	नेति, नयति	नयन्ति
द्वितीय पुरुष	नेसि, नयसि	नेथ, नयथ
प्रथम पुरुष	नेमि, नयामि	नेम, नयाम

लुङ् लकार

तृतीय पुरुष	नेयि	नयिंसु
द्वितीय पुरुष	नयि	नयित्थ
प्रथम पुरुष	नयिं	नयिम्हा

विधि लिङ्

तृतीय पुरुष	नेय्य	नेय्युं
द्वितीय पुरुष	नेय्यासि	नेय्याथ
प्रथम पुरुष	नेय्यामि	नेय्याम

लोट् लकार

तृतीय पुरुष	नयतु	नयन्तु
द्वितीय पुरुष	नय, नयाहि	नयथ
प्रथम पुरुष	नयामि	नयाम

लृट् लकार

तृतीय पुरुष	नेस्सति	नेस्सन्ति
द्वितीय पुरुष	नेस्ससि	नेस्सथ
प्रथम पुरुष	नेस्सामि	नेस्साम

जि धातु जये (जीतना)

	लट् लकार		लृट लकार	
तृतीय पुरुष	जिनाति	जिनन्ति	जिनिस्सति	जिनिस्सन्ति
द्वितीय पुरुष	जिनासि	जिनाथ	जिनिस्ससि	जिनिस्सथ
प्रथम पुरुष	जिनामि	जिनाम	जिनिस्सामि	जिनिस्साम

लुङ् लकार

तृतीय पुरुष	अजिनि, जिनि	जिनिंसु, अजनिंसु
द्वितीय पुरुष	अजिनि, जिनि	अजनित्थ, जिनित्थ
प्रथम पुरुष	अजनिं, जिनिं	अजिनिम्हा

	विधिलिङ् लकार		लोट लकार	
तृतीय पुरुष	जिनेय्य, जेय्य	जिनेय्युं	जिनातु	जिनन्तु
द्वितीय पुरुष	जिनेय्यासि	जिनेय्याथ	जिन, जिनाहि	जिनाथ
प्रथम पुरुष	जिनेय्यामि	जिनेय्याम	जिनामि	जिनाम

पच धातु वित्थारे (विस्तारणे)

	विधिलिङ् लकार		लोट लकार	
तृतीय पुरुष	पचति	पचन्ति	पचिस्सति	पविस्सन्ति
द्वितीय पुरुष	पचसि	पचथ	पचिस्ससि	पचिस्सथ
प्रथम पुरुष	पचामि	पचाम	पचिय्यामि	पचिस्साम

	लुङ् लकार		विधिलिङ् लकार	
तृतीय पुरुष	अपचि	अपचुं	पचेय्य, पचे	पचेय्यु
द्वितीय पुरुष	अपचो	अपचित्थ	पचेय्यासि	पचेय्याथ
प्रथम पुरुष	अपचिं	अपचिम्ह	पचेय्यामि	पचेय्याम

लोट् लकार

तृतीय पुरुष	पचतु	पचन्तु
द्वितीय पुरुष	पच, पचाहि	पचथ
प्रथम पुरुष	पचामि	पचाम

२. अदादि गण

अदादिगणीय धातु के बिना, न्त, मान् और परोक्ष भूत धातु को छोडकर ति आदि के प्रत्यय आने पर अ विकरण का आगम होता है और उसका लोप हो जाता है । इन गणों के रूप भ्वादिगण के रूप के समान होते हैं।

ब्रू	(बताना)	ब्रवीति
अद	(भक्षण करना)	अत्ति
हन	(मारना करना)	हन्ति
वद	(बोलना)	वदति
या	(जाना)	याति
अस	(होना)	अत्थि
पा	(पीना)	पिवति
पठ	(पढना)	पठति
इ	(जाना)	एति
रुद	(रोना)	रुदति

ब्रू (बताना) लट् लकार

परस्मैपद

तृतीय पुरुष	ब्रवीति, ब्रूति	ब्रवन्ति
द्वितीय पुरुष	ब्रवीसि, ब्रूसि	ब्रवीथ, ब्रुथ
प्रथम पुरुष	ब्रवीमि, ब्रूमि	ब्रवीम, ब्रूम

आत्मनेपद

तृतीय पुरुष	ब्रूते	ब्रूवन्ते
द्वितीय पुरुष	ब्रूसे	ब्रूव्हे
प्रथम पुरुष	ब्रुव	ब्रम्हे

लोट् लकार

	परस्मैपद		आत्मनेपद	
तृतीय पुरुष	ब्रूतु	ब्रुवन्तु	ब्रूतं	ब्रुवन्तं

द्वितीय पुरुष	ब्रूहि	ब्रूथ	ब्रूस्सु	ब्रुव्हो
प्रथम पुरुष	ब्रूमि	ब्रूम	ब्रवे	ब्रवामसे

विधिलिङ

	परस्मैपद		आत्मनेपद	
तृतीय पुरुष	ब्रुवेय्य, ब्रुवे	ब्रुवेय्युं	ब्रुवेथ	ब्रुवेरं
द्वितीय पुरुष	ब्रुवेय्यासि	ब्रुवेय्याथ	ब्रुवेथो	ब्रुवेय्यव्हो
प्रथम पुरुष	ब्रुवेय्यामि	ब्रुवेय्याम	ब्रुवेय्यं, ब्रुवे	ब्रवेय्याम्हे

अस धातु होणे लट् लकार

तृतीय पुरुष	अत्थि	सन्ति
द्वितीय पुरुष	असि, अहि	अत्थ
प्रथम पुरुष	अस्मि, अम्हि	अस्म, अम्ह

लोट् लकार

तृतीय पुरुष	अत्थु	सन्तु
द्वितीय पुरुष	आहि	अत्थ
प्रथम पुरुष	अस्मि, अम्हि	अस्म, अम्ह

विधि लिङ् लकार

तृतीय पुरुष	अस्स, सिया	अस्सु, सियुं
द्वितीय पुरुष	अस्स	अस्माथ
प्रथम पुरुष	अस्म	अस्माथ

या धातु गमने जाना

	लट् लकार		लुट् लकार	
तृतीय पुरुष	याति	यन्ति	यास्सति	यास्सन्ति
द्वितीय पुरुष	यासि	साथ	यास्ससि	यास्सथ
प्रथम पुरुष	यामि	याम	यास्सामि	यास्साम

	लुङ् लकार		विधिलिङ् लकार	
तृतीय पुरुष	यायि	यायिंसु	यायेय्य	यायेय्युं

द्वितीय पुरुष	यायि	यायित्थ	यायेय्यासि	यायेय्याथ
प्रथम पुरुष	यायिं	यायिम्हा	यायेय्यामि	यायेय्याम

लोट् लकार

तृतीय पुरुष	यातु	यान्तु
द्वितीय पुरुष	याहि	याथ
प्रथम पुरुष	यामि	याम

३. जुहोत्यादि गण

इस गण की धातु के अन्त में न्त, मान, और परोक्ष भूत छोडकर ती आदि प्रत्यय में 'अ' विकरण का आगम होता है और फिर उसका लोप हो जाता है। प्रत्यय लगने पर धातु में द्वित्व होता है और व्यंजन परिवर्तन हो जाता है। इसके रूप इस प्रकार होंगे-

हु यज्ञ करना, आहुति देना

लट् लकार

तृतीय पुरुष	जुहोति, जुह्वति	जुहोन्ति, जुह्वन्ति
द्वितीय पुरुष	जुहोसि, जुह्वसि	जुहोथ, जुह्वथ
प्रथम पुरुष	जुहोमि, जुह्वमि	जुहोम, जुह्वम

लोट् लकार

तृतीयं पुरुष	जुहोतु, जुह्वतु	जुहोन्तु, जुह्वन्तु
द्वितीय पुरुष	जुहो, जुह्वहि, जुह्वोहि	जुहोथ, जुह्वोथ
प्रथम पुरुष	जुहोमि, जुह्वोमि	जुहोम, जुह्वोम

लृट् लकार

तृतीय पुरुष	होस्सति	होस्सन्ति
द्वितीय पुरुष	होस्ससि	होस्सथ
प्रथम पुरुष	होस्सामि	होस्साम

विधिलिङ् लकार

तृतीय पुरुष	जुहोय्य, होय्य	जुहोय्युं, होय्युं

द्वितीय पुरुष	जुहोय्यासि, होय्यासि	जुहोय्याथ, होय्याथ
प्रथम पुरुष	जुहोय्यामि, होय्यामि	जुहोय्याम, होय्याम

लङ् लकार

तृतीय पुरुष	अजहा	अजहु
द्वितीय पुरुष	अजहो	अजहित्थ
प्रथम पुरुष	अजहिं	अजहिंम्हा

वा धातु देना

लट् लकार

तृतीय पुरुष	ददाति,दज्जाति, देति	ददन्ति,दज्जन्ति, देन्ति
द्वितीय पुरुष	ददासि, दज्जसि, देसि	ददाथ, दज्जथ, देथ
प्रथम पुरुष	ददामि, दज्जामि, देमि, दम्मि	ददाम, दज्जाम, देम, दम्म

लोट् लकार

	परस्मैपद		आत्मनेपद	
तृतीय पुरुष	ददातु	ददन्तु	ददतं,	ददन्तं
द्वितीय पुरुष	ददाहि	ददाथ	ददस्सु,	ददव्हा
प्रथम पुरुष	ददामि	ददाम	ददे,	ददामसे

विधिलिङ्

तृतीय पुरुष	ददेय्य, ददे, देय्य	ददेय्युं, देय्युं
द्वितीय पुरुष	ददेय्यासि, देय्यासि	ददेय्याथ, देय्याथ
प्रथम पुरुष	ददेय्यामि,देय्यामि	ददेय्याम, देय्याम

लङ्लकार

तृतीय पुरुष	अददा, अदा	अददु, अदुं
द्वितीय पुरुष	अददो,अदो	अददित्थ, अदित्थ
प्रथम पुरुष	अददिं, अदं	अददिंम्हा, अदम्ह

४. दिवादि गण

न्त, मान और परोक्ष भूत को छोडकर ति आदि प्रत्यय आने से दिव आदि धातु से परे 'य' का आगम होता है। जैसे -

दिव (खेलना)	दिव्वति
बुध (जानना)	बुज्झति
कुध (क्रोध करना)	कुज्झति
कुप (क्रोध करना)	कुप्पति
मुह (मूर्च्छित होना)	मुय्हति
जन (उत्पन्न होना)	जायति
गा (गाना)	गायति
घा (सूंघना)	घायति
छिद (छेदन करना)	छिज्जति
झा (ध्यान करना)	झायति
नुहा (स्नान करना)	नहायति
युध (युद्ध करना)	युज्झति
रुच (रुचिकर होना)	रुच्चति
लुभ (लोभ करना)	लुब्भति
सम (शांत होना)	सम्मति
सुध (शुद्ध होना)	सुज्झति
हन (मारना)	हञ्ञति
नत (नाचना)	नच्चति
नस (नष्ट होना)	नस्सति
तुस (संतुष्ट होना)	तुस्सति
सुस (सूखना)	सुस्सति
सिव (वस्त्र सीना)	सिब्बति

दिव धातु कीळाविजगिंसा (खेलना, चमकना)

	लट् लकार		लृट लकार	
तृतीय पुरुष	दिब्बति	दिब्बति	दिब्बिस्सति	दिब्बिस्सन्ति
द्वितीय पुरुष	दिब्बसि	दिब्बथ	दिब्बिस्ससि	दिब्बिस्सथ
प्रथम पुरुष	दिब्बामि	दिब्बाम	दिब्बिस्सामि	दिब्बिस्साम

लोट् लकार

तृतीय पुरुष	दिब्बतु	दिब्बन्तु
द्वितीय पुरुष	दिब्ब, दिब्बाहि	दिब्बथ
प्रथम पुरुष	दिब्बामि	दिब्बाम

विधिलिङ् लकार

तृतीय पुरुष	दिब्बेय्य, दिब्बे	दिब्बेय्युं
द्वितीय पुरुष	दिब्बेय्यासि	दिब्बेय्याथ
प्रथम पुरुष	दिब्बेय्यामि	दिब्बेय्याम

लुङ् लकार

तृतीय पुरुष	अदिब्बि, दिब्बि	अदिब्बिंसु, दिब्बिंसु
द्वितीय पुरुष	अदिब्बि, दिब्बि	अदिब्बित्थ, दिब्बित्थ
प्रथम पुरुष	अदिब्बिं, दिंब्बि	अदिब्बिम्हा, दिब्बिम्हा

कुध धातु कोपे (क्रोध करना)

लट् लकार

तृतीय पुरुष	कुज्झति	कुज्झन्ति
द्वितीय पुरुष	कुज्झसि	कुज्झथ
प्रथम पुरुष	कुज्झामि	कुज्झाम

लोट् लकार

तृतीय पुरुष	कुज्झतु	कुज्झन्तु
द्वितीय पुरुष	कुज्झसु	कुज्झथ
प्रथम पुरुष	कुज्झामि	कुज्झाम

विधिलिङ् लकार

तृतीय पुरुष	कुज्झेय्य, कुज्झे	कुज्झेय्युं
द्वितीय पुरुष	कुज्झेय्यासि	कुज्झेय्याथ
प्रथम पुरुष	कुज्झेय्यामि	कुज्झेय्याम

झा धातु चिन्ताय (ध्यान करना)

	लट् लकार		लृट लकार	
तृतीय पुरुष	झायति	झायन्ति	झायिस्सति	झायिस्सन्ति
द्वितीय पुरुष	झायसि	झायथ	झायिस्ससि	झायिस्सथ
प्रथम पुरुष	झायामि	झायाम	झायिस्सामि	झायिस्साम

लुङ् लकार

तृतीय पुरुष	अझायि, झायि	अझायिंसु, झायिंसु
द्वितीय पुरुष	अझायो	अझायित्थ, झायित्थ
प्रथम पुरुष	अझायिं, झायिं	अझायिम्हा, झायिस्साम

	विधिलिङ् लकार		लोट् लकार	
तृतीय पुरुष	झायेय्य	झायेय्युं	झायतु	झायन्तु
द्वितीय पुरुष	झायेय्यासि	झायेय्याथ	झाय, झाय्याहि	झायथ
प्रथम पुरुष	झायेय्यामि	झायेय्याम	झायामि	झायाम

५. ज्यादि गण

न्त, मान और परोक्ष भूत को छोडकर ति आदि प्रत्ययों के आने पर ज्यादि गणीय धातु से परे ना का आगम होता है। प्रत्ययों के आने से इस गण के धातु के उपान्त 'इ' या 'उ, का 'ए' या 'ओ' नहीं होता। जैसे-

अस (खाना)	अस्नाति
चि (चुनना)	चिनाति
जा (जानना)	जानाति
थु (प्रशंसा करना)	थुनाति
धू (धुनना)	धुनाति

पू (पवित्र करना)	पुनाति
लू (तोडना)	लुनाति
सि (सिलना)	सिनाति
भि (भोजन करना)	भिनाति

न्त, मान और परोक्ष भूत को छोडकर ति आदि प्रत्ययों के आने से स्वादि गण के धातु से परे णो का आगम होता है। जैसे-

सु (सुनना)	सुणोति
खी (क्षय होना)	खिणोति
वु (झाकना)	वुणोति
गि (शब्द करना)	गिणोति
सक (सम्भव होना)	सक्णोति
प+आप (प्राप्त करना)	पापुणोति
हि (जानना)	हिणोति, हिणाति

सु सवने (सुनना)

	लट् लकार		लृट् लकार	
तृतीय पुरुष	सुणोति	सुणोन्ति	सुणोस्सति	सुणोस्सन्ति
द्वितीय पुरुष	सुणोसि	सुणोथ	सुणोस्ससि	सुणोस्सथ
प्रथम पुरुष	सुणोमि	सुणोम	सुणोस्सामि	सुणोस्साम

	लङ् लकार		विधिलिङ् लकार	
तृतीय पुरुष	सुणि, अस्सोसि	सुणिंसु	सुणेय्य, सुणे	सुणेय्युं
द्वितीय पुरुष	सुणि	सुणित्थ	सुणेय्यसि	सुणेय्याथ
प्रथम पुरुष	सुणिं	सुणिम्हा	सुणेय्यामि	सुणेय्याम

लोट् लकार

तृतीय पुरुष	सुणोतु	सुणन्तु
द्वितीय पुरुष	सुण, सुणाहि	सुणोथ
प्रथम पुरुष	सुणोमि	सुणोम

६. तुदादिगण

न्त, मान और परोक्ष भूत को छोडकर ति आदि प्रत्ययों के आने पर तुद आदि धातु से परे अ का आगम होता है। जैसे-

तुद (दु:ख देना)	तुदति
वि+किर (विकीर्ण करना)	विकिरति
खिप (फेकना)	खिपति
नि+गिर (निगलना)	निगिरति
गिल (निगलना)	गिलति
इस (इच्छा करना)	इच्छति
पुच्छ (पूछना)	पुच्छति
मर ((मरना)	मरति
नुद (प्रेरित करना)	नुदति
फुर (स्फुरना)	फुरति
विस (घुसणे)	विसति
खिप (फेकना)	खिपति
मुस (चोरी करना)	मुसति
लिख (लिखना)	लिखति
विद (जानना)	विदति
सुप (सोना)	सुपति
दिस (दिखना)	दिसति
उप+दिस (उपदेश देना)	उपदिसति

तुद व्यथने (त्रास देना)

	लट् लकार		लृट् लकार	
तृतीय पुरुष	तुदति	तुदन्ति	तुदिस्सति	तुदिस्सन्ति
द्वितीय पुरुष	तुदसि	तुदथ	तुदिस्ससि	तुदिस्सथ
प्रथम पुरुष	तुदामि	तुदाम	तुदिस्सामि	तुदिस्साम

लुट् लकार

तृतीय पुरुष	अतुदि, तुदि	अतुदुं, तुदुं, अतुदिंसु, तुदिंसु, अतुदंसु, तुदंसु
द्वितीय पुरुष	अतुदो, तुदो, अतुदि, तुदि	अतुदित्थ, तुदित्थ
प्रथम पुरुष	अतुदिं, तुदिं	अतुदिम्हा

	विधिलिङ् लकार		लोट् लकार	
तृतीय पुरुष	तुदेय्य	तुदेय्युं	तुदतु	तुदन्तु
द्वितीय पुरुष	तुदेय्यासि	तुदेय्याथ	तुद, तुहाहि	तुदथ
प्रथम पुरुष	तुदेय्यामि	तुदेय्याम	तुदामि	तुदाम

लुट् लकार

तृतीय पुरुष	तुदिस्सति	तुदिस्सन्ति
द्वितीय पुरुष	तुदिस्ससि	तुदिस्सथ
प्रथम पुरुष	तुदिस्सामि	तुदिस्साम

७. रुधादि गण

न्त, मान और ति आदि प्रत्ययों के आने से, परोक्ष भूत को छोडकर रुधादि धातु के अन्तिम स्वर से परे अ का आगम होता है। जैसे-

रुध (रुकावट करना)	रुन्धति
छिद (काटना)	छिन्दति
भिद (फोडना)	भिन्दति
भुज (खाना, उपभोग करना)	भुञ्जति
हिंस (हिंसा करना, मारना)	हिंसति
कत (काटना)	कन्तति
गह (पकडना)	गण्हति
बध (बांधना)	बन्धति
मुच (छोडना)	मुञ्चति
युज (जोडना)	युञ्जति
लिप (लीपना)	लिम्पति
सिच (सीचना)	सिञ्चति

रुन्ध धातु आवरणे (रोकना, घेरना)

लट् लकार

तृतीय पुरुष	रुन्धति, रुन्धिति, रुन्धीति, रुन्धेति	रुन्धन्ति, रुन्धिन्ति
द्वितीय पुरुष	रुन्धसि,	रुन्धथ, रुन्धिथ
प्रथम पुरुष	रुन्धमि	रुन्धाम

लुट् लकार

तृतीय पुरुष	रुन्धिस्सति	रुन्धिस्सन्ति
द्वितीय पुरुष	रुन्धिस्ससि,	रुन्धिस्सथ
प्रथम पुरुष	रुन्धिस्सामि	रुन्धिस्साम

लुङ् लकार

तृतीय पुरुष	अरुन्धि, रुन्धि	अरुन्धिसु, रुन्धिंसु
द्वितीय पुरुष	अरुन्धि, रुन्धि	अरुन्धित्थ, रुन्धित्थ
प्रथम पुरुष	अरुन्धिं, रुन्धिं	अरुन्धिम्हा, रुन्धिम्हा

	विधिलिङ् लकार		लोट् लकार	
तृतीय पुरुष	रुन्धेय्य, रुन्धे	रुन्धेय्युं	रुन्धतु	रुन्धन्तु
द्वितीय पुरुष	रुन्धेय्यासि	रुन्धेय्याथ	रुन्ध, रुन्धाहि	रुन्धथ
प्रथम पुरुष	रुन्धेय्यामि	रुन्धेय्याम	रुन्धामि	रुन्धाम

८. तनादि गण

तनादि गण धातु से परे न्त, मान और परोक्ष भूत को छोडकर ति आदि प्रत्ययों के आने से तनादि गण के धातु से परे ओ का आगम होता है। जैसे -

सक (संभव होना)	सक्कोति
मन (जानना)	मनोति
वन (मांगना)	वनोति
आप (पाना)	अप्पोति
कर (करना)	करोति

तन धातु वित्थारे (फैलाना)

लट् लकार

	परस्मैपद		आत्मनेपद	
तृतीय पुरुष	तनोति	तनोन्ति	तनुते	तन्वन्ते
द्वितीय पुरुष	तनोसि	तनोथ	तनुसे	तनुव्हे
प्रथम पुरुष	तनोमि	तनोम	तन्वे	तनुम्हे

	लोट् लकार		लुङ् लकार	
	परस्मैपद		आत्मनेपद	
तृतीय पुरुष	तनोति	तनोन्ति	तनुते	तन्वन्ते
द्वितीय पुरुष	तनोहि	तनोथ	तनि	तनित्थ
प्रथम पुरुष	तनोमि	तनोम	तनिं	तनिम्हा

	विधिलिङ्		लृट् लकार	
तृतीय पुरुष	तनेय्य, तने	तनेय्युं	तनिस्सति	तनिस्सन्ति
द्वितीय पुरुष	तनेय्यासि	तनेय्याम	तनिस्ससि	तनिस्सथ
प्रथम पुरुष	तनेय्यामि	तनेय्याम	तनिस्सामि	तनिस्साम (कृ

कर धातु करणे

तृतीय पुरुष	करोति	करोन्ति, कुब्बन्ति	कुरुते	कुब्बन्ते
द्वितीय पुरुष	करोसि	करोथ	कुरुसे	कुरुव्हे
प्रथम पुरुष	करोमि	करोम	कुब्बे	कुरुम्हे

लोट् लकार

	परस्मैपद		आत्मनेपद	
तृतीय पुरुष	करोतु कुरुतु	करोन्तु कुब्बन्तु	कुरुतं	कुब्बन्तं
द्वितीय पुरुष	करोहि, कुरू	करोथ	कुरुस्सु, कुरस्सु,	कुरुव्हो
प्रथम पुरुष	करोमि	करोम	कुब्बे	कुब्बामसे

विधिलिङ् लकार

	परस्मैपद		आत्मनेपद
तृ. पु.	करेय्य, करे, कयिरा	करेय्युं	कुब्बेथ, कयिराथ, कुब्बेर
द्वि. पु.	करेय्यासि, कयिरासि	करेय्याम	कुब्बेथो, करेथो, कुब्बेय्यव्हो, करेय्यव्हो
प्र. पु.	करेय्यामि	करेय्याम	कुब्बे, करे, कुब्बेय्याम्हे, करेय्याम्हे

लट् लकार

	परस्मैपद		आत्मनेपद	
तृ. पु.	करिस्सति	करिस्सन्ति	करिस्सते	करिस्सन्ते
द्वि. पु.	करिस्ससि	करिस्सथ	करिस्ससे	करिस्सव्हे
प्र. पु.	करिस्सामि	करिस्साम	करिस्सं	करिस्सम्हे

लङ् लकार

तृतीय पुरुष	अकरा, अका	अकरु
द्वितीय पुरुष	अकरो	अकरोत्थ, अकत्थ
प्रथम पुरुष	अकरं, अकं	अकरम्हा, अकम्ह

लुङ् लकार

तृतीय पुरुष	अकरि, अकासि	अकरिंसु,अकंसु,अकरु,अकासुं
द्वितीय पुरुष	अकरि, अका	अकरित्थ, अकासित्थ
प्रथम पुरुष	अकासिं	अकरिम्ह, अकासिम्ह

आत्मनेपद

तृतीय पुरुष	अकासित्थ, अकरित्थ	अकासूं, अकरुं
द्वितीय पुरुष	अकासिसे, अकरसे	अकासिव्हे, अकरव्हे
प्रथम पुरुष	अकसिं, अकरिं	अकासिम्हे, अकरम्हसे

लृङ् लकार

	परस्मैपद		आत्मनेपद	
तृ. पु.	अकरिस्स	अकरिंस्ससु	अकरिस्सथ	अकरिस्संयु

द्वि.पु.	अकरिस्ससि	अकरिस्सथ	अकरिस्ससे	अकरिस्सव्हे
प्र.पु.	अकरिस्सं	अकरिस्सम्ह	अकरिस्सं	अकरिस्साम्हसे

९.क्यादि गण

न्त, मान और परोक्ष भूत को छोडकर ति आदि प्रत्ययों के आने से क्यादिगण धातू से परे णा का आगम होता है। इस गणीय धातूओं के उपान्त इ वा उ का ए अथवा ओ होता नहीं है। जैसे-

की (क्रय करना) -	किणाति, विक्किणाति
गि (शब्द करना) -	गिणति
वु (झांकना) -	वुणाति
सक (सम्भव होना) -	सक्णाति
सू (सुनना) -	सुणाति
ञा (जानना) -	जानाति
गह (ग्रहण करना) -	गव्हति
अस (भोजन करना) -	अस्नाति
मि (मापन करना) -	मिनति
लू (तोडना) -	लुनाति
पू (पवित्र करना) -	पुनाति
चि (चुनना) -	चिनाति

की धातु दब्बविनिमये (खरीदना)

	परस्मैपद		आत्मनेपद	
तृ.पु.	किणाति	किणन्ति	किणिस्सति	किणिस्सन्ति
द्वि.पु.	किणासि	किणाथ	किणस्ससि	किणिस्सथ
प्र.पु.	किणामि	किणाम	किणिस्सामि	किणिस्साम

लुङ् लकार

तृ.पु.	अकिणि, किणि	अकिंणिंसु, किणिंसु

द्वि. पु.	अकिणि, किणि		अकणित्थ, किणित्थ	
प्र. पु.	अकिणिं, किणिं		अकिंणिम्ह, किणिम्ह	
	परस्मैपद		**आत्मनेपद**	
तृ. पु.	किणेय्य, किने	किणेय्युं	किणातु	किणन्तु
द्वि. पु.	किणेय्यासि	किणेय्याथ	किण, किणाहि	किणाथ
प्र. पु.	किणेय्यामि	किणेय्याम	किणामि	किणाम

१०. चुरादि गण

चुर आदि धातु के बाद न्त, मान और ति आदि प्रत्ययों के परे णि (इ) का आगम होता है। उसके बाद धातु के उपान्त लघु स्वर की वृद्धि होती है। जैसे-

गण (गणना करना) - गणेति, गणयति

पीळ (दु:ख देना) - पीळेति, पीळयति

चिन्त (विचार करना) - चिन्तेति, चिन्तयति

पूज (पूजा करना) - पूजेति, पूजयति

अज्ज (अर्जन करना) - अज्जेति, अज्जयति

मन्त (बुलाना) - मन्तेति, मन्तयति

वण्ण (प्रशंसा करना) - वण्णेति, वण्णयति

कप्प (सज्ज करना) - कप्पेति, कप्पयति

पाल (पालन करना) - पालेति, कलयति

कण्ण (सुनना) - कण्णेति, कण्णयति

कित्त (कीर्तन करना) - कित्तेति, कित्तयति

गन्थ (परिग्रह करना, गूंथना) - गन्थेति, गन्थयति

चुण्ण (चूर्ण करना) - चुण्णेति, चुण्णयति

छड्ड (फेकना) - छड्डेति, छड्डयाति

पिण्ड (गोला बनाना) - पिण्डेति, पिण्डयति

पुस (पोषण करना) - पोसेति, पोसयति

पूज (पूजा करना) - पूजेति, पूजयति
तक्क (तर्क करना) तक्केति, तक्कयति
तीर (पार करना) - तीरेति, तीरयति
दिस (उपदेश करना) - देसेति, देसयति
वन्द (वंदन करना) - वन्देति, वन्दयति

लट

चुर (चोरी करना) लकार

चोरेति, चोरयति	चोरयन्ति, चोरेन्ति
चोरेसि, चोरयति	चोरेथ, चोरयथ
चोरेमि, चोरयामि	चोरेम, चोरयाम

लृट् लकार

चोरेस्सति, चोरयिस्सति	चोरेस्सन्ति, चोरयिस्सन्ति
चोरेस्ससि, चोरयिस्ससि	चोरेस्सथ, चोरयिस्सथ
चोरेस्सामि, चोरयिस्सामि	चोरेस्साम, चोरयिस्साम

	लृट् लकार		लुङ् लकार	
तृ. पु.	झापेस्सति	झापेस्सन्ति	झापयि	झापेयिसु
द्वि. पु.	झापेस्ससि	झापेस्सथ	झापयि	झापयित्थ
प्र. पु.	झापेय्यामि	झापेय्याम	झापेमि	झापेम

प्रत्ययान्त धातु प्रकरण

णिजन्त (प्रेरणार्थ क्रिया)

पालि के णिजन्त प्रक्रिया भी संस्कृत की णिजन्त प्रक्रिया के समान है। प्रेरणार्थक धातु के परे पालि में णि (इ), णा, पि (आपि) प्रत्यय लगते हैं। इन प्रत्ययों के स्थान पर क्रम से अय और आयय होता है। प्रत्यय के बाद धातु में वृद्धि होती है। णिजन्त प्रकिया की धातु के रूप चुरादि गण के समान होते हैं। जैसे -

कर धातु

प्र. पु.	कारयामि, कारापयामि,	कारयाम, कारापयाम,
	कारेमि, कारापेमि	कारेम, कारापेम

द्वि.पु.	कारयसि, कारापयसि,	कारयथ, कारापयथ
	कारेसि, कारापेसि	कारेथ, कारापेथ
तृ.पु.	कारयति, कारापयति,	कारयन्ति, कारापयन्ति,
	कारेति, कारापेति	कारेन्ति, कारपेन्ति

इसी प्रकार दूसरी धातु के भी रूप होते हैं-

अद (खाना) -	आदेति, आदयति
चज (छोडना) -	चाजेति, चाजयति
भू (होना) -	भावयति, भावेति
छिद (छेदना) -	छेदेति, छेदयति,
दिव (चमकना) -	देवेति, देवयति
कुध (क्रोध करना) -	कोधेति, कोधयति
लिख (लिखना) -	लेखेति, लेखयति, लेखापेति, लेखापयति
अस (खाना) -	असेति, आसयति, आसापेति, आसापयति

सन्नन्त प्रक्रिया

अपने लिए किसी कार्य के प्रति इच्छा व्यक्त करना सन्नन्त प्रक्रिया है। इसमें धातु में सन् (ख, स और छ) प्रत्यय लगते हैं। ये प्रत्यय संस्कृत के समान तुं प्रत्यय के अन्त में धातु में लगाए जाते हैं। प्रत्यय लगने के बाद धातु के स्वर को द्वित्व होता है। जैसे-

भोत्तुं इच्छतीति	वुभुक्खति	भोजन करने की इच्छा करना।
जेतुं इच्छतीति	जिगिंसति	जीतने की इच्छा करना।
घसितुं इच्छतीति	जिघिच्छति	खाने की इच्छा करना।
कातुं इच्छतीति	चिकीर्षति	करने की इच्छा करना।

यङ्त और यङ्लुगन्त प्रक्रिया

क्रिया को बार बार अथवा अतिशय द्योतित करने के अर्थ में यङ् और यङ्लुगन्त प्रक्रिया होती है। इसमें यङ् तथा यङ्लुक प्रत्यय संस्कृत के समान पालि में भी

होते हैं। संस्कृत में यङ्न्त क्रिया आत्मनेपदी होती है। पर पालि में उसमें प्रायः परस्मैपद होता है। जैसे-

चङ्कमति	बारंबार चलना
जङ्गमति	बारंबार जाना
चञ्चलीति	बारंबार चलना

नामधातु प्रक्रिया

तद्वत् आचरण व्यक्त करने के अर्थ में नामधातु प्रक्रिया होती है। सुबन्त के बाद ये प्रत्यय जोडकर धातु बन जाते हैं। पालि में ऐसे प्रत्यय संस्कृत के समान ५ होते हैं। जैसे-

१. **ईय** - इच्छा करना। जैसे- १) पुत्तं इच्छतीति पुत्तीयति, २) धनं इच्छतीति धनीयती। आचरण के अर्थ में - १) पुत्तमिवाचरतीति पुत्तीयति सिस्सं, २) कुटियमिवाचरतीति कुटीयति पासादे।

२. **आय** - आचरण करने के अर्थ में कर्ता के उपमान में आय प्रत्यय लगता हैं। जैसे- १) पब्बतो इवाचरतीति पब्बतायति, २) अभूत तद्भाव अर्थ के बाद आय प्रत्यय लगता हैं। जैसे- अलोहितो लोहितो भवतीति लोहितायति इसी प्रकार और भी शब्द बनते हैं। जैसे- सद्दायति, कलायति।

३) **अस्स** - नमस्कार करने के अर्थ में अस्स प्रत्यय होता है। जैसे - नमस्सति।

४) **इ** - नामधातुओं में इ प्रत्यय लगता है। जैसे - हत्थिना अतिक्कमतीति अतिहत्थयति, कुसलं पुच्छतीति कुसलयति

५) **आपि** - सच्च आदि शब्दों के बाद आपि प्रत्यय लगता है। जैसे - सुखापेति, सुखापयति; सच्चपेति, सच्चापयति।

९. वाच्य प्रक्रिया

पालि में संस्कृत के समान तीन वाच्य होते हैं - कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य।

१. **कर्तृवाच्य** - कर्तृवाच्य में कर्ता प्रथमान्त, कर्म द्वितीयान्त और क्रिया लिंग, वचन और पुरुष के अनुसार होती हैं। इसमें क्रिया सकर्मक और अकर्मक दोनों प्रकार की होती हैं। जैसे- सकर्मक - बालो कुक्कुरं पस्सति।

२. **कर्मवाच्य** - कर्मवाच्य में कर्ता तृतीयान्त, कर्म प्रथमान्त और क्रिया कर्म के लिङ्ग, वचन और पुरुष के अनुसार होती हैं। इसमें धातु में क्य (य) प्रत्यय लगता हैं। जैसे - रञ्ञा धनं दीयते।

३. **भाववाच्य** - भाववाच्य में कर्ता तृतीयान्त होता है और कर्म नहीं रहता। इसमें क्रिया के रूप कर्मवाच्य के समान होते हैं। जैसे - बालकेन बालकेहि अत्र भूयते। मया हसितं।

विशेषण चार प्रकार के होते हैं - गुणवाचक, संख्यावाचक, कृदन्त और तद्धितान्त। विशेषण में जो लिङ्ग, वचन और विभक्ति रहती है वे ही लिङ्ग, वचन और विभक्ति इसके विशेष्य के लिए प्रयुक्त होती हैं। जैसे - सुन्दरो बालो, एका बालिका।

५. कृदन्त प्रकरण

जिन शब्दों के अन्त में कृत् इत्यादि प्रत्यय लगते हैं वे कृदन्त कहलाते हैं। ये कृत् प्रत्यय धातुओं में जुडकर उन्हें संज्ञा, विशेषण और अव्यय बना देते हैं।

इसी तरह तिङ् प्रत्यय भी होते हैं पर वे हमेशा सिद्ध संज्ञा, विशेषण और अव्यय में जोडे जाते हैं। कृत् प्रत्यय लगाने पर धातु के उपान्त्य इ और उ को क्रमशः ए और ओ होता है। जैसे - इस + तब्बं = एसितब्बं। इसी तरह धातु के अन्त्य ए और ओ को क्रमशः अय और अव तथा इ और उ को इय और उव आदेश होता है। जैसे - जय, भव, वेदियति, ब्रुवन्ति। पालि के कतिपय कृदन्त प्रत्यय इस प्रकार हैं -

१.	**अक** -	जीवको, नन्दको
२.	**अण** -	कर्म के आगे और धातु के बाद- कुम्भकार
३.	**अथु** -	वम आदि धातु के बाद - वमथ
४.	**अनीय** -	मया हसितब्बं हसनीयं वा
५.	**अन्ते** -	भाव अर्थ में - निगूहनं
६.	**अस्स** -	नमस्सति (नमो अर्थ में)
७.	**आय** -	आचरण अर्थ में पब्बतायति
८.	**आपि** -	सच्च आदि शब्दों के आगे नामधातु में - सच्चापेति
९.	**आवि** -	ताच्छील्यादि अर्थ में भयदस्सावी
१०.	**इक** -	गमिको (जानेवाला)
११.	**इन** -	कर्म और भावार्थक सुप धातु में - सुपिनो
१२.	**ईय** -	आचरण अर्थ में कुटीयति

१३.	कू -	विदू, कालञ्ञू
१४.	क्त -	भूतकाल अर्थ में गीतं, भासितं
१५.	क्तवन्तु -	भूतकाल अर्थ में विजितवा
१६.	क्तावी -	भूतकालअर्थ में विजितावी
१७.	क्ति -	स्त्रीलिङ्ग में- जैसे इट्ठि
१८.	क्य -	भाव और कर्मवाच्य में प्रत्यय के बाद- ठीयमानं
१९.	ख -	इच्छार्थक तुं प्रत्यय में धातु के बाद- वुभुक्खति
२०.	ध्यण -	भाव अर्थ में दानीयो ब्राह्मणो
२१.	णक -	कर्त्य अर्थ में - पाठक
२२.	णापि -	प्रेरणार्थक - कारापेति
२३.	ण्य -	भाव और कर्म अर्थ में कत्तब्बं कारियं, चेय्यं
२४.	तब्ब -	भाव और कर्म अर्थ में भवितब्बं
२५.	तवे -	इच्छार्थक कातुं इच्छति कातवे,
२६.	ताये -	निमित्तार्थक धातु में - कत्ताये
२७.	तुं -	इच्छार्थक कातुं (करने के लिए)
२८.	तुक -	आगन्तुक (आकर जानेवाला)
२९.	तून -	पूर्वकालिक कातून
३०.	तेय्य -	भावार्थक - सोतेय्य
३१.	त्वा -	पूर्वकालिक - सुत्वा
३२.	त्वान -	पूर्वकालिक - सुत्वान
३३.	न्त -	वर्तमानकालिक तिट्ठन्तो
३४.	मान -	वर्तमानकालिक तिट्ठमानो
३५.	य -	भावार्थक वज्जं, मज्जं, गम्मं
३६.	रिक्ख -	समानादि अर्थ में सदिक्खो
३७.	रिरिय -	कर धातु में- जैसे- किरिया
३८.	ल -	कर्ता अर्थ में - वेदगू
३९.	रु -	तच्छील्यर्थक - भवपारगू
४०.	स्सन्त -	भविष्यकालार्थक हसिस्सन्तो

४१. **स्समान** - भविष्यकालार्थक - हसिस्समानो

६. तद्धित प्रकरण

तद्धित प्रत्यय धातुओं को छोडकर संज्ञा, विशेषण और अव्यय में लगाये जाते हैं। इन प्रत्ययों के जुड जाने से अर्थ में परिवर्तन आ जाता है। साधारणतः इसके नियम हैं - शब्द के पूर्व अ, इ और उ के बाद संयुक्त अक्षर आयें तो उनके स्थान पर क्रमशः विकल्प से आ, ए और ओ हो जाते हैं। जैसे - रघु + अ = राघव। इसी तरह उ प्रत्यय आने पर संख्यावाचक शब्द के 'ति' का लोप हो जाता है। जैसे वीसति + उ = वीसं कतिपय प्रमुख पालि तद्धित प्रत्यय इस प्रकार हैं -

१. **अच्च** - अमा के बाद लगने वाला प्रत्यय अमच्च (बराबर समान स्थिति में रहने वाला मन्त्री)

२. **अय** - अंश के ज्ञान के बाद - उभयं

२. **आकी** - असहाय के अर्थ में। जैसे - एकाकी
३. **आलु** - वाला अर्थ में। जैसे - कोधालु, दयालु
५. **इक** - धारण करने के अर्थ में - दण्डिको

४. **इट्ठ** - अतिशय अर्थ में, जैसे पापिट्ठो
५. **इम** - उसमें होने वाले अर्थ में, जैसे मज्झिमो
६. **इय** - अतिशय अर्थ में, जैसे पापिय
७. **इल** - वाला अर्थ में, जैसे फेणिलो, जटिलो
८. **एधा** - प्रकार अर्थ में, जैसे द्वेधा
९. **क्खत्तुं** - इतनी बार अर्थ में, जैसे - द्विक्खत्तुं भुञ्जति।
१०. **ट्ठ** - पूरणार्थक, जैसे छट्ठो
११. **णिक** - शीलादि अर्थ में, जैसे वेणिको, धम्मिको
१२. **णेय्य** - उसमें हुआ अर्थ में, जैसे पाथेय्य
१३. **ण्य** - भावार्थक, जैसे आलस्य
१४. **तम** - अतिशयार्थक, जैसे तापतम
१५. **तर** - अपेक्षाकृत अर्थ में, जैसे वच्छतर
१६. **ता** - भावार्थक, जैसे नीलता
१७. **त्थ** - सप्तमी विभक्ति के स्थान पर - सब्बत्थ
१७. **दा** - कालार्थक, जैसे सब्बदा

१८. **मन्तु** - धारणार्थक, जैसे गतिमन्तु
१९. **ल्ल** - आधारार्थक, जैसे वेदल्ल
२०. **वन्तु** - वाले अर्थ में, जैसे सीलवा
२१. **सो** - वीप्सार्थक, जैसे खण्डसो
२२. **स्सी** - धारणार्थक, जेसे मनस्सी।

इसी प्रकार तद्धित के और भी प्रत्यय होते हैं। जैसे - आमह, आमी, इस्सिक, उवामी, ची, छा, जातियो, ज्झ, ञ्ञो, ड, णान, णायन, णि, णेय्यक, तग्घ, तन, ति, त्त, त्तक, त्तन, त्र, था, धा, धि, नण, निय, नो, व्य, भी, म, मय, य, रतम, रतर, रति, राय, रित्तक, रीव, रीवत्तक, रेय्यण, रो, वो, वी, सण, स्स, हं, हि, इत्यादि।

७. अव्यय और निपात प्रकरण

अव्यय का अर्थ है कि जो शब्द तीनों लिंग, सभी विभक्तियों और सभी वचनों में एक समान हों, अपरिवर्तित हों। कहा भी है -

सदृशं त्रिषु लिंगेसु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्।।

अव्यय ५ प्रकार के होते हैं - १) उपसर्ग, २) निमित्तार्थक, ३) पूर्वकालिक, ४) तद्धितान्त, और ५) रूढ

१) **उपसर्ग** -उपसर्ग के लगने पर धातु के मूल अर्थ में परिवर्तन हो जाता है।जैसे हरति से पहरति। पालि में उपसर्गो की संख्या २० है -

१. **प** - अत्यन्तार्थक जैसे पकोपेति
२. **परा** - पराजयार्थक जैसे पराभव
३. **नि** - निस्सेसार्थक निक्खमति
४. **नी** - नीहरणादिसु
५. **उ** - प्रधान, वियोगादि। जैसे उन्मूलेति, उग्गच्छति
६. **दु** - अशोभनार्थक। जैसे दुक्कर
७. **सं** - समन्तभावादि। जैसे समिद्धादिसु
८. **वि** - विशेषादि। जैसे विचरण, विभजति
९. **अव** - वियोगादि। जैसे अवक्कमति,
१०. **अनु** - अनुगत आदि। जैसे अनुकरोति
११. **परि** - समन्ततो भाव। जैसे परिपतति

१२. **अधि** - अधिकादि। जैसे अधिट्ठान, अधिकरोति
१३. **अभि** - विशिष्टादि। जैसे अभिनन्दति।
१४. **पतिगत** -पटिलोमादि। जैसे पतिबोध, पटिसरति।
१५. **सु** - शोभनार्थक। जैसे सुकर
१६. **आ** - मर्यादादि। जैसे आचिनोति
१७. **अति** - अतिक्रमणादि। जैसे अपिधान
१८. **अपि** - सम्भावनादि। जैसे अपिधान
१९. **अप** - अपगतादि। जैसे अपकरोति
२०. **उप** - समीपादि। जैसे उपगमन।

२. निमित्तार्थक अव्यय

तुं, ताये और तवे तीन निमित्तार्थक प्रत्यय हैं। जैसे कातुं गच्छति, कत्ताये गच्छति, कातवे गच्छति।

३. पूर्वकालिक अव्यय

तून, क्त्वान और क्त्वा ये क्रियापद पूर्वकालिक प्रत्यय हैं। जैसे सोत्तून, सुत्वान, सुत्वा

४. तद्धितान्त अव्यय

कुछ प्रत्यय ऐसे होते हैं जो सर्वनाम में लगते हैं। पालि में ऐसे अव्ययों की संख्या १४ है - १) तो (परितो), २) त्र (सब्बत्र), ३) त्थ (सब्बत्थ), ४) धि (कम्मधि), ५) हिं (कुहिं), ६) हं (कुहं), ७) दा (सब्बदा), ८) था (सब्बथा), ९) धा (बहुधा), १०) एधा (द्वेधा), ११) ज्झं (एकज्झं), १२) क्खत्तुं (द्विक्खत्तुं), १३) सो (खण्डसो), १४) ची (अधवलं धवलं करोति)।

५. रूढिगत अव्यय

रूढिगत अव्यय तीन प्रकार के हैं -

१) **प्रमुंख क्रियाविशेषण अव्यय** - जैसे अग्गतो, अज्ज, अतीव, अत्थ, अत्र, अद्धा, अधुना, अन्तरा, अभिक्खणं, अमा, अलं, आरा, इध, इत्थं, उद्धं, एतावता, एत्थ, एव, एवं, कच्चि, कदाचि, कथं, किञ्चि, कुहिञ्चन, जातु, तावता, तिरियं, तुण्ही, दिवा, पगे, पतिरूपं, परसुवे, पसय्ह, पातो, पुथु, मुधा, मुहु, यथरिव, बहिद्धा, यथातथं, सहसा, रहो, विय, सच्छि, सद्धं, सनं, सम्पति, सहसा, सायं, साधु, सुवत्थि, हेट्ठा, हिय्यो, सेय्यथापि आदि।

२) **संयोजक अव्यय** - उद, उदाहु, च, किमुत आदि।

३) **विस्मयादि बोधक अव्यय** - अहो, अद्धा, अम्मो आदि

निपात

पादपूर्ति के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता है उन्हें निपात कहा जाता है। जैसे - यथा, तथा, एवं, खलु, खो, यत्र, तत्र, अथो, अथ, हि, तु, च, वा, वो, हं, अहं, अलं, एव, भो, अहो, रे, अरे, हरे पन आदि।

८. कारक प्रकरण

जो क्रियापद का साधक होता है वह कारक है। पालि में संस्कृत के समान कारक सात होते हैं-कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण।

१. **कर्ता** में प्रथमा विभक्ति होती है - यो बोधिरुक्खं रोपेति,

२. **कर्म** में द्वितीया विभक्ति होती है - कटं करोति। धी, अन्तरा, रिते, अनु आदि के योग में द्वितीया विभक्ति होती है। जैसे, विना वातुं, धीरत्थु ममपूतिकायं।

३.**करण**(तृतिया विभक्ति) - सह, सद्धिं, समं, नाना, पृथक्, विना, अलं इत्यादि के योग में तृतिया विभक्ति होती है। जैसे विना गग्गेन (क. २.६.१७) मासेन पुब्बो। तेन कालेन समयेन। अंग विकार के अर्थ में - अक्खिना काणो (क. २.६.२१)।

४. **संप्रदान** (चतुर्थी विभक्ति) - जिसे देने की इच्छा, रुचि आदि हो तो वहां चतुर्थी विभक्ति होती है(क. २.६.२३)। जैसे बुद्धस्स वा धम्मस्स वा संघस्स वा दानं देति। नमो ते योग मे नमो ते। तदर्थ के योग में अत्थाय हिताय देवमनुस्सानं। समणस्स चीवरं ददाति।

५. **अपादान** - जहां से अलग होने की क्रिया हो या अरुचि, भय, आदान आदि हो वहां पंचमी विभक्ति होती है (क. २.६.१) जैसे - गामा अपेन्ति मुनयो। पाया चित्तं। बुद्धस्मा पराजेन्ति। निपात के प्रयोग में रिते सद्धम्मा कुतो सुखं। दूरार्थ, समीपार्थ आदि योग में - दूरतो वा गम्म, अन्तिकं गामा।

६. **सम्बन्ध** - स्वस्वामिभाव या जन्य जनकभाव अर्थ में षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे - अत्तनो मुखं, उदरस्स हेतु, गोणानं सामी, तुल्यो पितु (मो. २.२४)।

७. **अधिकरण** - अधिकरण में सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे अधिक होने के अर्थ में 'उप' शब्द के योग में उप खारियं दोणो, स्वामी होने के अर्थ में अधिक के योग में अधि पंचालेसु ब्रह्मदत्तो। कर्म-करण-निमित्त अर्थ में - हत्थेसु पिण्डाय चरन्ति, कदलीसु गजे रक्खन्ति। काल अर्थ में - पुब्बण्हसमये गतो (मो. २.१६; क. २.६. ४०-४५)।

९. समास प्रकरण

समास का अर्थ होता है संक्षेप (**समासो पदसंखेपो**)। समास होने पर विभक्ति का लोप हो जाता है-

समासो पदसंक्षेपो पदप्पच्चयसंहितं ।

तद्धितं नाम होतेवं विञ्ञेयं तेसमन्तर ।। (रूपसिद्धि)

समासियन्ति नामानि नामानं समसनं तथा ।

समासो नाम विञ्ञेय्यो समसनवसेकधा ।।(कच्चायन)

समास के चार प्रकार हैं - १) अव्ययी भाव, २) तत्पुरुष, ३) बहुब्रीहि, और ४) द्वन्द्वसमास। कर्मधारय और द्विगु समास तत्पुरुष के ही भेद हैं।

१. **अव्ययीभाव** -विभक्ति आदि के योग में अव्यय के साथ समास होता है -

२.(क) विभक्ति- इत्थीसु कथा पवत्ता अधित्थि ।

(ख) सम्पति - समिद्धि भिक्खानं सुभिक्खं ।

(ग) समीप - कुम्भस्स समीपं उपकुम्भं।

(घ) साकल्य - सतिणमज्झो हरति साग्गधीते ।

(ङ) अभाव - अभावो मक्खिकानं निमक्खिकं ।

(च) पश्यात् - अनुरथं।

(छ) यथा - अत्थानति वत्तियं यथासत्ति।

(ज) युगपत् - सचक्कं ।

३. तिट्ठगु कालो (तिट्ठन्ति गावो यस्मिं काले)

४. ओर, उपरि, पटि, पारे, मज्झे, हेट्ठ, उद्ध, अधो और अन्त शब्दों के षष्ठ्यन्त बराबर विकल्प से समास होता हैं। जैसे - सिखस्स उपरि-उपरिसिखरं।

२. **तत्पुरुष समास** - इसमें उत्तरपद प्रधान होता है अं आदि विभक्तियों के साथ। इसके दो भेद हैं - समानाधिकरण (एक ही विभक्ति का पद) और व्यधिकरण (भिन्न-भिन्न विभक्तियों का पद)। व्यधिकरण तत्पुरुष के आठ प्रकार हैं विभक्तियों के आधार पर प्रथमा, द्वितीया आदि।

अन्य तत्पुरुष समास के सात प्रकार हैं -

१. नञ्तत्पुरुष - ब्राह्मणो अब्राह्मणो
२. प्रादितत्पुरुष - पगतो आचरियो पाचरियो
३. गति तत्पुरुष - असत कत्वा असक्कच्च
४. उपपद तत्पुरुष - कुम्भं करोति कुम्भकारो
५. अलुक्तत्पुरुष - देवानं पियो देवानं पियो
६. मध्यमपदलोपी - - देवपूजको ब्राह्मणो देवब्राह्मणो
७. मयूर व्यंसकादि - अञ्ञो गामो गामान्तरं

कर्मधारय समास - कर्मधारय समास समानाधिकरण तत्पुरुष समास का ही एक अंग है। इसमें समान विभक्तियां अर्थात् विशेष्य विशेषण रहते हैं। इसके चार भेद हैं -

१. विशेष्य-विशेषण कर्मधारय समास-लीलं च तं उप्पलं चा ति नीलुप्पलं।
२. उपमान पूर्वपद कर्मधारय समास - मिग इव चपला मिगचपला
३. उपमित कर्मधारय समास - मुहं कमलमिव मुखकमलं
४. रूपक कर्मधारय समास - सोक एव सागरो सोकसागरा

द्विगुसमास - द्विगु समास कर्मधारय समास का ही भेद है। इसमें प्रथम पद संख्यावाचक और द्वितीय पद संज्ञात्मक (नामात्मक) होता है। जैसे समण - ब्राह्मणा।

३.बहुब्रीहि समास - जिसमें अन्य पदार्थ की प्रधानता हो। जैसे जितानि इन्द्रियानि येन समणेन सोयं जितेन्द्रियो समणो। इसके चार प्रकार हैं - तुल्याधिकरण, व्यधिकरण, सहार्थ और व्यतिहार।

४. **द्वन्द्वसमास - इसमें सभी पद प्रधान होते है। इसके तीन प्रकार हैं -**

१. **इतरेतर द्वन्द्व-** माता पितरो
२. **समाहार द्वन्द्वसमास -** चक्खु च सोतं च चक्खुसोतं
३. **एकशेष द्वन्द्वसमास -** माता च पिता च पिता

१०. स्त्री प्रत्यय प्रकरण

स्त्रीलिंगी शब्दों के दो प्रकार होते हैं - १) मूलत: स्त्रीलिंग शब्द और प्रत्यय लगाकर बनने वाला स्त्रीलिंग शब्द। जिन शब्दों में प्रत्यय लगाये जाते हैं वे पुल्लिंग और नपुंसकलिंग में व्यवहृत होते हैं, पालि में स्त्रीवाचक प्रत्ययों की संख्या सात है -

१.	आ -	बालिका, कारिका
२.	डी (ई) -	नदी, गोतमी, कुमारी, पण्डवी
३.	इनी -	गहपतानी, हत्थिनी
४.	नी -	पोक्खरणी, अहिंसारतिनी
५.	आनी -	मातुलानी, वरुणानी, आचरियानी
६.	उ -	करमोरू, वामोरू
७.	ति -	युवति

पालि का यह संक्षिप्त व्याकरण है। इस पर स्पष्ट रूप से संस्कृत व्याकरण का प्रभाव बहुत अधिक है। उसकी रचना प्रक्रिया भी मिलती-जुलती है। यह अवश्य है कि पालि भाषा में द्विवचन नहीं मिलता। नपुंसकलिंग की स्थिति साधारणतः संस्कृत जैसी ही है। पालि शब्दों के रूपों में जो वैविध्य है वह संस्कृत में नहीं है। क्रिया प्रकरण में भी यहां सरलता है । कृदन्त, तद्धित आदि प्रकरण भी अपेक्षाकृत सरल है।

पालि शिक्षण विधि

आजकल पालि विषय को बी.एड. आदि पाठ्यक्रम में भी संमिलित कर दिया गया है । अतः पालि शिक्षण विधियों की जानकारी कर लेना आवश्यक है । पालि शिक्षण करते समय सर्वप्रथम पालि भाषा का महत्त्व बताना नितान्त आवश्यक है। पालि मूलतः जनबोली थी, भाषा नहीं। ऋग्वेद भारतीय साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है। वह संस्कृत में अवश्य लिखा गया है परन्तु शुद्ध संस्कृत में नहीं। उसमें जनबोली के बहुत सारे तत्त्व उपलब्ध हैं जो पालि-प्राकृत भाषा में आज भी मिलते हैं। इसलिए पालि-प्राकृत संस्कृत भाषा की पूर्ववर्ती बोली के रूप में अस्तित्व में थी, यह कहने में कोई संकोच नहीं। तथागत बुद्ध और तीर्थंकर महावीर ने इसी बोली में अपने उपदेश दिये थे। अतः भाषाविज्ञान की दृष्टि से संस्कृत को जनभाषा का रूप नहीं दिया जा सकता। साहित्य में भी ऐसे कोई प्रमाण नहीं मिलते जिनसे यह कहा जा सके कि संस्कृत जनभाषा थी। वह वस्तुतः विद्वानों की अभिव्यक्ति का साधन थी। प्राचीनतम शिलालेख भी पालि-प्राकृत में ही मिलते हैं, संस्कृत में नहीं। इसलिए पालि किंवा प्राकृत को प्राचीनतम भाषा माना जाना चाहिए। मिश्र और मेसोपोटेमिया में प्राप्त अभिलेखों में भी पालि-प्राकृत के तत्त्व खोजना कठिन नहीं है।

साहित्य समाज का दर्पण माना जाता है। तत्कालीन सामाजिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक, दार्शनिक, आर्थिक और भौगोलिक स्थितियों का सचित्र चित्रण उस साहित्य में स्पष्टतः दिखाई देता है। पालि साहित्य में ऐसा चित्रण भरा हुआ

है। यह साहित्य भारत, श्रीलंका, वर्मा, थाईलेण्ड, कम्बोडिया, लाओस आदि देशों की सांस्कृतिक चेतना को समेटे हुए है। तथागत ने ब्राह्मण सम्प्रदाय में पनपी जातिवादिता और सडी-गली रूढियों का खण्डनकर यथार्थ मानवतावाद को स्थापित किया। अन्य सम्प्रदायों की भी कमियों को उन्होंने दूर करने का प्रयास किया। गणित, आयुर्वेद, ज्योतिष, विज्ञान आदि लगभग सभी विधाओं के मूलभूत सिद्धान्त पालि साहित्य में विवृत हुए हैं। इन सभी तत्त्वों का विवरण हमने इसी पुस्तक में संक्षेपतः समाहित किया है। इसलिए यहां उसकी पुनरावृत्ति करने में कोई औचित्य नहीं है। यह भी उल्लेखनीय है कि पालि साहित्य में जिस आध्यात्मिकता के दर्शन होते हैं वह जीवन के निर्माण में नितान्त सहयोगी बनता है और साथ ही राष्ट्रिय एकता को मजबूत करने में अपना योगदान देता है।

पालि साहित्य की इसी विशेषता ने समग्र भारतवर्ष में पालि के अध्ययन/अध्यापन को पुनर्जीवित कर दिया है। लगभग हर विश्वविद्यालय में किसी न किसी रूप में पालि और बौद्धधर्म का पाठ्यक्रम संयोजित हुआ है। एक समय था जब पालि को मृतभाषा कहकर उसकी उपेक्षा कर दी गई थी। परन्तु अब समय और स्थिति में परिवर्तन आया है और प्रबुद्ध जनता में यह विषय अधिक लोकप्रिय हो रहा है। विदेशों में भी उसने अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है।

भारत सरकार संस्कृत की पक्षधर अधिक है। यहां प्रायोगिकता के आधार पर उसे कभी अनिवार्य कर दिया जाता है तो कभी वैकल्पिक बना दिया जाता है। संस्कृत आयोग ने उसे अनिवार्य करने के लिए अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया। त्रिभाषा योजना के अन्तर्गत आयोग ने माध्यमिक विद्यालयों में मातृभाषा, अंग्रेजी और संस्कृत या अन्य कोई प्राचीन भाषा लेने का आग्रह किया। इसमें साधारणतः संस्कृत ही अध्ययन/अध्यापन का विषय बना। पालि पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। संस्कृत शिक्षण पद्धतियों के समान पालि शिक्षण पद्धति में भी उन्हीं पद्धतियों का उपयोग किया जा सकता है। जैसे -

१. **व्याकरण पद्धति** - व्याकरण के बिना भाषाज्ञान नहीं हो पाता। इस पद्धति से छात्र व्यावहारिक दृष्टि से मूल ग्रन्थ को गहराई पूर्वक समझ सकते हैं। भाषाविज्ञान का आधार भी व्याकरण ही होता है। भाषागत अशुद्धियों से भी बचाव हो जाता है।

२. **विश्लेषणात्मक पद्धति** - इसमें कथा आदि का विश्लेषण किया जाता है और राजनीतिक, आध्यात्मिक और ऐतिहासिक विषयों का भी विवेचन अपेक्षित है।

३. **व्याख्या पद्धति** - इसमें समास-विग्रह, सन्धि-विच्छेद, व्युत्पत्ति आदि

बताते हुए सम्पूर्ण पाठ का अर्थ किया जाता है। इसमें कवि की शैली आदि का भी परिज्ञान करा देना चाहिए।

४. **अनुवाद पद्धति** - समीक्ष्य अंश का मातृभाषा में अनुवाद करते हुए विषय स्पष्ट किया जाना चाहिए।

५. **प्रत्यक्ष पद्धति** - इसमें उस भाषा में लिखने, पढ़ने और बोलने का अभ्यास कराया जाता है। सम्भाषण का अभ्यास इससे बढ जाता है।

६. **हरबार्टीय पंचपदी** - मनोवैज्ञानिक हरबार्ट के सिद्धान्तों के आधार पर इस पद्धति का विकास हुआ हैं । इसमें संबद्ध अंश को पांच भागों में विभक्त कर समझाया जाता है - १) प्रस्तावना, २) विषयोपस्थापन, ३) तुलना, ४) सामान्यीकरण या पुनरावृत्ति और ५) प्रयोग या अभ्यास कार्य। इस आधार पर फिर मूल्यांकन किया जाता है जिसमें उद्देश्य, व्यवहाररूप, पाठ्यबिन्दु आदि तत्त्वों पर विचार किया जाता है।

इन पद्धतियों में से **व्याकरण-अनुवाद पद्धति** में छात्रों को आवश्यक एवं सरल नियमों को बतलाकर पालि पाठ का अनुवाद करा दिया जाता है। इससे उनकी बोध-शक्ति जाग्रत होती है और स्वाध्याय की प्रेरणा मिलती है। इसमें अनुवाद पद्धति का ध्यान अवश्य रखना पडेगा।

पाठ्य-पुस्तक विधि में पाठ ही सम्पूर्ण अध्ययन के केन्द्र होते हैं। सर्वप्रथम पाठ का सस्वर पठन होता है, फिर व्याकरण पूर्वक उसका अनुवाद करा दिया जाता है। शुद्ध उच्चारण की शिक्षा भी यहां दी जाती है। एक डायरेक्ट मेथड भी होती है जिसका उद्देश्य है कि छात्र पालि में ही सोचें और पालि में ही अपने भावों को व्यक्त करें। इसमें भी व्याकरण ज्ञान मुख्य होता है, शब्दकोश भी तैयार करना पडता है। इससे संभाषण प्रणाली विकसित हो जाती है। इसके अतिरिक्त श्रुतलेखन और मौखिक आत्म-प्रकाशन की ओर भी छात्रों की रुचि बढायी जाती है।

इस तरह अध्यापक को पालि ध्वनियों का शिक्षण देते समय उनके शुद्ध उच्चारण पर ध्यान देना चाहिए। अनुस्वार और व्याकरण पर विशेष ध्यान देना पडेगा। व्याकरण पर कथा की पाठ योजना बनाते समय उद्देश्य, प्रस्तावना, प्रश्न, पाठ्योपस्थापन, नियम-निर्धारण, अभ्यास आदि कराना अध्यापक का विशेष कार्य हो जाता है। काव्य-शिक्षण करते समय काव्य की व्याख्या, दण्डान्वय, खण्डान्वय, भाष्य, तुलना, अलंकार आदि का व्याख्यान किया जाता है। द्रुत पाठ-शिक्षण भी आवश्यक हो जाता है। सम्भव हो तो अनुवाद कार्य की भी शिक्षा देनी चाहिए।

पालि भाषा की विकासात्मक अवस्थाएं

पालि प्राचीनतम भारतीय भाषा है। इसलिए अन्त में उसके विकासात्मक चरणों का आकलन भी आवश्यक है। अतः हम उसे निम्नलिखित सोपानों में विभक्त कर सकते हैं -

१. वैदिक साहित्य में जनबोलियों के रूपों का आकलन,

२. त्रिपिटक की पद्य भाषा का भाषावैज्ञानिक विश्लेषण करने पर उसमें निहित प्राचीन तत्त्व दृष्टव्य हैं जो वैदिक भाषा से अनुस्यूत हैं। जैसे सुत्तनिपात की भाषा स्पष्ट रूप से प्राचीन दिखाई देती है। ध्वनि परिवर्तन और रूपविधान में साम्य अधिक है।

३. त्रिपिटक की गद्य भाषा में पद्य भाषा की अपेक्षा एकात्मकता अधिक है। रूपों की अल्पता और नये रूपों की अभिवृद्धि इसका प्रमाण है। जातकों की भाषा में ये तत्त्व दृष्टव्य हैं।

४. उत्तरकालीन पालि गद्य साहित्य अपेक्षाकृत अधिक आलंकारिक और कृत्रिम है। मिलिन्दपञ्हो और अट्ठकथा साहित्य इसके उदाहरण हैं। यहां लम्बे-लम्बे समास बहुल वाक्य हैं।

५. उत्तरकालीन पालि-काव्यों की भाषा और अधिक आलंकारिक है और उनमें सिंहली तथा वर्मी जैसी भाषाओं के शब्दों का आदान कर लिया गया हैं। संस्कृत काव्यों का प्रभाव उन पर स्पष्टतः झलकता है। महावंस, दीपवंस, तेलकटाहगाथा, जिनदत्तचरित आदि काव्य इसके उदाहरण हैं।

६. आधुनिक पालि साहित्य की पालि भाषा पर आधुनिक भाषाओं का प्रभाव है।

पालि भाषा के विकासात्मक सोपानों के साथ ही हम इस तथ्य का भी आकलन कर सकते हैं कि पालि भाषा और साहित्य का प्रभाव आधुनिक भारतीय भाषाओं और उनकी साहित्यिक विधाओं पर किस प्रकार पडा है। हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगला जैसी सभी भाषाओं का विकास अपभ्रंश की विविध उपबोलियों के माध्यम से ही हुआ है। इतना ही नहीं, इन भाषाओं के साहित्य पर भी बौद्ध दर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है।

卐

परिवर्त २

पालि-बौद्धधर्म और उसकी त्रिपिटक परम्परा

वृहत्तर भारत

प्राचीन भारतीय संस्कृति मात्र आधुनिक भारत तक ही सीमित नहीं थी। वह वस्तुतः दक्षिणपूर्वी और दक्षिण एशिया तथा मध्यएशिया और चीन आदि देशों तक फैली हुई थी। इसे वृहत्तर भारत कहा गया है। इसमें कश्मीर, अफगानिस्तान, चीन, मंगोलिया, तिब्बत, भूटान, श्रीलंका, वर्मा थाईलेण्ड, कम्बोडिया, लाओत्से, जावा, सुमात्रा आदि देशों का अन्तर्भाव होता है।

अफगानिस्तान

अफगानिस्तान का सम्बन्ध गान्धार से था। वहां का राजा गान्धार ऐलवंशीय था। बौद्ध साहित्य में वर्णित १६ महाजनपदों में गान्धार और कम्बोज भी है। गान्धार दो भागों में विभाजित था चतुर्थ शताब्दी ई.पू. में - पूर्वी और पश्चिमी। पूर्वी गान्धार की राजधानी तक्षशिला और पश्चिमी गान्धार की राजधानी पुष्कलावती थी। चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य यहां तक फैला हुआ था। मुगल काल में भी यह प्रदेश भारत का अंग रहा है। अफगानिस्तान के उत्तरपश्चिम में बल्ख या बाल्हीक था। इसी ओर चीनी तुर्किस्तान भी था। पामीर की पर्वतमाला में बसे काशगर, यास्कन्द, नीया, खोतन, कुचि आदि प्रदेश भी इसी सीमा के अन्तर्गत आते हैं। कुषाण वंशी राजाओं ने इन प्रदेशों में राज्य किया है।

मध्य एशिया का यह प्रदेश भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। इस दिशा में यहां के मार्गो का मूल्यांकन किया जाना नितान्त आवश्यक है। भारत से उत्तर-पश्चिम की ओर चीन तक जानेवाला मार्ग सिल्क्रोड कहा जाता था। यह मार्ग पुरुषपुर (पेशावर), नगरहार, जलालाबाद और वामियान होता हुआ काशगृह पहुंचता था। वहां से वह दो भागों में विभक्त होता था। पहला उत्तरीमार्ग अक्सू, तुर्फान आदि होता हुआ चीन की पश्चिमी सीमा से लग जाता था और दूसरा दक्षिणी मार्ग खोतन, नीया होकर लोपनीर झील तक जाता था। यहां दोनों मार्ग मिल जाते थे। इन्हीं मार्गो से तथागत बुद्ध का सन्देश चीन पहुंचा है। इन मार्गो के समीपवर्ती

प्रदेशों में रहने वाली तुखार, युर्दाश, हूण आदि जातियां चीन पर आक्रमण करती थीं जिनसे बचने के लिए चीन के सम्राट् शी हुआंग-ती ने तृतीय शती ई.पू. में एक प्रसिद्ध दीवाल का निर्माण कराया था। इससे हूणों के आक्रमण चीन पर तो कम हो गये पर तुखार और युइशि जातियों पर उनके आक्रमण तेज हो गये। फलतः ये जातियां पराजित हो गईं। शक वहां से दक्षिण की ओर ईरान, अफगानिस्तान और भारत की ओर बढे। उनका पीछा युइशि और तुखार जातियों ने किया। इन सभी जातियों का सम्पर्क भारतीय संस्कृति से हुआ। कुषाण युइशि जाति के ही थे जिनका शासन गान्धार, कपिश, कम्बोज, बाल्हीक आदि प्रदेशों पर रहा है।

अफगानिस्तान यह नाम लगभग १८ वीं शती में प्रचलित हुआ जब अफगान जाति ने यहां राज्य स्थापित किया। इसके पूर्व भारतीय साहित्य में पूर्वी भाग को उद्यान या ओडियान, मध्यभाग को कपिशा और उत्तर-पश्चिम को बाल्हिक कहा गया है। अलेक्जेण्डर ने उसे योन-रट्ठ-कहा है। समूचे अफगानिस्तान में बौद्ध स्तूप, मन्दिर, मूर्तियां, विहार बडी मात्रा में उपलब्ध हैं। विशेषतः बमियान उल्लेखनीय है जहां भ. बुद्ध की एक मूर्ति ५५ मीटर और दूसरी मूर्ति ३५ मीटर लम्बी रही है। तपस्सु और भल्लिक कदाचित् उत्तरापथ या बाल्हीक के ही रहे हैं। महासांघिक सम्प्रदाय का सम्बन्ध भी उड्यान अफगानिस्तान से रहा है। ह्यूनसांग ने वहां लोकोत्तरवादी भिक्षुओं को देखा भी था। जलालाबाद उनका केन्द्र था। ओडयान, नगरहार आदि स्थान भी ऐसे ही केन्द्र रहे हैं जहां बौद्ध स्मारक भरे पडे हुए हैं। अशोक, कनिष्क आदि सम्राटों का भी योगदान यहां कम नहीं रहा है। जलालाबाद और उसके समीपवर्ती क्षेत्र काबुल आदि अनेक वृहदाकार स्तूप मिले हैं, गुफाएं भी।कपिशा महासांघिक सम्प्रदाय का केन्द्र था जिसे आनन्द के शिष्य संभूत साणवासी ने स्थापित किया था। यहां थेरवादी स्थविरक विहार था जिसे कनिष्क ने बनवाया था। महावंस के अनुसार उत्तर-पश्चिम में मज्झन्तिक को गान्धार और योनक महारक्खित को योन देश भेजा था अशोक ने बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार के लिए। यह योनदेश कपिशा का समीपवर्ती प्रदेश था। यहां इन्डोग्रीक शासन था। नागसेन भिक्षु का शिष्य मेनान्डर यहां का राजा था। कनिष्क सर्वास्तिवादी था और सर्वास्तिवाद महासांघिक सम्प्रदाय की एक शाखा थी जो बाद में वैभाषिक के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यहां वेग्राम आदि स्थानों पर अनेक स्तूप, विहार और बौद्ध मूर्तियां मिली हैं। ह्यूनशांग ने यहां का अच्छा विवरण दिया है जिसके अनुसार महायान सम्प्रदाय भी यहां लोकप्रिय था। दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के साधुओं को भी उसने देखा था। शैव सम्प्रदाय का भी अस्तित्व था। हूणों ने इन सभी का विनाश किया था लगभग सातवीं शती में।

वमियन

अफगानिस्तान में वमियन एक ऐसा स्थान है जहां बौद्ध गुफाएं, विहार, मन्दिर, मूर्तियां बडे परिमाण में मिलती हैं। लगभग २६०० गुफाएं आसा पास में सुरक्षित हैं। काबुल से लगभग १२० कि.मी. दूर यहां ह्यूनशांक ६३० ई. में कुछ समय के लिए रुका था। यहां एक ५५ मीटर और दूसरी ३५ मीटर ऊंची बुद्ध मूर्ति स्थापित है जो विश्व की सर्वोच्च प्रतिमाओं में गिनी जाती है। यह स्थान सिल्क रोड पर अवस्थित है जो बल्ख, कपिशा काबुल होते हुए भारत में प्रवेश करता है। सार्थवाह और यात्री यहां रुका करते थे और भिक्षु वर्षावास करते थे। महासांघिक सम्प्रदाय का लोकोत्तरवादी सम्प्रदाय यहां अधिक लोकप्रिय हुआ। इसे चेतियवाद भी कहा जाता था। सारिपुत्र परिपृच्छासूत्र के अनुसार वे उड्यान में रहते थे। उनके साथ सर्वास्तिवादी, महीशासक, धर्मगुप्त और कश्यपीय भी अपना धर्मप्रचार करते रहे। कनिष्क ने कदाचित् यहीं रहकर अपने महावैभाषिक शास्त्र की रचना की थी। यहीं अहंकरन ग्राम है जो अरहंतानं का अपभ्रष्ट रूप है। यह ग्राम थेरवाद का केन्द्र होना चाहिए। बमियान में भी थेरवादी परम्परा लोकप्रिय रही होगी। यहां अशोक, चन्द्रगुप्त मौर्य, मेनान्डर, कनिष्क आदि नरेशों का सम्बन्ध वमियान से रहा है। गान्धारकला से यहां की कला का प्रभावित होना स्वाभाविक है। हूणों ने यहां की कला को नष्ट-भ्रष्ट किया था। प्राचीन चित्रशैलियां भी अंकित हुई हैं। वमियान के पास ही ककरक है जिसमें भी राक-कट गुफाए हैं जिनमें चित्रकला के दर्शन होते हैं। मण्डल, धर्मचक्र, विविध मुद्राएं उनमें उकेरी गई हैं। जनताघर भी यहां की ठंड को देखकर बनाये गये थे। भूमिस्पर्शी और अभय मुद्राएं यहां अधिक लोकप्रिय रही हैं। वामियान की ये तीनों गुफाएं सुन्दर पेन्टिंग से भरी पडी थीं। करक और अहनगरन की गुफाएं नष्ट-भ्रष्ट हो गईं। मात्र बाबा की गुफाओं की चित्रकला कुछ बच गई। यह चित्रकला लगभग ५-६ वीं शती की है।

फोण्डुकिस्तान

बमियान और काबुल के बीच सियाहगर्ड नामक ग्राम है जो फनडुग का अपभ्रष्ट रूप है। यहां बौद्ध विहार के अवशेष दिखाई देते हैं। पुरातत्त्वज्ञों ने यहां संघाराम खोजकर निकाला है। इसमें स्तूप, मूर्तियां आदि मिली हैं। पेन्टिंग भी बडी सुन्दर है अजन्ता जैसी। बोधिसत्त्व, देवता, नाग आदि के सुन्दर चित्र हैं। एक चित्र में बुद्ध को एकंसिक और दूसरे चित्र में पारुपन्न शैली में दिखाया गया है। कालान्तर में यह संघाराम मुस्लिम आक्रमणकारियों ने तोड दिया ७४३ ई. में।

कन्दहार

कन्दहार अफगानिस्तान में दूसरे नम्बर का बडा नगर माना जाता है। उस पर अलेक्जेण्डर, चन्द्रगुप्त मौर्य, इण्डोग्रीक, कुषाण, मुस्लिम आदि राजाओं द्वारा शासित रहा है। उसका मूल नाम स्कन्धावार होना चाहिए जिसका अर्थ है सैनिक स्थान। यहां अशोक स्तम्भ मिलते हैं जिनपर ग्रीक लिपि भी उत्कीर्ण है। तृतीय बौद्ध संगीति के फलस्वरूप यहां महारक्खित थेर को भेजा गया था जिसने विभज्यवाद का प्रसार किया। १० वीं शती तक यहां बौद्धधर्म रहा। बाद में इस्लामिक आक्रमणों के कारण उसका अस्तित्व क्षीण हो गया।

बौद्धधर्म के अस्तित्व का पर्यवेक्षण करने पर विद्वानों को कुछ स्थान मिले जहां बौद्धधर्म खोजा जा सकता है। जैसे दहमवस ग्राम, धम्मवास होना चाहिए, दानगर ग्राम का नाम दानघर होना चाहिए। पंजवई ग्राम के पास बुधवन नाम बुधवन नामक पहाडी है जो बुद्ध के नाम पर प्रचलित रही होगी। यहां स्तूप वगैरह के अवशेष मिलते हैं।

एक दूसरी ओर धजनी नामक स्थान है जो हेरुकवती या सरस्वती नाम से प्रचलित था। यहां अलेक्जेण्डर, अशोक, चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्य रहा। ह्यूनसांग ने यहां की यात्रा ६४४ ई. में की। उसने यहां अशोक स्तूप वगैरह देखे। थेरवाद, महासांघिक सम्प्रदायों के यहां केन्द्र थे। कनिष्क कालीन स्तूप, विहार भी मिले हैं। वग्रमरेगविहार कनिष्क काल का रहा होगा। दस्ती-नवर में शिलालेख मिले हैं जो ग्रीक और प्राकृत भाषाओं में उत्कीर्ण हैं। तप-इ-सरदर पहाडी को तय-ई-नगारा भी कहा जाता है जहां स्तूप, विहार आदि मिले हुए हैं। संघाराम आदि शताधिक विहार पाये गये हैं जहां बुद्ध की मूर्ति भी मिली है। यहां महायान सम्प्रदाय लोकप्रिय रहा होगा। ध्यानमुद्रा में बुद्ध मूर्तियां भी उपलब्ध हैं। सातवीं शताब्दी से यहां इस्लामिक आक्रमण प्रारम्भ हुए और धीरे-धीरे बौद्धधर्म लुप्तप्राय हो गया।

काबुल से लगभग ३२५ कि.मी. दूर हाईवक या समनगत में एक प्राचीन विशाल स्तूप है। यह नाम स्पष्टतः श्रमणग्राम का अपभ्रष्ट रूप है। यहीं समीप में पांच गुफाएं हैं जो उपष्ठानशालाओं के रूप में प्रयुक्त होती थीं। समनगन कनिष्क काल में हीनयानी केन्द्र रहा होगा। एक हजरसम गुफा है जो अरण्यवासी भिक्षुओं के लिए तैयार की गई थी।

काबुल से ही लगभग २५० कि.मी. दूर सुर्ख कोतल के पास भी अनेक बौद्ध स्तूप, मन्दिर, गुफाएं, शिलालेख मिले हैं। वे भी कनिष्क कालीन हैं। एक मन्दिर में कनिष्क की भी विशाल मूर्ति है। पास ही कुन्डज ग्राम है जहां ह्यूनशांग को कनिष्क कालीन अनेक बौद्ध विहार मिले थे।

इसी तरह बल्ख भी एक विशाल बौद्ध केन्द्र रहा है जहां कहा जाता है कि तपस्सु और भल्लिक तथागत बुद्ध का धर्म सन्देश लेकर पहुंचे थे। ये दोनों भाई मूलतः यहीं के थे। उन्होंने यहां महाविहार बनवाया थ जो राजगृह के रूप में प्रसिद्ध हो चुका था। यहां भी सर्वास्तिवादी कनिष्क का राज्य रहा है। उसने यहां भी अनेक विहार और मन्दिरों का निर्माण कराया था। यहां के नव विहार परियत्ति आगम या त्रिपिटक ज्ञान की अपेक्षा पटिपत्ति व्यावहारिक ज्ञान या ध्यान मार्ग के लिए अधिक प्रसिद्ध था। दोनों क्षेत्रों में इस विहार का योगदान है। १५०० कि.मी. में फैले इस विहार को अरब आक्रमणकारियों ने नष्ट कर दिया।

मध्य एशिया के दक्षिण-पूर्व में तिब्बत और चीन हैं जहां भारतीय विद्वान बौद्धधर्म के प्रचारक के रूप में गये। इन्हीं मार्गो से इन देशों में व्यापार हुआ करता था। बंगाल की खाडी से प्रशान्त महासागर तक के सामुद्रिक मार्ग का भी उपयोग व्यापार के लिए होता था। चीन ने इन्हीं मार्गो से खोतान आदि प्रदेशों में अपना प्रभुत्व स्थापित किया लगभग प्रथम शती में। इसी समय चीन में बौद्धधर्म पहुंचा हानवंश काल में। उस समय मिंग-ती के निमन्त्रण पर धर्मरत्न और काश्यप मातंग चीन पहुंचे ६० ई.पू. में और वहां उन्होंने श्वेताश्व विहार स्थापित किया जहां बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में हुआ। इस समय तक इन समूचे प्रदेशों में बौद्धधर्म फैल चुका था।

तिब्बत और चीन

तिब्बत में बौद्धधर्म सातवीं शती में विशेष लोकप्रिय हुआ। उस समय वहां का राजा स्रोङ्-ग्यचन-गम-पो था जिसने चीन और नेपाल के राजाओं की पुत्रियों से विवाह किया और स्वयं बौद्ध बन गया। बाद में यहां पद्मसंभव और शान्तरक्षित नालन्दा से पहुंचे और उन्होंने सम-ये-नामक स्थान पर महाविहार का निर्माण किया जो ज्ञान, धर्म और विद्या का केन्द्र बन गया। इसके बाद तो भारतीय बौद्ध विद्वान चीन और तिब्बत पहुंचते रहे। आचार्य दीपंकर अतीश भी ११ वीं शती में तिब्बत पहुंचे और बौद्धधर्म को संगठित किया। यहीं से बौद्धधर्म कोरिया गया चतुर्थ शती में और वहां से छठी शती में वह जापान में प्रविष्ट हुआ।

भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि से यहां हम दक्षिण-पूर्वी एशिया का भी उल्लेख कर सकते हैं। हम जानते हैं, अशोक ने दक्षिण में सिंहल श्रीलंका और पूर्व में सुवर्णभूमि में अपने बौद्ध प्रचारक भेजे थे। उनके प्रभाव से बाद में समीपवर्ती छोटे-बडे द्वीपों में भी बौद्धधर्म ने अपनी लोकप्रियता पा ली। शुंग-सातवाहन और गुप्त काल तक यहां

भारतीय उपनिवेशों की स्थापना हो गई। वर्मा, मलेशिया, इण्डोनीसिया, कम्बोडिया, लाओस, सियाम और वियतनाम ऐसे ही राज्य थे जहां भारतीय राजाओं ने राज्य किया और चम्पा, अयोध्या जैसे नामों से वहां प्रदेशों की स्थापना की। इस प्रदेश को चीनी इतिहासकारों ने फूनान नाम दिया। यहां बौद्धधर्म के साथ ही शैव और वैष्णव प्रचारक भी पहुंचे। यही कारण है कि यहां पर बौद्धधर्म के साथ ही शैव, वैष्णव और जैनधर्मो ने भी अपने कलात्मक सांस्कृतिक क्षेत्र स्थापित किये।

ये सभी प्रदेश वृहत्तर भारत के अंग थे। ईरान और यवन प्रदेश भी भारतीय संस्कृति से अछूते नहीं रहे। रूसी तुर्किस्तान भी उससे प्रभावित हुआ। नेपाल, भूटान, और उस समय के सिक्किम में भी बौद्धधर्म का प्रचार हुआ। चीन ने भी इन प्रदेशों पर हस्तक्षेप करने का यथासंभव प्रयत्न किया। यहां हम मध्य एशिया की स्थिति पर भी विचार कर लें संक्षेप में।

मध्य पूर्व दक्षिण एशिया

मध्य एशिया का सम्बन्ध प्राचीन काल से ही भारत से रहा है। सिन्धु सभ्यता और सुमेरियन सभ्यता में सादृश्य दिखाई देता है जो समकालीन थीं। ईरान, ईराक, मिश्र और अफगानिस्तान से उसके घनिष्ठ सम्बन्धों का परिचय मिलता है। जातक कथाओं के आधार पर कहा जाये तो भारतीय व्यापारी पश्चिम में बावेरु (वैविलोन) के साथ व्यापार करते थे। ग्रीक दार्शनिक पाइथोगोरस और सुकरात पर भारतीय दर्शनों का प्रभाव रहा है। मैसिडोनिया के राजा सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया। चन्द्रगुप्त मौर्य और सैल्युकस के बीच अच्छे सम्बन्ध थे। सम्राट् अशोक ने सीरिया, ईजिप्ट, मैसिडोन और अलेक्जेण्डर के राज्यों में धर्ममहामात्राओं की नियुक्ति की थी। यवन राजाओं में मेनान्डर बौद्ध भिक्षुओं के सम्पर्क में रहा है, कुषाण शासक कनिष्क का सम्बन्ध रोम के सम्राटों से रहा है। यहां जैनधर्म का भी अस्तित्व था।

पालि साहित्य का कालखण्ड छठी शताब्दी ई.पू. से लेकर आधुनिक काल तक माना जा सकता है। यह एक ऐतिहासिक काल रहा है। इसमें मानव का इतिहास, भाषा, संस्कृति, कला, दर्शन सब कुछ समाहित हो जाता है। आधुनिक कालीन मराठी, हिन्दी, गुजराती, बंगला आदि भाषाओं की उत्पत्ति और विकास में पालि-प्राकृत-अपभ्रंश और संस्कृत जैसी प्राच्य भाषाओं का मूलाधार रहा है। तमिल और कन्नड जैसी दक्षिण भारतीय भाषाओं के विकास में भी उनका मूल्यांकन किया जा सकता है।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ, महावीर, गौतमबुद्ध, प्रसेनजित, बिम्बिसार, अजातशत्रु, अशोक, चन्द्रगुप्त, खारवेल आदि राजाओं ने जैन, बौद्ध और वैदिक संस्कृतियों का आचमन किया, षोडश जनपदों का विकास हुआ, आर्य क्षत्रिय और व्रात्य समुदाय का प्रभुत्व बढा, जाति बन्धन ढीला हुआ, दलित समुदाय का सामाजिक और राजनीतिक उत्थान हुआ, कृषि-प्रधान अर्थव्यवस्था का सूत्रपात हुआ, व्यापार का प्रकार और उसकी सीमा का फैलाव हुआ, भारतीय संस्कृति देश-देशान्तरों में पहुंची, आध्यात्मिक और दार्शनिक क्षेत्रों का पल्लवन हुआ, कला, साहित्य और संस्कृति का विकास हुआ, विदेशी आक्रमणों की मार सही और विदेशी शासक भारतीय संस्कृति की ओर आकर्षित हुए, प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग का सुन्दर समन्वय हुआ, श्रमण और ब्राह्मण संस्कृति और साहित्य का जबरदस्त पल्लवन हुआ। ये सारे तत्त्व पालि साहित्य की पृष्ठभूमि में रहे हैं। उनका प्रतिबिम्बन पालि साहित्य में हुआ है। आयुर्वेद, गणित, ज्योतिष, रसायन आदि विधाएं भी इस क्षेत्र में पल्लवित हुई हैं।

पालि त्रिपिटक में प्रतिबिम्बित सांस्कृतिक परम्परा

वस्तुतः पालि त्रिपिटक सांस्कृतिक परम्पराओं का भण्डार है। उसमें लगभग एक हजार वर्षों का इतिहास और सांस्कृतिक परम्परा प्रतिबिम्बित हो रही है। यह परम्परा मात्र बौद्ध संस्कृति की ही नहीं, जैन, वैदिक और अन्य परम्पराओं का भी वहां उल्लेख हुआ है। उन उल्लेखों को यदि एकत्रित किया जाये तो दसों शोध प्रबन्ध लिखे जा सकते हैं। यहां हम मात्र उसकी ओर पाठक का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं कतिपय बिन्दुओं का निदर्शनकर।

पालि साहित्य महामानव गौतमबुद्ध के आध्यात्मिक विचारों का निदर्शन है जिसमें सांसारिक दुःखों से संतप्त व्यक्ति के उत्थान के लिए कल्याणकारी मार्ग का प्रस्तुतीकरण हुआ है। यहां वर्ग संघर्ष भी दिखाई देता है और वर्ग-विहीन सामाजिक संरचना का सूत्रपात भी मिलता है। दक्षिण और दक्षिण पूर्व एशियाई देशों में थेरवादी बौद्धधर्म फैला। श्रीलंका, वर्मा, थाईलेण्ड, कम्बोडिया, लाओस से चलता हुआ चीन, जापान, तिब्बत, मंगोलिया, कोरिया आदि समूचे विश्व में फैलकर उसने भारतीय संस्कृति की ध्वज-पताका फैलायी। इस लम्बे भौगोलिक खण्ड की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्पराओं का आलेखन पालि साहित्य में हुआ है।

सामाजिक व्यवस्था

पालि त्रिपिटक काल में सामाजिक व्यवस्था साधारण तौर पर जातिवाद पर

आधारित थी। उस समय की चार जातियों का उल्लेख आता है - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इतना अन्तर अवश्य है कि इस क्रम में क्षत्रिय वर्ण को प्रथम स्थान दिया गया है और क्षत्रिय तथा ब्राह्मण वर्ण को उत्कृष्ट जाति का माना गया है। मध्यदेश में इस व्यवस्था का प्रचार अधिक था। अन्यत्र आर्य और दास इन दो श्रेणियों में समाज विभाजित था (म.नि.)।

ब्राह्मण स्वयं को पारम्परिक रूप से सर्वश्रेष्ठ मानता था और ब्रह्मजा कहता था। पारम्परिक ब्राह्मण को त्रिवेदपारंगत, मन्त्रधर, स्वाध्यायी आदि गुणों से विभूषित होना चाहिए। अग्निपूजा उसका नियमितकर्म था। वे परस्पर सम्मान करते थे पर अहंकारवश ब्राह्मणेतर को सम्मान नहीं देते थे। लोहिच्च ब्राह्मण ने गौतमबुद्ध को निमन्त्रित करने के लिए नाई को भेजा। कूटदन्त और चंकि ने भी इसी की पुनरावृत्ति की थी। पोक्खसाति ने भी अपने शिष्य अंबट्ठ को तथागत के पास भेजा था, स्वयं नहीं गया था (दी. १, पृ. ८७)।

तथागत ने ब्राह्मण सम्प्रदाय की इस विचारधारा का खण्डन किया और कहा कि वे भी सभी के समान उत्पन्न होते हैं फिर उन्हें श्रेष्ठ क्यों माना जाये ? श्रेष्ठ होने का मानदण्ड तो वस्तुतः सदाचार है, जन्म नहीं। धम्मपद के ब्राह्मणग्ग में इस मानदण्ड की सुन्दर चर्चा मिलती है। तथागत की दृष्टि में सभी ब्राह्मण सदाचरण से पतित नहीं थे। उनमें कुछ तो ब्रह्मसम, देवसम और मर्यादा पालक भी थे, गौहत्या भी नहीं करते थे। पर कुछ ऐसे भी थे जो दान न मिलने पर अभिशाप दिया करते थे। धीरे-धीरे इक्ष्वाकु (ओक्काक) को प्रभावित कर उन्होंने संपत्ति एकत्रित की, यज्ञ किये, गौहत्या प्रारम्भ की, महिलावर्ग को समीप रखा (सुत्तनिपात, ८४-३१५)। अम्बट्ठसुत्त (दी.नि. ९९) में भी इसी प्रकार के उनके असदाचरण पर आक्षेप किया गया है। गौतम बुद्ध ने आगे यह भी कहा है कि ब्राह्मण वर्ग पहले सदाचारी था पर बाद में वह ब्रह्मचर्य से पतित हो गया, उसने अब्राह्मणियों से सम्बन्ध स्थापित किया और संसारासक्त हो गया। राजगृह के धानंजानि ब्राह्मण का भी उदाहरण उनके सामने था। महाकच्चान ने भी इसी तथ्य को पुष्ट किया (सं. नि. ११७-८)। वे ओवादी थे, वसलवादी थे, हुहुंकजातिक थे।

पालि साहित्य में अनेक स्थानों पर ब्राह्मण वर्ग की प्रशंसा भी की गई। गौतम बुद्ध ने धम्मपद(३८३-४२३) में उनके आदर्शमयी जीवन का समुचित उल्लेख किया है और कहा है कि वे राग-द्वेष-मानादि से मुक्त थे, आध्यात्मिक और ध्यानी थे। इस तरह की विशेषताओं का उल्लेखकर तथागत बुद्ध ने ब्राह्मणवर्ग की जन्मगत श्रेष्ठता का खण्डनकर उनके कर्मगत सदाचरण की प्रशंसा की है। उन्होंने सामाजिक क्षेत्र में क्षत्रियों

की और आध्यात्मिक क्षेत्र में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता की ओर भी संकेत किया है। राजनीतिक और आर्थिक कारणों से उन्होंने क्षत्रियों को श्रेष्ठ कहा है। किंकरों को उस समय दास, कम्मकर, पुरिस, पेस्स (दूत), भटक, आहटक, दासी, कम्मकर, दासीपुत्र आदि नामों से पुकारा जाता था।

वर्ण व्यवस्था

समाज में चारों वर्णो के उत्तरदायित्व और कर्तव्यों का भी उल्लेख पालि साहित्य में मिलता है। सभी वर्णो की सभा होती थी। वाणिज्य में उदारता थी। पसेनदि की सेना में अक्षत्रिय भी थे। कारणपालि ब्राह्मण मिस्त्री का कार्य करता था। कसिभारद्वाजसुत्त में वासेट्ठ और भारद्वाज के बीच हुए संवाद से यह स्पष्ट है कि समाज का हर वर्ग अपने पारम्परिक व्यापार से हटकर व्यापार करने लगा था। इसलिए कहीं-कहीं ब्राह्मण को चाण्डाल ब्राह्मण भी कहा गया है। पृथक् ब्राह्मणग्राम का भी उल्लेख आता है। इसलिए तथागत की यह स्थापना थी कि जन्म से कोई भी श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता। उसके कर्म ही उसकी श्रेष्ठता को स्थापित करते हैं। मातंग सोपाक चण्डाल के पास क्षत्रिय भी जाते थे। कहा जाता है, मरकर वह देवयान में उत्पन्न हुआ।

पालि साहित्य से यह ज्ञात होता है कि बुद्ध ने 'ब्राह्मण जन्मतः श्रेष्ठ है' इस सिद्धान्त का पूरी शक्ति से विरोध किया और वे उसमें सफल भी रहे। उनके समय क्षत्रिय वर्ण का प्राधान्य भी स्थापित हो गया। बुद्ध के परिनिर्वाण पर उनकी धातुएं अजातशत्रु, लिच्छवी, अल्लकप्प, कोलिय आदि क्षत्रिय जातियों में तो विभाजित हुईं पर उनकी अस्थियां ब्राह्मणों, वैश्यों और शूद्रों को नहीं मिल सकीं।

ब्राह्मण गोत्रों में भारद्वाज, काश्यप, वात्स्यायन, कुशिक, कण्डरायन आदि का उल्लेख है और क्षत्रिय गोत्रों में कोण्डज, इक्ष्वाकु, शाक्य आदि गोत्र प्रसिद्ध थे। बुद्ध के संघ में प्रायः इन सभी गोत्रों के उपासक और भिक्षु संमिलित थे। सारिपुत्त, मोग्गल्लान, कात्त्वान ब्राह्मण ही थे। आनन्द, राहुल, अनुरुद्ध भी उच्चवर्णी थे, यश वणिक्वर्ग से था, अनाथपिण्डक भी। शूद्रवर्ण भी उनके संघ में दीक्षित था। शूद्रों में चण्डाल, वेण, नेसाद, रथकार, पुक्कुस आदि वर्ग संमिलित थे।

समाज में वर्ग और वर्ण विभाजन था, निम्न और उच्च वर्ग था। गृहपति की स्थिति अच्छी मानी जाती थी। दान, आतिथ्य सत्कार, माता-पिता की सेवा, ब्रह्मचर्यव्रत आदि प्रचलित था। दायिज्ज के कारण पुत्र का होना आवश्यक माना जाता था। बहुपुत्तक चेतिय माता-पिता का सम्मान ब्रह्मा के समान था। माता-पिता की सेवा-सुश्रुषा न करने वाला वसल कहा जाता था।

नारी की स्थिति

नारी की स्थिति सामान्यतः अच्छी थी पर साधु को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था।

किंकर प्रथा थी। पुत्री का होना दुर्भाग्यपूर्ण माना जाता था। मल्लिका को पुत्री होने पर प्रसेनजित ने अप्रसन्नता व्यक्त की। बुद्ध की दृष्टि में नारी अविश्वसनीय, कामुक, आत्मविश्वासहीन, ईर्ष्यालु, क्रोधी, चरित्रहीन, दुष्प्रज्ञाशील थी (अं. नि. ८२-३)। उसे राक्षस, मगरमच्छ जैसा माना गया। वहां कहा गया कि पिशाच, सर्प, कृपाणवान् आदि के पास तो बैठा जा सकता है पर नारी से एकान्त में बात नहीं की जा सकती। वह अपनी सुन्दरता से आकर्षित कर पुरुष को पथविचलित कर देती है। इसलिए उसे कांटा कहा गया (अं.नि. ३,६८-६९)। वह कभी बुद्ध, सक्क ब्रह्मा नहीं बन सकती (अं.नि. १,२८,११२, म.नि.३, ६५-६६)। गोपिका ने प्रयत्न किया, वह स्वर्ग गई और फिर गोपक के रूप में जन्म ग्रहण किया (दी. नि. २७१-३)। नारी को पांच प्रकार के दुःख सहन करने पडते हैं - १) माता-पिता का घर छोडना पडता, २) मासिकधर्म सहन करना पडता, ३) गर्भ में नौ माह सन्तान को रखना पडता, ४) उसे जन्म देना पडता, और ५) पति पर निर्भर रहना पडता। बहिन को भी पूरा सम्मान नहीं मिलता। संघ में भी नारी को निम्नतम स्थान दिया गया था। शिक्षा के क्षेत्र में यद्यपि सुक्का, खेमा, पटाचारा आदि नारियों का उल्लेख आता है पर कुल मिलाकर उनकी स्थिति अच्छी नहीं थी।

धार्मिक स्थिति

भारत प्रारम्भ काल से ही विविध धर्मों का देश रहा है। उनमें वैदिक और जैनधर्म प्राचीनतम कहे जा सकते हैं। ऋग्वेद में दोनों परम्पराएं समान रूप से प्रचलित दिखाई देती हैं। वहां चार्वाक् दर्शन भी प्रतिबिम्बित हो रहा है। "**समण-ब्राह्मण**" या ब्राह्मण-समण का उल्लेख जैन-बौद्ध साहित्य में बहुत आता है। पालि साहित्य में ब्राह्मण को वेदत्रय (ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद) का अध्येता माना गया है। उसे सम्यक् चारित्र सम्पन्न भी कहा गया है। अट्ठक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमतग्गि, अंगिरस, भारद्वाज, वासेट्ठ, कश्यप, भ्रगु आदि वैदिक ऋषियों का ससम्मान्य उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद का भी उल्लेख हुआ है मन्त्र परम्परा के सन्दर्भ में। उपर्युक्त वैदिक ऋषियों को अतीत जन्मस्मरण, कर्मज्ञान और दुःखज्ञान, इन तीन ज्ञानों का धारक कहा गया है। चारित्र के आधार पर ब्राह्मण की पांच श्रेणियां थीं - १) ब्रह्मसम, २) देवसम, ३) मर्यादावान्, ४) मर्यादालंघक, ५) चाण्डालसम। महाकच्चान ने ब्राह्मणों की मर्यादाहीनता का वर्णन किया है। वहीं धनंजय ब्राह्मण को उत्तमकोटि का माना है।

पालि साहित्य ने लोकायत को ब्राह्मण दर्शन की परिधि में संयोजित किया है। बुद्धघोष ने उसकी चार श्रेणियों का उल्लेख किया है - १) सब्बमत्थि, २) सब्बं नत्थि, ३) सब्बमेकत्तं, ४) सब्बं पथुत्तं। उन्हें लोकायतिक ब्राह्मण भी कहा गया है (अं.नि. ४,४२८)। यह ब्राह्मण वर्ग तिरच्छान- विद्या -विशारद था, अध्येता, त्यागी और

पुण्यात्मा था, मन्तानं पवत्तारो था, सत्यवादी था, पर कुछ ब्राह्मण भ्रमित भी थे। कतिपय ब्राह्मण-श्रमणों ने निर्वाण भी प्राप्त किया। वे अर्हत् समान थे। बुद्ध ने स्वयं को भी ब्राह्मण और श्रमण कहा, तेविज्ज भी माना। ब्राह्मणवर्ग ब्रह्मा को सृष्टिकर्ता मानता था (कत्ता, निम्माता) और अभिभू भी। मूगयक्ख, सुनेत्र आदि अनेक ब्राह्मण आचार्य थे। गौतम ने स्वयं को **'ब्रह्मभूता'** कहा और एक अन्य को **'ब्रह्मभूतेन अत्तना विहरति'** माना। षट्तीर्थंकरों द्वारा मान्य क्रियावाद, अक्रियावाद, अधिच्चसमुप्पन्नवाद, चातुर्यामिसंवर आदि के विषय में भी यत्र-तत्र वर्णन मिलता है। मोक्ष और लोक का विषय भी ग्रहीत हुआ है। दीघनिकाय के ब्रह्मजाल सुत्त में बासठ प्रकार की मिथ्यादृष्टियों का विस्तृत वर्णन मिलता है।

जीवन का अन्तिम उद्देश्य था अमृतपद, निर्वाण या ओघनिस्तरण करना। इसके चार मार्ग थे - १) मन्त्रोच्चारण प्रार्थना, २) यज्ञ, ३) मुनिव्रत, और ४) विद्या-समाधि। इनके प्रमुख आचार्य क्रमशः थे - सुनेत्त, मुखयज्ञ, अरणेमि और कुद्दालय। अरणेमि जैन परम्परा के नेमिनाथ तीर्थंकर होना चाहिए। वावरी का उल्लेख ५०० मन्त्रवेत्ता के रूप में हुआ है। सावित्ति नामक एक ब्राह्मण बुद्ध के पास गया और कहा कि वह मन्त्र साधना कर रहा है पर वह निष्फल हो रही है। उन्होंने उत्तर दिया कि साधना की सफलता के लिए इन्द्रियसंयमी होना आवश्यक है। मुघपक्ख, सहव्ययताय, अरणेमि, कुद्दालक, हत्थिपाल, जोतिपाल, अरक ये सात ऋषि थे जो ब्रह्म या आत्मवादी थे (अं ४,१३६-७)। ये ऋषि न रात्रि भोजन करते थे और न भोजनकाल का अतिक्रमण करते थे। सुत्तनिपात (गाथा, १०२०) में इन्हें 'तपस्सिन्' कहा गया है। ये उल्लेख जैन परम्परा से सम्बद्ध होना चाहिए। कापत्थिक ब्राह्मण ऋषि वेदज्ञ था पर उसे गौतम बुद्ध ने अविवेकी कहा। सामान्य ऋषियों में इसिदास, इसिदिन्न, इसिमत्त और इसिदासी का उल्लेख आया है।

चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, अगिन, दिशा की भी पूजा की जाती थी। कुछ ब्राह्मण उदयगोमिनी पथ के पथिक थे जो गमनकाल में आये गर्त में गिरने को अपना सौभाग्य मानते थे। मूर्ति पूजा भी लोकप्रिय थी। स्तूप पूजा और चैत्यपूजा भी होती थी। मज्झिमनिकाय में तीन प्रकार के चैत्यों का उल्लेख आता है - आराम चैत्य, वनचैत्य और वृक्षचैत्य। राजगृह में मणिमालक चैत्य था जो मणिभद्रयक्ष का होना चाहिए। लट्ठिवन में सुपतिट्ठ चैत्य, और नालन्दा के पास बहुपुत्तक चैत्य था। वैशाली में अनेक चैत्य थे - चापाल, उदेन, गोतमक, आम्र, ब्रह्मपुत्तक, सारंदक आदि। कुसीनारा, पावा और पांचाल के चैत्यों का भी उल्लेख आता है। बाद में ये चैत्य भिक्षु निवास के रूप में परिवर्तित हो गये। बुद्ध ने चैत्यवन्दन के लिए वज्जियों की प्रशंसा की। चैत्यवृक्षों पर भोजनादि चढ़ाने की भी प्रथा थी। उनका काटना दुक्कर माना जाता था (विनयपिटक, ४, १२५)। वे पथिकों के लिए आश्रयदाता थे। कदाचित् इसीलिए उन पर रहने वाले देवताओं को बलिपटिग्गाहिक देवता कहा जाता था।

बुद्धकाल में यज्ञप्रथा भी बहुत प्रचलित थी। कतिपय ब्राह्मण यह मानते थे कि यज्ञ से शुद्धि होती है। दूध डालकर भी अग्नि की पूजा की जाती थी। दीघनिकाय (३.२१७) में तीन प्रकार की अग्नियों का उल्लेख है - आहुनेयग्गि, गहपतग्गी और दक्खिणेयग्गि। तथागत बुद्ध ने इन अग्नियों का विश्लेषण अपने ढंग से किया। उनके अनुसार आहुनेयग्गि का सम्बन्ध माता-पिता के प्रति सम्मान व्यक्त करने से है। गहपतग्गि का उपयोग पुत्र, दास, दूत आदि किया करते थे। और दाक्खिणेयग्गि का सम्बन्ध श्रमण-ब्राह्मणों से था। अग्नि होम घृत आदि के भेद से अनेक प्रकार का था। पंचबलि दी जाती थी - ञातिं, अतिथि, देवता, राजा और पेत। बुद्ध ने यज्ञ का विश्लेषण कर कहा कि उसे पापों को भस्म करने वाला माना जाना चाहिए। उन्होंने हिंसक यज्ञों का सदैव निषेध किया। घी, तेल, दूध, इक्षुरस आदि को अग्नि में जलाना निरर्थक है। उन्हें यदि सत्पात्रों में वितरित किया जाये तो अधिक पुण्यवर्धक कहा जा सकता है।

पालि साहित्य में अनेक प्रकार के मुनिसंघ का भी वर्णन मिलता है। समण-ब्राह्मण, परिव्राजक, निगण्ठ नातपुत्त, जटिल, आजीविक आदि के संघों की तपस्या का उल्लेख हुआ है। निगण्ठों को कठोर तपस्वी कहा गया है। पूरण कस्सप, मक्खलिगोसाल, अजित केसकम्बलि, संजय बेलट्ठिपुत्त आदि तीर्थंकरों और तपस्वियों के मतों की भी चर्चा हुई है। इनमें सर्वाधिक विस्तार निग्गण्ठ नातपुत्त के विचारों की प्रस्तुति को दिया गया है। तथागत बुद्ध ने भी उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ की परम्परा में दीक्षित होकर साधना की थी। पार्श्वनाथ और महावीर के सिद्धान्तों का प्रभाव भी बौद्धधर्म पर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

भिक्खु संघ में सम्मिलित होने के लिए बिम्बिसार ने अपराधियों और ऋणियों को भी अनुमति दे दी थी। अजातशत्रु ने दासों को भी यह सुविधा प्रदान की थी। भिक्खुसंघ के प्रति जनता का सम्मान भी बहुत था। अतिथि सत्कार में भी लोग निपुण थे। अनाथपिण्डिक जब सावत्थि से राजगृह गया तो आगन्तुक होने के कारण बिम्बिसार ने भी उसका सत्कार किया। अतिथि के लिए 'पाहुन' शब्द का प्रयोग होता था। भिक्षु संघ के लिए आहुनेय्य, पाहुनेय्य, दक्खिणेय्य, अंजलि करणीय माना जाता था। यज्ञ में वृद्ध महिला को विशेष रूप से आमंत्रित किया जाता था।

अनेक प्रकार के अन्धविश्वास उस समय जनता के बीच प्रचलित थे। ज्योतिष विषय बडा लोकप्रिय था। दोहद को पूरा करने का प्रयत्न किया जाता था। वर्षा के लिए तरह-तरह के विश्वास जन्म ले चुके थे। राहु की पूजा से वर्षा हो सकती है यह विश्वास लोगों के मन में था विभिन्न तरह के चमत्कार समाज में प्रचलित थे। सिविविज्ञा, भूरिविज्ञा, भूरिकम्म, अब्भुजलन ऐसे ही विश्वास थे। एक भिक्षु को सर्प ने काटा तो बुद्ध ने कहा कि वह भिक्षु सर्पो से मैत्री भाव नहीं रखता होगा इसलिए सर्प ने उसे काटा। मैत्री भाव प्राणियों का रक्षक होता है।

लोक-परलोक (स्वर्ग एवं नरक)

लोक-परलोक का सम्बन्ध जन्म-मृत्यु से है। जीव कर्मों के कारण विभिन्न गतियों में भ्रमण करता रहता है। प्राय: सभी धर्मों ने इस तथ्य को किसी न किसी रूप में स्वीकारा है। बौद्धधर्म में लोक-परलोक को पांच प्रकारों में विभाजित किया गया है - असुर या स्वर्ग, प्रेत, नरक, मनुष्य और तिर्यंच। इनमें मनुष्य को छोडकर चार अपायभूमि हैं। कामसुगतभूमि सात हैं - मनुष्य, चातुर्महाराजिक, त्रायश्त्रिंश, याम, तुषित, निर्माणरति एवं परनिर्मित वशवर्ति। इन लोकधातुओं में सूर्य-चन्द्र पृथक्-पृथक् हैं। बौद्धधर्म में चार द्वीप माने गये हैं - जम्बूद्वीप, उत्तरकुरु, पूर्वविदेह, और अपरगोयान। उनके चार राजा, चार समुद्र, चार स्वर्ग हैं। उनमें जम्बूद्वीप वास्तविक द्वीप है, शेष अदृश्य और पौराणिक अधिक दिखाई देते हैं।

उत्तरकुरु में मनुष्य और यक्ष रहते हैं। वहां का प्राकृतिक वातावरण मनोरम है। कृषि अनायास होती है। चावल से तुन्दकीर बनाई जाती है। बैल का उपयोग सवारी के लिए किया जाता है। आटानाटा, कुसिनाटा, परकुसिनाटा आदि नगरों का उल्लेख मिलता है। अमरावती, अलकनन्दा आदि नगर उनकी राजधानियां हैं। कुबेर या वस्सवण उनका राजा है। वहां लालच (मम), परिग्रह नहीं रहता, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन होता है। धारणी नामक झील है। भगवती शाला नामक सभागार है जहां यक्ष अपनी सभाएं करते हैं। वहां का जीवन सुखी है। अकाल पडने पर भिक्षु वहीं भिक्षार्थ जाया करते थे। बुद्ध भी गये थे। दीघनिकाय की अट्ठकथा में कहा गया है कि जम्बूद्वीप में जब दोपहर होता है, उत्तरकुरु में उस समय अर्धरात्रि रहती है।

सत्त्व अपने कर्मानुसार स्वर्ग-नरक जाते हैं। स्वर्ग की भी उच्च और निम्न श्रेणियां होती हैं। नाग, गरुड, यक्ष, गन्धर्व ये अर्धदेवता हैं। उनमें चातुर्महाराजिक, ब्रह्मकायिक आदि महाराजा हैं, आभा, अप्पमानाभा, आभासर परित्तसुभा आदि देव हैं। उच्च कोटि के भूमिक देव हैं। धर्मचक्र प्रवर्तन के समय वे नवीन नगरों का निर्माण करते हैं। आराम, रुक्ख, जल, वृक्ष आदि में देवताओं का वास होता है। भिक्षु ने अपने निवास के लिए ककुध वृक्ष को काटना चाहा तो देवने उसे आगाह किया। चित्त गहपति की मृत्यु के समय वे सभी देव आये। ये अरण्यदेव भिक्षुओं की सहायता करते और उन्हें शिक्षा देते हैं।

चतुर्महाराजिक देव निम्नकोटि के माने जाते हैं। उनमें यक्ष मनुष्यों को हानि पहुंचाते हैं। वे विविध आकार के होते हैं। उन्होंने सारथी का जल गिरा दिया, सारिपुत्त और बुद्ध को भी कष्ट दिया। यक्षिणियां भी उनमें होती हैं। पिशाचयोनि का उल्लेख आता है। ये देव जब कभी बुद्ध की सेवा करते दिखाई देते हैं पर अधिकांश देव बौद्धधर्म का

पालन नहीं करते क्योंकि वे संयमी नहीं होते। वेस्सवण, महायक्ख सहायक बनते हैं। भिक्षु-भिक्षुणियों से उनका सम्बन्ध रहता है। पालि साहित्य में इन यक्ष यक्षिणियों की एक लम्बी सूची दी हुई है। किन्नर, किंपुरुष भी उनमें परिगणित हैं।

गन्धर्व निम्नकोटि के देव माने जाते हैं क्योंकि वे निम्नशीलव्रत का पालन करते हैं। उनमें संगीतज्ञ, नृत्य विशेषज्ञ भी होते हैं सुरियवचसा का प्रेम सम्बन्ध पंचशिख से हुआ। भिक्षु-भिक्षुणियों का शारीरिक सम्बन्ध अमानुषी देवी-देवताओं से रहता था। पातिमोक्ख में ऐसे सम्बन्धों की कटु आलोचना की गई है। नाग और सुपण्ण भी निम्नकोटि के देव माने गये हैं। सर्पो और गरुणों का उल्लेख बहुत हुआ है। ये आकाशगामी थे। नागराज मुचलिन्द ने गौतम बुद्ध की रक्षा की। अन्य नागों ने मानव का रूप धारणकर बुद्ध संघ में प्रवेश किया। गरुड पक्षी नागों को उठा ले जाते। वे अलग-अलग दिशाओं में रहते हैं। उनसे बचने के लिए आटानाटीय सुत्त की रचना हुई। यक्षराज वेस्सवण उसकी पुनरावृत्ति करते। इससे बुद्ध संघ की रक्षा होती।

चातुर्महाराजिक देव नागों आदि से रक्षा करते हैं। पालि साहित्य में ३३ प्रकार के इन्द्रों का उल्लेख है। ये अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा को बौद्धों की धार्मिकता का दर्शन करने आते और प्रसन्नता पूर्वक संघ को आहार देते। सम्बोधि प्राप्ति के बाद उक्कल ने बुद्ध को आहार देना चाहा। चातुर्महाराजिक देव ने बुद्ध को शैलज भिक्षापात्र दिया और चारों दिशाओं की सज्ञा की। ये देव कुशलकर्मी होते हैं पर उनमें कुछ देव खिड्डापदोसिक और मनोपदोसिक भी होते हैं।

तावतिंसदेवों की संख्या भी ३३ मानी गई है - आठ वसु, ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य तथा इन्द्र और प्रजापति। शक्र उनका राजा है। शीलव्रती बौद्ध उनमें जन्म ग्रहण करते हैं। उपोसथ के दिन ये देव नृत्यादि करते हैं। ब्रह्म उनमें प्रमुख रहता है। गोपिका बौद्धव्रती थी। उसने देवपुत्त के रूप में जन्मग्रहण किया। महामोग्गल्लान भी यहां शिक्षा देने पहुंचे थे। उपोसथ के दिन गन्धर्व भी नृत्य करते हैं। वे अदृश्य रूप में रहते हैं। ब्रह्मा वहां आकर उपदेश देते हैं। उन देवों का एक नन्दन वन होता है। अलकमन्दा नामक उनकी राजधानी है। देवकन्याएं वहां नृत्य करती हैं। यक्षों को जीतकर वहां एक वैजयन्त नामक प्रासाद निर्मित है, कूटागार है, वहां परिचारिकाएं हैं, पारिछद्दक वृक्ष हैं। इनके नीचे पाण्डुकवनशिला है जहां बुद्ध पहुंचकर उपदेश देते हैं। वहां मन्दाख पुष्प प्रफुल्लित रहते हैं। विश्वकर्मन शक्र के लिए दिव्ययान का निर्माण करता है। यहां देवों की आयु चार करोड वर्ष मानी गई है। सद्धम्मपालन का फल होता है शक्र के रूप में जन्मग्रहण करना। मघवा, पुरन्दर, इन्द्र, आदि नाम शक्र के ही हैं। दान देने से शक्र जन्म मिलता है। मातलि इन्द्र का सारथी था। एरावण (ऐरावत) उसका हाथी था। उसी को महानाग भी

कहा जाता था। शक्र बुद्ध के पास जाकर उपदेश भी सुनता है। वह अन्य तीर्थंकरों के पास भी जाता है। असुर यक्ष से वह पराजित भी हुआ। देवों के अधिकार में स्वर्ग का उत्तर भाग था और असुरों के अधिकार में दक्षिण भाग था।

तीन-चार बार देवासुर संग्राम हुआ। असुरों से देव हारे पर बाद में देवों से असुर पराजित हुए। पर दिव्य ओज दोनों में बना रहा। दोनों में एक बार विवाद हुआ। असुरों ने संघर्ष की बात कही और शक्र ने यह संघर्ष शान्ति के साथ निपटाना चाहा। शक्र अपने प्रयत्न में सफल हुआ। सुवीर और सुसीम भी असुरों से भयवीत थे। वेपचित्ति शक्र से हारा पर शक्र ने उसे क्षमादान दिया। वेपचित्ति और शक्र परस्पर मिलते भी रहे। दोनों ऋषियों के पास भी जाते रहे पर वेपचित्ति कृपाण, जूते आदि धारणकर जाता था और शक्र विनम्रता के साथ। वेपचित्ति के बीमार होने पर शक्र उसे देखने भी गया। शक्र से उसने स्वस्थ करने की भी प्रार्थना की। शक्र ने इसके लिए शर्त रखी कि उसे संवरी माया से चमत्कार विद्या सिखानी होगी। वेपचित्ति ने कहा यह विद्या नरक में ले जाने वाली है। वस्तुतः इन्द्र बुद्ध का प्रशंसक था, अनुयायी था, करुणाशील और अप्रमादी था। महामोग्गल्लान ने उसे बुद्ध की शरण में जाने का सुझाव दिया (सं.नि. १.२२२-२४; ई. २७०-१)। यहां असुर जैन परम्परा का प्रतीक है और शक्र वैदिक परम्परा का प्रतिनिधित्व करता दिखाई देता है।

यम मृत्युराज था। यम और तुषित भूमि कामसुगत भूमियां हैं। बुद्ध तुषित भूमि से ही अवतरित हुए थे। बोधिसत्त्व यहीं जन्म लेते। ब्रह्मलोक का सम्बन्ध रूपावचर भूमियों से है। ब्रह्मलोक तीन प्रकार का है - ब्रह्मपारिसज्ज, ब्रह्म पुरोहित और महाब्रह्म। ब्रह्म सहम्पति ने बुद्ध को धर्मचक्र के लिए प्रेरित किया। श्रद्धा, दान, दया, समाधि जैसे गुणों का धारी होने के कारण वह ब्रह्मसहम्पति बना। उसके मन में बुद्ध के प्रति अपार सम्मान था बुद्ध स्वयं उसे संबोधित करने गये। कहा गया है कि बौद्ध भिक्षु महाब्रह्मा से भी उच्चश्रेणि के थे।

पालि साहित्य में अपाय भूमियों का भी वर्णन मिलता है। इनमें प्रेत भूमि का वर्णन पेतवत्थु में आया है। यह प्रेत योनि दुष्कर्मो का फल है। ये भूत, पिशाच अदृश्य होते हैं और दूसरों को दुःख पहुंचाते हैं। नरकों का भी वर्णन यहां मिलता है। अर्हत् तथा माता-पिता की सेवा न करना, संघ में फूट डालना भी अपाय भूमियों में जन्म लेने का कारण बनता हैं।

मार की अवधारणा भी यहां उल्लेखनीय है। उसका सम्बन्ध मृत्यु से है। पंचस्कन्धों को मार कहा गया है (सं.नि. ३,१८९)। शरीर, इन्द्रियां आदि दुःख के कारण हैं, अनित्य हैं। मार वस्तुतः इच्छाओं का प्रतीक है। इसलिए उसे सर्वव्यापक माना है। गौतम बुद्ध पर भी उसने अनेक प्रकार से आक्रमण किया । भिक्षुओं को भी निर्वाण प्राप्ति के लिए हतोत्साहित करता रहा। सभी की साधना में वह विघ्न पैदा करता रहा। वह वस्तुतः किसी व्यक्ति विशेष का प्रतीक नहीं है, वह प्रतीक है आसक्ति,

तृष्णा, लोभ-लालच का। इन्हीं विभावों के साथ मारसेना का निर्माण होता है और मार इसी मारसेना के माध्यम से साधक के भावों पर आक्रमण करता है।

भौगोलिक विवरण

बौद्धधर्म का भौगोलिक विवरण अपेक्षाकृत कम काल्पनिक है। इसलिए वह वैदिक और जैनधर्म से उत्तरकालीन है। यहां जम्बूद्वीप का प्रयोग भारत के लिए हुआ है। इसमें जन्म ग्रहण करना सौभाग्य का प्रतीक है। उत्तरकुरु, पुब्बविदेह और अपरगोयान के साथ कल्पनात्मक सम्बन्ध अधिक है।

जम्बूद्वीप सकटमुख जैसे आकार का है जो आधुनिक भारत के आकार से मिलता जुलता है (दी.नि. २३५)। पालि साहित्य में इसके तीन भागों का वर्णन मिलता है- मज्झिमदेस, उत्तरापथ और दक्षिणापथ। मज्झिमदेस की सीमा पूर्व में कजंगल और महासाला से लेकर प्रत्यान्त जनपद तक, दक्षिण-पूर्व में सल्लावती नदी, दक्षिण में सेतकण्णिक, पश्चिम में ब्राह्मणग्राम थूण और उत्तर की ओर उसीरध्वज की पर्वत श्रेणियां हैं। कनिंघम ने कजंगल को सन्थाल बिहार के कंकजोल से पहचाना है जो चम्पा-भागलपुर का समीपवर्ती भाग है और सल्लवती नदी हजारीबाग की सरावती, सुवण्णा और सिलई नदी से सम्बद्ध है। सेतकण्णिक की पहचान सेतक, सेदक, देसक से की जा सकती है। थूण को गोरखपुर के समीपवर्ती भूभाग से पहचाना गया है। मध्यभूमि में कुरुक्षेत्र प्रदेश आता है और गंगा प्रदेश उसकी सीमा मानी जा सकती है।

उत्तरापथ और दक्षिणापथ का कोई विशेष उल्लेख पालि साहित्य में दिखाई नहीं देता। इतना प्रयोग उत्तर-पश्चिमवर्ती तथा विन्ध्याचल के दक्षिणवर्ती महापथों के आधार पर हुआ होगा। दक्षिणापथ में गोदावरी और अवन्ती प्रदेश सम्मिलित रहे होंगे। उत्तरापथ में कुरुक्षेत्र से लेकर गान्धार आदि प्रदेश अन्तर्भूत होंगे। अम्बट्ठ ब्राह्मण अवश्य दक्षिणापथ में प्रचलित वैदिक मन्त्रों का उल्लेख करता है।

सोलह महाजनपदों का वर्णन पालि साहित्य में निश्चित रूप से उपलब्ध होता है। कहीं दस (दी.नि. २,२०)। कहीं बारह (दी.नि. २,१,२०२) और कहीं सोलह (अं.नि. २१३) जनपदों की संख्या दी गई है। ये १६ जनपद इस प्रकार हैं - १) अंग (भागलपुर), २) मगध, ३) काशी-वाराणसी, ४) कोसल (मिथिला-अवध), ५) वज्जि (उत्तरी बिहार), ६) मल्ल (गोरखपुर), ७) चेदि (बुन्देलखण्ड), ८) वत्स (प्रयाग), ९) कुरु, १०) पंचाल (एटा-मेनपुरी), ११) मत्स्य (अलवर-जयपुर), १२) सूरसेन मथुरा, १३) अस्सक (गोदावरी), १४) अवन्ती (मालवा), १५) गन्धार (पेशावर), और १६) कम्बोज (कश्मीर आदि)। इस सूची में बंग का नाम अवश्य नहीं

है पर पालि साहित्य में उसका उल्लेख अनेक बार हुआ है। इन प्रदेशों की सीमा का विस्तार भी होता रहा है। इन जनपदों के अतिरिक्त सिन्धु, उत्कल, योन, बाहितिक, भोज आदि प्रदेशों का भी वर्णन मिलता है। इन सभी का वर्णन करना यहां संभव नहीं है। पर कतिपय विशेषताओं का उल्लेख कर देना आवश्यक है।

मगध सम्राट् बिम्बिसार, अजातशत्रु आदि राजाओं द्वारा शासित रहा है। राजगृह जैन-बौद्ध धर्म का मुख्य केन्द्र था। यहां पंच पहाडियां प्रसिद्ध रही हैं - इसिगिलि, वेभार, पण्डव, वेपुल्ल और गिज्झकूट। यहीं अनेक सुन्दर वन, उद्यान, गुहा, चैत्य आदि भी थे। वेणुवन, पिप्पलीवन, सीतवन, लट्ठिवन, जीवकम्बवन आदि यहीं थे। मणिमाल चैत्य, सत्तपण्णि गुहा, परिब्बाजकाराम, गया, अम्बलट्ठिक, अन्धकविन्द, पाटलिगाम आदि यहीं थे। फल्गु, नेरंजरा, गंगा आदि नदियां भी यहां बहती थीं।

कोसल प्रदेश की राजधानी श्रावस्ती थी। साहेब-माहेठ, गोण्ड प्रदेश भी यहीं थे। पुब्बाराम, रम्मकाराम, जेतवन, साधुक बिहार, राजकाराम, मल्लिकाराम, साकेत-अयोध्या, कालकाराम, अंजनवन, तोरणवत्थु, उक्कट्ठाग्राम आदि स्थान भी यहीं थे। कपिलवत्थु भी कदाचित् इसी प्रदेश में था। शाक्य, कोलियान, लुम्बिनी भी इसी में सम्मिलित थे। बुद्धकाल में काशी कोसल के पसेनदि से शासित थी। इसे केतुमती भी कहा गया है। यहीं इसिपत्तन (सारनाथ) में तथागत बुद्ध ने धर्मचक्रप्रवर्तन किया था।

वज्जि प्राचीन गणतन्त्र था। मगधराजा अजातशत्रु से उसके सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। उसमें आठ जातियां मुख्य रूप से रहती थीं - विदेह, लिच्छवि, ज्ञातृक, वज्जि, उग्र, भोग, ऐक्ष्वाक, और कौरव। वैशाली उस समय बडा समृद्ध नगर था। आम्रपालीवन, महावन, परिब्बाजकाराम, वालिकाराम आदि उद्यान, चापाल, उदेन गोतमक, सत्तम्ब, बहुपुत्तक, सारन्दद आदि चैत्य यहीं थे।

वैशाली के पास नादिका या नातिका नामक एक ग्राम था जो कोटिगाम मार्ग पर अवस्थित था। रिज डेविड्स ने नादिका नाम की एक जाति मानी है। बुद्धघोष ने कहा है कि नादिका एक नादिक नामक सरोवर के किनारे रहने वाली जाति थी (सं.नि. २,५६)। अधिक संभव यही है कि यह ज्ञातृक नामक जाति थीं जो तीर्थंकर महावीर से सम्बद्ध थी। राहुल सांकृत्यायन ने इसे मुजफ्फरपुर में रहने वाली एक रत्ति नामक जाति से समीकरण बैठाया है। इसी नादिक सरोवर से अभी महावीर की एक प्राचीन प्रतिमा प्राप्त हुई है। मिथिला, जनकपुरी आदि नगर भी इसी जनपद के थे।

मल्ल जनपद कुसीनारा और पावा में विभाजित था। भ. बुद्ध वैशाली से कुशीनारा गये थे भोगनगर और पावा होते हुए। ककुट्ठ नदी में उन्होंने जाते समय स्नान भी किया था। पावा में चुन्द का एक आम्रवन भी था जहां उन्होंने अन्तिम भोजन लिया

था। उरुवेलकप्प की यात्रा भी बुद्ध ने अनेक बार की थी। पिप्पलवन के क्षत्रिय भी इसी जनपद में रहते थे। इसी प्रकार अन्य जनपदों में भी तथागत बुद्ध का विचरण हुआ है। पालि साहित्य में उसका वर्णन मिलता है।

पंचाल में बौद्धधर्म

पंचाल का अर्थ है पांच का समूह अर्थात् पंच नदियों का प्रदेश-झेलम, चिनाब, रावी, व्यास तथा सतलज। ऋग्वेद में पंचाल के लिए क्रिवि शब्द का प्रयोग हुआ है । यह क्रिवि कोई जनजाति रही होगी जो सिन्धु और आसिक्नी नदी के तट पर बसी थी । (ऋ. ८.२०.२४; ८.२२.१२) । शतपथ ब्राह्मण तक आते-आते क्रिवि जनजाति या तो लुप्त हो गई या महत्त्वहीन हो गई या फिर पंच नदियों के किनारे फैल गई । इस जाति के साथ कुछ जातियाँ और विकसित हो गईं होगीं जिससे पंचाल को पंचजन कहा जाने लगा हो । शतपथ ब्राह्मण में इतना ही मिलता है - **क्रिवय-इति ह वैपुरा पंचालानाचक्षते,** १३.५.४.७) । विष्णुपुराण (४.१९.५९) में भर्म्याश्व के पांच पुत्रों का उल्लेख मिलता है जिनके नाम पर कदाचित् पंचाल अभिधान आया हो - मुंगल, सृंजय, वृहदिषु, यवीनर और काम्पिल्य । द्रुपद यहां का राजा था । उसी की पुत्री द्रोपदी को प्राप्त करने के बाद पाण्डवों ने यहां एक वर्ष निवास किया था (महा. आदि. ६१.३१)। पंचजन शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में अनेक बार आया है । ये पांच जातियां हैं - अनु द्रुह्यु, यदु, तुर्वश और पुरु (ऋ. १. १०८. ८; ७.१८) । पौराणिक परम्परा में किलिकिला के राजाओं का सामूहिक नाम वाल्हिक या वाल्हीक आता है जो पंचाल का दूसरा नाम था । महाभारत (कर्ण ४४.७) में पंचाल को वाल्हीक नाम भी दिया गया है - **पंचानां सिन्धु-षष्ठानां नदीनां अन्तराश्रितः वाल्हिकानाम देशः।**

पंजाब शब्द का प्रयोग मुगल सम्राटों से पहले नहीं हुआ । यह शब्द फारसी और उर्दू भाषा के पंच शब्दों से निर्मित हुआ है जिसका अर्थ है पांच नदियों वाला प्रदेश । ये सभी पांचों नदियां सिन्धु में समाहित हो जाती हैं । इसलिए बाद में सिन्धु को जोड दिया गया और इसका नाम वाल्हीक हो गया। यह त्रिकोणात्मक प्रदेश है । सिन्धु और सतलज इसकी दो भुजाएं हैं और हिमालय इसका आधार है । यहीं से विदेशियों का आना-जाना लगा रहा है । इसकी सीमाओं में यथासमय परिवर्तन होता रहा है। प्राचीन काल में गान्धार, सिन्धु, कुरु, पांचाल, कश्मीर आदि मिलाकर पंजाब प्रदेश का निर्माण हुआ था। यहां अत्यन्त प्राचीन काल से ही सम्यता फलती-फूलती रही है जिसके अवशेषों का उद्घाटन उसके मांटगोमरी जिले के हडप्पा में हाल की खुदाइयों से हुआ है । हडप्पा संस्कृति सिन्धु संस्कृति का ही भाग है । यह सम्यता २५०० ई.पू. से १५०० ई. पू.

के बीच विद्यमान थी । हो सकता है, इससे भी प्राचीन रही हो । यह सम्यता फरात (ईराक) घाटी की सभ्यता से मिलती-जुलती थी और वैदिक सम्यता की पूर्ववर्ती थी ।

पंजाब या बाल्हीक प्रदेश की इस प्राचीन संस्कृति से बौद्ध संस्कृति भी सम्बद्ध है । यहां हम इस प्रदेश की इतनी व्यापक सीमा को न लेकर मात्र कुरु-पंचाल प्रदेश तक ही अपने आपको सीमित रखेंगे और उसमें बौद्धधर्म और संस्कृति के प्रचार-प्रसार पर चर्चा करेंगे । डॉ. भरतसिंह उपाध्याय, विमलाचरण लाहा, राहुल सांकृत्यायन, कनिंघम, मल्लालसेखर आदि विद्धानों ने इस क्षेत्र में अच्छा कार्य किया है ।

१) हीनयानी परम्परा

कुरु-पंचाल में बौद्धधर्म की दोनों परम्पराएं पल्लवित हुई हैं । हीनयानी परम्परा और महायानी परम्परा । प्रारम्भिक स्तर पर यहां थेरवादी किंवा हीनयानी परम्परा का प्रचार हुआ है। लगभग छठी शताब्दी तक यही परम्परा रही । बाद में यहां महायानी परम्परा विकसित होती हुई दिखती है ।

महाजनपद

सर्वप्रथम पालि साहित्य के आधार पर सोलह महाजनपदों के सन्दर्भ में कुरु पंचाल की स्थिति पर विचार किया जा सकता है । अंगुत्तर निकाय (अट्ठकनिपात) में जिन सोलह जनपदों का उल्लेख है उनमें कुरु और पंचाल एक साथ प्रयुक्त हैं (कुरूनं पंचालानं) कुरुपंचालेसु बहुवचन में । पालि साहित्य की यह परम्परा उत्तरकाल में खण्डित होती हुई दिखाई देती है क्योंकि इन्द्रिय जातक में मात्र सात जनपदों का उल्लेख है । महावस्तु में १६ जनपदों की संख्या तो मिलती है पर वहां गन्धार और कम्बोज जनपद छोड दिये गये । उनके स्थान पर शिबि और दशार्ण नामक जनपद जोड दिये गये । ललितविस्तर में भी लगभग यही स्थिति है । भगवती सूत्र ने भी १६ महाजनपदों में उत्तरभारत के गन्धार और कंबोज को सूची से बाहर रखा है । जो भी हो, यह निश्चित है कि पंजाब में कुरु और पंचाल को समाहित किया जा सकता है ।

मज्झिम देश

हमारा प्राचीन भूगोल **उत्तरापथ और दक्षिणापथ** में विभक्त रहा है । उत्तरापथ श्रावस्ती या राजगृह से गन्धार और कम्बोज तक विस्तृत माना जाता था और दक्षिणापथ श्रावस्ती या राजगृह से प्रतिष्ठान तक फैला हुआ था । इसमें उत्तरापथ का भूभाग हिमालय से विन्ध्याचल तक एक लम्बी सीमा ग्रहण कर लेता है । पालि परम्परा में इन दोनों भागों को जम्बूद्वीप कहा गया है और उसे अनेक प्रकारों से विभाजित किया

गया है। एक विभाजन तो सोलह महाजनपदों के रूप में है, दूसरा महामण्डल, मज्झिम मण्डल और अन्तिम मण्डल के रूप में है और तीसरे विभाजन में उसे पांच प्रदेशों में विभक्त किया गया है - मज्झिम देस, पुब्ब या पुरत्थिम देस, उत्तरापथ, अपरन्त और दक्खिणापथ। इनमें मज्झिमदेस को अधिक महत्त्व दिया गया है। यह मज्झिमदेस उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में विन्ध्याचल तक और पूर्व में अंग जनपद से पश्चिम में कुरु राष्ट्र तक फैला था कुरु और पंचाल पंजाब प्रदेश के ही भाग रहे हैं। तथागत बुद्ध ने इसी प्रदेश में अपनी चारिका की थी। उत्कल जनपद से मध्यमदेश की ओर आने वाले दो व्यापारी तपस्सु और भल्लिक कदाचित् पंजाब के निवासी रहे होंगे जिन्होंने लौटते समय भ. बुद्ध का स्वागत मट्ठ (मन्थं) और लड्डू (मधुपिण्डिकं) से किया। ये दोनों पदार्थ पंजाब में आज भी अधिक प्रचलित हैं। मल्लिक शब्द तो पंजाबी प्रतीत होता है।

यह घटना बुद्धत्व प्राप्ति के बाद सप्तम सप्ताह में ध्यान समाप्ति के बाद की है। इसी समय तथागत बुद्ध ने एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र तक पैदल भ्रमणकर धर्मप्रचार का संकल्प किया था। (पधानसुत्त, सुत्तनिपात)। इसका तात्पर्य यह हुआ कि तथागत बुद्ध का प्रथम सत्कार करने वाले पंजाब प्रदेश के दो व्यापारी थे जिन्होंने पंजाब में धर्म प्रचारार्थ आने के लिए निमंत्रित किया होगा उन्हें। यह घटना उरुवला प्रदेश में घटित हुई थी। यहां से भ. बुद्ध भले ही वाराणसी के इसिपत्तन मिगदाय की ओर पंचवर्गीय भिक्षुओं की खोज में निकले हों पर पंजाब की ओर जाने का मन उन्होंने बना लिया होगा। जिस तरह से श्रावस्ती के श्रेष्ठी सुदत्त (अनाथ पिण्डिक) ने राजगृह में भगवान से प्रार्थना की थी कि वे आगामी चातुर्मास श्रावस्ती में करें उसी तरह भल्लिक ने भी प्रार्थना की होगी। सातवें वर्षावास में वे संकिसा (फर्रूखाबाद) भी पहुंचे। बारहवां वर्षावास उनका वेरंजा (मथुरा के आसपास) में हुआ (चुल्लसुकजातक, वेरंजक ब्राह्मण सुत्त, अं. निकाय)। आगे चलकर उन्होंने अपना सोलहवां वर्षावास पंचाल देश के आलवी नामक नगर (वर्तमान अर्वल) में किया भी। यह आलवीनगर कदाचित् किसी आलवक यक्ष के नाम पर हुआ होगा जिससे तथागत का संवाद भी हुआ। इस नाम से एक चैत्य भी वहां था जहां भ. कुछ समय के लिए ठहरे भी। उसके बाद वे श्रावस्ती की ओर वापिस हुए। पुनः वे उसी वर्ष आलवी गये। इसे हम उनके धर्म की लोकप्रियता का दर्शक मान सकते हैं। यह बात सही है कि भ. ने पच्चीस वर्षावास श्रावस्ती में किये पर श्रावस्ती से पंजाब कोई अधिक दूर नहीं है। वे इस बीच वहां निश्चित आते-जाते रहे होंगे। कम्मासदम्म (कुरुदेश) में वे पहुंचे ही थे। थुल्लकोट्ठित भी यहीं था जहां भ. ने रट्ठपालसुत्त का उपदेश दिया था। अनोतत्त दह, हिमवन्त पदेस और उत्तरकुरु भी पंजाब प्रदेश के समीवर्ती प्रदेश रहे ही हैं।

सोलह महाजनपदों में से अधिकांश जनपद मज्झिमदेस में रहे हैं। उनमें कुरु और पांचाल का सम्बन्ध पंजाब से रहा है। यहां अनोतत्त दह (हिमालय) से उद्भूत

गंगा, यमुना, अचिरवती, सरयू और मही महानदियों का उल्लेख भी किया जा सकता है जो पंजाब प्रदेश में बहती रही हैं। संयुत्तनिकाय के दुतिय दारुक्खन्ध सुत्त में गंगानदी के किनारे बसे किम्बिला नामक नगरी का वर्णन मिलता है। पंचाल का आलवी नगर भी गंगानदी के किनारे बसा रहा होगा।

हिमवान् का उल्लेख हिमालय के लिए रहा है जिसके पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी भाग से सिन्धु, चन्दभाग (चिन्नाव) और वीतंसा सरस्वती (झेलम) आदि नदियों का उद्गम हुआ है। स्थविर सीवली श्रावस्ती से हिमवन्त प्रदेश अपने ५०० भिक्षुओं के साथ आठ दिन में पहुंचे थे बुद्ध-शासन का प्रचार करने के लिए। अशोक के समय भी अलकदेव आदि भिक्षु इसी उद्देश्य से हिमालय प्रदेश गये थे। भगवान ने कुणालजातक का उपदेश हिमवन्त प्रदेश में ही दिया था। रज्जुसुत्त और जन्तुसुत्त (सं. निकाय) भी इसी तथ्य का उल्लेख करते हैं। इसी तरह सुख विहारी जातक, मातिपोसक जातक भी बुद्धदेशना के प्रचार का उल्लेख करते हैं। यह हिमवन्त प्रदेश पंचाल से संबद्ध रहा है।

कुरु जनपद

कुरु जनपद सूरसेन और मच्छ जनपदों के उत्तर तथा पंचाल जनपद के पश्चिम में स्थित था। यह जनपद उत्तरापथ में संमिलित रहा है। इसमें वर्तमान मेरठ, मुजफ्फरनगर, बुलन्दशहर, सहारनपुर, दिल्ली, कुरुक्षेत्र और थानेश्वर संमिलित मान सकते हैं। महासुत्तसोमजातक में कुरु राष्ट्र का विस्तार ३०० योजन बताया गया है - तियोजन सते कुरु रट्ठे। यहां के राजाओं के नाम धूमकारिजातक, सम्भव जातक आदि में उल्लिखित हुए हैं।

विधुर जातक में इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) को कुरु राष्ट्र का अंग माना गया है जहां धनंजय नामक कौरव्य राज्य करता था। उसका विधुर पण्डित नामक मेधावी अमात्य था।

कुरुधम्मजातक में भी इन्द्रप्रस्थ को कुरुदेश के अन्तर्गत माना है जहां धनंजय राज्य करता था। इस जातक में जीवहिंसा, चोरी, असत्यवादन, मद्यपान आदि नहीं करना कुरुधर्म माना गया है। यह कुरु राजा बोधिसत्त्व थे। धूमकारिजातक, सम्भवजातक और विधुरजातक में कुरु राजाओं के नाम आते हैं।

जैसा कहा जा चुका है, पालि साहित्य के आधार पर कुरु प्रदेश की आधुनिक स्थिति मेरठ, मुजफ्फरनगर, बुलन्दशहर, सहारनपुर, दिल्ली, कुरुक्षेत्र, थानेश्वर आदि नगरों में समाहित होती है और पंचाल को एटा, मैनपुरी, अहिच्छत्र, कम्पिल्ल,

फरूखाबाद आदि नगरों के समीपवर्ती भागों में देखा जा सकता है । पालि ग्रन्थों में 'कुरुपंचालेसु' शब्द के प्रयोग से ऐसा लगता है कि दोनों राष्ट्रों में राजनीतिक संक्रमण अधिक होता रहा है।

कुरुक्षेत्र के थुल्लकीट्ठित नगर में भ. बुद्ध ने विहार किया जहां कौरव्य नामक राजा राज्य करता था। बुद्धघोष के अनुसार यह नगर बडा समृद्ध था। वहां के कोठे सदैव अन्न से भरे रहते थे। यह नगर हस्तिनापुर और दिल्ली के बीच रहा होगा। यहां राष्ट्रपाल ने भ. बुद्ध से प्रव्रज्या ली और उनके साथ श्रावस्ती चला। एक बार जब वापिस आया तो कौरव्य के सुरम्य मृगाचीर उद्यान में रुका। घर पर भिक्षा लेने गया तो किसी ने पहचाना नहीं। पात्र में कुल्माष डालते समय बाद में दासी ने पहचान लिया। तब माता, पिता पत्नी आदि सभी ने घर वापिस लौटने की अभ्यर्थना की पर राष्ट्रपाल के कदम पीछे नहीं हटे। वहां उसने कौरव्य को तृष्णा त्यागने का उपदेश दिया (मज्झिमनिकाय, रट्ठपालसुत्त)।

महाभारतकाल में कुरु जनपद की राजधानी हस्तिनापुर थी और उसके खाण्डववन भाग को जलाकर इन्द्रप्रस्थ नगर बसाया गया था। यह वर्तमान नई दिल्ली के पुराने किले और कुतुब का समीपवर्ती प्रदेश रहा होगा। इसके उत्तरकुरु और दक्षिणकुरु ये दो भाग थे। हिमालय का समीपवर्ती भाग उत्तरकुरु होगा और शेष भाग दक्षिणकुरु के नाम से जाना जाता था।

कुरु प्रदेश वासियों के मन में बौद्धधर्म के प्रति अच्छा झुकाव था। पर यहां बुद्धघोष के अनुसार कोई विहार नहीं था इसलिए बुद्ध वन में विहार करते थे। स्मृतिप्रस्थान जैसे गंभीर विषयों का उपदेश भगवान् बुद्ध ने इसी प्रदेश में दिया था। पालि साहित्य में यहां के कतिपय निगमों का उल्लेख मिलता है। मज्झिमनिकाय के रट्ठपाल सुत्त में थुल्लकोट्ठिक नामक एक समृद्ध निगम का उल्लेख आता है जो रट्ठपाल की जन्मभूमि थी। इसी के समीप कौरव्य राजा का मिगाचीर नामक एक सुरम्य उद्यान था जहां रट्ठपाल भिक्षु अवस्था में रुके थे।

जयद्दिस जातक के अनुसार कम्मासदम्म नामक एक अन्य निगम था। इस निगम के साथ जुडी हुई पौराणिक कथा यह है कि बोधिसत्त्व कम्पिल्ल के राजा जयद्दिस के पुत्र के रूप में एक बार उत्पन्न हुए। इस राजा के एक अन्य पुत्र को एक यक्षिणी पकडकर ले गयी और उसे दैत्य बना लिया। इस दैत्य पुत्र के पैर में एक बार घाव लग गया जिससे उसमें कम्मास अर्थात् धब्बा पड गया। इसलिए उसे 'कम्मासपाद' कहा जाता था। राजा के अथक प्रयत्न करने पर भी वह दैत्यपुत्र वश में नहीं किया जा सका। तथागत बुद्ध ने यह कार्य पूरा किया। इसलिए इस निगम को कम्मासदम्म नाम पड़ गया।

इसका उल्लेख मज्झिम निकाय के निदानसुत्त, सतिपट्ठान सुत्त, मागन्दिय सुत्त, आननंजसप्पाय सुत्त में भी मिलता है।

अथर्ववेद (३.२७.५) में कल्माषग्रीव नामक एक सर्प का उल्लेख आया है जो शायद दैत्य का ही रूप रहा होगा। महाभारत (आदि ३५.७) में भी कल्माष नाम के एक नाग का उल्लेख आया है। इसी तरह वहां कल्माषपाद नामक एक इक्ष्वाकुवंशी राजा का उल्लेख हुआ है जो सुदास का पुत्र था। वशिष्ठ द्वारा उनकी पत्नी के गर्भ से अश्मक नामक पुत्र की उत्पत्ति हुई जिसने पौदन्य नामक नगर की स्थापना की (आदपर्व)। वायुपुराण (२.११) और ब्रह्मावर्त पुराण (१.२.११) आदि में भी इस कथा को विस्तार मिला है। वहां राजा मित्रसह द्वारा अभिषप्त जल कल्माष के पैरों पर गिर जाने से उसके पैर चितकबरे हो गये। इसलिए उसे कल्माषपाद कहा गया। डॉ. भरतसिंह उपाध्याय ने इस निगम की पहचान पंजाब के कम्मासपुर से की है। नन्दुत्तरा तथा मित्तकाली भिक्षुणियों का यह जन्मस्थान रहा है।

इसी तरह उन्होंने कुण्डी (थेरगाथा, अट्ठकथा), हत्थिनीपुर, वारणवती आदि नगरियों को भी पहचान करने का प्रयत्न किया है। इनमें जैन परम्परा में हस्तिनापुर को एक तीर्थक्षेत्र माना गया है। यहां सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ, १७ वें तीर्थंकर कुन्थुनाथ और १८ वें तीर्थंकर अरहनाथ का जन्म हुआ था। इनके अतिरिक्त तीर्थंकर आदिनाथ, मल्लिनाथ और पार्श्वनाथ का भी सम्बन्ध इस नगर से रहा है। आदिनाथ को श्रेयांसकुमार ने यहीं इक्षुरस का अहारदान दिया था।

पंचाल जनपद

महाउम्मग्गजातक में पंचालराज चूलनि ब्रह्मदत्त का उल्लेख है। यहां उत्तरपंचाल और पंचालचण्डी की भी चर्चा हुई है तथा पंचाल राज्य के सुन्दर नामक नगर की शोभा का भी वर्णन हुआ है। यहीं चूलनी ब्रह्मदत्त राजा के केवह नामक ब्राह्मण अमात्य और महोषध पण्डित के राजनीतिक दावपेंच का भी प्रदर्शन हुआ है और महोषध पण्डित को विजय प्राप्त करते हुए बताया है। महोषध पण्डित बौद्धधर्म का पोषक था जो पंचाल नगर में बौद्धधर्म का प्रचार करता रहा (गा. ३०८)। कुम्भकारजातक में पंचाल राजा दुर्मुख को निमि का समकालीन बताया है।

ब्रह्मदत्तजातक और मणिकण्ठ जातक का सम्बन्ध उत्तरपंचाल से है जिसे कम्पिल नामक राष्ट्र के अन्तर्गत माना गया है। यहां बोधिसत्व को तपस्वी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उनका सम्मान ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने किया।

इन उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि पंचाल में भी भ. बुद्ध ने चारिका की है। उत्तर पंचाल की राजधानी कहीं अहिच्छत्र और कहीं कम्पिल्ल बताई गई है। **अहिच्छत्र** की पहचान वर्तमान रामनगर (जिला बरेली) से की जाती है। यहां द्रोणाचार्य ने पांचाल नरेश को पराजितकर दक्षिण पंचाल का राज्य उसे दे दिया था और उत्तर पंचाल अपने पास ही रखा था। सम्राट् अशोक ने यहां एक विशाल स्तूप बनवाया था। चीनी यात्री युवानच्वांग ने ६४० ई. में यहां के नागहृद नामक सरोवर का उल्लेख किया है जिसके समीप नागराज ने बौद्धधर्म स्वीकार किया था और एक छत्र बनवाया था। यहीं तथागत बुद्ध ने नागराजाओं को बौद्धधर्म में दीक्षित किया था। यहां का ढूह स्तूप प्रसिद्ध है जिसको पिसनहारी का छत्र कहा जाता है।

अहिच्छत्र जैन तीर्थ क्षेत्र भी माना गया है। विविध तीर्थकल्प में इसका नाम संख्यावती मिलता है और तीर्थमालाचैत्यवन्दन में शिवपुर आया है। जैन परम्परानुसार यहां पार्श्वनाथ पर संवरदेव ने भयंकर उपसर्ग किये थे जिनका निवारण धरणेन्द्र और पद्मावती ने किया था। मुनि श्रीचन्द्रकृत 'कहाकोसु' में अहिच्छत्र के राजा शिवभूति की कथा दी गई है जिसके छोटे पुत्र शिववर्मा ने यहीं जिनदीक्षा ली थी। कहा जाता है, पार्श्वनाथ को यहीं केवलज्ञान प्राप्त हुआ। उस समय यहां प्रियबन्धु नामक राजा राज्य करता था (जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, पृ. ४१०-११)। यहां का पुरातत्त्व समृद्ध है। एक प्राचीन किला भी है। समीपस्थ कटारीखेडा टीला से एक जैनस्तम्भ और मूर्तियां भी मिली हैं।

दक्षिण पंचाल की राजधानी **कंपिल्ल** थी। यहां एक वेणुवन भी था जिसमें भ. बुद्ध किम्बिल के साथ कुछ समय ठहरे हुए थे (संयुत्त निकाय, किम्बिल सुत्त)। किम्बिल यहीं का निवासी था (अंगुत्तर निकाय, पंचकनिपात) जिसके नाम पर कंपिल्ल नाम पडा। विसाख पंचालपुत्त भी पंचाल वासी थे जहां उन्होंने वहां की उपस्थानशाला में भिक्षुओं को उपदेश दिया था। महावस्तु के कम्पिल्य जातक में यहा के वैभव का अच्छा वर्णन हुआ है।

कम्पिला जैनों का भी तीर्थक्षेत्र है जहां तेरहवें तीर्थंकर विमलनाथ का जन्म हुआ था और उन्होंने यहीं केवलज्ञान प्राप्त किया था। उस समय महाराज कृतवर्मा यहां का शासक था। यहां आदिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर के विहार का भी उल्लेख मिलता है। यहां एक दुमुह नाम का शासक हुआ है जिसे जातकों में मिथिला के नमि का समकालीन बताया है। यहां का पुरातत्त्व समृद्ध है। यहां से प्राप्त पुरावशेष लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित हैं। प्राचीन जैन सूत्रों में काम्पिल्य की गणना प्रमुख दस राजधानियों में की गई है। विशेषावश्यक भाष्य में पांचाल नामक ऋषि का वर्णन है।

नेमिचन्द्र सूरि कृत उत्तराध्ययन वृत्ति में यहां के राजा दुर्मुख का वृतान्त दिया हुआ है । विविध तीर्थकल्प में पंचाल को शूकर क्षेत्र में स्थित बताया गया है ।

इसी तरह वैदिक साहित्य में भी कम्पिल्ल का प्रभूत वर्णन मिलता है । ब्रह्मदत्त, सोमक, प्रवाहण जैवलि, आत्रेय, वराहमिहिर, मृग्यश्व आदि का सम्बन्ध कंपिल्ल से रहा है । शतपथ, तैतरीय, आरण्यक, उपनिषद्, पुराण आदि समूचे साहित्य में इसके उल्लेख मिलते हैं ।

पंचाल का एक अन्य नगर **संकास्स** था जहां भ. बुद्ध ने अपना सातवां वर्षावास किया था । इसकी पहचान जनरल कनिंघम ने वर्तमान वसन्तपुर नगर से की है जो फर्रूखावाद जिले में अवस्थित है । पर स्मिथ उसे एटा जिले में मानते हैं । महाभारत के अनुसार यहां का राजा सुधन्वा था जो जनक के साथ युद्ध में मारा गया था (आदि. ७१.१६-१९) । यह नगर कंपिल्य के पास ही था । काशिकावृत्ति में कंपिला और संकाश्य को एक नगर के दो भाग माने गये हैं वृहज्ज्ञातक की महिधर टीका में कपित्थिक (कैथिया) और संकाश्य को कम्पिला के ही सन्निवेश के रूप में माना गया है - कपित्थ के काम्पिलाख्ये ग्रामे ।

बौद्ध परम्परा में संकाश्य को तीर्थक्षेत्र माना गया है । यहां तथागत बुद्ध त्रायस्त्रिंश स्वर्ग से तैंतीस देवताओं को अभिधम्म की शिक्षा देने के लए अवतरित हुए थे । उनके साथ ब्रह्मा और शक्र भी थे । यहीं बुद्ध ने आनन्द के कहने से स्त्रियों की प्रव्रज्या पर लगे प्रतिबन्ध को हटाया था । अभिधानप्पदीपिका में संकाश्य को वीस प्रमुख नगरों में गिना गया है । ५ वीं शती में फाह्यान चीनी यात्री ने यहां के संख्यातीत बिहारों का उल्लेख किया है । यहां के संघाराम में ६००-७०० भिक्षु रहा करते थे । ७ वीं शती में युवानच्वांग ने यहां ७० फीट ऊंचे अशोक द्वारा निर्मित मनोहारी स्तम्भ का उल्लेख किया है जिस पर चित्र विचित्र रचनाएं बनी थीं । संकाश्य के उत्तर में कारेवार तथा नागताल हैं जो किंवदन्ती के अनुसार सर्प थे । लोग इनकी पूजा करते थे । बौद्ध अनुयायी इन तालों की परिक्रमा किया करते हैं । यह नगर निश्चित ही विशाल रहा होगा । यहां की नगर-भित्ति के अवशेष आज भी प्राप्त होते हैं जो लगभग ६ किलो मीटर की परिधि में हैं । इसके एक ओर सोरेय्य और दूसरी ओर कण्णकुज्ज (कन्नोज) नगर स्थित थे । बारहवां वर्षावास वेरंजा में समाप्त करने के बाद बुद्ध इसी मार्ग से वाराणसी गये थे ।

कान्यकुब्ज पंचाल का एक अन्यतम प्रसिद्ध नगर रहा है । यह प्रयाग और संकाश्य के बीच महापथ पर अवस्थित था । इसके दक्षिण-पूर्व में संकाश्य नगर था और एक ओर सोरेय्य था । यहां मौर्य, शुंग, कुषाण, गुप्त आदि राजाओं का आधिपत्य रहा है । ७ वीं शती में हर्ष ने इसे अपनी राजधानी बनाया । ४०५ ई. में फाह्यान ने यहां केवल दो

हीनयानी स्तूप देखे थे पर युवानच्वांग ने यहां १०० स्तूपों के होने का उल्लेख किया है। यहीं अशोक निर्मित स्तूप था जहां भ. बुद्ध एक सप्ताह रुके थे। यहीं बुद्ध-दंत भी सुरक्षित था। यह एक विशाल नगर था। यहां एक भद्रविहार नामक बौद्ध महाविद्यालय भी था जहां युवानच्वांग तीन माह तक ठहरा रहा ६३५ ई. में। बौद्ध जैन और वैदिक परम्पराओं में इसका विशिष्ट स्थान है। लगभग दस हजार बौद्ध भिक्षु यहां रहा करते थे। २०० देव मन्दिर भी यहां थे।

सोरेय्य सोरों का प्राचीन नगर था। परम्परानुसार यहां अनूमदस्सी और वेस्सभू बुद्धों ने धर्मप्रचार किया था तथागत बुद्ध के पूर्व। यह नगर वेरंजा और संकाश्य नगर के बीच स्थित था। स्थविर देवत सोरेय्य में ही निवास करते थे। महाकात्यायन ने भी यहां बिहार किया था।

वैरंजा मथुरा और सोरेय्य के बीच अवस्थित था। यह भी पंचाल का प्रधान नगर था। शूरसेन में चारिका करते हुए बुद्ध यहां आये थे। उन्होंने बारहवां वर्षावास यहीं किया था (अं. निकाय, वेरंजक ब्राह्मण सुत्त)। समन्तपासादिका के अनुसार यहां एक नलेरुपुचिमन्द नामक चैत्य था जिसमें भ. बुद्ध कुछ समय के लिए रुके थे। यह चैत्य पुचिमन्द (नीम) के नीचे बना था जिसे नलेरु नामक यक्ष को समर्पित किया गया था।

पंचाल में एक **आलवी** नामक नगर था जिसे गाजीपुर का समीपवर्ती प्रदेश माना जा सकता है। युवानच्वांग ने इसी प्रदेश को चंचु नाम दिया है। इसकी राजधानी सुत्तनिपात में आलवी बताई गई है। उपासगदशांग में इसी को आलभिया या आलंभिका कहा गया है। कल्पसूत्र के अनुसार तीर्थंकर महावीर ने यहां एक वर्षावास किया था। सुत्तनिपात (१०.२.४५) ने इसे यक्षदेश की संज्ञा दी है। तथागत के शान्त स्वभाव ने यहां के यक्ष को भी शान्त कर दिया था। चुल्लवग्ग (६.१०) में यहां के अग्गालव नामक बौद्ध मन्दिर का उल्लेख है। सारत्थ पकासिनी, (भाग १, पृ. २६८) के अनुसार यहां अनेक बुद्ध विहार थे। वंगीससुत्त (सं. निकाय) का उपदेश भी यहीं दिया गया था। न्यग्रोधकप्प की मृत्यु भी यहीं हुई थी। मणिकंठ, ब्रह्मदत्त तथा अट्ठिसेन जातकों का उपदेश भी यहीं दिया गया था। भिक्षुणी शैला भी आलवी की ही निवासिनी थी। अश्वघोष ने भी बुद्धचरित (२१.१८) में यहां बुद्ध के पहुंचने का उल्लेख किया है। आलवी के पास एक सिंसपा नामक वन था जहां बुद्ध कुछ समय के लिए ठहरे हुए थे (अं. नि. आलवक सुत्त।

इन नगरों के अतिरिक्त सागल (स्यालकोट) आदि अनेक ऐसे नगर हैं जिनका सम्बन्ध कुरु पंचाल से रहा है और जहां बौद्धधर्म फूलता-फलता रहा है। मेनान्डर जैसे यवन राजाओं ने भी यहां बौद्धधर्म और संस्कृति को पल्लवित किया है।

२) महायानी परम्परा

उत्तरकाल में नेपाल, तिब्बत और बंगाल के प्रभाव से यहां महायानी परम्परा का भी प्रभाव दिखाई देता है । महायान का ही विकसित रूप मन्त्रयान, तन्त्रयान और वज्रयान हैं । मंजुश्री मूलकल्प, गुह्यसमाज और हेवज्रतन्त्र इनके प्राचीनतम ग्रन्थ हैं । वज्रतन्त्र परम्परा के प्रथमाचार्य कंबल अथवा कंपल होना चाहिए जो घंटापा के शिष्य थे । घंटापा देवपाल (८०८-८४९ ई.) के कनिष्ठ समकालीन थे। कंबल के शिष्य जालन्धर पाद थे । इन वज्राचार्यों का घनिष्ठ सम्बन्ध पंचाल और पंजाब से होना चाहिए। इन्द्रभूति जालन्धरपाद के शिष्य थे । ये भी देवपाल के समकालीन थे । इन्द्रभूति की बहन लक्ष्मींकरा भी एक साधिका थों । ये दोनों कण्हपा के शिष्य थे । इन सभी सिद्धों के विषय में इतनी अधिक अनुश्रुतियों के उल्लेख मिलते हैं कि कुछ भी निश्चित नहीं किया जा सकता है । फिर भी उपर्युक्त वज्राचार्यों की परम्परा कुरु-पंचाल और पंजाब में विकसित होती रही है । उनका समय लगभग ७ वीं शती है । हेवज्रतन्त्र में **जालन्धरपीठ** का स्पष्ट उल्लेख है -

पीठं जालन्धरं ख्यातं ओड्डियानं तथैव च ।
पीठं पौर्णगिरिश्चैव कामरूपं तथैव च ।। ७-१२ ।।

ये पीठ - उपपीठ योगिनियों से मिलने के स्थान हैं । इन स्थानों पर योगिनियां स्वागत करती हैं और मिलने के लिए निमन्त्रण देती हैं । वहां यह कहा गया है कि यदि योगिनियां माला लेकर आगे बढें तो यह समझना चाहिए कि वे उत्सव में भाग लेने के लिए आह्वान कर रही हैं । तब योगिनियां जो भी कहें, सब कुछ करना चाहिए (७.१.९) । यह एक स्वतन्त्र विषय है जिसपर विस्तार से बाद में विचार किया जायेगा ।

इस प्रकार उत्तरापथ और मज्झिमदेसवर्ती कुरु और पंचाल प्रदेशों में प्रारम्भ से लेकर लगभग १२-१३ वीं शती तक बौद्धधर्म पुष्पित होता रहा है । बाद में सिक्ख धर्म के उदित होने पर उसके विकास में भी उसने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है । गुरु ग्रन्थ साहिब में बौद्धधर्म का उल्लेख अनेक बार हुआ है । इसी तरह गुरु वाणी पर भी बौद्धधर्म का प्रभाव भलीभांति देखा जा सकता है ।

आर्थिक व्यवस्था

चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के आधार पर साधारणतः आर्थिक व्यवस्था थी। कसिय (कृषि) मुख्य व्यवसाय था। सिंचाई के पर्याप्त साधन थे। खेतों को अनेक तरह से सीमित कर सिंचाई की जाती थी जिन्हें अच्चिबन्ध, पालिबन्ध, मरियादाबन्ध और सिंघाटकबन्ध कहा जाता था। तडाग, पोक्खरणी बनाये जाते थे। गोरक्षण, पशुपालन होता था और फिर ये पारस्परिक संघर्ष के कारण भी बन जाते थे। नगर के बाहर गौओं के रखरखाव का प्रबन्ध होता था। गौशालाओं में साधु भी रुककर वर्षावास किया करते थे।

विविध प्रकार के वस्त्र बनाये जाते थे, जैसे खोम, कप्पासिक, कोसेय्य, कम्बल, जूट, दुकूल। इसे तन्त्रभण्ड कहा जाता था। वाराणसी नगरी इसके लिए विशेष प्रसिद्ध थी। स्वर्ण, मणि का भी व्यापार होता था। लकडी का काम करने वाले तच्छक कहलाते थे। इसके लिए उनके पास पांच साधन रहते थे - दण्ड, मुद्गर, कालसुत्त आदि। योनकार, रथकार भमकार के उल्लेख बहुत आते हैं, कम्मकार, सुवण्णकार, भाण्डकार, नौकार, दन्तकार, नलकार, उसुकार, लोणकार, चित्रकार, कप्पक (नाई) आदि भी होते थे। बड़े परिमाण पर व्यापार होते थे, सार्थवाह और उनकी श्रेणियां होती थीं। जातक कथाओं में उनका बहुत उल्लेख हुआ है। राजाओं की चतुरंगिणी सेना होती थी। वे अनेक श्रेणियों में विभक्त थे। विविध कलाकार थे। उनकी अपनी सामाजिक व्यवस्था थी। गणिकाएं थीं। जनपदकल्याणी भी थीं। सभी तरह से व्यापार होते थे। उनके लिए नदियों और समुद्रों का भी उपयोग होता था, मुद्रा विनियम का साधन थी। हिरण्य, स्वर्ण जातरूप, कार्षापण आदि का उपयोग मुद्रा के रूप में होता था। आपण भी थे।

सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थिति

लगभग आठवीं शती ई.पू. में वैदिक धर्म का वर्चस्व कम हो गया और श्रमण संस्कृति का प्रभाव बढ गया। आर्य और आर्येतर संस्कृति का संमिश्रण बढने लगा। ब्रह्मविद्या और आत्मविद्या की ओर मानस आकर्षित होने लगा। निवृत्ति मार्ग की ओर प्रवृत्ति बढ गई। यज्ञीय संस्कृति का ह्रास होने लगा। पार्श्वनाथ परम्परा का प्रभाव स्पष्टतः दिखाई देने लगा। उपनिषद् दर्शन ने अध्यात्मिक रूपान्तरण का मार्ग प्रशस्त कर दिया। श्रमण दर्शन और सांख्य दर्शन की निरीश्वरवादिता, निवृत्तिपरायणता और श्रुति विरोध ने समाज में नई चेतना के स्वर गुंजित कर दिये। आध्यात्मिक क्रान्ति का वातावरण तैयार हो गया।

उत्तरभारत में जनों का स्थान जनपदों ने ले लिया। अंगुत्तर निकाय के अनुसार उस समय सोलह महाजनपद थे - काशी, कौशल, अंग, मगध, वज्जि, मल्ल, चेतिय, वंस, कुरु, पंचाल, मच्छ, शूरसेन, अस्सक, अवन्ति, गन्धार और कम्बोज। गणराज्यों का ह्रास और राजतन्त्रों का उत्कर्ष भी होने लगा था। उनमें पारस्परिक संघर्ष होते रहते थे। वज्जि और मगध शक्तिशाली राज्य थे। क्षत्रियों का प्रभुत्व पढ गया था। लिच्छवि और शाक्य गणतन्त्रों की शासन पद्धति प्रभावक सिद्ध हो चुकी थी। क्षत्रियों में भी राजर्षि परम्परा प्रचलित हो चुकी थी। पौराहित्य परम्परा पर प्रश्नचिन्ह लग चुका था। सार्थवाहों और व्यवसायिक श्रेणियों ने आर्थिक व्यवस्था को मजबूत कर दिया था। श्रेष्ठी वर्ग ने सामाजिक परिवर्तन में सोत्साह अपना योगदान दिया। जैन-बौद्धधर्मो ने

समाज को आध्यात्मिक दिशा की ओर मोड दिया। पालि-प्राकृत साहित्य ने लोक भाषा और बोली का यथार्थ उपयोग किया। श्रमण विद्या पल्लवित हुई महावीर और बुद्ध ने स्वानुभूति, करुणा, मानवता और वर्गहीनता पर जोर दिया, अहिंसा और अपरिग्रह का सन्देश दिया। ईश्वरीय सत्ता का निषेध कर स्वयं के पुरुषार्थ, स्वालम्बन और सद्धम्म पर बल दिया, स्वर्ग के स्थान पर मोक्ष प्राप्ति का लक्ष्य बनाया, परिव्राजक संस्कृति का उद्भव हुआ और परिणामतः सांस्कृतिक चेतना में परिवर्तन आया।

राजतन्त्र का प्रचार अधिक था। इसलिए शासक के गुणों पर पालि साहित्य में अच्छी चर्चा हुई है। चक्रवर्ती, माण्डलिक आदि राजा होते थे। इसलिए महापुरुष लक्षणों का वर्णन मिलता है। शासन के चक्कर में शासक अपने पिता की भी हत्या कर देते थे। उनका धर्मशासन होता था। राजक्रान्तियां होती थीं। धर्म गुरुओं के पास वे उपदेश सुनने जाते थे। विशालाकार राजप्रासाद होते थे। महाजनपद अनेक घटकों में विभाजित थे। राजामात्य थे। राजदूत थे। ग्राम, निगम आदि के स्तर पर शासन विभक्त था। वज्जि, लिच्छवि, मल्ल, ज्ञातृक गणतन्त्र भी थे। उनके सन्थागार होते थे जहां एकत्रित होकर निर्णय लिये जाते थे। पारस्परिक संघर्ष और युद्ध होते थे। पशु-पक्षियों को प्रशिक्षण दिया जाता था। अश्व, गज उनमें प्रमुख थे। अपराधियों और चोरों को दण्डित करने का विधान था।

वज्जि अनेक जातियों का समुदाय था। लिच्छवि भी उन जातियों का ही एक भाग था। अंगुत्तर निकाय (३.७६) में कहा गया है कि लिच्छवि स्वभाव से क्रोधी और लालची थे, कुशल योद्धा थे, श्रमिक और बुद्धिमान थे। वज्जियों में पारस्परिक संगठन था। नियमित रूप से उनकी सभाएं होती थीं और विभिन्न विषयों पर निर्णय लिये जाते थे। उनमें पारस्परिक सौहार्द और सम्मान था। नारी वर्ग के प्रति आदर था। तथागत बुद्ध ने उनके विषय में विचार व्यक्त किया था कि जब तक उनके बीच गणतन्त्र प्रणाली रहेगी, वे प्रगतिशील बने रहेंगे (दी.नि. २.७३-५)। लिच्छवियों के विषय में भी उनकी यही धारणा थी। मल्ल भी इसी परम्परा के पोषक थे। उन सभी के संथागार होते थे। शाक्यों की भी यही परम्परा थी। कपिलवत्थु में शाक्यों का संथागार था। अम्बट्ठ अपने गुरु पोक्खरसाति से मिलने इसी संथागार में गया था। गौतम बुद्ध के पिता शुद्धोदन का उल्लेख कपिलवत्थु के राजा के रूप में हुआ है। विनय पिटक में शाक्य राजा के रूप में भद्दिय का भी उल्लेख मिलता है। इन सभी परम्पराओं में प्रस्ताव रखे जाते थे, उनपर विचार-विमर्श होता था और ज्ञप्ति चतुर्थ के आधार पर या बहुमत से निर्णय लिये जाते थे।

बुद्धकाल में १६ महाजनपद थे। इनमें चार राजतन्त्र थे - कोशल, वत्स, अवन्ती और मगध। इन राजतन्त्रों से महात्मा बुद्ध का घनिष्ठ सम्बन्ध था। बुद्ध को अपने

जीवन काल में संघभेद आदि जैसी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पडा था, यह तथ्य पालि साहित्य से उद्घाटित होता है। बुद्ध के अन्तिम काल में कोशल के दासीजन्य विडुडाभ ने कपिलवस्तु के शाक्यों पर आक्रमण किया और सर्वांगीण प्रभुत्व सम्पन्न राज्य पर अपना अधिकार बलात् थोपा। कपिलवस्तु के शाक्य, वैशाली के लिच्छवि और वज्जिगण, पावा के मल्ल आदि ११ जातियां गणतांत्रिक थीं। प्रसेनजित ने मगधराजा अजातशत्रु पर आक्रमण किया और अपने पिता बिम्बिसार को अजातशत्रु ने कारागार में डाल दिया। इसी बीच देवदत्त का एक रूप संघभेदक के रूप में सामने आया और उसने बुद्ध को संघ प्रमुख पद से च्युत कराना चाहा पर यह संभव नहीं हो सका। बुद्ध ने किसी को अपना उत्तराधिकारी नहीं बनाया, धर्म ही उनका उत्तराधिकारी रहेगा ऐसी घोषणा उन्होंने कर दी। वैशाली में भी सुनक्खत्त का विरोध उन्हें सहना पडा। अजातशत्रु ने बुद्ध के मना करने पर भी शाक्यों पर आक्रमण कर दिया। चुन्द द्वारा सुक्कर मद्दव दिये जाने पर बुद्ध का काल कवलित हो जाना भी एक षड्यन्त्र का हिस्सा प्रतीत होता है, क्योंकि बुद्ध ने सुक्कर मद्दव के शेषांश को गड्ढे में फेंकने के लिए चुन्द से कहा। और बाद में सारिपुत्त से तुरन्त कुसीनारा प्रस्थान करने का निर्देश दिया। बुद्ध परिनिर्वाण के अनन्तर सारिपुत्त और महाकस्सप के बीच भी विवाद होने का उल्लेख मिलता है । इस तरह पालि साहित्य से यह पता चलता है कि बुद्ध को अपने जीवन काल में काफी संघर्ष करना पडा।

शैक्षणिक व्यवस्था

शिक्षा की सुन्दर व्यवस्था थी। आचार्य-उपाध्याय और शिष्यों के बीच मधुर सम्बन्ध थे। पोक्खरसाति, सोणदण्ड, अंगुत्तराय, कश्यप, तित्थिय आदि शिक्षकों के नाम प्रसिद्ध हैं। विद्यापीठों के अपने पाठ्यक्रम रहते थे। वहां से बहुश्रुत और पण्डित निकलते थे। वहां सभी प्रकार की विद्याओं की शिक्षा दी जाती थी। आयुर्वेद, गन्धर्व, शल्यक्रिया, धर्मशिक्षा, युद्धशिक्षा आदि शिक्षाएं प्रचलित थीं।

पालि साहित्य में ही तथागत बुद्ध की जीवन घटनाओं का विवरण मिलता है। वहीं से यह भी पता चलता है कि प्रारम्भिक बौद्धधर्म में **अरण्यवास** सर्वमान्य था। इसका उल्लेख उदान, इतिवुत्तक, थेर-थेरीगाथा आदि ग्रन्थों में मिलता है। सुत्तनिपात (गाथा ३५-७५, १६५-६६, २०७-२१, २५७, ३३१, ३३८, ३८८, ४०५-२४, ४७५) में भी अरण्यवास के महत्त्वपूर्ण उल्लेख उपलब्ध हैं। धम्मपद में अरण्यवास के साथ समाधि का उल्लेख है (गाथा २४, २७, ३३-४३, १४४, १५७, २०५, २०९, २७६, २८२, २९३, ३०१, ३५०, २८७-७)। महाकश्यप अरण्यवासी और धूतगुणानुयायी थे (अं.नि. १.२३)। उनके बिना बुद्ध की अर्थी नहीं उठी। बुद्ध के समान वे चार निश्रयों के पालक थे, चमत्कारक ऋद्धिधारी थे। प्रथम संगीति भी उन्हीं ने की थी। मथुरावासी उपगुप्त भी अरण्यवासी थे पर उनका उल्लेख पालि त्रिपिटक में नहीं मिलता। सर्वप्रथम

दिव्यावदान (३४८-४१८ ई.) में मिलता है। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन भी अरण्यवासी थे।

देवदत्त जैनधर्म से प्रभावित--यहां **देवदत्त** के विषय में समझ लेना आवश्यक है। निकायों में उसे बुद्ध का विरोधी और संघभेदक भिक्षु माना गया है। प्रारम्भ में बुद्ध ने भी देवदत्त की भूरि-भूरि प्रशंसा की पर बाद में उनका विरोधात्मक स्वर तेज हुआ। विनयपिटक (२.१८४) के अनुसार देवदत्त ने अजातशत्रु को अपनी चामत्कारिक ऋद्धि दिखाकर प्रभावित कर लिया और फिर संघ के बीच फूट पैदाकर संघ पर अधिकार करना चाहा। इतना ही नहीं, वह असामाजिक तत्त्वों से भी घिर गया और उसने पहाड पर से शिलाखण्ड गिराकर बुद्ध की इहलीला को भी समाप्त करने का प्रयत्न किया। उसने उन्मत्त हाथी से भी आक्रमण कराया। इस प्रकार की १५ घटनाओं का उल्लेख हुआ है। इसके बावजूद बुद्ध ने उसे क्षमा कर दिया। उसके प्रति जनता का विरोधी स्वर तेज हुआ। फलत: अजातशत्रु ने उसे सारी सुविधाओं से वंचित कर दिया।

विनयपिटक (३.१७१) के अनुसार देवदत्त ने अपने अनुयायी भिक्षुओं में से कोकालिक, कोटमोरकतिस्स, खण्डवियापुत्त और समुद्दत्त को साथ ले जाकर बुद्ध से पुरजोर मांग की कि निम्नलिखित पांच विनय नियमों (धुतगुणों) को संघ में कठोरता पूर्वक लागू किया जाये -

१) भिक्षु को आजीवन आरण्यक होना चाहिए।

२) उसे पिण्डपातिक होना चाहिए, आमन्त्रण को स्वीकार नहीं करना चाहिए।

३) आजीवन उसे पांसुकुलिक होना चाहिए।

४) रुक्खमूलिक होना चाहिए, और

५) आजीवन मत्स्य और मांस भक्षण से दूर रहना चाहिए (मच्छमांस न खादेय्युं)।

जो भी भिक्षु इन पांच विनय नियमों को तोडे उसे दण्डित किया जायेगा। बुद्ध ने इस प्रस्ताव को संघभेदक प्रस्ताव माना और उसे अस्वीकृत कर दिया। उन्होंने स्वीकार-अस्वीकार करना भिक्षुओं पर छोड़ दिया। देवदत्त ने बुद्ध की इस उपेक्षा का विरोध किया यह कहकर कि इससे भिक्षु संघ विलासिता की ओर बढेगा, कठोर साधना उसके जीवन से दूर हो जायेगी। यह कहकर देवदत्त अपने ५०० भिक्षुओं के साथ गयासीस चला गया। धम्मपद अट्ठकथा के अनुसार सारिपुत्त और मोग्गल्लान को भेजकर बुद्ध ने उसे समझाने का प्रयत्न किया पर वह तो नहीं समझ पाया, उसके सारे साथी भिक्षु-संघ में वापिस अवश्य आ गये। यह देखकर देवदत्त के मुंह से खून की उल्टी हुई और वह मरकर अवीची नामक नरक में चला गया। वहीं यह भी कहा गया कि मरते समय उसने बुद्ध की शरण को स्वीकार किया और फिर बुद्ध ने कहा कि सहस्र कल्पान्त के बाद

वह अट्ठिस्सर नामक प्रत्येक बुद्ध होगा (१.१२५)। सद्धर्मपुण्डरीक (११.१६) में उसे कल्याणमित्र कहा है । और देवराज नामक बुद्ध होने की बात कही है। धम्मपद अट्ठकथा और मज्झिमनिकाय अट्ठकथा (१.२९८) में दण्डपाणि और सुप्पबुद्ध, कोकालिक आदि शाक्य भिक्षुओं ने बुद्ध की कडी निन्दा की। थुल्लनन्दा ने तो देवदत्त को सारिपुत्त, मोग्गल्लान और महाकच्चान से भी उच्चश्रेणी का भिक्षु माना। विनय पिटक (४.६६) में थुल्लनन्दा की भी निन्दा की गई। जातक कथाओं में तो देवदत्त को बहुत बुरे भिक्षु के रूप में प्रस्तुत किया गया है। दूसरी ओर पिटक में ही उसे सही धम्मभासक कहा गया है। (अं.नि. ४.४०२)। उसके नाम पर कुछ सुत्त भी नामांकित हैं। सारिपुत्त और आनन्द भी उसके प्रशंसक रहे हैं। सर्वास्तिवादी विनय में उसे अनुशासक भिक्षु माना गया। उदान (४-५) में उसे उच्च कोटि के भिक्षु के रूप में आदर दिया गया।

पालि पिटक और अट्ठकथाओं में वस्तुतः देवदत्त के व्यक्तित्व का सही मूल्यांकन नहीं हो सका। अट्ठकथाएं तो पांचवीं शताब्दी की रचनाएं हैं जब सभी धार्मिक परम्पराओं में शास्त्रार्थ करने की परम्परा थी और आक्षेप-प्रत्याक्षेप होते रहते थे। धम्मपद अट्ठकथा में तो अनेक उद्धरण ऐसे मिलते हैं जहां बुद्ध के अनुयायियों को सर्वज्ञ सिद्ध किया गया और निग्गण्ठ नातपुत्त के अनुयायियों की सर्वज्ञता सिद्ध न होने पर उन्हें मारा-पीटा गया। यहां तक कहा गया कि मोग्गल्लान की हत्या निगण्ठों ने की। ऐसे उद्धरणों को किसी भी स्थिति में ऐतिहासिक नहीं माना जा सकता। ये तो साम्प्रदायिक असद्भाव और मतभेद के प्रतीक हैं।

देवदत्त वस्तुतः एक कठोर साधक था, आरण्यक था। भिक्षु संघ के असंयमित आचरण की ओर जब उसने अंगुलि उठाई तो उसे संघभेदक कह दिया गया और उसे निकृष्टतम भिक्षु बना दिया गया। ''मुंह से खून की उल्टी होना और मर कर अवीची नरक में जन्म लेना'' यह एक उस समय का मुहावरा बन गया था। वस्तुतः देवदत्त संघ को सुधारना चाहता था पर श्रीलंकावासी भिक्षु उन धुतगुणों का पालन नहीं करना चाहते थे। इसलिए देवदत्त जैसे विरोधी भिक्षुओं को उन्होंने संघभेदक की संज्ञा देकर तिरस्कृत कर दिया। ह्यूनसांग आदि ने देवदत्त के प्रभाव की चर्चा की और कहा कि बंगाल में उसके अनुयायी थे जो दूध से बना खाद्य भी नहीं लेते थे। संभव है, **देवदत्त जैनधर्म से प्रभावित हो** और बौद्धधर्म को भी पूर्ण अहिंसक और शाकाहारी बनाये रखने का पक्षधर रहा हो।

अट्ठकथाओं का ऐतिहासिक सांस्कृतिक और भौगोलिक महत्त्व

पालि अट्ठकथाएं प्राचीन इतिहास, संस्कृति, दर्शन, भूगोल, भाषा आदि की दृष्टि से बडी महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें उपमा, रूपक और कथाओं के माध्यम से धार्मिक और

आध्यात्मिक तथ्यों को स्पष्ट किया गया है। सामाजिक और आर्थिक पक्ष भी वहीं उद्घाटित हुए हैं। भारत और श्रीलंका में बौद्धधर्म के विकास की दृष्टि से भी अट्ठकथाओं का अध्ययन अपेक्षित है। यहां हम विशेष रूप से राजनीतिक और भौगोलिक तथ्यों पर विचार करेंगे।

राजनीतिक तथ्य

प्राचीन भारतीय इतिहास में मल्ल, शाक्य, कोलिय और लिच्छवियों का अपरिहार्य महत्त्व है। सुमंगल विलासिनी (भाग १, पृ. २५८-२६०) में **शाक्यों** की उत्पत्ति राजा ओक्कक (इक्ष्वाकु) से बताई गई है। उनकी पांच रानियां थीं जिनके ५ पुत्र और ५ पुत्रियां थीं। महारानी की मृत्यु के बाद राजा ने दूसरा विवाह किया। पांचों पुत्र और पुत्रियां हमालय की ओर निकल गये जहां उन्होंने कपिल ऋषि के सहयोग से कपिलवत्थु नगर बसाया। स्वयं शाक्य कहलाये और वहीं राज्य करने लगे। गौतम बुद्ध इसी शाक्य जाति समुदाय में से एक थे। कोलियों से उनका वैवाहिक सम्बन्ध था। वे गुणहीन ब्राह्मणों का आदर नहीं करते थे।

परमत्थजोतिका (१५९-१६३) में **लिच्छवि** की व्युत्पत्ति करते हुए लीना+छवि कहा अर्थात् जिसके उदर से सारी वस्तुएं प्रतिबिम्बित हो रही हों। लिच्छवियों का सम्बन्ध वाराणसी से रहा है। परमत्थ जोतिका में लिच्छवियों की उत्पत्ति के सन्दर्भ में कहा गया है कि वाराणसी की महारानी से उत्पन्न मांस के लोथडे को एक पिटारी में बन्द कर उसे गंगा में बहा दिया। पिटारी पर "वाराणसी राजा का पुत्र' लिख दिया। एक ऋषि ने उसको सम्हाला और बाद में विकसित होकर वही पुत्र और पुत्री बने जिनका ऋषि ने पालन-पोषण किया वे दोनों मणि जैसे दिखने के कारण चर्महीन लगते थे। इसलिए उन्हें लिच्छवि कहा जाने लगा। ऋषि ने इन बच्चों को उनके पालन-पोषण के लिए ग्वालों को दे दिया। दोनों का एक साथ विवाह हो गया। तीन योजन की जगह उन्हें दी गई। इसलिए वे वज्जी कहलाये और नगर का समय-समय पर तीन बार सीमागत विस्तार-विकास हुआ। इसलिये उसे वैशाली कहा गया।

बुद्धघोष ने लिच्छवियों के सब्बरत्तिचार नामक एक उत्सव का उल्लेख किया है। गंगा के किनारे यहां एक पोर्ट था। समुद्री रत्नों के विभाजन की संधि लिच्छवियों और मगध राजा अजातशत्रु के बीच हुई कि उन्हें आधा-आधा भाग विभाजित किया जायेगा पर लिच्छवियों ने कुछ भी नहीं दिया। अजातशत्रु ने फिर उनके बीच दरार पैदा कर वज्जियों को परास्त किया।

बुद्धघोष ने लिच्छवियों की एकता की प्रशंसा की है और उनकी धार्मिक दृष्टि की भी। सभा में सभी मिलकर निर्णय किया करते थे। दण्ड देने का भी उनका विधान लोकतन्त्रात्मक था। उसे लिच्छविगण कहा जाता था (समन्तपासादिका, पृ. २१२)।

सुमंगल विलासिनी में **'अट्ठमल्ल पामोक्खा'** कहकर कुसीनारा और पावा के मल्लों की विशेषताएं बताई गईं। कुसीनारा में ही दो साल वृक्षों के बीच बुद्ध का परिनिर्वाण हुआ। यहां शाक्य और कोलियों की भी चर्चा है। रोहणी नदी के उपयोग के सन्दर्भ में दोनों में विवाद भी हुआ (भाग २, पृ. ६७२)।

राजगृह मानधाता, महागोविन्द आदि राजाओं का आवास रहा है इसलिए इसे राजगृह कहा जाता है। इस नगर के दो भाग थे - अन्तोनगर और बहिनगर। इसमें १८ महाविहार थे बुद्ध के समय अजातशत्रु ने बाद में प्रथम संगीति के समय उनका जीर्णोद्धार कराया (स.पा., पृ. १६४)। समन्तपासादिका में बुद्धघोष ने बिम्बिसार आदि राजाओं का उल्लेख किया है जिन्होंने मगध का विकास किया (भाग २, पृ. २५७)। सेना से समृद्ध होने के कारण उसे श्रेणिक भी कहा जाता था। उसका पुत्र अजातशत्रु था जो वैदेही का पुत्र था। धम्मपद अट्ठकथा में अजातशत्रु और प्रसेनजित को सम्बन्धी बताया (२९.६०)। सुमंगल विलासिनी में कहा है कि बिम्बिसार को अजातशत्रु ने मरवा डाला था (भाग १, पृ. १३३-६)। मरते समय उसने 'बुद्ध और धम्म' कहा। फलत: चातुर्महाराजिक स्वर्ग में देव हुआ। यहीं यह भी कहा कि देवदत्त ने अजातशत्रु से बुद्ध को मार डालने के लिए प्रेरित किया, गिज्झकूट से पत्थर फेंका और नीलगिरि हाथी को उनके ऊपर छोडा। फिर भी बुद्ध का अन्त नहीं कर सका (वही, भाग १ पृ. १३८-९)। देवदत्त के विषय में ये परस्पर विरोधी उल्लेख पाठक को कुछ सोचने के लिए विवश कर देते हैं।

राजगृह में गिज्झकूट के पास ही मद्दकुच्छिनामक हिरणोद्यान है जहां अजातशत्रु की मां ने अपना भ्रूण गिराना चाहा था। यहीं आम्रवन में अजातशत्रु बुद्ध से मिला था। जीवक भी यहीं रहता था। उदय भद्द, शिशुनाग, विंदुसार, अशोक, आदि राजा भी यहीं हुए। यहीं अजात शत्रु ने २४ वर्ष राज्य किया।

पपंचसूदनी में पुव्वविदेह, अपरविदेह, कुरु आदि का विवरण मिलता है (भाग १, पृ. २२५-६)। कोसल और महाकोसल की भी व्युत्पत्ति यहां दी है। पसेनदि यहां का राजा था। उसने राजकाराम बनवाया। अंग, वत्स, कौशाम्बी आदि का भी वर्णन यहां है। श्रावस्ती का सौदागर सुदत्त या अनाथपिण्डक ने ५४ करोड कार्षपण लगाकर जेतवन विहार बनवाया। जहां बुद्ध १९ वर्ष रहे। यहीं उसने तीन कुटियों का भी निर्माण कराया था। अपने प्रासाद से ही वह सहस्र भिक्षुओं को पिण्डपातिक दिया करता था। श्रेष्ठी भद्दिय पुत्री विशाखा का भी वर्णन बुद्धघोष ने किया है जिसने बुद्ध के लिए पुब्बाराम बनवाया था।

भौगोलिक तथ्य

समन्तपासादिका में चम्पा, गग्गरा, वेरंजा, सावत्थी, तम्बपण्णी, सुवण्णभूमि, उत्तरापथक आदि के बारे में वर्णन मिलता है (पृ. १२१)। सिनेरु नामक

सर्वाधिक ऊंचे पर्वत का भी वर्णन है जिसे जैन परम्परा में सुमेरु कहा गया है। जम्बूद्वीप, अपरगोयन, हिमालय आदि का भी विस्तृत वर्णन है, अनोतत्त, कुणाल आदि सात नहरों का भी।

पपंचसूदनी में मज्झिम देश का वर्णन है (भाग ४, पृ. १७२)। बुद्ध, पच्चेकबुद्ध, प्रमुख शिष्य ८०, प्रमुख राजा आदि यहीं रहे हैं। गंगा, यमुना, अचिरवती, सरभू, मही आदि नदियां भी यहीं हैं। इसके पूर्व में तक्षशिला, कपिलवत्थु, कुरुहट्ठ, कोसाम्बी, वेसाली, सावत्थी आदि नगर, हिमालय, सिनेरु आदि पर्वत, गंगा, रोहिणी आदि नदियां थीं। वेसाली के महावन और संघारामविहार का भी वर्णन है और राजगृह के वेणुवन का भी।

सारत्थप्पकासिनी में मन्दाकिनी नामक सरोवर का वर्णन है। वदरिकाराम घोषिताराम के पास ही था। कुक्कुट, पवारिय, घोषक श्रेष्ठियों ने घोषिताराम कुक्कुटाराम और पवारिकाम्मवन बनवाये। आम्रपाली ने वैशाली में आम्रवन बनवाया। नालन्दा का पावारिक अम्बवन भी प्रसिद्ध रहा। कस्सप काल में सुकरखत नामक गुफा को साफकर उसे सल्लागार नाम दिया गया और बुद्ध को भेंट कर दी गई। सन्थागार एक बडा **'इन्द्रक'** नामक सभागार था जिसमें विविध विषयों पर चर्चा होती थी।

सुमंगल विलासिनी में दक्षिणापथ का उल्लेख है। बुद्धघोष के अनुसार दक्षिणापथ गंगा का दक्षिणी भाग है। यहां अम्बट्ठ के पिताजी ने अम्बट्ठविज्ञा सीखी थी। इस विद्या से किसी के भी अस्त्र झुकाये जा सकते हैं (भाग १, पृ. २६५)। ओक्काक ने यह देखकर उसे अपने यहां नौकरी दे दी। बुद्धघोष ने आन्ध्र के अस्सक और अलक राजाओं की राज्यसीमा का भी उल्लेख किया है।

धर्म

अट्ठकथाओं में तथागत बुद्ध की जीवनी के सन्दर्भ काफी मिलते हैं। इस सन्दर्भ में जातकट्ठकथा की निदान कथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। बुद्धवंसट्ठकथा श्रावस्ती में रहने के पूर्व बीस वर्ष कहां-कहा उपदेश देते रहे इसका विवरण प्रस्तुत करती है (पृ. ३)। समन्तपासादिका बुद्ध का आगमन श्रीलंका में तीन बार बताती है (भाग १, पृ. ८९) और उन्हें असाधारण कहती है (भाग ३, पृ. २४४)। बुद्धवंसट्ठकथा पूर्व बुद्धों का इतिहास बताती है। थेरगाथा अट्ठकथा, थेरीगाथा अट्ठकथा और मनोरथपूरणी से तथागत कालीन थेर, थेरी और प्रमुख उपासकों के नाम सामने आते हैं (वही, भाग २, पृ. ३४९)। षड्तीर्थिकों का विस्तृत वर्णन यहां मिलता है। कथावत्थुपकरणट्ठकथा में अशोक के पूर्वकालीन १८ सम्प्रदायों तथा छ अशोकोत्तर सम्प्रदायों का उल्लेख है। विनयपिटक अट्ठकथा में अशोक कालीन दस बौद्ध सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है (भाग १, पृ. ६०-६१)।

सामाजिक और आर्थिक महत्त्व

धम्मपदट्ठकथा, जातकट्ठकथा, विमानवत्थु पेतवत्थु आदि अट्ठकथाओं में सामाजिक और आर्थिक पक्ष प्रतिबिम्बित हुए हैं। प्राचीन काल में जाति के नाम से गांव जाने जाते थे। जैसे ब्राह्मणगाम, चण्डालगाम। **दास प्रथा** थी। एक दास का विक्रय हुआ १०० कार्षापणों में। धम्मपदट्ठकथा (भाग १, पृ. ४५) और पेतवत्थु अट्ठकथा (पृ. ३१) में बहुविवाह प्रथा के उल्लेख हैं।

कुसीनारा और पावा तथा पाटलिपुत्र और उत्तर-पश्चिम के बीच महापथ था। सारथी सैकडों बैलगाडियों के साथ यात्रा करते थे। विदेशों में भी व्यापार करने जाते थे। भरुकच्छ और गंभीर अच्छे बन्दरगाह थे। जातकट्ठकथा इन श्रेणियों का उल्लेख करती है (भाग १, पृ. २६७)। शव को जलाने की प्रथा थी। तक्षशिला एक बड़ा शिक्षाकेन्द्र था।

श्रीलंकाई धार्मिक इतिहास

बुद्धघोष की अट्ठकथाओं में श्रीलंका के धार्मिक इतिहास का प्रतिबिम्बन हुआ है। सारत्थप्पकासिनी में काइवल्लिमण्डप और कोलम्बो तित्थ विहार के भिक्षुओं की एक कथा दी है जिसमें वे असामाजिक तत्त्वों के घरों से भी भिक्षा लाया करते थे (पृ. १२२)। महाचेतिय विहार के प्रांगण में एक नवयुवक भिक्खु का स्पर्श नव युवती भिक्षुणी से हो गया तो वह गृहस्थ बन गया (अ.सा.पृ. ३९९)।

बुद्धघोष की अट्ठकथाओं में त्रिपिटक में दक्ष भिक्षुओं के नामों का उल्लेख है जैसे दीघभाणक अभय, तिपिटक चूलाभय, मलियदेव, दीघभाणक तिपिटक महासिव, तिपिटक चूलनाग आदि। भाणक त्रिपिटक के वाचक थे। विनय अट्ठकथा के अनुसार अभयगिरिविहार और महाविहार के भिक्षुओं में विनय विषयक मतभेद हो गया (भाग २, पृ. ३५०)। अंगुत्तरनिकाय अट्ठकथा में यह विवाद **परियत्ति** (त्रिपिटक का अध्ययन) और **पटिपत्ति** (उसका अभ्यास) को लेकर हुआ पंसुकूलिक और धम्मकथियों के बीच। चर्चा के बाद यह तय हुआ कि अभ्यास की अपेक्षा अध्ययन अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका तात्पर्य यह है कि श्रीलंका में संघर्ष काल में सुत्त का अध्ययन उसके अभ्यास या पालन की अपेक्षा अधिक महत्त्व पूर्ण हो गया वट्टगामणि अभय के समय (पृ. ९२-९३)। जनता के बीच बुद्ध की पूजा बहुत प्रचलित थी। दूर-दूर से विहार में पूजा करने लोग आया करते थे। बोधिवृक्ष को काटने की अनुमति किसी को भी नहीं थी। विनय पालन में यथासमय शिथिलता आती रही। जनता की चिकित्सा करने की अनुमति भिक्षुओं को दे दी गई। विहारों में दास भी रखे जाने लगे। दुट्ठगामणि अभय के समय विनय नियम अधिक शिथिल हुए (अ.अ.क. भाग १, पृ. २३)।

समन्तपासासादिका (भाग १, पृ. ७३-१६४) में विस्तार से श्रीलंका में महिन्द के पहुंचने का वर्णन है बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार के लिए। उस समय वहां

मुससिव (३०७-२४७ ई.पू.) का राज्य था। उसकी मृत्यु के बाद तिस्स का अभिषेक हुआ। महिन्द ने उसे उपदेश देकर बौद्धधर्म में दीक्षित किया। भिक्षुणी संघ को तैयार करने के लिए संघमित्रा को आहूत किया गया। अनुराधापुर में बोधि वृक्ष लगाया गया। यहां श्रीलंका के राजाओं की नामावली दी हुई है।

दुट्ठगामणि के समय श्रीलंका में अकाल पड़ा। काफी बौद्ध भिक्षु भारत चले गये। इसी बीच एक सामणेर और सामणेरी में प्रेम हो गया और उन्होंने पाराजिक दोष किया। (पपंचसूदनी, पृ. ११, १४५)। विनय में इस प्रकार शैथिल्य बढता ही जा रहा था। विसुद्धिमग्ग (भाग १, पृ. २४१) में एक **महादेव थेर** का उल्लेख है जो अर्हत हो गये। श्रीलंका में महादेव अन्तिम अर्हत् थे।

दुट्ठगामणि के बाद सद्धतिस्स ने राज्य किया। उसे तित्तर-मांस खाने की इच्छा हुई। एक तिस्स नामक व्यक्ति ने उसे मांस दिया जो उसके निमित्त नहीं बना था। (मनोरथ पूरणी, भाग २,पृ. ३०)। अनुराधापुर विहार में भी **विनय शैथिल्य** आने लगा। सद्धतिस्स उस विहार में अपनी महिलाओं के साथ रहने लगा। उनमें एक तरुण भिक्षु किसी महिला के साथ प्रेम में फंस गया और दोनों उसमें अधिक लिप्त होने के कारण परलोक सिधार गये (मनो. भाग १, पृ. २३)। सद्धतिस्स ने दक्षिणगिरि, कलम्बक, अनेक स्थानों पर बिहार बनवाये।

तिस्सबद्ध शक्तिसंपन्न ब्राह्मण था (४३ ई.पू.) उसे चण्डाल भी कहा गया। इस समय अनुराधापुर में द्वादश वर्षी अकाल पडा। कुछ भिक्खु भारत चले गये और कुछ वहां पर्वतीय प्रदेशों में पहुंच गये। महासेन और चूलसिव ने वहीं रहकर बौद्धधर्म की रक्षा करने का संकल्प किया। चूलसिक जग्गर नदी के किनारे रुके। वहीं लोग पत्तियां खाकर पेट भर रहे थे। निग्रोध आदि भिक्षु भी इधर-उधर घूमे पर उन्हें कुछ नहीं मिला। मछली खाकर ही उन्हें पेट भरना पडा। कुछ ने वृद्धथेरों का मांस भक्षण किया। बाद में निग्रोध प्रमुख भिक्षु बना (सं.नि. पृ. ४४९-५०)। तिस्सभूमि के मन में भी किसी भिक्षुणी के विषय में प्रेम जागा पर उन्होंने ध्यान के माध्यम से उसे समाप्त किया (वही, पृ. ४४८)। अकाल के समय फुस्सदेव और उपतिस्स ने विनय का संरक्षण किया (सं. वि. पृ. ४४८)। ये दोनों सुमणदेव थेर के शिष्य थे (वही, भाग १, पृ. ४४८)।

इस समय तक लेखन की परम्परा विकसित नहीं हुई थी। बुद्ध उपदेश परम्परागत तौर पर ही **मौखिक** रूप से सीखे जाते थे। अभाव के कारण ऐसे जानकार भिक्षुओं का भी अन्त हो गया। फिर भी कुछ बच गये जिन्होंने किसी तरह त्रिपिटक और अट्ठकथाओं को सुरक्षित रखा। मनोरथ पूरणी से पता चलता है कि एक भिक्षु सुत्तपिटक

के महानिद्देस को जानता था। महातिपिटक थेर ने महारक्खित थेर को उसे याद करने के लिए कहा। पर वह थेर अशुद्ध था इसलिए महारक्खितथेर उससे सीखना नहीं चाहते थे। राजादि के कहने से उसने उसे सीखा और फिर दूसरों को सिखाया (स.वा. भाग ३, पृ. ६९५)।

ब्राह्मणतिस्स कालकवलित हो गया। अकाल भी समाप्त हो गया। तब वट्टगामिणि ने पुनः राज्य प्राप्त किया (२९-१७ ई.पू.) । यह जानकर भारत गये भिक्षु भी वापिस पहुंच गये। उन्होंने महासेन थेर और वहव्वक निग्रोध की भी जानकारी ली। मलयजिले में रहने वाले ९० भिक्षु भी आ गये जिन्हें आगम याद थे। वे सभी तुलना करना चाह रहे थे (म.पू., पृ. ९२) तब यह विवाद उत्पन्न हुआ कि परियत्ति मूल शासन है या पटिपत्ति (**परियत्ति नु खो सासनस्स मूलं उदाहु पटिपत्ति**)। परिचर्चा के बाद धम्मकथिकों ने पांसुकूलिकों को पराजित किया। सुत्तन्त प्रमुख हो गया। विनय हार गया।पर कुछ भिक्षुओं ने "**विनय नाम बुद्ध सासनस्स आयु**" कहकर इसका विरोध किया।

समन्तपासादिका में उपाध्याय भिक्षुओं के नामोल्लेख हैं - उपतिस्स और फुस्सदेव विनयधर थे। उपतिस्स को मेधावी और फुस्सदेव को महाकथी कहा गया। उपतिस्स के दो शिष्य थे। महापदुम और महासुम्म। दोनों शिष्य विनय में निपुण थे। इन चारों थेरों में विनय की व्याख्या में अन्तर था। 'फुस्सदेव की व्याख्या को उनके शिष्यों ने स्वीकार नहीं किया और कहा कि उनके गुरु अभिधम्म के ज्ञाता नहीं हैं (स.पा. भाग १, २६३-६४, भाग २, पृ. ४९५)। महापदुम को पुप्फनाम से भी जाना जाता है। बुद्धघोष ने महापदुम और महासुम्म को बहुत आदर दिया है। उनके कथन को 'आचरियवाद' कहकर उल्लिखित किया है। महासुम्म के शिक्षक अनुरुद्ध थे। समन्तपासादिका में करविक तिस्स को "विनयधर" कहा गया। वे महासिव थेर के समकालीन थे। उनके काल में तीन थेर थे - लोकुत्तर के चूलसिव, गोनरविय और कल्हाल के सुम्म। चूलनाग भी इसी समय के थे। चूलनाग, चूलाभय और महाधम्मरक्खित ने पुग्गलपञ्ञत्ति पर अपने भिन्न भिन्न विचार दिये (पपंचसूदनी, पृ. १०२५)। चूलाभय के गुरु थे दीप विहार वासी सुमण जो गिरिविहरवासी थे।

श्रीलंका में पांच मुख्य विहार थे - महाविहार, थूपाराम, इस्सरसामणाराम, वेस्सगिरि विहार और चेतियगिरिविहार। महाविहार अनुराधापुर में था। देवानंपिय तिस्स ने महिन्द के आने पर उसका निर्माण कराया था। लोहपासाद उसका उपोसथागार था। समन्तपासादिका में बोधिवृक्ष का वर्णन है कि कैसे वह श्रीलंका में आया और

महामेघवान (अनुराधापुर) में लगाया गया। वट्टगामणि ने अभयगिरिविहार बनवाया जो प्रमुख शिक्षा केन्द्र था। इनके अतिरिक्त तिस्समहाराम, तुलधरपब्बत, कालदीघवापीद्वार विहार, मण्डलाराम, काजरागाम महाविहार भी शिक्षाकेन्द्र थे।

भिक्षु की दैनन्दिनी में महाविहार की सफाई जलव्यवस्था, थेर सेवा आदि थीं। उसके पास निम्न वस्तुएं रहती थीं - पोशाक-चीवर, भिक्षा पात्र, मुत्तिपोत्थक, अरणि, तिपत्तिम (रेजर), अरकनतक, पिप्फलक (कैंची), नखच्छेदन और सुचि (सुई)।

संमोहविनोदनी (पृ. ४४०) से पता चलता है कि राजा भातिय के समय कोई भी व्यक्ति गाय का मांस नहीं खा सकता था। अमन्दगामणि के राज्यकाल में मांस भक्षण और जीवमारण बिलकुल बन्द था। सभी शाकाहारी थे। फांसी की सजा भी बन्द की थी वोहारिक तिस्स ने।

उपासक भिक्षुओं की साधना में साधक बनते थे। अकाल के समय भी वे उन्हें कुछ न कुछ दिया करते थे। भिक्षु का कार्य उन्हें उपदेश देकर सन्मार्ग पर लाना था परिवेणों में भिक्षु शिक्षक का काम करते थे। वे न्यायाधीश का भी काम करते थे यदा कदा। राजनीति में भी भाग लेते थे।

उदयभद्द ने मगध पर २५ वर्ष राज्य किया। उसके बाद शिशुनाग ने १८ वर्ष राज्य किया। कालाशोक केदस पुत्रों ने २३ वर्ष राज्य किया। फिर नन्द का २३ वर्ष राज्य रहा। चन्द्रगुप्त ने उसे राज्यच्युत कर २४ वर्ष राज्य किया। उसके बाद बिन्दुसार ने १८ वर्ष राज्य किया। बिन्दुसार के बाद उसके पुत्र अशोक ने राज्य संभाला। अशोक सर्वधर्मसमभावी राजा था। वह ६०००० ब्राह्मण-श्रमणों को भिक्षादान देता था पर बाद में वह केवल बौद्ध भिक्षुओं के लिए ही देने लगा। वह लगभग पांच लाख कार्षापण चारों प्रवेश द्वारों और सभा से वसूलता था। उसने तिस्स को छोडकर अपने सभी भाइयों को मार डाला और चार वर्ष तक राज्य किया तृतीय संगीति मोग्गलिपुत्त तिस्स के सान्निध्य में उसी ने संयोजित की और देश-विदेश में बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार के लिए लोगों को भेजा। साथ ही ९६ करोड कार्षापण ८४ हजार स्तूपों को बनवाने के लिए दिये (समन्तपासादिका १ पृ. ११५)।

पपंचसूदनी के अनुसार पुब्बविदेह ही बाद में विदेह के नाम से प्रचलित हो गया। यहां का राजा मखादेव था जिसका एक आम्रवन भी था। अपरयोगान ही अपरान्त हो गया और उत्तरकुरु कुरु के नाम से जाना गया। कुरु का राजा महामानधाता था। उसके पास चक्ररत्न था जिसकी सहायता से वह कहीं भी जा सकता था। देवलोक को छोडकर उसने पुव्वविदेह, अपर योगान और उत्तरकुरु को अपने अधिकार में कर लिया।

वेभार पर्वत के नीचे एक बडी झील थी जिसे तपोदा कहते हैं। इसका जल लोहकुम्भी नरक से होकर राजगृह नगर में आता था इसलिए वह गरम रहता था। यह नागों का आवास था। वेणुवन भी यहीं था।

राजगृह के पास ही एक एक सप्पिणी नामक नदी थी जिसके किनारे बुद्ध ने कुछ समय बिताया था। यहीं एक दक्षिणगिरि था जिसे कैलाश पर्वत कहा जाता था। यहीं मन्दाकिनी नामक नदी भी थी। गंगा-यमुना भी यहां थीं। वेभार पर्वत पर सप्तपर्णी गुफा को आज भी देखा जा सकता है। भूकंप के कारण यद्यपि उसकी ऊंचाई कम हो गई। पर अंदर लंबाई चौडाई अभी भी वैसी ही है जैसी पिटकों में उल्लिखित है। गुफा का मुखद्वार बहुत छोटा हो गया है। पर कहा जाता है भीतर जाने का रास्ता फैलता गया और वह लंबे चौडे हाल से जुड जाता है।

पालि साहित्य के आधार पर कुरु प्रदेश की आधुनिक स्थिति मेरठ, मुजफ्फरनगर, बुलन्दशहर, सहारनपुर, दिल्ली, कुरुक्षेत्र, थानेश्वर आदि नगरों में समाहित होती है और पंचाल को एटा, मैनपुरी, अहिच्छत्र, कम्पिल्ल, फरूखाबाद आदि नगरों के समीपवर्ती भागों में देखा जा सकता है। पालि ग्रन्थों में 'कुरुपंचालेसु' शब्द के प्रयोग से ऐसा लगता है कि दोनों राष्ट्रों में राजनीतिक संक्रमण अधिक होता रहा है।

कुरुक्षेत्र के थुल्लकीट्ठित नगर में भ. बुद्ध ने विहार किया जहां कौरव्य नामक राजा राज्य करता था। बुद्धघोष के अनुसार यह नगर बडा समृद्ध था। वहां के कोठे सदैव अन्न से भरे रहते थे। यह नगर हस्तिनापुर और दिल्ली के बीच रहा होगा। यहां राष्ट्रपाल ने भ. बुद्ध से प्रव्रज्या ली और उनके साथ श्रावस्ती चला गया। स्मृतिप्रस्थान जैसे गंभीर विषयों का उपदेश भगवान् बुद्ध ने इसी प्रदेश में दिया था। पालि साहित्य में यहां के कतिपय निगमों का उल्लेख मिलता है। मज्झिमनिकाय के रट्ठपाल सुत्त में थुल्लकोट्ठिक नामक एक समृद्ध निगम का उल्लेख आता है जो रट्ठपाल की जन्मभूमि थी। इसी के समीप कौरव्य राजा का मिगाचीर नामक एक सुरम्य उद्यान था जहां रट्ठपाल भिक्षु अवस्था में रुके थे।

महाउम्मग्गजातक में पंचालराज चूलनि ब्रह्मदत्त का उल्लेख है। यहां उत्तरपंचाल और पंचालचण्डी की भी चर्चा हुई है तथा पंचाल राज्य के सुन्दर नामक नगर की शोभा का भी वर्णन हुआ है। यहीं चूलनी ब्रह्मदत्त राजा के केवह नामक ब्राह्मण अमात्य और महोषध पण्डित के राजनीतिक दावपेंच का भी प्रदर्शन हुआ है और महोषध पण्डित को विजय प्राप्त करते हुए बताया है। महोषध पण्डित बौद्धधर्म का पोषक था जो पंचाल नगर में बौद्धधर्म का प्रचार करता रहा (गा. ३०८)। कुम्भकारजातक में पंचाल राजा दुर्मुख को निमि का समकालीन बताया है। ब्रह्मदत्तजातक और मणिकण्ठ जातक का सम्बन्ध उत्तरपंचाल से है जिसे कम्पिल नामक राष्ट्र के अन्तर्गत माना गया है। यहां बोधिसत्व को तपस्वी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उनका सम्मान ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती

ने किया। उत्तर पंचाल की राजधानी कहीं अहिच्छत्र और कहीं कम्पिल्ल बताई गई है। यहां एक वेणुवन भी था जिसमें भ. बुद्ध कम्बिल के साथ कुछ समय ठहरे हुए थे। संयुत्त निकाय, किम्बिल सुत्त। किम्बिल यहीं का निवासी था (अंगुत्तर निकाय, पंचकनिपात) जिसके नाम पर कंपिल्ल नाम पडा। विसाख पंचालपुत्त भी पंचाल वासी थे जहां उन्होंने वहां की उपस्थानशाला में भिक्षुओं को उपदेश दिया था। महावस्तु के कम्पिल्य जातक में यहां के वैभव का अच्छा वर्णन हुआ है। इसी तरह पंचाल का आलवी नगर और सागल आदि अनेक ऐसे नगर हैं जिनका सम्बन्ध कुरु पंचाल से रहा है और बौद्धधर्म फूलता-फलता रहा है । मेनान्डर जैसे यवन राजाओं ने भी यहां बौद्धधर्म और संस्कृति को पल्लवित किया है ।

दक्षिण पूर्व एशिया में बौद्ध अध्यात्मवाद

दक्षिण-पूर्व एशिया में बौद्ध अध्यात्मवाद फूलता-फलता रहा है। वैदिक धर्म के साथ भी उस का सम्बन्ध रहा है। वैदिकों ने बुद्ध को विष्णु का अवतार माना। महायान ने वैदिक देवी-देवताओं को अपनाया। जावा में शैवधर्म और बौद्धधर्म आठवीं शती से रहा एक साथ। उनमें कभी संघर्ष भी नहीं हुआ। उस पर जब चोल वंश ने शासन किया तो मंदिरों में दोनों परम्पराएं साथ-साथ चलती रहीं। मन्दिर के भीतर बौद्धमूर्तियां और बाहर वैदिक मूर्तियां बनती रहीं। यहां निम्नजाति के लोगों को बौद्धदीक्षा नहीं दी जाती थीं।

बौद्धधर्म के विकास में यहां राजाओं का योगदान रहा। राजा के कर्तव्यों के निर्धारण में सभी धर्मो के साथ समान व्यवहार करना भी संमिलित था। उसे देवराज कहा जाता था, धर्मराज भी। खमेर शासक जयवर्मन सप्तम स्वयं को बुद्ध का अवतार मानता था। राजाओं ने मन्दिरों और विहारों का निर्माण किया। संघ के आन्तरिक विरोधों को शान्त किया। वर्मा में अनव्रहत ने शिन्द अर्हत् को आश्रय देकर थातोन परम्परा को पेगान में स्थापित किया और महायान तान्त्रिक संघ को हटाया। बाद में मोन भिक्षु को श्रीलंका भेजा गया और वर्मा में विशुद्ध थेरवादी संघ को स्थापित क्रिया गया। १५ वीं शती में राजा धम्मजेति ने भी ऐसा ही किया।

श्रीलंका

श्रीलंका में भी यही हुआ। दुट्ठगामणी (१६१-१३७) ने भिक्षुओं को साथ लेकर युद्ध किया और बाद में उनके प्राणिघातिक विषय को क्षमा कर दिया। यहां तो शासक होने के लिए बौद्ध होना आवश्यक हो गया और संघ के समर्थन के बिना शासक होने की कल्पना भी नहीं की जाती थी। यहां थेरवादी बौद्धधर्म की लोकप्रियता अधिक रही। महायान धर्म को अलगकर राजाओं ने भी थेरवादी परम्परा को स्थापित किया। १४ वीं शती में थाई के महायान परम्परा को अलगकर थेरवादी परम्परा स्थापित की गई।

श्रीलंका में लगभग ७५ प्रतिशत बौद्ध और शेष हिन्दु, मुसलिम और क्रिश्चियन हैं। यहां बौद्धधर्म को राजधर्म माना गया है। यहां सियाम, अमरपुर और रामञ्ञ निकाय सम्प्रदाय हैं। सियाम के ६, अमरपुर के २६ उपसम्प्रदाय है। अमरपूर निकाय अरण्यवासी जैसे हैं। इनमें विष्णु, कतरगम और नाथ देवों की पूजा होती है।

दुट्ठगामणी अभय ने अभयगिरि विहार बनवाया और महातिस्स थेर को उसे समर्पित कर दिया। यहां से अभयगिरि विहार परम्परा शुरू हुई। महाविहारवादियों ने उसे संघ से निष्कासित कर दिया। अभयगिरिविहार ने महायान सम्प्रदाय का साथ दिया और महासेन (२७६-३०३ ई.) के माध्यम से महाविहारवादियों से बदला लिया। महासेन ने जेतवन विहार बनवाया और तबसे जेतवनविहार परम्परा का सूत्रपात हुआ। चीनी यात्री फाह्यान (४१०-४२) के समय अभयगिरि विहार में ५०००, महाविहार में २००० और चेतियपब्बत विहार में २००० भिक्षु थे। थोडे समय बाद ही बुद्धघोष ने अपना विसुद्धिमग्ग ग्रन्थ महाविहार को ही प्रस्तुत किया था। यहीं उन्होंने और धम्मपाल ने टीकाएं भी लिखीं थीं।

५ वीं शती में थेरवाद बौद्धधर्म का यहां पतन शुरु हो गया। ११ वीं शती तक यहां महायान धर्म का भी प्रभाव रहा। छठी शती के अन्त में भारतीय भिक्षु जोतिपाल ने शास्त्रार्थ में महायानी भिक्षु को पराजित किया। फलतः महायान का प्रभाव कम होने लगा। ६३८ में चीनी यात्री ह्यून सांग ने भारत की यात्रा तो की पर श्रीलंका की यात्रा पर वह नहीं गया क्योंकि उस समय वहां की स्थिति ठीक नहीं थी। वज्रबोधि (६७१-७४१) ने तान्त्रिक बौद्धधर्म की स्थापना चीन में की वहां से दो बार उसने श्रीलंका की यात्रा की और वहां अभयगिरिविहार में रुका। उसके शिष्य अमोघवज्र (७०५-७७४) ने वहां तान्त्रिक बौद्धधर्म को प्रभावित किया और ५०० ग्रन्थ लेकर चीन गया।

आठवीं शती के बाद अनुराधपुर के स्थान पर पोलन्नरुआ राजधानी बनी। यहां तान्त्रिक बौद्धधर्म का प्रभाव कम हो गया और हिन्दुधर्म लोकप्रिय बना। धीरे-धीरे महाविहार परम्परा प्रभावहीन हो गई। चोल राजाओं ने इन सभी को नष्ट कर दिया। बाद में वज्रबाहु (१०५५-१११०) ने चोलों को पराजितकर पोलन्नरुधा पर अधिकार कर लिया। उसने सबसे पहला काम यह किया कि बौद्धसंघ को पुनरुज्जीवित किया और उसे वर्मी राजा अनवृहत के सान्निध्य में वर्मा भेजा और पालि ग्रन्थों की रक्षा की। पराक्रमबाहु (११५३-११८६) ने महाविहार परम्परा को पुनः संगठित किया, ११६५ में एक संगीति आहूत की और सांघिक परम्परा में कुछ नियमों का विधान किया। सारिपुत्त जैसे विद्वान थेरों ने अनेक पालि ग्रन्थों की रचना की। इस समय बौद्धधर्म का प्रभाव बढा और केण्डी एक विशिष्ट बौद्ध स्थल के रूप में लोकप्रिय हुआ।

१५०५ में वहां पोर्तुगीज पहुंचे और उन्होंने बौद्धधर्म को समाप्त करने का यथाशक्य प्रयत्न किया १५५७ में धर्मपाल राजा के ईसाई बन जाने पर तो उसकी स्थिति और बुरी हो गई। बौद्धधर्म और हिन्दुधर्म को उससे जबर्दस्त आघात लगा। विमलधर्मसूर्य (१५९२-१६०४) के काल में डच आये और उन्होंने भी वही कार्य किया। कीर्तिश्री राजसिंह (१७४७-१७८१) के समय बौद्धधर्म पुनःलोकप्रियता की ओर बढा। वालिविट सरणंकर ने इस दृष्टि से महनीय योगदान दिया। डचों को हटाकर ब्रिटिश आये १७९६ में और उन्होंने बौद्धधर्म को पुनः पीछे ढकेल दिया। सरणंकर ने संघ में जातिवाद खडाकर कृषकों को संघ से बाहर कर दिया। फलतः वे वर्मा जाकर दीक्षित हुए और अमरपुर निकाय की स्थापना की। इसी में से राजञ्ञ निकाय निकला। बौद्धों के सामने उनके अस्तित्व का प्रश्न थे। समाज में उन्होंने जाग्रति पैदा की बौद्ध शिक्षा का प्रचार-प्रसार हुआ। गुणानन्द जैसे विद्वान थेरों ने बादविवाद कर क्रिश्चियन समुदाय को हतप्रभ किया। बाद में ब्लावत्स्की, आल्काट, अनागारिक धम्मपाल आदि विद्वानों ने श्रीलंका में बौद्धधर्म को पुनरुज्जीवित कर दिया।

बर्मा

यद्यपि थेरवाद बौद्धधर्म यहां थातोन में प्रारम्भ से ही रहा पर पेगू में पंचम शती में महायान सम्प्रदाय का भी प्रभुत्व हो गया था। इसके बावजूद वर्मी बौद्धधर्म का वैविध्य से भरा सही इतिहास राजा अनवृहत (१०४४-१०७७) से प्रारंभ होता है। उसने भिक्षु शिन अर्हन् को सहयोग दिया। बौद्धधर्म के विशिष्ट प्रचार के लिए शिन अर्हन् थातोन से पेगन भागा क्योंकि थातोन में हिन्दू धर्म का प्रभाव अधिक हो रहा था। पेगन में आकर उसने बौद्धधर्म का नया रूप आरी विकसित किया जिसमें महायान और तान्त्रिकता का रूप भी अन्तर्भूत था। उसने बौद्ध भिक्षुओं को सैनिक बना दिया और नया बौद्धसंघ स्थापित किया। उन्हें पूर्णतः विनय थेरवादी नियमों का पालन करने को बाध्य किया गया। थातोन के राजा को पराजितकर उसने पालि त्रिपिटक को प्राप्त किया और सम्राट् अशोक के समान बौद्धधर्म का विकास किया, मन्दिर पैगोडा बन गये। बौद्धसंघ की व्यवस्था का उत्तरदायित्व उपासकों पर था और संघ उन्हें आध्यात्मिक शिक्षा देते थे। उपासक भी थोडे समय के लिए भिक्षु संघ में सम्मिलित हो सकता था।

यहां के बौद्धधर्म पर लोकतत्त्व के प्रभाव को नकारा नहीं जा सका। यहां ३६ देव माउण्ट पोप के महागिरि पर अवस्थित थे जिन्हें 'नट' कहा जाता था। अनवृहत ने यद्यपि उनके मन्दिरों को नष्ट कर दिया पर उन्हें देव के रूप में स्थान देना पडा। उसने शक्र को ३७ वां देव बनाया और उसे बुद्ध की पूजा करते हुए बताया। वह हिन्दू देवों के साथ बैठा दिया गया। उन्हें मात्र सांसारिक सुख देने वाला माना गया और निर्वाण प्राप्ति

के लिए बुद्ध को स्वीकारा गया। उ-नू ने १९४८ में यही किया। नट की सत्ता आज भी देखी जा सकती है।

अनवृहत राजा ने बौद्ध संघ को राजनीति से बाहर रखा। आर्थिक व्यवस्था का भार स्वयं ग्रहण किया और संघ से आध्यात्मिकता ली। अनवृहत के उत्तराधिकारी नाडोडंगम्य (१२१०-१२३४) ने भी उसका अनुकरण किया। बाद में धम्मजेदि (१४७२-१४९२) ने पेगु में संघ का पुनः नवीनीकरण किया और बोदपव्य (१७८२-१८१९) को भी यही करना पडा। यहां श्वेग्यन, श्रुधम्म, हिंग्वेत्विन आदि अनेक सम्प्रदायों का अस्तित्व है। ये सभी सम्प्रदाय थेरवादी हैं।

थाईलेण्ड

थाईलेण्ड में बौद्धधर्म प्रारम्भ से ही राजधर्म रहा है। यद्यपि भारो-चीनी पेनिन्सुल में थाई में १२३८ में ही बौद्धधर्म स्थापित हुआ पर बौद्धधर्म से उनका सम्बन्ध लगभग प्रथम शताब्दी में हो गया था जब वे अपने एइलाओ राज्य में रहते थे और खुन लुआन्गमाओ को बौद्धधर्म में धर्मान्तरित किया था। उस समय हीनयान सम्प्रदाय का अस्तित्व वहां था। जब चीन ने २२५ में एलाओ राज्य जीता तो थाई की स्वतन्त्रता समाप्त हो गई। बहुत सारे थाई लोग दक्षिण की ओर चले गये। ६५१ में थाई लोगों ने पुन्नन में चीनी राज्य के विरोध में आन्दोलन किया और नान्वाओ राज्य की स्थापना की। १२५३ में उसे कुबलाई खान ने जीता। तब तक यहां महायान सम्प्रदाय फैल गया था। चीन रिकार्ड के अनुसार नान्चाओ के लोग भारत आते जाते थे और बुद्ध की पूजा किया करते थे।

१२३८ में थाई लोगों ने खमेर के विरोध में आन्दोलन किया और थाई में सुखोथाई राज्य की स्थापना की। उस समय यहां महायान सम्प्रदाय आ चुका था। इस तरह यहां मोन का थेरवाद और महायान दोनों साथ-साथ प्रचलित बने रहे। आज जो बौद्धधर्म थाई में प्रचलित है उसकी स्थापना का श्रेय राजा रामकामहेंग को जाता है जिसने वहां १२९७ में श्रीलंकाई बौद्धधर्म का अनुसरण कर थेरवादी बौद्धधर्म को लोकप्रिय बनाया। उसने संघ के लिए अरण्य विहार बनवाया और संघनायक को संघराज की पदवी दी। उसने थेरवादी दीक्षा दी नवयुवकों को। इससे श्रीलंका और थाई के बीच अच्छे सम्बन्ध स्थापित हो गये। राजा लिथाई (१३४७-१३७४) ने श्रीलंका से भिक्षु सुमन थेर को आमन्त्रित किया। राजा स्वयं कुछ सभय के लिए भिक्षु बना। वह पालि का विद्वान भी था। उसने 'तेभूमिकथा' ग्रन्थ की रचना भी की थी। सुखोवती कला पर भी श्रीलंकाई बौद्धकला का प्रभाव रहा है। १४३८ में सुखोवती राज्य समाप्त हो गया और वह अयुध्या का अंग बन गया।

अयुध्या के बौद्धधर्म पर सुखोवती बौद्धधर्म का प्रभाव होना स्वाभाविक है। केण्डी के राजा कित्तिसिरिराजसीह के अनुरोध पर बोरोमकोट (१७३३-१७५८) न श्रीलंका में उपालि थेर को भेजा जो वहां थेरवाद की पुन: स्थापना कर सके। १७६७ में वर्मी राजा ने अयुध्या पर अधिकार किया। उसे राजा ताकसिन ने सात माह के भीतर ही पुन: हस्तगत किया और थोनबुरी (बेंकाक) को राजधानी बनाया।

राजा मोंगकुट ने अपने २७ वर्ष के शासनकाल में बौद्धधर्म को काफी आश्रय दिया। उसी के सान्निध्य में वहां धम्मयुत्तिक निकाय की स्थापना हुई जिस में थेरवादी विनय का परिपालन आवश्यक था। एक अन्य पारम्परिक निकाय था महानिकाय। राजा ने दोनों निकायों को भरपूर योगदान दिया। राजा चूललोंगकोन (१८६८-१९१०) भी बौद्धधर्म को आश्रय देता रहा। उसने धम्मयुत्तिकनिकाय का महामकुट राजविद्यालय और महानिकाय का महा चूललोंग कोन राजविद्यालय स्थापित किया। बाद में उन्हें विश्वविद्यालय के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। यहीं से फिर थाई लिपि में पालि त्रिपिटक प्रकाशित हुआ।

थाई जनता में जन्म से मृत्यु तक बौद्धधर्म के संस्कार किये जाते हैं। नामसंस्करण, विवाह, मृत्यु आदि अवसरों पर भिक्षु को आमन्त्रित किया जाता है। लगभग तीन माह के लिए हर व्यक्ति भिक्षु बनता है। भिक्षु संघ को चलाने का उत्तरदायित्व भी उपासक के कन्धों पर रहता है। विहारों में बच्चों को भी शिक्षा दी जाती है। वहां की कला पर भी बौद्धधर्म का पूरा असर है।

१२९२ के शिलालेख से पता चलता है कि थाई का राजा राजधर्म का पालन पूरी तरह से करता था। यहां भिक्षु संघ राजा से ऊपर था। नीचे बैठकर ही राजा उपदेश सुना करता था। उपदेश से सारी प्रजा प्रसन्नता का अनुभव करती थी। वह अष्टांगिक मार्ग का पालन करती थी, ध्यान करती थी और पालि ग्रन्थों का स्वाध्याय करती थी, आध्यात्मिकता से ओतप्रोत रहती थी।

राजा लिथाई के Sermon on the Three Words नामक ग्रन्थ से थाई बौद्धधर्म की आध्यात्मिकता का अनुमान लगाया जा सकता है। उसमें बौद्ध देवी-देवता, स्वर्ग-नरक, आदि का सुन्दर वर्णन मिलता है। त्रिलोक का वर्णन, जातिवाद, पाप-पुण्य, सांसारिक स्थिति अष्टांगिक मार्ग, निर्वाण आदि का विस्तृत वर्णन थाई भाषा में हुआ है। राजा मोंगकोत (१८०४-१८६८) ने इस ग्रन्थ का गहराई से अध्ययन किया और पालि ग्रन्थों का आधार लेकर जनता को बौद्धधर्म से परिचित कराया। उसने १८३३ में रामकमहेपिंग के शिलालेख का आधार लेकर १८५१ में उसे अपने राज्याभिषेक का आधार बनाया। इस दृष्टि से देवराज के स्थान पर वह धर्मराज बना और बौद्धधर्म के मूल ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था की। उसके पुत्र

वज्रयानवरोरस (१८९२-१९२१) ने इसे कार्य रूप में परिणत किया। मोंगकोत ने ध्यान परम्परा का प्रचार किया और आचार्य मुन (१८७१-१९४९) और आचार्य फ्रा. छा के सान्निध्य में ध्यान केन्द्र स्थापित किये। उसने विदेशियों के बीच बौद्धधर्म को पहुंचाने के लिए पालि ग्रन्थों और थाई ग्रन्थों का अंग्रेजी अनुवाद भी कराया। क्रुब श्री विजय (१८७३-१९३७) का भी योगदान इस क्षेत्र में उल्लेखनीय है।

सान्तियासोक सम्प्रदाय ने आन्दोलन का विरोध किया। उसके संस्थापक फ्रबोधिरक्ष (जन्म. १९३४) धम्मयुत्तिक और महानिकाय दोनों सम्प्रदायों में दीक्षित हुए थे पर वे किसी से भी सन्तुष्ट नहीं थे। उन्होंने फिर १९७५ में इस सम्प्रदाय को स्थापित किया और विशुद्धता और शाकाहारिता पर विशेष जोर दिया। आध्यात्मिकता, ध्यान और सामाजिक सुधार को भी अपना क्षेत्र बनाया पर उनका यह आन्दोलन अधिक लोकप्रिय नहीं हो सका।

धम्मकाय सम्प्रदाय १९७० में स्थापित हुआ। उसने विलुप्त ध्यान परम्परा का प्रचार किया जो जापान के शिगोन सम्प्रदाय का आधार बना। उसके शिष्य कित्तिबुद्धो भिक्खु (जन्म १९३६) की विचारधारा के अनुसार कम्युनिस्ट का और पापी राजा का वध करना पाप नहीं है। पूंजीवादी व्यवस्था का वह पक्षधर है। शिक्षित समुदाय में यह समप्रदाय अधिक लोकप्रिय है।

१९३२ में बुद्धदास भिक्षु (जन्म १९०६) ने सुआन मोक्खा सम्प्रदाय की स्थापना की। वह ध्यान और मूल ग्रन्थों के आधार पर संघभेद के विभाजन को सही नहीं मानता था। वह महायान से प्रभावित था। उसने ईसाई और इस्लाम धर्म का भी अध्ययन किया। तुलनात्मक अध्ययन कर वह हीनयान और महायान की यथार्थता को समझना चाहता था। कुछ लोग उसे कम्युनिष्ट कहकर अपमानित करते थे, कुछ उसे कल्याणमित्र कहते थे। उसका कहना था कि अभिधर्म के हर वर्णन की यथार्थता को हम समझने का प्रयत्न करें, अन्धानुकरण न करें, यह दृष्टि निश्चित ही अनेक दृष्टियों से उपयोगी है। यही उसका योगदान है।

बौद्धधर्म की लोकोपकारिता

संसार का कल्याण करने के लिए बुद्ध ने चक्रवर्ती बनने की अपेक्षा संसार का कल्याणमित्त बनना अधिक उचित समझा। बोधि प्राप्त कर उन्होंने मगधराजा बिम्बिसार और कुछ श्रेष्ठियों के सहयोग से राजगृह में विहार बनवाया। यह अपने आप में क्रान्तिकारी कदम था। उनकी उस लोकोपकारिता को हम इस रूप से समझ सकते हैं।

१) थेरवाद या हीनयान में बुद्ध ने स्वानुभूति के माध्यम से चतुरार्यसत्य का आभास कराया। महायान में उनके इस कार्य को महाकरुणा का प्रतिफल माना गया और उसे पारमिता पालन करने का फल कहा गया। संभोगकाय और निर्माणकाय के माध्यम से बोधिसत्त्व के रूप में बुद्ध संसार को निर्वाण का महापथ बताते हैं और निर्वाण तब तक प्राप्त न करने की प्रतिज्ञा करते हैं जब तक सारा संसार निर्वाण प्राप्त नहीं कर लेता। यह एक सामाजिक कल्याण का आदर्श है जिसे हर राजा को पालन करना चाहिए। निःस्वार्थ भाव व्यक्ति की परीक्षा है और उसका महात्याग भी।

२) चक्रवर्ती होने की अपेक्षा संसार तारक होना अधिक श्रेयस्कर है। देवराज की अपेक्षा धर्मराज होना अधिक कल्याणकारक है। इसी को शुद्ध क्षेत्र या बुद्धक्षेत्र कहा जाता है। विहार इस शुद्धक्षेत्र के प्रतीक हैं। विमलकीर्तिसूत्र में अशुद्धक्षेत्र से शुद्ध क्षेत्र में जाने का मार्ग निर्देशित किया है।

३) शत्रुता से शत्रुता, नष्ट नहीं होती। उसे प्यार से जीता जा सकता है, हिंसा को अहिंसा से मिटाया जा सकता है। इसी दृष्टि से बुद्ध भिक्षु बने, सब कुछ त्यागकर निरासक्त होकर निर्धनता को स्वीकार किया। दृष्टियों को त्यागकर शून्य हुए। आत्मविजयी होकर रत्नत्रय की प्राप्ति करने का मार्ग सुझाया।

४) सत्य की प्राप्ति हठात् नहीं होती। धर्मान्तरण भी हठात् नहीं होता। वह तो हृदय परिवर्तन है जो स्वानुभूति के माध्यम से ही हो सकता है।

५) धर्म की व्याख्या बुद्ध ने शील, समाधि प्रज्ञा और अधिक शिक्षा के माध्यम से की। वह मात्र बाह्य अध्ययन से नहीं होता बल्कि उसके लिए व्यावहारिकक्षेत्र में उतरना पडता है।

६) बुद्ध ने यह अनुभव किया कि नया धर्म परोसना सरल नहीं है। कानून राजा के हाथ में था ब्राह्मण ने समाज पर अधिकार कर रखा था। उसके पुरोहितवाद ने स्वतन्त्र चिन्तन पर आघात कर दिया था। बुद्ध चाहते तो आश्रम वसाकर एकाकी जीवन व्यतीत कर सकते थे पर उससे जनकल्याण नहीं हो पाता। इसलिए उन्होंने समाज में ही संघ का निर्माण किया। उसमें जाति, धर्म, परिवार, व्यापार, कामेच्छा आदि से दूर रहकर ही प्रविष्टि संभव थी। संयम से असंयम छोडा जा सकता था। उपासक समुदाय से भिक्षा आदि के माध्यम से उन्होंने सम्पर्क बनाना आवश्यक माना और इसके बदले उन्हें उपदेश देकर नकारात्मक़ता से सकारात्मकता का पाठ पढाया। यह उनका मनोवैज्ञानिक प्रयत्न था।

७) बुद्ध ने प्रातिमोक्ष नियम पहले से नहीं बनाये बल्कि उन्हें घटनाओं के आधार पर बनाया और उसकी स्वीकृति संघ के समक्ष की जाती थी। शिक्षा देने का यह एक सुन्दर माध्यम बनाया।

८) श्रमण और ब्राह्मण सम्प्रदायों में भिक्षु का एक अपना रोल होता था। भिक्षुणी संघ भी एक नया रूप था, विशुद्धि प्राप्त करने का एक उत्तम साधन था। उससे उसे अलौकिक आनन्द प्राप्त होता था। बुद्ध ने भक्तिव्यता बताने, शादी कराने, चमत्कार आदि करने के लिए इसीलिए निषेध किया था कि वे कहीं यशोलिप्सा आदि के कारण पथभ्रष्ट न हो जायें। धम्मपद ने ब्राह्मण की व्याख्या भी इसी आधार पर की थी। वस्तुत:मध्यम मार्ग की खोज के पीछे कदाचित् बुद्ध के मन में श्रमण और पुरोहित के बीच का मार्ग एक को स्थापित करने का भाव था। संघ की स्थापना के साथ सामाजिकता जुडी थी।

९) धर्म की व्याख्या स्वानुभूति के माध्यम से ही हो सकती है। मात्र व्यावहारिक रूप से वह प्रभावक नहीं होता। संघ का योगदान सामाजिक विकास के लिए अपरिहार्य रहा। राजा जो काम सैनिकों से कराते हैं, संघ वही काम स्वानुशासन से कराते हैं।

१०) संघ को अनुत्पादक नहीं कहा जा सकता। महायान के माध्यम से जनकल्याण और नि:स्वार्थता की शिक्षा दी गई तथा वज्रयान ने जातिवाद से हटाकर उसे उपेक्षित और शूद्रवर्ग तक पहुंचा दिया।

भारतीय बौद्धधर्म का विकास

बौद्धधर्म की उत्पत्ति और विकास में उसके पूर्ववर्ती और समकालीन सामाजिक और धार्मिक वातावरण का पर्याप्त प्रभाव रहा है। आर्य भारत के ही थे या बाहर से आये, इस प्रश्न में न उलझते हुए साधारण तौर पर यह माना जा सकता है कि तथाकथित आर्यो ने लगभग २५०० ई.पू. हिन्दुकुश पर्वत श्रृंखला को पारकर भारत पर आक्रमण किया। उस समय यहां मूलत: मुण्डा और द्रविड सभ्यता फैली हुई थी जिसमें श्रमण संस्कृति के सारे तत्त्व समाहित थे। हडप्पा और मोहेनजोदारो जैसे विकसित नगर उसकी विरासत थी जिनमें इन श्रमण संस्कृतियों का वर्चस्व था। पुरातात्त्विक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि किसी कारणवश ये दोनों नगर अस्तंगत हो गये और प्राचीन भारतीय संस्कृति पर्दे के पीछे चली गई। आर्यसमुदाय ने उत्तर-पश्चिम से यहां प्रवेश किया और पंजाब में गंगा नदी के ऊपरी भाग में बस गये। वे बहुदेवतावादी थे और प्राकृतिक तत्त्वों की शक्ति में विश्वास करते थे। ऋग्वेद उनका प्रमुख ग्रन्थ था। कालान्तर में गंगा-यमुना प्रदेश में वे फैल गये। सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद और उपनिषद् साहित्य की रचना हुई।

वर्णव्यवस्था का जन्म हुआ, यज्ञवाद और पुरोहितवाद, पनपा जिसपर ब्राह्मणवर्ग का अधिकार था और क्षत्रियवर्ग ने शासन तथा अध्यात्म के क्षेत्र पर विशेष अधिकार किया। आर्य समुदाय पूर्व और मध्यवर्ती प्रदेश की ओर बढे। विदेह के जनक जैसे राजाओं ने उसे प्रभावित किया। इसी प्रदेश में जैनधर्म और बौद्धधर्म ने अपना प्रभाव स्थापित किया।

आर्य समुदाय उत्तर से मध्यवर्ती प्रदेश की ओर बढे। यहां जनजातियों ने मिलकर सोलह जनपदों की स्थापना की। इनमें कोशाम्बी - श्रावस्ती, मगध-राजगृह, कोशल-अयोध्या, मथुरा- अवन्ती जैसे प्रदेश विकसित हुए। अर्थव्यवस्था में सुधार हुआ। श्रेष्ठी और सार्थवाह समुदाय ने वर्णव्यवस्था को परिवर्तित किया; श्रमण संस्कृति ने ब्राह्मण संस्कृति को प्रभावित किया, उपनिषद् दर्शन ने जन्म लिया, कृषि व्यवसाय बढा, परिव्राजक संस्कृति का विकास हुआ। आर्य समुदाय से दबोची गई श्रमण संस्कृति ने भी उत्थान किया। उसके छह तीर्थंकरों का उल्लेख पालि तिपिटक में बहुत आता है जिनमें पूरण कस्सप, मक्खलि गोसालीपुत्र, अजित केसकम्बली, ककुध कच्चायन, संजय बेलट्ठिपुत्त और निग्गण्ठ नातपुत्त महावीर प्रमुख थे। इस समुदाय में जैन और बौद्ध समुदायों का विशेष प्रभाव था। श्रमण जैनधर्म का इतिहास बहुत प्राचीन है। वेदों के उल्लेखों ने उसे प्राचीनतम धर्म होने का संकेत किया है। निगण्ठ नातपुत्त महावीर के पूर्व पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक तीर्थंकर हुए हैं। उनके पहले ऋषभदेव आदि बाईस तीर्थंकरों का भी अस्तित्व रहा है जिन्होंने यथासमय समाज में आध्यात्मवाद को जाग्रत किया।

तथागत बुद्ध इसी श्रमणसंस्कृति के अनुयायी थे। उनका समूचा परिवार पार्श्वनाथ परम्परा का पूजक था। तथागत का नाम सिद्धार्थ, पिता का नाम शुद्धोदन, अनुयायियों का नाम अर्हत्, बुद्ध, जिन, मुनि, भगवत् आदि नाम भी इसी तथ्य के संवाहक हैं। जैन परम्परा भी उन्हें मूलतः जैनधर्मावलम्बी मानती है। पालि तिपिटक के अनुसार बुद्धत्व प्राप्ति के पूर्व उन्होंने जिस प्रकार की तपस्याये की थीं वे जैन परम्परा का संकेत करती हैं। बौद्धधर्म में प्रयुक्त आश्रव, संवर, निर्जरा आदि जैसी पारिभाषिक शब्दावली भी यही व्यक्त करती है।

ऐतिहासिक व्यक्तित्व गौतम बुद्ध को शाक्यमुनि के नाम से जाना जाता है। माता माया ने अपने ग्राम देवदह लौटते समय लुम्बनी वन में बालक को जन्म दिया। इसी स्मृति में अशोक ने यहां एक स्तूप बनवाया जिस पर ब्राह्मी लेख भी उत्कीर्ण है। १८९६ में यह स्तूप रुम्मिनदेई ग्राम में उपलब्ध हुआ। बुद्ध होने पर असित की भविष्यवाणी सही सिद्ध हुई। यशोधरा के साथ वैवाहिक सम्बन्ध हुआ। फलतः राहुल नामक पुत्र हुआ। यह सब मायाजाल शाक्यमुनि को मोहित नहीं कर सका और वे उन्तीस वर्ष की अवस्था में

गृहस्थावस्था छोडकर तपस्वी बन गये। मगध की ओर बढे। उत्तरापथ की ओर बढते हुए श्रावस्ती, कुसीनगर, वैशाली होते हुए राजगृह पहुंचे जहां बिम्बिसार ने उनका स्वागत किया। यहीं से उन्होंने अलारकालाम और उद्दक रामपुत्त से योग और ध्यान साधना सीखी और उरुविल्वा सेनानी नामक ग्राम के पास नैरंजना नदी के किनारे कठोर साधना में लीन हो गये। इस बीच मिथ्यादृष्टि, राग-द्वेष-मोहादि रूप मार से संघर्ष हुआ और अन्ततः अश्वत्थ वृक्ष के नीचे बैठकर कैवल्यबोधि प्राप्त की वैशाख माह की पूर्णिमा की रात्रि में। उस समय उनकी अवस्था मात्र पैंतीस वर्ष की थी। पैंतालीस वर्ष तक उन्होंने उपदेश दिया और अस्सी वर्ष की अवस्था में परिनिर्वाण प्राप्त किया। इस बीच उन्होंने चतुरार्य सत्य और प्रतीत्यसमुत्पाद का उपदेश दिया।

त्रिपुश और भल्लिक उनके प्रथम उपासक बने। कहा जाता है, पांच सप्ताह तक वे अपने कैवल्य वृक्ष से उठे नहीं यह सोचकर कि जनता उनके गंभीर उपदेश को समझने में असमर्थ रहेगी। बाद में ब्रह्मयाचना के फलस्वरूप उन्होंने उपदेश देना आरम्भ किया। आधुनिक विद्वानों ने इस संकोच के अनेक अर्थ निकाले और कहा कि प्रत्येकबुद्ध का दर्शन इसका फलितरूप है। उपदेश देने का निश्चय करने के बाद बुद्ध ने सर्वप्रथम पंच कोण्डिञ्ञ ब्राह्मणों को खोजा और फिर सारनाथ के मृगदाव में प्रथम उपदेश दिया। इसी को धम्मचक्कपवत्तन कहा गया। यहीं से बुद्ध संघ का निर्माण हुआ। अशोक ने यहीं एक आकर्षक स्तम्भ खडा किया। यश और उसका मित्र परिकर भी उपासक बना। संघ बढाने की दृष्टि से बुद्ध मगध की ओर गये और वहां काश्यप बन्धुओं तथा उनके अनुयायियों को अपना शिष्य बनाया। श्रेणिक बिम्बिसार भी उपासक बना और आम्रवन दान में दिया। संजय, महामोद्गल्यायन, सारिपुत्त, महाकस्सप, विसाखा, मृगारमाता, सुदत्त अनाथपिण्डक, प्रसेनजित आदि जैसे प्रभावक व्यक्तित्वों ने संघ में प्रवेश किया। अनाथपिण्डक ने श्रावस्ती में जेतवन खरीद कर संघ को दान में दिया। कपिलवस्तु पहुंचकर राहुल, देवदत्त, आनन्द, नन्दू और उपालि को दीक्षित किया। नालन्दा, पाटलिपुत्र, वैशाली, कुसीनगर, कोशाम्बी, राजगृह आदि नगरों में भी भ्रमणकर संघ का विकास किया। महाप्रजापति गोतमी को दीक्षित कर भिक्षुणी संघ की स्थापना हुई आठ गुरुधम्म के आधार पर। क्षमा, धम्मदिन्ना, उप्पलधम्मा, कृषा गोतमी आदि नारी वर्ग ने भी संघ में प्रवेश किया। देवदत्त का नाम संघभेदक के रूप में आता है।

शाक्यमुनि राजगृह से वैशाली की ओर बढे और पावा पहुंचे जहां चुन्द ने उन्हें आहार दिया। इस आहार में सूकरमद्दव भी था जिसकी व्याख्या कतिपय विद्वानों ने

'सूकर का मांस' किया और कतिपय ने उसे एक प्रकार की वनस्पति बताई जो शकरकन्द का रूप था। बीमारी के बावजूद बुद्ध कुसीनगर पहुंचे और वहीं उनका परिनिर्वाण हो गया। परिणाम स्वरूप उनकी अस्थियों का विभाजन हुआ। १८९८ के उत्खनन में प्रिप्राहवा में एक स्तूप मिला और शिलालेख भी जिसमें अस्थियां मिलीं।

तथागत बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद **संगीतियों** के माध्यम से उनके उपदेशों का संकलन सुत्तपिटक के नाम से और विनय नियमों का संकलन विनय पिटक के नाम से हुआ। चतुरार्यसत्य, अव्याकृततावाद से विकसित होता हुआ अनात्मवाद, मध्यमा प्रतिपद्, प्रतीत्यसमुत्पाद, अष्टांगिकमार्ग आदि सिद्धान्त संकलन के विषय बने। अविद्याजन्य राग, द्वेष, मोह को नष्ट करने के लिए चार ध्यान, चार उपस्थान, चार ब्रह्मविहार, शमथ, विपश्यना की साधना को आवश्यक बताया। इससे क्रमशः श्रोतापत्ति सगदागामि, अनागामि और अर्हत् अवस्था प्राप्त होती है। इसके लिए बुद्ध, धर्म और संघ रूप रत्नत्रय में विश्वास करना एक अनिवार्य शर्त है।

सद्धम्म का जैसे-जैसे प्रचार हुआ, वैसे-वैसे संघ का विकास होता गया। इस संघ की उपमा समुद्र के इन आठ गुणों से की गई है जिसे अष्ट अद्भुतधर्म कहा जाता है - १) गंभीरता, २. सीमा का उलंघन न करना, ३. किसी भी वस्तु को पास न रखना, उसे बाहर फेंक देना, ४. अपनी जाति आदि के अस्तित्व को छोड देना, ५. निर्वाणसुख का आस्वादन, ६. निर्वाण प्राप्त होने के बावजूद संघ क्री यथास्थिति बनी रहना, ७. असीमित उपदेशों की अवस्थिति, और ८. उत्कृष्ट कोटि के शिष्य। यह संघ चार कोटियों में विभक्त है - भिक्खु, भिक्खुणी, उपासक, उपासिका। बीस वर्ष की अवस्था में संघ में प्रवेश दिया जाता है। इससे कम अवस्था वाले को सामणेर और सात वर्ष तक की अवस्था वाले को काकुट्टपक कहा जाता है। १८ वर्ष की अवस्था वाली श्रामणेरी को सिक्खमाणा की संज्ञा दी गई है। प्रातिमोक्ष के नियम विस्तार से पातिमोक्ख में गिनाये गये हैं। इन नियमों को सूत्र और उनकी व्याख्या को सूत्र विभंग कहा जाता है। एक स्कन्धक विभाग है जिसमें इनकी विशद व्याख्या मिलती है। इस विनय को धारण करने वालों के लिए धर्मकथिक, विनयधर, धर्मधर आदि संज्ञायें दी गई हैं।

पिटक परम्परा

१.**सुत्तपिटक** पांच भागों में विभक्त है जिन्हें निकाय कहा जाता है। चीन में इन्हें आगम कहा जाता है और वह चार भागों में विभक्त है अनुवाद के रूप में जो विभिन्न बौद्ध सम्प्रदायों में प्रचलित थे। जैसे - १. दीघनिकाय - धर्मगुप्तक सम्प्रदाय, २-३.

मज्झिम नि. और संयुत्तनिकाय - सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय, ४. अंगुत्तरनिकाय - महासांघिक सम्प्रदाय।

२. **विनयपिटक** के पांच भाग हैं - १. क-सुत्तविभंग १. महाविभंग १. पाराजिक, पाचित्तिय, २. भिक्खुविभंग, ख. खंधक १. महावग्ग, २. चुल्लवग्ग, ग. परिवारपाठ।

क) **भिक्खु-विभंग** - १. पाराजिक, २. संघदिसेस, ३. अनियत, ४. निस्सग्गिय-पाचित्तिय (नैस्सर्गिक-प्रायश्चित), ५. पाचित्तिय (प्रायश्चित), ६. पटिदेसनिय (प्रतिदेशन=क्षमा याचना), ७. सेखिय (शिक्षणीय), ८. अधिकरण समथ।

ख) **भिक्खुनी-विभंग** - १. पाराजिक, २. संघादिसेस, ३. निस्सग्गिय-पाचित्तिय, ४. पाचित्तिय (प्रायश्चित), ५. पटिदिसनिय (प्रतिदेशना), ६. सेखिय (सीखने योग्य), ७. अधिकरण-समथ।

ग) **महावग्ग** - १. महाखंधक, २. उपोसथ-खंधक, ३. वस्सूपनायिका (वर्षापनायिका) खंधक, ४. पवारणा (प्रवारणा) खंधक, ५. चम्म (चर्म) खंधक, ६. भेसज्ज (भैषज्य) खंधक, ७. कठिन खंधक, ८. चीवर खंधक, ९. चंपेयवत्थु (चाम्पेयवस्तु) खंधक, १०. कोसंबल (कौशंबक) खंधक।

घ) **खंधक,** - इसमें १२ खंधक (स्कंधक) हैं - १. कम्म (कर्म) खंधक, २. पारिवासिक खंधक, ३. समुच्चय खंधक, ४. समथ खंधक, ५. खुद्दक (क्षुद्रक) खंधक, ६. सयनासन (शयन-आसन) खंधक, ७. संघभेदक खंधक, ८. वत (व्रत) **खंधक,** ९. पातिमोक्ख (प्रातिमोक्ष) खंधक, १०. भिक्खुणी (भिक्षुणी) खंधक, ११. पञ्चसतिका (पंचशतिका) खंधक, १२. सत्तसतिका (सप्तशतिका) खंधक।

ङ) **परिवार** - इसमें २१ परिच्छेद प्रश्नोत्तर रूप में दिए गए हैं। १. उपालि, २. दासक, ३. सोणक, ४. सिग्गव, ५. मोग्गलिपुत्त, ६. महिंद, ७. इट्ठिय, ८. उत्तिय, ९. संबल या भद्रनायक पंडित, १०. अरिट्ठ, ११. काळसुमन, १२. दीर्घनायक थेर, १३. बुद्धरक्खित, १४. तिस्स थेर, १५. देवथेर।

परिवार के अनुसार ही सिरीलंका में विनय परंपरा निम्नवत दर्शायी गई है - १. बुद्ध, २. उपालि, ३. दासक, ४. सोणक, ५. सिग्गव, ६. मोग्गलिपुत्त तिस्स, ७. महिक, ८. अरिट्ठ, ९. तिस्सदत्त, १०. काल सुमन (१), ११. दीघ सुमन, १२. काल सुमन (२), १३. नागत्थेर, १४. बुद्धरक्खित, १५. तिस्स (१), १६. देव, १७. सुमन

(१), १८. चूलनाग, १९. धम्मपालित, २०. खेम, २१. उपतिस्स, २२. फुस्स देव (१), २३. सुमन (२), २४. फुस्स (पुप्फ) (१), २५. महासीव, २६. उपालि (२), २७. महावग्ग, २८. अभय, २९. तिस्स (२), ३०. पुस्स (पुप्फ) (२), ३१. चूल अभय, ३२. तिस्स (३), ३३. फुस्स देव (२) (चूलदेव), ३४. सिव।

चीनी अनुवाद भी इसी पालि विनय का रूपान्तरण है। तिब्बती विनय भी उपलब्ध है जो मूलसर्वास्तिवादी सम्प्रदाय का है। विनय पिटक का समग्र संस्कृत रूपान्तरण उपलब्ध नहीं है। मध्य एशिया में उसके कुछ भाग अवश्य मिले हैं जैसे प्रातिमोक्ष, सूत्रविभंग और स्कन्धक सर्वास्तिवादी, मूलसर्वास्तिवादी और महासांघिक सम्प्रदाय के हैं। इनका सम्पादन नलिनाक्ष दत्त, जिनानन्द आदि अनेक विद्वानों ने किया है।

पालि सुत्तपिटक का समग्र रूप **चीनी अनुवाद** के रूप में सुरक्षित है। १. मध्यमागम और संयुक्तागमसूत्र - सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय का, २. दीर्घागम - धर्मगुप्तक सम्प्रदाय का, ३. एकोत्तरागम - किस सम्प्रदाय का है यह अभी तक निश्चित नहीं हो सका। इन सभी का सम्पादन और अनुवाद चीनी, तिब्बती और जापानी में उपलब्ध है। पालि विनय का समग्र भाग सिंहली, वर्मी, थाई, हिन्दी आदि भाषाओं में हो चुका है। थेरवाद और महासांघिक में इस पिटक का विभाजन नवांग रूप में हुआ है - १. सुत्त, २. गेय्य, ३. वेय्याकरण, ४. गाथा ५. उदान, ६. इतिवुत्तक, ७. जातक, ८. वेदल्ल और ९. अभिधम्म। इसका द्वादशांगी विभाजन भी हुआ है जो धर्मगुप्तक, सर्वास्तिवादिन्, महीशासक और मूलसर्वास्तिवादिन् सम्प्रदाय में प्रचलित है। इस विभाजन में तीन अंग अतिरिक्त है - निदान, अपदान और उपदेश। वेदल्ल को यहां वैपुल्य कहा गया है। इनमें यथासमय परिवर्तन-परिवर्धन होता रहा है। इसलिए प्राचीन कौन है, इसका निर्णय अभी तक नहीं हो पाया। इसका मूल कारण है - बौद्धधर्म का विविध साम्प्रदायिक विभाजन।

तथागत बुद्ध के जीवनकाल में ही उनके उपदेशों का प्रचार-प्रसार प्रारम्भ हो चुका था। उनके प्रमुख शिष्यों में एक थे महाकात्यायन जो मूलतः अवन्ती के थे। उन्होंने अपरान्तकवासी श्रोणकोटिकर्ण को दीक्षित किया। मथुरा प्रदेश में भी उन्होंने प्रचार किया। सुत्तनिपात का पारायणवग्ग बावरी नामक ब्राह्मण की कथा संजोये हुए है जो दक्षिणवर्ती गोदावरी प्रदेश का निवासी था। उसने बुद्ध के पास अपने सोलह शिष्यों को भेजा जो प्रतिष्ठान, उज्ज्ञयिनी, विदिशा और साकेत होते हुए श्रावस्ती पहुंचे जहां

उन्होंने बुद्ध से अनेक प्रश्न किये जिनका उत्तर पारायणवग्ग में समाहित है। पारायणवग्ग और अट्ठकवग्ग प्राचीन पालि में लिखित हैं।

कालान्तर में राजनीतिक परिस्थितियां परिवर्तित होती रहीं। बौद्धधर्म दक्षिण भारत में श्रीलंका और अन्य दक्षिण-एशियाई देशों में फैला। इधर मथुरा में सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय की लोकप्रियता बढी। दस वस्तुओं का विवाद द्वितीय संगीति का कारण बनी जो वैशाली में घटित हुई। इससे महासांघिक सम्प्रदाय का उदय हुआ। वसुमित्र के समयभेदोपरचनाचक्र में महादेव द्वारा उठाये पांच प्रश्नों का उल्लेख है जिनका सम्बन्ध कदाचित् प्रथम संगीति से रहा होगा।

द्वितीय संगीति में **विनय** पर प्रश्न उठे। सर्वक:मिन्, रेवत और संभूत साणवासी इन तीन स्थविरों का इसमें विशेष योगदान रहा। दिव्यावदान में महाकश्यप, आनन्द, साणकवासी, उपगुप्त तथा मध्यान्तिक के नाम विशेष रूप से आये हैं। श्रीलंका परम्परा में उपालि, दासक, सोनक, सिग्गव और मोग्गलिपुत्त तिस्स को विशेष महत्त्व दिया गया है। उत्तरीय परम्परा में अशोक के गुरु उपगुप्त का नामोल्लेख भी हुआ है। इनमें महाकस्सप कदाचित् अधिक मान्य रहे। महाकस्सप और आनन्द के बीच अनेक विषयों पर विवाद हुए हैं। आनन्द का सम्बन्ध कौशाम्बी के घोषिताराम से अधिक रहा है। और फिर वे बुद्ध के सर्वाधिक आत्मीय भी थे। आनन्द के शिष्य साणकवासी मथुरा के थे और साणकवासी के शिष्य उपगुप्त भी मथुरा के ही थे। बुद्ध और अशोक के समय तक बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार चारों ओर हो चुका था। तृतीय संगीति में अशोक का महनीय योगदान रहा है जो मोग्गलिपुत्त तिस्स की अध्यक्षता में संपन्न हुई थी। इस समय तक बौद्धधर्म अठारह सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था। Andrevareau ने अपने अध्ययन के आधार पर चौंतीस सम्प्रदायों के अस्तित्त्व का उल्लेख किया है। इस सन्दर्भ में वसुमित्र का समयभेदोपरचनाचक्र, भव्य का निकायभेद विभंग व्याख्यान तथा महाव्युत्पत्ति और तारानाथ का भारतीय बौद्धधर्म का इतिहास ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सम्प्रदायों में स्थविरवादी परम्परा भारत के पश्चिम और उत्तरभागों में तथा महासांघिक परम्परा भारत के मध्यवर्ती और दक्षिणवर्ती भागों में अधिक लोकप्रिय थी।

३. अभिधर्म पिटक

थेरवादी अभिधर्मपिटक

निकाय बौद्धधर्म में अभिधम्मपिटक के विषय में विशेष मतभेद है। सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय तो यह मानता है कि अभिधम्मपिटक तथागत बुद्ध के वचनों का

संग्रह है परन्तु थेरवादी परम्परा में उसे बुद्ध के बाद विकसित रूप माना जाता है। जो भी हो, इतना तो निश्चित है कि अभिधम्मपिटक का संगायन सुत्तपिटक और विनयपिटक के बाद हुआ है। साधारणतः इसका समय २५० से ५० ई. पू. के बीच माना जा सकता है। जो चार निकायों में नहीं कहा गया वह खुद्दकनिकाय में संग्रहीत हुआ है। महीशासक, धर्मगुप्तक और महासांघिक सम्प्रदायों ने भी इसे अपनी पिटक सम्पदा में संयोजित किया है। क्षुद्रकागम के रूप में चीनी आगम में भी उसे सुरक्षित किया गया है। इनमें निद्देस और पटिसंभिदामग्ग पालि निकाय में ही हैं। निद्देस को सुत्तनिपात की टीका माना जा सकता है।

थेरवादी अभिधम्मपिटक में पुग्गलपञ्ञत्ति प्राचीनतम ग्रन्थ होना चाहिए। इसके बाद धम्मसंगणि का क्रम आयेगा जिसमें अभिधम्म पिटक की १२२ और सुत्तपिटक की ४२ मातिकाओं की विषय सूची है। मातिकाधर का भी उल्लेख आता है। कालक्रम की दृष्टि से अभिधम्मपिटक के ग्रन्थों को यों रखा जा सकता है - १. धम्मसंगणि, २. विभंग, ३. कथावत्थु, ४. पुग्गलपञ्ञत्ति ५. धातुकथा, ६. यमक, और ७. पट्ठान। मिलिन्दपञ्ह, नेत्तिपकरण और पेटकोपदेस में भी अभिधम्म विषय उपलब्ध है पर उन्हें अभिधम्मपिटक में सम्मिलित नहीं किया गया।

क) **धम्मसंगणि** - दुक (दो प्रकार की अवस्थाओं) के १०० वर्गीकरण हैं। इनको निम्नलिखित १२ वर्गों में विभक्त किया है - १. हेतु-वर्ग, २. संक्षिप्त-मध्यम-वर्ग, ३. आस्रव-वर्ग, ४. संयोजन-वर्ग, ५. गंथ-वर्ग, ६. ओक-वर्ग, ७. योग-वर्ग, ८. नीवरण-वर्ग, ९. परामर्श-वर्ग, १०. विस्तृत मध्यम-वर्ग, ११. उपादान-वर्ग, १२. क्लेश-वर्ग।

१. कुशल धर्म, २. अकुशल धर्म, ३. अव्याकृत धर्म - १) विपाक-चित्त, २. क्रिया चित्त।

ख) **विभंग** - १. खंध (स्कंध) - विभंग, २. आयतन-विभंग, ३. धातु-विभंग, ४. सच्च (सत्य)-विभंग, ५. इंदिय (इंद्रिय)-विभंग, ६. पच्चयाकार (प्रत्ययाकार) विभंग, ७. सतिपट्ठान (स्मृति प्रस्थान)-विभंग, ८. समप्पधान (सम्यक-प्रधान)-विभंग, ९. इद्धिपाद (ऋद्धिपाद)-विभंग, १०. बोज्झ' (बोध्यंग)-विभंग, ११. मग्ग (मार्ग)-विभंग, १२. झान (ध्यान)-विभंग, १३. अप्पमञ्ञ (अ-परिमाण)-विभंग, १४. सिक्खापद (शिक्षापद)-विभंग, १५. पटिसम्भिदा (प्रतिसंविदा)-विभंग, १६. ञाण (ज्ञान)-विभंग, १७. खुद्दक-वत्थु (क्षुद्रक-वस्तु)-विभंग, १८. धम्म-हृदय (धर्म-हृदय)-विभंग।

ग) धातुकथा

घ) पुग्गलपञ्ञति, ङ) कथावत्थु, च) यमक, छ) पट्ठान।

थेरवादी पिटक से महासांघिक पिटक परम्परा का विकास हुआ। उसमें थेरवाद की अपेक्षा उदारता अधिक प्रतिबिम्बित हुई। उदाहरणार्थ महासांघिक सिंहलोवाद सूत्र में षट्पारमिताओं का वर्णन हुआ है। उसके अभिधर्म में कतिपय विकासात्मक रेखाएं खींची जा सकती हैं। चित्त-अचित्त, रूप-अरूप जैसे द्विधात्मक तत्त्वों के साथ ही सोमणस्स सहगते ञाणसंपयुत्तं की मान्यता उसकी विशेषता है। पुग्गलपञ्ञति में पुद्गल की विशेषताओं का आकलन हुआ है। लोक प्रकृति के सन्दर्भ में दीर्घागम का लोकुट्ठानसूत्र और धर्मस्मृतिप्रस्थानसूत्र भी उल्लेखनीय है। सर्वास्तिवाद का प्रज्ञप्तिसूत्र भी इसी विषय से सम्बद्ध है।

सर्वास्तिवादी अभिधर्मपिटक

जैसा हम जानते हैं, सर्वास्तिवाद थेरवाद से उद्भूत सम्प्रदाय है। थेरवादी अभिधर्म के सात ग्रन्थों के स्थान पर सर्वास्तिवादी सात ग्रन्थों के नाम हैं - १) अभिधर्मसंगीतिपर्याय पादसूत्र, २) धर्मस्कन्धपर्यायसूत्र, ३) प्रज्ञप्तिशास्त्र, ४) विज्ञानकायपादशास्त्र, ५) धातुकायपादशास्त्र, ६) प्रकरणपादशास्त्र, और ७) ज्ञानप्रस्थान शास्त्र। इन ग्रन्थों में अन्तराभव सिद्धान्त को प्रस्थापित किया गया है। आर्य वसुमित्र संगीत की रचना कथावत्थु के आधार पर हुई। अभिधर्म-महाविभाषाशास्त्र के आधार पर निम्न रचनाएं हुईं - १) सीतपाणि का विभाषाशास्त्र, २) धर्मश्री का अभिधर्महृदयशास्त्र, ३) उपशान्त का अभिधर्महृदय सूत्र, ४) धर्मत्रात का संयुक्ताभिधर्महृदयसूत्र, ५) वसुबन्धु का अभिधर्मकोश शास्त्र, ६) संघभद्र का अभिधर्म न्यायानुसारशास्त्र, और ७) अभिधर्म समय प्रदीपिक शास्त्र। इन ग्रन्थों में महायानी विचारधारा के बीज सन्निहित हैं। आर्य सारिपुत्र का सारिपुत्राभिधर्मशास्त्र और हरिवर्मन् का सत्यसिद्धि ऐसे ही ग्रन्थ हैं जिनमें महायानी शून्यवाद के दर्शन होते हैं।

सर्वास्तिवादी अभिधर्म पिटक के इन सात ग्रन्थों में कात्यायनी पुत्र का ज्ञानप्रस्थान ग्रन्थ प्रमुख है। इसकी रचना प्रथम द्वितीय शताब्दी, ई.पू. में हुई। इसका महत्त्व इससे आंका जा सकता है कि इसे 'शरीर' कहा जाता है और शेष ग्रन्थों को 'पाद' की संज्ञा दी गई है। फिर भी उसे प्राचीनतम नहीं माना गया। प्राचीनतम हैं संगीतिपर्याय और धर्मस्कन्ध। अन्य ग्रन्थ हैं - प्रकरणपाद, विज्ञानकाय, प्रज्ञप्तिशास्त्र और धातुकाय। इन सभी ग्रन्थों का चीनी अनुवाद उपलब्ध है। यशोमित्र की स्फुटार्था अभिधर्मकोशव्याख्या में इनका उल्लेख है। इनके अतिरिक्त धर्मगुप्तक सम्प्रदाय का

सारिपुत्राभिधर्मशास्त्र, सम्मितीय का सम्मितीयशास्त्र, हरिवर्मन का तत्त्वसिद्धिशास्त्र (सौत्रान्तकीय) भी उल्लेखनीय हैं।

व्याख्या साहित्य

अभिधम्मपिटक के ग्रन्थों पर थेरवादी और सर्वास्तिवादी भिक्षुओं ने व्याख्या ग्रन्थ भी लिखे। श्रीलंका के थेरवादी भिक्षुओं द्वारा लिखित व्याख्या ग्रन्थ हैं - महाट्ठकथा, अन्धकट्ठकथा, महापच्चरी, कुरुण्हट्ठकथा, संखेपट्ठकथा और उत्तरविहारट्ठकथा। इनमें उत्तर विहारट्ठकथा अभयगिरिविहार सम्प्रदाय का ग्रन्थ है। उपतिस्स का विमुत्तिमग्ग भी इसी श्रेणी का ग्रन्थ है। बुद्धघोष का विसुद्धिमग्ग महाविहार सम्प्रदाय से सम्बद्ध है। अनुरुद्ध का अभिधम्मत्थसंगहो भी उल्लेखनीय है।

सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय गन्धार और कश्मीर में पुष्पित हुआ। गन्धार समुदाय प्रगतिवादी अधिक था। इसलिए उसमें से सौत्रान्तिक सम्प्रदाय का जन्म हुआ। कश्मीर सर्वास्तिवादी बना रहा। बाद में वैभाषिक सम्प्रदाय का उदय हुआ। लगभग २०० वर्ष बाद ज्ञानप्रस्थान पर अभिधर्ममहाविभाषा शास्त्र नामक व्याख्या लिखी गई। इसमें सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के विकास की रूपरेखा मिलती है। साथ ही महासांघिक, दार्ष्टान्तिक आदि सम्प्रदायों की तीखी आलोचना के भी दर्शन होते हैं। महाविभाषा का चीनी अनुवाद भी मिलता है बुद्धवर्मन का। कनिष्क (१३२-१५२) ने चतुर्थ संगीति को आहूतकर सर्वास्तिवादी पिटक तैयार कराया। पार्श्व उस संगीति के अध्यक्ष थे। महाविभाषा में घोषक का अभिधर्मशास्त्र उपलब्ध है। धर्मरात नाम के अनेक विद्वान हुए हैं। उदानवर्ग के लेखक और अभिधर्मप्रकीर्णकशास्त्र के लेखक भी धर्मरात हुए हैं। वसुदेव भी अनेक हुए हैं। बुद्धदेव दार्ष्टान्तिक चिन्तक थे। इनके अतिरिक्त सितपाणि का विभाषाशास्त्र, धर्मश्री का अभिधर्महृदयशास्त्र और स्कन्धिल का अभिधर्मावतारशास्त्र लघुकायिक ग्रन्थ है। बाद में वसुबन्धु (४-५ वीं शदी) का अभिधर्मकोशभाष्य एक विस्तृत ग्रन्थ लिखा गया जिसका चीनी अनुवाद भी उपलब्ध है। कश्मीरी सर्वास्तिवादी दृष्टि से संघभद्र का न्यायानुसारशास्त्र विशेष महत्त्वपूर्ण है। अभिधर्मकोश पर गणपति और वसुमित्र के व्याख्या ग्रन्थ हैं। इसके बाद यशोमित्र की स्फुटार्थ, अभिधर्मकोश-व्याख्या तथा अभिधर्मदीप भी प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं जो संस्कृत और तिब्बती में विद्यमान हैं। स्थिरमती की तत्त्वार्थ व्याख्या भी तिब्बती और चीनी में अनुदित रूप में उपलब्ध है। शमथदेव की भी एक व्याख्या तिब्बती में मिलती है। अभिधर्मदीप का भी प्रकाशन हुआ है। पुराणवर्धन की भी व्याख्या तिब्बत में प्राप्त है। सर्वास्तिवादी समूचा अभिधर्म साहित्य चीनी में उपलब्ध है।

थेरवाद और सर्वास्तिवाद के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों का भी अभिधर्म साहित्य उल्लेखनीय है। उदाहरणार्थ - सारिपुत्राभिधर्मशास्त्र, तत्त्वसिद्धिशास्त्र, चतु:सत्यशास्त्र सौत्रान्तिक सम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं। महाविभाषा और कथावत्थु में निकाय बौद्धधर्म की सामग्री मिलती है। वसुबन्धु के कर्मसिद्धिप्रकरण पंचस्कन्धप्रकरण और व्याख्यायुक्ति ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं।

अभिधर्म का सम्बन्ध सर्वोत्कृष्ट धर्म से है। आगमों में इसे प्रारम्भिक रूप में '**अभिधर्मकथा**' कहा जाता था। विभंग में इसी की व्याख्या है। धर्मप्रविचय में धर्म की ही व्याख्या अभिधेय रही है। मातिका में उसी की विषयसूची प्रस्तुत की जाती है। मातिकाघर भी हुआ करते थे। सर्वास्तिवादी साहित्य में यह मातिकाविधा नहीं मिलती। पुग्गलपञ्ञत्ति के प्रारम्भ में मात्तिका उद्देस है जिसमें छह पञ्ञत्ति, अर्थात् मातिका (विषय) का उल्लेख है - खन्ध, आयतन, धातु, सच्च, इन्द्रिय और पुग्गल। इसी तरह सारिपुत्राभिधर्मशास्त्र को भी इस रूप में व्यवस्थित किया गया है - आयतन, धातु, स्कन्ध, चतुरार्यसत्य और इन्द्रिय, भले ही यहां मातिका शब्द का प्रयोग नहीं हुआ हो। धम्मसंगणि में एक भाग अभिधम्ममातिका के नाम से है जिसमें बाईस त्रिविध और सौ द्विविध धर्मों की व्याख्या है। यहीं एक सुत्तन्तिकमातिका भी है।

विभंग और पट्ठान में **मातिका** की व्याख्या की गई है। सर्वास्तिवादी सारिपुत्राभिधर्मशास्त्र में मात्रिका शब्द का प्रयोग अवश्य नहीं है पर वहां विषयसूची दी गई है। संगीतिपर्याय, धर्मस्कन्ध और प्रज्ञप्तिशास्त्र मातृका पर ही आधारित हैं। 'उपदेश' को मात्रिका और अभिधर्म का पर्यायार्थक माना गया है। अशोकराजावदान में अभिधर्मपिटक के स्थान पर मात्रिका पिटक शब्द का प्रयोग हुआ है। मूलसर्वास्तिवाद में भी मात्रिका का प्रयोग हुआ है। सर्वास्तिवादी अभिधर्मपिटक में मात्रिका शब्द का प्रयोग नही हुआ, अभिधर्म शब्द का ही हुआ है। इसलिए महाविभाषाशास्त्र और अभिधर्मकोश में मात्रिका शब्द की व्याख्या नहीं की गई।

मात्रिका में धर्म का ही वर्गीकरण नहीं किया जाता है, उसमें विनय का भी वर्गीकरण होता है। पालि विनय में उसका उपयोग अवश्य नहीं हुआ पर सर्वास्तिवादी विनय में हुआ है। सर्वास्तिवादविनयमात्रिका और विनयमात्रिका सूत्र उसके उदाहरण हैं। तथागत बुद्ध के धर्म को अभिधर्म भी कहा गया इसलिए कि वह धर्म की सर्वांगीण व्याख्या प्रस्तुत करता है। उसी को विभंग की संज्ञा दी गई है। बुद्धघोष ने अपनी अट्ठसालिनी में इसी को सुत्तन्त-भाजनीय और अभिधम्म-भाजनीय कहा है जिसका

माध्यम होता था **पञ्हापुच्छकनय**। सर्वास्तिवादी दर्शन में धर्म की व्याख्या करते समय प्रश्न उपस्थित किया गया कि धर्म सन्निदर्शन है या नहीं, प्रतिघ है या नहीं, सास्रव है या नहीं, विचार और वितर्क का उपयोग उसमें किया जा सकता है या नहीं ? इसे हम व्याख्या का प्रकार कह सकते हैं इसी सन्दर्भ में परमार्थसत् और संवृतिसत्, संस्कृतधर्म और असंस्कृत धर्म, साश्रव और अनाश्रव धर्म के रूप में व्याख्या की जाती है।

लोक स्वरूप और कर्म

पालि एवं बौद्ध साहित्य में वर्णित लोकस्वरूप वर्तमान में भले ही संगत नहीं लगता हो पर उसे अप्रासंगिक नहीं कहा जा सकता। जीव अपने कर्मो से संसार में भटकता है, जन्मग्रहण करता है सुख-दुःख पाता है। भारतीय परम्परा में यह सिद्धान्त सर्वमान्य है। जैन, वैदिक और बौद्धपरम्परायें सामान्य रूप से इस तथ्य को स्वीकार करती हैं। पालि में लोकपञ्ञत्ति आदि अनेक ग्रन्थ लिखे गये। वसुबन्धु का अभिधर्मकोश प्रसिद्ध है ही।

बौद्ध परम्परा में सोलह **नरक** हैं - ८ उष्ण और ८ शीत। पृथ्वी पर्वतों से घिरी हुई है। मध्य में सुमेरु अवस्थित है। उसके चारों ओर चार द्वीप हैं - दक्षिण में जम्बुद्वीप, पूर्व में पूर्व विदेह, पश्चिम में अवरगोदानीय और उत्तर में उत्तरकुरु। ये सब द्वीप समुद्रों से अवेष्टित हैं। इसे भाजनालोक कहते हैं। इसके ऊपर स्वर्गलोक है। चार लोक सुमेरु के ऊपर हैं - १) यमलोक, २) तुषित, ३) निर्माणरतय और ४) परिनिर्मित वशवर्तिन। रूप लोक चार ध्यानों में विभाजित है। चतुर्थ ध्यान लोक का सर्वोत्तम स्थान है।चतुर्थ ध्यान लोक के सत्रह भेद हैं - प्रथम ध्यान लोक - ब्रह्मकायिक, २. ब्रह्मपुरोहित, ३. महाब्रह्मन्। द्वितीय ध्यान लोक - १. परित्ताभा, २. अपरमाणाभा, ३. आभास्वर। तृतीय ध्यान लोक १. परित्ताशुभ २. अपरमाणशुभ, ३. शुभ-कृष्ण। चतुर्थ ध्यान लोक - १. अनभ्रक, २. पुण्णप्रसव ३. बृहत्फल ४. अवृह, ५. अतप ६. सुदृश, ७. सुदर्शन और ८. अकनिष्ठ। कश्मीरी सर्वास्तिवादी परम्परा में स्वर्गो की यह संख्या १६ हैं। सौत्रान्तिक सम्प्रदाय में यह संख्या १८ है। धर्मगुप्तक में २२, सारिपुत्रधर्माभिशास्त्र में भी २२। महायान परम्परा में अकनिष्ठ को भवांग कहा जाता है। इन सभी को रूप धातु कहते हैं जिनमें प्राणी निवास करते हैं। इसके विपरीत एक अरूपधातु होती है। वहां चार ब्रह्म विहार होते हैं।

यहां सर्वास्तिवादी मानते हैं कि बुद्ध एक समय में एक क्षेत्र में एक ही होंगे, अनेक नहीं। पर महासांघिक इस विचारधारा से सहमत नहीं। कथावत्थु और महावस्तु में इसका वर्णन मिलता है। उत्तरकाल में लोकप्रज्ञप्ति अभिधर्म आदि ग्रन्थों में इसका विशेष विवेचन हुआ है। जैन परम्परा में भी लगभग यही मान्यता है।

संसार जन्म-मरण की प्रक्रिया है। बौद्धधर्म में पांच गतियां होती हैं - नरक, तिर्यंच, प्रेत, मनुष्य और देव। महासांघिक के अन्धक और उत्तरापथक सम्प्रदाय 'असुर' नामक छठी गति भी मानते हैं। मरण और जन्म के बीच अन्तराभव होता है। उस समय जीव सूक्ष्म स्कन्धों से आपूर होता है जिसे गन्धर्व कहा जाता है। सर्वास्तिवादी अन्तराभव को स्वीकार करते हैं। कथावत्थु में उसका खण्डन किया गया है। कथावत्थु की अट्ठकथा में बुद्धघोष ने सम्मितीय और पुव्वसेलिय सम्प्रदायों को गन्धर्ववादी माना है। बौद्ध सम्प्रदायों में अन्तराभव और गन्धर्व एक विवादास्पद विषय रहा है। अन्तराभव जब मां की कोख में प्रवेश करता है तो उसे प्रतिसन्धि कहा जाता है। उसे विज्ञान कहा जाता है। पंच गर्भावस्थाएं मानी गई हैं - कलल, अर्बुद, पेशिन्, घन और प्रशासा।

जन्म और कर्म की इस अवस्था को बौद्धधर्म में प्रतीत्य समुत्पाद के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। अविद्या और संस्कार व्यक्ति के पूर्वक्लेश और पूर्वकर्म से संबद्ध हैं। विज्ञान मां की कोख में प्रवेश करता है जिसका सम्बन्ध उसके वर्तमान जीवन से है। नाम और रूप शारीरिक वृद्धि की अवस्थाएं हैं। शडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा, मरण ये सभी विविध अवस्थाओं का वर्णन है। अभिधर्मकोशभाष्य में प्रतीत्यसमुत्पाद की चार व्याख्याओं का उल्लेख है - १. क्षणिक (सभी हेतु-प्रत्यय पंचस्कन्धों में सदैव बने रहते हैं), २. प्राकर्षिक (धर्मों से उनका सम्बन्ध है), ३. साम्बन्धिक (परस्पर सम्बद्धता) और ४. आवस्थिक।

सर्वास्तिवादी छह हेतु, चार प्रत्यय और पांच फल मानते हैं। तदनुसार चार प्रत्ययों का उपदेश बुद्ध ने दिया था जो आगमों में उल्लिखित नहीं हैं। दस प्रत्ययों का उल्लेख सारिपुत्राभिधर्मशास्त्र में है जिनमें सर्वास्तिवादी चार प्रत्यय अन्तर्भूत हैं। थेरवादी चौबीस प्रत्ययों में भी उनका समावेश है। इसलिए इसकी संभावना अधिक है विज्ञानपादशास्त्र के रूप में यह अध्ययन किया गया होगा।

अभिधर्म वस्तुतः कर्म की व्याख्या करता है और लोक का वर्णन उसी से सम्बद्ध है। जैनधर्म में भी यही प्रक्रिया है क्योंकि वहां ईश्वर को सृष्टिकर्ता नहीं माना गया। धर्म भी एक प्रकार से हेतु का काम करता है। मोहादि के कारण अविद्या सम्पन्न व्यक्ति स्वयं को स्वतन्त्र मानता है। आत्मा के अस्तित्व को भी वह इसी रूप में देखता है।

कर्म का अर्थ कार्य, कर्मकाण्ड और फल है। अंगुत्तरनिकाय में बुद्ध को कर्मवादिन्, क्रियावादिन् और विरियवादिन् कहा गया है। कर्म का सम्बन्ध मन, वचन और काय से है। इसे चेतनाकर्म कहा जाता है बौद्धधर्म में जिसका सम्बन्ध मन से स्थापित किया गया है, वचन और काय उसी का सहयोगी माध्यम है। इसलिए कर्म के दो

भेद हैं - चेतनाकर्म और चेतयित्वा कर्म (वचन और शरीरकृत)। सर्वास्तिवाद में चेतयित्वाकर्म को विज्ञप्तिकर्म और चेतनाकर्म को अविज्ञप्ति कर्म कहा जाता हैं। सौत्रान्तिक तीनों कर्मो को स्वीकार करता है और उनके बीच एक ऐसे बीज को मानता है जो सन्तति और परिणाम के रूप में काम करता है। महासांघिक उसे उपचय कहते हैं और संमितीय उसे अविप्रणाश की संज्ञा देता है। व्रत लेने पर अविज्ञप्तिरूप उसे गलत काम करने से रोकता है।

थेरवादी उसे चेतना का ही अंग मानता है। अविज्ञप्ति कर्म तीन प्रकार के हैं - संवर, असंवर और नैवसंवर-नासंवर। संवर के तीन पथ हैं - प्रातिमोक्ष, ध्यान और अनाश्रव। इन्हीं की साधना से निर्वाण की प्राप्ति होती है कर्म दो प्रकार के हैं कुशल और अकुशल। अनाश्रव-कुशल ही परमार्थ शुभ कर्म है। थेरवाद में इसी से असेखफल या अर्हत् अवस्था प्राप्त होती है।

जातक और अवदान

जातक और अवदान दोनों का सम्बन्ध बुद्ध के पूर्वजन्मों से है। महावस्तु को भी महावस्तु अवदान कहा गया है जातक और अवदान के बीच अन्तर को स्पष्ट करना सरल नहीं है क्योंकि अवदान का अर्थ यथासमय परिवर्तित होता रहा है। दोनों का उल्लेख द्वादशांगों में हुआ है। साधारणतौर पर अवदान को नीतिकथा, दृष्टान्त, निदर्शन, अन्योक्ति या पहेली कहा जा सकता है। अंग्रेजी में इसी को Parable कहा जाता है। निकायों में महापदानसुत्तन्त मिलता है जहां अपदान शब्द का प्रयोग हुआ है। पालि पिटक में प्रयुक्त अपदान भी लगभग इसी अर्थ में दिखाई देता है।

अवदान साहित्य की एक दीर्घ परम्परा हमारे सामने है। इसका समय ल. प्रथम शताब्दी ई. है। महावस्तु, अवदानशतक, दिव्यावदान, सुमागधावदान आदि ग्रन्थ इसी श्रेणी में आते हैं। जातक नवांग और द्वादशांग दोनों प्रकारों में अन्तर्भूत है। जातक कथाएं यद्यपि तथागत बुद्ध के पूर्वजन्मों से सम्बद्ध है पर उनमें लोककथाएं भी अन्तर्हित हैं। भारहुत शिलालेखों में उनका उल्लेख हुआ है। जातक साहित्य में ५४७ कथाएं हैं। कल्पनामण्डीतिका, अवदानशतक, दिव्यावदान, बोधिसत्त्वपूर्वचर्या, षट्पारमितासंग्रह, बोधिसत्त्वावदान में भी जातक कथाएं मिलती हैं। महाप्रज्ञापारमितोपदेश में जातक कथाएं मिलने से विद्वानों ने यह अभिमत व्यक्त किया कि महायान के विकास में जातक कथाओं का महनीय योगदान रहा है। जातकों और

अवदानों में उपमादि अलंकारों का भी प्रयोग हुआ है। दार्ष्टान्तिकों ने भी इसका उपयोग किया है। कुमारलात उनमें प्रमुख हैं। अब हम यहां पालि पिटक को समझने का प्रयत्न करेंगे।

१. सुत्तपिटक

१- **दीघनिकाय**-इसमें पांच निकाय संयोजित हैं - १. दीघनिकाय - दीघनिकाय में तीन वग्ग हैं। सभी वग्ग गद्य-पद्य शैली में हैं - १. सीलक्खंध-वग्ग में १३ सुत्त हैं - १. ब्रह्मजाल सुत्त, २. सामञ्ञफल-सुत्त (श्रामण्य फल), ३. अम्बट्ठ-सुत्त, ४. सोणदण्ड-सुत्त, ५. कूटदन्त-सुत्त, ६. महालि-सुत्त, ७. जालिय-सुत्त, ८. कस्सप सींहनाद-सुत्त, ९. पोट्ठपाद-सुत्त, १०. सुभ-सुत्त, ११. केवट्ठ-सुत्त, १२. लोहिच्च-सुत्त, १३. तेविज्ज-सुत्त।

२. **महावग्ग** (१० सुत्त) - १४. महापदान-सुत्त, १५. महानिदान-सुत्त, १६. महापरिनिब्बाण-सुत्त, १७. महासुदस्सन-सुत्त, १८. जनवसभ-सुत्त, १९. महागोविन्द-सुत्त, २०. महासमय-सुत्त, २१. सक्कपञ्ह-सुत्त, २२. महासतिपट्ठान-सुत्त, २३. पायासि-राजञ्ञ-सुत्त।

३. **पाथिक-वग्ग** (१० सुत्त)- २४. पाथिक-सुत्त, २५. उदुम्बरिक-सीहनाद-सुत्त, २६. चक्कवत्ति-सीहनाद-सुत्त, २७. अग्गञ्ञ-सुत्त, २८. सम्पसादनिय-सुत्त, २९. पासादिक-सुत्त, ३०. लक्खण-सुत्त, ३१. सिगालोवाद-सुत्त, ३२. आटानाटिय-सुत्त, ३३. संगीति-परियाय-सुत्त, ३४. दसुत्तर-सुत्त्त।

(ख) मज्झिम-निकाय

इस निकाय में १५ मध्यम आकार के वग्ग हैं, जिनमें १५२ सुत्त हैं।

१. **मूल-परियाय-वग्ग** - इस वर्ग में १० सुत्तों का समावेश मिलता है।

१. मूलपरियाय-सुत्त, २. सब्बासव-सुत्त, ३. धम्मदायाद-सुत्त, ४. भयभेरव-सुत्त, ५. अनंगण-सुत्त, ६. आकंखेय्य-सुत्त, ७. वत्थ-सुत्त, ८. सल्लेख-सुत्त, ९. सम्मादिट्ठि-सुत्त, १०. सतिपट्ठान-सुत्त।

२. **सीहनाद-वग्ग** (१० सुत्त) - ११. चूल-सीहनाद-सुत्त, १२. महा-सीहनाद-सुत्त, १३. महा दुक्खक्खन्ध-सुत्त, १४. चूल दुक्खक्खन्ध-सुत्त, १५. अनुमान-सुत्त, १६. चेतोखिल-सुत्त, १७. वनपत्थ-सुत्त, १८. मधुपिण्डिक-सुत्त, १९. द्वेधावितक्क-सुत्त, २०. वितक्क-संठान-सुत्त।

३. **ओपम्म-वग्ग** (१० सुत्त)- २१. ककचूपम-सुत्त, २२. अलगद्दूपम-सुत्त, २३. वम्मिक-सुत्त, २४. रथविनीत-सुत्त, २५. निवाप-सुत्त, २६. पासरातिस सुत्त (अपरियपरियेसन-सुत्त), २७. चूल-हत्थिपदोपम-सुत्त, २८. महा-हत्थिपदोपम-सुत्त, २९. महासारोपम-सुत्त, ३०. चूलसारोपम-सुत्त।

४. **महायमक-वग्ग** (१० सुत्त) - ३१. चूल-गोसिंग-सुत्त, ३२. महा-गोसिंग-सुत्त, ३३. महा-गोपालक-सुत्त, ३४. चूल-गोपालक-सुत्त, ३५. चूल-सच्चक-सुत्त, ३६. महा-सच्चक-सुत्त, ३७. चूल-तण्हा-संख्य-सुत्त, ३८. महा-तण्हा-संख्य-सुत्त, ३९. महा-अस्सपुर-सुत्त, ४०. चूल-अस्सपुर-सुत्त।

५. **चूल-यमक-वग्ग** (१० सुत्त)- ४१. सालेय्य-सुत्त, ४२. वेरंजक-सुत्त, ४३. महा-वेदल्ल-सुत्त, ४४. चूल-वेदल्ल-सुत्त, ४५. चूल-धम्म-समादान-सुत्त, ४६. महा-धम्म-समादान-सुत्त, ४७. वीमंसक-सुत्त, ४८. कोसंबिय-सुत्त, ४९. ब्रह्मनिमंतनिक-सुत्त, ५०. मारतज्जनीय-सुत्त।

६. **गहपति-वग्ग** (१० सुत्त)- ५१. कंदरक-सुत्त, ५२. अट्ठक-नागर-सुत्त, ५३. सेख-सुत्त, ५४. पोतलिय-सुत्त, ५५. जीवक-सुत्त, ५६. उपालि-सुत्त, ५७. कुक्कुर-वतिक-सुत्त, ५८. अभय राजकुमार-सुत्त, ५९. बहुवेदनीय-सुत्त, ६०. अपण्णक-सुत्त।

७. **भिक्खु-वग्ग** (१० सुत्त)- ६१. अम्बलट्ठिक-राहुलोवाद-सुत्त, ६२. महा-राहुलोवाद-सुत्त, ६३. चूल-मालुंक्य-सुत्त, ६४. महा-मालुंक्य-सुत्त, ६५. भद्दालि-सुत्त, ६६. लकुटिकोपत-सुत्त, ६७. चातुम-सुत्त, ६८. नलकपान-सुत्त, ६९. गुलिस्सानि-सुत्त, ७०. कीटगिरि-सुत्त।

८. **परिब्बाजक-वग्ग** (१० सुत्त)- ७१. तेविज्जवच्छगोत्त-सुत्त, ७२. अग्गिवच्छगोत्त-सुत्त, ७३. महावच्छगोत्त-सुत्त, ७४. दीघनख-सुत्त, ७५. मागंदिय-सुत्त, ७६. संदक-सुत्त, ७७. महासकुलुदायि-सुत्त, ७८. समण-मंडिक-सुत्त, ७९. चूल-सकुलुदायि-सुत्त, ८०. वेखणस-सुत्त।

९. **राज-वग्ग** (१० सुत्त)- ८१. घटिकार-सुत्त, ८२. रट्ठपाल-सुत्त, ८३. मखादेव-सुत्त, ८४. माधुरिय-सुत्त, ८५. बोधि राजकुमार-सुत्त, ८६. अंगुलिमाल-सुत्त, ८७. पिय-जातिक-सुत्त, ८८. बाहितिक-सुत्त, ८९. धम्मचेतिय-सुत्त, ९०. कण्णत्थलक-सुत्त।

१०. **ब्राह्मण-वग्ग** (१० सुत्त)- ९१. ब्रह्मायु-सुत्त, ९२. सेल-सुत्त, ९३. अस्सलायण-सुत्त, ९४. घोटमुख-सुत्त, ९५. चंकी-सुत्त, ९६. एसुकारि-सुत्त, ९७. धानंजानि-सुत्त, ९८. वासेट्ठ-सुत्त, ९९. सुभ-सुत्त, १००. संगारव-सुत्त।

११. **देवदह-वग्ग** (१० सुत्त)- १०१. देवदह-सुत्त, १०२. पञ्चत्तय-सुत्त, १०३. किन्ति-सुत्त, १०४. सामगाम-सुत्त, १०५. सुनक्खत्त-सुत्त, १०६. आनञ्जसाम्पाय-

सुत्त, १०७. गणक मोग्गल्लान-सुत्त, १०८. गोपक मोग्गल्लान-सुत्त, १०९. महा-पुण्णम-सुत्त, ११०. चूल-पुण्णम-सुत्त।

१२. **अनुपद-वग्ग** (१० सुत्त)- १११. अनुपद-सुत्त, ११२. छब्बिसोधन-सुत्त, ११३. सप्पुरिस-सुत्त, ११४. सेवितब्ब-असेवितब्ब-सुत्त, ११५. बहुधातुक-सुत्त, ११६. इसिगिलि-सुत्त, ११७. महाचत्तारीसक-सुत्त, ११८. आनापान-सति-सुत्त, ११९. कायागता-सति-सुत्त, १२०. संखारुप्पत्ति-सुत्त।

१३. **सुञ्ञता-वग्ग** (१० सुत्त)- १२१. चूल-सुञ्ञता-सुत्त, १२२. महा-सुञ्ञता-सुत्त, १२३. अच्छरिय-धम्म-सुत्त, १२४. बक्कुल-सुत्त, १२५. दन्त-भूमि-सुत्त, १२६. भूमिज-सुत्त, १२७. अनुरुद्ध-सुत्त, १२८. उपक्किलेस-सुत्त, १२९. बाल-पंडित-सुत्त, १३०. देवदूत-सुत्त।

१४. **विभंग-वग्ग** (१२ सुत्त)- १३१. भद्देकरत्त-सुत्त, १३२. आनंद-भद्देकरत-सुत्त, १३३. महाकच्चान-भद्देकरत-सुत्त, १३४. लोमसकंगिय-भद्देकरत्त-सुत्त, १३५. चूल-कम्मविभंग-सुत्त, १३६. महा-कम्मविभंग-सुत्त, १३७. सळायतन-विभंग-सुत्त, १३८. उद्देय-विभंग-सुत्त, १३९. अरण-विभंग-सुत्त, १४०. धातु-विभंग-सुत्त, १४१. सच्च-विभंग-सुत्त, १४२. दक्खिणा-विभंग-सुत्त।

१५. **सळायत-वग्ग** (१० सुत्त)- १४३. अनाथपिण्डिकोवाद-सुत्त, १४४. छन्नोवाद-सुत्त, १४५. पुण्णोवाद-सुत्त, १४६. नंदकोवाद-सुत्त, १४७. चूल-राहुलोवाद-सुत्त, १४८. छ-छक्कक-सुत्त, १४९. महासळायतन-सुत्त, १५०. नगर-विदेय्य-सुत्त, १५१. पिण्डपात-परिसुद्धि-सुत्त, १५२. इंद्रिय-भावना-सुत्त।

ग) संयुत्त निकाय

१. **सगाथ-वग्ग** (११ संयुत्त)- १. देवता-संयुत्त, २. देवपुत्त-संयुत्त, ३. कोसल संयुत्त, ४. मार-संयुत्त, ५. भिक्खुणी-संयुत्त, ६. ब्रह्म-संयुत्त, ७. ब्राह्मण-संयुत्त, ८. वंगीय-संयुत्त, ९. वन-संयुत्त, १०. यक्क-संयुत्त, ११. सक्क-संयुत्त।

२. **निदान-वग्ग** (९ संयुत्त)- १. अभिसमय-संयुत्त, २. धातु-संयुत्त, ३. अनमतग्ग-संयुत्त, ४. कस्सप-संयुत्त, ५. लाभसक्कार-संयुत्त, ६. राहुल-संयुत्त, ७. लक्खण-संयुत्त, ८. ओपम्म-संयुत्त, ९. भिक्खु-संयुत्त।

३. **खन्ध-वग्ग** (१३ संयुत्त)- १. खन्ध-संयुत्त, २. राध-संयुत्त, ३. दिट्ठि-संयुत्त, ४. ओक्कन्तिक-संयुत्त, ५. उप्पाद-संयुत्त, ६. किलेस-संयुत्त, ७. सारिपुत्त-संयुत्त, ८. नाग-संयुत्त, ९. सुपण्ण-संयुत्त, १०. गंधब्बकाय-संयुत्त, ११. वहायक-संयुत्त, १२. वच्छगोत्त-संयुत्त, १३. झान (ध्यान)-संयुत्त।

४. **सळायतन-वग्ग** (१० संयुत्त)- १. सळायतन-संयुत्त, २. वेदना-संयुत्त, ३. मातुगाम-संयुत्त, ४. जंबुखादक-संयुत्त, ५. सामंडक-संयुत्त, ६. मोग्गल्लान-संयुत्त, ७. चित्त-संयुत्त, ८. गामणी-संयुत्त, ९. असंखत-संयुत्त, १०. अव्याकत-संयुत्त।

५. **महावग्ग** (१२ संयुत्त)- १. मग्ग-संयुत्त, २. बोज्झंग-संयुत्त, ३. सतिपट्ठान-संयुत्त, ४. इंद्रिय-संयुत्त, ५. सम्पप्पधान-संयुत्त, ६. बल-संयुत्त, ७. इद्धिपाद-संयुत्त, ८. अनुरुद्ध-संयुत्त, ९. झान-संयुत्त, १०. आनापाद-संयुत्त, ११. सोतापत्ति-संयुत्त, १२. सच्च-संयुत्त।

(घ) अंगुत्तर-निकाय

इस निकाय की शैली संख्यात्मक है, जो पिछले निकायों की शैली से सर्वदा भिन्न है। इसमें ११ निपात हैं। प्रत्येक निपात १६९ वर्गों में विभक्त है तथा इन वर्गों में २३०८ सुत्त हैं। शैली का रूप इस प्रकार है- १. महाप्रज्ञों में सारिपुत्त अग्र हैं, २. ऋद्धिमानों में महामौद्गल्यायन अग्र हैं, ३. धुतवादियों (अवधूत व्रत करने वालों) में महाकाश्यप अग्र हैं, ४. बहुश्रुतों में आनंद अग्र हैं, ५. विनयधरों में उपालि अग्र हैं, ६. महाप्रज्ञाओं में खेमा (क्षेमा) अग्र है, ७. विनयधारण करने वालियों में पटाचारा अग्र है, ८. धर्मकथिकाओं में धम्मदिन्ना अग्र है, ९. दायकों में अनाथपिण्डिक अग्र हैं, १०. व्यक्तिगत प्रसंगों में जीवक कौमार भृत्य अग्र हैं, ११. दायकों में विशाखा मृगारमाता अग्र है, १२. रोगियों की सेवा करने वालियों में सुप्रिया उपासिका अग्र है, आदि-आदि।

५. खुद्दक-निकाय

इसमें प्राय: लघुकायिक ग्रन्थ हैं जिनकी संख्या १५ है-

१. **खुद्दक-पाठ** (१० संयुत्त)- १. सरणत्तयं (त्रिशरण), २. दस सिक्खापदं (शिक्षा पद), ३. द्वत्तिंसाकारं (बत्तीस आकार), ४. कुमार-पञ्हा (कुमार-प्रश्न), ५. मंगलसुत्तं, ६. रतनसुतं, ७. तिरोकुड्डसुतं, ८. निधिकंडसुतंत्त ९. मेत्तासुतं। दस सिक्खापद भिक्खु के लिए अनिवार्य हैं - १. जीव हिंसा न करना, २. चोरी न करना, ३. व्याभिचार न करना, ४. असत्य-भाषण न करना, ५. मद्यपान न करना, ६. असमय-भोजन (मध्याह्न के बाद) न करना, ७. नृत्य-गीत (तमाशा) न देखना, ८. माला-गंध के सेवन से दूर रहना, ९. ऊंची और बड़ी शैय्या पर नहीं सोना, १०. सोने और चांदी का परिग्रह न करना।

२. **धम्मपद** (२६ वग्ग और ४२३ गाथाएं) - १. यमक वग्ग, २. अप्पमाद वग्ग, ३. चित्त वग्ग, ४. पुप्फ वग्ग, ५. बाल वग्ग, ६. पंडित वग्ग, ७. अरहंत वग्ग, ८. सहस्स वग्ग, ९. पाप वग्ग, १०. दंड वग्ग, ११. जरा वग्ग, १२. अत्त वग्ग, १३. लोक वग्ग, १४. बुद्ध वग्ग, १५. सुख वग्ग, १६. पिय वग्ग, १७. कोध वग्ग, १८. कल वग्ग, १९. धम्म वग्ग, २०. मग्ग वग्ग, २१. पकिण्ण वग्ग, २२. निरय वग्ग, २३. नाग वग्ग, २४. तण्हा वग्ग,

२५. भिक्खु वग्ग, २६. ब्राह्मण वग्ग।

३. **उदान** - 'उदान' में आठ वग्ग (वर्ग) हैं तथा प्रत्येक वर्ग में प्रायः दस सुत्त हैं - १. बोधि वग्ग, २. मुचलिंद वग्ग, ३. नंद वग्ग, ४. मेधिय वग्ग, ५. सोण-स्थविर वग्ग, ६. जात्यंध वग्ग, ७. चूल वग्ग, ८. पाटलि-ग्राम वग्ग।

४. **इतिवुत्तक** (११२ सुत्त) - जो चार वर्गों में विभक्त है - २७+२२+५०+१३

५. **सुत्त-निपात** (१२ सुत्त) - अशोक के भाबू शिलालेख में इन तीन सुत्तों का उल्लेख है - १. मोनेय्यसुते (नालक-सुत्त), २. मुनि गाथा (मुनि-सुत्त), ३. उपतिसपसिने (सारिपुत्त-सुत्त)।

१. **उरग वग्ग** (१२ सुत्त) - १. उरक-सुत्त, २. धनिय-सुत्त, ३. खग्गविसाण-सुत्त, ४. कसि भारद्धाज-सुत्त, ५. चुंद-सुत्त, ६. पराभव-सुत्त, ७. पसल-सुत्त, ८. मेत्त-सुत्त, ९. हेगवत-सुत्त, १०. आलवक-सुत्त, ११. विजय-सुत्त, १२. मुनि-सुत्त।

२. **चूलवग्ग** (१२ सुत्त) - १३. रतन-सुत्त, १४. आमगंध-सुत्त, १५. हिरि-सुत्त, १६. महामेंगल-सुत्त, १७. सुचिलोम-सुत्त, १८. धम्मचरिय-सुत्त, १९. ब्राह्मण धम्मिक-सुत्त, २०. नावा-सुत्त, २१. किंसील-सुत्त, २२. उट्ठान-सुत्त, २३. राहुल-सुत्त, २४. वंगीय-सुत्त, २५. सम्मापरिब्बाजनिय-सुत्त, २६. धम्मिक-सुत्त।

३. **महावग्ग** (१२ सुत्त) - २७. पब्बज्ञा-सुत्त, २८. पधान-सुत्त, २९. सुभासित-सुत्त, ३०. सुंदरिक भारद्धाज-सुत्त, ३१. माघ-सुत्त, ३२. सभिय-सुत्त, ३३. सेल-सुत्त, ३४. सल्ल-सुत्त, ३५. वासेट्ठ-सुत्त, ३६. कोकालिय-सुत्त, ३७. नालक-सुत्त, ३८. द्वयतानुपस्सना-सुत्त।

४. **अट्ठक वग्ग** (१६ सुत्त) - ३९. काम-सुत्त, ४०. गुहट्ठक-सुत्त, ४१. दुट्ठट्ठक-सुत्त, ४२. सुदुट्ठक-सुत्त, ४३. परमट्ठक-सुत्त, ४४. जरा-सुत्त, ४५. तिस्समेत्तेय्य-सुत्त, ४६. पसूर-सुत्त, ४७. मागंदिय-सुत्त, ४८. पुराभेद-सुत्त, ४९. कलह विवाद-सुत्त, ५०. चूल वियूह-सुत्त, ५१. महा वियूह-सुत्त, ५२. तुवटक-सुत्त, ५३. अत्तदंड-सुत्त, ५४. सारिपुत्त-सुत्त।

५. **पारायण वग्ग** (१२ पुच्छा सुत्त) - ५५. वत्थुगाथा, ५६. अजित माणव पुच्छा, ५७. तिस्समेत्तेय्य माणव पुच्छा, ५८. पुण्णमाणव पुच्छा, ५९. मेत्तगू माणव पुच्छा, ६०. धोतक माणव पुच्छा, ६१. उपसीव माणवपुच्छा, ६२. नंद माणव पुच्छा, ६३. हेमक माणव पुच्छा, ६४. तोदेय्य माणव पुच्छा, ६५. कप्प माणव पुच्छा, ६६. जतुकण्णि माणव पुच्छा, ६७. भद्रावुध माणव पुच्छा, ६८. उदय माणव पुच्छा, ६९. पोसाल माणव पुच्छा, ७०. मोघराज माणव पुच्छा, ७१. पिंगिय माणव पुच्छा, ७२. पारायध-सुत्त।

६-७ **विमानवत्थु और पेतवत्थु**

८-९ **थेरगाथा और थेरीगाथा** जिनमें क्रमशः २६४ और ७३ भिक्षु-भिक्षुणियों के उद्गार संमिलित हैं।

१०.जातक (प्रथम खंड) - अपण्णक जातक (१), कट्ठहारि जातक (७), मखादेव जातक (९), वट्टक जातक (२८), तित्तिर जातक (३५), बक जातक (३८), मकस जातक (४४), आरामदूसक जातक (४६), वेदब्भ जातक (४८), बानरिंद जातक (५७), मुदुलक्खण जातक (६६), उच्छंग जातक (६७) , सीलवनागराज जातक (७२), महासुपिन जातक (७७), इल्लीस जातक (७८), भीमसेन जातक (८०), सीलवीमंस जातक (८६), महासार जातक (९२), तेलपत्त जातक (९६), नामसिद्धि जातक (९७)।

जातक (द्वितीय खंड) - अनुसासिक जातक (११५), दुब्बच जातक (११६), तित्तिर जातक (११७), वट्टक जातक (११८), बंधनमोक्ख जातक (१२०), कुसनाळि जातक (१२१), दुम्मेध जातक (१२२), नंगलीस जातक (१२३), अम्ब जातक (१२४), कटाहक जातक (१२५), असिलक्खण जातक (१२६), बिळारवत जातक (१२८), असम्पदान जातक (१३१), सुवण्णहंस जातक (१३६), काक जातक (१४०), विरोचन जातक (१४३), नंगुट्ठ जातक (१४४), एकपण्ण जातक (१४९), राजोवाद जातक (१५१), अलीनचित्त जातक (१५६), इन्दसमानगोत्त जातक (१६१), सन्थव जातक (१६२), सतधम्म जातक (१७९), वाळोदक जातक (१८३), सीहचम्म जातक (१८९), सीलानिसंस जातक (१९०), मणिचोर जातक (१९४), वालाहस्स जातक (१९६), साधुसील जातक (२००), कुरुंगमिग जातक (२०६), संसुमार जातक (२०८), कच्छप जातक (२१५), कूटवाणिज जातक (२१८), धम्मद्ध जातक (२२०), वक जातक (२३६), महापिंगल जातक (२४०), सब्बदाठ जातक (२४१), गुत्तिल जातक (२४३), किंसुकोपम जातक (२४८)।

जातक (तृतीय खंड) - तिलमुट्ठि जातक (२५२), सुक जातक (२५५), मामणीचण्ड जातक (२५७), मंधाता जातक (२५८), मृदुवाणी जातक (२६२), आरामदूसक जातक (२६८), सुजाता जातक (२६९), लोल जातक (२७४), कुरुधम्म जातक (२७६), लाभगरह जातक (२८७), नानच्छंद जातक (२८९), जंबुखादक जातक (२९४), उदुम्बर जातक (२९८), कोमायपुत्त जातक (२९९), महाअस्सारोह जातक (३०२), जवसकुण जातक (३०८), खंतिवादी जातक (३१३), कणवेर जातक (३१८), कुटिदूसक जातक (३२१), दद्दभ जातक (३२२), अननुसोचिय जातक (३२८), रथलट्ठि जातक (३३२), जंबुक जातक (३३५), विसरह जातक (३४०), संधिभेद जातक (३४९), मणिकुंडल जातक (३५१), उरग जातक (३५४), लट्टुकिक

जातक (३५७), गुंबिय जातक (३६६), मिगपोतक जातक (३७२), सेतुकेतु जातक (३७७), नेरु जातक (३७९), मिगालोप जातक (३८१), सूची जातक (३८७), सुवण्णकक्कटक जातक (३८९), मय्हक जातक (३९०), धजविहेठ जातक (३९१), दब्बपुप्फ जातक (४००)।

जातक (चतुर्थ खंड) - कपि जातक (४०४), कुंभकार जातक (४०८), सोमदत्त जातक (४१०), जागर जातक (४१४), कच्चानि जातक (४१७), चेतिय जातक (४२२), आदित्त जातक (४२४), तक्कळ जातक (४४६), घत जातक (४५४), धम्म जातक (४५७), दसरथ जातक (४६१), जनसंध जातक (४६८), अम्ब जातक (४७४), चुल्ल नारद जातक (४७७), कलि' बोधि जातक (४७९), सरभमिग जातक (४८३), चंदकिन्नर जातक (४८५), पञ्चूपोसक जातक (४९०), सिवि जातक (४९९),

जातक (पंचम खंड) - रोहन्तमिग जातक (५०१), सत्तिगुंब जातक (५०३), सोमनस्स जातक (५०५), हत्थिपाल जातक (५०९), कुंभ जातक (५१२), सम्भव जातक (५१५), पंडर जातक (५१९), तेसुकुण जातक (५२१), चुल्लसुतसोम जातक (५२५), संकिच्च जातक (५३०), कुस जातक (५३१), चुल्लहंस जातक (५३३), सुधा भोजन जातक (५३५), महासुतसोम जातक (५३७),

जातक (षष्ठ खंड) - मूगपक्ख जातक (५३८), महाजनक जातक (५३९), साम जातक (५४०), विदुर जातक (५४५), महावेस्संतर जातक (५४७)।

११. निद्देस

ऐतिहासिक दृष्टि से **निद्देस** जातक के बाद की रचना है। इसका संगायन भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद वैशाली की द्वितीय बौद्ध-संगीति के समय माना जाता है। यह ग्रंथ श्रावकों द्वारा भाषित है। ठीक उसी प्रकार जैसे थेर गाथा और थेरी गाथा में भिक्खु और भिक्खुणियों के उद्गार दिए हुए है। इस ग्रंथ की अपनी मौलिकता बहुत कम है। सर्वास्तिवादी संप्रदाय के त्रिपिटक में पालि-तिपिटक के खुद्दकनिकाय के जो ग्रंथ नहीं मिलते, उनमें से निद्देस भी एक है। निद्देस को एक प्रकार से सुत्तनिपात (खुद्दक निकाय का पांचवां गंथ) की टीका कहा जाए तो अनुचित नहीं।

१२. पटिसम्भिदामग्ग - इस ग्रंथ का भी संगायन भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद आयोजित द्वितीय बौद्ध-संगीति के अवसर पर माना गया है।

१३. अपदान : पालि-अपदान की तर्ज पर बाद में संस्कृत साहित्य में अवदान-ग्रंथों की रचना का चलन विकसित हुआ।

१४. **बुद्धवंस** - जातक में इनकी कथाएं गद्य-शैली में हैं। जबकि यहां इनकी जीवनियां पद्य-शैली में हैं। बुद्धवंस में पौराणिकता की प्रधानता है, जो ऐतिहासिक गौतम बुद्ध से सर्वदा भिन्न है। इस ग्रंथ में पूर्व-बुद्धों के २४ नाम इस प्रकार दिए गए हैं - १. दीपंकर (दीपंकर) बुद्ध, २. कोण्डञ्ञ (कौडिन्य) बुद्ध, ३. मंगल (मंगल) बुद्ध, ४. सुमन बुद्ध, ५. रेवत बुद्ध, ६. सोभित (शोभित) बुद्ध, ७. अनोमदस्सी (अनोमदर्शी) बुद्ध, ८. पदुम (पद्म) बुद्ध, ९. नारद बुद्ध, १०. पदुमुत्तर (पद्मोत्तर) बुद्ध, ११. सुमेध बुद्ध, १२. सुजात बुद्ध, १३. पियदस्सी (प्रियदर्शी) बुद्ध, १४. अत्थदस्सी (अर्थदर्शी) बुद्ध, १५. धम्मदस्सी (धर्मदर्शी) बुद्ध, १६. सिद्धत्थ (सिद्धार्थ) बुद्ध, १७. तिस्स (तिष्य) बुद्ध, १८. फुस्स (पुष्य) बुद्ध, १९. विपस्सी (विपश्यी) बुद्ध, २०. सिखी (शिखी) बुद्ध, २१. वेस्सभू (विश्वंभू) बुद्ध, २२. ककुसंध बुद्ध, २३. कोणागमन बुद्ध, २४. कास्सप (काश्यप) बुद्ध।

१५. **चरिया पिटक** - पालि बौद्ध साहित्य में इन पारमिताओं की संख्या दस हैं - १. दान, २. सील (शील), ३. नेक्खम्म (नैष्क्रम्य), ४. पञ्ञा (प्रज्ञा), ५. वीरिय (वीर्य), ६. खन्ति (क्षान्ति), ७. सच्च (सत्य), ८. स'प्प (संकल्प), ९. मेत्ता (मैत्री), १०. उपेक्खा (उपेक्षा) जबकि चरियापिटक में केवल सात पारमिताएं १. दान, २. शील, ३. नैष्क्रम्य, ४. अधिष्ठान, ५. सत्य, ६. मैत्री और ७. उपेक्षा का उल्लेख मिलता हैं संकल्प-पारमिता के लिए यहां अधिष्ठान पारमिता का प्रयोग किया गया है।

इस ग्रंथ का पहला परिच्छेद दान पारमिता से संबंधित है, जिसमें निम्न दस चर्याएं है -१. अकित्ति चरियं - अकित्ति जातक (४८०) २. स' चरियं - स'पाल जातक (५२४), ३. कुरुधम्म चरियं - कुरुधम्म जातक (२७६), ४. महासुदस्सन चरियं - महासुदस्सन जातक (९५), ५. महागोविंद चरियं - दीघ निकाय का महागोविंद सुत्तंत, ६. निमि चरियं - निमि जातक (५४१), ७. चंदकुमार चरियं - खंडहाल जातक (५४२), ८. सिविराज चरियु - सिवि जातक (४९९), ९. वेस्संतर चरियं -म हावेस्संतर जातक (५४७), १०. ससपंडित चरियं - सस जातक (३१६)

दूसरा परिच्छेद शील पारमिता का है, जिसमें भी दस चर्याएं हैं - १. सीलवनाग चरियं - सीलवनाग जातक (७२), २. भूरिदत्त चरियं - भूरिदत्त जातक (५४३), ३. चम्पेय्यनाग चरियं - चम्पेय्य जातक (५०६) ४. चूलबोधि चरियं - चुल्लबोधि जातक (४४३), ५. महिसराज चरियं - महिस जातक (२७८), ६. रुरुराज चरियं - रुरु जातक (४८२), ७. मातंग चरियं - मातंग जातक (४९७), ८. धम्म

देवपुत्त चरियं - धम्म जातक (५४७), ९. जयद्दिस चरियं - जयद्दिस जातक (५१३), १०. सं'पाल चरियं - स'पाल जातक (५२४)।

तीसरा परिच्छेद नैष्क्रम्य पारमिता से संबंधित है और इसमें छः चर्याएं हैं - १. युधञ्जय चरियं - युधुञ्जय जातक (४६०), २. सोमनस्स चरियं - सोमनस्स जातक (५०५), ३. अयोधर चरियं - अयोधर जातक (५१०), ४. भीस चरियं - भिस जातक (४८८), ५. सोण पंडित चरियं - सोणनंद जातक (५३२)।

चौथा परिच्छेद अधिष्ठान पारमिता का है। इसमें केवल एक ही चर्या है - १. तेमिय चरियं - मूगपक्ख जातक (५३८)।

पांचवां परिच्छेद सत्य पारमिता का है और इसमें छः चर्याएं हैं - १. कपिराज चरियं - कपि जातक (२५०), २. सच्चहव्हय चरियं - सच्चंकिर जातक (७३), ३. वट्टपोतक चरियं - वट्ट जातक (३५), ४. मच्छ चरियं - मच्छ जातक (३४), ५. कण्हदीपायन चरियं - कण्हदीपायन जातक (४४४), ६. सुतसोम चरियं - महासुतसोम जातक (५३७)।

छठा परिच्छेद मैत्री पारमिता का है, इसमें दो चर्याएं हैं - १. सुवण्णासाम चरियं - साम जातक (५४०), २. एकराज चरियं - एकराज जातक (३०३)।

सातवां परिच्छेद उपेक्षा पारमिता के बारे में हैं और इसमें केवल एक ही चर्या है - १. महालोमहंस चरियं - लोमहंस जातक (९४)।

३. अभिधम्मपिटक

कालक्रम की दृष्टि से अभिधम्मपिटक के ग्रन्थों को यों रखा जा सकता है - १. धम्मसंगणि, २. विभंग, ३. कथावत्थु, ४. पुग्गलपञ्ञत्ति ५. धातुकथा, ६. यमक, और ७. पट्ठान। मिलिन्दपञ्ह, नेत्तिपकरण और पेटकोपदेस में भी अभिधम्म विषय उपलब्ध है पर उन्हें अभिधम्मपिटक में सम्मिलित नहीं किया गया।

इस प्रकार समग्र पालि साहित्य में सांस्कृतिक सामग्री एक समृद्ध रूप में बिखरी पड़ी है। यहां उसका मात्र संकेत किया गया है। महायानी परम्परा भी पालि साहित्य के आधार पर अधिक पुष्पित होती रही है।



परिवर्त ३

पालि तिपिटक का अन्त: परिचय

थेरवाद बौद्धधर्म

पालि तिपिटक का मूल सम्बन्ध थेरवाद बौद्धधर्म से है। तथागत बुद्ध ने जिस धर्म की स्थापना की उसके मूल रूप को थेरवाद नाम दिया गया। छठी शती ई.पू. के काफी समय तक भारतीय परम्परा में हर सम्प्रदाय के आगम ग्रन्थ मौखिक परम्परा के माध्यम से सुरिक्षत रखे जाते रहे। स्वाभाविक रूप से यथासमय उनमें परिवर्तन-परिवर्धन होने का अंदेशा भी बना रहा। दीघनिकाय के **महापरिनिब्बाणसुत्त** (भाग २, पृ. ९६-९८) के अनुसार तथागत बुद्ध ने अपना यह भय व्यक्त किया है कि कालान्तर में उनके उपदेशों या सिद्धान्तों को भ्रमात्मक ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है। इसलिए शिष्यों को इसका उपाय बताया कि वे चार प्रकार से उनकी परीक्षा करें (**चत्तारि महापदेसा**)। पालि साहित्य यह स्पष्ट करता है कि भ. बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग सौ वर्ष बाद संघ-विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई और कुछेक शताब्दियों के बाद वह अठारह सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। इस पर अनेक विद्वानों ने काम किया है।

समयभेदव्यूहचक्र के अनुसार यह विवरण अधिक प्रामाणिक लगता है। प्रथम संघ भेद वैशाली में हुई द्वितीय संगीति का परिणाम है। उस समय वज्जी भिक्षु संघ द्वारा मान्य दस वस्तुओं के विवाद का सन्दर्भ था। वसुमित्र, भव्य, विनीतदेव के अनुसार यह संगीति **महादेव** द्वारा मान्य पांच विन्दुओं पर विचार करने के लिए आहूत की गई थी। बाद में महासंगीति का आवाहन किया गया जिससे महासांघिक सम्प्रदाय का जन्म हुआ। इस तरह थेरवाद और महासांघिक दो सम्प्रदाय अस्तित्व में आये। इनमें थेरवाद से बारह और महासांघिकों से छह सम्प्रदायों का जन्म हुआ। इनमें अधिकांश सम्प्रदाय कालकवलित हो गये। मात्र चार शेष रहे - **वैभाषिक, सौत्रान्तिक, माध्यमिक और योगाचार**। ये सम्प्रदाय हीनयान और महायान में विभक्त हैं। हीनयान का नाम विभज्यवाद है। कथावत्थु में इसके स्थान पर थेरवाद शब्द का प्रयोग हुआ है। थेरवाद के अनुसार अकुशल कर्मों से मुक्त होने के लिए शील, समाधि और प्रज्ञा का परिपालन

करना पडता है। इसी से अरियसच्च और पटिच्चसमुप्पाद का ज्ञान होता है।

इस सम्प्रदाय के अनुसार सभी तत्त्व अनित्य, दु:ख और अनात्म हैं। सभी तत्त्व क्षणिक हैं। वे नाम और रूप में विभक्त हैं। ये पंचस्कन्धात्मक हैं जो संस्कृत कहे जाते हैं। ये पदार्थ उत्पन्न होते हैं और तिरोहित हो जाते हैं। **मध्यममार्ग या अरियसंगीतिमार्ग थेरवाद का एक अन्य सिद्धान्त है। अनात्मवाद, कर्मवाद, और पुनर्जन्म भी उसके अन्य विशिष्ट सिद्धान्त हैं।** अभिधम्मत्थसंगह में अभिधर्म को चित्त, चेतसिक, रूप और निर्वाण में विभक्त किया है। समूचा पालि साहित्य इसी पर आधारित है।

पालि-बौद्ध संस्कृत पाण्डुलिपि संस्कृति

पालि-बौद्ध साहित्य का प्रारम्भिक रूप चूंकि पाण्डुलिपियों में सुरक्षित है, इसलिंए उनके विषय में जान लेना आवश्यक है। इसका सम्वन्ध पिटक की मौखिक परम्परा से भी रहा है। ये बौद्ध पाण्डुलिपियां एक ओर अलुविहार (श्रीलंका) में और दूसरी ओर गान्धार प्रदेश में अधिक मिली हैं। दोनों में हजारों मीलों का अन्तर है। फिर भी वे पुष्पित-फलित हुए हैं। बुद्ध के परिनिर्वाण के शताब्दियों बाद उनके अनुयायियों के मन में यह बात आई कि जो उपदेश अभी तक मौखिक रूप से चले आयें हैं उन्हें अब लिखित रूप में स्थायित्व दिया जाना चाहिए। अत: संगीतियों के माध्यम से उन्हें एकत्रित करने का प्रयत्न किया गया।

महायान सम्प्रदाय प्रथम शताब्दी ई.पू. से अधिक प्रचलित हुआ, जबकि थेरवाद, सर्वास्तिवाद और धर्मगुप्तक सम्प्रदाय मौखिक परम्परा से अपनी परम्परा को सुरक्षित किये गान्धार प्रदेश से सिल्करोड होते हुए चीन-तिब्बत पहुंचे। वहां विद्वद् वर्ग ने यह अनुभव किया कि धर्म प्रचार की दृष्टि से उनका तद् तद् भाषाओं में अनुवाद किया जाये। परिणामत: एक बडी संख्या में अनुवाद हुए। फिर भी मौखिक परम्परा चलती रही। थाईलेण्ड में तो ल. १५ वीं शती तक वह लोकप्रिय बनी रही।

एशियाई देशों में प्रारम्भ में ताडपत्रों का उपयोग किया जाता था प्रतिलिपियां तैयार करने के लिए। बाद में कागज, वस्त्र, सिल्क आदि का भी उपयोग होने लगा। लेखकों के कारण मूल प्रतियों में अन्तर भी होता रहा। लगभग सातवीं शताब्दी में बुद्धलाक मुद्रण प्रारम्भ हुआ चीन, कोरिया जापान तिब्बत आदि देशों में। तब से यह परिवर्तन कम हो गया। इसके बावजूद मौखिक परम्परा पर विराम नहीं लगाया जा सका। इधर पाण्डुलिपियों को सजाने का भी काम प्रारम्भ हो गया। विद्वानों ने इन पाण्डुलिपियों की खोज चीन, अफगानिस्तान, तिब्बत आदि देशों में की। १९३१ में गिलगिट मेन्युस्क्रिप्ट्स मिले जिनमें ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों का प्रयोग हुआ। विद्वानों ने उनका अध्ययन किया और पाण्डुलिपि संस्कृति का विकास हुआ। उनके

अध्ययन में भाषाविज्ञान, इतिहास, संस्कृति और लेखनकला का विशेष अध्ययन किया जा सकता है।

गान्धारी प्राकृत पाण्डुलिपियां

अभी तक लगभग चार गान्धारी प्राकृत पाण्डुलिपियां अफगानिस्तान तथा आसपास के प्रदेशों में प्राप्त हुई हैं जो खरोष्ठी लिपि में लिखी हुई हैं। उनमें बाजार और सोयेन (बामियान) में प्राप्त पाण्डुघटों में लेख भी लिखे हुए हैं। ये लेख धर्मगुप्तक सम्प्रदाय के हैं जिनमें उनके दान का उल्लेख है। ये घडे अन्तिमकृत्य में उपयोग में लाये गये थे। हड्ड में पाये गये ऐसे घट स्तूप के दायीं दीवाल के नीचे प्राप्त हुए हैं। ये लेख कुषाण काल के हैं। उनमें '**लिखितगो**' शब्द पढा गया है। इसका समय ल. १४० ई. है। यह सर्वप्रथम १८९२ में मिला। बामियन (अफगानिस्तान) में प्राप्त खरोष्ठी लेखों की संख्या ल. १०१२ है। ये लेख काष्ठपेटी में मिले जो धारिणी से सम्बद्ध हैं। इन लेखों को धर्मशरीर कहा गया है। ये लेख माता-पिता के सम्मान में रखे गये थे - **मातृपितृपुए सर्वसत्त्वान पुए**।

श्रीलंका की ताडपत्र प्रतियों में कुछ ताडपत्र प्रतियां मातले के अलुविहार में पायी गयीं जो २९ और १७ ई.पू. की हैं। वे धम्म के रक्षणार्थ लिखी गयीं। समन्तपासादिका में इसका उल्लेख आया है। ल. नवीं शती से सिंहली में लिखा साहित्य मिलने लगता है। १७ वीं शती में सरणंकर ने स्याम निकाय की स्थापना की और इस तरह की ताडपत्र प्रतियां लिखने की परम्परा डाली। ऐसी प्रतियां विहारों में आज भी सुरक्षित हैं। परिवेणों में ऐसी सैकडों पाण्डुलिपियां सुरक्षित हैं। ये प्रतियां परित्त, वणपोत, सन्नय, घटपद और परिकथा जैसी विधाओं से भी सम्बद्ध हैं। इतिवुत्तक, बुद्धवंस, चरियापिटक, महासतिपट्ठानसुत्त, दीघनिकाय, विनयविनिच्छय, पूजावलिय चूलहत्थिपादोपमसुत्त, कालाकारामसुत्त, एकक्खरकोरूवण्णना, विनयत्थमंजूसा, धम्मपद आदि जैसे ग्रन्थ अधिक लोकप्रिय रहे हैं। इनकी प्रतियां अधिक परिमाण में मिलती हैं।

यहां पालि तिपिटक के सुत्तों या ग्रन्थों का पाठ किया जाता था। धर्मचक्रप्रवर्तन उसी का प्रारम्भिक रूप था। सारिपुत्र, आश्वजित, महामुद्गल्यायन आदि अग्रभिक्षुवर्ग ने भी इसी तरह धर्मप्रचार किया था। पूर्ण मैत्रायणी पुत्र कात्यायन को भी बुद्ध ने प्रमुख धर्मप्रचारक कहा था। इनके अतिरिक्त धर्मदन्ना, सोभा, पटाचारा, सोमा, क्षेमा जैसी भिक्षुणियों ने भी इसी तरह धर्मप्रचार किया था। संगीतिसुत्त में महावीर या निगण्ठ नातपुत्त के परिनिर्वाण का समाचार दिया गया है श्रीलंका के महाविहार सम्प्रदाय के अनुसार।

सर्वास्तिवादियों के **संगीतिसूत्र** में अभिधर्मदर्शन को समाहित किया गया। दीर्घागम में धर्मगुप्तक संगीतिसूत्र संयोजित है। प्रथम 'मूलसंगीति' और द्वितीय सप्तशतिका संगीति में धम्म और विनय का संगायन हुआ। तृतीय संगीति का सम्बन्ध महाविहारवासी परम्परा से संबद्ध है।

संमितीय संगीतियों का उल्लेख त **विनिमहासंवर्तिनीकथा और संस्कृतासंस्कृश्चय** ग्रन्थों में मिलता है। प्रथम का उल्लेख महाकवि सर्वरक्षित (१० वीं शती) ने किया और दूसरे का उल्लेख दशबलश्रीमिक (१२ वीं शती) ने किया है। अन्य संगीतियों ने भी संगायन का काम किया है।

पिटक का संगायन कहां हुआ यह कहना बडा कठिन है। कहा जाता है, महाविहार परम्परानुसार प्रथम शती ई. पू. में पालि तिपिटक और अट्ठकथाओं का संकलन किया गया। दूसरी संमितीय परम्परा है जिसने पंचम संगीति के समय इसका संगायन किया था।

ललितविस्तर और महावस्तु में बुद्ध को ३२ लिपियों का ज्ञाता माना गया है। **महाकरुणापुण्डरीकसूत्र** के अनुसार बुद्ध ने अपने अनुयायियों को बुद्धवचनों को संग्रहीत करने के लिए आदेश दिया था। **मंजुश्री मूलतन्त्र** में भविष्यवाणी का उल्लेख है कि अजातशत्रु बुद्धवचनों का संग्रह करेगा। कालचक्रतन्त्र की विभाषा में कहा गया है कि संगीतिकार ने त्रियान को पुस्तकारुढ किया। तारानाथ और बुतोन के अनुसार तिपिटक का लेखन तृतीय संगीति का परिणाम है। गांधारी पाण्डुलिपियां भी ल. प्रथम शती की मिलती हैं। अत: हम यह कह सकते हैं कि पालि पिटक लगभग प्रथम शती ई. पू. में लिखा जा चुका था।

मौखिक परंपरा

पालि साहित्य परम्परा प्रारम्भ में मौखिक रही है जो संगीतियों के माध्यम से विशुद्ध होती रही। **'एवं मे सुतं'** इसका आधार रहा है। अनपेक्षित घटनाओं के मिश्रण हो जाने की आशंका से **महावंस** के अनुसार श्रीलंका में चतुर्थ संगीति हुई और प्रथम शताब्दी में वट्टगामिनी के शासनकाल में सर्वप्रथम उसे लिपिबद्ध किया गया। दीघनिकाय और मज्झिमनिकाय में संग्रहीत सुत्तों के अध्ययन से यह तथ्य प्रमाणित होता है कि दीघनिकाय के ३४ और मज्झिमनिकाय के १५२ सुत्त बुद्धोपदिष्ट हैं, और आठ सुत्त उनके शिष्यों द्वारा प्रोक्त हैं। पायासिसुत्त और सुभसुत्त (दी.नि.) क्रमशः कुमारकस्सप और आनन्द के नाम पर हैं। म.नि. के शेष सुत्तों का सम्बन्ध आनन्द, मोग्गल्लान, उदेन, बाकुल महाकच्चायन और गोपक से सम्बद्ध है। और बाकी सुत्त तथागत बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद संकलित हुए हैं। बुद्धोक्त सुत्त साधारणत: **एवं**

समयं भगवा से प्रारम्भ होते हैं और फिर नगर का नाम आता है। दी.नि. और म.नि. के सुत विविध कालों में और विविध नामों से संकलित हुए हैं। लेखक, लेखापेति, अक्खरिक, लेखसिप्य, लेखनी आदि शब्द इसके प्रमाण है कि बुद्ध काल में लेखनकला का अस्तित्व था। संयोग से उस समय की कोई लिखित प्रतियां हमारे समक्ष नहीं हैं। इसलिए मौखिक परम्परा पर हमारा ध्यान चला जाता है। दीघनिकाय का संगीतिसुत्त, दसुत्तरसुत्त, दीघभाणक, मज्झिमभाणक, मातिका, चूलिका आदि शब्द इस तथ्य का संकेत करते हैं कि इस मौखिक परम्परा को लिपिबद्ध करने का प्रयास यथासमय होता रहा हैं. जैन परम्परा में भी इसीतरह मौखिक परम्परा का अस्तित्व रहा है।

मूलत: मौखिक परम्परा से पिटक चलता रहा। सर्वप्रथम अशोक ने शिलालेखों में (कलकत्ता वैराट) प्रथम बार सात सूत्रों का उल्लेख किया। बौद्ध साहित्य में मज्झिमनिकाय और मध्यमागम का उल्लेख है। आनन्द ने बुद्ध से धर्मपर्यायों के नाम पूछे थे। बुद्ध ने बहुधातुक, चतुपरिवट्ट, धम्मादास, अमतदुन्दुभि, अनुत्तरसंगामविजय का उल्लेख किया। महावग्ग विनय और उदान के अनुसार सोण ने अट्ठकवग्ग का पाठ किया। अंगुत्तरनिकाय में नन्दमाता उपासिका का नामोल्लेख है जिसने पारायण का पाठ किया। सर्वास्तिवादी परम्परा में पाशराशि और अपियपर्येषणसूत्र का उल्लेख है, उदान और अभिधर्मकोशसूत्र का उल्लेख है। उदान और अभिधर्मकोशभाष्य में उल्लिखित उदानगाथा भी इसका उल्लेख करते हैं। भाणक, बहुश्रुत, विनयधर, बोधिपिटकधर बोधिसत्त्वयानिक आदि शब्द परम्परावाहक रहे हैं।

मूल बौद्धधर्म का प्रश्न

साधारण तौर पर यह माना जाता है कि मज्झिम और दीघनिकाय तथा चीनी आगम साहित्य में सुरक्षित बौद्धधर्म मूल बौद्धधर्म है। अशोक के समय तक **स्थविरवाद** का मूल रूप बना रहा है। सर्वास्तिवाद का अस्तित्व उसके बाद ही सामने आया। महायान का रूप उत्तरकाल में ही महासांघिक सम्प्रदाय के विकास का परिणाम है। वह आगम साहित्य के रूप में ही उपलब्ध है। महायान सूत्रों को देखने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि उनको स्मृति का विषय बनाना सरल नहीं है। उनकी समुन्नत कथाओं और वर्णन विधाओं को मौखिक रूप देना कठिन है। उनका दर्शन तथा पौराणिक रूप भी उत्तरकालीन लगता है। चमत्कार और भक्ति तत्त्व यद्यपि पालि साहित्य में मिलते हैं पर उनका सघन रूप महायान सूत्रों में उपलब्ध होता है।

इसके बावजूद महायानी बौद्ध यह मानते हैं कि उनका दर्शन बौद्धिक वर्ग के लिए है और थेरवाद साधारण व्यक्ति के लिए है। इसे हम यों मान सकते हैं कि थेरवाद प्रारम्भिक बौद्धदर्शन है जिसका विकसित रूप महायान में उपलब्ध है। फिर भी

शालिस्तम्भ सूत्र जैसे कतिपय महायानी ग्रन्थ हैं जिनका तुलनात्मक अध्ययन करने से यह पता चलता है कि उसका मूल आधार पालि त्रिपिटक रहा है। उसकी प्रतीत्य समुत्पाद सिद्धान्त की व्याख्या पालि तथा सर्वास्तिवादी परम्परा पर आधारित है।

भगवान बुद्ध के मूल सिद्धान्त

बौद्धधर्म की दोनों परम्पराएं थेरवाद और महायान स्वयं को तथागत बुद्ध से सीधा सम्बन्ध स्थापित करती हैं। परन्तु दोनों की ग्रन्थ सम्पदा का लेखन उत्तरकाल में हुआ है और उनमें परिवर्तन-परिवर्धन भी हुआ है। थेरवाद और सर्वास्तिवाद की दीघनिकाय और मज्झिमनिकाय की पाठ परम्परा लगभग २५० वर्ष तक काफी सीमा तक समान चलती रही है पर महायानी परम्परा के ग्रन्थों के दार्शनिक अध्ययन से ऐसा लगता है कि ३५० वर्षो में उसमें पारम्परिक विकास हुआ है। अशोक के समय तक थेरवादी परम्परा शुद्ध रही, भले ही कुछ व्याघात उसमें आते रहे। उसने अपने शासन में थेरवादी परम्परा का वर्चस्व बनाये रखा, साथ ही सर्वधर्मसमभाव की भी स्थापना की। उसके समय महायान सूत्रों का उदय हो चुका था। पालि साहित्य में समागत चमत्कार तत्त्वों का और भी विकास इन सूत्रों में परिलक्षित होता है जिसने बौद्धधर्म की लोकप्रियता को बढाया। इसी आधार पर वोन्ज जैसे आधुनिक विद्वानों में यह विचार जाग्रत हुआ कि बुद्ध के मूल सिद्धान्त तिरोहित हो गये। पर यह सही नहीं लगता। शालिस्तम्भ सूत्र इस तथ्य का परिचायक है कि दोनों परम्पराओं में मूल सिद्धान्तों पर किसी सीमा तक सहमति रही है।

शालिस्तम्भसूत्र में **चतुरार्यसत्य और अष्टांगिकमार्ग** का विवेचन थेरवादी परम्परा के आधार पर हुआ है। प्रथम दुःख सत्य का आधार है - संसार के सभी पदार्थ अनित्य हैं। इसलिए आत्मा का भी अस्तित्व नहीं है। वह भी अनित्य है। मृत्यु के बाद उसका अस्तित्व नहीं है। परन्तु बौद्धधर्म में परलोक है, पुनर्जन्म है, देवों की मान्यता है। इससे ऐसा लगता है कि अनात्मवाद का अर्थ है पदार्थ मेरा नहीं है। दूसरी ओर चित्त से सारा काम आत्मा का करा लिया गया है।

इसके अतिरिक्त **प्रतीत्य समुत्पाद, मध्यममार्ग, त्रिकायवाद, कर्मवाद, बोधिसत्त्व आदर्श, बोधिचित्त, अभिधर्म** आदि सिद्धान्तों का विकास समूचे बौद्ध साहित्य में दृष्टव्य है चाहे वह हीनयानी साहित्य हो या महायानी।

संघ का विकास

बौद्धसंघ का विकास तथागत बुद्ध के '**एहि पस्सिक**' तथा उस वचन से प्रारम्भ होता है, जिसमें उन्होंने अपने शिष्यों को आदेश दिया था कि वे अकेले विभिन्न

दिशाओं में जायें और समाज के कल्याण के लिए धर्म का उपदेश दें जो आदि मध्य और अन्त तक कल्याणकारी हो। इन शब्दों के साथ उन्होंने प्रथमतः अपने ६० दीक्षित शिष्यों को विभिन्न प्रान्तों में भेजा।

संघ का मूल कार्य था बुद्ध के वचनों का संग्रहकर उन्हें सुरक्षित रखना। आज उपलब्ध पालि त्रिपिटक में बुद्ध के वचनों का संकलन किया गया है। यह संकलन मूलतः भिक्षुओं ने ही किया था। उसका यह संकलित रूप प्रथमतः श्रीलंका में प्रथम शताब्दी में हुआ। यह भी एक परम्परा है कि कुषाणवंशी कनिष्क ने उसका **संस्कृत रूपान्तरण** द्वितीय शताब्दी में कराया चतुर्थ संगीति के माध्यम से। इसकी भाषा विशुद्ध संस्कृत नहीं थी बल्कि मिश्रित संस्कृत-प्राकृत थी। संभव है उस समय इसी प्रकार की भाषा जनबोली के रूप में प्रचलित रही हो। इस समय के सभी अभिलेख प्राकृत में मिलते हैं। पालि प्राकृत का ही भेद है। संभव है, द्वितीय शताब्दी तक संस्कृत का यही रूप प्रचलित रहा हो।

संस्कृत का यह रूप प्रारंभिक महायान का वैशिष्ट्य रहा है। इस समय तक बौद्धधर्म चीन तक पहुंच चुका था। चीनी भाषा में संस्कृत आगमों का अनुवाद ६८ ई. में दो भारतीय विद्वानों द्वारा किया गया। इससे लगता है, उनके समक्ष मूल त्रिपिटक की प्रति रही होगी। चीनी परम्परा में भी पुस्तक परम्परा रही है। मौखिक परम्परा से सही अनुवाद करना सरल भी नहीं रहता। द्वितीय शताब्दी में महायानी संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में हुआ भी है। इसके बाद चीनी यात्री फाह्यान (३९९-४१३), ह्यूनसांग (६३०-६४४) और ईत्सिंग (६७१-६९५) ने भारतीय पाण्डुलिपियों की खोज में भारत की अविस्मरणीय यात्राएं भी की हैं जिनके विवरणों में हमारी समूची भारतीय संस्कृति प्रतिबिम्बित हुई है।

उत्तरकाल में बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद चीनी और तिब्बती भाषाओं में सघनता के साथ होता रहा है। हमारी इस धरोहर का संरक्षण इन भाषाओं में दिखाई देता है। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि ये ग्रन्थ किसी न किसी तरह हमारे यहां मौखिक परम्परा में बने रहे। अभी तक इतनी प्राचीन पाण्डुलिपियां भारत में उपलब्ध भी नहीं हुई हैं। सच तो यह है कि सातवीं से तेरहवीं शती के बीच मुसलिम आक्रमणों ने हमारी संस्कृति को निर्दयता पूर्वक नष्ट भ्रष्ट किया है। चीनी अनुवाद निश्चित ही प्राचीनतर है और तिब्बती अनुवाद उत्तरकालीन है पर वह शब्दशः प्रतीत होता है। इसके पूर्व सिंहली भाषा में पालि त्रिपिटक सुरक्षित हो ही चुका था। चीनी भाषा में सर्वप्रथम बौद्ध ग्रन्थों का मुद्रण दसवीं शताब्दी में हुआ और स्यामी राजा चूललोग कोर्न ने उसे १८९३ में

प्रकाशित किया। भारत में उसका मुद्रण रूप इसके पूर्व नहीं हो सका। पालि टेक्ट सोसायटी लण्डन ने उसे रोमन लिपि में १८८१ में मुद्रित किया। इन सभी संस्करणों के आधार पर भारत सरकार ने १९५६-७ में नागरी लिपि में तिपिटक प्रकाशित किया। रंगून में भी १९५४-५६ में षष्ठ संगीति के माध्यम से उसका वर्मी संस्करण छापा गया। पालि पिटक के इन संस्करणों में कोई विशेष अन्तर नहीं है पर महायानी और पालि आगमों में अन्तर अवश्य दिखाई देता है। बुद्ध के धर्मोपदेशों की कालबद्ध श्रृंखला भी निश्चित नहीं हो सकी। अभिधम्म ने तो सभी सम्प्रदायों में अपना पृथक्-पृथक् रूप ग्रहण कर लिया है। द्वितीय संगीति इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है जिसमें सुत्तपिटक और विनयपिटक का समुचित संगायन हुआ। महायान सम्प्रदाय ने भी पालि मूल त्रिपिटक का कभी अनादर नहीं किया भले ही उतना अधिक उसे महत्त्व नहीं दिया हो। विनय नियमों में भी समयानुसार विकास हुआ है और कथाओं अथवा घटनाओं के माध्यम से नये-नये नियमों का विधान करना पडा है।

पालि त्रिपिटक वस्तुतः भ. बुद्ध के उपदेशों का संग्रह है जिसे बौद्ध भिक्षुओं ने तैयार किया है। उसका अट्ठकथा भाग पांचवीं शताब्दी के बाद का है और फिर पालि का अन्य साहित्य दक्षिण-पूर्वी देशों में रचा गया है। बुद्धघोष ने अपनी अट्ठकथाएं सिंहली में रचित अट्ठकथाओं के आधार पर तैयार की थीं। महायानसूत्र और तन्त्र साहित्य भारत में ही लिखा गया। प्रज्ञापारमिता, हृदयसूत्र, सद्धर्मपुण्डरीक, लंकावतारसूत्र आदि ग्रन्थों की लोकप्रियता चीन और तिब्बत में अधिक रही। इन्हीं का विकास शून्यवाद, विज्ञानवाद, मन्त्रयान, तन्त्रयान और वज्रयान में हुआ है। पालि और बौद्ध आगमों में व्यक्त पुनरावृत्ति का रूप उसे प्राचीन ग्रन्थों की श्रेणी में संयोजित कर देता है। संभवतः उसका सम्बन्ध मौखिक परम्परा से रहा हो।

तथागत बुद्ध का **मध्यममार्ग** शाश्वतवाद और उच्छेदवाद से बचकर एक नवीन प्रशस्त पथ का निर्माण है। बौद्ध संघ का विकास सामुदायिक चेतना के साथ जुडा हुआ है। भिक्षु के पास उसकी कोई व्यक्तिगत संपत्ति नहीं रहती। जो भी रहती है, वह संघ के माध्यम से आती है। प्रारम्भ में चार निश्रय थे जो कालान्तर में तेरह धुतांगों में परिणत हो गये। इन धुतांगों के परिपालन से भिक्षु समुदाय को उपासकों से समुचित समादर भी मिला। वनवासी सम्प्रदाय ध्यानी अधिक था और विहारवासी भिक्षु शिक्षक और अध्यापक वर्ग से संबद्ध था। दोनों वर्ग परस्पर आबद्ध थे। उनमें ध्यान और शिक्षा दोनों का प्रचार था। उपसंपदा और प्रातिमोक्ष के माध्यम से वैयक्तिक अपराधों की समीक्षा की जाती थी। जिससे संघ की पवित्रता पर किसी प्रकार की आंच न आ सके। साधारण तौर पर थेरवाद और महायानी विनय समान ही रहा है। प्रादेशिक आधार पर

उसमें अन्तर अवश्य आया। महासांघिक विनय में २१९ नियम रहे जबकि थेरवादी विनय २२७ नियमों का विधान करता रहा।

संघ के विकास में **सम्राट् अशोक** का बडा हाथ रहा है। पाटलिपुत्र राजधानी से उसने समूचे पूर्व, उत्तर, पश्चिम और मध्य देश पर शासन किया। शिलालेखों के माध्यम से उसने अपने मन्तव्य को चारों ओर फैलाया। स्वयं को उपासक कहकर उसने अहिंसा और सर्वोदय का पाठ पढाया। संघ के बीच प्रातिमोक्ष का पालन करने के लिए भिक्षु समुदाय को बाध्य किया और शिथिलाचारी भिक्षुओं को संघ से निष्कासित किया। विदेशों में धर्मप्रचारक भेजकर बौद्धधर्म को भारत से बाहर भेजने का बीडा उठाया। दक्षिण पूर्व ऐशियाई देशों में बौद्धधर्म के थेरवादी सम्प्रदाय ने अच्छी लोकप्रियता प्राप्त की और वहां राजधर्म बनकर सार्वजनिक कल्याणकारी बन गया। सर्वधर्मसमभाव की दृष्टि रखकर अनेक राजाओं ने बौद्धधर्म को आश्रय भी दिया। नालन्दा जैसे विश्वविद्यालयों ने बौद्धधर्म को जनधर्म बनाने का काम भी किया।

दक्षिण में भी बौद्धधर्म की लोकप्रियता कम नहीं थी। आन्धप्रदेश में **महायानी** सम्प्रदाय का बाहुल्य रहा। १४ वीं शती में कांची से थेरवादी भिक्षुओं को श्रीलंका आमन्त्रित किया गया। मुसलिम आक्रमणों से बौद्धधर्म के विकास में अवरोध अवश्य आया पर उसके प्रचार-प्रसार को विराम नहीं दिया जा सका। प्रथमतः वह ईरान, अफगानिस्तान और मध्य एशिया से चीन पहुंचा और इधर सारे दक्षिण पूर्व एशियाई देशों में फैला। पालि त्रिपिटक के भी यहां से विभिन्न संस्करण प्रकाशित हुए। ह्यूनसांग आदि के विवरणों से पता चलता है कि उस समय ११५००० भिक्षु हीनयान के और १२०००० भिक्षु महायान सम्प्रदाय के थे। इसी तरह हीनयान के ल. २००० विहार और महायान के २५०० विहार थे। ये विहार समृद्ध और साधन-सम्पन्न थे। उनकी सम्पन्नता ने मुसलिम आक्रमणों को आमन्त्रित किया। यह भी उल्लेखनीय है कि ये विहार क्रय-विक्रय के भी केन्द्र बन गये थे क्योंकि संग्रहीत संपत्ति का उपयोग भिक्षु कर नहीं पाते थे। विहारों के पास ग्रामसम्पदा भी थी। संभव है, अजन्ता का निर्माण ऐसे ही व्यापारियों ने किया हो जो विहारों से उपकृत हुए हों। बारहवीं शती के अन्तिम दशकों में नालन्दा ध्वस्त हो गया। तिब्बती भिक्षु धर्मस्वामिन् के अनुसार १२३५ में वहां एक भी ग्रन्थ शेष नहीं रहा। मात्र एक भिक्षु संस्कृत पढानेवाला बच सका जिसके पास उसने अध्ययन किया और उसे भी आक्रमणकारियों से किसी तरह बचा पाया।

इस समय ल. तृतीय शताब्दी ई.पू. तक **अठारह हीनयानी सम्प्रदायों** का उद्भव हो चुका था जिनके बीच ५०० विवादास्पद बिन्दुओं का अंबार लग गया था।

कथावत्थु में ऐसे ही कतिपय बिन्दुओं पर प्रश्नचिन्ह खडे किये गये। इन बिन्दुओं ने महायान सम्प्रदाय को उत्पन्न होने में भी सहयोग दिया। वे वाद-विवाद के भी कारण बने। ७९२-९४ में तिब्बत में कमलशील और तिब्बती भिक्षुओं के बीच इस विषय पर विवाद हुआ कि संबोधि क्रमशः होती है या युगपत्। इसमें कमलशील विजयी हुए। १९७३ में श्रीलंका में भी ऐसा ही त्रिदिवसीय शास्त्रार्थ बौद्ध भिक्षु और क्रिश्चियन पादरी के बीच हुआ जिसमें बौद्ध भिक्षु को विजय प्राप्त हुई। इस विजय ने पाश्चात्य विद्वानों को आकर्षित किया बौद्धधर्म की ओर। उत्तरकाल में आत्मा और कर्म के सिद्धान्त ने भी विवाद खडे किये जिनका उत्तर बौद्धाचार्यो ने योगाचार और विज्ञानवाद में दिया। वज्रयान और तन्त्रयान ने भी बौद्धधर्म पर प्रहार करने के लिए विषय सामग्री प्रस्तुत की।

महायान बौद्धधर्म का विकास

प्रारम्भिक बौद्धधर्म के आधार पर महायान दर्शन का विकास कुछ अतार्किक सा लगता है पर चिन्तन करने के बाद उसकी सयुक्तिकता हृदयंगम होती दिखाई देती है। उसका विकास वस्तुतः निकाय सिद्धान्तों पर हुआ है। हम जानते हैं कि अशोक के पूर्व ब्राह्मणकाल में जातिवाद और विशिष्ट कर्मकाण्ड का प्रभाव अधिक था। अशोक ने बौद्धधर्म का प्रचार कर यद्यपि उस पर अंकुश लगाने का प्रयत्न किया पर वह पूरी तरह सफल नहीं हो सका। भक्ति आन्दोलन ने निकाय के सिद्धान्तों में भूचाल ला दिया। वहां भी भक्ति का प्रभाव पडा। फलतः परित्त आदि जैसे तत्त्वों ने बौद्धधर्म में अपना स्थान बनाया और वैदिक देवी-देवताओं का अनुकरण करते हुए भगवद्गीता के आधार पर महायान दर्शन में बुद्ध और बोधिसत्त्व के विविध रूपों ने जन्म लिया और साथ ही उनके भक्तों के रूप में देवी-देवताओं का आदान हुआ।

बोधिसत्त्व सिद्धान्त जातक साहित्य में पल्लवित हुआ। सिद्धार्थ गौतम के रूप में जन्म लेने के पूर्व उनके पूर्वजन्मों का वृत्तान्त सामने आया और उनके विविध रूपों में बुद्ध की महाकरुणा का सन्देश मिला। उन रूपों में सभी प्राणियों के निर्वाण प्राप्त होने तक स्वयं को निर्वाण प्राप्ति से दूर रखा उनकी अपार सेवा करते हुए। निकाय बौद्धधर्म में बुद्ध और अर्हत् की अवस्था में कोई अन्तर नहीं था, मात्र यही कि बुद्ध को प्रथम अर्हत् के रूप में पहचान मिली जबकि महायान दर्शन में अर्हत् को निःस्वार्थी बोधिसत्त्व के रूप में स्थापित किया गया। असंख्य जीवों के सांसारिक दुःखों को दूर करने के प्रयत्न भरे जीवन से मुक्त होकर निर्वाण पद पर बैठने में उन्हें कोई रस का अनुभव नहीं हुआ। निर्वाण से दूर रहकर संसार में ही जीवन बिताकर प्राणियों की सेवा करने का निश्चय उन्होंने किया।

उनके रत्न त्याग ने उन्हें देवों के रूप में बोधिसत्त्व के विविध नामों और कुलों के साथ स्थापित किया, उनके किंकर परिकर बने, अनेक स्वभावों और रूपों के अनुरूप उनके विविध रूप और नाम अभिहित हुए। **अवलोकितेश्वर** करुणा के देव बने तो मंजुश्री को प्रज्ञा और सारस्वत देव होने का सम्मान मिला।

थेरवाद बौद्धधर्म में संबोधि प्राप्ति के बाद निर्वाण प्राप्ति का विधान था जहां से कोई संसार में वापिस नहीं आता था। परन्तु महायान दर्शन में महाकरुणावश बोधिसत्त्व असंख्य जन्म लेता दिखाई देता है संसारी जीवों का कल्याण करते हुए। उसके लिए निर्वाण मात्र सैद्धान्तिक रूप रह गया। वस्तुतः इसे हम निर्वाण का अवमूल्यन कह सकते हैं। महायान ने उसे '**धर्मकाय**' कहकर सम्मानित किया। और उसके यथार्थ रूप को प्रस्तुत किया। धर्म और निर्वाण यहां समानान्तर बन गये। परन्तु निर्माणकाय धर्मकाय से निम्नतर रहा। धर्मकाय में सर्वज्ञता और नित्यत्व ने स्थान पाया जबकि **निर्माणकाय** में बुद्ध ससीम बने रहे। निकाय बौद्धधर्म में बुद्ध और धर्म को एक माना गया जैसे वक्कलि के साथ हुए संवाद से ध्वनित होता है (सं. नि. ३)। बुद्ध और सत्य की इस नित्यता के आधार पर ही कदाचित् माध्यमिक दर्शन का यह दर्शन स्थापित हुआ कि संसार और निर्वाण में कोई अन्तर नहीं है (मा.का. २५.१९)। वह अद्वैत बन गया। संसार का ही रूपान्तरण धर्मकाय हो गया। बुद्ध के सांसारिक स्थूल शरीर के दर्शन में ही उनके नित्य धर्मकाय को देखा जाने लगा (सद्धर्मपुण्डरीक १५)। इसे ही **उपायकौशल** कहा जाता था। माध्यमिक और विज्ञानवाद ने इसी सिद्धान्त को स्थापित किया। माध्यमिक के शून्यवाद में स्वातन्त्रिक और प्रासंगिक सम्प्रदायों ने जन्म लिया। स्वातन्त्रिक ने शून्यता को वस्तु के स्वभाव के रूप में माना जबकि प्रासंगिक ने उसे चतुष्कोटि विनिर्मुक्त कहा। धर्मकाय में सभी पदार्थों को शून्य माना गया था। **विज्ञानवाद** ने इसी को चित्त मात्र कहा, भ्रान्ति जन्य कहा। ये दोनों सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में निकाय सिद्धान्तों के साथ जुडे हुए हैं।

भारत में बौद्धधर्म का विकास

भारतीय वाङ्मय के इतिहास का अध्ययन करने से यह तथ्य उद्घाटित होता है कि वैदिक धर्म में भगवद्गीता (ल. दूसरी शताब्दी ई.पू.) से भक्तिवाद का प्रस्फुटन हुआ। महायान का भक्तिवाद भी इसी काल में प्रादुर्भूत हुआ और जैनधर्म में भी भक्ति ने इसी समय अपना स्थान बनाया। इसी समय इन सभी धर्मों के सैद्धान्तिक ग्रन्थों ने भी अपने-अपने रूप स्थापित किये।

अशोक ने इन सभी धर्मों का समान रूप से सम्मान दिया। उसके पिता बिन्दुसार और प्रपिता चन्द्रगुप्त मौर्य ने इस सर्वधर्मसमभाव का सूत्रपात किया था। अशोक ने उसी रूप को अपने धर्म साम्राज्य में स्तम्भ लेख खडे कर प्रसारित किया। लेखनकला की स्थापना में उसको अभी भी आद्यप्रवर्तक कहा जा सकता है। ब्राह्मी लिपि के सशक्त रूप को लेखन के क्षेत्र में अशोक ने ही स्थापित किया। उसके पूर्व के लेख अभी तक प्राप्त नहीं हुए। यद्यपि उसका पूर्व रूप प्रचलन में अवश्य रहा होगा। शुंग और ग्रीक राजाओं ने भी बौद्धधर्म का सम्मान किया। मिलिन्द (मेनान्डर) सर्वज्ञात बौद्ध राजा हुआ। शक, पल्हव, कुषाण राजाओं ने भी बौद्धधर्म को संरक्षण दिया। कुषाण सम्राट कनिष्क ने महायान का अच्छा संवर्धन किया। चतुर्थ संगीति का संगायन कर उसने महायान को और भी लोकप्रिय कर दिया। भक्ति आन्दोलन ने भी इसी समय जन्म लिया। आगे चलकर माध्यमिक और शून्यवाद ने अपना विकास किया. अश्वघोष नागार्जुन, असंग, आर्यदेव, वसुबन्धु आदि दार्शनिक इसी युग की देन थे।

दक्षिण-पूर्व-एशिया में थेरवाद बौद्धधर्म के विकास की पृष्ठभूमि

दक्षिण-पूर्व एशिया में थेरवाद बौद्धधर्म के विकास की पृष्ठभूमि में श्रीलंका के महाविहार की पृष्ठभूमि बहुत अधिक रही है। तृतीय शताब्दी ई.पू. से लेकर पाचवीं शताब्दी तक उसने बौद्धधर्म में अनेक आन्दोलनों को जन्म दिया है। उसका प्रभाव सर्वप्रथम वर्मी बौद्धधर्म पर पडा और फिर ११ वीं शती में थाईलेण्ड के निम्न भाग में उसने प्रवेश किया। १३ वीं शती के मध्य तक वह समूचे थाईलेण्ड में लोकप्रिय हो गया और १४ वीं शती के प्रारम्भ में खमेर और लाओस में उसने अपनी पहचान बनाई।

श्रीलंकाई, वर्मी और थाई परम्पराएं यह मानती हैं कि तथागत बुद्ध ने स्वयं इन देशों की यात्रा की थी। अशोक द्वारा प्रेषित महेन्द्र और संघमित्रा ने यहां बौद्धधर्म को स्थापित किया था। पर अन्य प्रमाणों से इस तथ्य की पुष्टि नहीं होती। पुरातात्त्विक प्रमाणों से यह तथ्य अवश्य पुष्ट होता है कि थाईलेण्ड के निम्न भाग में हीनयान द्वितीय शती में और मध्य वर्मा (प्राचीन प्रोम) में द्वारावती प्रदेश आदि में पंचमशती से ११ वीं शती तक प्रचलित हो चुका था।

महाविहार बौद्धधर्म को श्रीलंका में राजा देवानंपिय तिस्स ने चतुर्थ शताब्दी ई.पू. के मध्य स्थापित किया था। महावंस के अनुसार बुद्ध ने श्रीलंका की यात्रा तीन बार की और यहां के नागों और राक्षसों को भगाकर और उनके अनुयायियों को धर्मान्तरितकर अपने धर्म की स्थापना की। द्वितीय संगीति में वज्जी भिक्षुओं के अलगाव से महायानी परम्परा का सूत्रपात हुआ। अशोक ने इस अलगाव को दूर करने का प्रयत्न

किया और तृतीय संगीति के परिणाम स्वरूप मोग्गलिपुत्त तिस्स थेर ने २४७ ई.पू. में थेरवाद की स्थापना की। यहीं से विभिन्न देशों में उसके प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से साधुओं को भेजा गया।

भिक्षु महेन्द्र ने सर्वप्रथम राजा देवानंपिय तिस्स को धर्मान्तरित किया जिसने अनुराधापुर में महाविहार की स्थापना की। फिर थोडे ही समय बाद संघमित्रा में यहां बोधिवृक्ष को आरोपित किया और भिक्षुणी संघ का निर्माण किया। दसवीं शती तक बौद्धधर्म को यहां के राजाओं का आश्रय मिलता रहा। बाद में संघ के सहयोग से राजाओं का उत्थान-पतन प्रारंभ हुआ। राजनीति में आने से भिक्षुसंघ का पतन भी हुआ। भिक्षुसंघ के अन्तःकलह ने राजाओं को उनके बीच में आने के लिए आमन्त्रित किया और महायान की ओर झुके भिक्षु समुदाय ने महाविहार परम्परा को गिराने का प्रयत्न किया।

दुष्काल के प्रभाव और भिक्षुसंघ के शिथिलाचार ने महाविहारवासी भिक्षुओं को प्रथम शताब्दी में धम्म और विनय को लिपिबद्ध करने की ओर प्रेरित किया। भारत से आकर बुद्धघोष ने पांचवीं शती में पालि अट्ठकथाओं का पुनरुद्धार किया और उसके आधार पर **विसुद्धिमग्ग** की रचना की।

श्रीलंका परम्परा का अनुसरणकर वर्मी परम्परा ने भी यह स्थापित किया कि बुद्ध ने वर्मा की भी यात्रा की और लेकायंग गांव में धर्मोपदेश दिया, सच्चबन्धु पर्वत पर चरणचिन्ह स्थापित किये और **सासनवंस** के अनुसार गवाम्पति को सद्धम्मपुर में बौद्धधर्म की स्थापना के लिए नियुक्त किया (पृ. ४१-४२)। सासनवंस और चामदेवीवंस में यह भी उल्लेख है कि बुद्ध ने थाईलेण्ड के उत्तरी-भाणस्थ हरिभुंजदेश में यात्रा की। इसी तरह लाओ के सतलुवांस क्षेत्र में रुककर उन्होंने धर्म की स्थापना की। तृतीय संगीति के फलस्वरूप मोग्गलिपुत्ततिस्स ने इन देशों में प्रचारक भी भेजे। पञ्ञसामि के अनुसार वनवास वर्मा का सिरिखेत्त है और योन वहीं के हरिभुंज प्रदेश में अवस्थित है (पृ. ११)। इस क्षेत्र को सुवण्णभूमि कहा जाता था। थाई परम्परा इसे नाकोन पाथोम क्षेत्र मानती है जहां पुरातत्त्व ने ल. द्वितीय शती ई. में हीनयानी परम्परा के चिन्ह प्राप्त किये हैं। ऊ-टोंग और सुपानवुरी क्षेत्र यहां आज भी विद्यमान हैं। महावंस में सोनुत्तर नाम भी मिलता है।

सुवण्णभूमि की पहचान जो भी हो पर दक्षिण-पूर्व एशिया में तृतीय शताब्दी ई.पू. के पहले बौद्धधर्म की अवस्थिति का पता नहीं चलता। अशोक के शिलालेखों में भी इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। सासनवंस में यह अवश्य मिलता है कि बुद्धघोष श्रीलंका से वर्मा पहुंचे अट्ठकथाओं के साथ। वहां यह भी कहा गया है कि थातोन थेरवाद

बौद्धधर्म का प्रमुख केन्द्र था। पागोन हीनयान बौद्धधर्म का केन्द्र रहा भी है और श्रीक्षेत्र तथा धारावती (थाईलेण्ड) भी। पुरातात्त्विक प्रमाणों से भी यह सिद्ध हो गया कि यहां के बौद्धधर्म का सम्बन्ध आन्ध्रप्रदेश के अमरावती केन्द्र से रहा है। द्वारावती की भी यही स्थिति थी। वर्मी भिक्षु समय-समय पर बौद्धधम के अध्ययन के लिए श्रीलंका भी गये और वर्मा में सिंहली परम्परा को स्थापित किया। वर्मी राजाओं ने भी पराक्रमबाहु की तरह श्रीलंका में वर्मी बौद्ध भिक्षुओं की सहयता की।

श्रीलंका में वर्मी बौद्ध भिक्षुओं द्वारा अमरपुर और रामन्न निकायों की स्थापना १९ वीं शताब्दी में की गई। थाई भिक्षुओं ने भी ल. इसी समय यहां स्यामनिकाय की स्थापना की। **थाईलेण्ड** के राजा अयुतिया (१७३३-५७) ने कतिपय भिक्षुओं को १७३३ में राजा कीर्तिश्री के आग्रह पर केन्डी भेजा जिन्होंने वहां ३००० भिक्षुओं को दीक्षित किया। थाईलेण्ड में हीनयान और महायान दोनों सम्प्रदायों का अस्तित्व रहा। यहां श्रीलंकाई बौद्धधर्म ने भी लोकप्रियता पाई। **जिनकालमालिनी** से ज्ञात होता है कि १२५६ ई. में यहां बौद्ध मूर्ति सुख़ोदय में लायी गई। उत्तरकाल में श्रीलंकाई बौद्धधर्म की मान्यता यहां बढती रही। सुखोदय के बौद्ध राजाओं ने अंगकोर के ब्राह्मणिक सम्प्रदाय के क्रियाकाण्ड को भी अपनाया। बाद में मोन ने खमेर में थेरवादी सम्प्रदाय को स्थापित किया। खमेर राजाओं ने वैदिक और बौद्ध सम्प्रदायों को समान रूप से अपनाया। जयवर्मन् सप्तम ने महायान बौद्धधर्म का अनुकरण किया। जैनधर्म की ओर भी कदाचित् उनका झुकाव था।

कंबोडिया में १३०९ का एक पालि शिलालेख है जिससे पता चलता है कि जयवर्मन् परमेश्वर ने अंगकोर में १३२७ में सिंहली बौद्धधर्म को आश्रय दिया और श्रीलंका से पालि त्रिपिटक तथा बुद्ध मूर्ति को मंगवाया। बाद में थाई, लाओस, वर्मा और कंबोडिया में सैनिक संघर्ष प्रारंभ हो गये जो १८ वीं शदी तक चलते रहे। इससे बौद्धधर्म की लोकप्रियता में कमी आयी। उत्तरकालीन थेरवादी बौद्धधर्म के शिलालेखीय इतिहास से यह प्रमाणित होता है कि दक्षिण-पूर्व एशिया में बौद्धधर्म लोकप्रिय बना रहा और थेरवादी राजाओं ने अपने आप को धम्मराजा तथा भविष्यकालीन बुद्ध की संज्ञा दी। उन्होंने अनेक विहार और पगोडा बनवाये। उन्होंने भूत प्रेतों की पूजा तथा हिंसक यज्ञों को बन्द कराया। वे पालि साहित्य के भी मर्मज्ञ थे। सुखोदय के राजा लूताई ने **त्राईभूमिकथा** की रचना भी की और बौद्ध भिक्षु बने। राम चतुर्थ ने २७ वर्ष तक बौद्ध भिक्षु का जीवन बिताया और पालि साहित्य के विद्वान बने। उन्होंने भिक्षुसंघ के शिथिलाचार को दूर किया। वर्मा के राजा दम्मजेदि ने १५ वीं शदी में भिक्षु समुदाय को श्रीलंका भेजा पुनर्दीक्षा के लिए ताकि वे विनय का सही ढंग से पालन करना सीख सकें। उसकी दृष्टि में सभी भिक्षु एक विनय से आबद्ध हैं जिसे **कल्याणी सीमा** की संज्ञा दी।

वर्मी राजा बोदयापय ने भिक्षु चीवर का विवाद शान्त किया और संघराज की स्थापना कर भिक्षुसंघ को मजबूत किया। महासंघराज को उसका प्रशासक बनाया। राजा मिन्दोन मिन (१८५२-७७) ने एक भिक्षु परिषद् का निर्माण किया जो अपराधों की छानबीन कर सके। उसने पालि ग्रन्थों का सम्पादन भी कराया और उन्हें पाषाण पर उत्कीर्ण कराया। ऊ नू ने रंगून में १९५४ में षष्ठ बौद्ध संगीति का आयोजन किया जिसमें पालि त्रिपिटक का संगायान किया गया। १९६० में उसने बौद्धधर्म को राजधर्म भी घोषित किया।

थाई शासकों में राम प्रथम ने बौद्धसंघ में अनेक प्रकार का सुधार किया १७८२-१८०१ के बीच। दस लेखों के माध्यम से इन सुधारों का रूप प्रस्तुत किया और कठोरता पूर्वक विनय पालन करने को बाध्य किया। भिक्षु परिषद् के माध्यम से पालि ग्रन्थों का संपादन कराया। उसने तीन भारतीय संगीतियों को, चार श्रीलंकाई संगीतियों को और एक चेंगमई संगीति को मान्यता देकर नवीं संगीति का आयोजन किया। राम तृतीय ने मद्यपान आदि पर प्रतिबन्ध लगाया। राम चतुर्थ ने पुनः बौद्ध संघ को विशुद्ध किया और **धम्मयुतिक नामक** नये संघ की स्थापना की। उसके उत्तराधिकारी चूललोंगकोन (१८६८-१९१०) ने वजिरनन को संघराज बनाया और अनेक बौद्ध केन्द्रों की स्थापना की जिससे बौद्धसंघ और प्रशासन के बीच सही समन्वय स्थापित किया जा सके।

पालि साहित्य की पृष्ठभूमि में संघभेद

पालि साहित्य का मूल आधार तथागत बुद्ध के वे पावन वचन हैं जो उनके मुख से बुद्धत्वप्राप्ति से लेकर परिनिर्वाण काल के बीच निसृत हुए थे। प्रारम्भ में मौखिक रूप में इन वचनों को स्मृति में संजोये रखा जाता था। ऐसे स्मृतिमान् भिक्षुओं को बहुश्रुत कहा जाता था। वचनों के वैविध्य और विशाल रूप को ध्यान में रखने के कारण कदाचित् बुद्ध के जीवन काल में ही उनका विभाजन कर दिया गया था। धर्मधर, सुत्तन्तिक, विनयधर, मात्रिकाधर जैसे शब्द और सोण जैसे भिक्षुओं के कथन यही संकेत करते दिखाई देते हैं (महावग्ग २,१०, चुल्लवग्ग १,१२, महापरिनिब्बाणसुत्त, उदान आदि)। अंगुत्तरनिकाय का **एतदग्गवग्ग** ऐसी भिक्षु-भिक्षुणियों की सूची भी प्रस्तुत करता है।

बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद संघ विघटित होने लगा। उसमें स्वच्छन्दता के स्वर तीव्र होने लगे। **''अलं आवुसो ! मा सोचित्थ। मा परिदेवित्थ। सुमुत्ता मयं तेन महासमणेन । उपद्दुता च होम। इदं वो कप्पति, इदं वो न कप्पति। इदानि पन मयं यं इच्छिस्साम तं करिस्साम। यं न इच्छिस्साम तं न करिस्साम''**

(महापरिनिब्बाण सुत्त, दीघ. २.३) जैसे सुभद्र और पुराण भिक्षुओं के वचन ऐसे भिक्षुओं की मानसिकता को व्यक्त करते हैं जो बुद्ध के अनुशासन को हठात् ग्रहण किये हुए थे। कदाचित् वे प्रथम संगीति में पहुंच नहीं सके और उन्होंने बुद्धवचन होने का विरोध प्रारम्भ कर दिया। तथागत बुद्ध से उन्होंने जो सुना / समझा उसी को प्रामाणिक कहने लगे (विनय २, २९०, ६-८)। संघभेद का यह प्रथम चरण था।

इस परिस्थिति से बचने के लिए परम्परावादी भिक्षुओं का मन उथल-पुथल होने लगा। सर्वप्रथम हम चार महापदेशों का उल्लेख करना चाहेंगे जिनमें यह विधान किया गया कि बुद्धवचन वे हैं जो १) सीधे बुद्ध से सुने गये हों, २) बुद्ध के किसी विश्वस्त और प्रज्ञा संपन्न भिक्षु से सुने गये हों, ३) किन्हीं प्रज्ञासंपन्न थेरों से सुने गये हों, और ४) किसी प्रतिबद्ध भिक्षु से सुने गये हों। उसके बाद उन वचनों की प्रामाणिकता की विनय और सुत्तन्तों की दृष्टि से जांच हो (दी.नि. २, १२३, ३०-१२६, ३; अं.नि. २, १६७, ३३-१७०, ११)। इससे लगता है, तब तक कोई बुद्धवचन संग्रह तैयार हो चुका था। इसके बाद बुद्धवचनों में स्थायित्व और प्रामाणिकता लाने के लिए संगीतियों की व्यवस्था की गई।

बौद्ध संगीतियां

तथागत बुद्ध के सभी उपदेश मौखिक हुए थे। उनके जीवनकाल में उनके उपदेशों को किसी ने भी लिपिबद्ध नहीं किया था, भले ही लेखनकला का आविष्कार पहले हो चुका था। इन उपदेशों को परम्पराबद्ध स्मृतिपथ में बनाये रखने के लिए धर्मधर, सुत्तन्तिक, विनयधर, मात्रिकाधर, पंचनेकायिक, भाणक, सुत्तन्तिक, पेटकी आदि जैसे शब्दों का प्रयोग महावग्ग (२;१०), चुल्लवग्ग (१,१२), दीघनिकाय, महापरिनिब्बाणसुत्त आदि ग्रन्थों में मिलता है जिनसे पता चलता है कि संघ में एक बहुश्रुत साधुवर्ग था जो उन्हें स्मृति में संजोये रखता था। यह क्रम संगीतियों के माध्यम से दृढतर किया जाता रहा।

प्रथम संगीति

भ. बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद संघ में स्वच्छन्दता बढ गई। सुभद्र जैसे वृद्ध भिक्षु कुसीनारा में दृढता पूर्वक यह सोचने लगे कि अब उनके ऊपर कोई अंकुश रखने वाला नहीं है। "यह करो, यह मत करो" (कप्पइदं **वो कप्पति, इदं वो नत**) कहने वाला भी कोई नहीं है। अब हम अपनी इच्छानुसार कुछ भी कर सकेंगे (दीघ. महापरिनिब्बाण, २.३ सुमंगलविलासनी)। इस असंयमित वातावरण को देखकर महाकस्सप जैसे संयमी भिक्षुओं का चिन्तित होना स्वाभाविक था (विनय. चुल्लवग्ग)।

तब तक सारिपुत्त और मोग्गल्लान जैसे परम शिष्य कालकवलित हो चुके थे। महाकस्सप ने धर्म और विनय का संगायन करने के लिए एक संगीति का आयोजन किया। यह आयोजन बुद्ध परिनिर्वाण के बाद चतुर्थ मास में राजगृह के वैभारगिरि के उत्तरी पार्श्व में स्थित सप्तपर्णी गुफा में हुआ। कहा जाता है, यह गुफा आज भी विद्यमान है। भूकम्प के कारण उसका द्वार अवश्य छोटा हो गया है पर भीतर जाने पर इतना बडा मैदान अवस्थित है कि वहां ५०० व्यक्ति आराम से बैठ सकते हैं। इस संगीति में ५०० अर्हत् भिक्षु संमिलित हुए। इसलिए इसे '**पंचशतिका**' भी कहा जाता है। संगीति के अध्यक्ष महाकाश्यप उपालि से विनय सम्बन्धी और आनन्द से धर्म सम्बन्धी प्रश्न पूछते और उनके उत्तरों पर सभासद भिक्षुओं से अपनी राय मांगते। इस क्रम से धम्म और विनय का संगायन किया गया। पर उनको लिपिबद्ध किया गया हो ऐसा उल्लेख कहीं देखने नहीं मिलता। जब महाकश्यप ५०० भिक्षुओं के साथ पावा और कुसीनारा के बीच भ्रमण कर रहे थे, एक आजीवक से उन्हें यह पता चला कि बुद्ध का परिनिर्वाण एक सप्ताह पूर्व हो चुका है। उसी सन्दर्भ ने उन्हें सुभद्र जैसे असंयमित भिक्षुओं की विचारधारा ने आन्दोलित कर दिया। प्रथम संगीति की यही पृष्ठभूमि थी।

आचार्य बुद्धघोष ने इस संगीति का वर्णन करने में प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं का नामोल्लेख किया है - १) महा-अट्ठकथा, २) महापच्चरी और ३) कुरुन्दि जो क्रमशः विनय, सुत्त और अभिधम्म पिटक पर लिखी गई थीं। कुछ और भी सिंहली अट्ठकथाओं के नामों का उल्लेख बुद्धघोष ने किया है।

इस संगीति की **ऐतिहासिकता** के सन्दर्भ में प्रश्नचिन्ह खडा किया गया। इस संगीति का मूल उत्स विनयपिटक का चुल्लवग्ग है जिसमें सुभद्र प्रकरण का विशेष उल्लेख है। तदनुसार महाकश्यप ने उपालि से विनय सम्बन्धी प्रश्न पूछे। इन प्रश्नों में पाराजिक सम्बन्धी प्रश्न अधिक थे। इसके बाद भिक्षु-भिक्षुणियों के विभंगों के विषय में भी प्रश्न पूछे गये। ये सभी प्रश्न प्रातिमोक्ष से सम्बद्ध थे। आनन्द से धर्म सम्बन्धी प्रश्न पूछे गये। इनमें क्षुद्रकानुक्षुद्र शिक्षापदों के विषय में काफी मतभेद रहा। शिक्षापदों की तुच्छता निश्चित नहीं हो सकी। किसी ने पाराजिकों और संघादिशेषों को छोडकर सभी को क्षुद्रकानुक्षुद्र बताया। कतिपय बहुश्रुत भिक्षुओं ने पाराजिक, संघादिशेष, नैसर्गिक एवं प्रायश्चित्तिक को अधिक महत्त्वपूर्ण माना। प्रातिदेशनीय धर्मों को सभी ने क्षुद्रानुक्षुद्र की श्रेणी में रखा। इस स्थिति में महाकश्यप ने यह प्रस्ताव रखा कि संघ न अप्रज्ञप्त का प्रज्ञापन करे और न प्रज्ञप्त का अप्रज्ञापन करे। सभी ने इसे स्वीकृत किया। इसके बाद आनन्द पर अनेक अपराध लगाये गये जिनमें मुख्य थे - क्षुद्रानुक्षुद्र अपराधों के सन्दर्भ में तथागत से न पूछना, स्त्रियों को अधिक महत्त्व देकर उन्हें संघ में प्रवेश कराना, और भगवान् की वर्षाशाटी को पैर से दबाकर सीना। आनन्द ने सभी अपराधों को स्पष्ट किया और अन्ततः संघ के गौरव की दृष्टि से क्षमायाचना भी की।

इस धम्म-विनय के संगायन को पुराण जैसे कतिपय भिक्षुओं ने स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा कि जो जैसा उन्होंने भगवान से सुना है उसको ही वे मानेंगे। संघ में छन्न जैसे कुछ क्रोधी और कटुभाषी भिक्षु थे जिन्हें ब्रह्मदण्ड दिया गया। इसके अन्तर्गत भिक्षुओं को छन्न से सम्बन्ध विच्छेद करने के लिए कहा गया और यह निर्देश दिया गया कि उसे न कोई उपदेश दे और न कोई उससे बोले।

महापरिनिब्बाणसुत्त का यह विवरण इतना तो स्पष्ट कहता है कि यह संगीति सर्वसम्मत नहीं हो सकी। सुभद्र प्रकरण का उल्लेख दीपवंस में नहीं मिलता और महावंस अन्य छोटे-कारणों का भी उल्लेख करता है। दीपवंस ने आनन्द और उपालि के साथ ही अनिरुद्ध, वंगीश, पूर्ण, कात्यायन, काट्टित आदि भिक्षुओं के योगदान का भी उल्लेख किया है। साधारणतः चुल्लवग्ग का अनुसरण उत्तरकालीन सभी ग्रन्थों ने हीनाधिकता रूप से किया है। सभी के वर्णन में एकसादृश्य न होने के कारण विद्वानों में इस प्रथम संगीति की ऐतिहासिकता के विषय में मतभेद खडे हो गये। मूल बुद्धवचनों में परिवर्तन को रोकने के लिए पूर्वोक्त चार महापदेशों का निर्माण किया गया।

इस संगीति का विवरण **चुल्लवग्ग (विनय पिटक) के अतिरिक्त दीपवंस, महावंस, समन्तपासादिका की निदानकथा, महाबोधिवंस, महावस्तु मंजुश्रीमूलकल्प,** तिब्बती दुल्वा तथा चीनी अनुवाद में मिलता है। चीनी अनुदित ग्रन्थों में महीशासक, धर्मगुप्त, महासांघिक एवं सर्वास्तिवाद के विनय ग्रन्थ हैं। इनके साथ ही काश्यप संगीतिसूत्र, अशोकावदान, महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र, परिनिर्वाण सूत्र एवं एकोत्तरागम का प्रथम अध्याय भी इस संगीति का उल्लेख करते हैं। तारानाथ एवं बुदोन के तिब्बती इतिहास भी इसी श्रृंखला से जुड़े हुए हैं।

इस संगीति की ऐतिहासिकता पर ओल्डनवर्ग और फ्रेन्के ने आपत्ति खडी की। ओल्डनवर्ग का कहना है कि महापरिनिब्बाण सुत्त संगीति के विषय में मौन है। याकोबी ने इसका खण्डन करते हुए कहा कि महापरिनिब्बाणसुत्त का उद्देश्य संगीति का विवरण देना था ही नहीं। चुल्लवग्ग के एकादश और द्वादश स्कन्धक कदाचित् मूलतः महापरिनिब्बाण सूत्र के अंग रहे हों जो बाद में पृथक् कर दिये गये हों। दूसरी बात, दीपवंस में सुभद्र प्रकरण का उल्लेख नहीं है पर वह प्रथम संगीति का विवरण प्रस्तुत करता है। पुंसे ने भी यही सब सोचकर उसकी ऐतिहासिकता को स्वीकारा है। गायगर और विन्टरनित्स ने भी इसका समर्थन किया है।

कतिपय विद्वानों ने प्रथम संगीति की ऐतिहासिकता में सन्देह भले ही व्यक्त किया हो पर **चुल्लवग्ग** के ११-१२ वें अध्याय में प्रथम द्वितीय संगीति का वर्णन उपलब्ध है जो उसकी ऐतिहासिकता की ओर संकेत करता है। विनय पिटक के ल. सभी संस्करण इस तथ्य से सहमत हैं कि उपालि ने विनय पिटक और आनन्द ने सुत्तपिटक का अनुस्मरण किया। लगता है, उस समय तक लिपि का विकास नहीं हुआ था, मात्र स्मृति

या पाठ परम्परा से ही उन्हें याद रखा जाता था। अभिधम्म पिटक में इस संगीति का उल्लेख नहीं है। कुछ अन्य सम्प्रदाय अभिधम्म को प्रथम संगीति का परिणाम मानते हैं।

इसके बावजूद यह सही है कि तथागत बुद्ध ने कहा था - **''धम्मो वा भिक्खवे ममच्चयेन सत्था''**। इस दृष्टि से यह आवश्यक था कि बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद यथाशीघ्र धम्म और विनय का संगायन किया जाय (धम्मदायादसुत्त, म.नि. १.१.३)। प्रथम संगीति उसी का परिणाम होना चाहिए। पुराण आदि के उल्लेख इस तथ्य को संकेत अवश्य करते हैं कि यह संगीति निर्विवाद नहीं रही पर इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि उसकी ऐतिहासिकता को ही नकारकर उसे कल्पित कह दिया जाय। यह भले ही हम कह सकते हैं कि धम्म और विनय का कोई सर्वसम्मत रूप तय नहीं हो पाया था। पुराण भी इसे स्वीकारता हुआ दिखाई देता है।

अभिधर्मपिटक के संगायन के विषय में मतभेद है। थेरवाद और महासांघिक सम्प्रदाय उसके संगायन का उल्लेख नहीं करते। प्राचीन सम्प्रदाय होने के नाते उनकी मान्यता अधिक विश्वसनीय है। महीशासक भी यही मानते हैं। परन्तु सर्वास्तिवाद और धर्मगुप्तक सम्प्रदाय यह संकेत करते हैं कि अभिधम्मपिटक का संगायन आनन्द के माध्यम से प्रथम संगीति में हुआ है। काश्यपीय भी इसका समर्थन करते दिखाई देते हैं। सर्वास्तिवादी अशोकावदान में यह उल्लेख मिलता है कि महाकाश्यप ने मातृका अभिधम्म का संगायन किया है। मूल सर्वास्तिवादी विनय भी इस कथन का समर्थन करता है।

यह उल्लेखनीय है कि पंच निकायों में से **खुद्दकनिकाय** का महत्त्व कम आंका जाता है। कदाचित् इसलिए कि उनमें बुद्धवचनों का संगायन न होकर उनके अनुयायियों के वचनों का संगायन हुआ है। वरडर के अनुसार खुद्दक निकाय के ग्रन्थों का अधिकांश भाग पद्यबद्ध है। ये भाग हैं - १. खड्गविसाणगाथा जिसमें प्रत्येक बुद्धों के वचनों को एकत्रित किया गया है। २. मुनिगाथा, ३. शैलगाथा, ४. अर्थवर्गीयाणि सूत्राणि या अट्ठक, ५. पारायण, ६. स्थविरगाथा, ७. स्थविरीगाथा, ८. इतिवुत्तक, ९. उदान, १०. धर्मपद, ११. जातक, १२. अवदान। पुराण जैसे भिक्षुओं के कथनों से यह भी संकेत मिलता है कि दक्षिण आदि प्रदेशों में रहने के कारण जो भिक्षु इस संगीति में नहीं पहुंच पाये, उनके स्मृत कथनों का संगायन इसमें नहीं हो सका होगा। इधर-उधर के प्रदेशों में रहने के कारण बोलीगत विविधता बनी रही होगी फिर भी मागधी बोली की लोकप्रियता ने उस मागधी का रूप प्रारम्भिक स्तर पर स्वीकार करने को बाध्य किया होगा जो कालान्तर में परिवर्तित हो गया। तथागत बुद्ध मगध में अपेक्षाकृत कम रहे हैं। मगध के बाहर बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार अधिक हुआ है। ४८३ ई.पू. में बुद्ध के

परिनिर्वाण के लगभग तीन वर्ष बाद मगध नरेश अजातशत्रु ने वज्जिप्रदेश पर विजय प्राप्त की और कौशल प्रदेश को भी हस्तगत किया। अजातशत्रु के पुत्र उदायिभद्र ने फिर पाटलिपुत्र को अपनी राजधानी बनाया। हर्यंकवंश ने उसके विरोध में स्वर उठाया और शिशुनागवंश को लिच्छवि राजतन्त्र प्रारंभ हो गया और वैशाली राजधानी बन गई। शिशुनाग ने लगभग ४१० ई.पू. में अवन्ती पर अधिकार किया और पौरव प्रदेश कौशाम्बी पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। इस राजनीतिक परिस्थिति से मगध प्रदेश की बोली भी प्रभावित हुई जिसे बाद में पालि अभिधान मिला।

द्वितीय संगीति

बुद्ध परिनिर्बाण के लगभग १०० वर्ष बाद वैशाली के बालुकाराम में धम्म और विनय के संगायन के लिए द्वितीय संगीति का संयोजन किया गया। इन सौ वर्षों में निश्चित ही बौद्ध विनय में विकास हुआ होगा और धम्म का स्वरूप भी स्थिरता की ओर बढा होगा। इस संगीति का मुख्य कार्य था प्राचीनक या पूर्व वाले वैशालिक भिक्षुओं की 'दसवत्थूनि' को विनय-विपरीत घोषित करना। ये **दस वस्तुएं** थीं - १) सिंगिलोणकप्प, २) द्वंगुलकप्प, ३) गामान्तरकप्प, ४) आवासकप्प, ५) अनुमतिकप्प, ६) अचिण्णकप्प, ७) अमथितकप्प, ८) जलोगीपान ९) अदसक निसीदन, और १०) जातरूपरजत ग्रहण। वैशाली के अभ्यस्त वज्जिपुत्तक भिक्षुओं द्वारा इन दस वस्तुओं की विविध व्याख्या की गई है। तिब्बती विवरण और महीशासक विनय में कुछ अन्य वस्तुओं का भी उल्लेख है।

इन वस्तुओं में अधिकांश वस्तुओं का सम्बन्ध आहार-पान के क्षेत्र को विस्तृत करना रहा है। उनका सम्बन्ध अध्यात्म से नहीं है। पावेय्यक या पश्चिम वाले थेरवादी भिक्षु ऐसे आचरण के विरुद्ध थे। **चुल्लवग्ग** के अनुसार यश ने वज्जिपुत्तक भिक्षुओं को संघ के निमित्त कार्षापण, अर्धकार्षापण, पादकार्षापण, माशक आदि मांगते हुए देखा जिसका उसने विरोध किया। इस विरोध से वज्जिपुत्तक भिक्षु असंतुष्ट हो गये और उन्होंने यश का प्रतिसारणीय और उत्क्षेपणीय कर्म करने का निश्चय किया। यह जानकर यश कौशाम्बी, पावा, अवन्ति, सोरेय्य, संकाश्य, कान्यकुब्ज, अर्गलपुर आदि स्थानों पर जाकर संभूत, रेवत आदि भिक्षुओं को जानकारी दी और उन्हें अपने पक्ष में किया। वैशालिक वज्जिपुत्तक भिक्षुओं ने भी रेवत को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया। पात्र, चीवर आदि श्रमण-परिष्कार का लालच देने के बावजूद रेवत उनके पक्ष में नहीं हुए। आनन्द के शिष्य सर्वकामी भिक्षु भी यश के साथ हो गये।

दोनों पक्षों का भिक्खु समुदाय बालिकाराम (बालुकाराम) में इकट्ठा हुआ। यह उल्लेखनीय है कि वैशाली की विशालता का वर्णन चीनी यात्री फाह्यान और ह्यूनसांग ने की है। ह्यूनसांग ने तो उस स्तूप को भी पहचानने का प्रयत्न किया जो द्वितीय संगीति स्थल पर बनाया गया था। फाह्यान ने भी उसे देखा था। चीनी ग्रन्थों में भी इस द्वितीय संगीति स्थल का नाम **बालिकाराम** बताया है। यह बालिकाराम और स्तूप आम्रपाली द्वारा प्रदत्त आम्रवन के समीप बनाया गया था। रेवत की ज्ञप्ति के साथ यह संगीति प्रारंभ हुई। इस विवाद के निर्णय के लिए चार पूर्वी और चार पश्चिमी भिक्षुओं को चुना गया। पूर्वी भिक्षुओं में सर्वकामी, साढ, क्षुद्रशोभित और वर्षभग्रामिक रखे गये तथा पश्चिमी भिक्षुओं में रेवत, संभूत शाणवासी, यश काकण्डकपुत्त और सुमन का समावेश हुआ। अजित को आसन-प्रज्ञापक बनाया गया और उद्बाहिका की बैठक शुरू हुई। रेवत ने दसवस्तूओं के विषय में प्रश्न किये और उन्हें विनय-विरुद्ध होने का निर्णय दिया जिसे समूचे संघ ने अनुमोदित किया। इस संगीति में ७०० भिक्षु थे इसलिए इसे **सप्तशतिका** कहा जाता है। रेवत की अध्यक्षता में हुई बाद में इस संगीति ने धम्म का संगायन किया - **अकरुं धम्म संगहं**।

इस घटना से ऐसा लगता है कि धम्म और विनय का लेखन अभी भी नहीं हुआ था। स्मृति के माध्यम से ही वह परम्परागत रूप से चला आ रहा था। यदि लेखन हो गया होता तो कदाचित् इस संगीति की अधिक आवश्यकता नहीं होती। दीपवंस (५.३२-३८) के अनुसार पराजित प्राचीनक भिक्षुसंघ ने कोशाम्बी में १०००० भिक्षुओं की एक महासंगति का पृथक् संयोजन किया और धम्म को नष्ट कर दिया - **अत्थं धम्मं च भिन्दिंसु ये निकायेसु पंचसु**। यही संघ महासंघ के रूप में प्रख्यात हुआ। इसी से १८ सम्प्रदायों का जन्म हुआ।

द्वितीय संगीति के विषय में विनय के सभी संस्करणों में मतभेद है। थेरवाद और महायानी परम्पराओं में उसकी आवश्यकता के विषय में एकमत नहीं। थेरवादी परम्परा मे यश और रेवत ने उसे इसलिए आहूत किया कि संघ में आचारिक शिथिलता आ चुकी थी। महायानी परम्परा के अनुसार महादेव ने अर्हत के विषय में पांच प्रश्न खडे किये। महासांघिकों से महायान का उद्‌भव हुआ। इस समय तक थेरवाद के १७ सम्प्रदाय खडे हो चुके थे, महासांघिक को छोडकर। महायान ने उन्हें हीनयान की संज्ञा दी। कहीं कहीं उसे निकाय भी कहा गया।

वैशाली संगीति का वर्णन प्रायः उन सभी ग्रन्थों में मिलता है जिनमें प्रथम संगीति का वर्णन हुआ है। चुल्लवग्ग का यह स्कन्धक, लगता है, बाद में जोडा गया है। बुदान और तारानाथ का विवरण सर्वास्तिवादी विनयक्षुद्रकवस्तु पर आधारित है। भव्य,

वसुमित्र और विनीतदेव इन महासांघिकों के विनय-विरुद्ध होने का उल्लेख नहीं करते। उन्होंने इस संघभेद को महादेव की पांच प्रतिज्ञाओं से संबद्ध किया है। महादेव की पांचों वस्तुएं अर्हद्विषयक हैं - १) अर्हत् भी रागी हो सकते हैं, २) अर्हत् भी अज्ञानी हो सकते हैं, ३) अर्हत् भी संशयालु हो सकते हैं, ४) अर्हत् भी दूसरों से ज्ञान पा सकते हैं, और ५) सहसा शब्दोच्चारण मात्र से भी मार्गप्राप्ति हो सकती है। आचार्य बुद्धघोष के अनुसार इस द्वितीय संगीति में त्रिपिटक के पांच निकायों, नौ अंगों और ८४००० धर्मस्कन्धों का संगायन किया गया।

महासंगीति में दस हज़ार भिक्षु सम्मिलित हुए और उन्होंने विनय और आगम को अपने अनुसार बदल दिया। परिवार, पटिसंविदामग्ग, निद्देश, कतिपय जातक एवं अभिधम्म के छह ग्रन्थों को प्रामाणिक माना। श्वांच्वांग के अनुसार इसमें संयुक्तपिटक और धारिणीपिटक का भी संग्रह किया गया। यह महासंगीति संघभेद का विशेष कारण बनी। तारानाथ ने संघभेद को कश्मीरवासी वत्स ब्राह्मण के आत्मवाद को भी कारण माना। यह भी कहा गया है कि महासंगीति के भिक्षुओं ने बुद्ध उपदेशों में काफी परिवर्तन किया, उसके क्रम को बदला, नये-नये सुत्तों को जोड़ा, पुराने सुत्तों को अस्वीकार किया और व्याकरण को भी बदल दिया।

द्वितीय संगीति **अर्हत् संगीति** थी, ऐसे भिक्षु थे जो स्वयं को अर्हत् मानते थे। संभव है, पराजित वज्जिपुत्तक भिक्षुओं में महादेव भी रहे हों जिन्होंने पावेय्यक भिक्षुओं की अर्हदावस्था पर प्रश्न-चिन्ह खड़ा किया हो। महादेव का समय बुद्ध परिनिर्वाण के १३७ वर्ष बाद माना जाता है। एक परम्परा के अनुसार संघभेद का कारण महादेव की यह अर्हद् विषयक मान्यता रही है, दस वस्तुएं नहीं। श्वांच्वांग के अनुसार तो महादेव के नेतृत्व में ५०० विरोधी भिक्षुओं की संगीति भी हुई थी। एक अन्यत्र स्थान पर उन्होंने यह संख्या १००० बताई। यहां यह उल्लेखनीय है कि महासांघिकों की उत्पत्ति के विषय में किसी भी विनय में उल्लेख नहीं मिलता। संभव है यह संघभेद द्वितीय संगीति में बीज रूप में रहा हो और परिणाम के रूप में वह बाद में प्रतिफलित हुआ हो।

विनय पिटक के सभी संस्करण इस तथ्य से सहमत हैं कि विवाद का मूल कारण भिक्षु संघ को प्राप्त दानराशि थी। महासांघिक संस्करणों ने इसी को प्रमुखता दी जबकि स्थविरवादी संस्करणों में **'दसवत्थूनि'** का उल्लेख आता है। यश ने उपासकों को समझाया और कहा कि वज्जिपुत्तक भिक्षुओं का यह आचरण धर्मविरुद्ध है। यश फिर कौशाम्बी, मथुरा और अवन्ती गया और वहां भिक्षुओं का समर्थन लेकर वैशाली में संगीति संयोजित करने की व्यवस्था की। त्रिपिटक में इस संगीति के माध्यम से दूसरी बार विकासात्मक सुधार हुआ और महासांघिक सम्प्रदाय का उदय हुआ। **समन्तपासादिका** के अनुसार प्रारम्भ में सम्राट् अशोक वज्जिपुत्तक भिक्षुओं का पक्षधर

था और उसे काकवर्ण कहा जाता था। महावंश के अनुसार अपनी बहन की प्रार्थना पर उसने थेरवादी भिक्षुओं का समर्थन किया और फिर उसी के सान्निध्य में द्वितीय संगीति का संयोजन किया गया। **दीपवंस** के अनुसार वज्जिपुत्तक भिक्षुओं ने महासंगीति का आयोजन किया। यह संघभेद था जिसमें पिटक में परिवर्तन किया गया। भव्य के सम्मितीय और तिब्बती परम्परा के अनुसार यह घटना ३४९ ई. पू. में हुई जब वहां नन्द और महापद्म का राज्य था। संभव है यही नन्द काकवर्ण रहा हो ऐसा लेमोट का अभिमत है। सम्मितीय परम्परा में महासंघ के संस्थापक का नाम भद्र बताया गया है जबकि वसुमित्र ने महादेव का नामोल्लेख किया है। नागों और बहुश्रुतियों ने उनका अनुकरण किया। उनके अनुसार अर्हत् सर्वज्ञ नहीं होता। बुद्ध ने भी अपने को कभी सर्वज्ञ नहीं कहा। जैन और बौद्ध परम्पराओं के बीच अर्हत् विषयक मान्यता में यह अन्तर दृष्टव्य है। स्थविरवादी और महासांघिक परम्पराओं में भी अर्हत् विषयक यह मतभेद यहां दिखाई दे रहा है।

तृतीय संगीति

तथागत बुद्ध ने अपना धर्मोपदेश मुख्यतः मगध और कोशल जनपदों में दिया। उन्होंने शाक्य, लिच्छवि एवं मल्ल गणराज्यों में तथा राजगृह, श्रावस्ती, कौशाम्बी, मथुरा, प्रयाग, वाराणसी आदि नगरों में चारिका कर सद्धम्म का प्रचार किया। इस समूचे भाग को मज्झिमा जनपद कहा गया था । इसका पश्चिमवर्ती प्रदेश अवन्ति दक्षिणापथ आदि भाग को पच्चन्तिम जनपद के नाम से जाना जाता था। इन प्रदेशों में बुद्ध ने तथा उनके शिष्य चुन्द, महाकच्चायन, पुण्ण आदि भिक्खुओं ने अपने धर्म का प्रचार किया था। उन्होंने यथावश्यक विनय-धर्म में परिवर्तन भी किया था। संभव है, इसी आधार पर संघ का प्राचीनक और पावेय्यक के रूप में भेद हो गया हो। इस समय तक वैशाली, मथुरा, कौशाम्बी और अवन्ति बौद्धधर्म के विशिष्ट केन्द्रों के रूप में प्रख्यात हो चुके थे।

द्वितीय संगीति के बाद बौद्धधर्म में साम्प्रदायिक भेद खडे हो चुके थे। और विविध दिशाओं में उनका प्रचार प्रारम्भ हो चुका था। उदाहरण के रूप में कौशाम्बी से अवन्ति-दक्षिणापथ की ओर स्थविरवाद बढा, मगध से महासांघिक आन्ध्र की ओर गया और मथुरा से सर्वास्तिवादी उत्तरापथ की ओर बढे। इनमें मथुरा को मध्यदेश की आरम्भिक सीमा के रूप में माना जाने लगा और यहीं से यात्री अपनी यात्रा प्रारम्भ करने लगे। नन्द साम्राज्य का यह अन्तिम काल था।

बौद्धधर्म के इस विकास और प्रचार में लगभग सौ वर्ष और बीत गये। तबतक मौर्य साम्राज्य आ गया। राजनीतिक और युगीन परिस्थितियों में अशोक ने राज्य संभाला। अशोक को साधारण तौर पर बौद्धधर्मानुयायी माना जाता है। स्थविरवादी परम्परा उसे मौद्गलीपुत्ततिस्स का शिष्य मानती है और मथुरा की सर्वास्तिवादी परम्परा में उसे उपगुप्त का शिष्य माना जाता है। अशोक के स्तम्भों पर उत्कीर्ण धम्मचक्क आदि

बौद्ध प्रतीक अशोक को निस्सन्देह बौद्ध घोषित करते हैं, भले ही उसकी धर्मनीति सर्वधर्मसमभाव की रही हो।

बुद्ध परिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद **पाटलिपुत्र** के अशोकाराम में तृतीय संगीति हुई। तब तक बौद्धधर्म १८ सम्प्रदायों में विभक्त हो गया था। इस संगीति का वर्णन **दीपवंस, महावंस, कथावत्थुअट्ठकथा, और समन्तपासादिका** जैसे उत्तरकालीन स्थविरवादी पारम्परिक ग्रन्थों में ही मिलता है। **चुल्लवग्ग** में उसका कोई उल्लेख नहीं है। अतः यह लगता है कि स्थविरवादी परम्परा को सुदृढ करने की दृष्टि से अशोक ने दिव्यावदान में उल्लिखित अपनी पंचवर्षीय परिषद् को ही तृतीय संगीति का रूप दे दिया हो। अशोक के अभिलेखों में भी इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है। यह संगीति मोग्गलिपुत्त तिस्स की अध्यक्षता में हुई। संभव है, अशोक ने सारा श्रेय उन्हीं को देने की दृष्टि से शिलालेखों में अपना नामोल्लेख न किया हो या यह भी संभव है कि आभिलेखिक घटनाएं पहले हो गई हों और संगीति का आयोजन बाद में हुआ हो।

इस संगीति का मूल उद्देश्य यह था कि संघ में जिन अवांछित तत्त्वों ने प्रवेश कर लिया था उन्हें निष्कासितकर तथागत बुद्ध के धर्म, संघ और साहित्य को सुरक्षित रखना। तिस्स मोग्गलिपुत्त की अध्यक्षता में हुई यह तृतीय संगीति नौ माह तक चली और उसने बुद्ध वचनों का सम्यक् पारायण करते हुए संगायन किया। इस संगीति का यह फल भी हुआ कि मोग्गलिपुत्त तिस्स ने **'कथावत्थु'** की रचनाकर उस समय प्रचलित हुए १७ मिथ्या बौद्ध सम्प्रदायों के विचारों का खण्डनकर थेरवादी सम्प्रदाय के विचारों का मण्डन किया और साथ ही यह भी निर्णय लिया गया कि विदेशों में बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार के लिए उपदेशकों को भेजा जाये।

बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार का गुरुतर उत्तरदायित्व सम्राट् अशोक ने अपने सबल कन्धों पर लिया। दीपवंस (परि. ८), महावंस (५.२८०; १२.१-८) तथा समन्तपासादिका (पृ. ६३-६४) में ऐसे भिक्षु उपदेशकों की नामावली दी गई है जिन्हें देश-देशान्तरों में इस कार्य के लिए भेजा गया था। जैसे - १) माध्यन्तिक - कश्मीर और गांधार प्रदेश को, २) महादेव - महिष मण्डल अर्थात् नर्मदा के दक्षिण प्रदेश को, ३) रक्षित-वनवासी (उत्तरी कन्नड) प्रदेश को, ४) धर्मरक्षित - अपरान्तक (गुजरात) प्रदेश को, ५) महाधर्मरक्षित - महाराष्ट्र को, ६) महारक्षित यवनदेश (बेविड्या) को, ७) मध्यम - हिमालय प्रदेश को, ८) शोण और उत्तर सुवर्णभूमि (वर्मा) को, ९) महेन्द्र, ऋष्ट्रिय, उत्रिय, शम्बल और भद्रशाल ये पांच भिक्षु ताम्रपर्णी (श्रीलंका) को। इनमें महेन्द्र अशोक सम्राट् का नव दीक्षित पुत्र था। उसके साथ उसकी प्रव्रजिता बहिन संघमित्रा भी गई थी। महेन्द्र और संघमित्रा का ऐसा चित्र अजन्ता में उत्कीर्ण है। वे अपने साथ त्रिपिटक भी ले गये। अनुराधापुर में, **'महाविहार'** की स्थापना हुई और यह

त्रिपिटक की यह मौखिक परम्परा वहां भी चलती रही। अशोक के शिलालेख तेरह तथा दो से यह भी पता चलता है कि उसने अपने धर्म प्रचारक पांच यूनानी राज्यों में भी भेजे थे - सिरिया और वेक्ट्रिया, मिश्र, मेसिडोनिया, सिरीन और एपिरस।

अभिधर्म

प्रथम संगीति में अभिधर्म का संगायन नहीं हुआ था, मात्र मात्रिका का हुआ था। स्थविरवाद का ही एक भेद सर्वास्तिवाद अभिधर्म की सात संख्या को तो मानता है पर वह ग्रन्थों के नामोल्लेख परिवर्तित रूप में प्रस्तुत करता है। इससे अभिधर्म का प्रारम्भिक रूप हमारे समक्ष अवश्य उपस्थित हो जाता है। सर्वास्तिवाद का **संगीतिपर्याय** इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। मात्रिका यहां एक प्रकार से विषय सूची का संकेतक है। सूत्र में प्रश्नोत्तर शैली में उसी का विस्तार किया जाता है। संगीतिसूत्र और सर्वास्तिवादी संगीतिपर्याय में सारिपुत्त बुद्धोपदेश को बुद्ध के ही समक्ष विस्तार देता है और बुद्ध उसे अनुमोदित करते हैं। अन्य परम्पराओं में सारिपुत्र का स्थान कात्यायन ने ले लिया है। एकोत्तरागम में बुद्ध कात्यायन की प्रशंसा करते हुए दिखाई देते हैं। स्थविरवाद में पेटकोपदेस का सम्बन्ध कात्यायन से जुडा हुआ है। धर्मगुप्तक और काश्यपीयों के अनुसार उपदेश का संगायन प्रथम संगीति में हुआ था।

संगीतिपर्याय को अभिधर्म का प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है जो मात्रिका के रूप में स्थित है। बहुश्रुतीयों में भी इसी तरह का अभिधर्म उपलब्ध है। मात्रिका वस्तुत: अभिधर्म का बीज रूप है। स्थविरवादी विभंग, सर्वास्तिवादी धर्मस्कन्ध और धर्मगुप्तकीय सारिपुत्राभिधर्मशास्त्र लगभग समानरूपी हैं जो मात्रिका से ही विकसित हुए हैं। अन्य सम्प्रदायों में भी इसी तरह के ग्रन् थ उपलब्ध हैं। सारिपुत्राभिधर्मशास्त्र में चार विभाग हैं - सप्रश्नक, अप्रश्नक,संयुक्तसंग्रह और निदान। काश्यपीय और धर्मगुप्तकों में भी यह विभाग किया गया है। पट्ठान, विभंग, कथावत्थु आदि ग्रन्थों का भी अध्ययन इस सन्दर्भ में किया जा सकता है।

तथागत बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग दो शताब्दियों के बीच अभिधर्म का एक रूप संयोजित हो सकता है जिसमें निम्न चार विभाग प्रस्तावित हैं - १. संगीति पर्याय, २. अप्रश्नक, ३. सप्रश्नक, और ४. प्रस्थान। पेटकोपदेस सूत्रपिटक का परिशिष्ट कहा जा सकता है जो क्षुद्रक का मूल भाग था। स्थविरवादी अभिधर्म ने संगीतिपर्याय के स्थान पर धम्मसंगणि का संयोजन कर दिया और अप्रश्नक-सप्रश्नक को मिलाकर विभंग बना दिया।

चतुर्थ संगीति

चतुर्थ संगीति का आयोजन कुषाण वंशीय शासक कनिष्क ने किया। उसका शासन काबुल, गांधार, सिंध, उत्तर-पश्चिम-मध्य भारत तक फैला हुआ था। कनिष्क

द्वारा यह संगीति १०० ई. सन् में कश्मीर में हुई। कुछ विद्वानों के मत से यह आयोजन जालन्धर में हुआ। इस संगीति में पिटकों पर भाष्य संस्कृत में लिखे गये। उन्हें ताम्रपत्रों, स्तूपों और विहारों में रखकर सुरक्षित किये गये। इसे कनिष्क संगीति के नाम से जाना जाता है। बौद्धधर्म में यहीं से संस्कृत का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। इसलिए पालि संगीतियों में इसकी गणना नहीं की जाती।

उपर्युक्त तीन संगीतियों के बाद मौखिक रूप से पालि त्रिपिटक श्रीलंका पहुंच गया। कहा जाता है, श्रीलंका के राजा देवानंपिय तिस्स (२४७-२०७ ई.पू.) ने अनुराधापुर में और दुट्ठगामणि (१०१-७७ ई.पू.) नामक राजा ने मातुल के अलुविहार में इसके बाद संगीतियों का आयोजन कर बुद्धवचनों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया परन्तु उनका कोई विशेष परिणाम सामने नहीं आया। तदनन्तर राजा **वट्टगामणि अभय** (२९-१७ ई.पू.) ने अथक परिश्रम कर महाथेर धम्मरक्खित की अध्यक्षता में एक संगीति का आयोजन किया जिसमें महेन्द्र और संघमित्रा द्वारा आनीत पालि त्रिपिटक को ताडपत्रों पर लिपिबद्ध किया गया (दीपवंस, २०.२०-२१; महावंस, ३३.१००-१०१)। यह संगीति पालि साहित्य में चतुर्थ संगीति के नामसे विख्यात हुई। इसे **'पुस्तकारोपण संगीति'** भी कहा जाता है। इसके पूर्व जो दो और संगीतियां श्रीलंका में हुई थीं वे निष्फल सिद्ध हुई। अतः उनकी गणना यहां न करके ही इसे चतुर्थ संगीति कहा गया। यहां तक कुल छह संगीतियां हो चुकी थीं। इनके बाद थाईलेण्ड में हुई दो संगीतियों को मिलाकर संगीतियों की संख्या आठ हो जाती है। पर इन संगीतियों का फल पालि साहित्य की दृष्टि से कुछ भी नहीं रहा, निष्फलता ही हाथ लगी। अतः उनकी गणना नहीं की गई। वर्मा में हुई सफल संगीति को पंचम संगीति माना गया, यद्यपि संख्या की दृष्टि से वह नवम संगीति थी।

पंचम संगीति

लगभग दो हजार वर्ष तक वट्टगामणि अभय द्वारा आहूत चतुर्थ संगीति में संकलित और लिपिबद्ध पालि त्रिपिटक चलता रहा। स्वाभाविक रूप से उसमें परिवर्तन-परिवर्धन भी होता रहा। कदाचित् उसी का मूल्यांकन करने के लिए वर्मा में माण्डले में सन् १८७१ ई. में वहां के राजा मिण्डन ने पूर्वोक्त संपन्न हुईं आठ संगीतियों के आधार पर नवम संगीति बुलाई जिसमें पालि त्रिपिटक का पुनः संगायन किया गया और विनयपिटक, सुत्तपिटक तथा अभिधम्मपिटक को क्रमशः १११,४१० और २०८ संगमर्मर की पट्टियों पर वर्मी लिपि में उत्कीर्ण कराया गया। इसकी अध्यक्षता सुमंगलसामि ने की। इस संगीति को **'शिलाक्षरोपण संगीति'** के नाम से जाना जाता है। इस संगीति के पूर्व भी थाईलेण्ड में दो संगीतियों का आयोजन हुआ। एक संगीति राजा तिलक ने चिंगमाई महाबोधि आराम में १७३९ ई. में की और दूसरी संगीति

आगामी वर्ष बैंकाक में हुई। संगीतिवंस में इन दोनों संगीतियों का वर्णन उपलब्ध होता है। इसका महत्त्व साहित्यिक दृष्टि से नहीं है, बौद्धधर्म के पुनरुत्थान की दृष्टि से अवश्य है इसलिए इसे पंचमसंगीति कहा जाता है।

षष्ठ संगीति

सन् १९५४-५६ में वर्मा में ही भदन्त रेवत की अध्यक्षता में रंगून में एक अन्य संगीति का आयोजन हुआ जिसके परिणाम स्वरूप पालि त्रिपिटक को पुनः संशोधित कर वर्मी लिपि में छापा गया। भिक्षु जगदीश कश्यप द्वारा संपादित नागरी संस्करण इसी संगीति द्वारा प्रकाशित संस्करण पर आधारित था।

इन संगीतियों का सम्बन्ध थेरवादी बौद्ध परम्परा के पालि साहित्य से रहा है। पालि साहित्य की परम्परा का उल्लेख अट्ठकथाओं में तो मिलता ही है पर सर्वप्रथम सर्वेक्षण करने का प्रयत्न धम्मकित्ति ने स्याम में सन् १४०० ई. में 'सद्धम्म संगह' लिखकर किया। इसके नवम अध्याय के ३१ पद्यों में लेखक ने १३वीं शताब्दी तक का विवरण दिया है जिसमें मात्र पालि ग्रन्थों का नामोल्लेख है। आश्चर्य का विषय है कि इसमें मिलिन्दपञ्ह जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थ का कोई उल्लेख नहीं है। इस समय तक वर्मा में पालि ग्रन्थों का अच्छा प्रचार हो चुका था, यह पगान के अभिलेख से ज्ञात होता है। तुङ्वीन प्रान्त के शासक तथा उसकी पत्नी ने १४४२ ई. में भिक्षु संघ के लिए जो भेंट दी उसमें पालि ग्रन्थों का भी समावेश था। पगान अभिलेख के अनुसार इन ग्रन्थों की संख्या २९५ थी। इसके बाद गंधवंस में नन्दपञ्ञ (१७वीं शती) ने और सासनवंश में पञ्ञासामी ने सन् १८६१ में वर्मा में पालि साहित्य को सूचीबद्ध किया। पर सबसे उत्तम कार्य किया मंक्रि महासिरिजेयसू ने सन् १८८८ में वर्मा में जिन्होंने "पिटकत समुयिन" में २०४७ पालि ग्रन्थों की सूचना दी। इसी तरह का कार्य Critical Pali Dictionary में हेलमेर स्मिथ (१८८२-१९५६) ने किया। थाईलैण्ड से पिटकमाला का भी प्रकाशन हुआ था जिसमें १८३० पालि ग्रन्थों का नामोल्लेख था। रंगून से सासन कौन्सिल ने सन् १९५६ में छठी बौद्ध संगीति के अवसर पर ११७ भाग पालि साहित्य के प्रकाशित किये थे। इसी तरह के प्रयत्न श्रीलंका और थाईलेण्ड आदि देशों में हुए। थेरवाद विनय काठमाण्डु में भी सुरक्षित है।

इन संगीतियों में से पालि साहित्य के उद्भव का सम्बन्ध प्रथम और द्वितीय संगीति से रहा है। शेष संगीतियों में उसके विकास की प्रक्रिया सम्मिलित है।

तिब्बती परम्परा के अनुसार मूलसर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के ग्रन्थ संस्कृत में, महासांघिकों के प्राकृत में, महासम्मितीयों के अपभ्रंश में और स्थविरवादियों के ग्रन्थ

पैशाची में थे। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि तथागत बुद्ध ने भाषा की स्वतन्त्रता के लिए बहुत अधिक महत्त्व दिया। "सकाय निरुत्तिया" से उनका तात्पर्य यही था कि उत्तरकाल में बौद्धाचार्य भी पालि के साथ ही प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश आदि अन्य भारतीय भाषाओं का उपयोग करेंगे। इसी तरह तिब्बती, चीनी, जापानी, मंगोलियन, ब्राह्मी, सिंहली आदि विदेशी भाषाओं में भी बौद्ध साहित्य उपलब्ध होता है। कालान्तर में संस्कृत का प्रयोग अधिक होने लगा और उसमें पालि-प्राकृत अपभ्रंश का भी कुछ संमिश्रण हो गया। एडगर्टन ने उसे मिश्र बौद्धसंस्कृत (Hybrid Sanskrit), मेक्समूलर ने गाथा संस्कृत और विन्टरनिट्स ने "सामान्य संस्कृत" का अभिधान दिया।

त्रिपिटक परम्परा

हमारे यहां त्रिपिटक के अनेक रूप हैं - १. पालि त्रिपिटक, श्रीलंका, वर्मा, थाईलेण्ड आदि दक्षिणवर्ती पूर्ववर्ती एशियाई देशों में प्रचलित, २. चीनी त्रिपिटक भारतीय ग्रन्थों के अनुदित रूप में, ३. तिब्बती त्रिपिटक, मंगोलियन अनुवाद के साथ। ये सभी त्रिपिटक भारतीय पालि त्रिपिटक पर आधारित हैं। इस त्रिपिटक में भी यथासमय परिवर्तन-परिवर्धन होता रहा है। उसका मूल बौद्धधर्म भी एक नहीं रहा। एक शताब्दी के बाद ही उसमें सम्प्रदायों ने जन्म ले लिया। प्रथम शताब्दी के पूर्व ही अठारह सम्प्रदाय खड़े हो गये। चन्द्रकीर्ति ने भी अनेक पिटकों का उल्लेख किया है। सभी सम्प्रदायों के अपने-अपने पिटक थे। महायान में तो वे पिटक साधारण व्यक्ति के समझ के बाहर बन गये। इसलिए उन्हें समझाने के लिए ऊपर से देवों और बुद्धों की कल्पना की गई।

पालि तिपिटक भाषा, छन्द और विषय की दृष्टि से ल. तृतीय शताब्दी ई.पू. का माना जाता है। वह किसी अन्य भाषा से अनुदित नहीं हुआ बल्कि मूल रूप में ही उपलब्ध है। धम्म पलियायों के रूप में उसका उल्लेख, तत्कालीन सांस्कृतिक सामग्री, बुद्ध का ऐतिहासिक व्यक्तित्व, मध्यप्रदेश की अवस्थिति, लोकोत्तर तत्त्व का अभाव आदि जैसे तत्त्व इसी तथ्य के प्रतिपादक हैं।

थेरवादी आगमिक ग्रन्थों का सामुदायिक रूप अभिधान पिटक है जिनकी संख्या तीन होने के कारण 'तिपिटक' कहा जाता है। पिटक का सम्बन्ध कदाचित् परम्परा से रहा होगा। जैन आगमों की भी सामान्य संज्ञा पिटक या गणिपिटक है। पर दोनों परम्पराओं में यह शब्द उत्तरकालीन प्रतीत होता है। जैन परम्परा में मात्र श्वेताम्बर परम्परा के उत्तरकालीन ग्रन्थ भगवती या व्याख्याप्रज्ञप्ति (८.१.५-२५.९७) में ही यह शब्द प्राप्त होता है। दिगम्बर परम्परा के किसी भी ग्रन्थ में यह शब्द दिखाई नहीं

गेला। बौद्ध परम्परा में भी यह शब्द बाद में आया है। प्राचीन शब्द बुद्धवचन मिलता है जिसे धम्म और विनय में विभाजित किया गया है। इसी अर्थ में एक अन्य शब्द का भी प्रयोग हुआ है '**निकाय**' जिसे 'अंग' भी कहा गया है जो मूल रूप से तीन या चार थे - सुत्त, गेय्य, वेय्याकरण और अब्भुतधम्म। बाद में संस्कृत साहित्य में उनकी संख्या नव तक पहुंच गई। यहां तक आते-आते अंग शब्द लुप्त-सा हो गया और पिटक शब्द ने लोकप्रियता पा ली। **निकाय** का अर्थ है - आगम ग्रन्थों का समुदाय। थेरवादी परम्परा को छोड़कर शेष उत्तरकालीन बौद्ध सम्प्रदायों ने निकाय के स्थान पर '**आगम**' शब्द को स्वीकारा है। जैनागमों में भी निकाय शब्द का प्रयोग हुआ है पर कुछ भिन्न अर्थों में। यहां आचारांग (१.३) में निकाय अस्तिकाय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और वृत्तिकार ने उसका अर्थ मोक्ष किया है। अंग और आगम शब्द जैन परम्परा में भी प्रयुक्त हुए हैं।

शिलालेखी साहित्य में सर्वप्रथम भरहुत शिलालेख में '**पिटक**' शब्द का प्रयोग हुआ है। पिटक ग्रन्थों में से परिवार और अनुपिटक ग्रन्थों में मिलिन्दपञ्हो का नामोल्लेख किया जा सकता है जिनमें 'पिटक' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

थेरवादी परम्परा के आगमिक ग्रन्थों को तीन भागों में विभाजित किया जाता है - विनय पिटक, सुत्तपिटक और अभिधम्मपिटक। इन तीनों पिटकों में बुद्धवचनों को संकलित किया गया। तथागत बुद्ध के सारे वचन मौखिक थे। उनके जीवन काल में उनका संकलन हुआ हो, ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। हां, उनको स्मृतिपथ में संजोकर रखने वालों के लिए बहुस्सुता, धम्मधरा, विनयधरा, मातिकाधरा (वि.पि. महावग्ग २,१०, महापरिनिब्बाणसुत्त), पंचनेकायिका, भाणक, सुत्तन्तिक, पेटकी आदि शब्दों से संबोधित किया गया है। धीरे-धीरे स्मरणशक्ति का ह्रास होने लगा और कंठस्थ करने में अभिरुचि भी कम होने लगी। फलतः संगीतियों के माध्यम से उसे स्थिर बनाये रखने का प्रयास हुआ। राजगृह, वैशाली और पाटलिपुत्र की संगीतियों ने अपने अथक प्रयास से पिटक परम्परा को संजोये रखने का प्रयत्न किया। पर उसके विघटन और विकारों को नहीं रोका जा सका। हरवान (कश्मीर) में कनिष्क द्वारा आहूत चतुर्थ संगीति में पालि पिटक परम्परा संस्कृत की ओर बढ गई और वह आगम के रूप में विकसित हो गई। जैनागमों में भी इसी प्रकार श्रुतिपरम्परा द्वारा महावीर की पुनीत वाणी को सुरक्षित रखने का प्रयत्न हुआ है। वैदिक परम्परा में भी मौखिक परम्परा काफी समय तक चलती रही है।

यहां '**सुत्त**' शब्द का प्रयोग पाणिनीय सूत्र, ब्रह्मसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों में प्रयुक्त 'सूत्र' शब्द के संक्षिप्त अर्थ में नहीं है - "**स्वाल्पाक्षरमसन्दिग्धं, सारवद्**

विश्वतोमुखम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रकृतो विदुः'' बल्कि सुत्त पिटक आदि ग्रन्थों में प्रयुक्त सुत्त शब्द का प्रयोग, धम्म, प्रवचन या संवाद के अर्थ में हुआ है। सुत्त का सन्दर्भ सूक्त और सुत्त से भी जोडा का सकता है। जैन परम्परा में भी सुत्त शब्द का प्रयोग लगभग इन्हीं अर्थों में हुआ है।

पालि त्रिपिटक मात्र स्थविरवादी परम्परा से सम्बद्ध है। भारत के अतिरिक्त श्रीलंका, वर्मा और थाईलेण्ड में पालि साहित्य की रचना होती रही है। साधारण तौर पर समूचे पालि साहित्य को हम निम्न विभागों में विभाजित कर सकते हैं - १) पिटक साहित्य, २) अनुपिटक साहित्य, ३) अट्ठकथा साहित्य, ४) वंस साहित्य और ५) काव्य, व्याकरण, कोश, छन्दशास्त्र, अभिलेख आदि। इसमें पिटक शब्द परम्परा का संवाहक है। जिस प्रकार पिटारी में किसी वस्तु को रखकर एक दूसरे को उसे सम्हालकर सौंप दी जाती है उसी तरह पालि पिटक साहित्य को उत्तरकालीन पाठकों के हाथ सौंप दिया गया।

त्रिपिटक तीन भागों में विभाजित है - १) सुत्तपिटक, २) विनयपिटक और अभिधम्मपिटक। सुत्तपिटक भ. बुद्ध के उपदेशों का संकलन है जो पांच निकायों (संग्रहों) में विभक्त है - दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय और खुद्दकनिकाय। एक अन्य प्रकार से भी इसका वर्गीकरण हुआ है जिसे नवांगी कहा जाता है। ये नौ अंग हैं - १) सुत्त, २) गेय्य, (गद्य-पद्य) ३) वेय्याकरण, ४) गाथा, ५) उदान, ६) इतिवुत्तक, ७) जातक, ८) अब्भुतधम्म और ९) वेदल्ल (प्रश्नोत्तरात्मक)। यह विभाजन शैलीमूलक है। सभी सुत्तों का प्रारम्भ प्रायः **'एवं मे सुतं'** से प्रारम्भ होता है और उनमें स्थान तथा भिक्षुसंख्या का भी उल्लेख किया जाता है। प्रारम्भ में यह पिटक साहित्य मौखिक परम्परा से चलता रहा। बाद में संगीतियों के माध्यम से स्थिर किया गया और वट्टगामिणि अभय के काल में उसे लिपिबद्ध किया गया। लिपिबद्ध होने के पूर्व बहुश्रुत स्मृतिमान् भिक्षुओं में धर्मधर, सुत्तन्तिक, विनयधर, मात्रिकाधर (विषयानुक्रमणिकाधारी), पंचनेकायिक, भाणक, और पेटकी थे जो भ. बुद्ध के उपदेशों को मौखिक रूप से धारण करते थे (महावग्ग २,१०; चुल्लवग्ग, १.१२, महापरिनिब्बाणसुत्त, अंगुत्तरनिकाय आदि)। वट्टगामिणि के पूर्व भी पिटक परम्परा का कुछ वर्गीकरण मिलता है। जैसे अशोक के भाब्रु अभिलेख और उसके बाद सांची, भरहुत स्तूप लेखों में राहुलोवादसुत्त, पंचनेकायिक, भाणक, सुत्तन्तिक, पेटकी आदि जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है। अट्ठकथाओं को भी पालि पिटक के अन्तर्गत मान लिया गया किसी सीमा तक - **अत्थं च, धम्मं च, अट्ठकथायं च, पालिं च**। इन पर टीकाएं भी

मिलती हैं जिन्हें मूलटीका, पोराणटीका, महाटीका, अनुटीका, नवटीका, अभिनवटीका आदि नये अभिधान भी दिये गये हैं। थाईलेण्ड में इन्हें निस्सय, वोहरा, नामसप, अत्थयोजना, गूढट्ठदीपनी, गण्ठिपद जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता रहा है। सिंहल में सन्नय और वर्मा में निस्सय शब्दों का प्रयोग हुआ है।

पालि परम्परा में मूल बुद्धोपदेशों की सुरक्षा और उसकी मौलिकता को स्थिर रखने की दृष्टि से **चार महोपदेशों** का निर्धारण किया गया - १) वे सुत्त जो सीधे भ. बुद्ध से सुने गये हों, २) वे सुत्त जो प्रज्ञा सम्पन्न भिक्षुओं से सुने गये हों, ३) वे सुत्त जो विद्वान भिक्षुओं से सुने गये हों, और ४) ऐसे सुत्त जो किसी उपयुक्त भिक्षु से सुने गये हों (दीघनिकाय, १२३; अंगुत्तरनिकाय १६७)।

बुद्धोपदेशों का विभाजन धम्म और विनय के रूप में भी मिलता है। उसमें मातिका बाद में जोड दी गई। पिटक शब्द का उल्लेख सर्वप्रथम भरहुत स्तूप लेख में मिलता है। पालि ग्रन्थों में परिवार (विनयपिटक) और मिलन्दिपञ्ह (१८.१०) में भी उसका उल्लेख आया है। बुद्धवचनों का विभाजन ८४००० धर्मस्कन्धों में भी किया गया है (थेरगाथा, १०२९)। कदाचित् उसी की स्मृति में कहा जाता है कि अशोक ने ८४००० विहारों का निर्माण किया था (समन्तपासादिका)। इन सभी विभाजनों में पिटक विभाजन सर्वाधिक प्रसिद्ध है। यह विभाजन सुत्तों में अधिक हुआ है। सुत्त का तात्पर्य है तथागत से सुना गया उपदेश। इसी अर्थ में सुत्तन्त शब्द का भी प्रयोग हुआ है। जैनागमों में भी मातिका और चूलिका शब्दों का प्रयोग इन्हीं अर्थों में हुआ है।

तथागत बुद्ध ने अपना धर्मोपदेश सम्बोधि प्राप्ति के बाद प्रारम्भ किया। ब्रह्मयाचना के परिणाम स्वरूप उन्होंने महाकरुणा पूर्वक धर्मदेशना देना स्वीकार किया। प्रथमतः आलार कलाम और उद्रक रामपुत्र को याद किया पर वे तब तक कालकवलित हो चुके थे। बाद में पंचवर्गीय भिक्षुओं को खोजा जो सारनाथ में थे। उन्होंने ऋषिपत्तन मृगदाव में उन्हें प्रथम धर्मोपदेश देकर धर्मचक्रप्रवर्तन किया। ८० वर्ष की आयु तक उन्होंने धर्मप्रचार किया। सर्वाधिक श्रावस्ती में उनका निवास रहा। उसके बाद राजगृह, वैशाली और कपिलवस्तु का क्रम आता है। पालि त्रिपिटक के अनुसार भ. बुद्ध का भ्रमण मध्यदेश में ही होता रहा। पर महायानी परम्परा ने बुद्ध को लोकोत्तरवादी बना दिया और उनका लंका-गमन भी बता दिया। पालि साहित्य में बुद्ध को मानवीय रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। यही थेरवादी परम्परा है - **तेपिटकसंगहितं सब्बं थेरवादं ति**।

उत्तरकाल में बौद्धधर्म अनेक सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। भाषा ने भी मोड़ लिया और बौद्धधर्म की भाषा पालि-प्राकृत न होकर प्रायः संस्कृत हो गई। पालि

परम्परा के आधार पर सर्वास्तिवादी आगम संस्कृत में हो गया। चीनी और तिब्बती अनुवाद के रूप में वह अधिक मिलता है। अभिधम्म को छोडकर शेष दोनों पिटकों में बहुत अधिक अन्तर नहीं है। दोनों सम्प्रदायों के साहित्य की तुलना करने पर यह तथ्य अवश्य सामने आता है कि बुद्धवचनों की सर्वाधिक सुरक्षा थेरवादी परम्परा ने की है। वट्टगामिणि अभय के बाद पालि त्रिपिटक में कोई विशेष परिर्वतन नहीं हुआ।

थेरवादी सम्प्रदाय में से ही अठारह सम्प्रदाय खडे हुए। उनमें से चार सम्प्रदाय प्रमुख थे - १) आर्य महासांघिक निकाय, २) आर्य स्थविर निकाय, ३) आर्य मूल सर्वास्तिवादी निकाय, और ४) आर्य सम्मितिय निकाय। इन सभी सम्प्रदायों की पिटक सम्पदा पृथक् पृथक् थी। तारानाथ (१४ वीं शताब्दी) के अनुसार सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय का साहित्य संस्कृत में, महासांघिक का प्राकृत में, स्थविर सम्प्रदाय का पैशाची में और महासम्मितिय सम्प्रदाय का अपभ्रंश में था।

पालि त्रिपिटक का विकास क्रम

पालि त्रिपिटक का वर्तमान रूप भ. बुद्ध के लगभग चार शताब्दी के बाद वट्टगामिणि अभय के काल में प्रथम शताब्दी ई.पू. में स्थिर हुआ जो विभज्यवादी परम्परा से सम्बद्ध था। इन चार सौ वर्षों में उसके मूल रूप में तो परिवर्तन अधिक नहीं हुआ पर संग्रह, क्रम एवं विस्तार की दृष्टि से वह परिवर्तन से नहीं बच सका। अभिधर्मपिटक तो निश्चित ही बुद्धवचन नहीं है। प्राचीन मातृकाओं और धर्मसूचियों के आधार पर थेरवादी और सर्वास्तिवादी परम्परा ने अपना-अपना अभिधर्म साहित्य तैयार किया। **कथावत्थु** उसका इस दृष्टि से अन्तिम ग्रन्थ हो सकता है। परम्परा की दृष्टि से उसे भले ही अशोककालीन माना जाये पर उसमें वैपुल्यवादी आदि निकायों का खण्डन होने से उसे ई.पू. द्वितीय-प्रथम शताब्दी में रखा जा सकता है। फिर भी यह निश्चित है कि अशोक के बाद भी उसमें परिवर्तन-परिवर्धन होता रहा है। इसी क्रम में अनेक विषय जोड दिये गये, टीकाएं मूल पाठ के साथ मिल गईं। संग्रह और स्वतन्त्र पाठ बन गये जिससे परस्पर विरोधी बातें भी मिलने लगीं और पुनरावृत्ति भी हो गई।

अशोक के शिलालेखों में त्रिपिटक का कुछ अंश उल्लेखित हुआ है। वैराट् और भाब्रू शिलालेखों में सम्राट् ने जिन सात पुस्तकों के नाम दिये हैं वे सुत्तपिटक से सम्बद्ध हैं। ई.पू. द्वितीय-प्रथम शताब्दी के भरहुत और सांची स्तूपों के रेलिंगों पर जो चित्रकारी और लेख खुदे हुए हैं वे बुद्ध जीवन के विकसित रूप को प्रस्तुत करते हैं। उनके शीर्षक भी लेखों में दिये हुए हैं। उनका सम्बन्ध निदानकथा, ललितविस्तर और महावस्तु में मिलता है। उन लेखों में भाणक, सुत्तन्तिक, पंचनेकायिक, पेटकिन् और धम्मकथिक

जैसी उपाधियां भिक्षुओं के साथ जुडी हुई हैं। मिलिन्दपञ्हो और दीपवंस में भी इन त्रिपिटक अंशों का उल्लेख मिलता है। इसका तात्पर्य इतना तो निकाला ही जा सकता है कि ई.पू. की प्रारम्भिक शताब्दियों में त्रिपिटक मौखिक रूप से विद्यमान था। पालि त्रिपिटक का आधार लेकर ही शुद्ध और मिश्र संस्कृत में उसका रूपान्तरण **'आगम'** के नाम से हुआ। मूल सर्वास्तिवादियों का संस्कृत आगम था। यहां यह उल्लेखनीय है कि वैदिक और जैन परम्पराओं में भी प्रारम्भ में आगमों को मौखिक परम्परा से ही सुरक्षित रखा जा सका। स्मृतिभ्रंश और अनभिरुचि के प्रारम्भ हो जाने पर ही उन्हें संकलित किया गया। सुत्तपिटक और विनयपिटक में कितना भाग प्राचीन है इस पर विद्वानों में अच्छा मन्थन हुआ है। इससे त्रिपिटक के विकास पर एक दृष्टिपात हो सकता है।

भगवान् बुद्ध द्वारा प्रवेदित उपदेशों के संकलन का प्रथम प्रयास राजगृह की प्रथम संगीति में किया गया था। संभव है, इसमें मूलभूत सिद्धान्तों पर किसी तरह भिक्षु एकमत हो गये हैं। परन्तु बुद्ध-परिनिर्वाण के लगभग १०० वर्ष बाद संघभेद स्पष्ट हो गया। द्वितीय संगीति में सुत्तपिटक और विनयपिटक का संगायन हुआ होगा। अभिधम्मपिटक तो निश्चित ही अशोक के काल का है। कुछ भाग उसके पश्चात् भी प्रक्षिप्तांश रूप में यदि जोड़ दिया गया हो तो कोई असम्भव नहीं। सिंहली परम्परा के अनुसार वज्जिपुत्तकों ने द्वितीय संगीति में अभिधम्मपिटक के साथ-साथ पटिसंविदा, निद्देस, पंचमनिकाय का कुछ अंश और परिवार को अमान्य घोषित कर दिया था (कीथ, बुद्धिस्ट फिलासिफी, पृ. २३)। यह तो तथ्य है ही कि ये सभी ग्रन्थ उत्तरकालीन हैं। अशोक के शिलालेखों में भी पिटक के कुछ भागों का उल्लेख मिलता है। भाब्रू अभिलेख में सात धम्मपलियायों की गणना उपलब्ध होती है - विनय समुकस, अलियवसानि, अनागतभयानि, मुनिगाथा, मानेयसुत्त, उपतिसपसने और लाघुलोवाद। साँची और भरहुत के अभिलेखों में भिक्षुओं के विशेषण के रूप में सुत्तन्तिक, पेटकी, धम्मकथिक, पंचनेकायिक, भाणक आदि शब्दों का प्रयोग मिलता ही है। भरहुत स्तूप में वितु, मिग, हंस, विडल आदि जातक कथाओं के नाम भी मिलते हैं। ये सभी भाग पिटक में किसी न किसी रूप में संकलित हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि लगभग ई.पू. तृतीय शताब्दी में सुत्तपिटक और विनय पिटक के कुछ अंश स्थिर हो चुके होंगे और अभिधम्म पिटक निर्माण-पथ पर रहा होगा। ई.पू. प्रथम सदी में तो समूचा त्रिपिटक सिंहल में वट्टगामणि के शासन-काल में लिपिबद्ध हो चुका था। परम्परानुसार कुछ अट्ठकथायें भी तब तक संकलित हो चुकी थीं। अतः यह कहा जा सकता है कि इस समय तक त्रिपिटक उसी रूप में लिपिबद्ध हुआ था जिस रूप में आज उपलब्ध है। यद्यपि कुछ परस्पर विरोधी और कालक्रम विरहित प्रसंग यहां दिखाई देते हैं पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि समूचा त्रिपिटक ही व्यर्थ है। यह सम्भव है कि ई.पू. प्रथम शती तक उसमें परिवर्तन-परिवर्धन

होते रहे हों जो स्वाभाविक है। पर एक बार लिपिबद्ध होने के बाद उसमें परिवर्तन का अवकाश नहीं मिलता। अत: जो त्रिपिटक आज हमारे पास है वह अधिकांश रूप में ई.पू. प्रथम सदी का तो निश्चित ही है।

यह समूचा त्रिपिटक थेरवाद परम्परा में नव अंगों में भी विभाजित था - सुत्त, गेय्य, वेय्याकरण, गाथा, उदान, इतिवुत्तक, जातक, अब्भुतधम्म और वेदल्ल (मज्झिमनिकाय, अञ्अगद्दुपम सुत्तन्त, मिलिन्दपञ्ह, बहिरकथा; दीपवंस ४.१५)। थेरगाथा में एक अन्य प्रकार से भी पिटक के विभाजन का संकेत किया गया है। वहाँ बताया गया है कि आनन्द ने ८२०० हजार उपदेश भगवान् बुद्ध से सीखे और दो हजार उपदेश संघ से सीखे (थेरगाथा १७.३-१०२७)। सम्भव है, यह गणना भ. बुद्ध के समस्त उपदेशों की संख्या की ओर इंगित करती हो।

त्रिपिटक के **विकास** के सन्दर्भ में अनेक विद्वानों ने अपने अभिमत प्रस्थापित किये हैं। उनमें डॉ. विमलाचरण ला का मत उल्लेखनीय है। उन्होंने त्रिपिटक को निम्नलिखित कालक्रम में व्यवस्थित किया है।

१. प्रथम युग - ४८३ ई.पू. से ३८३ ई.पू.

२. द्वितीय युग - ३८३ ई.पू. से २६५ ई.पू.

३. तृतीय युग - २६५ ई.पू. से २३० ई.पू.

४. चतुर्थ युग - २३० ई.पू. से ८० ई.पू.

५. पंचम युग - ८० ई.पू. से २० ई.पू.

यह कालक्रम त्रिपिटक के लिपिबद्ध होने तक के साहित्य का है। डॉ. रायज डेविड्स ने यह विकास इस प्रकार दिखाया है (बुद्धिस्ट इन्डिया, पृ. १२१-२२)-

१. समस्त त्रिपिटक में समान रूप से पाये जाने वाले बुद्धवचन

२. त्रिपिटक के दो-तीन ग्रन्थों में ही पाये जाने वाले बुद्धवचन

३. सील, पारायण, अट्ठकवग्ग, पातिमोक्ख

४. दीघ, मज्झिम, अंगुत्तर और संयुत्त निकाय,

५. सुत्तनिपात, थेरगाथा, थेरीगाथा, उदान, खुद्दकपाठ

६. सुत्तविभंग, खन्धक

७. जातक, धम्मपद

८. निद्देस, इतिवुत्तक, पटिसम्भिदा

९. पेतवत्थु, विमानवत्थु, अपदान, चरियापिटक, बुद्धवंस

१०. अभिधम्मपिटक के ग्रंथ जिनमें पुग्गलपञ्ञत्ति प्रथम और कथावत्थु अन्तिम हैं।

डॉ. विमलाचरण ला ने इस कालक्रम को कुछ परिवर्तित कर इस प्रकार प्रस्तुत किया है (हिस्ट्री आफ पालि लिटरेचर, भाग १, पृ. १) -

१. समस्त त्रिपिटक में समान रूप से पाये जानेवाले बुद्धवचन

२. दो तीन ग्रंथों में ही पाये जानेवाले बुद्धवचन

३. सील, पारायण, अट्ठकवग्ग, सिक्खापद

४. दीघनिकाय (प्रथमस्कन्ध), मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय पातिमोक्ख जिसमें १५२ नियम हैं।

५. दीघनिकाय (द्वितीय और तृतीय स्कन्ध) थेरगाथा, थेरीगाथा, ५०० जातकों का संग्रह, सुत्तविभंग, पटिसम्भिदामग्ग, पुग्गलपञ्ञत्ति, विभंग,

६. महावग्ग, चुल्लवग्ग, पातिमोक्ख (२२७ नियमों का पूर्ण होना) विमानवत्थु, पेतवत्थु, धम्मपद, कथावत्थु

७. चुल्लनिद्देस, महानिद्देस, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, धातुकथा, यमक, पट्ठान

८. बुद्धवंस, चरियापिटक, अपदान

९. परिवार - पाठ

१०. खुद्दकपाठ

उपर्युक्त दोनों विद्वानों द्वारा निर्धारित कालक्रम सम्पूर्णतः समीचीन अथवा असमीचीन नहीं कहा जा सकता। तथ्य यह है कि यह विकासक्रम यदि भाषा के साथ-साथ संस्कृति और बुद्ध के वर्षावासों में दिये गये उपदेशों के आधार पर रखा जाता तो अधिक उपादेय था। ऐसा न होने के कारण ही यहाँ कुछ कमियाँ रह गई हैं। म. राहुल जी ने बुद्धचर्या में इस प्रकार का प्रयत्न किया था पर वह अधूरा ही रह गया। इसके बाद भरतसिंह उपाध्याय, गोविन्दचन्द पाण्डे आदि विद्वानों ने भी त्रिपिटक के विकासक्रम को निर्धारित करने का प्रयत्न किया है।

इन सभी प्रयत्नों की समीक्षा करने पर ऐसा लगता है कि अशोक के समय तक सुत्तपिटक और विनयपिटक के अधिकांश भाग की स्वरूप रचना हो चुकी थी। वही भाग महेन्द्र के साथ सिंहल पहुंच गया जहां उसमें यथावश्यक परिवर्तन-परिवर्धन होता रहा और फिर उसी को वट्टगामिणी के समय लिपिबद्ध कर दिया गया। सम्प्रदायों के अनुसार

उसमें अन्तर आना भी स्वाभाविक है। फिर भी प्राचीनता की उपेक्षा नहीं की जा सकती। दीघनिकाय का सामञ्ञफलसुत्त बहुत प्राचीन लगता है। मज्झिमनिकाय की सुत्त संख्या ७, १७, २४, २९, २६, ६१, ६३, ७१, १०८, १४०, १४४, १५२ को विशेष प्राचीन माना जाता है। सं. निकाय में भी प्राचीन सन्दर्भ बहुत हैं। इसी तरह अन्य निकायों को भी देखा जा सकता है। सुत्तनिपात कदाचित् प्राचीनतम भाग है और विमानवत्थु-पेतवत्थु स्पष्टत: परवर्ती ग्रन्थ हैं।

त्रिपिटक का प्रभाव बौद्धेतर सम्प्रदायों के साहित्य पर भी दिखाई देता है। उदाहरणत: श्वेताम्बर जैनों द्वारा मान्य साहित्य की भाषा और शैली पालि त्रिपिटक से मिलती-जुलती है। उत्तराध्ययन (९.४४) की यह गाथा देखिये -

मासे मासे उ जो बालो कुसग्गेणं तु भुंजए।
ण सो सुअक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं।।

यह गाथा धम्मपद की गाथा क्र. ७० के अत्यन्त समीप है -

मासे मासे कुसग्गेन बालो भुञ्जेथ भोजनं।
न सो संखतधम्मानं कलं अग्घति सोलसं।।

इसी प्रकार धम्मपद की गाथायें १०३, ४०५, ४०९ उत्तराध्ययन की गाथाओं ९.१४, २५.२२, २५.२४, में देखी जा सकती हैं। इसी तरह सद्धर्मपुण्डरीक और सूत्रकृतांग का पुण्डरीक अध्ययन, अवदानशतक और विपाकसूत्र, अंगुत्तरनिकाय और ठाणांग, जातक और उत्तराध्ययन आदि ग्रन्थ परस्पर सम्बद्ध अथवा प्रभावित प्रतीत होते हैं। विनय आदि को देखते हुए यह भी असंभव नहीं कि जैनागमों से बौद्धागम प्रभावित न हुए हैं। जहाँ तक शैली का प्रश्न है, जैनागमों की अपेक्षा बौद्धागमों की शैली नि:सन्देह मधुर, हृदयहारी प्रभावक और प्राचीनतर है।

सुत्तपिटक और विनयपिटक में किसका महत्त्व अधिक है, यह कहना सरल नहीं है। विनय पिटक संघ अनुशासन का एक संविधान है अत: उसका महत्त्व कदाचित् अधिक है। पर साहित्य और इतिहास की दृष्टि से सुत्तपिटक को प्रथम स्थान दिया जाना चाहिए। बुद्धवचनों का संकलन इसी में हुआ है - "**धम्मं च विनयं च संगायेय्याम**"। इस दृष्टि से इसे धम्मपिटक कहा जाना चाहिए था परन्तु प्रथम चार निकायों में सुत्त (सुत्तन्त) शब्द आने से इसे सुत्तपिटक कहा जाने लगा। मिनयेफ जैसे विद्वानों ने चुन्दसुत्त आदि जैसे सुत्तों का उदाहरण देकर आन्तरिक विरोध का निदर्शन किया और उसे प्रामाणिक बुद्धवचनों की कोटि से बाहर रखने का मन्तव्य व्यक्त किया। पर यह मन्तव्य सही नहीं माना जा सकता। चार-पांच शताब्दियों के बाद संगायन होने पर थोडा-बहुत अन्तर आना तो स्वाभाविक है पर वह अन्तर इस सीमा तक नहीं माना जा सकता कि समूचे सुत्तपिटक की ही प्रामाणिकता पर सन्देह व्यक्त किया जाये।

बुद्धवचनों और उनके सारिपुत्त, मोग्गल्लान जैसे शिष्यों के वचनों का संकलन परम्परा से भिक्षुओं को प्राप्त हुआ और उन्हीं भिक्षुओं के माध्यम से उनका संकलन हुआ। इसे 'निकाय' कहा गया। इसी परम्परा को 'पिटक' शब्द से अभिहित किया गया है - **पिटकं पिटकत्थविदू परियत्तिभाजनत्थतो आहु**''। सर्वास्तिवादी परम्परा ने इसी को 'आगम' कह दिया और महायानसूत्रालंकार में असंग ने इसी को '**सूचनात् सूत्रम्**' कहकर '**सूत्र**' संज्ञा दे दी। संभव है, बाद में ऐसे ही वचनों को संक्षिप्त रूप देने की आवश्यकता प्रतीत हुई हो और उपर्युक्त 'सूत्र' को संक्षिप्त अर्थ में प्रयुक्त किया जाने लगा हो - ''**अत्थानं सूचनतो सुवुत्ततो सवनतोथ सूदनतो। सुत्ताणा सुत्तसभागतो च, सुत्तन्त अक्खातं**''। श्रौत, सूत्र, गृह्यसूत्र, पाणिनिसूत्र इस संभावना के निदर्शन हैं। स्मृति परम्परा से उनका संरक्षण हुआ ही है।

ये बुद्धवचन लम्बे, छोटे, मझोले सभी तरह के आकार-प्रकार के हैं। गद्य-पद्य मिश्रित हैं। चम्पू विधा का रूप उनमें दिखाई देता है। प्रायःप्रत्येक सुत्त में उपदिष्ट वचनोपदेशों का स्थान, शिष्यादि का नाम, श्रोता नाम, कृतज्ञता प्रकाशन, शिष्टाचाराभिव्यक्ति आदि तत्त्वों का संनिवेश है। उसमें उपमा, उदाहरण, रूपकों की भरमार दिखाई देती है। संवाद, आख्यान, पुनरुक्ति भी है। मौखिक परम्परा में ये तत्त्व तो संनिहित होते ही हैं। इनमें पुनरुक्ति तत्त्व सर्वाधिक प्रबल रहा है। उपमातत्त्व भी कम आकर्षक नहीं है। परिप्रश्नात्मक शैली का भी उपयोगकर उपदेशों को ग्राह्य बनाया गया। ये सभी उपदेश स्वानुभव पर आधारित रहे हैं। इनका संकलन अंगविधा से भी हुआ। ये अंग ९ हैं - सुत्त, गेय्य, वेय्याकरण आदि। अब्भुतधम्म को बाद में इस विभाग में छोड दिया गया और पिटक भेद को अपना लिया गया।

थेरवादी तिपिटक के अतिरिक्त अन्य बौद्ध सम्प्रदायों में भी उनके अपने त्रिपटक हैं जो दूर होने पर भी निकट हैं। इनमें सर्वास्तिवादी आगम विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। विद्वानों ने इस क्षेत्र में अच्छा कार्य किया है। Chizen Akanama ने Comparative Catalague of Chinese Agamas and Pali Nikayas लिखकर इस अध्ययन का सूत्रपात किया। डॉ. अनुकूलचन्द्र बनर्जी और भिक्षु Thich Minh Chau आदि विद्वानों ने भी उल्लेखनीय कार्य किया है।

१. सुत्तपिटक

इन त्रिपिटक प्रकारों में मूल पिटक पालि पिटक है जिसे हम थेरवादी पिटक कहते हैं। इसी का संस्कृत रूप किसी सीमा तक सर्वास्तिवाद या मूलसर्वास्तिवाद में उपलब्ध है। चीनी अनुवाद में किस सम्प्रदाय का सूत्र पिटक मिलता है, यह निश्चित करना सरल नहीं है। उदाहरणतः दीर्घागम कदाचित् धर्मगुप्तक सम्प्रदाय का है,

मध्यमागम सर्वास्तिवाद का, संयुक्तागम सर्वास्तिवाद या काश्यपीय का और एकोत्तरागम धर्मगुप्तकों या महासांघिकों का माना जाता है।

सुत्तपिटक पांच भागों में विभक्त है - १) दीघनिकाय, २) मज्झिमनिकाय, ३) संयुत्तनिकाय, ४) अंगुत्तरनिकाय, तथा खुद्दकनिकाय। इन सुत्तों में इतिहास, संस्कृति, भाषाविज्ञान, मनोविज्ञान, आयुर्वेद, दर्शन आदि तत्त्व झांक रहे हैं। सुत्तपिटक के ये पांचों निकाय सुत्तन्तों में विभक्त हैं। वहां दीघनिकाय में ३४ सुत्तन्त हैं, मज्झिम में १५२, संयुत्त में ७७६२ और अंगुत्तर में २३२२ हैं। इनके संग्रह की व्यवस्था में सुत्तन्तों के आकार का ध्यान रखा गया है। पर वे मिश्रित भी हो गये हैं। उनका पाठ करने वालों को 'भाणक' कहा जाता था। इस दृष्टि से सुत्तपिटक विनयपिटक से भी प्राचीन माना जा सकता है। यहां उपदेशों, संवादों, उक्तियों, गाथाओं कथानकों एवं धर्मनियमों का संग्रह हुआ है।

यहां सुत्त या सूत्र का यह अर्थ भी संभव है कि ये बुद्धवचन संसारियों के लिए संरक्षक के रूप में है जो उन्हें सांसारिक जाल से मुक्त कराने में सक्षम हैं। उनमें वस्तु प्रतिपत्ति और फल समाहित हैं।

सुत्तपिटक में बुद्धवचनों को उपमा, रूपक, कथा, गाथा आदि के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। साहित्यिक दृष्टि से भी इसका विशेष महत्त्व है। सील, समाधि और प्रज्ञा को स्पष्ट करते हुए यहां पटिच्च समुप्पाद और मज्झिम पटिपदा पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है। **'योनिसो मनसिकार'** की बात करते हुए दान, मानसिक एकाग्रता, समाधि और विपस्सना की साधना तथा अनिच्च, दुक्ख और अनत्त की भावना में गहराई लाने के साधनों पर भी तथागत बुद्ध ने यहां अपने विचार व्यक्त किये हैं। आसवक्खय-ञाण के लिए चतुरार्यसत्य की साधना को भी यहां आवश्यक माना गया है।

बुद्धवचनों को पांच निकायों में विभक्त किया गया। यहां निकाय शब्द मात्र थेरवादी परम्परा में स्वीकृत है। अन्य परम्पराएं 'आगम' शब्द का प्रयोग करती हैं। ये पांच निकाय हैं - दीघनिकाय, मज्झिम निकाय, संयुत्तनिकाय, अंगुत्तर निकाय और खुद्दकनिकाय। अंगुत्तर के स्थान पर एकुत्तर शब्द का भी प्रयोग हुआ है। संगीतियों के माध्यम से त्रिपिटक का संगायन हुआ और उन्हीं को 'बुद्धवचन' की संज्ञा दी गई। यहां वस्तुत: सूत्र शब्द का प्रयोग प्रवचन अर्थ में हुआ है। सूक्त अर्थ में भी उसका प्रयोग माना जा सकता है।

अ) दीघनिकाय

दीघनिकाय पर तीन टीकाएं हैं - सुमंगलविलासिनी, लीनत्थप्पकासिनी,

और सधुजनविलासिनी। वह तीन भागों में विभक्त है – सीलक्खन्धवग्ग, महावग्ग और पाथेय या पाथिकवग्ग। इनमें कुल मिलाकर दीर्घाकार ३४ सुत्त हैं – **चतुर्तिंसेव सुत्तन्ता, तिवग्गो यस्स संगहो।** १) सीलक्खवग्ग १–१३, २) महावग्ग १४–२३, ३) पाथिकवग्गो २४–३४– **एस दीघनिकायो ति. पठमो अनुलोमको।** इसी तरह इसमें ६४ भाणवार हैं। ३२ अक्षरों का एक अनुष्टुप छंद होता है और २२० छंदों का एक भाणवार होता है। एक भाणवार में ७०४२ (२२० X ३२) अक्षर होते हैं।

ये सुत्त किसी एक लेखक के लिखे हुए नहीं हैं जैसा फ्रेन्क ने माना है। उन्हें तो आकार के अनुसार न्यस्त किया गया है, कालक्रम के अनुसार नहीं। इन सभी का प्रारम्भ **"एवं मे सुतं, एकं समयं भगवा.. विहरति.."** से किया गया है और बाद में भाणक आदि के नाम आते हैं। इति वुत्तक में अवश्य कुछ अन्तर है। उसमें अन्त में प्रसन्नता और कृतज्ञता व्यक्त की जाती है। ब्रह्मजाल सुत्त में इसे **'वेय्याकरण'** कहा गया है। महापरिनिब्बाणसुत्त में कुछ अन्तर है। वहां सुत्तान्त में **"एवं एतं भूतपुब्बं ति"** आता है और बाद में गाथा आती है। इन सुत्तों में उपदेश, वाद-विवाद और विचार विमर्श मिलता है। वाद-विवाद के अन्त में 'शरणगमन' होता है और साथ ही धर्मान्तिरण भी। वादविवाद अधिकांशतः ब्राह्मण या अन्य मतावलम्बियों के साथ हुए हैं। सीलक्खन्धवग्ग के प्रारम्भिक तेरह सुत्तन्तों में इस प्रकार के वादविवाद का दृश्य मिलता है। सामञ्ञफलसुत्त का दूसरा भाग लगभग चार बार अन्य सुत्तों में पुनरावृत्त हुआ है, जैसे महालिसुत्त (क्र. ६), जालियसुत्त (क्र. ७), सुभसुत्त (क्र. १०), लोहिच्चसुत्त (क्र. १२) में।

इनमें स्थानों का भी नाम दिया हुआ है पर समय का उल्लेख नहीं है। श्रावस्ती में तो ७३६ सुत्तन्तों का उपदेश दिया गया। इन स्थानों में **'इन्दसाला'** का उल्लेख आता है जो कदाचित यह संकेत करता है कि इन सभी सुत्तन्तों का अनुस्मरण और एकत्रीकरण इन्द्रशाला नामक किसी गुफा में हुआ था (दीघ. नं. २१ सक्कपञ्हा)।

इन सुत्तों में संग्रहवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। महावग्ग के प्रारम्भ में **'महा'** शब्द यही द्योतित करता है। इन सभी में शील, समाधि और प्रज्ञा का उपदेश है। आकार की दृष्टि से दीघनिकाय में समानता नहीं है। सीलक्खन्ध के सभी सुत्त प्रायः गद्य में हैं, महावग्ग और पाथेयवग्ग के सुत्त गद्य-पद्य मिश्रित हैं। इन वग्गों में वाद-विवाद की पद्धति भी सिखाई गई है जिससे बौद्धधर्म के प्रति उठे प्रश्नों का उत्तर दिया जा सके (सोणदण्डसुत्त)। कुछ वग्गों में भगवान बुद्ध की जीवनी का निर्देश है। महानिदान सुत्त में पटिच्चसमुप्पाद का वर्णन है। महापदानसुत्तन्त में बुद्ध के छह पूर्ववर्ती बुद्धों का जीवन

वृत्तान्त हैं। महापरिनिब्बाणसुत्तन्त और महासुदस्सनसुत्तन्त बुद्ध के परिनिर्वाण की घटना को व्यक्त करते हैं। यहां वस्तुतः बुद्ध के साथ बौद्ध विनय समाप्त हो जाता है। सक्कपञ्हासुत्तन्त (क्र. २१) में शक्र बुद्ध के पास पहुंचने के पूर्व '**गन्धब्बपंचसिखा**' गीत भेजते हैं जो साहित्य की दृष्टि से बडा महत्त्वपूर्ण है। अम्बट्ठसुत्त और अग्गसुत्त में वर्णव्यवस्था का खण्डन किया गया है। सिंगालोवाद सुत्तन्त एक प्रकार से 'गिहिविनय' को प्रस्तुत करता है परिप्रश्नात्मक शैली में। आटानाटीयसुत्तन्त एक प्रकार का परित्त सुत्तन्त है। सारिपुत्त ने संगीति और दसुत्तरसुत्तन्त में धम्मतत्त्व को अंगुत्तर निकाय की विधा पर उपस्थित किया है। **संगीतिसुत्त** में निगण्ठ नातपुत्त के परिनिर्वाण की सूचना देते हुए बुद्ध संघ में धम्म संगायन की भूमिका का सुझाव भी यहां मिलता है।

दीघनिकाय के १) **सीलक्खन्धवग्ग** (१-१३) में ब्रह्मजालसुत्त विशेष महत्त्वपूर्ण है इस दृष्टि से कि उसमें प्राग्बुद्धकालीन भारतीय धार्मिक मत-मतान्तरों को ६२ मिथ्यादृष्टियों में विभाजितकर उनका खण्डन किया गया है और बुद्धोपदेश को ब्रह्मजाल अर्थात् श्रेष्ठजाल सिद्ध किया गया है। इसे अन्त में धर्मजाल, अर्थजाल, दृष्टिजाल, और लोकोत्तर संग्रामविजय की भी संज्ञा दी गई है। इन ६२ मिथ्यादृष्टियों में १८ मिथ्यादृष्टियां (शाश्वतवाद की चार, नित्यता-अनित्यतावाद की चार, सान्त-अनन्तवाद की चार, अमराविक्खेपवाद की चार तथा अकारणवाद की दो अपरान्त मिथ्यादृष्टियों से सम्बद्ध थीं। शेष ४४ मिथ्यादृष्टियां आत्मा और लोक के आदि सम्बन्धी (पूर्वान्त कल्पित) थीं। इन दृष्टियों में १६ हेतुओं के आधार पर कुछ श्रमण-ब्राह्मण यह मानते थे कि मरने के बाद भी आत्मा संज्ञी रहता है, कुछ ८ हेतुओं के आधार पर यह मानते थे कि मरने के बाद आत्मा असंज्ञी होता है, कुछ ८ हेतुओं के आधार पर यह मानते थे कि मरने के बाद आत्मा न संज्ञी न असंज्ञी रहता है, कुछ ७ हेतुओं के आधार पर यह मानते थे कि आत्मा का पूर्ण उच्छेद हो जाता है। ये उच्छेदवादी थे। कुछ ५ हेतुओं के आधार पर यह कहते थे कि इसी जन्म में निर्वाण या मोक्ष है। इन ४४ दृष्टियों को अपरान्तकल्पिक कहा जाता था। प्रसंगवश यहां सांस्कृतिक सामग्री भी आकलित है। क्रीडाप्रकार, होमप्रकार, कथाप्रकार, शिल्पप्रकार, उद्योगप्रकार, मनोरंजन प्रकार आदि का भी उल्लेख हुआ है।

सामञ्ञफलसुत्त में तत्कालीन निग्गण्ठ नातपुत्त आदि षड् तीर्थंकरों के मतों की समीक्षाकर बौद्धमत की स्थापना की गई और अजातशत्रु को बौद्धधर्म में दीक्षित बताया गया। अंबट्ठ, सोणदण्ड और कूटदन्त सुत्तों में जातिवाद का खण्डनकर ब्राह्मण का सही अर्थ समझाया। पोट्ठपादसुत्त में अव्याकृत धर्मों को स्पष्ट किया गया। तेविज्ज सुत्त के अनुसार स्वानुभूति और सत्य-साक्षात्कार के बिना वेदज्ञान व्यर्थ है। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना के द्वारा साधक ब्रह्मविहार में स्थित हो सकता है।

२) **महावग्ग** (१४-२३) के कुछ सुत्त पौराणिक चर्चा लिए हुए हैं। जैसे जनवसभ (१८), महागोविन्दसुत्त (१९) महासमय (२०), सक्कपञ्ह (२१) सुत्त। इन सुत्तों में इन्द्र, ब्रह्मा, यक्ष, गन्धर्व आदि विशिष्ट शक्ति सम्पन्न देवता बुद्ध के चरणों में प्रणाम करते दिखाई देते हैं। बौद्धधर्म-दर्शन की दृष्टि से महावग्ग के महानिदान सुत्त (१५) और **महासतिपट्ठानसुत्त** (२२) विशेष उल्लेखनीय हैं। इसका **महापरिनिब्बाणसुत्त** (१६) इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें बुद्ध के निर्वाण के तीन माह पूर्व की घटनाओं का वर्णन है।

यहां दस सुत्तों में से सात सुत्तों में 'महा' विशेषण का प्रयोग हुआ है। विनयपिटक में प्रथम ग्रन्थ भाग का नाम ही 'महावग्ग' है। दीघनिकाय का महावग्ग भाग इतिहास और दर्शन की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। महासतिपट्ठानसुत्त तो कहीं-कहीं इतना लोकप्रिय हुआ कि वहां स्वर्णपत्रों पर उसे उत्कीर्ण कर दिया गया। **महापदानसुत्त** में विपस्सी आदि छह बुद्धों का आख्यान है। जनवसभ, महागोविन्द, महासमय और सक्कपञ्ह पौराणिक सुत्त हैं। इनमें जातक कथाओं का वर्णन है और इन्द्र द्वारा बुद्ध की स्तुति प्रस्तुत है। महानिदान और महासतिपट्ठान सुत्त बौद्धधर्म के आष्टांगिक मार्ग और प्रतीत्य समुत्पाद की सुन्दर व्याख्या उपस्थित करते हैं। महापरिनिब्बाणसुत्त तथागत के अन्तिम जीवन का परिदृश्य प्रस्तुत करता है। इसमें भगवान की यात्रा राजगृह से प्रारंभ होकर पाटलिपुत्र, वैशाली, मण्डग्राम, हस्तिग्राम, भोगनगर, पावा, कुसीनारा तक की यात्रा का वर्णन है। पावा में चुन्द नामक कम्मारपुत्र के द्वारा भक्तिभावपूर्वक प्रदत्त 'सूकरमद्दव' का प्रसंग यहीं मिलता है। पायासिसुत्त में पायासि राजन्य और बुद्धशिष्य कुमारकश्यप के बीच संवाद है।

दीघनिकाय के ३) **पाथिक वग्ग** (२४-३४) में ११ सुत्त हैं। इनमें संगीतिसुत्त (३३), और दसुत्तरसुत्त (३४) का विषय संख्यात्मक है अंगुत्तरनिकाय जैसा। सिगालोवादसुत्त (३१) में गृहस्थ धर्म का उपदेश है। आटानाटियसुत्त (३१) में भी गृहस्थधर्म का उपदेश है। आटानाटियसुत्त (३२) को रक्षामन्त्र कहा जा सकता है। लक्खणसुत्त (३०) में महापुरुष के ३२ लक्षणों का वर्णन है। चक्कवत्ति सुत्त (२६) पुराणवादी है जिसमें मनुष्य की आयु ८०००० वर्ष होने की बात कही है। इस वग्ग में पासादिक सुत्त (२९) और संगीतिसुत्त (३३) ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें पावा में निग्गंठनातपुत्त के परिनिर्वाण हो जाने का प्रसंग उल्लिखित है। संगीतिसुत्त पर सर्वास्तिवादी दीर्घागम में संगीति पर्याय नामक टीका मिलती है। अग्गञ्ञसुत्त (२७) में वर्णव्यवस्था का खण्डन हुआ है। पाथिकसुत्त (२४) में लिच्छवि पुत्र सुनक्षत्र के बौद्धधर्म छोड़ने का प्रसंग है क्योंकि उसे बुद्ध ने ऋद्धिशिक्षा नहीं दी। उदुम्बरिक सुत्त (२५) में मिथ्यातप का खण्डन किया गया और सम्पसादनिय सुत्त (२८) में परमज्ञान के क्षेत्र में बुद्ध को अतुलनीय माना गया है।

इस पाथिकवग्ग में इतिहास की दृष्टि से दो सुत्त विशेष महत्त्वपूर्ण हैं - **पासादिक और संगीतिसुत्त**। इनमें कुसीनगर के समीपवर्ती पावा नगर में तीर्थंकर निगण्ठ नातपुत्त का परिनिर्वाण हो जाने के बाद उनके संघ में कलह का परिदृश्य प्रस्तुत किया गया है और यह स्थिति बुद्ध संघ में भी न हो इस आशंका को दूर करने के लिए संगीति आहूत करने की ओर संकेत दिया गया है। हम जानते हैं कि स्थविरवाद में १८ सम्प्रदायों का जन्म कालान्तर में हुआ। देवदत्त के प्रकरण भी इसी से जुडे हुए हैं।

इन सुत्तों पर विचार करते समय लगता है, इनका संकलन कालक्रमानुसार नहीं हुआ है पर बुद्धवचनों की दृष्टि से वे प्रामाणिक हैं। चीनी भाषा में भी लगभग यही रूप दीघनिकाय का मिलता है। इस दृष्टि से महावग्ग में मौलिक बुद्धवचन होने की संभावना अधिक है। इसमें दीर्घतम सुत्त हैं। प्रथम भाग में भी प्राचीन तत्त्व संनिहित हैं। तृतीय भाग में उत्तरकालीन परम्परा के दर्शन अधिक होते हैं। ये भाग गद्य-पद्य मिश्रित हैं। अनेक कालों में इनका संकलन हुआ है। एक ओर बुद्ध मानव के रूप में चित्रित हैं तो दूसरी ओर वे ऐन्द्रजालक दिखाई देते हैं। निश्चित ही ऐसे प्रकरण बाद में भक्तों द्वारा जोडे गये हैं। यह दीघनिकाय न तो सुसम्बद्ध साहित्यिक कृति है और न ही किसी एक के द्वारा संकलित है।

दी.नि. के **आटानाटीय सुत्त** में मण्डल का उल्लेख है जिसने तान्त्रिक परम्परा को जन्म दिया है। पासादिक सुत्त में जैन परम्परा का उल्लेख है। संगीतिसुत्त में अंगुत्तरनिकाय और अभिधम्म के दर्शन होते हैं।

महानिदानसुत्त में प्रतीत्य समुत्पाद की व्याख्या है। जनवसभसुत्त जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का स्मरण कराता है। महासतिपट्ठानसुत्त विपस्सना का आधार है। पातिकसुत्त में चमत्कारों का प्रदर्शन है। लक्खण सुत्त में महापुरुष के लक्षणों का वर्णन है। सर्वास्तिवादी दीर्घागम से इसकी तुलना की जा सकती है।

चीनी दीर्घागम में मात्र ३० सूत्र हैं, ३४ नहीं। फिर भी उनका विषय यत्र तत्र मिल जाता है। क्रम में एकरूपता नहीं है। विद्वानों ने इसे धर्मगुप्त सम्प्रदाय का माना है। इसका अनुवादक बुद्धयश भी उसी सम्प्रदाय का था। यह वेय्याकरण का रूप है। पालि दीघनिकाय में भी प्राचीनता की दृष्टि से अनेक स्तर अन्वेषित हुए हैं। सामञ्ञफल सुत्त उसका एक उदाहरण है। संगीति, दसुत्तर जैसे और भी सुत्त उल्लेखनीय हैं। सुत्त २ और १३ अधिक प्राचीन माने गये हैं।

ब) मज्झिमनिकाय

मज्झिमनिकाय मध्यम आकार के सुत्तों का संग्रह है जो तात्कालिक

सांस्कृतिक सामग्री से आपूर है। इस पर पपंचसूदनी और लीनत्थप्पकासिनी नाम की अट्ठकथाएं हैं। म.नि. में ८० भाणवार हैं और १५२ सुत्त हैं। ये सुत्त तीन भागों में विभक्त हैं - १) मूलपण्णास - १-५०; २) मज्झिम पण्णास - ५१-१००, और उपरि पण्णास - १०१-१५२- **दियसतसुत्तन्ता, द्वे च सुत्तानि यत्थ सो। निकायो मज्झिमो पंच, दसवग्ग परिग्गहो।** इन्हें चूल और महाचूल में भी विभाजित किया गया है। इन सुत्तों में से १३१-१३४ क्रम संख्या वाले सुत्तन्तों की चार बार पुनरावृत्ति हुई है। वे हैं - भद्देकरत्त सुत्तन्त (सावत्थी), आनन्द भद्देकरत्त सुत्तन्त (सावत्थी), महकच्चान भद्देकरत्तन्त सुत्तन्त (राजगह) और लोमसकंगीय भद्देकरत्तसुत्तन्त (कपिलवत्थु)। पुराणाचार्यों ने इस संदर्भ में कहा है -

असीतिपदसहस्सनि, भिय्यो पञ्चसतानि च।
पुन तेवीसति वुत्ता, पदमेवं ववत्थित न्ति।।

प्रथम सुत्तन्त का उपदेश बुद्ध ने स्वयं दिया जिसमें चार गाथाओं में उद्देस और विभंग दिया गया है। प्रथम सुत्तन्त १) मूलपण्णासक (१.५०) में पांच वग्ग हैं जिनमें प्रथम मूलपरियायवग्ग (१-१०) के मूलपरियायसुत्त में बुद्ध के अनात्मवाद और अनासक्तिवाद जैसे मूल उपदेशों का वर्णन है। आश्रव के कारण और उन कारणों को दूर करने के उपायों पर भी "सब्बासवसुत्त" में विचार किया गया है। इसके सतिपट्ठानसुत्त (१०) का विषय दीघनिकाय के महासतिपट्ठानसुत्त में भी मिलता है। आकंखेय्यसुत्त (६) में पातिमोक्ख दिया हुआ है। वत्थुपमसुत्त (७) में चित्त की निर्मलता को स्पष्ट किया गया है जो नदियों के स्नानादि से प्राप्त नहीं होता। इन सुत्तों में पारस्परिक सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। पालि और चीनी संस्करणों में इतना अन्तर दिखाई देता है कि उनकी प्रामाणिकता पर सन्देह उत्पन्न होने लगता है।

सीहनादवग्ग (११-२०), ओपम्मवग्ग (२१-३०), महायमकवग्ग (३१-४०), चूलयमकवग्ग (४१-५०) ये मूलपण्णासवग्ग के अन्य वग्ग हैं। दूसरे मज्झिमपण्णास में ५१-१०० सुत्त हैं जो गहपतिवग्ग (५१-६०), भिक्खुवग्ग (६१-७०), परिब्बाजकवग्ग (७१-८०), राजवग्ग (८१-९०), ब्राह्मणवग्ग (९१-१००) में विभाजित हैं। तीसरे उपरिपण्णास (१०१-१५२) में देवदहवग्ग (१०१-११०), अनुपदवग्ग (१११-१२०), सुञ्ञतावग्ग (१२१-१३०), विभंगवग्ग (१३१-१४२) और सळायतनवग्ग (१४३-१५२) हैं। इनमें विविध विषयों की जानकारी मिलती है।

दीघनिकाय के सुत्तों की अपेक्षा मज्झिमनिकाय के सुत्त निश्चित रूप से अल्पकायिक हैं। ये सुत्त स्वतन्त्र और स्वयंपूर्ण हैं, विविधता लिये हुए हैं। इनमें बौद्धधर्म के चतुरार्यसत्य, अनातमवाद, ध्यान प्रकार, निर्वाण आदि विषयों का सुन्दर विवेचन मिलता है। विषय को स्पष्ट करने के लिए कथायें, उपमायें और रूपकों का प्रयोग हुआ है, पौराणिक और काल्पनिक कथाओं का सहयोग लिया गया है। महामोग्गलान और

सारिपुत्त के जीवन दृश्यों के साथ ये तथ्य जुडे हुए हैं। लिच्छविपुत्र सुनक्षत्र को बुद्ध की निंदा करने पर भला-बुरा कहा गया और बुद्ध को दस बल तथा चार वैशारद्यों का धारी कहा, ब्रह्मदेव की अपेक्षा श्रेष्ठ व सामर्थ्यवान् बताया।

इसी तरह उपरिपण्णासक, अच्छरिय-अब्भुतसुत्त भी उत्तरकालीन हैं। प्राचीन पाली ग्रन्थों में बुद्ध का मानव रूप मिलता है पर यहां बुद्ध के **अद्भुतधर्म** में लोकोत्तरवादी तत्त्वों का समावेश है। सांची के उत्कीर्ण लेखों में पंचनेकायिक, पेटकी जैसे विशेषणों का प्रयोग हुआ है। अत: पंचनिकायों की रचना शुंग काल के पूर्व (लगभग दूसरी शती ई.पू.) होनी चाहिए। अशोक के भाब्रू शिलालेख में महा राहुलोवाद सुत्त (क्र. ७२) का उल्लेख है। अत: यह कहा जा सकता है कि मूल परियाय और मज्झिम पण्णासक (५१-१००) अशोक के पूर्व तैयार हो चुके होंगे। डॉ. गोविन्दचंद पाण्डेय के अनुसार सुत्त क्रम. ७,१७,२४,२६,२९,६१,६३,७१, १०८ व १४०, १४४ व १५२ प्राचीन हैं और शेष सुत्त उत्तरकालीन हैं या मिश्रित रूप लिये हुए हैं। इनमें ऐसे सुत्त भी हैं जिन्हें सारिपुत्त और महाकच्चायन आदि जैसे बुद्ध के शिष्यों द्वारा उक्त हैं। माधुरिय और घोटक मुख आदि ऐसे भी सुत्त हैं जो बुद्ध परिनिर्वाण के पश्चात् उनके शिष्यों द्वारा कहे गये हैं। बुद्ध ने बोधिप्राप्ति के पूर्व कितने कष्ट सहे इसका वर्णन वे स्वयं अरियपरियेसन सुत्त, पासरासिसुत्त, महासच्चकसुत्त में करते हैं। मानवीय समता के सन्दर्भ में ब्राह्मणवग्ग (क्र. ९१-१००) में अस्सलायन सुत्त (९३), एसुकारी सुत्त (९६), वासेट्ठसुत्त (९८) में ब्राह्मणवर्ण की श्रेष्ठता का खण्डन किया गया और मधुरसुत्त (८४) में बुद्ध निर्वाण के बाद महाकात्यायन ने मथुरा के अवन्तीपुत्र से कहा गया कि चारों वर्ण समान हैं। दीघनिकाय के अम्बट्ठसुत्त में भी यही विषय वर्णित है। यह मधुरसुत्त स्पष्टत: उत्तरकालीन है। इसमें कहा गया है - **परिनिब्बुतो खो महाराज, एतरहिसो भगवा अरहं सम्मासंबुद्धो**। घोटमुख सुत्त (९४) में उदयन घोटमुख ब्राह्मण को उपदेश देता है और उसे बुद्ध की शरण में जाने के लिए कहता है। उदयन कहता है कि बुद्ध परिनिर्वृत हो गये। किन्ति सुत्त, सामगामसुत्त, दक्खिविभंगसुत्त, बालपंडितसुत्त, चूलकम्मविभंगसुत्त भी कदाचित् उत्तरकालीन हैं।

धातुविभंगसुत्त (विभंगवग्ग) में ऐसे पुक्कुसाति भिक्षु का वर्णन है जो मूलत: किसी अन्य सम्प्रदाय का था पर बुद्ध ने उसे उपसंपदा दी और तुरन्त ही उसका निर्वाण हो गया। छन्नोवादानसुत्तन्त (सळायतनवग्ग, क्र. १४४) में छन्द नामक भिक्षु अपनी बीमारी के कारण आत्महत्या करने का प्रयत्न करता है। बुद्ध ने इसे युक्तिसंगत बताते हुए कहा कि आत्महत्या करना पाप नहीं है बशर्तें साधक की तृष्णा समाप्त हो जाये। यह सिद्धान्त जैनधर्म की संलेखना से मिलता जुलता है। कन्दकसुत्त, उपालिसुत्त तथा अभय राजकुमार सुत्त में निगण्ठ नातसुत्त के सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। कुछ सुत्तों में

तगागत बुद्ध की वैयक्तिक स्मृतियां प्रतिबिम्बित हैं। जैसे अरियपरियेसनसुत्तन्त में बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण एवं अभिसंबोधि प्राप्ति का वर्णन है। धर्मचक्र प्रवर्तन का भी वर्णन है। इसमें ऐन्द्रिय विषयों को पाश कहा गया है इसलिए अट्ठकथा में इसका नाम पासरासिसुत्त दिया हुआ है। यहीं बुद्ध के शिक्षक आलारकालाम और उद्दकरामपुत्त का भी उल्लेख है। इसी तरह महासच्चकसुत्तन्त (क्र. ३६) में बोधिसत्त्व के उस ध्यान का वर्णन है जिसे बाल्यावस्था में उन्होंने जंबूवृक्ष के नीचे बैठकर किया था। इसमें काया की साधना के ऊपर मन की साधना की स्थापना की गई है। अच्छरियब्भुतधम्मसुत्त (क्र. १२३) में बुद्ध का जन्म कहां और कैसे हुआ इसका वर्णन मिलता है।

मज्झिमनिकाय में **विनय सामग्री** भी संग्रहीत हुई है। उदाहरणार्थ सामगामसुत्त (क्र. १०४) में बुद्ध का आनन्द के साथ संलाप, संघ में शान्ति सम्बन्धी उपदेश, निग्गण्ठ नातपुत्त की निर्वाणप्राप्ति की सूचना है, महाराहुलोवादसुत्त (क्र. ६२) में राहुल को आनापानसति और अशुभ भावना के अभ्यास का उपदेश, महावच्छगोत्तसुत्त (क्र. ७७) में सकुलदायि परिव्राजक को उपदेश, कन्दरकसुत्त (क्र. ५१) में आत्म निर्यातन के विरुद्ध प्रवचन, धानंजानिसुत्त (क्र. ९७) में धर्मसेनापति सारिपुत्त का धानंजानि ब्राह्मण को उपदेश दिया गया है।

पियजातिकसुत्त (क्र. ८७), धम्मचेतियसुत्त (क्र. ८९) तथा कण्णकत्थलसुत्त (क्र. ९०) में तत्कालीन प्रसेनजित आदि राजाओं का वर्णन है। मागन्दियसुत्त (क्र. ७५) में आयुर्वेद का वर्णन है जिसमें ऊर्ध्व विरेचन, अधोविरेचन आदि का उल्लेख है। बाहितिक सुत्त (क्र. ८८) में बाहित देश में निर्मित महीन कपडे का उल्लेख है। उपालिसुत्त (क्र. ५६) में रंगने की कला का निर्देश है और निग्गण्ठनातपुत्त के चातुर्यामसुत्त का वर्णन है जिसका सम्बन्ध वस्तुतः पार्श्वनाथ परम्परा से है ।।

मज्झिम निकाय का कथाभाग बडा महत्त्वपूर्ण है। उदाहरण के तौर पर रट्ठपालसुत्त (८२) में रट्ठपाल कथा अत्यन्त मनोरंजक है, सरस है जिसमें रट्ठपाल भिक्षु बनने की अनुमति पाने के लिए अनशन करता है। थेरगाथा में भी इसका वर्णन है (७८७)। इसी तरह की कथाएं मखादेव सुत्त (८३) में मखादेव की कथा और अंगुलिमालसुत्त (८६) में अंगुलिमाल कथा भी पायी जाती है।

मज्झिमनिकाय प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक सामग्री की दृष्टि से महासमुद्र है। इसमें बुद्ध धर्मप्रचार के लिए अंग, बंग, योन, कंबोज, भग्ग, काशी, कुरु, कोशल, विदेह, मगध, वैशाली, चम्पा, पाटलिपुत्र, कपिलवस्तु, राजगृह, नालन्दा, श्रावस्ती, कौशाम्बी, वाराणसी आदि देशों और स्थलों का वर्णन है। ब्रह्मायु, शैल, अश्वलायन, घोटमुख, वासेट्ठ, भारद्वाज आदि ब्राह्मणिक समुदाय तथागत बुद्ध का अनुदाय बनता दिखाई देता है जो बुद्ध की लोकप्रियता को व्यक्त करता है। यहां अग्गिवच्छगोत्त,

दीघनख, सन्दक, सकुलादयी, वैखानस आदि परिव्राजकों का वर्णन है। कन्दरकसुत्त, उपालिसुत्त और अभयराजकुमारसुत्त निगण्ठनातपुत्त के सिद्धान्तों का वर्णन करते हैं, साथ ही परिवाद भी। पर नगरविन्देय्यसुत्त में कौन श्रमण-ब्राह्मण समादरणीय हैं इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि वीतरागी, वीतद्वेषी और वीतमोही श्रमण - ब्राह्मण ही समादरणीय हैं जिनमें निगण्ठनातपुत्त संमिलित हैं। कदाचित् यह सुझाव उन्हीं को सम्मान देने के लिये किया गया है। इसी तरह पासरासिसुत्त, बोधिराजकुमारसुत्त और महासच्चकसुत्त में तथागत बुद्ध की आत्मकथा समाहित है। पियजातकसुत्त, धम्मचेतियसुत्त, तथा कण्णकत्थलसुत्त तत्कालीन भूपतियों का वर्णन करते हैं। इन सारी दृष्टियों से मज्झिम निकाए एक महत्त्वपूर्ण पालि ग्रन्थ है।

मज्झिमनिकाय और मध्यमागम

मज्झिमनिकाय और सर्वास्तिवादी मध्यमागम की तुलना दृष्टव्य है। इस दिशा में भिक्षु Thich Minh Chau ने प्रशंसनीय कार्य किया है। चीनी मध्यमागम में २२२ सूत्र हैं जो १८ वर्गों में विभक्त हैं। पालि मज्झिमनिकाय में १५२ सुत्त हैं और वे १५ वग्गों में विभक्त हैं। ९८ पालि सुत्तों की चीनी आगम के सूत्रों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया जिनमें ४५ सूत्र बिलकुल समान हैं, १५ लगभग समान है और ३८ सूत्र बिलकुल भिन्न हैं। इनकी **विशेषताएं** इस प्रकार दृष्टव्य हैं -

१) थेरवादी निकाय पालि में है जबकि अन्य आगम प्राकृत या संस्कृत में हैं। नागार्जुनीकोण्डा के शिलालेख में अपरशिल एवं अन्धक सम्प्रदायों के दीघ, मज्झिम और संयुत्तनिकाय का उल्लेख है जो प्राकृत में था। सर्वास्तिवादी आगम संस्कृत में है। इन सभी में गहरी समानता दिखाई देती है। डॉ. वापट के अनुसार चीनी आगम मूलतः प्राकृत में था जो बाद में संस्कृत में परिवर्तित हुआ।

२) महाकश्यप को सर्वा. आगम में प्रमुख आचार्य माना गया है जबकि थेरवाद में सारिपुत्त को प्रमुख स्थान मिला है। मोग्गल्लान को भी। चीनी मन्दिरों में बुद्ध मूर्तियों के अगल-बगल में महाकस्सप और आनन्द की मूर्तियां लगी रहती हैं, सारिपुत्त और मोग्गल्लान की नहीं।

३) पालि निकाय नवांगों में विभाजित है तो सर्वास्तिवादी आगम बारह अंगों में। महासांघिकों ने भी इसी का अनुकरण किया है। निदान, अवदान और उपदेश भी यहां संमिलित हो गये हैं।

४) चीनी आगम में उपलब्ध बौद्ध शिक्षाएं सर्वास्तिवादी अभिधर्म शास्त्र में भी उपलब्ध हैं, जैसे - चीनी सूत्रों में चार मार्ग निर्दिष्ट हैं - प्रतिपन्नक अर्हत्, प्रतिपन्नक अनागामी, प्रतिपन्नक सकृदागामी, और प्रतिपन्नक श्रोतापन्नक, अभिधर्मकोश, अध्याय छह में भी ऐसा ही वर्णन उपलब्ध है। धातु, शेख, अशेख भी समान हैं।

५) अर्हत् भी अर्हदावस्था से पतित हो सकते हैं।

६) ब्रह्मविहार के परिपालन में थेरवाद की अपेक्षा चीनी आगम में गहराई अधिक है।

७) थेरवादी परम्परा में **'आमकमांसपटिग्गहणा पटिविरतो'** कहा जाता है जबकि चीनी आगमों में मांसभक्षण पूर्णतः निषिद्ध है। जीवकसुत्त और लंकावतारसूत्र इसके क्रमशः उदाहरण हैं।

८) चमत्कारी तत्त्व पालि की अपेक्षा चीनी आगमों में अधिक हैं जो स्वयं उन्हें उत्तरकालीन सिद्ध करते हैं। यह एक महायानी तत्त्व है।

इस प्रकार की और भी अनेक समानताएं और असमानताएं मूल थेरवाद और सर्वास्तिवाद में स्थापित हैं। बुद्धघोष की यह मान्यता है कि थेरवादी परम्परा में बुद्ध के मूल वचन संग्रहीत हैं। आधुनिक विद्वान इसे स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि मूल तो नष्ट हो गया पर उसी मूल पर आधारित उपलब्ध आगम हैं। इसके बावजूद वर्तमान में उपलब्ध आगमों और पालि निकाय ग्रन्थों में बहुत कुछ ऐसा भाग है जो निकाल दिया गया है या जोड दिया गया है। डॉ. नलिनाश्य दत्त की यह मान्यता अधिक तथ्यसंगत है। इसे हम पालि निकाय की विकासगाथा कह सकते हैं।

स) संयुत्त निकाय

इसमें २८८९ सुत्त हैं जिन्हें पांच वग्गों में विभक्त किया गया है। पालि टेक्स्ट सोसायटी के सम्पादक ने इसमें २८८९ उपदेशों की संख्या बतायी, भिक्खुबोधि ने २९०४ और अट्ठकथाओं में ७७८२ की संख्या दी। वर्मी और सिंहली संस्करणों में क्रमशः २८५४ और ७६५६ संख्या बतायी और स्वयं ने उनकी संख्या ६६९६ निर्धारित की। थाई संस्करणों में यह संख्या निश्चित नहीं है। काश्यपीय, सर्वास्तिवादी और थेरवादी संयुक्तनिकाय की तुलना की जा सकती है।

संयुत्त निकाय दीर्घ और मध्यम आकार के सुत्तों का संग्रह है। इस पर दो अट्ठकथाएं मिलती हैं - सारत्थप्पकासिनी और लीनत्थप्पकासिनी। यह निकाय पांच भागों में विभक्त है - १) सगाथवग्ग - जिसमें ११ संयुत्त हैं, २) निदानवग्ग - जिसमें १० संयुत्त हैं, ३) खन्धवग्ग जिसमें १३ संयुत्त हैं, ४) सळायतनवग्ग जिसमें १० संयुत्त हैं, ५) महावग्ग जिसमें १२ संयुत्त हैं -

सत्तसुत्तसहस्सानि, सत्तसुत्तसतानिच।
द्वासट्ठि चेव सुत्तन्ता, एसो संयुत्तसंगहो ।

इन सुत्तों की संख्या परम्परा की दृष्टि से ७७६२ है - **सत्तसुत्तसहस्स-सत्तसतद्वासट्ठिसुत्तसंगहो संयुत्त-निकायो** (अट्ठसालिनी, पृ. ४६)। परन्तु इतने सुत्त कहीं नहीं मिलते। गायगर ने प्राप्त सभी सुत्तों की संख्या २८८९ मानी है, भिक्षु जगदीश कश्यप ने देवनागरी संस्करण में २९४१ सुत्तों का संकलन किया है। सिंहली और वर्मी तथा इंगतपुरी संस्करण भी लगभग ऐसे ही हैं। हिन्दी अनुदित भागों में यह संख्या २४३१ है। सुत्तों की संख्या में इस अन्तर का कारण यह रहा है कि मुख्य विषयों पर यथासमय विवेचन पूर्ण सुत्त के रूप में कर दिया गया। यह स्थिति प्रथम दो निकायों से भिन्न है। इसमें उद्धरणों की पुनरावृत्ति अधिक नहीं है बल्कि उन्हें संकीर्ण कर दिया गया है। इन सुत्तों में अधिकांश सुत्तों का सम्बन्ध श्रावस्ती से रहा है।

इन सुत्तों का विभाजन विषयानुसार नहीं है। उदारहण के तौर पर देवता संयुत्त में देवताओं के वचनों का संग्रह अवश्य है पर उनके विषयों में कोई तारतम्य नहीं है। मारसंयुत्त और भिक्षुणीसंयुत्त में मार विषयक दन्तकथायें हैं जिनमें मार बुद्ध और उनके शिष्यों को असफल रूप से पथभ्रष्ट करता दिखाई देता है। निदानसंयुत्त में पुनरुक्ति अधिक है और प्रतीत्यसमुत्पाद का वर्णन है। खन्धवग्ग में पंचस्कन्धों का वर्णन है कदाचित् पिटक में यह पृथम बार पद्धतिबद्ध विवेचन हुआ है। दी.नि. और म.नि. से यह विवेचन अलग है। इसका उपदेश कथात्मक नहीं है। अनमतग्ग संयुत्त में संसार की उत्पत्ति कैसे हुई इसका वर्णन है। कस्सप और सारिपुत्त संयुत्त में उनके प्रवचनों का संग्रह है और नागसुत्त में नागों की विविध जातियों का उल्लेख है। आगे के सुत्तों में बुद्ध के प्रवचनों का संग्रह अधिक है। सक्कसंयुत में इन्द्र को वृत्रहन्ता कहा है और बुद्धानुयायियों को आत्मसंयमी और शान्त माना है। सच्चसंयुत्त में आर्यसत्य आदि का वर्णन है और यहीं धम्मचक्कपवत्तन की कथा भी है। विन्टरनिट्ज ने इस सुत्तों को तीन भागों में विभाजित किया है - १) बौद्धधर्म के विवेचन सुत्त, जैसे बोज्झंगसुत्त, सच्चसंयुत्त, २) मनुष्य, देवता और यक्ष से संबद्ध, और ३) वैयक्तिक प्रवचनकार सारिपुत्तसंयुत्त, मोग्गलान संयुत्त आदि।

संयुत्तनिकाय के कतिपय सुत्तों में पुनरुक्ति बहुत है। जैसे सळायतन संयुत्त (३५) में बार-बार षडायतनों को नाशवान् और दुःखदायक बताया गया है। यह कदाचित् इसलिए भी हो सकता है कि व्यक्ति को पुनः पुनः इस तथ्य का स्मरण कराया जाये ताकि वह सांसारिक विषय वासना से दूर हो सके। दूसरी बात यह भी हो सकती है कि इन सुत्तों का प्रवचन करने वाले भिन्न-भिन्न रहे हों।

इन सुत्तों की विषयवस्तु पर भी हम दृष्टिपात कर लें। सगाथवग्ग में कहीं मात्र गाथाएं हैं तो कहीं गद्य-पद्य मिश्रित चम्पू शैली दिखाई देती है। जैसे - देवता, देवपुत्त, ब्राह्मण संयुत्त आदि। देवता संयुत्त में देवताओं ने कामवासना, विजय, पुनर्जन्म, मिथ्यादृष्टिवाद आदि विषयों पर बुद्ध से प्रश्नात्मक पद्धति से विचार किया। देवपुत्त संयुत्त में देवों के प्रश्नों का उत्तर देते हुए बुद्ध ने क्राधादि से दूर रहने का उपदेश दिया। कोसलसंयुत्त में कहा गया है कि प्रसेनजित पहले बावरि नामक ब्राह्मण का शिष्य था बाद में बुद्ध का उपासक बन गया। काशी-प्राप्ति के लिए प्रसेनजित और अजातशत्रु में युद्ध हुआ और प्रसेनजित ने अजातशत्रु को पराजित कर मगध पर अधिकार कर लिया। और फिर अपनी पुत्री वज्रा का उससे विवाह कर उसे वापिस कर दिया। मारसंयुत्त काव्यात्मक दृष्टि से काव्य जैसा दिखाई देता है। उत्पल वर्णा, वज्रा आदि भिक्षुणिओं ने मार को किस तरह पराजित किया, इसका सुन्दर वर्णन है ।उदाहरणार्थ -

सुपुप्फितग्गं उपगम्मं भिक्खुनि, एका तुवं तिट्ठसि सालमुलं।
न चत्थि ते दुतिया वण्णधातु, बाले न त्वं भायसि धुत्तिकानं।

ब्रह्मासंयुत्त में ब्रह्मदेव ने बुद्ध से धर्मचक्रप्रवर्तन की प्रार्थना की और कहा कि सभी लोक इन्द्रिय विषयों में मग्न नहीं हैं। कुछ पापभीरु भी हैं। उनके लिए उपदेश दीजिए। बुद्ध ने इसे स्वीकार किया और धर्मचक्रप्रवर्तन के लिए वाराणसी की ओर निकल पडे। ब्राह्मणसंयुत्त में भारद्वाजब्राह्मण की बौद्धधर्मान्तरणकथा दी है, बंगीससुत्त भावनाप्रधान है जिसमें बंगीश भिक्षु कामवासना से त्रस्त होकर किस प्रकार उस पर विजय प्राप्त करता है, इसका वर्णन है। वनसंयुत्त में वनदेवता पथभ्रष्ट भिक्षुओं को सत्पथ पर लाता हुआ दिखाई देता है। यक्ष संयुत्त में नाटकीय तत्त्व दिखाई देता है। तदनुसार स्त्रियों पर बुद्ध के प्रवचन का इतना असर पड़ता है कि वे उसे सुनने के लिए लालायित रहती हैं। यक्ष भी बुद्ध से अनेक प्रकार के प्रश्न करता है जिनका समाधान उसे बुद्ध से मिल जाता है। फलतः वह उनका अनुयायी हो जाता है। महाभारत में भी इसी प्रकार यक्ष युधिष्ठिर से प्रश्न करता दिखाई देता है। सतिपट्ठानसुत्त में स्वयं बुद्ध का शरीर जर्जर होता हुआ बताया गया है जिसे बुद्ध ने शरीर का स्वभाव कहा है। यहां बुद्ध का मानवीय रूप उद्घाटित हुआ है। भिक्खु संयुत्त में भिक्षुविनय को स्पष्ट करते समय बुद्ध ने चुन्द से

सुना कि सारिपुत्र का परिनिर्वाण हो गया है। यह सुनकर वे बड़े दुःखी हुए और अत्तदीप, अत्तसरण होकर धम्मदीप धम्मसरण होने की बात कही। उक्करचेलसंयुत्त में मोग्गल्लान के परिनिर्वाण का समाचार सुनकर बुद्ध दुःखी हुए और संघ को धम्मसरण और अनन्यशरण होने का उपदेश दिया। खन्धसंयुत्त में तत्कालीन षट्तीर्थिकों का वर्णन है। सुन्दरिक भारद्वाजसुत्त में ब्राह्मणीयज्ञ की जगह ज्ञानयज्ञ करने की प्रेरणा दी गई है। यहां जाति-जन्म की अपेक्षा चारित्र पक्ष को अधिक महत्त्व दिया गया है। भिक्खु संयुत्त में सूचना मिलती है कि कौशाम्बिक भिक्षुओं के दुर्व्यवहार के कारण तथागत पांच चीवर लेकर एकान्तवास में चले गये। यहां प्रत्येकबुद्धत्व के बीज भी दिखायी देते हैं जो अर्हदावस्था से बढ़ा है।

संयुत्तनिकाय बौद्धकालीन भारतीय इतिहास, भूगोल और संस्कृति की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। प्रसेनजित, अजातशत्रु, उदयन, पिण्डोल भारद्वाज आदि का वर्णन है। इसी सुत्त में नेरंजरा, गंगा, यमुना आदि नदियों का, मगध में गिरिव्रज पर्वत का, राजगृह में वेळुवन का, सुंसुमारगिरि पर मेसकलावन का, वैशाली के समीपवर्ती महावन का, देवदह, कपिलवस्तु, साकेत, श्रत्वस्ती, राजगृह, न्यग्रोधाराम (कपिलवस्तु), कुक्कुटाराम (पाटलिपुत्र) आदि का सुन्दर वर्णन है।

पुनरुक्ति भी यहां हुई है। संयुत्तनिकाय का धम्मचक्कपवत्तन सुत्त विनयपिटक के महावग्ग से मिलता जुलता है। इसी तरह बुद्धकालीन आचार्यों का वर्णन दीघनिकाय मज्झिमनिकाय में भी आया है। उक्काचेल सुत्त में बुद्ध के प्रमुख शिष्य मोग्गल्लान के निधन की सूचना मिलती है। आगे सारिपुत्त का भी परिनिर्वाण बताया गया है। सुन्दरिक भारद्वाज सुत्त में इस परम्परा का उल्लेख है।

संयुत्तनिकाय में ऐसे भी सुत्त हैं जिन्हें म.नि., दी.नि. और अं.नि. के सुत्तों से सबद्ध किया जा सकता है। जैसे चित्तसभूतसुत्त (४.७) और इसिदत्त की विषयवस्तु पर्याप्त समानता लिये हुए है। अव्याकतसंयुत्त (४.१०) की विषयवस्तु पासादिकसुत्त (दी.नि. ३.६), तथा चूल मालुंक्यसुत्त (म.नि. २.२.३) के समान है। सतिपट्ठान संयुत्त (५.३) में दी.नि. (२.९) और म.नि. (१.१.१०) के समान चार स्मृति प्रस्थानों का विस्तृत वर्णन है। सळायतनवग्ग में मातुगामसंयुत्त (४.३) का कोई विशेष सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। सगाथवग्ग का बंगीससुत्त (८) सुत्तनिपात के बंगीससुत्तन्त (२.१२) से मिलाया जा सकता है। थेरगाथा में भी बंगीस का उल्लेख आया है (गा. १२०९-१२७९)। निदान संयुत्त (२.१) का विषय निरूपण महानिदानसुत्त (दी. २.२) से, वच्छगोत्तसंयुत्त (३.१२) का म.नि. के तेविज्ञवच्छगोत्तसुत्त (१.३.१) से और आनापान संयुत्त (५.१०) का म.नि. के द्वेधावितक्कसुत्त (१.२), चूलहत्थिपदोपमसुत्त (१.३.७), और महाअस्सपुरसुत्त (१.४.९) से मिलाया जा सकता है। वैसे **सगाथवग्ग**

अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन दिखाई देता है। सुत्तनिपात के सक्कसंयुत्त (१.२१६, ४.२४०, १४) से सगाथवग्ग के सक्कसंयुत्त (१.११) की तुलना की जा सकती है। यहां देवासुरसंग्राम का भी उल्लेख हुआ है। यहीं अनाथपिंडिक की दीक्षा और जेतवनदान का भी उल्लेख है। मोग्गल्लान संयुत्त के असिबन्धकपुत्तसुत्त और निग्गंठसुत्त से बौद्धधर्म और तत्कालीन जैनधर्म के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में अच्छी सूचना मिलती है। सगाथवग्ग के ब्रह्मासंयुत्त की तुलना विनयपिटक के महावग्ग के प्रारम्भिक अंश से की जा सकती है।

यह निकाय वस्तुतः वर्गीकृत प्रवचनों का संग्रह है। प्रत्येक में किसी नाम या विषय के प्रसंग से सैद्धान्तिक तत्त्वों का प्रतिपादन है। देवता, मार, भिक्खुनी आदि संयुत्त ऐसे ही हैं। यहां पुरावृत्ति भी है। काव्य की दृष्टि से प्रथम वग्ग सगाथवग्ग विशेष महत्त्व रखता है। देवतासुत्त में प्रश्नोत्तर रूप में पहेलियां और संक्षिप्त उक्तियां हैं। ये कविताएं पवित्र आख्यान हैं जिनसे महाकाव्य का जन्म हुआ। बौद्ध भिक्षुओं के लिए अभिनय-नाटक देखना मना है। पर धार्मिक आख्यानों में नाटकीय तत्त्वों का प्राधान्य हो जाता है। पर इन आख्यानों को न रूपक कहा जा सकता है, न महाकाव्य। यह निकाय दार्शनिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ - संयुत्तनिकाय के प्रसिद्ध भारवग्ग के भारसुत्त (भारहारसुत्त) में पुद्गलवाद के बीज दिखाई देते हैं। इस सुत्त में स्कन्धों को पुद्गल के लिए भारवत् आगन्तुक और पृथक् बताया गया है। इसी आधार पर पुद्गलवादियों ने मध्यममार्ग अपनाकर पुद्गल को स्कन्धों से न भिन्न और न अभिन्न कहा एवं स्कन्धों के साथ पुद्गल का सम्बन्ध "अवक्तव्य' बताया। यहां आत्मा का सर्वथा निषेध नहीं बल्कि अनात्म तत्त्वों को अपना मानने का निषेध है। पुद्गल (आत्मा) की सत्ता का निषेध करने से पुनर्जन्म, स्मृति, सर्वज्ञता आदि सभी निरर्थक हो जाते हैं। पुद्गलवाद का विकास इसी चिन्तन पर हुआ है।

चीनी संयुक्तागम के तीन रूप हैं, प्रथम अनुवाद द्वितीय शती ई. का है, द्वितीय अनुवाद पंचम शती का है और तृतीय अनुवाद ४३५-४९३ में हुआ जो श्रीलंका के जेतवन विहार को प्रतिनिधित्व करता है। पालि सं.नि. से इन संस्करणों में काफी अन्तर है। यहां सुत्त संयुक्त न होकर वैविध्य लिये हुए है। सगाथवग्ग अन्य चार वग्गों की अपेक्षा प्राचीनतर है। उसके देवता संयुत्त में पद्य भाग में वैविध्य है। इस वग्ग में पुनरावृत्ति भी बहुत हुई है। पटिच्चसमुप्पाद का विकसित रूप उपलब्ध है। डॉ. गोविन्दचन्द्र पाण्डे ने इस निकाय में प्राचीन और अर्वाचीन स्तरों पर विचार किया है। उनके अनुसार सगाथवग्ग में मिश्रित रूप है। निदानवग्ग में सुत्त १५, १७-१८, २४-२६, ४६-४८, २२, ३७, ६२, १९, ३२, ४३, ४५, ४४, ५२, ५५-५६, ६०, ५३, ५७-५८, ५९, ६५-६, ६७, ३८, ४०, ६४ प्राचीन हैं। खन्धकवग्ग में सुत्त १, ८४, ३३, ५३, ८३, ८७-८८, १०१ प्राचीन

हैं। सडायतन वग्ग में सुत्त ६९, ९७, १०३, ११७, ११८, ११९, १२४-१२६, १२८, १३१, १२७, १३२, १३६, १४५, २००, २०१, २०४ अधिक प्राचीन हैं।

ड) अंगुत्तरनिकाय

अंगुत्तरनिकाय प्राकृत जैन आगम के ठाणांग और समवायांग जैसी संख्यात्मक पद्धति पर संग्रहीत हुआ है। इसमें २३०८ सुत्तों को १६९ वर्गों और ११ निपातों में विभक्त किया गया है -

नवसुत्तसहस्सानि, पंचसुत्तसतानि च।
सत्तपञ्ञास सुत्तानि संख्या अंगुत्तर अयं।।

अंग का तात्पर्य "एक और रहा" है - **एकएकांगातिरेकवसेन**। इसी आधार पर इस पद्धति का विकास हुआ है। संख्यात्मक पद्धति का प्रयोग महाभारत (५.३३.५६-१०६) में भी अष्टावक्र और वन्दियों की ज्ञानपरीक्षा के समय हुआ है। अतः इसकी प्रणाली का समय अथर्वकाल माना जा सकता है। अंगुत्तर निकाय की अनुक्रमणिका इस प्रकार नालन्दा से सम्बद्ध है -

निपातवग्ग	संख्या	नालंदा
१ एक	२१	२०
२ दुक	१६	१७
३ तिक	१६	१६
४ चतुक	२६	२७
५ पञ्चक	२६	२६
६ छक्क	१२	१२
७ सत्तक	९	९
८ अट्ठक	९	१०
९ नवक	९	९
१० दसक	२२	२२
११ एकादसक	३	३

एकक निपात में बुद्ध के समकालीन ७५ भिक्षु-भिक्षुणियों की विशेषताओं का आकलन हुआ है। उदाहरणार्थ - श्रावस्ती के अनाथपिण्डिकाराम में बुद्ध ने कहा कि महाप्राज्ञलोक में सारिपुत्त श्रेष्ठ हैं, सिद्धिसामर्थ्य में महामोद्गल्यायन, धूतवादियों में महाकश्यप, धर्मोपदेश में लंकुटिक भद्दिय, भिक्षुनियम पालन करने वालों में राहुल,

शयनासन प्रज्ञापकों में मल्लपुत्र मुख्य हैं। मुझ पर स्नेह करने वाली उपासिकाओं में महाप्रजापति गोतमी, महाप्राज्ञाओं में खेमा, ऋद्धिगतियों में उत्पलवर्णा, रूक्षचीवरधारणियों में गोतमी मुख्य हैं। मेरे प्रथम शरण में आनेवाले उपासकों में तपस्सु और भल्लिक श्रेष्ठ हैं, दानियों में अनाथपिण्डिक, व्यक्तिगत रूप से प्रसन्न रहनेवालों में जीवक कौमार भृत्य श्रेष्ठ हैं। उपासिकाओं में प्रथम शरण लेने वालियों में सुजाता अग्रणी हैं, दान देने वालियों में विशाखा मृगारमाता, ध्यान करने वालियों में उत्तरा नन्दमाता, रुग्णसेविकाओं में सुप्रिया उपासिका और प्रसन्नचेताओं में कात्यायनी प्रमुख हैं। धम्मकथिकाओं में धम्मदिन्ना का नामोल्लेख है जिसने चूलवेदल्लसुत्तन्त का उपदेश दिया है। इसी तरह अन्य निपातों में भी गणना की गई है।

अंगुत्तरनिकाय पर **मनोरथपूरणी और सारत्थमंजूसा** टीकाएं उपलब्ध हैं। सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय में इसे एकोत्तरागम के नाम से जाना जाता है। मिलिन्दपञ्ह में इसे एकुत्तरनिकाय कहा गया है। समन्तपासादिका में उसे एकएकांगातिरेकवसेन कहकर इसी को स्पष्ट किया है। इसके ग्यारह निपातों की वर्गसंख्या क्रमशः इस प्रकार है - २१, १६, १६, २६, २६, १२, ९, ९, ९, ९, २२ और ३१। कुल वर्गों की संख्या १६९ है और उसके सुत्तों की संख्या २३०८ या कहीं-कहीं २३४४ है। परन्तु परम्परागत ९५५७ मानी गई है - **नवसुत्तसहस्स-पंचसत- सत्तपणाससुत्तसंगहो अंगुत्तरनिकायो, अट्ठसालिनी**। इन सुत्तों जैसी गणनात्मक प्रणाली दीघनिकाय के संगीतिपरियायसुत्त और दसुत्तरसुत्त में भी देखी जा सकती है। थेरगाथा, थेरीगाथा और इतिवुत्तक में भी इस शैली के दर्शन होते हैं। बाद में तो अभिधम्मपिटक की पुग्गलपञ्ञत्ति को इसी शैली के आधार पर संग्रहीत किया गया है। इस निकाय में ऐसे भी सुत्तों का संग्रह है जिनका संकलन दीघनिकाय और मज्झिमनिकाय में हो चुका था। जैसे चतुरार्यसत्य और आष्टांगिकमार्ग को यहां चतुक्क और अट्ठकनिपात में संग्रहीत किया गया है। महाभारत के उद्योगपर्वन् के विदुरनीतिवाक्यों में भी इसी प्रणाली का उपयोग किया गया है (५.२.३३)। संभव है, मूल रूप से इसमें दस निपात रहे हों और बाद में बीस, तीस आदि रूप से जोड दिये गये हों। दीघनिकाय में दसुत्तरसुत्तन्त (३४) नामक एक सुत्त है भी।

इसमें कुछ ऐसे भी विषय हैं जो प्राचीन कहे जा सकते हैं। जैसे आपत्ति अपराध (१.८८.१-१०) और इसी तरह अट्ठकवग्ग में भिक्षुणी संघ के निर्माण के सन्दर्भ में गरुधर्मो का उल्लेख। विनय विधान में इन सभी का उपयोग हुआ है। कोशल राजा पसेनदि की महारानी मल्लिका की मृत्यु पर बुद्ध द्वारा शोकाभिव्यक्ति (३.५७.१-१९), मुण्ड राजा की पत्नी भद्दा की मृत्यु पर बुद्ध का उपदेश (३.५७-६२), चार प्रकार के कवियों का उल्लेख (२.२३०, ११-१३) भी स्मरणीय हैं। इसी तरह के और भी ऐतिहासिक और

भौगोलिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रसंगों का उल्लेख है। मगधराज अजातशत्रु ने तथागत बुद्ध से वज्जिगण के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए वर्षकार ब्राह्मण को भेजकर सलाह मांगी थी। बुद्ध की कर्मभूमि में गंगा, यमुना, अचिरवती और सरभू जैसी बडी नदियां बहती थीं। वज्जि प्रदेश में भंडगाम, कोसल में इच्छामंगल, नलकपान, पंचाल में बेरंजा और केसपुत्त में कालाम नामक क्षत्रियों की वस्ती थी। मल्ल प्रदेश में कुसीनारा, कुरुदेश में कम्मासदम्म आदि तथा श्रावस्ती, कौशाम्बी, मथुरा, पाटलिपुत्र, राजगृह, कपिलवस्तु आदि प्राचीन नगरी थीं।

अंगुत्तरनिकाय के अनेक सुत्तों में स्त्रियों का वर्णन मिलता है। उनकी कमियों को वहां गिनाया गया है। चतुर्थनिपात में कहा गया है कि स्त्रियां क्रोधी होती हैं, ईर्ष्यालु होती हैं, प्रतिस्पर्धाशील होती हैं, अज्ञानी होती हैं। इसलिए उन्हें सार्वजनिक सम्मेलन में स्थान नहीं दिया जाता, व्यापार और आजीविकोपार्जन में भागीदार नहीं बनाया जाता। बुद्ध के प्रतिरोध के बावजूद आनन्द के हठ से उन्हें भिक्षुणी-संघ बनाने की अनुमति अवश्य मिली पर स्त्रियों के प्रति इसी पक्षापात के कारण आनन्द से राजगृह संगीति में अनेक प्रश्न पूछे गये।

अंगुत्तरनिकाय में **साहित्यिक महत्त्व** के स्थल अधिक नहीं हैं। अनेक उपदेश लम्बे और नीरस हैं। बौद्ध मनोविज्ञान, आचार और अनुशासन सम्बन्धी सुत्तों का बाहुल्य है, सूक्तियों की संख्या बहुत है। बुद्ध को यहां सभी सत्यों का स्रोत माना गया है। अशोक के भाब्रू शिलालेख में भी बुद्ध के उपदेशों को मंगलमय माना गया है। उनके उपदेश कभी मिथ्या सिद्ध नहीं होते। वस्तुतः यह निकाय अभिधम्मपिटक का पूर्वरूप इसी दृष्टि से माना जा सकता है। उसके बहुत से पाठ इसी पर आधारित हैं।

अंगुत्तरनिकाय में जिस **संख्यात्मक पद्धति** का प्रयोग किया गया है वह वैदिक और जैन आगम ग्रन्थों में भी प्रयुक्त हुई है। यही पद्धति दीघनिकाय के संगीति और दसुत्तर सुत्तों में तथा थेर-थेरी गाथा में भी अपनायी गयी है। अभिधर्मपिटक की पुग्गल पञ्ञत्ति का भी आधार यही पद्धति रही है। इस पद्धति में सरसता है, समरसता है और इससे जिज्ञासा जागृत होती है। इतिहास की दृष्टि से भी यह उपयोगी है।

इन प्रथम चार निकायों में बुद्धकाल से लेकर अशोककाल तक का इतिहास संग्रहीत है। इनमें प्रक्षिप्तांश भी हैं, पुनरुक्ति भी है। स्त्रियां तिगुनी नरक की कारणभूत होती हैं। यह विषय संयुत्तनिकाय और अंगुत्तरनिकाय के तिकनिपात में है। संयुत्तनिकाय और अंगुत्तरनिकाय की विषय सामग्री की तुलना भी की जा सकती है। इन सुत्तों को यथासमय विस्तार मिला और समासपद्धति से उनका संक्षिप्तीकरण भी हुआ। जैसे महापरिनिब्बानसुत्त को मज्झिमनिकाय के सतिपुट्ठानसुत्त (१०) और दीघनिकाय के महासतिपट्ठानसुत्त (२२) में विस्तार मिला। दीघनिकाय के संगीति और दसुत्तर सुत्तों में

जिस संख्यात्मक प्रणाली का प्रयोग हुआ है वह अंगुत्तरनिकाय में भी दृष्टव्य है। इन सभी में कदाचित् मौखिक पाठ के लिए पुनरावृत्ति अधिक हुई है ।

इन चारों निकायों में बुद्धकाल से लेकर अशोक काल तक हुए संवादों का भी वर्णन है। उनमें उदाहरण पूर्वक विषय को प्रस्तुत किया गया है। मज्झिमनिकाय के चूलमालुंक्य सुत्त में लोक शाश्वत है या अशाश्वत आदि जैसे दस प्रश्नों को करता हुआ एक शिष्य दिखाई देता है। तथागत बुद्ध ने इन प्रश्नों को निर्वाण प्राप्ति के लिए अनावश्यक बताकर उन्हें **'अव्याकृत'** कह दिया। तेविज्ञसुत्त (दी. १.१३) में ब्रह्म परम्परा को अन्धवेणी की उपमा देकर उसे अज्ञात कल्याणी सुन्दरी के साथ प्रेम करना जैसा बताया है। सामञ्ञफलसुत्त में संसारत्याग करने की इच्छा करने वाले व्यक्ति की सुख की कल्पना को भी अनेक दृष्टान्तों से समझाया गया है। इन्द्रियजन्य सुख वस्तुतः दुःखमय है, इसे भी मज्झिम निकाय के पोतलिय सुत्त (५४) में सोदाहरण स्पष्ट किया गया है। संयुत्तनिकाय (१०.५३; ४२.७.१.-८) में भी यही विषय अधिग्रहीत हुआ है। इस सन्दर्भ में कटुवचन कहकर भी व्यक्ति को सन्मार्ग पर लाना पड़ता है (अभयराजकुमार सुत्त)।

इन निकायों में उपमाओं और दृष्टान्तों की एक लम्बी श्रृंखला है जिनका प्रयोग उपदेशों और सिद्धान्तों को स्पष्ट करने में हुआ है। रिज डेविड्स ने उनकी सूची Similies in the Nikayas के नाम से प्रकाशित की थी। इन उपमाओं में प्राचीन कालीन भारतीय लोकपरम्परा, कृषक, व्यापारी, स्वर्णकार, सारथी, द्यूतकार आदि वर्गो के स्वभाव का सुन्दर चित्रण दिखाई देता है। दर्शन, इतिहास, भूगोल समाजव्यवस्था और धर्मव्यवस्था के भी दर्शन यहां हो जाते हैं। संवाद शैली की प्राचीनता भी इन सुत्तों में दिखाई देती है। बुद्ध का मालुंक्य पुत्र के साथ हुआ संवाद बडा आकर्षक सिद्ध हुआ। वाण मारने वाला किस जाति आदि का था यह जानकारी लेने की अपेक्षा पहले वाण निकालना अधिक व्यावहारिक होगा। इसी तरह परलोक आदि के विषय में उत्तर देने की अपेक्षा चतुरार्यसत्यों को समझ लेना अधिक अच्छा है।

सांसारिक सुखों को सुखाभास बताकर उन्हें दृष्टान्तों के साथ व्यर्थ सिद्ध किया गया है। मज्झिम निकाय के सुत्त क्रमांक ५४ में इन्द्रियजन्य सुखों से उत्पन्न होने वाले कष्टों को सात उदाहरणों द्वारा समझाया गया है। इन उदाहरणों में तृष्णा को पाप बन्धन का कारण सिद्ध किया गया है। तृष्णा ही जन्म-जन्मान्तर का कारण बनती है। वही संसार है। उसी को दूर करने से निर्वाण प्राप्त होता है। बुद्ध के इसी उपदेश को 'सिंहनाद' कहा जाता है। इस दुर्लभ मनुष्य जन्म को पुनः प्राप्त करना वैसा ही कठिन है जैसे एक छिद्र वाले जुए में एक आंख वाले कछुए की गर्दन का प्रवेश होना।

सामाजिक इतिहास की दृष्टि से इन निकायों में विषय सामग्री भरी पडी है। यहां शिल्पियों, व्यापारियों, कृषकों और धार्मिकों के रहन-सहन का परिचय मिलता है। म.नि. (१४०) के एक दृष्टान्त में स्वर्णकार का पूरा परिचय दिया गया है। वहीं १२५ वें सुत्त में हाथी पालने की विधि और ११० वें सुत्त में विषाक्त वाण से आहत व्यक्ति की चिकित्सा विधि बताई गई है। ये निकाय दृष्टान्त, उपमा और संवादों से भरे हुए हैं।

चीनी एकोत्तरागम में ५२ अध्याय हैं जबकि पालि अंगुत्तरनिकाय में १६० वग्ग हैं, ९५५७ सुत्त हैं। डॉ. गोविन्दचंद पाण्डे ने इसके विभिन्न स्तरों का क्रमिक स्तरीकरण इस प्रकार किया है।

	प्राचीन		**उत्तरकालीन**
I.	वग्ग ५ और २३	II.	३, ५
III.	सुत्त ३९	II.	६, १-८
III.	सुत्त ७६	III.	सुत्त २१
III.	सुत्त १००	III.	सुत्त ३२
		III.	सुत्त ३८
		III.	सुत्त ८०, १३४
IV.	सुत्त १६, ४५-६, ७५, १९६, २५१	IV.	सुत्त ६, १४, १८०, १८९, १९९
		V.	सुत्त ५०, १३१-१३३
VI.	सुत्त ५५	VI.	सुत्त ३४, ६०-१
VII.	सुत्त ७०	VII.	सुत्त ५०, ५४
VIII.	सुत्त १२		
IX.	सुत्त १४	X.	सुत्त २, २६-७
		XI.	सुत्त १४ पूर्ण निपात

इ) खुद्दकनिकाय

खुद्दकनिकाय सुत्तपिटक का पांचवां भाग है। यह निकाय पूर्वोक्त चारों निकायों से बिलकुल भिन्न है। इसमें खुद्दकपाठ जैसे छोटे ग्रन्थ भी हैं और निद्देस जातक

जैसे बडे ग्रन्थ भी संमिलित हैं। इनमें गद्य-पद्य दोनों मिश्रित हैं। काव्य, आख्यान, गीत जैसी विधाओं से यह निकाय आपूरित है। भाषा और विषय की दृष्टि से इस निकाय में वैविध्य दिखाई देता है। ऐसा लगता है, प्रथमतः चार निकाय ही थे। प्रथम संगीति के अवसर पर महाकश्यप ने आनन्द से चार निकायों का ही उल्लेख किया था। दीघभाणक भिक्षु खुद्दकनिकाय को सुत्तपिटक के अन्तर्गत न मानकर अभिधम्म पिटक में उसे समाहित किया करते थे। सुमंगलविलासिनी की निदानकथा में उसमें मात्र ११ ग्रन्थों का संकलन बताया है। इस संकलन में चरियापिटक, अपदान, बुद्धवंस और खुद्दकपाठ को संमिलित नहीं किया गया। यहीं इसमें सिंहल परम्परानुसार संमिलित पन्द्रह ग्रन्थों का उल्लेख है (**पण्णरसभेदो खुद्दकनिकायो**) - खुद्दकपाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निद्देस पाटिसंभिदामग्ग, अपदान, बुद्धवंस और चरियापिटक। मज्झिम भाणकों ने इसी परम्परा को स्वीकार किया था। इतना ही नहीं, चार निकायों के अतिरिक्त समस्त बुद्ध वचनों को खुद्दक निकाय में संमिलित कर लिया गया। इस दृष्टि से विनय और अभिधम्मपिटक भी खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत आ जाते हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि दीघभाणक और मज्झिमभाणक परम्परा में खुद्दकनिकाय के ग्रन्थों का क्रमभंग भी दिखाई देता है। तदनुसार यह क्रम इस प्रकार है - जातक, निद्देस, पटिसंभिदामग्ग, सुत्तनिपात, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, चरियापिटक, अपदान और बुद्धवंस। वर्मी परम्परा में मिलिन्दपञ्ह, सुत्तसंगह, पेटकोपदेस, और नेत्ति या नेत्तिपकरण को भी खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत रखा गया है। इसका तात्पर्य है प्रथम चार निकायों की अपेक्षा खुद्दकनिकाय उत्तरवर्ती है। थेरगाथा में स्पष्टतः अशोककाल का उल्लेख है (गाथा क्र. १६९)।

सर्वास्तिवादी पिटक चीनी अनुवाद में उपलब्ध है। वह प्रायः थेरवादी परम्परा का ही अनुदित रूप है। संयुत्त और अंगुत्तर निकाय में विशेष अन्तर है। चीनी संस्करण में खुद्दकनिकाय में अवदान समाविष्ट है। अभिधर्म भी कुछ मिलता है। दोनों सम्प्रदायों में वह सात भागों में विभक्त है पर अन्तर यह है कि सर्वास्तिवादी परम्परा में उसके लेखक सात हैं। यह अभिधर्म का विकसित रूप है।

मूल बौद्धधर्म का प्रश्न

इन ग्रन्थों में खुद्दकपाठ, धम्मपद, सुत्तनिपात, उदान और इतिवुत्तक को अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक माना जाता है। खुद्दक पाठ का स्वरूप संकलनात्मक है। शेष चार ग्रन्थ भाषा और विषय की दृष्टि से प्राचीन दिखाई देते हैं। खुद्दकपाठ की सामग्री सुत्तनिपात और सुत्तपिटक से संग्रहीत हुई है। इसके बाद जातक और थेर-थेरीगाथा का क्रम आता है। मूल जातक में ५०० कथाएं थीं। बाद में उनकी संख्या ५४७ हो गई। बुद्धवंस और चरियापिटक जातकों पर ही आधारित हैं। बुद्धवंस में २४ बुद्धों का वर्णन है

जबकि चार निकायों में ६ पूर्ववर्ती बुद्धों का ही विवरण मिलता है। यह परम्परा भी उत्तरकालीन है और जैन परम्परा से प्रभावित है। चरियापिटक में बोधिसत्त्वों की जीवन चर्या का वर्णन हुआ है। निद्देस भी जातक का उत्तरवर्ती ग्रन्थ है। उसमें सुत्तनिपात के पारायणवग्ग और अट्ठकवग्ग की कुछ गाथाओं की व्याख्या मिलती है। अपदान थेर-थेरीगाथा का परिपूरक ग्रन्थ है। इसमें भिक्षु-भिक्षुणियों के पूर्व जन्मों की कथाएं संग्रहीत हैं। विमानवत्थु और पेतवत्थु भी उत्तरकालीन हैं। इनमें मौर्यराजा का उल्लेख है। पटिसंभिदामग्ग अभिधम्मशैली में रचा गया है। अत: कालक्रम की दृष्टि से खुद्दकनिकाय के ग्रन्थों का कालक्रम इस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है -

१) धम्मपद, सुत्तनिपात उदान, इतिवुत्तक

२) जातक, थेरगाथा, थेरीगाथा

३) बुद्धवंस, चरियापिटक, निद्देस, अपदान, पटिसम्भिदामग्ग, विमानवत्थु, पेतवत्थु और खुद्दकपाठ।

खुद्दकनिकाय के प्रमाण के संदर्भ में अट्ठकथा में कहा गया है -

असीति एव सुत्तन्ता, वग्गा अट्ठ समासतो।
गाथा च पञ्चनवुति, उदानस्स पकासिता ।।
अडढूननवमत्ता च, भाणवारा पमाणतो।
एकाधिका तथासीति, उदानस्सानुसन्धियो ।।
एकवीससहस्सनि, सतञ्चेव विचक्खणो।
पदानेतानुदानस्स, गणितानि विनिद्दिसे ।।

१. खुद्दकपाठ

खुद्दकपाठ में सुत्तपिटक और विनयपिटक से लघुकायिक नौ सुत्तों या पाठों का संग्रह किया गया है - सरणत्तय, दस सिक्खापद, द्वतिंसाकार, कुमारपञ्ह, मंगलसुत्त, रतनसुत्त, तिरोकुड्ड सुत्त, निधिकंडसुत्त, और मेत्तसुत्त। इनमें से मंगलसुत्त, रतनसुत्त और मेत्तसुत्त सुत्तनिपात से, तिरोकुड्डसुत्त पेत्तवत्थु से, सरणत्तय, कुमारपञ्ह और दससिक्खापद विनयपिटक से, द्वतिंसाकार दीघ और मज्झिमनिकाय से संग्रहीत हुए हैं। सरणत्तय में बुद्ध, धम्म, संघ की शरण को उत्तम बताते हुए दस शिक्षापदों की गणना की है। मंगलसुत्त में '**माता-पितु उपट्ठानं, पुत्तदारस्स सङ्गहो। अनाकुला च कम्मन्ता, एता मंगलमुत्तमं**'' कहकर रतनसुत्त में त्रिरत्न की प्रशंसा की गई है। इसी तरह मेत्तसुत्त में ''**सब्बसत्ता भवन्तु सुखितत्ता**'' की घोषणाकर ''**मेत्तं च सब्बलोकम्मि, मानसं भावये अपरिमाणं**'' को स्थापित किया गया है।

खुद्दकपाठ पर आचार्य बुद्धघोष की परमत्थ जोतिका नामक अट्ठकथा उपलब्ध है। बी.सी. ला के अनुसार खुद्दकपाठ की रचना ई.सन् के प्रारम्भिक दशक में हुई होगी।

परित्त या महापरित्त

खुद्दकपाठ के समान परित्त या महापरित्त भी एक लघु संग्रह है। इसका सम्बन्ध परित्राण या रक्षा से है। इसमें ३० सुत्तों का संग्रह है। श्रीलंका और वर्मा में परित्तपाठ की प्रथा बडी प्राचीन है और लोकप्रिय भी। इन सुत्तों में विशेषतः निम्न २२ सुत्त अधिक प्रचलित हैं - दसधम्म, महामंगल, करणीय, चुन्द, मेत्त, मेत्तानिसंस, मोरपरित्त, चंदन, सुरिय, धजग्ग, महाकस्सप थेर-बोज्झंग, महाचन्दथेर बोज्झंग, गिरिमानन्द, इसिगिलि, धम्मचक्कपवत्तन, अलवक, कसिभारद्वाज, पराभव, वंसल, सच्चविभंग और आटानाटिय सुत्त। इनमें से अनेक सुत्त खुद्दकपाठ में भी उपलब्ध हैं। कहा जाता है, परित्तपाठ से वैशाली में वर्षा हुई और दुष्काल समाप्त हुआ। महाकश्यप रोगमुक्त हुए, गिरिमानन्द भिक्षु भी। मिलिन्दपञ्हो में परित्त को भगवान बुद्ध के उपदेशों का रूप माना गया है। वहां **सात परित्तों का** उल्लेख है - रतन, मेत्त, खन्ध, मोर, धजग्ग, आटानाटीय और अंगुलिमालीय परित्त इनका पाठ परित्त अनुष्ठान में किया जाता है। तिब्बती परम्परा में भी इसकी लोकप्रियता बहुत अधिक है।

परित्त के संकलन का काल निश्चित नहीं कहा जा सकता। इसका सर्वप्रथम उल्लेख विनयपिटक के चुल्लवग्ग में मिलता है जो कदाचित् उत्तरकालीन संकलन है। दीघनिकाय का आटानाटीय सुत्त भी इसी तरह उत्तरकालीन है। बुद्ध ने भी योगप्रदर्शन को उचित नहीं माना। फिर भी लोकमंगल की दृष्टि से अथर्ववेद की परम्परा का अनुकरण कर बौद्ध परम्परा ने मन्त्रपाठ को विविध आपत्तियों को दूर करने के लिए प्रारम्भ किया गया होगा। महायानी परम्परा में यही काम '**धारणी**' करती हैं। इन सभी के पीछे मंगलकामना का उद्देश्य बना रहता है। परित्तपाठ के अन्त में यही कहा जाता है - "**सब्बीतियो विभज्जन्तु, सब्बरोगो विनस्सतु। मा ते भवत्वन्तरायो सुखी दीघायु को भव।**" नये मकान, मृत्यु, रोग आदि सभी अवसरों पर परित्त का अनुष्ठान किया जाता है। तिब्बती परम्परा में भी इसकी लोकप्रियता बहुत अधिक है।

२. धम्मपद

धम्मपद बौद्ध साहित्य का कदाचित् सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है। सिंहल वर्मा, थाईलेण्ड, कम्बोडिया, लाओस, हिन्दचीन में भिक्षु के लिए उसे कण्ठस्थ करना आवश्यक माना गया है। श्रीलंका में उसका पारायण किये बिना भिक्षु की उपसम्पदा

नहीं होती। धम्मपद बुद्ध के उपदेशों का उनके धम्म का सुन्दर संकलन है। धम्मपद (पुप्फवग्ग १-२) और संयुत्तनिकाय (पियंकर सुत्त) में इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हुआ है। मिलिन्दपञ्ह में "**भासितं पेतं भगवता देवातिदेवेन धम्मपदे**" कहकर उसको प्रतिष्ठित किया है। अंगुत्तरनिकाय में बुद्ध स्वयं धम्मपद का उपदेश देते दिखाई देते हैं।

धम्मपद में ४२३ गाथाओं का संकलन २६ वग्गों में हुआ है - यमक २०, अप्पमाद १२, चित्त ११, पुप्फ १६, बाल १६, पंडित १४, अरहन्त १०, सहस्स १६, पाप १३, दण्ड १७, जरा ११, अत्त १०, लोक १२, बुद्ध १८, सुख १२, पिय १२, क्रोध १४, मल १४, धम्मट्ठ १७, मग्ग १७, पकिण्णक १६, निरय १४, नाग १४, तण्हा २६, भिक्खु २३, और ब्राह्मणवग्ग ४१। ये गाथाएं नीतिगत अधिक हैं। मनुस्मृति, महाभारत, पंचतन्त्र, हितोपदेश, उत्तराध्ययन आदि ग्रन्थों में इन गाथाओं को देखा जा सकता है। प्रायः सभी गाथाएं त्रिपिटक में भी संग्रहीत हैं। इनका विभाजन विषय के अनुसार हुआ है।

धम्मपद के पालि संस्करण के आधार पर ही प्राकृत धम्मपद, चीनी धम्मपद, संस्कृत धम्मपद (उदानवर्ग), तिब्बती धम्मपद-उदानवर्ग जैसे अनेक धम्मपद उपलब्ध हैं। खोतान में खण्डित प्राकृत धम्मपद की पाण्डुलिपि का सम्पादन गान्धारी प्राकृत धम्मपद के नाम से सेनार्ट ने किया था। उसके बाद वेणीमाधव वरुआ और सुरेन्द्रनाथ मित्र ने कुछ सुधारकर अंग्रेजी अनुवाद के साथ कलकत्ता विद्यापीठ से १९२१ में प्रकाशित किया। बाद में मैंने उसी को आधार बनाकर प्राकृत धम्मपद के नाम से हिन्दी अंग्रजी अनुवाद के साथ प्राकृत भारती, जयपुर से १९८५ में प्रकाशित कराया। पालि-प्राकृत धम्मपद में बहुत अन्तर है। इसे हमने अपनी विस्तृत प्रस्तावना में स्पष्ट किया है। इतना स्पष्ट है कि प्राकृत धम्मपद लगभग द्वितीय शताब्दी ई.पू. में लिखा गया होगा मध्य-ऐशिया की बोली में। इसके बाद मिश्रित संस्कृत में धम्मपद का संस्करण तैयार हुआ। महावस्तु में धम्मपद के सहस्रवर्ग का उल्लेख मिलता है। प्राकृत धम्मपद का चीनी अनुवाद २२३ ई. में चूह याउ किंग नाम से हुआ पर वह उपलब्ध नहीं है। रॉकहिल के अनुसार धम्मपद और उदानवर्ग एक ही है जो शुद्ध संस्कृत में उपलब्ध है। परन्तु तुर्फान में उपलब्ध उत्तरकालीन गुप्तलिपि में लिखी उसकी पाण्डुलिपि अपूर्ण हैं। इसमें ३६ वर्ग है। पालि धम्मपद में २९ वर्ग हैं। संस्कृत धम्मपद का तिब्बती अनुवाद राल-पा-चान् के शासनकाल में ई.सन् ८१७-८४२ के बीच हुआ जिसे राक हिल ने उदानवर्ग नाम से प्रकाशित किया। परन्तु संस्कृत धर्मपद उपलब्ध न होने से पालि धम्मपद के साथ उसकी तुलना करना सम्भव नहीं है। सम्युएल बील के मत से भिखु वेइ-चि-लान् ने भारत में धम्मपद लाकर उसकी टीका में अनेक गाथाएं भर दी हैं और अध्यायों की संख्या

बढा दी है। पालिधम्मपद में २६ वर्ग और ४२३ गाथाएं हैं पर चीनी अनुवाद में ३९ वर्ग और ७५२ गाथाएं हैं। इन सभी संस्करणों का तुलनात्मक अध्ययन हुआ है। उसका संक्षिप्त रूप इस प्रकार है -

पाली धम्मपद	**प्राकृत धम्मपद**	**चीनी धम्मपद**
अनुपलब्ध	अनुपलब्ध	१. अनित्यता (२१)
		२. ज्ञानदर्शन (२९)
	१५ बहुश्रुत १६	३. श्रावक (१९)
		४. श्रद्धा (१८)
	२० शील १०	५. कर्तव्यपालन (१६)
		६. विचार (१२)
		७. मैत्रीभावना (१९)
		८. संलाप (१२)

अनुक्रम वर्ग (पा.ध.) **गा. सं.**	**अनु. वर्ग** (पा.ध.) **गा. सं.**	**अनु. वर्ग** (ची.ध.) **गा. सं.**
१. यमक वग्ग २०	१३ यमक २२	९. यमक वग्ग २२
२. अप्पमाद वग्ग १२	७. अप्पमाद वग्ग २५	१०. अप्पमाद वग्ग २०
३. चित्त वग्ग ११	८. चित्तवग्ग ५ अपूर्ण	११. चित्त वग्ग १२
४. पुप्फ वग्ग १६	१८. पुष्प वग्ग १५	१२. पुप्फ वग्ग १७
५. बाल वग्ग १६	९. बाल वग्ग ७ (अपूर्ण)	१३. बाल वग्ग २१
६. पंडित वग्ग १४	१४. पंडितवग्ग-धमठवग्ग	१९ १४. पंडितवग्ग १७
७. अरहन्त वग्ग १०	५. अरहन्त वग्ग-नष्ट	
८. सहस्स-वग्ग १६	१९. सहस-वग १७	१६. सहस्स-वग्ग १६
९. पाप-वग्ग १३	४. पाप-वग्ग नष्ट	
१०. दंड-वग्ग १७	-	
११. जरा-वग्ग ११	१०. जरा वग्ग अपूर्ण	१९. जरा वग्ग १४
१२. अत्त-वग्ग १०	-	
१३. लोक-वग्ग १३	-	
१४. बुद्ध-वग्ग १८	-	
१५. सुख-वग्ग १२	११. सुहवग्ग २०	२३. सुख वग्ग १४
१६. पिय-वग्ग १२	-	
१७. कोध-वग्ग १४	१७. कोध-वग्ग १६	

१८. मल-वग्ग २१	६. मगु-वग्ग १९	
१९. धम्मट्ठ-वग्ग १७	२७. धम्मट्ठ-वग्ग १७	
२०. मग्ग-वग्ग १७	६. मग-वग्ग अपूर्ण	२८. मग्ग-वग्ग २८
२१. पकिण्णक-वग्ग १६	२९. पकिण्ण-वग्ग १५	
२२. निरय-वग्ग १४	-	
२३. नाग-वग्ग १४	२२. नाग/अश्व १	
२४. तण्हा-वग्ग २६	३. तसिण (अपूर्ण)	३२. तण्हा-वग्ग ३२
-		३३. सेवा-वग्ग २०
२५. भिक्खु वग्ग २३	२. भिक्खु वग्ग ४०	३४. भिक्खु-वग्ग ३२
२६. ब्राह्मण वग्ग ४१	१. ब्राह्मण वग्ग ५०	३५. ब्राह्मण-वग्ग ४०
-		३६. निर्वाण ३६
-		३७. जन्म-मृत्यु १८
-		३८. धर्मलाभ १९
-		३९. महामंगल १९

धम्मपद के इन संस्करणों पर विचार करने पर ऐसा लगता है कि पालि धम्मपद के अनुवादक अपनी आवश्यकता और समझ के अनुसार वर्गो और गाथाओं की संख्या में हीनाधिकता करते रहे। प्राकृत धम्मपद में जिन तेरह वर्गो को जोडा गया है वे सुत्तनिपात के सल्लसुत्त, उट्ठानसुत्त, चुन्दसुत्त, आळवकसुत्त, मेत्तसुत्त और महामंगलसुत्त के अधिक समीप हैं। चीनी अनुवाद में भी उसी का आधार लिया गया है। उदानवर्ग के वर्गो की सामग्री सुत्तनिपात, धम्मपद और जातक से अधिक ली गई है। प्राकृत धम्मपद में भी सुत्तनिपात और जातक का आधार लिया गया है। अशोक के शहबाजगढी और मनसेहरा अभिलेखों से भी उनमें सामीप्य दिखाई देता है।

धम्मपद वस्तुतः नीतितत्त्व से आपूरित ग्रन्थ है। उसमें बौद्धधर्म की तात्त्विकता होना तो स्वाभाविक ही है पर सर्व साधारण जनता के जीवन को सम्यक् बनाने के लिए नीतिगत सामग्री भी भरी पडी हुई है। यमक वग्ग में "**मनो पुब्बङ्गा धम्मा, मनो सेट्ठा मनोमया**" कहकर "**न हि वेरेन वेरानि, सम्मन्तीध कदाचनं, अवेरेन च सम्मन्ति, एस धम्मो सनातनो**" के माध्यम से अहिंसा का सुन्दरतम उपदेश दिया है। सहस्सवग्ग में कहा है कि सहस्र यज्ञ करने की अपेक्षा सदाचारी होना श्रेष्ठ है - **मासे मासे सहस्सेन यो यजेथ सतं समं। एकं च भवितत्तानं, मुहुत्तमपि पूजये।** जरावग्ग की गाथा "**अनेक जाति संसारं सन्धाविस्सं अनिब्बिसं**" प्रसिद्ध ही है। अत्तवग्ग की भी गाथा "**अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया। अत्तना हि सुदन्तेन, नाथं लभति दुल्लभं**" बहुत लोकप्रिय है। ब्राह्मणवग्ग में ब्राह्मण और

श्रमण की परिभाषा को स्पष्ट किया गया है - **बाहितपापो त्ति ब्राह्मणो, समचरिया समणो ति वुच्चति**। सभी वर्गों में इसी तरह की नीतिगत गाथाएं दृष्टव्य हैं।

धम्मपद पर बुद्धघोष की अट्ठकथा है। इसमें ४२३ गाथाओं के स्थान पर २९९ का उल्लेख हुआ है। कालान्तर में व्याख्या के रूप में गाथाओं के साथ कथानक भी जोड दिये गये जिन्हें आगम में सम्मिलित नहीं किया जाता।

धम्मपद की तुलना उत्तराध्ययन, दशवैकालिक और भगवद्गीता से की जा सकती है।

३. उदान

उदान का अर्थ है प्रीति वेग से निसृत तथागत का सहज वचन या उद्गार जो विशेष प्रसंग पर अन्तःकरण से वचन द्वार से बाहर निकलता है - **पीतिवेग समुट्ठापितं वितक्कविप्फारं अन्तोहदयं सन्धारेतुं न सक्कोति सो अधिको हुत्वा अन्तो असण्ठहित्वा बहि वचीद्वारेन निक्खन्तो पटिग्गाहक निरपेक्खो उदाहार** -विसेसो 'उदानं' ति वुच्चति (अट्ठकथा पृ. ३)। यह प्रायः गाथाबद्ध होता है, त्रिष्टुभ या जगती छन्द में होता है। इसमें प्रसन्न मन से उपजा आनन्द व्यक्त होता है। धम्मपद में गाथा के बाद विवेचनात्मक गद्य आता है जबकि उदान में पृष्ठभूमि गद्य में पहले प्रस्तुत की जाती है और फिर पद्य का उदाहार होता है। ये **उदान तीन प्रकार** के हैं - सम्मासंबुद्ध द्वारा भासित, प्रत्येकबुद्ध द्वारा भासित और श्रावक द्वारा भासित। तथागत बुद्ध द्वारा भासित उदान धम्मपद आदि में मिलते हैं - सुखकामानि भूतानि, यो दण्डेन विहिंसति (ध. प. १३१), प्रत्येकबुद्ध भासित उदान को देखिए - **सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं, अविहेठयं अंतरम्पि तेसं** (सु.नि. ३५) और श्रावकभासित उदान थेर-थेरीगाथा में उपलब्ध हैं। ऐसे उदान समूचे त्रिपिटक में भरे पडे हैं और नवांगों में भी।

उदान में कुल आठ वग्ग हैं - बोधिवग्ग, मुचलिन्दवग्ग, नन्दवग्ग, मेघियवग्ग, सोणवग्ग, जच्चन्धवग्ग, चूलवग्ग, और पाटलिगामियवग्ग। हर वग्ग दस सुत्तों में विभक्त है। इसमें ८१ अनुसन्धियां, २११० पद, ४२३ गाथापद तथा ६७३८२ अक्षर हैं। गद्य-पद्य मिश्रित वचन हैं, कथाभाग गद्य में आता है और फिर पद्य आता है। कतिपय उदानों का रस लीजिए - किसी सांप को लाठी से पीटते बालकों को देखकर भगवान के मुख से उदान वचन निकला -

सुखो विवेको तुट्ठस्स, सुतधम्मस्स पस्सतो।
अव्यापज्जं सुखं लोके, पाणभूतेसु संयमो ।।

सारिपुत्त के सन्दर्भ में उन्होंने कहा - संस्कारों के उपशमन से शान्तचित्त हुए, भव-रज्जु विच्छिन्न किये भिक्षु का जन्म लेने का सिलसिला बिखर जाता है। वह भार के बंधन से मुक्त हो जाता है। वह मोहक्षय हो जाने से पर्वत के समान अचल हो जाता है -

यथा पि पब्बतो सेलो, अचलो सुप्पतिट्ठितो।
एवं मोहक्खया भिक्खु, पब्बतो व न वेधती ति ।।४।।

देवदत्त द्वारा संघभेद करने का समाचार मिलने पर उदानित वचन देखिए -

सुकरं साधुना साधु, साधु पाणेन दुक्करं।
पापं पापेन सुकरं, पापमरियेहि दुक्करं ।।८।।

साधु साधुपना करे, यह आसान है। साधु पाप करे यह कठिन है। पापी पाप करे, यह आसान है। आर्यजन का पाप करना कठिन होता है। यहां कथा भाग छोटा रहता है जिसमें जीवन के सत्य झंकृत होते हैं और फिर उसमें उदान अभिव्यक्त होता है। जैसे बोधिवर्ग में संबोधिप्राप्ति के बाद प्रतीत्यसमुत्पाद का चिन्तन करते हुए भ. बुद्ध कहते हैं कि मात्र स्नान करने से कोई शुद्ध नहीं होता। जिसके अन्तरंग और व्यवहार में सत्य और धर्म उतर जाये वही सही ब्राह्मण है।

उदान का पद्यभाग प्राचीनतर है भाषा की दृष्टि से और गद्यभाग बाद में जोडा गया है। उदाहरणत: मेधियवग्ग के यक्खपहारसुत्त में सारिपुत्त और यक्ष के बीच हुआ व्यवहार बाद में जोडा दिखाई देता है। ऐतिहासिक विसंगति भी कहीं-कहीं दिखाई देती है। जैसे बुद्धत्व प्राप्ति के तीसरे वर्ष बुद्ध को जेतवन आराम दान में मिला, परन्तु द्वितीय वर्ग के प्रथम सुत्त में बुद्ध उरुवेला नदी के किनारे विहार करते दिखाई देते हैं और दूसरे सुत्त में श्रावस्ती में अनाथपिण्डिक के जेतवन आराम में विहार करते दिखाई देते हैं। वृत्तगत अनियमितताएं भी हैं। सुत्वान, लद्धान जैसे प्राचीन शब्द रूप कम ही मिलते हैं। **सूकरमद्दव** का उल्लेख यहां चुन्दसुत्त में हुआ है जो प्राचीन दिखाई देता है। उदान पर परमत्थदीपिनी नामक अट्ठकथा उपलब्ध है।

४. इतिवुत्तक

इतिवुत्तक का तात्पर्य है बुद्ध ने ऐसा कहा अर्थात् परम्परागत बुद्धवचन (**वुत्तं हेतं भगवता**)। इसमें तथागत के उन वचनों का संकलन है जो उन्होंने **खज्जुत्त और कौशाम्बी के बीच कहे थे। इसलिए प्रत्येक अध्याय के अन्त में "वुत्तं हेतं भगवता, वुत्तमरहता ति मे सुतं" "अयं पि अत्थो वुत्तो भगवता इति में सुतंति"** जैसे वाक्यों का प्रयोग हुआ है। धम्मपाल के पहले इस कथन की प्रामाणिकता दिखाई नहीं देती।

उदान के समान इतिवुत्तक गद्य-पद्य मिश्रित ग्रन्थ है। अन्तर यह है कि यहां गद्य में कथा न होकर किसी एक तत्त्व को प्रतिपादित कर दिया जाता है और फिर उसी को शब्दों के हेर-फेर के साथ पद्य में समाहित किया जाता है। इसमें ११२ सुत्त हैं जो चार निपातों में विभक्त हैं। इनमें कभी-कभी गद्य और पद्य परस्पर पूरक रहते हैं। फिर भी पद्य की अपेक्षा गद्य में तत्त्व कथन की स्पष्टता अधिक दिखाई देती है। पुनरुक्ति भी अधिक नहीं है। भाषा सरल और अनलंकृत है। उपमाएं और कल्पनाएं बडी सुन्दर हैं, आकर्षक हैं। दान को मेघ वर्षा की उपमा देकर गृहस्थों को प्रेरणा दी है (गा. ७५)। मेत्ता विषयक कल्पना और अधिक सुन्दर है। चन्द्रकला की प्रकाशकता को नक्षत्र समुदाय नहीं पा पाते। चन्द्र और सूर्य से भी अधिक जीवन में प्रकाशदायक मेत्ता है जहां रात्रि में भी अन्धकार नहीं होता, बल्कि अन्धकार का विनाश होता है (गा. ४०)। लोभी, क्रोधी, ईष्यालु साधु साधु की श्रेणी में नहीं गिने जा सकते। उन्हें सदाचारी और निष्कषायी होना चाहिए।

गद्य-पद्य भागों में से प्राचीनतर कौन है यह प्रश्न भले ही विवादास्पद हो पर इतना निश्चित है कि गद्यभाग को संकलनकर्ता प्रमाण रूप में प्रस्तुत करता है। गाथा भाग उसी का व्याख्यात्मक रूप है जिसे बाद में जोड दिया गया। इस तथ्य को चारों निपातों में देखा जा सकता है। एकक निपात में तीन वग्ग हैं जिनमें १०+१०+७=२७ सुत्त हैं। दुकनिपात में दो वग्ग हैं और १०+१२=२२ सुत्त हैं। तिकनिपात में पांच वग्ग हैं जिनमें १०+१०+१०+१०+१०=५० सुत्त हैं और चतुक्कनिपात में १३ सुत्त हैं। इनमें संख्यात्मक पद्धति का प्रयोग हुआ है। वही शैली अंगुत्तर निकाय और अभिधम्मपिटक में भी दृष्टव्य है। इसमें प्रक्षिप्तांश भी कम नहीं हैं।

इतिवुत्तक का चीनी अनुवाद ६५० ई. में हुआ। यह पालि इतिवुत्तक से अधिक विस्तृत है। प्रथम दो पात दोनों मे हैं जो प्राचीन हैं पर तृतीय पात के कुछ रूप तथा चतुर्थ पात उसमें नहीं है। फिर भी उसमें विस्तार हुआ है।

५. सुत्तनिपात

सुत्तनिपात में तथागत बुद्ध के विखरे हुए उपदेशों का संग्रह हुआ है। यह ग्रन्थ पांच वग्गों में विभक्त है - उरगवग्ग, चूलवग्ग, महावग्ग, अट्ठकवग्ग और पारायनवग्ग। इनमें क्रमशः १२+१४+१२+१६+१६=७० सुत्त हैं। इस पर परमत्थजोतिका नामक अट्ठकथा लिखी गई है।

सुत्तनिपात त्रिपिटक में कदाचित् सर्वाधिक प्राचीन और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी भाषा पर वैदिक भाषा का प्रभाव दिखाई देता है। उदाहरण के रूप में समूहतासे

(गा. १४), भवामसे (गा. ३२), सुवाना (गा. २०१), जनेत्व (गा. ६९५), कुप्पटिच्चस्सन्ति (गा. ७८४) आदि जैसे शब्द ऋग्वेदिक भाषा से प्रभावित हैं। इसके छन्द भी वैदिक लगते हैं। अनुष्टुप, त्रिष्टुप और जगती छन्दों का प्रयोग हुआ है। वैदिक छन्दों के समान यहां गण का भी बन्धन नहीं है। भाषा के समान विचार भी वैदिक युग से प्रभावित लगते हैं, देवयजनवाद का चित्रण यहां भी सुन्दर ढंग से हुआ है। अट्ठकवग्ग और पारायनवग्ग का नाम पालि-संस्कृत ग्रन्थों में भी आता है। इन पर प्राचीन टीका भी है जिसे खुद्दकनिकाय में निद्देस कहा गया है।

सुत्तनिपात का प्रारम्भ उरगसुत्त से होता है जिसे धम्मपद में संग्रहीत किया जा सकता था। दूसरे में बुद्ध और धनियगोप के बीच सुन्दर संवाद है। चूलवग्ग में रतन, मंगलसुत्त हैं जिन्हें खुद्दकपाठ और मेत्तसुत्तन्त में सम्मिलित किया गया है। महावग्ग में तथागत की प्रव्रज्या का वर्णन है। सेलसुत्त और वासेट्ठसुत्त की विषय सामग्री मज्झिम निकाय (९२, ९८) में दृष्टव्य है। इसी तरह सगाथवग्ग (सं.नि. ७४), वंगीससंयुत्त (सं.नि. थेरगाथा १२०९-१२७९) भी अन्यत्र खोजे जा सकते हैं। अशोक के भाब्रू और वैराट शिलालेखों में उल्लिखित मुनिगाथा (मुनिसुत्त), मोनेय्यसुत्त (नालकसुत्त), उपतिसपसने (सारिपुत्त सुत्त) भी यहां उपलब्ध हैं। मुनिगाथा का उल्लेख दिव्यावदान में भी है। अट्ठकवग्ग और पारायनवग्ग में प्रारम्भिक बौद्ध सिद्धान्तों का संकलन है। इन पर निद्देस टीका भी उपलब्ध है। संभवतः प्रारम्भ में इनका स्वतन्त्र अस्तित्व रहा हो।

सुत्तनिपात को **काव्य की श्रेणी** में संयोजित किया जा सकता है। वह एक प्रकार से धार्मिक गीतिकाव्य है जिसमें संवाद और आख्यान समाहित हैं। नालक सुत्त, पब्बज्जासुत्त, पधानसुत्त विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। गद्य-पद्य मिश्रित चम्पू शैली के दर्शन यहां होते हैं। बुद्धचरित की दृष्टि से भी इन सुत्तों का विशेष महत्त्व है। पारायनवग्ग (५) धनियसुत्त (१.२) और खग्गविसानसुत्त (१.३) की गाथाओं में गीतात्मकतत्त्व प्रचुर मात्रा में दिखाई देता है। यहां प्रत्येकबुद्धत्व के बीज भी मिलते है जो अर्हदावस्था से बड़ा है। ब्राह्मण के आचरण के विषय में बुद्ध सदैव टीका करते रहे। ब्राह्मण धम्मिकसुत्त (२.७) में बताया है कि किस प्रकार प्राचीन काल में ब्राह्मण ऋषि सदाचारी थे और किस प्रकार बाद में वे विलासिता भरे जीवन की ओर आकृष्ट हुए और हिंसक यज्ञ करने लगे। सेखसुत्त (३.७) में ब्राह्मण शैल के भिक्षु होने की कथा है। इसके कुछ पाठ भगवद्गीता और अणुगीता से मिलते हैं। वासेट्ठसुत्त (३.९) में महाभारत के समान यह बताया है कि ब्राह्मण सदाचार से होता है, जन्म से नहीं। आमगन्धसुत्त (२.२) में उन्होंने कहा कि मांस भक्षण से भी अपवित्र कार्य है किसी भी प्राणी की हिंसा करना,

असत्य बोलना आदि। कसिभारद्वाज सुत्त (१.४) में भिक्षा मांगते हुए बुद्ध की निन्दा करने वाले भारद्वाज से कहा कि वे भी हल चलाते हैं।

बुद्धकाल में '**आमगन्ध**' शब्द जनसामान्य में प्रचलित रहा है। जैनागम के प्राचीनतम अंग ग्रन्थ आयारांग में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है - **सव्वामगंधं परिन्नाय निरामगंधे परिव्वये** (२.५) अर्थात् मुनि को सभी प्रकार के आमगंधों को जानकर उनका त्याग करना चाहिए और निरामगंधी होकर विचरण करना चाहिए। चूर्णिकार अथवा वृत्तिकार ने इसका कोई व्युत्पत्तिपरक अर्थ नहीं किया मात्र इतना ही कहा कि आमगन्ध का सम्बन्ध आहार से सम्बद्ध दोषों से होना चाहिए। तदनुसार उद्गमादि दोषों से युक्त आहार **आमगन्ध** कहलाता है। वैसे आम का अर्थ कच्चा है अर्थात् जिसकी गन्ध कच्ची हो वह आमगन्ध है। अर्थात् मुनि को ऐसा कच्चा भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए जो उद्गमादि दोषों से युक्त हो। यहां आमगन्ध का अर्थ कदाचित् कन्दमूल से सम्बद्ध है। अर्थात् कन्दमूल को पकाकर खाया जा सकता है ? कच्चे कन्दमूल का भक्षण मांसभक्षण जैसा सदोष भोजन है। सुत्तनिपात के आमगन्ध सुत्त में तिस्स नामक तापस और भ. बुद्ध के बीच एतद्विषयक हुए एक संवाद का उल्लेख है जिसमें तिस्स आमगन्ध का अर्थ कन्दमूल करता है जिसे अभक्ष्य माना गया है जिसे वह छोडे हुए है। परन्तु वहीं उस शब्द का प्रयोग वह तथागत बुद्ध के साथ करता है और कहता है कि बुद्ध आमगन्ध अर्थात् पके हुए मांस से युक्त चावल का भोजन करते हैं फिर भी वे स्वयं को निरामगंध भोजी मानते हैं। ऐसा क्यों ? भ. बुद्ध इसका उत्तर देते हैं कि प्राणघात, वध, छेदन, चोरी, असत्य, व्यभिचार आदि अनाचार आमगन्ध है, मांसभोजन आमगन्ध नहीं। असंयम, जिह्वालोलुपता, अपवित्र आचरण, नास्तिकता, अविनय आमगन्ध है, मांसाहार आमगन्ध नहीं। इस प्रकार सुत्तनिपात में आमगन्ध के दोनों अर्थ दिये हैं। आयारांग में भी इन्हीं दोनों अर्थो का उल्लेख है। इसका तात्पर्य है कि जैन परम्परा में उसका अर्थ है कन्दमूल भोजन जो अभक्ष्य है तथा बौद्ध परम्परा में उसका अर्थ है कच्चे मांस का भोजन जो भक्ष्य है। उस परम्परा में आमगन्ध भोजन की अपेक्षा वध, व्यभिचार आदि अनाचरणीय अधिक घातक है। संभव है, तिस्स तापस जैन परम्परा का भिक्षु रहा हो। इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि भगवती सूत्र के सातवें-आठवें शतक में '**आलुअ**' शब्द का प्रयोग है जिसे कन्दमूल कहा गया है। संभव है यह 'आलुअ' वर्तमान का आलु जैसा कोई वनस्पतिकायिक पदार्थ रहा हो।

सुत्तनिपात एक **नीतिग्रन्थ** भी है। चतुरार्यसत्य और प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या करते हुए उन्हें निर्वाणप्राप्ति का कारण बताया है। पराभवसुत्त (१.६) में जीवन

में दुःख आने का मूल कारण अनैतिकता को बताया है। नावासुत्त (२.८) में ज्ञानी व्यक्ति के साथ रहने का उपदेश दिया गया है। धम्मिकसुत्त (२.१४) में गृहस्थ को हिंसा, आदि से दूर रहकर अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का पालन करने के लिए कहा गया है। 'उरग', 'भागण्डिय' (४.९), पुराभेद (४.१०), अत्तदण्ड (४.१५), खग्गविसाण (१.३), मुनि (१.१२) आदि सुत्तों में आदर्श भिक्षु और उपासक की परिभाषा को स्पष्ट किया गया है। उरगसुत्त में निर्वाणप्राप्ति का मार्ग इस प्रकार बताया है -

यो उप्पतितं विनेति कोधं, विसतं सप्पविसं व ओसधेहि।
सो भिक्खु जहाति ओरपारं, उरगो जिण्णमिव तचं पुराणं ।।

संवाद शैली को कभी-कभी **प्रहेलिका** के साथ मिश्रित कर दिया गया है, जैसे आलवक सुत्त (१.१०) तथा सूचिलोमसुत्त (२.५)।यहां आख्यानसंवाद भी उपलब्ध हैं। नालकसुत्त (३.११), पब्बज्जा सुत्त (३.१), पधान सुत्त (३.२) में वीर गाथात्मक तत्त्व हैं। इनमें बुद्ध की जीवन विषयक काव्यधारा को देखा जा सकता है। इनमें संक्षिप्त गद्य-सूत्र, प्रस्तावना तथा गद्य वाक्य जोड़ दिये गये हैं। नालक सुत्त (३.११) में बुद्ध जन्म के बाद की घटनाओं का वर्णन है। पब्बज्जासुत्त (३.१) में बुद्ध की प्रवज्या का वर्णन है। पधानसुत्त (३.२), उसके बाद की स्थिति का चित्रण करता है। बावरि ब्राह्मण के सोलह शिष्य गोदावरी तट के समीप से चलकर राजगृह तक की यात्रा करते हैं। इससे बुद्धकालीन मार्ग का पता चलता है।

इसका पद्य भाग गद्य भाग की अपेक्षा प्राचीन माना जाता है। कहीं-कहीं पद्य का विषय ही गद्य में पुनरावृत्त हुआ है और कहीं वह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये हुए है। अट्ठकवग्ग और पारायणवग्ग अधिक प्राचीन हैं। अट्ठकवग्ग महीशासक और धर्मगुप्त विनय में क्रमशः अर्थवर्ग और अर्थपद के रूप में उपलब्ध है। साहित्य की दृष्टि से उसमें एकरूपता नहीं है। दोनों वग्गों की भाषा में प्राचीन तत्त्व सन्निहित हैं जैसे संखातधम्मासे, सुत्वान, दिस्वान आदि। इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवजा, गायत्री आदि छन्दों का उपयोग हुआ है, यहां वत्थुगाथा और पारायणसुत्त कुछ उत्तरकालीन लगते हैं, महावग्ग भी।

६. विमानवत्थु

विमान का तात्पर्य है देवताओं का क्रीडानिवास स्थान और वत्थु का तात्पर्य है कथा। पुण्यार्जनकर जो देवगति पाते हैं, विशिष्ट विमानों का वैभव पाते हैं उनकी कथा

विमानवत्थु में मिलती है। भिक्षु मोग्गल्लान ने ध्यान करते समय एक देवता से पूछा तुमने किस कारण से यह वैभव पाया ?उसने उत्तर दिया - अहिंसा, सत्य आदि का पालन करता हुआ वह बौद्धधर्म का उपासक था। इसी पुण्यकर्म से उसने देवत्व पाया। सत्कर्म फल को प्रदर्शित करने के लिए विमानवत्थु का सृजन हुआ। इसमें ८५ विमानों (वत्थु) का वर्णन १२८५ गाथाओं में हुआ है जिनमें सात विभाग हैं - १) पीठवग्ग - १७ विमान, २) चित्तलतावग्ग - ११, ३) पारिच्छत्तकवग्ग - १०, ४) मञ्जेट्ठवग्ग - १०, ५) महारथवग्ग - १४, ६) पायासिवग्ग - १०, और ७) सुनिक्खित्तवग्ग - ११। इनमें उत्पन्न होना गृहस्थों के पुण्यकर्म का फल बताया है। भिक्षु इस पुण्यकर्म को तुच्छ मानकर निर्वाण प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। लगता है, बौद्धधर्म में यह उत्तरकालीन अवस्था है। विमानवत्थु काव्यगुण विहीन पद्यबद्ध रचना है।

पेतवत्थु

दुष्कर्मों के फल को स्पष्ट करने के लिए पेतवत्थु का सृजन हुआ। इसमें प्रेतों की कथाएं हैं। पुराणों में भी इसी तरह नरक की कल्पना हुई है। कहा जाता है, नारद ने एक बार एक प्रेत से पूछा - तुम्हें यह दुःख पूर्ण जीवन कैसे मिला ?तुम्हारी देह चमक रही है पर मुख सुअर जैसा है। प्रेत उत्तर देता है - ''मैं कार्यों में संयत था पर शब्दों में असंयत था इसलिए मुझे ऐसा रूप मिला -

कायेन संजतो आसिं, वाचायासिमसंजतो।
तेन मेतादिसो वण्णो, यथा पस्ससि नारदो।।

पेतवत्थु में चार वग्ग हैं जिनमें ५० प्रेत कथाएं (वत्थु) हैं और ८१४ पद्य हैं - १) उरगवग्ग - १२, २) उब्बरिवग्ग - १३, ३) चूलवग्ग - १०, और ४) महावग्ग - १६। इसके नन्दकपेतवत्थु वण्णना (४.३) में राजा पिंगलक का वर्णन आता है जो शास्ता के परिनिर्बाण के २०० वर्ष बाद हुआ। इससे यह तथ्य स्पष्ट होता है कि टीकाकार भी बुद्ध और पिटक संगायक के बीच अन्तराल मानते थे। अतः इसे अधिक प्राचीन नहीं कहा जा सकता। फिर भी इसमें ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सामग्री प्राप्त होती है। यह भी गृहस्थों को लक्ष्यकर लिखा गया है। काव्यात्मक दृष्टि से विमानवत्थु और पेतवत्थ श्रेष्ठ रचनाओं की श्रेणी में नहीं आ सकतीं। ये दोनों उत्तरकालीन ग्रन्थ हैं। इन दोनों ग्रन्थों पर परमत्थदीपनी नामक अट्ठकथा मिलती है।

७. थेरगाथा

थेर-थेरी-गाथा भिक्षुओं और भिक्खुणियों द्वारा अनुभूत वचनों का संग्रह है

अतः उन्हें बुद्धवचन नहीं कहा जा सकता। दोनों पर परमत्थदीपनी नामक अट्ठकथा उपलब्ध है। थेरगाथा में १६४ गान तथा १२७९ पद्य हैं पर परम्परानुसार उनकी गणना १३६० मानी गई है। ये गाथाएं २१ निपातों में विभक्त हैं। यदि निपातों के अन्त में दी गई संख्या को जोडा जाये तो गाथाओं की संख्या १२९४ हो जाती है। इसमें भ्रान्ति का कारण है गाथाओं की विभाजनप्रक्रिया। गाथाओं को बोलने वाले भिक्षुओं की संख्या निर्विवाद रूप से २६४ है। निदानगाथावण्णना में इसका स्पष्ट उल्लेख है।

थेरगाथा में भिक्षुओं ने अपने अन्तर्जगत के **अनुभवों** को उतारा है। इसमें उनके जीवन संघर्ष की कहानी भी है और पर दुःखों की सहज अनुभूति भी है। प्राकृतिक दृश्यों के साथ यह अनुभूति पक्ष और भी सबल हो उठता है। स्थविर माणव, वीतसोक, नन्द, सिरिमा आदि के अनुभवों को पढने से उनकी सांसारिक और शारीरिक वीतरागता अभिव्यक्त होती है। सारिपुत्र भिक्षु जीवन के आदर्श को इस तरह व्यक्त करते हैं -

नाभिनन्दामि मरणं नाभिनन्दामि जीवितं।
कालं च पटिकंखामि सम्पजानो पटिस्सतो।।
नाभिनन्दामि मरणं नाभिनन्दामि जीवितं।
कालं च पटिकंखामि निब्बिसं भतको यथा (गाथाएं १००२-३)।

इन अनुभवों को हम प्रारम्भिक स्तर पर और उत्तरभागी स्तर पर विभाजित कर सकते हैं। यहां हम मात्र विषय और गाथा क्र. दे रहे हैं। सुधी पाठक मूल ग्रन्थ को देखकर उसे समझ सकते हैं। स्वानुभूति के पूर्व विषय - १) **जीवन में परिवर्तन का** कारण - प्रायः दुःख, जीवन की असहनीयता, घरेलु झगडे आदि - २१३-२३, ८६६-९९, ७२०-२१, ८६३, ३४५-४९, ३४१, २१९, ३७७, २८३-४, २३-२४, २) **आध्यात्मिकता** - ५११-१२, ७०५-२२, ११२४, ४२९, ४७९, ६२४-२५, ४४८ ३) **संसार घरत्याग कम से** कम ७ वर्ष और अधिकाधिक १२० वर्ष की अवस्था में - ५११-१२, ७०५-२२, ११२४, ४२९, ४७९, ६२४-२५, ४४८ ४) **धुतांग पालन** - स्वयं अनुभव प्राप्ति - १०८७, ११२०, अरण्यवास - ९९२, ११५, ५४४, ११३५, ११४१, ३०९, ५४५, ११३५, ११२३, २१७, ४६७, ९९८, ६, ३१५, ३९३, ५९९, ८३४, १, ५१, ५२-६०, ३२५-२९, ४८७, वेषभूषा - ५७८, ३७७, ५१२, भिक्षाग्रहण - १०५४, १०५७, २४८, ५७९, ९८२, ५७९-८०, १०५४-५६, एकान्तवास ५४१, ५५४, ५७७-८०, ८९६, एकासन - ४८८, असंसट्ठ ८६०, ८८५, ६२, ५३७, ५४१, १०९, ११२२, ५७७, मन्तभाणादि १००६-७, १२७, तूण्हीभाव ६५०, ९९९, संगीत - ५७७-८१, १०५७, ८४२-६५, अरण्यवास कठिनाइयां - ८८४, ३५०, ४३५, ५२४, ५७७, ११३५, १११८, ५) **गुरु प्राप्ति खोज** - सत्था २१४, ९१२, ७४७, ७५०, ७५६, २१४, ९१२,

२४७-९०, ४८०, ६०४, ९१८, ३३०, १०५०, १०४१-४२, ६) व्रत प्रतिज्ञा- १६७, ५४३, २२३, ३१२-३, ७) ध्यानाभ्यास - १२, १३४, ३५०-३, ११२, ३७, २६६, ३५५, ३८२, अप्पमञ्ञा ३८६, ३५५-५९, ९०४ ८) ज्ञानप्राप्ति - ६२७-३१, ६७, ९) कर्म - ८०, ६७५, ६५०, १०५१, १११४, ८८८, ४३३, ५५७, अनुभूति का उत्तरकाल, १०) आत्मज्ञान - ६२८-९, ७०७, ११) करुणा - १०९, ८७०, ३३, ८७६, ६९३, २३८, १२) चमत्कारलोकोत्तरशक्ति - ३७५, ३७९, ९१३-१७, १६५, २५८-६०, ३३२, १३) दर्शन प्राप्ति - ३४३, ८१८, ८२१, ८७१, १४) सन्त संस्कृति - २०६, ६२९, १०८२, ८४, ११७८-८०, ५५१, २९६, १०३७-३८, ५६५, ८३५-४१, १२६४, १५४, १०५१, १५९-६०, १५) अन्यों को शिक्षादान ८७०, २६, २१४, ३३०, ४-३-३३, १६) उपासक शिष्यों की स्वीकृति - ४३३, ५५७-६०, १८७, ६५, १७) पिटक अध्ययन का अभाव - पिटक अध्ययन आवश्यक नहीं रहा, १८) मौखिक अध्ययन परम्परा, १९) धर्मान्तिरण करना ७०५-२५, २०) दुर्जन-मारादि पराजय, १२०८, ४२९, २१) अस्पृश्य जाति से सम्बन्ध - १२४, १०५२, २२) सामाजिक-धार्मिक कार्यो से दूर रहना - स्वयं को अज्ञानी मानना - १२९-३०, २३) तिरस्कार - ६६७, १२९, ११००, ११६८, ११७३, २०९, ९२०-८०, २४) तिरस्कृत भिक्षु से व्यक्ति की हानि - ११७३, २५, २५) साधुसम्मान - १०५८, ११६८, १२४८, ४५, १२३२-३३, ४९०, २६) साधु की आश्चर्यकारी देह - २०४, २८१, २७) दीर्घायुकाल - १९९०, २८) सन्त से आशाएं, २९) धर्मच्युति का उल्लेख - परापरिय ९२०-४८, ९४९-८०, फुस्स - ९४७, ९४७, ९५०, ९७७, ३०) मृत्युज्ञान - ७०९, २०, ६५४-५५, ६०६-७, ६८५-६, १००२-३, ३०) असाधारण मृत्यु का उल्लेख नहीं, ३१) पवित्र स्थानों पर निवास - २८७-३०८, ३२) गानों में आगम तथा जीवन गाथा का उल्लेख।

थेर-थेरी गाथा में पिटक परम्परा से विकसित रूप मिलता है, **वहां अरण्यवास** नहीं। भिक्षु समुदाय गांव-नगर में रहने लगा था - २४५, १५३, एकान्तवास से समूहवास निम्नकोटि का है - १४२, ९६२, ९२०-४८, ९२१, ९२२-२४, ज्ञान प्राप्ति के लिए अरण्यवास उपयोगी माना गया - ९२५-२९, पारापरिय का जीवन अरण्यवास से विपरीत था - ९३५, ९३९-४०, ९३६, ९३१, ९३५, ९३३, ९४४, ९३५, ९४१, ९४३, ९३४, ९४२, ९४४, ९२९-३०, साधु जीवन की आलोचना और उनकी भविष्य में स्थिति फुस्स की दृष्टि में - ९५१-९६५, सही धर्म नष्ट हो रहा है अर्थात् पारापरिय जैसे भिक्षुओं की संख्या कम थी - ७२६-७४६। अरण्यवास की प्रशंसा तथा अरण्यवासी और नगरवासी भिक्षुओं के बीच सम्बन्ध को भी थेरगाथा में स्पष्ट किया गया है।

मूलसर्वास्तिवादी भैषज्यवस्तु थेरगाथा के कुछ गानों का संकलन मात्र है। थेर-थेरी गाथा के संस्कृत अनुवाद का मात्र उल्लेख मिलता है। अरण्यवास का उल्लेख सुत्तनिपात (३५-७५, १६५-६६ आदि), धम्मपद, (९९, १२७, ३०५ आदि), सं.नि.

१.१२८, उदान, इतवुत्तक आदि ग्रन्थों में भी मिलता है। थेर-थेरी गाथाओं में कोई ऐतिहासिक तत्त्व नहीं है। धुतांग का वर्णन थेरगाथा में है। लेण शब्द का प्रयोग विहार अर्थ में और पातिमोक्ख शब्द का प्रयोग ध्यान अर्थ में हुआ है (थेर, ५८४)।

ऊपर हमने थेरगाथा में व्यक्त विषय बिन्दुओं का मात्र उल्लेख किया है। वैयक्तिक, अनुभूतियां की अभिव्यक्ति यहां अधिक हुई है। यहां प्रायः महिलावर्ग की निन्दा की गई है। पर यह भी कहा गया है कि साधक स्त्री के कामिनी रूप पर आसक्त नहीं हुआ (गा. १२११)। स्त्री सभी दुःखों का कारण है (गा. ७३८)। भिक्षु अनित्य पर चिन्तन करता हुआ अपने शरीर की अनित्यता पर भी विचार करता है (गा. ३९५)। एक भिक्षु दलित था जिस पर बुद्ध ने कृपा की और प्रव्रज्या दे दी। प्रव्रजित उस भिक्षु को अब इन्द्र और ब्रह्मा भी प्रणाम करते हैं (गा. ६२०)। प्रव्रजित भिक्षु को देखकर माता रुदन करती है। तब भिक्षु कहता है ''मैं जीवित हूं, फिर रुदन क्यों ? (गा. ४४)।

साधना के प्रसंग में भिक्षुओं ने प्रकृति का भी आश्रय लिया। थेरगाथा में वन्य और पर्वत दृश्यों का सुन्दर चित्रण हुआ है। मूसलाधार वर्षा होने पर भिक्षु प्रार्थना करता है - हे देव ! यथासुख वर्षो, मेरी कुटिया छायी हुई है वह शान्त और सुखकारी है (गाथा ७.१)। सुन्दर गीत के समान देव वरसता है (वस्सति देवो यथा सुगीतं) पर भिक्षु के लिए वर्षा से भी बढकर ध्यान का महत्त्व है (गाथा ३९८)। मयूर नाच रहे हैं, आकाश में मेघ उमड रहे है, फिर भी ध्यानस्थ भिक्षु निर्भय होकर गुफा में साधना कर रहा है। यही उसका स्वभाव है, धम्मता है (गाथा - १८०-१९०)। वर्षाऋतु के ऐसे अनेक रमणीय प्रसंग थेरगाथा में भरे पडे हुए हैं।

तालपुट की इच्छा कुछ दूसरी ही थी। वह पर्वत गुफाओं में बैठकर ध्यान करना चाहता था। काषायवस्त्र पहनकर वन में विहार करना चाहता था, तृष्णालता को काटकर जितेन्द्रिय होना चाहता था, वर्षा ऋतु से चीवर भिंगोकर परमार्थ प्राप्ति का चिन्तवन करना चाहता था। बाद में वही तालपुट भिक्षु बनकर चित्त की चंचलता को दूरकर समाधि में जुट जाता है, निर्वाण प्राप्ति की ओर चल पडता है (गाथा १०९६-११४९)। तालपुट जैसे ही अनेक ऐसे भिक्षु थे जो विषय वासना से दूर रहकर प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते थे। आतुम (गा. ७२), वल्लिय (गा. १६७-६८), किम्बिल (१५५-५६), माणव (७३), सुयामन (७४) आदि ऐसे ही भिक्षु हैं जो स्वानुभूति के आधार पर अपना पूर्व धर्म छोडकर बौद्ध भिक्षु बन गये थे। फुस्स भविष्यकालीन भिक्षुओं के चारित्रिक पतन को देखता है। बाल भिक्षु द्वारा चमत्कार प्रदर्शन और सारिपुत्त का देवों द्वारा सम्मान उत्तरकालीन दिखाई देता है।

८. थेरीगाथा

थेरगाथा की अपेक्षा थेरीगाथा में वैयक्तिक अनुभूति की तलस्पर्शिता और यथार्थता अधिक है। इसमें ७३ भिक्षुणियों के व्यक्तिगत उद्गार ५२४ गाथाओं और १६ निपातों में विभक्त हैं। इस पर धम्मपाल की टीका उपलब्ध है। इसका संस्कृत अनुवाद 'स्थविरी गाथा' के नाम से हुआ है। पर उसका मात्र उल्लेख मिलता है।

इसमें भी थेरगाथा के समान भिक्षुणियों ने अपनी प्रव्रज्या के कारणों को गिनाया है - १) घर में छल-कपट (मुक्ता, शुभा, गुप्ता, चन्दा आदि), २) प्रियजनों की मृत्यु या इष्टवियोग (किसा गोतमी, पटाचारा, महाप्रजापति, गोतमी आदि), ३) कृतघ्न, धूर्त आदि लोगों से वंचना (इसिदासी, भद्रा, कुण्डलकेशा आदि), ४) पति, भाई आदि आत्मीयजनों द्वारा स्वीकृत प्रव्रज्या का अनुकरण (कापिलायिनी, चापा, उपचाला आदि), ५) तथागत बुद्ध के प्रति श्रद्धा (धर्मा, चित्रा, शुक्ला आदि), ६) गार्हस्थिक, दुख, जीवन की असहनीयता (अंबपाली आदि), ७) अपमान (उत्पलवर्णा आदि)।

थेरीगाथा पूर्णतः भिक्षुणियों के जीवन से सम्बद्ध है। उसमें चापा और उसके पति के बीच हुए ऐसे भी संवाद हैं, जिनमें पत्नी पति को भिक्षु न होने की सलाह देती है। यहां भिक्षुणी को या तो सम्बोधित किया जाता है या फिर वह स्वयं को सम्बोधित करती है। इसमें स्वानुभूति का जो वर्णन मिलता है वह भारतीय गीतिकाव्य का सुन्दर उदाहरण है। महिलाओं द्वारा अभिव्यक्त यह कदाचित् प्रथम काव्य होगा। अम्बपाली की अभिव्यक्ति में इस तथ्य का उदाहरण दृष्टव्य है। खेमा, सुमना, शैला और सुमेधा का सम्बन्ध कोसल व मगध के राजघरानों से था। महाप्रजापती गोतमी, तिष्या, सुन्दरी, नन्दा इत्यादि भिक्षुणियां राजघराने की थीं। ब्राह्मण वर्ण से आगत भिक्षुणियों में मैत्रिका, रोहिणी, शुभा, भद्रा के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। चित्रा, श्यामा, पटाचारा, सुजाता आदि भिक्षुणियां वैश्य वर्ग से हैं और अंबपाली, विमला, अड्ढकासी, गणिका वर्ग से हैं। लगता है, लगभग एक सहस्र वर्ष तक की थेरगाथाएं इसमें संग्रहीत हैं।

थेरगाथा के समान थेरीगाथा के भी अनुभवों को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं - १) आत्मज्ञान के पूर्व, और २) आत्मज्ञान के पश्चात्। आत्मज्ञान के पूर्व थेरियां जीवन की असहनीय घटनाओं से गुजरती हैं जिसे हम गाथा क्र. ५१-५३, १२२, २५२-७० में देख सकते हैं। अन्य सन्दर्भ देखें - धुतांग पालन- अरण्यवास, परिभ्रमण - १७-२०, ७२, भिक्षाग्रहण - १७-२०, ९२, ११०, वेषभूषा - १, १६, ८९६, ३२, ७५, अपमान - २३०-१, गुरुप्राप्ति खोज शास्ता के रूप में - २२, १६०, १४८, १५४,

ज्ञानप्राप्ति - १७, कर्म - ५१२-१३ आदि। इसी तरह आत्मज्ञान की प्राप्ति के बाद के अनुभव के लिए गाथा क्र. देखिए - लोकोत्तर शक्ति - ६७-७१, १७९-८१, २२७-२८, ३३०-३१, दर्शन - प्राप्ति - ३, ८३३, ८२९, अन्यों को शिक्षादान - ६९, १०२, १७०, ४३।

इन गाथाओं में भिक्षुणियों ने 'अहं' शब्द के उपयोग के माध्यम से अपने अनुभवों को व्यक्त किया है। ऐसे अनुभवों में वैयक्तिक दुःखों की अनुभूति का दर्शन अधिक होता है। कहीं वे सन्तान वियोग का दुःख झेल रही हैं - तो कहीं का दंश भोग रही हैं (पटाचारादि), दरिद्रता (चन्द्रा आदि)। किशा गोतमी जैसी अनेक महिलाएं सन्तानवियोग का कष्ट पाकर तथागत की शरण में चली जाती हैं - २१६-२२२, अम्बपालि जैसी महिलाएं शारीरिक परिवर्तन को देखकर 'बुद्ध वचन मिथ्या नहीं हैं यह सोचकर प्रव्रज्या ग्रहण कर लेती हैं - २५२-२७०, ३१२-३७, शुभा जैसी भिक्षुणियां लम्पट पुरुषों से परेशान होकर तथागत के वचनों की सत्यता का अनुभव करती हैं - ३१८-३९९, मारसंवाद - शैल, व मार के बीच - ५७-५९, चाला व मार के बीच - १८२-९५, शिशूपचाला व मार के बीच - १९६-२०३। इन संवादों में नाटकीय सौन्दर्य दिखाई देता है - वड्ढमाता और उसके पुत्र के बीच संवाद - २०४-२१२, रोहिणी और उसके पिता के बीच संवाद - २७१-२९०, चापा और उसके पति के बीच संवाद - २९१-३११, शुभा और लम्पट पुरुष के बीच संवाद - ३६६-९९। इन संवादी गाथाओं का दर्शन संयुक्तनिकाय, धम्मपद, सुत्तनिपात आदि ग्रन्थों में भी होता है।

थेरीगाथा में थेरगाथा की अपेक्षा प्रकृति चित्रण कम है। इन दोनों ग्रन्थों में परम्परागत विनय नियमों की उपेक्षा दिखाई देती है। मूल पिटक परम्परा से यहां विकसित रूप प्रतिबिम्बित हुआ है। अरण्यवास के स्थान पर गांव नगर में आवास होने लगा था। सही धर्म नष्ट होने लगा था। सुत्तनिपात का अरण्यवास की ओर झुकाव किसी से अपरिचित नहीं है। यह रूप यहां दिखाई नहीं देता। थेरीगाथा में वैयक्तिक अनुभव की प्रधानता है। दोनों ग्रन्थों में भाषा, भाव और दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हैं। इनमें निराशावाद नहीं, चित्त सुसमाहित का निदर्शन है। उनमें आत्मविश्वास, नैतिकता और पुरुषार्थवृत्ति है। अतः गीतों में सरसता और आत्मोन्मुखिता है। इनका रचयिता कोई एक नहीं, अनेक हैं।

थेरीगाथा के अध्ययन से ऐसा लगता है कि अधिकांश महिलाएं पुत्र वियोग के कारण भिक्षुणियां बनी थीं। विधवास्था से दुःखी होकर भी उन्होंने संघ में प्रवेश लिया। वेश्याएं भी निर्वाण प्राप्ति की ओर झुकती दिखती हैं। निर्धनता भी एक और **कारण** रहा है। इन गाथाओं में नारी वर्ग की दशा का सुन्दर चित्रण हुआ है। उपमाओं के माध्यम से

स्वानुभूति के चित्रण को और भी सरस और आलंकारिक बना दिया है। आम्रपाली की अभिव्यक्ति को एक सुन्दर काव्य कहा जा सकता है। इसमें पहले शारीरिक सौन्दर्य का चित्रण किया गया, बाद में उसमें समागत विकृतियों का उल्लेख हुआ है। "**सच्चवादि वचनं अनञ्था**" की पुनरावृत्ति मनमोहक हो जाती है (२५२-२७०)। रोहिणी और उसके पिता के बीच हुआ संवाद भी बडे रोचक काव्य का निदर्शन है।

थेरीगाथा में भी थेरगाथा के समान उपमाओं का विशाल भण्डार है। उदाहरणार्थ पटाचारा अर्हत्व प्राप्त कर अपने साधना सम्पन्न जीवन का प्रत्यवेक्षण करती हुई कहती है कि जिस प्रकार किसान हल चलाता है, बीज बोता है और फसल काटता है उसी प्रकार भिक्षुणी भी निर्वाण प्राप्त करती है। अपने पैर धोते समय वह शिला से नीचे टपकते हुए पानी को देखती है। यह दृश्य विचारों को आन्दोलित करता है और वह ध्यानमग्न हो जाती है। जिस प्रकार अच्छी नस्ल के घोडे को सिखाया जाता है उसी प्रकार वह कठोरता पूर्वक आत्म-दमन करती है, विहार में जाती है, दीपक को हाथ में लेती है और सुई से उसकी वत्ती को खींचने लगती है। जैसे ही दीपक बुझता है, वह निर्वाण प्राप्त कर लेती है। उपमाओं का यह मनमोहक प्रयोग है -

नङ्गलं कसं खेत्तं, बीजानि पवमं छमा।
पुत्तदारानि पोसेन्ता, धनं विन्दन्ति माणवा।।
पादे पक्खालयित्वान, उदकेसु करोमहं।
पादोदकं च दिस्वान, थलतो निन्नमागतं।।
ततो सूचिं गहेत्वान, वट्टिं ओकस्सयामहं।
पदीपस्सेव निब्बानं, विमोक्खो अहु चेतसो ।।११२-११६।

इसी तरह और भी अनेक उद्धरण उपस्थित किये जा सकते हैं। सुभा जीवकम्बवनिका भिक्षुणी का पीछा करने वाला कोई लम्पट धूर्त उसे सांसारिकता के चक्र में फंसाना चाहता है। सुभा उसे ठुकरा देती है और कहती है कि देखो, तुम मार्ग-भ्रष्ट हो गये हो। तुम आकाश बिहारी चन्द्रमा को पकडकर उसके साथ खेलना चाहते हो, तुम मेरु के शिखरों पर छलांग लगाना चाहते हो। एक ओर तुम यह संभावना देख रहे हो और फिर बुद्ध के पुत्र होने की प्रतीक्षा में बैठे हो - **उप्पल सिखरोपमानि ते, विमले हाटकसन्निभे मुखे ।...अपथेन पयातुमिच्छसि, चन्दं कीळनकं गवेससि। मेरुं लङ्घेतुमिच्छसि, यो त्वं बुद्धसुतं मग्गयसि..** ३८४-३८६। वैसे यह पूरा निपात काव्यत्व से भरा है।

थेरीगाथा इस प्रकार की स्वानुभूतियों और घटनाओं का सुन्दर संकलन है। इसमें थेरगाथा के समान बुद्धकालीन और उत्तरकालीन भिक्षुणियों के अनुभवों का संग्रह

हुआ है। इसलिए इन दोनों ग्रन्थों को बुद्धवचन नहीं कहा जा सकता है। परन्तु उन्हें गीति काव्य की श्रेणी में रखा ही जा सकता है। और फिर थेरीगाथा तो अपने आप में अद्वितीय काव्य है जो महिलावर्ग द्वारा रचित है।

१०. जातक

जातक तथागत बुद्ध के अतीत जन्मों की कथाओं का एक सुन्दर संग्रह है। इनका सम्बन्ध उनकी बोधिसत्त्व अवस्था में घटित जन्म-जन्मान्तरों से है। प्रत्येक जातक कथा पांच भागों में विभक्त है - १) पच्चुप्पन्न वत्थु (वर्तमानकालीन घटना), २) अतीतवत्थु (पूर्वजन्म वृत्तान्त) - गद्यकथात्मक, ३) गाथा, ४) वेय्याकरण या अत्थवण्णना (गाथाओं की व्याख्या), और ५) समोधान (अतीत और वर्तमान से उनका सम्बन्ध घटित करना। जातकट्ठकथा में बुद्ध जीवन को तीन निदानों में बांटा है - १) दूरे निदान (सुदूर अतीत कथाएं) जिसमें सभी ५४७ जातक कथाएं सम्बद्ध हैं, २) अविदूरे निदान-लुम्बिनी वन में जन्म लेने के समय से लेकर बोधि प्राप्ति तक की कथा, और ३) सन्तिके निदान बोधि प्राप्ति से लेकर निर्वाण प्राप्ति तक की कथा।

जातक कथा में लगभग २५०० **गाथाएं** हैं जो संख्या एक से लेकर तेरह निपातों में विभाजित हैं, बाद में पकिण्णकनिपात है जिसमें २० से ८० निपात हैं और फिर महानिपात है जिसमें दस लम्बी कथाएं हैं। कुल जातक कथाओं की संख्या ५५० है पर उनमें ५४७ ही उपलब्ध होती हैं। तीन कथाएं - ४९७ वेलाम जातक, ४९८ महागोविन्द जातक, और ४९९ सुमेधपण्डित जातक नष्ट हो चुकी हैं। ५५० जातक कथाएं वर्मा में अस्तित्व में थीं जिन्हें दक्षिण भारत के कांची नगर से लाया गया था। श्रीलंका में भी उनका अस्तित्व था। १४ वीं शती में पराक्रमबाहु चतुर्थ ने दक्षिण भारत के भिक्षु को राजगुरु पद पर नियुक्त कर उनसे ५५० जातक कथाएं सुनी थीं (महावंस, ४९.८२)। ये जातक कथाएं गद्य-पद्य मिश्रित चम्पू शैली में उपलब्ध हैं। इसके पद्य भाग में अधिक प्राचीनता लक्षित होती है। इस पर बुद्धघोष की जातकट्ठवण्णना या जातकट्ठकथा नामक टीका उपलब्ध है।

जातक कथाओं का कुछ रूप भरहुत और सांची के स्तूपों की पाषाण-वेष्टनियों पर चित्रित है जो उसके गद्य भाग से सम्बद्ध है। अतः इसका समय तृतीय शती ई.पू. माना जा सकता है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि जातकट्ठवण्णना बुद्धघोष की कृति नहीं है। बुद्धघोष महाविहारवासी थे। और जातकट्ठवण्णना महिशासक सम्प्रदाय के पण्डित बुद्धदत्त की प्रेरणा से लिखी गई है। पर यह सही नहीं है। इसके लेखक बुद्धघोष ही हैं भले ही उसके प्रेरक महिशासक सम्प्रदाय के रहे हों।

गद्य भाग का आश्रय लेकर भारहुत और सांची स्तूपों पर जातक कथाओं का सुन्दर चित्रण हुआ है। इसका तात्पर्य है कि जातक का यह भाग शुंगकाल से पूर्ववर्ती

होना चाहिए। विन्टरनित्स ने गद्य और पद्य भाग के बीच कतिपय विसंगतियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। अमरावती और अजिंता में जो जातकचित्रण हुआ है वह उत्तरकालीन है।

जातक कथाओं का स्वरूप वस्तुतः लोक साहित्य का आंचल रहा है। ये कथानक वैविध्य लिए हुए हैं। विन्टरनित्स ने उन्हें सात भागों में वर्गीकृत किया है - १) व्यावहारिक नैतिक कथाएं, २) पशुकथाएं, ३) हास्य और विनोद मिश्रित कथाएं, ४) रोमांचकारी लम्बी कथाएं या उपन्यास, ५) नैतिक वर्णन प्रधान कथाएं, ६) कथनमात्र, और ७) धार्मिक कथाएं। वर्णनशैली को विन्टरनित्स ने पांच भागों में विभाजित किया है - १) गद्यात्मक वर्णन, २) आख्यान, जिसके दो रूप हैं - १) संवादात्मक, और २) वर्णन और संवादों का सम्मिश्रित रूप, ३) अपेक्षाकृत लम्बे विवरण जिनका प्रारंभ गद्य से होता है किन्तु बाद में जिनमें गाथाएं भी पाई जाती हैं, ४) किसी विषय पर कथित वचनों का संग्रह, और ५) महाकाव्य या खण्डकाव्य के रूप में वर्णन।

जातक के लिए '**जातकट्ठवण्णना**' शब्द का प्रयोग हुआ है। उसी पर 'जातकट्ठकथा' लिखी गई। कहा जाता है, जातक कथाओं का रूपान्तरण पालि से सिंहल और सिंहल से पालि में हुआ। इन जातक कथाओं का विषय इस प्रकार दृष्टव्य है - १) कल्पित कथा - नीति विषयक या वैराग्यपरायण, २) अद्भुतकथा - परिकथा आदि, ३) लघुकथा - प्रहसन आदि, ४) दीर्घकथा, ५) नीति कथा, ६) आध्यात्मिक कथा। इन्हें भी यदि संक्षिप्त करना चाहें तो कल्पित और अद्भुत कथायें ये दो भाग हो सकते हैं। आर्यशूर की जातकमाला और अवदान साहित्य में भी जातक कथाएं उपलब्ध है।

वानरिन्द जातक (५७), विळारवत जातक (१२८), सीहचम्मजातक (१८९), सुंसुमार जातक (२०८), सन्धिभेद जातक (३४९) आदि जातक कथाओं का सम्बन्ध पशुजगत से है। इन कथाओं में तीखा व्यंग्य छिपा रहता है। इनमें प्रायः पशुओं की तुलना में मानव को हीन बताया गया है। जैसे गरहित जातक में बन्दर मनुष्य के निन्दात्मक चरित्र का वर्णन करता है। सिगाल जातक (११३) में ब्राह्मणों की लोभवृत्ति का उद्घाटन है। सब्बदाठ जातक (२४१) में श्रृगाल की कथा बडी विनोदपूर्ण है।

जातक कथाओं में ऐसी भी कथाएं संग्रहीत हैं जिनका सम्बन्ध प्राचीन श्रमण परम्परा से रहा है, ब्राह्मण और वैदिक ऋषियों से रहा है, पौराणिक आख्यानों और धार्मिक परम्पराओं से रहा है। लघुकथायें प्रायः कल्पित कथाएं हैं जो पंचतन्त्रादि ग्रन्थों में भी मिलती हैं। लोक कथाओं के साथ चरित्र-कथाओं का संमिश्रण मिलता है। सुतसोम की सत्यनिष्ठा को देखकर मानवभक्षी राक्षस का हृदय पिघल जाता है और वह बदल जाता है। नाग, गरुड, यक्ष, किन्नर आदि सभी प्रकार के अतिमानव प्राणी इन

अद्‌भुत कथाओं के मुख्य पात्र हैं। इन कथाओं के साथ बौद्ध आदर्श जोड दिये गये और उन्हें बुद्ध के उपदेशों में स्थान मिल गया। महाजनक जातक (५३९) एक सुन्दर काव्य है। कुछ कथाओं में दया, करुणा, नम्रता और स्वार्थ त्याग प्रतिविम्बित होता है जैसे राजा शिवि की कथा। ऐसी कथाएं मूलतः बौद्ध परम्परा की देन हैं। वेस्संतर जातक में ७८६ पद्य हैं जो एक **महाकाव्य** कहा जा सकता है। इन जातक कथाओं में कर्मवाद अनुस्यूत है जो पुनर्जन्म की मान्यता को दृढ करता है। इसलिए प्रत्येक जातक में नीतितत्त्व यहां प्रधान हो गया है। इसमें २२ निपात किंवा विभाग हैं जिनमें नीतिगत गाथाएं हैं और तदनुरूप जातक संख्या है। इस तरह कुल जातक ५४७ हैं -

निपात क्रम		जातकसंख्या	निपात क्रम		जातकसंख्या
१	(एक निपातो)	१५०	१२	द्वादसक	१०
२	(दुक निपातो)	१००	१३	तेरसक	१०
३	तिक	५०	१४	पकिण्णक	१३
४	चतुक्क	५०	१५	वीसति	१४
५	पञ्चक	५०	१५	वीसति	१०
६	छक्क	२०	१७	चत्तालीस	५
७	सत्तक	२१	१८	पञ्ञास	३
८	अट्ठक	१०	१९	सट्ठि	२
९	नवक	१२	२०	सत्तति	२
१०	दसक	१६	२१	असीति	५
११	एकादसक	९	२२	महानिपाती	१०
				कुल	५४७

जातक कथाएं बौद्धधर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में प्रचलित हैं। बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार के लिए भी उनका उपयोग हुआ है। श्रीलंका, वर्मा, तिब्बत आदि देशों में इनकी बडी लोकप्रियता रही है। बौद्धेतर धर्मों को भी जातक कथाओं ने प्रभावित किया है। विश्व साहित्य में भी उनका मूल्यांकन हुआ है। विदेशी कला भी जातकों से प्रभावित है। जातकों के शताधिक चित्र जावा के बोरोव नगर में अंकित हैं और विशाल मन्दिरों की शोभा बढा रहे हैं। वर्मा के पैगान और स्याम के सुकोताई भी इसी प्रकार के हैं।

बौद्धकालीन भारत की सांस्कृतिक परम्परा को भी जानने का उत्तम साधन हैं ये जातक कथाएं। उस समय ब्राह्मणों की अपेक्षा क्षत्रियों का प्राबल्य था। दस ब्राह्मण जातक में ब्राह्मण अपने पारम्परिक व्यवसाय को छोडकर अन्य व्यवसायों में लगे दिखाई देते हैं। संयुक्त परिवार व्यवस्था थी, बाल विवाह का प्रचलन नहीं था, मामा की पुत्री से

विवाह प्रचलित था। गणिका व्यापार सम्माननीय था। आम्रपाली, सामा, सुलसा गणिकाओं का अच्छा सम्मान था। शिक्षाव्यवस्था के लिए तक्षशिला जैसे विद्यापीठ थे।

११. निद्देस

निद्देसका अर्थ है स्पष्टीकरण व्याख्या। इसमें सुत्तनिपात के कुछ भागों की व्याख्या है। निद्देस दो भागों में विभाजित है - **महानिद्देस और चूलनिद्देस**। महानिद्देस सुत्तनिपात के अट्ठकवग्ग की व्याख्या है और चूलनिद्देस उसी के खग्गविसाणसुत्त और पारायणवग्ग की व्याख्या है वत्थुगाथा छोडकर। परपम्परानुसार निद्देस का रचयिता सारिपुत्र को माना जाता है। सुत्तविभंग के अतिरिक्त यही एक अट्ठकथा है जिसे पिटक संग्रह में स्थान मिला है, विनय अट्ठकथा में कहा गया है कि निद्देस लुप्त हो चुका था केवल महारक्खित भिक्षु को ही याद था। जो भी हो, इसमें व्याकरण, शब्दकोष और समानार्थक शब्दों का अच्छा संकलन है। अमरकोश जैसे कोश ग्रन्थों का पूर्वरूप इसे कहा जा सकता है। सिलवन लेवी ने इसका काल द्वितीय शताब्दी निश्चित किया था पर नार्मन ने उसका खण्डनकर उसे अशोक से भी पूर्ववर्ती माना है। इतना निश्चित है कि इसकी गणना प्राचीन पिटक ग्रन्थो में नहीं रही है। निद्देस की अट्ठकथा का नाम है सद्धम्मपजोतिका।

१२. पटिसंभिदामग्ग

पटिसंभिदामग्ग का सम्बन्ध सुत्तपिटक की अपेक्षा अभिधम्मपिटक मे अधिक है। यही एक अभिधम्म ग्रन्थ है जिसे खुद्दकनिकाय में स्थान मिल सका है। संभव है, तब तक अभिधम्म का रूप निश्चित हो चुका हो और इसीलिए उसे खुद्दकनिकाय में संमिलित कर दिया गया हो। इसे भी परम्परानुसार सारिपुत्त की रचना माना जाता है। इसमें चार पटिसंविदाओं की चर्चा हुई है। इसके तीन विभाग हैं - महा, युगनन्ध और पञ्ञावग्ग। और फिर उन्हें दस कथाओं में विभक्त किया गया है। पटिसंभिदामग्ग का प्रारम्भ '**मातिका**' से होता है जिसमें ज्ञान से संबद्ध ७३ प्रश्नोत्तर हैं। निद्देस और पटिसंभिदामग्ग को दीपवंस (५.३७) के अनुसार महासांघिकों ने द्वितीय संगीति में अस्वीकार कर दिया था। इसकी अट्ठकथा का नाम है - सद्धम्म पकासिनी।

१३. **अपदान** - अपदान का अर्थ है - वीरतापूर्वक कार्य या गौरव पूर्ण कार्य। अपदान का ही विकास बौद्ध संस्कृत साहित्य में अवदान के रूप में हुआ है। उत्तरकाल में इसे खुद्दकनिकाय में संमिलित किया गया। दीघभाणकों ने इसे अस्वीकार कर दिया था। यह ग्रन्थ चार भागों में विभाजित है - १) बुद्ध अपदान, २) पच्चेकबुद्ध अपदान, ३) थेर अपदान, और ४) थेरी अपदान। इसमें ५४७ बौद्ध भिक्षुओं और ४० भिक्षुणियों के पूर्व

जन्मों का वृत्तान्त है। थेर अपदान में ५५ वर्ग हैं और प्रत्येक वर्ग में १० अपदान हैं। थेरी अपदान में ४ वर्ग हैं और प्रत्येक वर्ग में १० अपदान कथाएं हैं। इसका सम्बन्ध जातक और थेर-थेरीगाथा से रहा है। अपदान क्र. ३९० का सम्बन्ध मूलसर्वास्तिवाद के अनवतप्तगाथा से रहा है। खग्गविसाणसुत्त इसमें प्रक्षिप्त है। इसमें बुद्ध अपदान का दूसरा नाम पुब्बकम्मपिलोती है जिसका अर्थ है - बुद्ध के पूर्व जन्म के कार्यो का परस्पर आदान-प्रदान। इसमें बुद्ध के पूर्व जन्मों में प्राप्त कष्टों का वर्णन है। इसकी अट्ठकथा का नाम है **विसुद्धजन विलासिनी।**

१४. बुद्धवंस

इसमें २८ परिच्छेद हैं जिनमें गौतम बुद्ध के पूर्ववर्ती २४ बुद्धों का वर्णन है। बाद में बुद्ध तथा भावी बुद्ध मैत्रेय का चरित्र दिया हुआ है। सभी बुद्धों की जीवन घटनाएं बुद्ध की जीवन घटनाओं से मिलती-जुलती हैं। यहां बुद्ध स्वयं उत्तम पुरुष में अपनी घटनाओं का वर्णन करते हैं प्राचीन आगमों में गौतम बुद्ध के पूर्ववर्ती मात्र छः बुद्धों का वर्णन मिलता है। अतः यह ग्रन्थ उत्तरवर्ती होना चाहिए। गौतम बुद्ध के विषय में इसमें २५ गाथाएं हैं जिनका पाठ अट्ठकथा के अनुसार बुद्ध ने स्वयं कपिलवस्तु में किया था। इसमें 'चीनपट्ट' का उल्लेख है। अतः इसका समय तृतीय शताब्दी ई.पू. के बाद का ही होना चाहिए। इस पर महायानी पूजा पद्धति का प्रभाव दिखाई देता है। इस पर लिखी गई अट्ठकथा का नाम है - **मधुरत्थविलासिनी।**

१५. चरियापिटक

खुद्दकनिकाय में यह प्रथम ग्रन्थ है जिसमें पिटक शब्द का प्रयोग हुआ है। ग्रन्थ के अन्त में एक और नाम का उल्लेख है - **बुद्धापदानीयं नाम धम्मपरियायं**। इससे पता चलता है कि चरियापिटक का सम्बन्ध अपदान से अधिक रहा है। इसमें पद्यबद्ध ३५ जातकों का वर्णन है जिनमें पहली बार पारमिताओं की साधना का उल्लेख हुआ है। यहां मात्र सात पारमिताओं का वर्णन हुआ है - दान, शील, नैष्कर्म्य, अधिष्ठान, सत्य, मैत्री और उपेक्षा। प्रज्ञा, वीर्य और क्षान्ति पारमिताओं का वर्णन नहीं है। इनका वर्णन ३५ जीवन चर्यायों में हुआ है। इसका आधार जातककथाएं हैं पर यहां उनका विनोदात्मक, कलात्मक और साहित्य सौन्दर्यात्मक रूप दिखाई नहीं देता। निदानगत ३४ कथाओं में से यहां मात्र २१ कथाओं का उपयोग हुआ है। इसलिए मूल चरियापिटक का प्रश्न भी हमारे समक्ष है। इसमें प्रत्येक कथा स्वयं बुद्ध द्वारा कही गई है। इसका सम्बन्ध दक्षिण भारत से रहा है जहां उसे '**बुद्धापदानीय धम्मपरियाय**' कहा गया है। चरियापिटक महाविहार परम्परा से सम्बद्ध है क्योंकि उस पर परमत्थदीपिनी अट्ठकथा लिखी गई है। सिंहल परम्परा का चरियापिटक जातक निदान में समाहित है। पारमिताओं का सिद्धान्त उत्तरकालीन है अतः इसका समय भी उत्तरवर्ती होना चाहिए। इसके अनेक पाठ मिलते

हैं जिनका प्रचलन विभिन्न विहारों में रहा है। निदानकथा में इसका परिचय मिलता है। कदाचित् वही भाग पुराना रहा होगा। इसपर अट्ठकथा उपलब्ध है - परमत्थदीपिनी।

सुत्तपिटक का तुलनात्मक अध्ययन

यह सुत्तपिटक मूलतः थेरवादी सम्प्रदाय से सम्बद्ध है। उसी का अनुकरणकर बौद्धधर्म के अन्य सम्प्रदायों ने भी अपना सुत्तपिटक तैयार किया पर उसका मूल रूप उपलब्ध नहीं है। चीनी या तिब्बती भाषाओं में उसका अनुवाद मात्र मिलता है। इन सम्प्रदायों में सर्वास्तिवादी सुत्तपिटक विशेष उल्लेखनीय है। विषय वस्तु की दृष्टि से उसे इस प्रकारदेखा जा सकता है -

स्थविरवादी सुत्तपिटक **सर्वास्तिवादी सुत्तपिटक**

१. दीघनिकाय ३४ सूत्र दीर्घागम ३० सूत्र ५ वीं शती में अनुदित

२. मज्झिमनिकाय १५२ सूत्र मध्यमागम २२२ सूत्र गौतम संघदेव द्वारा चतुर्थ शती में अनुदित

३. संयुत्तनिकाय ५ मुख्य वर्ग संयुक्तागम - ५० अध्याय, गुणभद्र द्वारा ५ वीं शती में अनुदित

४. अंगुत्तरनिकाय ११ निपात अंकोत्तरागम या एकोत्तरागम ५२ अध्याय, धर्मनन्दि द्वारा चतुर्थ शती में अनुदित

५. खुद्दकनिकाय क्षुद्रकागम

१. खुद्दकपाठ

२. धम्मपद धर्मपदम्

३. उदान उदानम्

४. इतिवुत्तक

५. सुत्तनिपात सूत्रनिपात : अट्ठक और पारायण वग्ग

६. विमानवत्थ विमानवस्तु

७. पेतवत्थु

८. थेरगाथा स्थविरगाथा खण्डित

९. थेरीगाथा

१०. जातक

११. निद्देस

१२. पटिसम्भिदामग्ग

१३. अपदान

१४. बुद्धवंस बुद्धवंशम्

१५. चरियापिटक

स्थविरवादी सुत्तपिटक अधिकांश रूप में मूल बुद्धवचन के रूप हमारे समक्ष है। प्रथम शताब्दी ई.पू. में वट्टगामणि अभय के समय इसका संगायन हुआ था। उसके बाद तो उसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। **सर्वास्तिवादी सुत्तपिटक** में अवश्य परिवर्तन हुआ है। कथावत्थु में स्थविरवादी सम्प्रदाय को छोडकर शेष १७ सम्प्रदायों का खण्डन किया गया। उनका संस्कृत रूपान्तरण भी उपलब्ध नहीं है। चीन आदि देशों में वह गया अवश्य पर अनुवाद रूप में ही उपलब्ध है। अतः उसे उतना प्रामाणिक नहीं माना जा सकता जितना स्थविरवादी पिटक। चीनी यात्री ईत्सिंग ने सातवीं शती में महासांघिक निकाय, २. स्थविरनिकाय, ३. मूल सर्वास्तिवादी निकाय, और ४. सम्मितिय निकाय का उल्लेख किया है। इन चारों में क्रमशः सात, तीन, चार और चार निकाय संमिलित थे जिन्हें १८ सम्प्रदायों में संमिलित किया जाता था। इन चारों निकायों के पिटक अलग अलग थे। महासांघिक निकाय के पिटक में तीन लाख श्लोक थे। स्थविर और मूल सर्वास्तिवादी पिटक का भी यही परिमाण था। सम्मितिय पिटक में दो लाख श्लोक थे जिनमें से ६०००० श्लोक विनय पिटक में थे। ईत्सिंग के अनुसार सर्वास्तिवाद का बाहुल्य मगध में, सम्मितिय निकाय का बाहुल्य गुजरात (लाट) में, और स्थविरवाद का बाहुल्य दक्षिण भारत में था। तारानाथ (१४ वीं शती) के अनुसार सर्वास्तिवादी पिटक संस्कृत में था, महासांघिक पिटक प्राकृत में, स्थविर पिटक पैशाची में और महासाम्मितिय सम्प्रदाय का पिटक अपभ्रंश में था।

यह दृष्टव्य है कि पालि पिटक सर्वांश रूप में प्राचीन नहीं माना जा सकता। महासांगीतिक सम्प्रदाय ने सुत्त और विनय के कतिपय अंशों को अप्रामाणिक माना था। सर्वास्तिवादी और महासंगीतिक भिक्षुओं ने अभिधम्मपिटक को तो अस्वीकार कर ही दिया था। दीघनिकाय के महापरिनिब्बाणसुत्त, धम्मचक्कपवत्तन सुत्त आदि, मज्झिमनिकाय के गोपकमोग्गलानसुत्त, घोटमुख सुत्त, मधुरसुत्त निश्चित ही बहुत

प्राचीन हैं। ऐसे सुत्तों का संगायन द्वितीय संगीति का परिणाम है पर अन्य सुत्तों को इसी काल की परिधि में नहीं बैठाया जा सकता है। अतः यह कहना अधिक संयुक्तिक होगा कि समूचा त्रिपिटक एक काल की देन नहीं, उसे द्वितीय और तृतीय संगीति का परिणाम माना जा सकता है। विनय के सभी नियम भी बुद्ध के द्वारा निर्मित नहीं, बल्कि उत्तरकाल में उनके नाम से उन्हें चिन्हित कर दिया गया। इसका मुख्य कारण था बुद्ध के परिनिर्बाण के बाद अनेक शताब्दियों तक पिटक की मौखिक परम्परा बनी रही। स्मृतिभ्रंश के कारण पारस्परिक विरोध उनमें कहीं-कहीं दिखाई देता है। फिर भी जो सुरक्षित रखे गये हैं उसे बौद्ध भिक्षुओं का बडा अवदान माना जा सकता है।

हां, यह बात सही है कि स्मिथ, कीथ जैसे प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वानों ने पालि तिपिटक की प्रामाणिकता में सन्देह व्यक्त किया है। उनका कहना है कि उसमें तृतीय शताब्दी ई.पू. तक परिवर्तन-परिवर्धन होता रहा है। इससे कहीं-कहीं पारस्परिक विरोध भी दिखाई देता है। उदाहरणतः संयुत्तनिकाय के चुन्दसुत्त में तथागत बुद्ध के जीवनकाल में ही सारिपुत्र का परिनिर्वाण बताया गया पर दीघनिकाय के महापरिनिर्बाणसुत्त में वे सारिपुत्र से परिनिर्बाण के पूर्व वार्तालाप करते हुए दिखाया गया है। उपदेश स्थलों में भी विरोध मिलता है। पर यह विरोध इतना अधिक नहीं माना जा सकता कि समूचे त्रिपिटक की प्राचीनता पर ही प्रश्न चिन्ह खडा कर दिया जाये। सुभद्र जैसे भिक्षुओं के कथानक उसमें भले ही जोड दिये गये हों पर उनकी प्रामाणिकता पर आंच नहीं आती। पुनरुक्तियों का होना स्वाभाविक है। उपमाओं और संवादों का प्रयोग भी स्वाभाविक है। क्योंकि मौखिक परम्परा उसकी पृष्ठभूमि में रही है। पुनरुक्ति के समय 'पेय्यालं' शब्द का प्रयोग कर दिया जाता था। दृष्टान्त शैली, परिप्रश्नात्मक शैली, संख्यात्मक परिगणन शैली, संवाद शैली भी उसकी प्राचीनता के अंग हैं।

२. विनय पिटक

विनयपिटक बौद्धसंघ का आचारिक संविधान है जिसमें लगभग प्रथम तीन शताब्दियों का इतिहास प्रतिबिम्बित होता है। भिक्षु विवाद, विनय नियमों का उल्लंघन और तदनुसार विनय नियमों का स्थापन भिक्षु संघ के विकासात्मक इतिहास को द्योतित करता है। इसमें देवदत्त की कठोर भूमिका है जिसमें वे विनय नियमों का उलंघन अवांछित मानते रहे हैं। उनके विपरीत तथागत बुद्ध ने मध्यममार्ग अपनाया। कदाचित् यही कारण है कि समूचे त्रिपिटक में **देवदत्त** को एक बुद्ध विरोधी व्यक्तित्व के रूप में

प्रस्तुत किया गया। वस्तुतः देवदत्त के व्यक्तित्व पर पुनश्चिंतन होना चाहिए। विनय पिटक का रूप इस प्रकार माना गया है -

विविधविसेसनयत्ता विनयनतो चेव कायवाचानं।
विन्यत्थविदूहि अयं विनयो विनयो त्ति अक्खातो।

प्रारम्भ में बुद्ध और धम्म ही प्रमुख था। तपस्सु और भल्लिक जैसे उपासक बुद्ध और धम्म की ही शरण में जाते थे। संघ की स्थापना ही उस समय नहीं हुई थी। शिक्षापद ही सब कुछ थे। बोधिपक्षीयधर्म, चारआर्यसत्य और प्रतीत्यसमुत्पाद का उपदेश ही पर्याप्त था। यही एकायन मार्ग था। शील, समाधि, प्रज्ञा और धम्म-विनय में ही समूचा बौद्धधर्म समाहित था।

बौद्धधर्म का जैसे जैसे प्रचार हुआ और संघ में वृद्धि हुई कि असंयम तत्त्वों के प्रवेश से संघ बच नहीं सका। फलतः बुद्ध को नियमों का विधान करना पड़ा। नन्द और तिस्स भिक्षुओं को कठोरता के साथ इन नियमों को पालन करने का आदेश देना पडा। अतः श्रीलंका और वर्मी बौद्ध परम्परा में विनय पिटक को सुत्त पिटक से अधिक महत्त्व देते हैं। वहां विनय, सुत्त और अभिधम्म, यही क्रम रहता है। प्रथम संगीति में 'धम्मं च विनयं च संगायेय्याम'' कहकर सुत्त और विनय पिटक के संगायन होने की बात की है। विनयधरों की परम्परा स्थविर उपालि से प्रारम्भ होती है और मोग्गलिपुत्त तिस्स तक समाप्त हो जाती है। इसी परम्परा का उल्लेख 'परिवार' में तथा निदानकथा में इस प्रकार मिलता है - उपालि, दासक, सोणक, सिग्गव और मोग्गलिपुत्ततिस्स।

तृतीय संगीति तक थेरवाद के अतिरिक्त १७ सम्प्रदाय और खडे हो गये थे जिनका खण्डन कथावत्थु में मिलता है। पालि संस्करण के साथ ही विनय पिटक के छह और संस्करण चीनी अनुवादों में मिलते हैं - १) प्राचीन सर्वास्तिवादी विनय, २) धर्मगुप्तिक विनय, ३) महासांघिक सम्प्रदाय का विनय, ४) उत्तरकालीन सर्वास्तिवादियों का विनय, ५) महिंसासक विनय, और ७) सामान्य विनय। इन विनय प्रकारों में मतभेद अधिक नहीं थे। विनयपिटक की पांच व्याख्याएं भी चीनी अनुवादों में सुरक्षित हैं - १) विनय माता वण्णना, २) मातिका वण्णना, ३) पासादिका वण्णना, ४) सब्बत्थि वण्णना, और ५) पाकट वण्णना। बुद्धघोष कृत समन्तपासादिका का भी अनुवाद चीनी भाषा में हुआ है।

विनय पिटक का अभिधेय भिक्षु-भिक्षुणियों के नैतिक और आचारगत विधाओं की संरचना करना है। प्रव्रज्या, प्रोषध, वर्षावास, प्रवारणा, उपोसथ, भोजन, चीवर, उपसम्पदा, विहारनिर्माण, प्रशासन आदि विषयों पर प्रामाणिक विवेचन यहाँ उपलब्ध होता है।

विनयपिटक को तीन भागों में विभक्त किया गया है - सुत्तविभंग - (पाराजिक और पाचित्तिय), खन्धक (महावग्ग और चुल्लवग्ग), और परिवार। २) सुत्तविभंग में अपराध और उनके प्रायश्चित्त-प्रकारों का वर्णन है। अपराधों की संख्या २२७ बतायी गई है चार पाराजिक, (मैथुन, चोरी, आत्महत्या और लाभेच्छा), तेरह संघादिसेस (वीर्यनाश, स्त्री का स्पर्श-वार्तालाप; आकर्षण, विवाह करना, विहारनिर्माण, संघभेदादि), दो अनियतधम्म, तीसनिसग्गिय पाचित्तिय धम्म (अपराध की स्वीकृति पूर्वक प्रायश्चित्त और वस्तु परित्याग), वानवे पाचित्तिय धम्म (प्रायश्चित्त), चार पटिदेसनिय धम्म (प्रतिदेसना), पचहत्तर सेखियधम्म (बाह्यशिष्टाचार) और सात अधिकरणसमथधम्म (संघगत विवाद शान्ति के उपाय)।

इसमें कुल १६९ भाणवार हैं जिनमें १,३५२,००० अक्षर और ४२२५० ग्रन्थसंख्या है। यहां जातक की तरह कथाएं, आयुर्वेदिक औषधियां आदि का विस्तृत वर्णन है। विनयपिटक का मुख्य उद्देश्य है - भिक्षु-भिक्षुणियों और उनके संघ को नियमित करना और उपासकों से सम्बन्ध व्यवस्थित करना। इसके दो भाग किये जा सकते हैं - १) वैयक्तिक तौर पर नियमों का पालन, और २) सांघिक नियम। प्रातिमोक्ष में समय और घटनाओं के साथ नियम बनते गये और उनके अपवाद भी। विन्टरनित्स ने मूल शिक्षापद १५२ माने हैं। उन्हीं पर टीका लिखी गई जिसे सुत्तविभंग कहा गया।

सुत्तविभंग - इसके दो भाग हैं - **पाराजिक और पाचित्तिय**। सुत्तविभंग पातिमोक्ख सुत्त है जिसके दो विभाग हैं - महाविभंग (भिक्खु विभंग) और भिक्खुणी विभंग। पातिमोक्खसुत्त को मातिका भी कहा जाता है जिसमें भिक्षु के लिए २२७ नियमों का विधान है। उन्हें वह प्रत्येक पक्ष में उपोसथ के दिन पारायण करता है। इन नियमों पर जैन भिक्षु नियमों का प्रभाव अधिक दिखाई देता है।

पाराजिक के अन्तर्गत मैथुन और पाणातिपात हैं। पाणतिपात का सम्बन्ध कदाचित् मात्र मानव के प्राणहरण से है, अन्य प्राणियों के प्राण- हरण का सम्बन्ध पाचित्तिय से है। इसी तरह मृषावादन ने पाराजिक में स्थान नहीं पाया। सेखिय नियमों का विधान बाद में हुआ। चमत्कार प्रदर्शन भी पाराजिक दोष के अन्तर्गत समाविष्ट है।

सुत्तविभंग में प्रत्येक नियम के साथ एक कथा (वत्थु) जुडी हुई है जिसके कारण बुद्ध ने नियम बनाया। इसे **पञ्ञत्ति** कहा गया है। अतिरिक्त नियम के लिए **अनुपञ्ञत्ति** शब्द का प्रयोग हुआ है। अपराध न होने के लिए '**अनापत्ति**' शब्द आया है। धीरे-धीरे ये कथाएं अर्थहीन हो गईं। विहारनिर्माण में संघादिशेष नियम लगता था पर बाद में इस नियम का कोई अर्थ नहीं रहा। पातिमोक्ख के ये सारे नियम कालक्रमानुसार अनुबन्धित नहीं हुए बल्कि उन्हें आवश्यकतानुसार सुव्यवस्थित किया गया। नियम भंग करनेवालों में सर्वप्रथम उपसेन बंगपुत्त का नाम लिया जाना चाहिए (विनय, ५९-३२; स.पा. १९४, ११), न कि सुदिन्न जिसके कारण पाराजिक का प्रथम नियम बनाया

गया। बाद में षट्वर्गीय भिक्षु भी उसके साथ हो गये। महावग्ग में नियमों का विधान मोग्गल्लान और सारिपुत्त की परिव्रजा होने के बाद हुआ। सुदिन्न से भी वुद्ध की भेंट वैशाली में हुई। उसके पहले वे वाराणसी गये। महावग्ग सुत्तविभंग का परिपूरक है।

सुत्तविभंग का **वर्गीकरण** निर्दोष नहीं लगता। पाराजिकों का वर्णन करते समय संघादिशेषों, अनियतधर्मो और निसग्गिय पाचित्तिय धर्मो का भी विवरण मिलता है। इसी तरह भिक्खुनी विभंग में भिक्षु के नियमों का उल्लेख कर दिया गया। सुत्तविभंग वस्तुतः पातिमोक्ख का ही विस्तृत रूप है। पातिमोक्ख प्राचीनतर है। प्रातिमोक्ष में पापस्वीकरण, पश्चात्ताप, क्षमायाचना, कृतसंकल्पता रहती है। सभी भिक्षु स्वयं के लिए उत्तरदायी थे। अतः प्रातिमोक्ष का अर्थ है प्रत्येक की अलग-अलग मुक्ति। भिक्खुनी विभंग ७ भागों में विभक्त है भिक्खु विभंग के समान इसमें अनियत नहीं है। आठ गुरुधम्म इसमें जुडे हुए है।

खन्धक

खन्धक के दो भाग हैं - **महावग्ग और चुल्लवग्ग**। सुत्तविभंग का सम्बन्ध पातिमोक्ख से रहा है। अन्यनियम खन्धक के अन्तर्गत हैं, जैसे कम्मवाचा आदि नियम जिन्हें दीक्षा के समय पढा जाता था। खन्धक का अर्थ है समूह। विनय पिटक में विनय वत्थु शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। मूलसर्वास्तिवाद में विनयवस्तु तथा महासांघिक लोकोत्तरवाद में पोषधप्रतिसंयुक्त शब्द का प्रयोग हुआ है महावग्ग में दस और चुल्लवग्ग में बारह खन्धक हैं। चुल्लवग्ग के अन्तिम दो खन्धकों में प्रथम दो संगीतियों का वर्णन है। यह भाग उत्तरकाल में जोडा गया है, जैसे सुत्तविभंग का निस्सग्गिय और पाचित्तिय भाग उत्तरकालीन है।

महावग्ग का प्रारम्भ सम्बोधि से होता है और फिर कतिपय भिक्षु नियम स्थिर किये जाते हैं। चुल्लवग्ग की द्वितीय संगीति से थेरवाद परम्परा का प्रारम्भ होता है। आगे पब्बज्ञा और उपसंपदा के बाद कठिनक्खंधक और चम्पेय्यकखन्धक की प्रक्रिया है और फिर भिक्खुणी खन्धक है। सुत्तविभंग में भी अन्त में भिक्खुणी विभंग है। फ्राउवलनर ने खन्धक पर अच्छा कार्य किया है।

सुत्तपिटक में विनय नियमों की कोई व्यवस्था नहीं है। वहां 'एवं मे सुतं' से सुत्त प्रारम्भ होता है जबकि विनय पिटक में प्रायः 'एकस्मिं समये भगवा बुद्धो...'' से सुत्त का प्रारंभ होता है। यह अन्तर कदाचित् सुत्तों के कालक्रम पर आधारित है या नवीन ग्रन्थभाग प्रारंभ करने का संकेत है। यहां कश्यप बन्धुओं के धर्मपरिवर्तन की घटना का उल्लेख (विनय २४, १०-२५-३७) पहले गद्य में है और फिर उसी को आर्या छन्द में कह दिया गया है। आल्सडर्फ ने इसका उपयोग विनय पिटक की तिथि स्थापित करने में किया है। उनका कहना है कि आर्या छन्द का उपयोग भारत में होता था, श्रीलंका में

नहीं। यदि यह माना जाये कि महेन्द्र श्रीलंका में त्रिपिटक ले गये थे तो यह मानना पडेगा कि यह विनय पिटक लगभग २५० ई.पू. का होना चाहिए।

थेरवाद विनय में कुछ कथाएं हैं जिनका उपयोग सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिए किया गया है। विनय के विकास के साथ कथाओं की संख्या भी बढती चली गई। उदाहरणार्थ चुल्लवग्ग का लघुकाय संघभेदकखन्धक मूलसर्वास्तिवाद विनय में लगभग ५०० पृष्ठों का हो गया। इसीसे अवदान का भी विकास हुआ। इसी तरह सुत्तविभंग का पातिमोक्खसुत्त अनापत्ति के आधार पर खन्धक से पृथक् हो गया सुत्तविभंग और खन्धक की विकासात्मक रूपरेखा को Lamotte ने प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

सुत्तविभंग में नियमों का विधान है जबकि महावग्ग में उसका विधेयात्मक रूप है, जीवन को जीने की प्रक्रिया का निर्देशन है। महावग्ग के प्रथम दस खन्धकों में संबोधि प्राप्ति से लेकर संघ की स्थापना तक का इतिहास दिया हुआ है। चुल्लवग्ग में अपराधी भिक्षुओं के लिए दण्डविधान है, व्यवहार विधान है। इसी में अनाथपिण्डक द्वारा जेतवन का दान तथा गौतमी की प्रव्रज्या का भी वर्णन है। प्रथम दो संगीतियों का भी वर्णन है। यहीं से भिक्षुणी संघ का वर्णन है, जीवक कुमारभ्रत्य, भैषज्यविधान, कम्मवाचा आदि का भी वर्णन हुआ है।

परिवार

परिवार विनय पिटक का अन्तिम भाग है जिसमें प्रश्नोत्तर शैली में मातिका विषयसूची प्रस्तुत की गई है। इसमें १९ पच्छिेद हैं पर अट्ठकथा में सोडसपरिवार का उल्लेख है (स.पा. १८, ५; सु.वि. १७,४)। १४ वें परिच्छेद के बाद ऐसा लगता है जैसे परिवार वहां समाप्त हो गया (विनय १७९, १९) क्योंकि उपालिपंचक "**तेन समयेन...** से प्रारंभ होता है। इसके अन्त में लेखक के रूप में दीप नामक महाप्रज्ञ श्रुतधर का नाम आया है जिसने शिष्यों के हितार्थ उसे लिखवाया। इस ग्रन्थ का सम्बन्ध प्रथम संगीति से ही रहा है। रोमन संस्करण में इसके १९ और देवनागरी संस्करण में २१ परिच्छेद हैं।

ग्रन्थ के प्रारम्भिक परिच्छेदों में धम्म के लिपिबद्ध होने का उल्लेख है और महेन्द्र द्वारा विनय-परम्परा स्थापित होने के बाद यहां श्रीलंका के भिक्षुओं के नामों का उल्लेख है जिन्होंने विनय पिटक को प्रस्तुत किया। इसका तात्पर्य है कि परिवार पाठ की रचना उत्तरकाल में हुई है। इन भिक्षुओं की नामावलि बुद्धघोष ने भी समन्तपासादिका की निदानकथा में दी है। ये नाम हैं - उपालि, दासक, सोणक, सिग्गव,

मोग्गलिपुत्तातस्स, महिन्द, इट्ठिय, उत्तिय, संबल, भद्दसाल, अरिट्ठ, तिस्सदत्त, कालसुमन, दीर्घस्थविर, दीघसुमन, कालसुमन, नाग स्थविर, बुद्ध रक्षित, तिष्य स्थविर, देव स्थविर, सुमन, चूलनाग, धर्मपालित, रोहण, क्षेम, उपतिष्य, फुस्सदेव, सुमन, पुण्फ, महाशिव, उपालि, महानाग, अभय, तिष्य स्थविर, पुण्फ या फुस्स, चूल अभय, तिष्य स्थविर, चूलदेव, शिव स्थविर। इन महाप्राज्ञ स्थविरों ने ताम्रपर्णी (श्रीलंका) द्वीप में विनय पिटक को प्रकाशित किया।

गद्य-पद्य शैली में रचित इस परिवार पाठ में संघ में उत्पन्न विवाद के प्रकार, उपोसथ, शिक्षापद, धम्म आदि विषयक प्रश्नों को उपस्थित कर उनका उत्तर दिया गया है। क्षुद्रानुक्षुद्र नियमों को छोड देने का विधान कर तथागत बुद्ध ने देशकाल के अनुसार नियमों के पालन की व्यवस्था तो कर दी पर उससे विनयच्युत होने का मार्ग प्रशस्त हो गया। शिक्षापद शिष्टाचार सम्बन्धी नियम हैं इसलिए उनमें मतभेद होना स्वाभाविक है।

इस प्रसंग में श्रीलंका में प्रचलित विनय वैविध्य को भी समझ लें। वहां महाविहार, अभयगिरि विहार और जेतवनविहार परम्परायें रही हैं। महाविहार परम्परा मूल और प्राचीनतम परम्परा थी। पराक्रम बाहु प्रथम (११५३-११८६) ने श्रीलंका में बौद्धधर्म को व्यवस्थित किया। अभयगिरि और जेतवन विहारवासी भिक्षुओं को महाविहारवादी परम्परा में पुनः दीक्षित किया गया। फलतः उनकी मान्यतानुसार विनय-ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते। मात्र महाविहारवासी परम्परा उपलब्ध होती है।

महावंस (५.१३) और महावंस टीका (१.१७५, ३१) के अनुसार खन्धक और परिवार के विषय में अभयगिरि विहार की अपनी मान्यता थी। इस भिन्न मान्यता का स्पष्टीकरण वहां नहीं मिलता। उपालिपरिपृच्छासूत्र के चीनी अनुवाद से भी यह समस्या सुलझ नहीं पाई। पातिमोक्ख में प्रारम्भ में १५२ नियम थे जो यथासमय बढते-बढते २२७ हो गये। चीनी और मूल सर्वास्तिवादी विनयपिटक में भी इन नियमों को देखा जा सकता है।

विषय सामग्री

यहां हम विनयपिटक की विषय सामग्री को प्रस्तुत करते हुए उसकी कतिपय विशेषताओं को स्पष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस सन्दर्भ में उसकी उत्पत्ति और विकास पर भी दृष्टिपात करेंगे। यह तथ्य तो स्पष्ट है कि सभी सम्प्रदाय राग, द्वेष, मोह को सांसारिक दुःखों का मूल कारण मानते हैं। उनसे मुक्त होने के लिए साधक आध्यात्मिक साधना करता है, विनय का आचरण करता है, तृष्णा से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। विनय पिटक का भी यही अभिधेय है।

विनय पिटक में सर्वप्रथम भिक्खु-भिक्खुनी पातिमोक्ख है जिसे विभंग कहा गया है। शेष भाग को खन्धक कहा गया है। खन्धक का ही भाग महावग्ग और चुल्लवग्ग है। महावग्ग से बौद्ध विनय की उत्पत्ति प्रारम्भ होती है। सर्वप्रथम भ. बुद्ध ने पंचवर्गीय

भिक्षुओं को **'एहि भिक्खू, स्वाक्खातो धम्मो चरं ब्रह्मचरियं सम्मा दुक्खस्स अन्त किरियाय''** कहकर अपने संघ में प्रविष्ट किया। बाद में वाराणसी के श्रेष्ठि पुत्र यश और उसके मित्र विमल, सुवाहु, पूर्णजिन और गवाम्पति ने बुद्ध धर्म में प्रव्रज्या और उपसम्पदा ग्रहण की। उनकी उपसम्पदा को सुनकर पचास अन्य गृहपतियों ने भी आकर भगवान से विरजचक्षु प्राप्त किये और दीक्षा ली।

इन ६१ भिक्षुओं का उपयोग भ. बुद्ध ने बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार के लिए किया। उन्हें उपसम्पदा का अधिकार देकर नाना दिशाओं में भेज दिया। उस समय उपसंपदा की विधि थी - मुण्डन कराकर काषाय वस्त्र पहिनकर उकडूं बैठकर, प्रणाम कर तीन बार -**बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि**'। इधर बुद्ध भी धर्म प्रचारार्थ उरुवेला (गया) गये और प्रातिहार्य दिखाकर जटिल बन्धुओं को दीक्षित किया, एक सहस्र शिष्य भी दीक्षित हुए, बिम्बिसार ने वेणुवन भेंट में दिया, संजय, सारिपुत्र और मौद्गल्यान भी अपने शिष्यों के साथ संघ में दीक्षित होकर प्रविष्ट हुए। इस तरह संघ में अब १५०० भिक्षु हो चुके थे। इसलिए कल्याणमित्र उपाध्याय ग्रहण करने की अनुमति दी गई।

इसके बाद परिस्थितियां बदलीं और बुद्ध ने उपसम्पदा के नियमों में परिवर्तन किया। अब यह उपसम्पदा ज्ञप्ति, अनुश्रावण और धारण के माध्यम से दी जाने लगी। ज्ञप्ति में साधक उपाध्याय के सान्निध्य में संघ से उपसंपदा की प्रार्थना या प्रस्ताव करता है। अनुश्रावण में संघ उसकी प्रार्थना को स्वीकार किये जाने का प्रस्ताव रखता है और धारणा में उसकी स्वीकृति दी जाती है। जब प्रस्ताव एक बार लाया जाता है तो उसे ज्ञप्ति द्वितीय कर्म कहा जाता है और जब प्रस्ताव तीन बार लाया जाता है तो उसे ज्ञप्ति चतुर्थ कर्म कहते हैं। उपसम्पदा के समय उपसम्पन्न भिक्षु को चार निश्रय पालन करने की प्रतिज्ञा दी जाती है - १) भिक्षा मांगकर उदर पोषण करना, २) श्मशान आदि में पडे चिथडों से चीवर तैयार कर पहिनना, ३) वृक्ष के नीचे निवास करना, और ४) गोमूत्र की औषधि ग्रहण करना।

धीरे-धीरे उपसम्पदा या प्रव्रज्या विधि का आवश्यकतानुसार विकास हुआ। शील संपन्न साधक की आयु कम से कम दस वर्ष निश्चित की गई और यह उपसम्पदा दस या दस से अधिक भिक्षुगण के समक्ष प्रस्तावित होने का निर्णय लिया गया। अन्य सम्प्रदाय से आने वाले भिक्षु के लिए चार माह का परिवास दिया जाता पर शाक्य, नग्नक जैन और जटिलक साधु इस परिवास के नियम से मुक्त रखे गये। प्रव्रज्या के अयोग्य व्यक्ति थे कुष्ठ-चर्म-सूजन-मृगी आदि रोगों से ग्रस्त, राजसैनिक, डाकू, चोर, राजदण्ड, प्रापक, ऋणी और दास। उपसम्पदा पाने वाले की अवस्था बीस और श्रामणेर की अवस्था पन्द्रह वर्ष निश्चित कर दी गई। श्रामणेर को दस शिक्षापदों का पालन करना आवश्यक था - पाणातिपात, अदिन्नादान, मुसावाद, सुरा मेरय मज्जप्पमादट्ठान,

विमूसनट्ठान, नच्चगीत वादित विसूकदस्सन, माला गन्धविलेपन-धारण-मण्डन, विभूषणट्ठान, उच्चासयन,महासयन और जातरूपरजतपरिग्गहण से दूर रहना (वेरमण)। आगे प्रव्रज्या लेने वाले के लिए और भी प्रतिबन्ध लगाये गये, माता-पिता की अनुमति को आवश्यक माना गया और आयु को बीस वर्ष कर दिया गया। भिक्खु नियमों में परिवर्तन के पीछे विशेष घटनाएं मुख्य कारण थीं।

उपोसथ का तात्पर्य है भिक्षु संघ एकत्रित होकर धर्मोपदेश करे। जैनों के समान इसके लिए चतुर्दशी, पूर्णमासी और अष्टमी का दिन निर्धारित हुआ। इस दिन प्रातिमोक्ष नियमों की आवृत्ति भी होती थी। आवृत्ति के पांच क्रम निर्धारित हुए - १) निदान का पाठ करना, २) निदान और पाराजिकों का ३) तथा संघादिशेषों का भी पाठ करना, ४) अनियत धर्मो का भी पाठ करना, और ५) विस्तार के साथ प्रातिमोक्ष का पाठ करना। प्रातिमोक्ष पाठ गृहस्थों के साथ नहीं किया जाता। उपोसथ या संघकर्म में सभी भिक्षुओं की उपस्थिति आवश्यक मानी गई। इसके अनेक नियम, उपनियम, भी बनाये गये आवृत्ति, मात्रा क्रम, परिस्थितियां, तिथि, नवागन्तुक, आवासत्याग, परिषद प्रकार, आदि पर विचार कर उपोसथ और प्रातिमोक्ष के नियम तैयार किये गये।

वर्षावास का विधान बाद में यातायात की असुविधा तथा वर्षा के कारण उत्पन्न होने वाले जीवों के उपघात से बचने के लिए किया गया। तीर्थंकर महावीर और उनके अनुयायियों की चर्या देखकर बुद्ध ने भी इसका विधान किया। यह वर्षावास आसाढ पूर्णिमा अथवा श्रावण पूर्णिमा के दूसरे दिन से प्रारम्भ होता है और उसमें तीन माह तक स्थान परिवर्तन निषिद्ध माना जाता है। कतिपय विशेष परिस्थितियों में स्थानत्याग की अनुमति दी गई है।

वर्षावास के बाद भिक्षुसंघ एकत्रित होकर अपने अपराधों का संदर्शन करता है। इसे प्रवारणा कहा गया है। इसकी भी एक प्रक्रिया है। उपोसथ में अपने अपराधों की पाक्षिक परिशुद्धि होती है और प्रवारणा में वार्षिक परिशुद्धि होती है। इसमें तीन पुनरावृत्ति की जाती हैं, प्रवारणाएं दो होती हैं - चतुर्दशी की और पंचदशी की। इसके भी अनेक नियमों और उपनियमों का विधान हुआ।

विनय पिटक में भिक्षु को केवल एक तल्ले वाले उपानह (जूते) पहिनने का विधान है। साधारणतः भिक्षु को वाहन पर चलना निषिद्ध है परन्तु बाद में नरयान, हस्तियान, और शिविका-पालकी के उपयोग की स्वीकृति दे दी गई। भैषज्य में घी, मक्खन, तेल, मधु और शक्कर इन पांच भैषज्यों का सेवन पूर्वान्हि, अपरान्ह काल में विहित माना गया। मांस भक्षण भी बाद में अनुमत हो गया त्रिकोटि परिशुद्ध की शर्त के साथ। पांच गोरस का विधान भी हो गया।

'कठिन चीवर' वह है जो वर्षावास के बाद संघ की सम्मति से सम्मान प्रदर्शनार्थ किसी भिक्षु को दिया जाये। इसके लिए संघ के समक्ष दृष्टि, अनुश्रावण और धारणा अवश्य होना चाहिए। बाद में भिक्षु के लिए छ:प्रकार के चीवर धारण करने की अनुमति मिल गई। क्षौम, कपास, कौशेय, कम्बल, साण (सन), और भंग (मिश्रित)। संघ में जब चीवर दान अधिक होने लगा तब उनकी व्यवस्था के लिए कर्मचारियों का चुनाव होना आवश्यक हो गया। इसे संघकर्म कहा जाता था। ये कर्मचारी उन चीवरों को भिक्षुओं और श्रामणेरों के बीच वितरित कर दिया करते थे। एक भिक्षु अधिक से अधिक तीन चीवर रख सकता था - दोहरी संघाटी, एकहरा उत्तरासंग और इकहरा अन्तरावासक। अतिरिक्त चीवर बाद में विकल्प के रूप में रखे जाने लगे।

संघ में विवाद उत्पन्न होने पर संघ एकत्रित होता है और ज्ञप्ति, अनुश्रावण और धारणापूर्वक छन्द (बोट) के माध्यम से संघभेद का उपशमन करता है (कोसम्बक खन्धक)। कुछ कर्म ज्ञप्ति द्वितीय कहे जाते हैं और कुछ कर्म ज्ञप्ति चतुर्थ कहे जाते हैं। इन दोनों से विरहित कर्म विनय विरुद्ध माना जाता है।

चुल्लवग्ग में संघभेद, विभिन्न कर्म और उनकी दण्डव्यवस्था के प्रसंग अधिक हैं। लगता है, भ. बुद्ध के जीवन समय में ही संघ भेद प्रारम्भ हो गया था। देवदत्त, पंडुक, लोहितक, आदि भिक्षुओं के प्रकरण इसके उदाहरण हैं। तर्जनीय कर्म की दण्डविधि यह है कि संघ भिक्षु पर अपराध का आरोपण करता है। इन तीन बातों से युक्त तर्जनीय कर्म, अधर्म कर्म, अविनयकर्म और असंपादित कर्म कहे जाते हैं - १) संमुखन किया गया हो, २) बिना पूछे किया गया हो, और ३) बिना प्रतिज्ञा (स्वीकृति) के किया गया हो। यहां बारह अधर्म कर्मो का वर्णन है। मियस्स कर्म और प्रव्राजनीय कर्म (संघ निष्कासन) का भी यहां वर्णन मिलता है। पारिवारिक दण्ड प्राप्त भिक्षु को भी उपसम्पदा निश्रय आदि नहीं दिया जाता, अदण्डित भिक्षु के साथ आवास आदि नहीं किया जाता।

अधिकरण का अर्थ है विवाद। ये अधिकरण कुशल, अकुशल और अव्याकृत के भेद से तीन प्रकार का होता है। इन अधिकरणों के उपशमन की भी प्रक्रियाएं निर्धारित की गई हैं। विवाद अधिकरण भिक्षु संघ के संमुख उपस्थित होकर यद्भूयसिकरीति (बहुमत) से शान्त हो जाता। उसमें शलाकाओं का भी उपयोग होता था।

इसके बाद आभूषण, साजसज्जा, विहार निर्माण, संघभेद, व्रतस्कन्धक (नवागन्तुक, आवासिक और गामिक भिक्षु के व्रतों का आख्यान), नारी प्रवेश आदि का वर्णन मिलता है।

विनय पिटक के इस द्वितीय स्कन्धक (महावग्ग और चुल्लवग्ग) में संबोधि से लेकर द्वितीय संगीति तक के विनय का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। यहां प्रत्येक नियम और उपनियम की पृष्ठभूमि में घटनाओं का उपस्थापन हुआ है प्राय: एक ही शैली

में हुआ है। अत:प्रक्षिप्तांश होने की संभावना अधिक है। विनय पिटक का परिवार पाठ तो निश्चित ही एक परिशिष्ट है। इनके अतिरिक्त सुत्तविभंग भी है जिसमें भिक्खुपातिमोक्ख और भिक्खुणी पातिमोक्ख का विवरण है। भिक्खु पातिमोक्ख में कुल २२७ नियम हैं और भिक्खुणी पातिमोक्ख में उनकी संख्या ३११ है।

अभिसमाचारिका (भिक्षुप्रकीर्णक) सं. भिक्षु जिनानन्द, पटना १९६९

इसका सम्बन्ध बौद्ध विनय से है जो संस्कृत में अभिरक्षित है। इसमें विनय के उन लघु नियमों का समावेश है जिनका अन्तर्भाव पाराजिक, संघादिसेस, थुल्लच्चय, निस्सग्गियपाचित्तिय, पाचित्तिय, दुक्कट और दुब्भासित में नहीं हो सकता। अन्तिम दो नियमों में किसी तरह किया जा सकता है। यह ग्रन्थ न शुद्ध संस्कृत में है और न शुद्ध पालि में है।

उपसंपदाज्ञप्ति नामक ग्रन्थ भी इसी तरह का है जो १९६१ में प्रकाशित हुआ था। इसमें सात अध्याय हैं जो संस्कृत गद्य में हैं। प्रथम-संघस्थविर है जिसमें उपसंपदादि का वर्णन है। द्वितीय अध्याय है शेय्यासन। तृतीय अध्याय है कठिन। यह विस्तृत अध्याय है। छक्कलि, विहार, खेट, पात्र और चावल और चार मुद्राएं (बैठना, चलना, खडे रहना और निद्रा)। चतुर्थ अध्याय - आगुन्तुक भिक्षुओं से संबद्ध है। पंचम अध्याय अरण्यक से है और छठा अध्याय है नवासिक (चीवर)। सातवां अध्याय हैं प्रदीप।

पालि विनय पिटक के अतिरिक्त सर्वास्तिवादियों के विनय का एक तिब्बती संस्करण भी उपलब्ध है। चीनी संस्करण का उल्लेख हम पीछे कर ही चुके है। इन तीनों संस्करणों में उपलब्ध प्रातिमोक्ष की तुलना इस प्रकार है -

	पालि विनय पिटक	चीनी विनय पिटक	तिब्बती विनय पिटक
१. पाराजिका	४	४	४
२. संघादिसेसा	१३	१३	१३
३. अनियतमधम्मा	२	२	२
४. निस्सग्गिया - पाचित्तिया धम्मा	३०	३०	३०
५. पाचित्तिया धम्मा	९२	९०	९२
६. पटिदेसनिया धम्मा	४	४	४
७. सेखिया धम्मा	७५	१००	१०६

८. अधिकरणसमथा धम्मा	७	७	७
	२२७	२५०	२५८

इस तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि केवल शैक्ष्य सम्बन्धी और पातयन्तिक विनय में अन्तर है। इनमें सेखिय धम्म तो मात्र शिष्टाचारों से सम्बन्धित नियम हैं। उनमें विभेद होना स्वाभाविक है। उनका निर्माण देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार होता रहा है। शेष नियमों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। यदि शैक्ष्यनियमों को छोड दिया जाये तो यह संख्या १५२ रह जाती है जिसे मूल शिक्षापद का रूप कहा जा सकता है। सुत्तविभंग में उन्हें संमिलित कर लिया गया है जो पातिमोक्ख की ही प्राचीन टीका रही है। महाविभंग में आठ अध्याय हैं जिनमें अपराधों की आठ श्रेणियों का विवेचन है।

विनय के साधारण नियम

वर्षावास में अपवाद के रूप में भिक्षु एक सप्ताह के लिए बाहर जा सकता है। वस्सुपनायक खन्धक तथा वर्षावस्तु के अनुसार अपने भाई की शादी में संमिलित होने के लिए, उसके बीमार होने पर उसे देखने के लिए (गन्तव्यं भिक्षुण्ण सप्ताहं अधिष्ठाय उपासकस्य करणीयेन)। गिलगिट मेन्युस्क्रिप्ट में एक और अवसर का उल्लेख है - स्तूप पर यष्टि लगाने के लिए। इन अवसरों पर भिक्षु का यह करणीय कृत्य बनता है कि वह वर्षावास में भी वहां जाकर यह कार्य संपन्न कराये। मूलसर्वास्तिवादी विनय यह अनुमति देता है। मृत्यु के सन्निकट भिक्षु को या उपासक को उपदेश देने के लिए भी वर्षावास में भिक्षु जा सकता था। यह भिक्षु का धर्मदान माना जाता था। महासांघिक लोकोत्तरवादी अभिसमाचारिका में भी यह निर्दिष्ट है कि उपासक-सपासिका के गृहप्रवेश, जन्मदिन, मृत्युकाल, विवाह के समय भिक्षु वहां जाये और परिपाठ करे। इसे ''दक्षिणा आदिश..'' कहा गया है अर्थात् पुण्य को संक्रमित करना। पालि विनय में माता-पिता शब्द और जुडा हुआ है। भिक्षु या भिक्षुणी का यह करणीय कृत्य था।

स्तूप

साधारण तौर पर यह माना जाता है कि स्तूप के सम्बन्ध में भिक्षुओं के किसी करणीय का उल्लेख पालि विनय में नहीं है। इसका कारण यह हो सकता है कि स्तूप निर्माण का उत्तरदायित्व उपासकों का था, भिक्षुओं का नहीं। परन्तु बारहवीं शती के सिंहल कतिकावत ग्रन्थ में विसुद्धिमग्ग और सुत्तविभंग में से एक उद्धरण का उल्लेख किया है। रत्नपाल ने उसका अनुवाद करते समय वतखन्धक (विनय २०७-२३०) का

उल्लेख किया है। परन्तु उसमें स्तूप विषयक कोई ऐसा उल्लेख दिखाई नहीं देता। वस्तुतः खन्धक को लेखक समझ नहीं पाया। वह किसी व्यक्ति का नाम नहीं, ग्रन्थभाग का नाम है। खन्धक में 'चेतियंगण' शब्द का प्रयोग हुआ है, जो मूलसर्वास्तिवादी विनय का है, पालि विनय में ऐसा कोई शब्द नहीं मिलता। खन्धक में यह शब्द भले ही उपलब्ध न हो, पर सुत्तविभंग में इसका उल्लेख अवश्य हुआ है। विनय में 'चेतियस्स वा परिणामेति' विनय में 'स्तूपिकं करोति' आदि के उल्लेख सर्वास्तिवादी और मूलसर्वास्तिवादी उल्लेख से मेल खाते हैं। यहां स्तूप और चेतिय समानार्थक हैं। सुत्तविभंग के संघादिसेस में उपलब्ध उल्लेख स्पष्ट रूप से यह विधान देता है कि वर्षावास में स्तूप निमित्त या रोगी की चर्या निमित्त बाहर जाना पडे तो वह अपराध रूप नहीं है। इसी तरह के उल्लेख महीशासक, धर्मगुप्तक, महासांघिक, सर्वास्तिवाद और मूलसर्वास्तिवाद के विनय ग्रन्थों में मिलते हैं। श्रीलंकायी साहित्य और परम्परा में भी स्तूप पूजन के उल्लेख कम नहीं मिलते।

यहां यह उल्लेखनीय है कि पालि विनय में स्तूप पूजा के सन्दर्भ में भिक्षुवर्ग और उपासक वर्ग के बीच अन्तर है। महापरिनिब्बाणसुत्त के बुद्धशरीरपूजा में शरीरपूजा अर्थात् स्तूप पूजा को उपासकों के कर्तव्यों में गिनाया गया है, भिक्षुओं के कर्तव्यों में नहीं। कथं मयं भन्ते तथागतस्स सरीरे पटियज्ञामाति ? वरुआ ने इस उद्धरण को प्रक्षिप्त कहा है। यहां 'मयं' शब्द का प्रयोग कदाचित् समूचे उपासक संघ के लिए होना चाहिए क्योंकि मल्ल भिक्षु आनन्द से पूछ रहे है। दूसरी बात, यहां सरीरपूजा प्रतीकात्मक है, उत्तरकाल में यही शरीरपूजा स्तूपपूजा में विकसित हो गई। यहां जिनपुत्त शब्द का प्रयोग उपासक के लिए होना अधिक संभव है। इसके बावजूद भिक्षुओं के लिए भी स्तूपपूजा विहित रही होगी। उदान, अपदान आदि ग्रन्थों में ऐसे अनेक उल्लेख हैं जिनमें सब्रह्मचारियों के निधन पर उनकी दहनक्रिया करने का और वहां स्तूप बनाने का प्रावधान किया गया है। महासांघिक विनय भी इसे स्वीकार करता है। भाजा, वेदिसा, कान्हेरी आदि स्थानों की स्तूप परम्परा इस तथ्य का समर्थन करती है। मूल सर्वास्तिवादीविनय में भी यह प्रथा रही है।

इसी तरह भिक्षुवर्ग के भाण्ड, चीवर आदि के विभाजन का कार्य भी उनके निधन के बाद विवाद का कारण बन जाता था। चीवस्कन्धक इस विषय में मौन दिखाई देता है। मूल सर्वास्तिवादी विनय अवश्य कुछ प्रकाश डालता है। वहां कहा गया है कि उपनन्द ने काफी सम्पत्ति एकत्रित कर ली थी। उनकी मृत्यु के बाद साकेत, वैशाली, वाराणसी, राजगृह, चम्पा आदि स्थानों से भिक्षुओं ने आकर अपना-अपना लाभांश

पाने की इच्छा व्यक्त की। बुद्ध ने इस स्थिति में नियम बनाया कि इन पांच कारणों से लाभांश मिल सकता है - **पंचकारणानि लाभविभागे। कतमे पंच ? गण्डी, त्रिदण्डिकं, चैत्यं, शीलाका, ज्ञप्तिः पंचकम्**। इन पांचों के विषय में मतमतान्तर है।

आवास, बिहार और आराम

वर्षाकाल में रुकने के लिए शनैःशनैः आवास और आराम बनने लगे, सामुदायिकता बढने लगी। पातिमोक्ख की आवृत्ति, पवारणा और कठिन जैसे अवसरों का संयोजन हुआ, भिक्षा का नियम शिथिल हुआ और वर्षावास समाप्त होने पर पुनः उनमें रहने की प्रवृत्ति बढने लगी। प्रादेशिक संघों का अस्तित्व प्रारम्भ हुआ, जैसे जेतवन का भिक्खु संघ, श्रावस्ती का भिक्षु संघ। आवासों की व्यवस्था के लिए सेनासन गाहापकों की नियुक्ति हुई जो समान संवासकों और नाना संवासकों के लिए वर्षावास उसके बाद और अन्तरामुत्तक समय में दिया करते थे। इस तरह विनय पिटक के संगायन तक बौद्ध संघ परिव्राजक न होकर एकत्रित निवास करने लगा था।

आवास और आराम में जो स्थान भिक्षु के लिए दिया जाता था उसे **परिवेण** कहा जाता था जिसमें सेनासन, आपस्सेन फलक, खेलमल्लक और पिट्ठ हुआ करते थे। उन्हें **विहार** की संज्ञा भी दी जाती थी जिसमें एक या कुछ अधिक भिक्षु समुदाय रहा करता था। महावग्ग में उपलब्ध वर्णन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आवास की अपेक्षा **आराम** का आकार प्रकार बड़ा होता था। राजगृह का वेणुवन उद्यान ऐसा ही था जहां पातिमोक्ख का पारायण किया जाता था। उन्हें उपोसथागार और उपट्ठानसाला तथा संघाराम कहा जाने लगा। उपासकों के दान से उनका निर्माण हुआ। ऐसे आरामों में **कतिपय प्रमुख आराम इस प्रकार हैं -**

१) बिम्बिसार द्वारा प्रदत्त राजगृह का वेणुवनाराम

२) जीवक द्वारा प्रदत्त राजगृह का जीवकाराम

३) वेसाली का अम्बपालि वन

४) राजगृह का उदम्बरिकाराम

५) कोसाम्बी के कुक्कुटाराम, घोसिताराम, और पावारिकाम्बवन

६) सावर्त्थ का जेतवनाराम जिसे अनाथपिण्ड ने प्रदान किया था।

७) घोसिताराम का समीपवर्ती बदरिकाराम

८) कपिलवत्थु का निग्रोधाराम

ये विहार और आराम पातिमोक्ख की समग्रता की ओर संकेत करते है जहां धम्म धम्मविनय के रूप में प्रस्थापित हुआ और चत्तारि अकरणीयानि का नियम बनाया गया। विनय पिटक वस्तुतः बौद्ध भिक्खु-भिक्खुणी वर्ग का संविधान है जिसमें यथासमय विकास होता रहा है। प्रत्येक नियम के साथ घटनायें जुडी हुई हैं और शास्ता उसके उद्भावक हैं। यह थेरवादी विनय कालान्तर में महासांघिक लोकोत्तरवादी मूलसर्वास्तिवाद, महीशासक सर्वास्तिवाद, धर्मगुप्तक मूलसर्वास्तिवाद, महीशासक सर्वास्तिवाद, धर्मगुप्तक सर्वास्तिवाद और सर्वास्तिवाद जैसे सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। इनमें थेरवादी और मूल सर्वास्तिवादी विनय उपलब्ध है। मूलसर्वास्तिवादी विनय के चार अध्याय मिलते हैं - चीवरवस्तु, कठिनवस्तु, कोसम्बक वस्तु और कर्मवस्तु। इनके अतिरिक्त भैषज्यवस्तु, प्रव्रज्या वस्तु, पोषधवस्तु, वर्षा वस्तु और चर्मवस्तु तथा सात अन्य लघु अध्याय उपलब्ध हैं। ये गिलगिट मेन्युरिक्रटस में मिलते हैं जो सिलविन लेवी ने १९३२ में विज्ञापित किये थे। राहुल सांकृत्यायन को भी तिब्बत में प्राचीन मैथिली उपसंपदा ज्ञप्ति, भिक्षुप्रकीर्णक और भिक्षुणी प्रकीर्णक प्राप्त हुए थे। उल्लेखनीय तो यह है कि उपर्युक्त सम्प्रदायों में विनय विषयक कोई विशेष मतभेद नहीं है। इस पर Frauwallner ने अच्छा कार्य किया है।

विनय पिटक संघ की समग्रता पर अधिक जोर देता है। महावग्ग १०) अपरिहाणीय धम्म की पृष्ठभूमि में यही भाव काम करता रहा है। इसके लिए तथागत ने वज्जी संघ के समान नियमित रूप से संघ के बीच विचार-विमर्श करते रहने का निर्देश दिया (महापरिनिब्बाणसुत्तन्त)। शाक्य, मल्ल, लिच्छवि और वज्जि गणतन्त्रों की सीमाएं अस्तित्व में थीं ही। उन्हीं का प्रतिबिम्बन संघ-निर्माण में हुआ। उपसम्पदा और पातिमोक्ख का विधान इसका उदाहरण है। संघकम्म करने के लिए उपसम्पदा, पवारणा और अब्भान के लिए भिक्षुसंख्या का विधान किया गया और चौबीस प्रकार की अयोग्यताओं पर भी ध्यान रखने के लिए कहा गया। संघकर्म के अन्तर्गत संघ के समक्ष समस्या को प्रस्तुत किया जाता और उस पर अनुस्सावना होती। यह अनुस्सावना यदि एक बार होती तो उसे ञत्ति दुतिय कम्म कहा जाता जिसमें जाति और अनुस्सावना एक बार रहती। इसी तरह ञत्ति ततियकम्म और ञत्ति चतुत्थकम्म भी होते जिनमें क्रमशः एक-एक ञत्ति और दो तथा तीन बार अनुस्सावना होती। तृतीय अनुस्सावना अर्थात् चतुर्थ ज्ञप्तिकर्म में संघ के पास कुछ अधिक समय विचार-विमर्श के लिए मिल जाता था।

अधिकरण (विवाद) को शान्त करने के लिए संघकर्म ज्ञप्ति से प्रारम्भ होता था और सात प्रक्रियायों से गुजरता था - १) सम्मुखा विनय, २) सति विनय, ३) पटिण्णत करण, ४) येमुय्यसिका और तिणविट्ठारक। विनय पिटक के क्रमिक स्तरीकरण पर भी शोधकों ने इसी पृष्ठभूमि में कार्य किया है।

विनय पिटक और पर्यावरण

आज पर्यावरण का वातावरण है। इसलिए विनयपिटक को हम पर्यावरण की दृष्टि से भी समझ लें। वस्तुतः विनयपिटक बौद्ध भिक्षुसंघ का एक आन्तरिक और बाह्य अनुशासन बनाये रखने का संविधान है। आन्तरिक अनुशासन आध्यात्मिक जीवन में पवित्रता और विशुद्धि लाता है तथा बाह्य अनुशासन सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित करता है। दोनों प्रकार के अनुशासनों से सभी प्रकार का पर्यावरण विशुद्ध हो जाता है।

तथागत बुद्ध पूर्ण अहिंसक और महाकरुणाशील थे। वे जानते थे कि पेड-पौधे काटने से जीवों की हिंसा होती है (**जीवं विहेट्ठेन्ति-महावग्ग**)। वृक्ष के नीचे बैठकर ही उन्होंने बोधि प्राप्त की, ऋषिपत्तन मृगदाव में प्रथम उपदेश दिया और कुशीनगर के शालवन में परिनिर्वाण प्राप्त किया। उनका समूचा जीवन प्रकृति-प्रांगण में व्यतीत हुआ। त्रिचीवर में संघाटी और उत्तरासंघ की निर्मिति में धान के खेतों की भूमिका रही है। उन्होंने सीहचम्म, व्यग्घचम्म और दीपिचम्म से बने जूते पहिनने को दुक्कट में संमिलित किया। जल-जीवों की हिंसा का विरोध किया और विशाखा को समझाया कि वह भिक्षुसंघ को जो भी दान दे वह दान आठ दोषों से मुक्त होना चाहिए (विसाखावत्थु)।

विनय पिटक में अनेक **वनों** के उल्लेख मिलते हैं, जैसे-जीवक का आम्रवन, बिम्बिसार का आम्रवन, आम्रपाली का आम्रवन, कौशाम्बी का घोषिताराम, भद्दिया का जातियावन, श्रावस्ती का जेतवन, कपिलवस्तु का न्यग्रोधवन, वैशाली का वालुकाराम और महावन, राजगृह का लट्ठिवन और वेणुवन, कुसीनारा का शालवन, वाराणसी का इसिपत्तन मिगदाय आदि। इन वनों से बुद्ध को बडा लगाव था क्योंकि वे प्रकृति पुजारी थे। अनोमा, अचिरवती, गंगा, निरंजना, मही, यमुना, सरभू आदि नदियों से उनका गहन सामीप्य था। पेड-पौधे और जीव-जन्तुओं से उन्हें असीम प्यार था। इसलिए उनके संरक्षण में उनकी अहं भूमिका रही है। रोगों के निदान में उन्होंने पत्र, पुष्प और फलों का उपयोग किया। विनयपिटक में विविध रोगों और उनके नैसर्गिक उपचारों का सुन्दर वर्णन मिलता है।

विनय पिटक सांस्कृतिक पर्यावरण की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। बुद्ध मनुष्य की एक ही जाति मानते थे (एकैव जाति)। वे समाज को चार वर्णों में विभाजित करते हैं - क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र। पर यह वर्णव्यवस्था जन्माश्रित न होकर कर्माश्रित थी - **कम्न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो। कम्मना वसलो होति, कम्मना होति ब्राह्मणो (वसलसुत्त)**। इसी आधार पर उन्होंने चारों वर्णो की यथार्थ व्याख्या की। कर्म के आधार पर ही जातियों की संरचना होती थी। हिंसक यज्ञ के स्थान पर तथागत ने दान-शील-समाधि-प्रज्ञा यज्ञ का विधान दिया और द्यूत, मद्यपान, वेश्यावृत्ति, चौर्यकर्म आदि जैसे सामाजिक विघटनकारी दुष्कृत्यों से समाज को मुक्ति दिलाई। कृषिकर्म को व्यवस्थितकर उन्होंने आर्थिक संरचना को भी दृढ किया। इसी तरह स्थापत्यकला में भी नये आयाम जोड़े। वस्तुत: विनय के लगभग सारे नियम पर्यावरण को सन्तुलित बनाये रखने के लिए संयोजित किये गये हैं।

यहां यह उल्लेखनीय है कि भिक्षुगण यदि वृक्ष काटते हैं और बिना छना पानी पीते हैं तो पाचित्तिय दोष होता है इसी तरह प्राणी हत्या करने पर पाराजिक दोष होता है। मांस भक्षण भी मूलतः निषिद्ध था पर बाद में **'त्रिकोटिपरिशुद्ध'** की शर्त आयी और रोगी को भी मांस भक्षण की अनुमति दी गई। भैषज्य स्कन्धक से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है जहां अभक्ष्य मांस की मीमांसा की गई हैं। अट्ठकथाओं में इसका विविध विवेचन मिलता है जिसका विस्तृत उल्लेख हम अन्यत्र कर चुके हैं।

बौद्ध विनय पर संयोजित शोधकार्य

यहां हम आधुनिक युग में **बौद्ध विनय** पर जो विशेष शोधकार्य हुआ है उसे प्रस्तुत कर रहे है। वस्तुत: आज उसके अध्ययन और अध्यापन में नये आयाम जुड गये हैं। विनय पिटक पर भी यत्र-तत्र काफी कार्य हुआ है। अनेक ग्रंथ सूचियां तैयार हुई हैं। Complete catalogue of the Tibetan Buddhist Canons, edited by Hakuju Ui, Hobogirin Fascicule Annexe, Edited by Levi, Takakusy and Demieville उनमें प्रमुख हैं। इसी तरह पाण्डुलिपि सूचियां भी प्रकाशित हुई हैं। जैसे केशीपश्रश की Manuscript Remains of Buddhist Literature found in Eastern Turkestan. फिर भी एक सशक्त Bibliography की आवश्यकता है जिसमें अद्यतन शोध कार्य का लेखा-जोखा हो।

इसका कार्य त्रिपिटक से प्रारम्भ होना चाहिए। इस दृष्टि से हम सर्वप्रथम विनय पिटक पर सोच सकते हैं। इतिहास और संस्कृति की दृष्टि से Lamotte का Histoire De Vaunddhisine Indian Des Origines Lere Sake Hirakawa की A Study of the Vinaya Pitaka उल्लेखनीय है। हम जानते हैं। विनय-नियमों पर आधारित

अनेक अन्दोलन बौद्ध सम्प्रदाय में हुए हैं। उनमें से कुछ आन्दोलनों का प्रभाव अधिक समय तक नहीं रहा। परिणामतः विनय का विकास मात्र थेरवाद, महासांघिक, महीशासक, धर्मगुप्तक और मूलसर्वास्तिवाद में हुआ है। चार्ल्स प्रेविश ने विनय पिटक के अध्ययन को दो भागों में विभाजित किया है, विनय पिटक का सम्पादन, अनुवाद आदि और विनयपिटक की विषय सामग्री।

१) ग्रंथगत सामग्री

ग्रंथगत सामग्री का संदर्भ थेरवाद, महासांधिक या लोकोत्तरवादिन्, सर्वास्तिवाद और मूल सर्वास्तिवाद सम्प्रदायों से संबद्ध है। इसके अंतर्गत विनय पिटक का ग्रंथगत अध्ययन भी सम्मिलित है। उदाहरणार्थ - पातिमोक्ख, (बेंकाक, १९६६) का अंग्रेजी अनुवाद के साथ आणमोलि का संस्करण उपादेय है। यहां अनुवाद की भाषा कठिन हो गई है। The Book of Discipline (भाग ६, परिवार, लण्डन १९६६) के नाम से Miss Horner का अनुवाद, पालिटेक्स्ट सोसायटी लण्डन से प्रकाशित हुआ। यह अनुवाद समान-उद्धरण और विस्तृत प्रस्तावना के साथ प्रस्तुत किया गया है। इस पर बुद्धघोष की टीका समन्तपासादिका भी सात भागों में Juniro Taka Kusu Makoto Nagai and Kozen Mibun ने प्रकाशित किया। पातिमोक्ख का अनुवाद, कंखावितरणी का सम्पादन, Dorothy Maskell (PTS) ने समन्तपासादिका की विस्तृत भूमिका Inception to Discipline (लण्डन १९६२) एन.ए. जयविक्रम ने, और विभाषा विनय का चीनी अनुवाद (Taish १९६२) वापट और हिराकावा (पूना १९७०) ने प्रकाशित कर पाली पाठकों को अध्ययनार्थ सामग्री प्रस्तुत की है।

महासांघिक सम्प्रदाय के लोकोत्तरवादी विनय संस्करणों में प्रातिमोक्षसूत्र (सं. Pichow और रमाकान्त मिश्र का The Pratimokshasutra of the Mahasanghikas (इलाहाबाद १९५६), इस पर Charllles S. Prebish का समीक्षात्मक ग्रंथ-Buddhistic Monostic Discipline : The Sanskrit Pratimokshasutras of the Mahasanghikas and mulasarvastivadins (Pennsylvania State University Press, 1975), Sennart १९७५ का महावस्तु (लोकोत्तरवादी विनय), Gustava Roth का भिक्षुणी विनय, डॉ. जिनानन्द का स्कन्धक, अभिसमाचरिका भिक्षुप्रकीर्णक (पटना १९६९-७०) डॉ. संघसेन का स्फुटार्थ श्रीघनाचार संग्रहटीका भिक्षुप्रकीर्णक (पटना, १९६९) विशेष महत्त्वपूर्ण संस्करण हैं जिनमें प्राचीन विनय का रूप प्रतिबिम्बित हुआ है. सर्वास्तिवादी विनय के

प्रमुख संस्करण तीन हैं- १. कर्मवाचना (Edited by Hervert Hartel, Berlin, 1956) २. भिक्षु प्रातिमोक्ष of Sarvastivadins (Edited by Valentin Rosen. Berlin, 1959) ३. सर्वास्तिवादी विनय (Edited by Ernst Waldschmedt, Berlin, 1963). मूल सर्वास्तिवादी विनय संस्करण छह उपलब्ध हैं- १. प्रातिमोक्षसूत्र (मूलसर्वास्तिवाद, कलकत्ता, १९५४) सं. अनुकूल चंद्र बनर्जी। उन्होंने भिक्षुकर्मवाक्य का भी संपादन १९४९ में किया था । २. गिलगिट प्रति पर ही आधारित - प्रातिमोक्षसूत्र का ही एक अन्य संस्करण लोकेशचंद्र ने सम्पादित किया था १९६० में। ३. इनका अंग्रेजी अनुवाद Charles Prebish's Buddhistic Monastic Discipline : The Sanskrit Pratimokshasutras of the Mahasanghikas, and Mulasarvasti-vadins ने प्रकाशित किया। ४. जिनानन्द का उपसम्पदा ज्ञप्ति (पटना १९६१) भी मुद्रित हुआ। ५. मूलसर्वस्तिवादी विनयवस्तु (सं. वागची, दरभंगा, १९६७) ६. A Comparatiue study of the Katha Vastu - Kun Chang, १९५७ अनुपूरक सामग्री विनय पिटक के उपर्युक्त संस्करणों के आधार पर विद्वानों ने उसकी अनुपूरक सामग्री भी प्रकाशित की है । उनमें कतिपय विशेष उल्ललेखनीय है । १) Dr. W. Pachow's A Comparative Study of the Pratimokshasutra in Sino-Indian Studies, Volumes, 1-4 & 5, 1, 1951-55 Sarvastivadin Bhiksu, Pratimokshasutra के नाम से अंग्रेजी अनुवाद भी किया। इसमें उन्होंने विनय का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है। १९५२ में उन्होंने रमाकान्त मिश्र के सहयोग से The Pratimokshasutra of Mahasanghikas (इलाहाबाद, १९५२) प्रकाशित किया। जापानी विद्वानों ने विनय का अध्ययन किया और १९५२ में २) Nakano Zo Indian Law as Found in the Vinayapitaka, 1953, Akira Hira Kawa ने The Comparative Studies of the Pratimokshasutra On the Formation of the Khandhaka of the Vina Pitaka (१९५४) The Fundamental Truth from the Standpoint of Vinaya, १९५४ ने प्रकाशित किये। इनके अतिरिक्त गोकुलदास डे का Democracy in Early Buddhist Sangha, Calcutta, 1955, Erich Frauwllner The Earliest Vinaya and Beginnings of the Buddhist Literature (1956), Tatsugen Sato Zo A Study of Sangha's possessions in Vinaya Pitaka, 1956, Akira Hirakawa Zo The Construction of Bodhisattva Sangha as seen from

Vinaya Pitaka, 1958, A Study of the Vinaya Pitaka, 1960, Gustav Roth Zo Bhikshunivinaya and Bhikshuprakirnaka, 1966, Notes on the Introduction of the Bhikshupratimokshasutra of the Arya Mahasanghika, Lokottarvadin, 1966 आदि अनेक लेख भी प्रकाशित किये। १९७० के दशक में GSP मिश्र का The Age of Vinay (नई दिल्ली, १९७२), पुस्तक प्रकाशित हुई। मेरे निर्देशन में कला तिरपुडे का मराठी में एक शोधप्रबंध भी सामने आया। राहुल सांकृत्यायन जी का हिन्दी अनुवाद तो प्रसिद्ध है ही। उसका नवीन संस्करण भी मुद्रित हुआ' बाद में इंगतपुरी का संस्करण भी हमारे सामने है। सर्वास्तिवादी विनय के अध्ययन में Sylvain levi louis Finot and Poussin ने भी नये आयाम जोड़े हैं। गिलगिट और तिब्बतन मैन्युस्क्रिप्ट् सामने आने पर उनका अच्छा अध्ययन हुआ है। थेरवादी विनय की अपेक्षा अन्य विनयों का अध्ययन आकर्षण का केन्द्र बन गया है। यही कारण है कि उसके बाद भी आज तक अनेक प्रकार के अध्ययन समूचे विनय पर केन्द्रित हुए हैं। इन अध्ययनों में एक समग्रता नितान्त अपेक्षित है। हमने अपनी पुस्तक में विनय और योगसाधना का सांगोपांग विवेचन किया है।

३. अभिधम्मपिटक

अभिधम्म पिटक पिटक परम्परा का तृतीय अंग है। 'अभिधम्म' शब्द का प्रयोग संगीति परियाय सुत्त (दीघ. ३०.१०) आदि में धम्म और विनय से सम्बद्ध गंभीर उपदेश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसी आधार पर बुद्धघोष ने उसका अर्थ उच्चतर धर्म के रूप में किया है। इसका सम्बन्ध अधिप्रज्ञा शिक्षा से है, अधिचित्त या अधिशील शिक्षा से नहीं। यही परमार्थ देशना है। अभिधम्मपिटक की संरचना तृतीय संगीति (२५३ ई. पू.) का परिणाम माना जा सकता है, इसके पूर्व नहीं। मिलिन्दपञ्हो (ल.१०० ई.पू.) में अभिधम्म पिटक के सातों ग्रन्थों का उल्लेख हुआ है (प्रथम अध्याय)। डॉ. लाहा ने अभिधम्म के सातों ग्रन्थों का कालक्रम इस प्रकार निश्चित किया है १) पुग्गलपंञत्ति, २) विभंग धम्मसंगणि, धातुकथा, यमक, (३) यमक, पट्ठान, ३) कथावत्थु। इस निश्चिति में मतभेद हो सकता है। कतिपय विद्वानों ने धम्मसंगणि को विभंग से पहले रखा इसलिए कि धम्मसंगणि की मातिका में निर्दिष्ट २२ त्रिकों और १०० द्विकों की विवरण प्रणाली को यथावत् स्वीकार किया है।

अभिधम्म की शैली निप्परियाय देसना है जिसमें उपमाएं और उदाहरण दिये बिना देसना दी गई है। इसका प्रणयन साधारण जनता के लिए नहीं हुआ है, वह तो देव-मनुष्यों के लिए उपदिष्ट बुद्धवचन है। समूचा सुत्तपिटक सम्मुतिसच्च (व्यवहार सत्य) के आधार पर लिखा गया है और अभिधम्म की भाषा परमार्थसत्य की है। इसकी शैली परिप्रश्नात्मक है। स्थविरवाद को छोडकर अन्य सम्प्रदायों में इसे प्रामाणिक नहीं माना गया।

अभिधर्मपिटक में भी एकरूपता नहीं है। उनमें परस्पर विवाद होता रहा है। मातिका (मात्रिका) एक विषयसूची है जो ग्रन्थ के या तो प्रारम्भ में रहती है या अध्याय के प्रारम्भ में। मात्रिका पर एक टीका है महाविच्छेदनी। उसमें लिखा है कि हर मात्रिका में सात भाग हैं। महापरिनिब्बाणसुत्त में बुद्ध भी अपनी शिक्षाएं सात भागों में विभाजित कर देते हुए दिखाई देते हैं।

अभिधम्मपिटक का उद्देश्य सुत्तपिटक के विषय को ही अधिक स्पष्ट करना रहा है। सुत्तपिटक में अनेक बार इस दर्शन की पुनरावृत्ति हुई है कि सभी स्कन्ध अनित्य, अनात्म और दुःख मूलक हैं। उनमें अपनापन स्थापित करना दुःख का कारण है। इसी सन्दर्भ में १८ धातुओं का विश्लेषण किया गया है (आयतन संयुत्त, धातुसंयुत्त - सं. निकाय)। अनात्मवाद के इस उपदेश को अभिधम्म पिटक में विश्लेषित किया गया है। इस विश्लेषण में उपमा, रूपक आदि को माध्यम नहीं बनाया गया (निष्परियापदेसना)। इसलिए इसकी शैली शुष्क और रूखी है। पर उसकी परिप्रश्नात्मक शैली (पञ्हपरिपुच्छक) ने इस शुष्कता को किसी सीमा तक दूर किया है। इससे उद्देस (संक्षिप्त कथन) और निद्देस (विस्तृत विवेचन) दोनों रूप अभिधम्म पिटक में उपलब्ध हो जाते हैं।

बौद्धधर्म के विवेचन में इन दोनों रूपों का आश्रय लिया गया है इसलिए अभिधम्म का महत्त्व पिटक परम्परा में बहुत अधिक है। बुद्ध वचन मानकर उसका सम्मान किया जाता रहा है। सिंहल और वर्मा में उसकी तदनुरूप पूजा होती है। महावंश के अनुसार सिंहली राजाओं ने अभिधम्म का बडा सम्मान किया। काश्यप प्रथम (९२९ ई.) ने उसे स्वर्ण पत्रों पर उत्कीर्ण कराया और धम्मसंगणि को बहुमूल्य रत्नों से मण्डित किया। इसी प्रकार विजयबाहु प्रथम (१०५९-१११४ ई.) ने धम्मसंगणि का सिंहल भाषा में अनुवाद किया। उत्तरकाल में अभिधम्म को बुद्धवचन नहीं माना गया। दीपवंस (५.३२-३८) के अनुसार भिक्षुओं का एक वर्ग ऐसा भी था जो उसे प्रामाणिक

नहीं मानता था। महासांघिकों ने भी उसे प्रामाणिक नहीं माना। सौत्रान्तिक भी उसे बुद्धवचन नहीं मानते। इस दृष्टि से यह तो निश्चित है कि अभिधम्मपिटक उत्तरकालीन है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह प्रामाणिक नहीं है।

कथावत्थु को छोडकर अभिधम्म पिटक के किसी भी ग्रन्थ के साथ रचयिता का नाम नहीं जुडा हुआ है। अतः उसे अप्रामाणिक कहना उचित नहीं कहा जा सकता है। इसका समय ई.पू. २५० माना जा सकता है। वट्टगामणी के समय तक वह लिपिबद्ध हो चुका था। मिलिन्दपञ्हो में उसका उल्लेख हुआ ही है।

सर्वास्तिवादी परम्परा में अभिधम्मपिटक का महत्त्व अधिक विकसित हुआ। उसमें उसका नाम 'शास्त्रसंग्रह' है। उसमें भी अभिधम्म पिटक के सातों ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं जो संस्कृत में हैं और उनके रचयिताओं के नाम भी हैं। ये नाम इस प्रकार हैं - १) ज्ञानप्रस्थान शास्त्र (आर्य कात्यायिनीपुत्र), २) प्रकरणपाद (स्थविर वसुमित्र), ३) विज्ञानकायपाद (स्थविर देवशर्मा), ४) धर्मस्कन्धपाद (आर्य शारिपुत्र), ५) प्रज्ञप्तिशास्त्रपाद (आर्य मौद्गल्यायन), ६) धातुकायपाद (पूर्ण या वसुमित्र), और ७) संगीति पर्यायवाद (महाकौष्ठिल या शारिपुत्र)। इन ग्रन्थों का सम्बन्ध अभिधम्म पिटक के सातों ग्रन्थों से स्थापित किया जा सकता हैं। उनमें आन्तरिक सम्बन्ध भी विचारर्णाय है। इन सभी ग्रन्थों में पदार्थ (धर्म) के स्वरूप पर विचार किया गया है। अभिधम्म का क्रमिक विकास होते-होते यहां स्वतन्त्र पिटक का रूप उसने ले लिया। इसलिए सर्वास्तिवादी अभिधर्म दर्शन बिलकुल स्वतन्त्र है। उसका सारा साहित्य संस्कृत में है। दूसरी ओर सौत्रान्तिक अभिधम्म को स्वीकार नहीं करते । सर्वास्तिवादी अभिधर्मपिटक के सातो ग्रन्थ क्रमशः स्थविरवादी ग्रन्थों के साथ रखे जा सकते हैं - १) ज्ञानप्रस्थान, २) प्रकरणपाद, ३) विज्ञानकायवाद, ४) धर्मस्कन्धपाद, ५) प्रज्ञप्तिपाद, ६) धातुकायपाद, और संगीतिपर्यायपाद।

अभिधम्म पिटक में संग्रहीत निम्नलिखित सात ग्रन्थों का क्रम मिलिन्दप्रश्न और अट्टसालिनी के अनुसार है। परन्तु कालदृष्टि से यह क्रम सही नहीं है। विमल चरण ला ने यह क्रम इस प्रकार नियोजित किया है - १) पुग्गलपंञत्ति, २) विभंग-धम्मसंगणि धातुकथा, यमक और पट्ठान, ३) कथावत्थु। गायगर, विन्टरनित्स, रिज देविड्स, भरतसिंह उपाध्याय आदि विद्वानों में इस क्रम में पंञत्ति, २) धम्मसंगणि, ३) विभंग धातुकथा, यमक और पट्ठान, ४) कथावत्थु को रखा है।

अभिधर्म का मूल रूप प्रश्नोत्तरात्मक है। अट्ठसालिनी की निदानकथा में बुद्धघोष ने निर्वाणप्राप्ति के लिए उसे श्रद्धामूलक माना है। इसमें धर्मदिशना उदाहरणों और उपमाओं के बिना दी गई है। इसे हम नैतिक तत्त्व पर आधारित मानसशास्त्र कह सकते हैं। यहां पहले उद्देश (संक्षिप्त कथन) और फिर निर्देश (विस्तृत कथन) देकर

बौद्ध मनोविज्ञान को प्रस्तुत किया गया है। सुत्तपिटक में इसके प्राथमिक रूप को देखा जा सकता है। समूचा अभिधम्मपिटक परस्पर अनुस्यूत है। इसमें संग्रहीत सातों ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है -

१. धम्मसंगणि

धम्मसंगणि अभिधम्मपिटक का मूलाधार है। इसमें बौद्धधर्म का नैतिक, मनोवैज्ञानिक और तात्त्विक विवेचन है। परिप्रश्नात्मक शैली में चित्त का कुशल, अकुशल और अव्याकृत के रूप में वर्गीकरण कर उसकी अच्छी व्याख्या इस ग्रन्थ में निहित है। प्राचीन ग्रन्थों में सुत्तधर, विनयधर, मातिकाधर आदि का जो उल्लेख आता है वह मातिका इसी ग्रन्थ में संग्रहीत मातिका है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में यह मातिका या विषय सूची दी गई है। वह नैतिकवाद पर आधारित है पर उसका काण्ड-विभाग चित्त और रूप की दृष्टि से हुआ है। मातिका में कुल मिलाकर १२२ वर्गीकरण है। उनमें २२ तिकों और १०० दुकों में धर्मो को वर्गीकृत किया गया है। कुशल, अकुशल चित्तों में ८ कुशल विपाक चित्त, ८ कामावचर विपाकचित्त, ५ रूपावचर विपाकचित्त, ३ अहेतुक क्रियाचित्त, कामावचर भूमि के ८ क्रियाचित्त, रूपावचर भूमि के ५ क्रियाचित्त, और अरूपावचर भूमि के ४ क्रियाचित्त इस प्रकार चित्त के सभी ८९ प्रकारों का वर्णन इस ग्रन्थ में है। इसके साथ ५२ चेतसिक अवस्थाओं का भी इसमें वर्णन है। यह प्रथम काण्ड 'चित्तुप्पादकंड' है। इसी तरह द्वितीय रूपकंड़, तृतीय निक्खेप कंड और चतुर्थ अट्ठकथा कंड में इसी को विस्तृत ढंग से विवेचन किया गया है। यहां चित्त का अर्थ चेतना है और चित्त की अवस्थाओं को चेतसिक की संज्ञा दी गई है।

कहा जाता है, बुद्ध ने सर्वप्रथम अभिधर्म का उपदेश अपनी माता को स्वर्ग में दिया था (अट्ठसालिनी, ३०,१६-३१)। इस कथानक रूढि का उद्देश्य यही था कि अधिधम्मपिटक को किसी न किसी रूप में 'बुद्धवचन' होने की मान्यता मिल सके। 'निदान' में उसका उल्लेख न होने से यह कठिनाई और बढ गई थी। इसे दूर करने के लिए इस कथानक रूढि का प्रचलन किया गया। कुल मिलाकर धम्म्संगणी को बौद्ध नीतिवाद की मनोवैज्ञानिक व्याख्या कहा जा सकता है जिसमें कुशल, अकुशल और अव्याकृत चित्तों का सम्यक् विवेचन सन्निहित है। यहां चित्त को धम्म (पदार्थ) मानकर उसकी विविध अवस्थाओं का चित्रण हुआ है। इस ग्रन्थ के तृतीय प्रकरण पर सारिपुत्त ने **'अत्युद्धार'** नामक टीका लिखी। श्रीलंका में इसका प्रचार बहुत अधिक रहा है। काश्यप राजा ने इसे स्वर्णपत्र पर उत्कीर्ण किया था।

२. विभंग

इसमें धम्मसंगणी के ही विषय को स्कन्ध, आयतन और धातु आदि के रूप में संश्लिष्ट रूप से वर्गीकृत किया गया है। विभंग का अर्थ है - विस्तृत विवेचन। इस शब्द का प्रयोग मज्झिम निकाय के भद्देकरत्त-सुत्तन्त (३.४.१) में हुआ है। धम्मसंगणी के विभाजन को ही यहां स्वीकारकर विभंग ने अपने आप को एक पूरक ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इसका विभाजन १८ विभागों में हुआ है - खन्ध, आयतन, धातु, सच्च, इन्द्रिय, पटिच्चसमुप्पाद, सतिपट्ठान, सम्मप्पधान, इद्धिपाद, बोज्झंग, मग्गबोज्झंग' झान, अप्पमञ्ञा, सिक्खापद, पटिसम्भिदा, ञाण, खुद्दकवत्थु और धम्महदय विभंग। प्रत्येक विभंग तीन अंगों में विभक्त है - सुत्तन्तभाजनिय, अभिधम्मभाजनिय और पञ्हपुच्छकं। इस पर **संमोहविनोदिनी, विभंगमूलटीका, विभंगानुटीका, गूढत्थदीपिनी, विभंगट्ठकथात्थयोजना और मोहच्छेदनी नामक टीकाएं** उपलब्ध हैं।

विभंग का प्रारंभ मातिका से नहीं होता है। परन्तु उसकी पुनर्रचना पिटक के प्राचीन भागों के आधार पर की जा सकती है। अन्तिम तीन विभंग स्वतन्त्र अभिधम्म ग्रन्थ माना जा सकता है। ञाणविभंग में 'मातिका' भी दी गई है। धम्महृदयविभंग की तुलना वितंडवादियों द्वारा मान्य **महाधम्महृदय** से की जा सकती है। यहां पदार्थो का वर्गीकरण १०० द्विकों और २२ त्रिकों में हुआ है।

३. धातुकथा

विभंग के १८ विभंगों में से स्कन्ध, आयतन और धातु इन तीन विभंगों का विशेष स्पष्टीकरण प्रश्नोत्तर शैली में धातुकथा में हुआ है और उनका सम्बन्ध धर्मो के साथ दिखाया गया है। उन धर्मो की संख्या उसकी 'मातिका' के अनुसार ११४ है - ५ स्कन्ध, १२ आयतन, १८ धातुएं, ४ सत्य, २२ इन्द्रियां, प्रतीत्य-समुत्पाद, ४ स्मृति-प्रस्थान, ४ सम्यक् प्रधान, ४ ऋद्धिपाद, ४ ध्यान, ४ अपरिमाण, ५ इन्द्रिय, ५ बल, ७ बोध्यंग, ८ आर्यमार्ग, स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतना, चित्त, अधिमोक्ष और मनसिकार, ये धर्म किस-किस स्कन्ध, आयतन और विभंग में सम्मिलित हैं, इसी का विवेचन १४ अध्यायों में प्रश्नोत्तर ढंग से हुआ है। उनका क्या रूप-स्वरूप है इसे स्पष्ट किया गया है।

४. पुग्गलपञ्ञत्ति

पुग्गलपञ्ञत्ति का अर्थ है धम्म-दर्शन की पृष्ठभूमि में व्यक्ति की पहचान। इस ग्रन्थ में व्यक्ति (पुद्गल) को उसके गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार दस विभागों में विभाजित किया है। इसलिए इसमें दस अध्याय हैं और उनमें एक-एक से लेकर दस-दस

प्रकार के व्यक्तियों की पहचान की गई है। व्यक्तियों के विभाजन का आधार है - चार आर्य श्रावक, पृथक्जन, सम्यक्, सम्बुद्ध, प्रत्येक बुद्ध, शैक्ष्य, अशैक्ष्य, आर्य, अनार्य, स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी, अर्हत् आदि। इस ग्रन्थ की शैली अंगुत्तरनिकाय का स्मरण कराती है। सुत्तपिटक से इसका सम्बन्ध अधिक दिखाई देता है। स्थान-स्थान पर सुन्दर उपमाओं का प्रयोग हुआ है। कथाएं प्रायः शुष्क और नीरस हैं।

५. कथावत्थु

कथावत्थु के रचयिता तृतीय संगीति के अध्यक्ष मोग्गलिपुत्त-तिस्स माने जाते हैं जिन्होंने इसमें तत्कालीन १७ सम्प्रदायों का खण्डन कर अठारहवें सम्प्रदाय थेरवाद या विभज्जवाद का मण्डन किया है। इसमें मात्र दार्शनिक सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है परन्तु वे सिद्धान्त किन-किन सम्प्रदायों के थे, यह स्पष्ट नहीं किया गया। इस कमी की पूर्ति आचार्य बुद्धघोष ने अपनी **'पंचप्पकरणट्ठकथा'** में की है। तदनुसार वज्जिपुत्तक भिक्षुओं द्वारा संस्थापित महासांघिकों के छह सम्प्रदाय हो गये - महासांघिक, एकब्बोहारिक, गोकुलिक, पञ्ञत्तिवादी, बाहुलिक और चेतियवादी। इसी तरह थेरवाद के बारह सम्प्रदाय तब तक बन चुके थे - थेरवाद, महिंसासक, वज्जिपुत्तक, सब्बत्थिवादी, धम्मगुत्तिक, धम्मुत्तरिय, धन्नागरिक, भद्दयानिक, सम्मितिय, कस्सपिक, संक्रान्तिक, और सुत्तवादी। तिस्स ने सम्प्रदायों का उल्लेख किये बिना कुल २१६ दार्शनिक सिद्धान्तों का खण्डन किया। सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के **'अष्टादश निकाय शास्त्र'** के अनुसार ये १८ सम्प्रदाय कुछ भिन्न हैं इसके अनुसार महासांघिक, ज्ञप्तिवादी, लोकोत्तरवादी, एकव्यावहारिक, गोकुलिक ये महासांघिकों के छह सम्प्रदाय थे और स्थविरवाद, हेमवत, वात्सीपुत्रीय, धर्मोत्तरीय, भद्रयानीय, संमित्तीय, षण्णागारिक, सर्वास्तवादी, महीशासक, काश्यपीय, सौत्रान्तिक, धर्मगुप्त ये १२ सम्प्रदाय स्थविरवाद के थे। कथावत्थु में उल्लिखित सिद्धान्त किस-किस सम्प्रदाय के थे यह शोध का अच्छा विषय है।

कथावत्थु का रचनाकाल वैसे तृतीय शताब्दी ई.पू. माना जा सकता हैं पर इसमें उत्तरकाल में कलेवर-वृद्धि भी होती रही है। वर्तमान में उपलब्ध ग्रन्थ २३ वग्गों में विभाजित है। बुद्धघोष की अट्ठकथा भी इन्हीं वग्गों पर उपलब्ध है। प्रत्येक वग्ग में ८ से १२ तक प्रश्नोत्तर हैं। अन्तिम तीन वग्ग कदाचित् प्रक्षिप्तांश हैं। इस ग्रन्थ में मातिका नहीं है प्रारम्भ में। पर वह बीच में अवश्य विद्यमान है जिसका सम्बन्ध 'पुग्गल' से है। सर्वास्तिवादी **पुद्गलप्रज्ञप्ति** में भी 'पुद्गल' पर एक स्वतन्त्र अध्याय है। अतः यह प्राचीन होना चाहिए। कथावत्थु में सुत्तपिटक से उद्धरण दिये गये हैं अतः लगता है, इसका सम्बन्ध सुत्तपिटक से अधिक हो सकता है। इसमें अभिधम्म दर्शन सम्बन्धी १७

साम्प्रदायिक मिथ्या धारणाओं का निरसनकर उसके मौलिक स्वरूप (थेरवाद) का प्रकाशन किया गया है। इस पर निम्न अट्ठकथाएं हैं - **पंचप्पकरणट्ठकथा, पंचप्पकरणमूलटीका, लीनत्थवण्णना, और मातिका पर मोहविच्छेदनी।**

७. यमक

यमक का तात्पर्य है युग्म, जोड़। इसमें परिभाषा को निश्चित करने के लिए प्रश्नों को जोडकर प्रस्तुत किया गया है, जैसे - क्या सभी कुशलधर्म कुशलमूल हैं ? क्या सभी कुशल मूल कुशलधर्म हैं ?क्या सभी रूप रूपस्कन्ध हैं ? क्या सभी रूपस्कन्ध रूप हैं ? यह ग्रन्थ वस्तुत: अभिधर्म का शब्दकोश है। इसमें दस अध्याय हैं -

१) मूल यमक - कुशल, अकुशल और अव्याकृत ये तीन मूल धर्म या पदार्थ, २) खन्धयमक - पंचस्कन्ध, ३) आयतन यमक - १८ आयतन, ४) धातु यमक - १८ धातुएं , ५. सच्च यमक - ४ सत्य, ७) संखार यमक - संस्कार, कायिक, वाचिक व मानसिक, ७) अनुसय यमक - ७ अनुशय, ८. चित्तयमक ९. धम्मयमक. १०. इन्द्रिय यमक - २ इन्द्रियां। इनमें प्राय: प्रत्येक अध्याय तीन भागों में विभक्त हैं - १. पञ्ञत्तिवार (शब्दप्रज्ञापन विभाग) - इसके दो उपविभाग हैं - अ) उद्देसवाद (प्रश्न कथन) और ब) निद्देसवाद (व्याख्या खण्ड) २. पवत्तिवार (प्रक्रिया विभाग) - इसके तीन उपविभाग हैं - अ) उत्पाद बार, ब) निरोध-वार, स) उत्पाद निरोधवार ३. परिञ्ञावार (अन्तर्ज्ञान विभाग) इसमें प्रश्नोत्तर रूप में धम्मों का अन्तर्ज्ञान स्पष्ट किया गया है। इस ग्रन्थ पर निम्न अट्ठकथाएं हैं - **पंचप्पकरणट्ठकथा, पंचप्पकरण, मूलटीका, लीनत्थवण्णना और मातिका पर मोहविच्छेदनी।**

७. पट्ठान

पिछले छह ग्रन्थों में अभिधम्म दर्शन का क्रमिक विकास हम देख चुके हैं। इस अन्तिम ग्रन्थ में उसका अन्तिम और महत्त्वपूर्ण विकास दृष्टव्य है। यहां पट्ठान का अर्थ है- पच्चय+ठान (प्रत्यय स्थान) । प्रत्यय का सम्बन्ध प्रतीत्य समुत्पाद से है। इसका तात्पर्य यह है कि पट्ठान में प्रतीत्यसमुत्पाद पर केन्द्रीय रूप से विचार हुआ है। महानिदान सुत्त (दी.नि. २.२), महाहत्थिपदोपमसुत्त (म.नि. १.३.८) आदि सुत्तों में तथागत बुद्ध ने प्रतीत्य समुत्पादवाद को स्पष्ट किया है। उसी का विस्तृत विवेचन यहां हुआ है। बौद्धधर्म के अनुसार सभी पदार्थ अनित्य, दु:ख और अनात्म हैं। कार्य-कारण मूलक होने के कारण वे सापेक्ष हैं, संस्कृत हैं, परन्तु निर्वाण असंस्कृत, निरपेक्ष और परमार्थ है। बुद्ध ने अविद्या और तृष्णा को भवचक्र का मूल कारण मांना है। उनके निरोध से ही निर्वाण की प्राप्ति होती है। पट्ठान में इसी प्रतीत्य समुत्पाद की विवेचना की गई है। यहां २४ प्रकार के

प्रत्ययों का वर्णन है - हेतु, आलम्बन, अधिपति, अनन्तर, समनन्तर, सहजात, अन्योन्य, नि:श्रय, उपनिश्रय, पूर्वजात, पश्चाज्ञात, आसेवन, कर्म, विपाक, आहार, इन्द्रिय, ध्यान, मार्ग, सम्प्रयुक्त, विप्रयुक्त, अस्ति, नास्ति, विगत और अविगत प्रत्यय।

आकार और महत्त्व की दृष्टि से पट्ठान को '**महापकरण**' की भी संज्ञा दी गई है। यह ग्रन्थ चार भागों में विभक्त है - १) अनुलोम पट्ठान, २) पच्चनिय पट्ठान, ३) अनुलोम पच्चनिय पट्ठान और, ४)पच्चनिय-अनुलोम पट्ठान। ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'पच्चयनिद्देस' का प्रयोग भूमिका के रूप में हुआ है जिसमें २४ प्रत्ययों का संक्षिप्त विवरण है। प्रत्येक अध्याय छह उपविभागों में विभाजित हैं - १. तिक-पट्ठान, २. दुक पट्ठान, ३. दुक-तिक पट्ठान, ४. तिक-दुक पट्ठान, ५. तिक-तिक पट्ठान और ६ दुक-दुक पट्ठान। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ चौबीस भागों में विभक्त है। इसमें प्रतीत्यसमुत्पाद को व्याख्यायित किया गया है।

पिटक बाह्य-अनुपिटक साहित्य

पालि त्रिपिटक के आधार पर उत्तर भारत में कुछ ऐसे ग्रन्थ लिखे गये जिन्हें त्रिपिटक के समान ही श्रद्धा-भक्ति पूर्वक समादर दिया गया। इनका समय प्रथम शताब्दी ई.पू. से चतुर्थ शताब्दी ई. तक है। इनकी भी रचना श्रीलंका में हुई है। ये ग्रन्थ हैं - **नेत्तिप्पकरण, पेटकोपदेस और मिलिन्दपञ्ह**। लगता है, अभिधम्मपिटक की अपेक्षा खुद्दकनिकाय में इन्हें समाहित करने की प्रकृति अधिक रही है। कदाचित् यही कारण रहा है कि वर्मी परम्परा में इन तीनों ग्रन्थों को खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत संयोजित कर दिया गया है। इतना ही नहीं, इसी श्रृंखला में सुत्तसंगहो का नाम भी जोड़ दिया गया है। इनका विवरण इस प्रकार है -

सुत्तसंगहो

इसमें पालित्रिपटक तथा अट्ठकथाओं से सामग्री किसी श्रीलंकावासी भिक्षु द्वारा एकत्रित की गई है। उदाहरणार्थ विमानवत्थु अट्ठकथा से **रेवतीविमान वण्णना** का संकलन हुआ। वर्मा की छठी संगीति के संस्करण में सुत्तसंगहो संमिलित नहीं किया जा सका। विषयानुसार इसका वर्गीकरण हुआ है। उदाहरणार्थ -दानकथा का वर्गीकरण है पर उसके लेखक, समय आदि का कोई उल्लेख नहीं है। इसका उल्लेख **उपासक जनालंकार** (१२ वीं शती) में हुआ है और विमानवत्थु अट्ठकथा में भी।

नेत्तिप्पकरण

नेत्ति का अर्थ है पथदर्शिका। त्रिपिटक को समझने के लिए पथदर्शक के रूप में इस ग्रन्थ का प्रणयन किया गया। प्रारम्भिक गाथाओं में नेत्तिप्पकरण के लेखक का नाम

महाकच्चान अंकित है। ग्रन्थ के अन्त में कहा गया है कि इस ग्रन्थ को सुनने के बाद बुद्ध ने इसकी अनुशंसा की। प्रथम संगीति में इसे स्वीकार भी किया गया। पर यह सही नहीं है। यह अभिधम्मपिटक को समझने के लिए अधिक उपयोगी है। अत: अभिधम्मपिटक के बाद की तिथि इस ग्रन्थ की रचनातिथि मानी जा सकती है। इस ग्रन्थ के सम्पादक हार्डी ने आन्तरिक और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर इसे ई.सन् के आसपास की रचना माना है। यह कहा गया है कि प्रारम्भिक कारिकाएं आर्याछन्द में लिखी गई हैं। जिनका प्रयोग बुद्धघोष के पूर्व श्रीलंका में नहीं हुआ । इसका तात्पर्य यह है कि ये कारिकाएं पहले लिखी गईं और फिर नेत्तिपकरण की रचना बाद में होती रही। पर यह सही नहीं है। इन्हीं कारिकाओं पर ग्रन्थ की व्याख्या हुई है यह ठीक है पर कारिकाओं का प्रयोग श्लोक और आर्या छन्द में पातंजल महाभाष्य (१५० ई.पू.) में हुआ है।

इन कारिकाओं का और उसके लेखक **महाकच्चान** का सम्बन्ध हम उत्तर भारत विशेष रूप से अवन्ती से जोड सकते हैं जहां से पालि त्रिपिटक श्रीलंका पहुंचा। इस प्रसंग में यह दृष्टव्य है कि नेत्तिप्पकरण में उपलब्ध उद्धरण मूल सर्वास्तिवादी परम्परा के ग्रन्थों से भी हैं। यदि यह सही मान लिया जाये तो यह कहना पडेगा कि नेत्ति मात्र थेरवादी परम्परा का ग्रन्थ नहीं है। उसका सम्बन्ध अन्य सम्प्रदायों से भी रहा है। यहां यह भी स्मरणीय है कि नेत्ति और परिवार दोनों ग्रन्थ वारों में विभक्त हैं और उनमें नेत्ति नय-समुट्ठान का उपयोग करता है जो विनय का पारिभाषिक शब्द है। जिस प्रकार परिवार विनय का सारांश प्रस्तुत करता है, उसी तरह नेत्ति सुत्तन्त से सम्बद्ध ग्रन्थ स्वीकारा जा सकता है। नेत्ति का अनुवाद ञाणमोलि ने किया है। संगह भाग में मात्र पांच गाथाएं हैं जिनमें महाकच्चान का उल्लेख है। संभव है यही इस ग्रन्थ के लेखक रहे हों।

विभाग के तीन उपविभाग हैं - १) उद्देसवार - इसमें विषय वस्तु का संक्षिप्त विवेचन है, जैसे १६ हार, ५ नय, १९ मूलपद। २) निद्देसवार - उद्देसवार में निर्दिष्ट शब्दों की परिभाषाएं, ३) पटिनिद्देसवार- उद्देसवार में निर्दिष्ट शब्दों की विस्तृत व्याख्याएं जो चार भागों में विभक्त हैं - १) हार विभंग, २) हार संपात, ३) नय समुट्ठान, और ४) सासन पट्ठान। कुल मिलाकर नेत्तिप्पकरण में १६ हारों का विवेचन हुआ है - देसना, विजय, युत्ति, पदट्ठान, लक्खण, चतुव्यूह, आवत्त, विभत्ति, परिवत्तन, वेवचन, पंञत्ति, ओतरण, सोधन, अधिट्ठान, परिक्खा और समारोपनहार। इसके बाद ५ नय और १८ मूल पदों का विवेचन है। फिर बुद्धवचनों को १६ भागों में विभाजित किया है। यह सारा विभाजन अभिधम्म शैली में हुआ है। इसकी रचना ई.सन् के आसपास हुई है। इसके रचयिता का नाम जम्बूवन् वासिन् महाकच्चान है जिनका उल्लेख उद्देसवार में हुआ है। धम्मरक्खित थेर के अनुरोध पर इसे लिखा गया था। इसकी गाथाएं आर्या छन्द में हैं

और ग्रन्थ के प्रारम्भ में कारिकाएं हैं। कुछ कारिकाएं मूल सर्वास्तिवादी साहित्य में उद्धृत हुई हैं। नेत्तिप्पकरण का सम्बन्ध अभिधम्मपिटक से अधिक है। त्रिपिटक में अभिधर्म को समझने के लिए तथा पाठनिर्णय को शास्त्रीय विवेचन से जोडने के लिए इस ग्रन्थ की रचना हुई है।

नेत्तिप्पकरण समूचे बौद्धधर्म को समझने के लिए एक टीका जैसा ग्रन्थ है और टीकाकारों के लिए एक पथदर्शक है। वर्मी परम्परा में उसे पिटक का भाग माना गया है परन्तु सिंहली परम्परा उसे पिटक से बाहर रखती है। पेटकोपदेस को बौद्धधर्म की भूमिका के रूप में देखा जा सकता है। नेत्तिपकरण का लेखक परम्परागत रूप से महाकच्चान है जो तथागत बुद्ध के वचनों की व्याख्या करने में दक्ष था। उसे महाकच्चायन व्याकरण का रचयिता भी माना गया है। अतः नेत्तिप्पकरण को महाकच्चान द्वारा प्रवेदित टीका ग्रन्थ कहा जा सकता है। थेरवादी परम्परा की दृष्टि से नेत्तिप्पकरण बौद्ध धर्म का व्याख्यात्मक ग्रन्थ है।

नेत्ति शब्द की निष्पत्ति 'नय' से होनी चाहिए। जिसका अर्थ है व्याख्या की ओर ले जानेवाला। नेत्तिप्पकरण इस दृष्टि से धम्म के स्वरूप की व्याख्या करता है। यह स्वरूप है - **अस्सादं आदी नवं निस्सरणं, फलं उपायं आणत्तं। धम्मं वो भिक्खवे देसिस्सामि आदिकल्याणं, मज्झेकल्याणं, परियोसानकल्याणं सात्थं स सव्यञ्जनं केवलपरिपुण्णं परिसुद्धं त्ति।**

इस उद्धरण में बुद्ध के धम्म की विशेषताएं दी हुई हैं। इसका उल्लेख पालि साहित्य में अनेक स्थानों पर हुआ है (म. नि. १,३४४; दि.नि. १.६२)। तदनुसार बुद्ध ने धम्म की व्याख्या व्यक्ति की आवश्यकता के आधार पर की है। इसका सम्बन्ध है व्यक्ति के प्रकारों से। नेत्तिप्पकरण में व्यक्ति के कहीं तीन प्रकार बताये हैं तो कहीं चार प्रकार। तीन प्रकार हैं - १) वह पुद्गल जो पलायन सिखाता है, २) निराशा की ओर ले जाता है। ३) सन्तोष, निराशा और पलायन का समन्वय। चार रूप में शिक्षण-चतुरार्यसत्य। इसे नेत्तिप्पकरण में सातयं सव्यंजनं कहा है। चूंकि बुद्ध सर्वज्ञ हैं, प्रज्ञाशील हैं इसलिए धर्म की व्याख्या भी पूरिपूर्ण है। चार आर्यसत्यों की शिक्षा को उन्होंने '**अपरिमाण**' कहा है। अट्ठसालिनी में इस अपरिमाण को अनन्त विस्तृत बनाया है। उसे किसी वर्ग विशेष से सीमित नहीं किया (धम्मसं. अट्ठ. १५)। नेत्ति ने इस अपरिमाण को चतुरार्य सत्य से बांधा है। प्रश्न है धम्म की व्याख्या का- '**दुन्निक्खित्तं तं च पदव्यंजनं अत्थो च दुन्नीतो**'। यहां '**अत्थ**' का अर्थ 'अर्थ' नहीं बल्कि उद्देश्य है जो निर्वाण प्राप्ति माना

गया। व्यंजन के सन्दर्भ में नेत्ति में १६ प्रकार की व्याख्या की है - नया हारा। नय दो प्रकार के हैं - दिशा लोचन और अंकुश। ये कुशल और अकुशल हो सकते हैं। **'एको अत्थे व्यंजनं एव नानं'** से अर्थ यह है कि बात एक है कथन मात्र में अन्तर है जो नानाविध हो जाते हैं। इसमें एक **'युत्तिहारा'** शब्द है जिसका अर्थ है सम्यक् और असम्यक् की ओर चिन्तन। महापदेस (दी.नि.२.१२३) में इसकी व्याख्या की गई है इन शब्दों में **तानि पदव्यंजनानि सुत्ते ओतारयितब्बानि विनये सन्दस्सयितब्बानि धम्मतायं उपनिक्खिपयितब्बानि।** इसमें प्रतीत्यसमुत्पाद के अन्तर्गत सभी प्रकार के धर्मो की व्याख्या हो जाती है। हारा का अर्थ है - व्याख्या प्रकार। इसके ही अनेक भेदों की बात कही गई है जैसे - पदट्ठान हारा, आवत्तहारा, लक्खणहारा, परिवत्ततहारा, पञ्ञत्तिहारा, अधिट्ठानहारा, चतुब्यूहहारा। इन सभी के आधार पर धम्म की तार्किक व्याख्या की जाती है जिससे धम्म का उद्देश्य 'निर्वाण की प्राप्ति' स्पष्ट हो जाता है। ये अर्थनय है।

नेत्तिप्पकरण यह स्पष्ट करता है कि दो प्रकार के व्यक्तित्व हैं - दिट्ठिचरित और तण्हाचरित। ये अविज्ञा और तण्हा पर आधारित हैं। यहां लोभ, दोष, मोह का सम्बन्ध है जो विप्पलास हैं। नेत्तिप्पकरण इसकी सम्यक् व्याख्या करता है। इससे थेरवाद परम्परा में धम्म की व्याख्या अधिक स्पष्ट हो जाती है।

पेटकोपदेस

पेटकोपदेस का तात्पर्य है त्रिपिटक के विद्यार्थियों के लिए उपदेश किंवा सूचना। इसका विषय नेत्तिप्पकरण जैसा ही है। पर उसका विभाजन कुछ भिन्नता लिये हुए है। यहां विषय का विभाजन आठ भूमियों में किया गया है। इसका प्रारंभ कारिकाओं से न होकर **'नमो सम्मासंबुद्धानं'** से हुआ है। दोनों में आर्या छन्द का उपयोग हुआ है। नेत्ति में उसका अधिक व्यवस्थित रूप दिखाई देता है। दोनों में अन्य ग्रन्थों से उद्धरण भी दिये गये हैं। पर नेत्ति में जहां उनका ग्रन्थगत उल्लेख प्रायः नहीं है वहां पेटकोपदेस में **"संयुत्तके एकुत्तरिके"** आदि रूप से उनका उल्लेख हुआ है। वर्मा में यह ग्रन्थ त्रिपिटक जैसा लोकप्रिय है।

पेटकोपदेस के लेखक भी महाकच्चान हैं। उन्होंने यहां चार आर्यसत्यों की दृष्टि से विषय का विभाजन किया है।

मिलिन्दपञ्ह

मिलिन्दपञ्ह इण्डो-ग्रीक राजा मेनान्ड्रोज (द्वितीय शती ई.पू.) तथा बौद्ध भिक्षु नागसेन के बीच धम्म की समस्यायों के सन्दर्भ में हुए संवाद का लिखित रूप है। इसका समादर त्रिपिटक के समकक्ष है। साहित्य और दर्शन की दृष्टि से यह ग्रन्थ थेरवादी परम्परा का सर्वमान्य ग्रन्थ है। मेनान्ड्रोज का ही भारतीयकरण मेनान्डर या मिलिन्द है **(योनकानं राजा मिलिन्दो)**। उसकी राजधानी स्यालकोट थी। ग्रीक-शासन काल अधिक समय तक नहीं रहा। इसलिए इसका सांस्कृतिक प्रभाव भी भारतीय साहित्य और संस्कृति पर अधिक दिखाई नहीं देता। फिर भी मेनान्डर ऐतिहासिक व्यक्तित्व रहा है और नागसेन भी। अतः मिलिन्दप्रश्न का लेखन काल प्रथम शताब्दी के आसपास माना जा सकता है **(परिनिब्बानतो पंचवस्ससते अतिक्कन्ते)**।

प्रश्नात्मक शैली में लिखे इस ग्रन्थ पर उपनिषद् का प्रभाव झलकता है। मेनान्डर के सिक्के भी मिले हैं जिनपर धम्मचक्क का निशान बना हुआ है और **''वेसिलियस सोटिरस मेनन्ड्रोस**' उत्कीर्ण है। मिलिन्दपञ्हो से भी पता चलता है कि मिलिन्द बौद्धधर्म में दीक्षित हो गया था। शिनकोट अभिलेख भी इस तथ्य को प्रमाणित करता है। इसके मूल लेखक भदन्त नागसेन ही होना चाहिए, माणव आदि अन्य कोई नहीं जैसी श्रीमती रिजडेविड्स ने कल्पना की थी। गायगर के अनुसार मिलिन्दपञ्ह मूलतः संस्कृत में लिखा गया था। यह उसी का पालि अनुदित रूप है। यह मान्यता भी बिलकुल भ्रम मात्र है, अस्वीकार्य है। संस्कृत जैसा कोई मूल रूप इसमें दिखाई नहीं देता।

मिलिन्दपञ्हो का मूल आकार कितना रहा होगा यह भी विवादास्पद है। इसका चीनी अनुवाद लगभग तृतीय शती में नागसेन भिक्षु सूत्र के रूप में हुआ। उससे तुलना करने पर फुसमेन ने यह अनुमान लगाया कि यह ग्रन्थ मूल रूप में लघु आकार का था और प्राकृत में लिखा गया था उत्तर-पश्चिम भारत में। इसमें आठ महाभिलोकन का उल्लेख है (१९३,२७) जबकि निदान कथा पांच का ही उल्लेख करती है (जा.भाग १, ४८, २४)। बुद्धघोष ने भी मिलिन्दपञ्हो को उद्घृत किया है प्राचीन अट्ठकथा के साथ (मिलिन्द ३८, २२-२७)। इसका तात्पर्य है, अट्ठकथा के प्रणयन काल में मिलिन्दपञ्हो ज्ञात था।

साधारणतः विद्वद्वर्ग में यह मान्यता रही है कि मिलिन्दपञ्हो मूलरूप में लघुआकार में रहा। उत्तरकाल में यथासमय उसमें विषय जोडे जाते गये और परिच्छेदों की संख्या बढती गई। वर्तमान में इसमें सात अध्याय उपलब्ध हैं। १) बहिरकथा, २)

लक्खणपञ्हो, ३) विमतिच्छेदनपञ्हो, ४) मण्डकपञ्हो, ५) अनुमानपञ्हो, ६) धुतंगकथा और ७) ओपम्मकथापञ्ह। इसका चीनी अनुवाद **नागसेन भिक्खु सूत्र** के नाम से ४२० ई. में हुआ था। यह अनुवाद मात्र प्रथम तीन अध्यायों का है, ४ से ७ वें अध्याय का अनुवाद नहीं मिलता। ये तीन अध्याय १२४ परिच्छेदों के रूप में हैं। इससे स्वाभाविक रूप से यह अनुमान लगा लिया गया है कि मिलिन्दपञ्हो में मूलतः तीन परिच्छेद ही थे। इसकी परिपुष्टि में गायगर और विन्टरनित्स ने यह भी कहा कि तृतीय अध्याय के अन्त में ग्रन्थ की समाप्तिसूचक यह वाक्य मिलता है - **"मिलिन्दस्स पञ्हानं पुच्छा विस्सज्जना निट्ठिता।"** और चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में मिलिन्द का पुनः अवतरण बताया गया - **भस्सप्पवेदी वेतण्डी अतिबुद्धिविचक्खणो। मिलिन्दो ञाणभेदाय नागसेनमुपागमि।** इसके साथ ही यह भी स्थापित किया गया कि मिलिन्दपञ्हो के प्रारम्भ से ही अनेक संस्करण और पाठ थे। जर्मन विद्वान श्रेडर ने तो इसके सात पाठभेदों का उल्लेख किया है। मिलन्दिपञ्हो का प्रारम्भ ही परम्परा से हटकर हुआ है - **तं यथानुसूयते (१.१३)**। मिलिन्दपञ्हो (२,१६-२०) में उल्लिखित विषयसूची भी वर्तमान संस्करण से मेल नहीं खाती। चीनी साहित्य में भी ४-७ तक अध्याय नहीं मिलते। अतः ये अध्याय प्रक्षिप्त होना चाहिए।

मूल मिलिन्दपञ्हो में **पुब्बयोग** (२.२३-२४, २६) में सात वग्ग (२५, १-८७) और संक्षिप्त उपसंहार है जहां कहा गया है मिलिन्द के प्रश्नों के उत्तर समाप्त हुए (८९, १७)। ये प्रश्न स्यालकोट में **'राजा आह'** से प्रारम्भ होते हैं और **'कल्लो सि भन्ते नागसेन'** से अन्त होते हैं। इसी सन्दर्भ में प्रथम परिच्छेद में पालि त्रिपिटक के ग्रन्थों की संख्या का उल्लेख सर्वप्रथम हुआ है। साक्षात्कार के पहले दिन मिलिन्द के प्रश्न उठाये गये हैं और दूसरे दिन उनके उत्तर दिये गये हैं। तीसरे दिन की भेंट परस्पर समादर व्यक्त करने में समाप्त हो जाती है। द्वितीय परिच्छेद तक नागसेन और मिलिन्द का परिचय तथा अनात्मवाद आदि की व्याख्या रथ और रथ के अंग समूह के माध्यम से मिलती है **(परमत्थतो पनेथ पुग्गलो नूपलब्भति, यो उप्पज्जति सो एव सो उदाहु अञ्ञोति ? नच सो नच अञ्ञो)**। तृतीय परिच्छेद में मिलिन्द के अन्य प्रश्नों का समाधान किया गया है- **सब्बं मिलिन्देन रञ्ञा पुच्छितं, सब्बं मया विस्सज्जितं**।

चतुर्थ परिच्छेद सर्वाधिक बडा है। इसमें त्रिपिटक में परस्पर विरोधी दिखाई देने वाले प्रसंगों और बुद्ध वचनों में विरोध प्रतीत होने वाले उद्धारणों का स्पष्टीकरण किया गया है। इस में धम्म के आधार पर बुद्ध के अस्तित्व को प्रमाणित किया गया है।

पंचम परिच्छेद में मिलिन्द बुद्ध के ऐतिहासिक व्यक्तित्व पर प्रश्नचिन्ह खडा करता है जिसका उत्तर नागसेन धर्मवादी होकर बुद्ध का अस्तित्व उनके धर्म के अस्तित्व से अनुमानित करते हैं। षष्ठ परिच्छेद में गृहस्थावस्था में रहकर भी निर्वाणपद प्राप्त किया जा सकता है क्या ? इस प्रश्न कर उत्तर देते हुए १३ अवधूत नियमों (धुतंगों) का विवेचन किया गया है। सातवें परिच्छेद में उपमाओं के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि अर्हत्त्व को साक्षात्कार करने की इच्छा करने वाले मुमुक्षु को किस प्रकार विविध गुणों का सम्पादन करना चाहिए।

लगता है, मिलिन्द के सात अध्याय मिलिन्द और नागसेन के बीच हुए सात दिन के प्रश्नोत्तरों का प्रामाणिक संग्रह है भले ही कुछ अंश प्रक्षिप्त रहे हों। इसमें राजवाद न होकर पण्डितवाद का आश्रय लिया गया है। दोनों में परस्पर आदर के भाव दिखाई देते हैं और मिलिन्द की जिज्ञासा भी। अन्त में उत्तरों से सन्तुष्ट होकर मिलिन्द बौद्धधर्म का उपासक बन जाता है। गद्य-पद्य मिश्रित शैली में लिखा गया यह ग्रन्थ सुन्दर संवादात्मकता, शब्दार्थ का संयोजन, उपमाओं द्वारा विषय का स्पष्टीकरण, प्रभावक प्रश्नोत्तर , ओज और प्रसाद गुण युक्त काव्य शैली आदि की दृष्टि से भारतीय साहित्य का एक मनोरम मुक्तामणि है। इसमें भारतीय इतिहास, दर्शन, संस्कृत, राजनीति, भूगोल आदि का सुन्दर समन्वय है। चतुर्थ परिच्छेद से इसमें क्रमश: विकासात्मक रेखा देखी जा सकती है। मिलिन्दप्रश्न पर **मधुरत्थप्पकासिनी नामक टीका** महातिपिटक चूलाभयत्थेर ने १४७४ ई. में च्यांगआई में समाप्त की। आधुनिक काल में भी एक टीका लिखी गई।

मिलिन्दपञ्ह की दृष्टि में बोधिसत्त्व बुद्ध के समान ही परिपूर्ण है। त्रिपिटक में कहीं यह अवधारणा नहीं मिलती। चतुर्थ अध्याय से सप्तम अध्याय तक आगमों के उद्धरण अधिक मिलते हैं और फिर वहां ऐसी परम्पराओं का उल्लेख हुआ है जो आगमों से भिन्न हैं और उत्तरकालीन हैं। ऐसी कथाएं भी उद्धृत हैं जो जातक, विमानवत्थु, धम्मपद आदि की टीकाओं में मिलती हैं। अत: यह भाग निश्चित रूप से उत्तरकालीन होना चाहिए।

इसमें मिलिन्द की राजधानी स्यालकोट का काव्यात्मक वर्णन है। पण्डितवाद के आधार पर फिर नागसेन ने अनात्मवाद की प्रस्थापना की। आगे के अध्यायों में बौद्धधर्म के अन्य सिद्धान्तों को उपमादि द्वारा स्पष्ट किया गया। सातवें अध्याय में उपमा और दृष्टान्त ही प्रस्तुत किये गये हैं। भारतीय साहित्य और संस्कृति की दृष्टि से भी मिलिन्द प्रश्न की महती उपयोगिता है।

नागसेन हिमालय की उपत्यका में बसे कजंगल गांव के ब्राह्मण परिवार में जन्मे थे। त्रिवेद, इतिहास, व्याकरण, दर्शन आदि के पण्डित थे। बाद में बौद्धधर्म में दीक्षित हुए और अश्वगुप्त और धर्मरक्षित से विशेष अध्ययन किया। भिक्षु आयुपाल के निमन्त्रण पर वे मिलिन्द की राजधानी स्यालकोट पहुंचे जहां उनकी भेंट राजा मेनान्दर से हुई। कहा जाता है, नागसेन ने ही मिलिन्दप्रश्न की रचना की। जो भी हो, ग्रन्थ बौद्धदर्शन की दृष्टि से अनुपम है। उसकी कथन शैली, तार्किक है, उपमादि अलंकारों से अलंकृत है। गन्धार, कोसल, भरुकच्छ, मथुरा आदि नगरों का उल्लेख होने से यह कहा जा सकता है कि नागसेन उत्तर-पश्चिम भाग के निवासी थे।

इस प्रकार पालि त्रिपिटक के अन्तःपरिचय से यह स्पष्ट हो जाता है कि समूचा त्रिपिटक व्यक्ति की गतिविधियों पर नैतिक सामाजिक प्रतिबन्ध प्रस्तुत करता है। वह जीवन की यथार्थता से परिचित कराता है, उसे गहराई से समझने का मार्ग प्रशस्त करता है और सामुदायिक चेतना की अभिवृद्धि करता है। तथागत बुद्ध मनोवैज्ञानिक ढंग से श्रोता के समक्ष अपनी बात रखा करते थे। प्रथमतः सदाचार की प्रशंसा और दुराचार की निन्दा करते, फिर चार आर्यसत्यों की गंभीर उपदेशना देते और उस उपदेश को जीवन के आसपास घटने वाली उपमाओं के माध्यम समझा देते। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक रूप से उसमें पुनरुक्तियां होतीं, उपमाओं की बहुलता होती, संवादों का प्रयोग होता, इतिहास और आख्यानों का समावेश होता, और संख्यात्मक परिगणन की प्रणाली का उपयोग किया जाता जिससे नाटकीय द्रुतगति और क्रियाशीलता का संचार होता। परिप्रश्नात्मक शैली का भी पूर्ण परिपाक इन सुत्तों में दिखाई देता है। **'एवं मे सुतं'** की शैली से इन सुत्तों में एक परम्परा की सूचना भी उपलब्ध होती है।

बुद्ध के उपदेश शील, समाधि और प्रज्ञा में विभाजित किये जाते हैं। यह विभाजन दीघ, महा, संयुक्त, संक्षिप्त आदि रूप से किसी सीमा तक किया गया है और उनमें जीवन और जगत सम्बन्धी मिथ्या धारणाओं की आहट दिखाई देती है। कुशल-अकुशल कर्मो की व्याख्या करते हुए चित्त और चैतसिक भावों की मानसिक प्रवृत्ति का प्रभाव चेतना पर कैसा पडता है, इसकी सयुक्तिक मीमांसा भगवान ने बडे प्रभावक ढंग से की है। विनय नियमों का मापदण्ड सामाजिक परिस्थिति में उपासक उपासिकाओं के बीच कैसा होना चाहिए इसका व्यावहारिक प्रयोग त्रिपिटक में दिखाई देता है। तथागत ने चेतना पर सर्वाधिक जोर दिया है और स्वानुभूति के आधार पर मानवीय व्यवहार में संयम बरतने का उपदेश दिया है। इस दृष्टि से पालि त्रिपिटक का महत्त्व आंका जाना चाहिए।

पिटक संस्करण

म्यामार में मण्डलय नरेश मिनडोन मिन (१८०८-१८७८ ई.) के राज्यकाल (१८५३-१८७८) में **पालि त्रिपिटक** को ७२९ मारवल पाषाण खण्डों पर उत्कीर्ण किया गया। हर पाषाण खण्ड ५ फीट ऊंचा और ३.५ चौडा है। प्रत्येक पाषाण पर एक ओर ८० से १०० पंक्तियां उट्टंकित हुई हैं, इस तरह दोनों ओर उसे लिखा गया है। मूलतः उसे स्वर्णाक्षरों में अंकित किया था। इस कार्य को पूरा होने में बारह वर्ष का समय लगा था। परन्तु उसे १८८५ में ब्रिटिश फौज ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। अनेक प्रयत्न करने के बावजूद वह पुनः अपनी यथार्थ स्थिति में नहीं आ सका। ये पाषाण खण्ड क्यौक्ष गु नामक स्तूप में सुरक्षित हैं जो कुथोडव पेगोडा के अन्तर्गत अवस्थित है। इसी के आधार पर पी.टी.एस संस्करण, नालन्दा संस्करण, वर्मी संस्करण और सिंहली संस्करण तैयार किये गये हैं।

इसके बाद **महीशासक सम्प्रदाय** का प्राकृत पिटक, और सर्वास्तिवाद का बौद्ध संस्कृत पिटक संस्करण तैयार किया गया। इनमें महीशासक सम्प्रदाय का प्राकृत पिटक चीनी अनुवाद में आंशिक रूप से उपलब्ध है। परन्तु सर्वास्तिवादी पिटक पूर्णतः प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त तिब्बत, चीन, मंगोलिया, कोरिया, जापान, श्रीलंका, वर्मा, थाईलेण्ड, कम्बोडिया, लाओस आदि देशों के लोकतत्त्व भी उसमें संमिलित हो गये। तथागत बुद्ध की भाषागत उदारनीति का परिणाम इसे कहा जा सकता है। अशोक शिलालेख, कनिष्क का प्रयत्न, गान्धारकला, मिश्रित संस्कृत आदि जैसे तत्त्व भी इसी गाथा की कहानी हैं। इनमें अशोक के शिलालेख विशेष उल्लेखनीय हैं जिनमें प्राकृत (पालि भी अन्तर्भूत) भाषा का उपयोग किया गया है। उस समय तक उसे असंस्कृत भाषा के रूप में कहा जाता था। शुंग-कण्व जैसे राजवंशों ने वैदिक सम्प्रदाय को विशेष आश्रय दिया था। कदाचित् इसीलिए पाणिनि द्वारा प्रतिष्ठित भाषा को संस्कृत का अभिधान मिला हो और जैन-बौद्धधर्म और साहित्य की भाषा प्राकृत को हांशिये पर डाल दिया हो।

चीनी त्रिपिटक का प्रारम्भ दो भारतीय भिक्षुओं कश्यप मातंग और धर्मरक्ष ने ७६ ई. में किया। उन्होंने सूत्रपिटक में ४२ अध्यायों का संग्रह किया। बाद में कुमारजीव और ह्यूनसांग ने चीनी त्रिपिटक का विकास किया। लगभग दसवीं शताब्दी में सियान में त्रिपिटक के पांच हजार सुत्तों (अध्यायों) का संकलन किया गया। १०८० ई. में उसमें

१००० अध्याय और जुड गये। कोरियन त्रिपिटक १०११ ई. में प्रारम्भ हुआ जो चीनी त्रिपिटक पर आधारित था। उसे १२३६-१२५१ ई. के बीच ८१,३४० ब्लाक्स में ५२,३८२,९६० अक्षर तराशे गये गोरयेवंश के कार्यकाल में। वर्तमान में यह त्रिपिटक दक्षिण कोरिया के हेयांसा मन्दर में सुरक्षित है। आज उसे राष्ट्रिय विरासत मान लिया गया है।

जापानी त्रिपिटक मेजीकाल (१८६८-१९१२ई.) में ८५३४ अध्यायों में पूरा किया गया। परन्तु उसका पूर्ण महायानी पिटक टोकियो के टकाकुसु जुन्जीरू और वातनावे कैक्योकु ने आठ वर्ष के सतत प्रायास से पूरा किया। इस संस्करण में ८५ भागों में ११९७० अध्याय और ःः९२० सूत्र हैं। यह संस्करण सर्वप्रथम १९२९ ई. में तैशू राज्यकाल में मुद्रित हुआ। इसलिए आज उसे तैशू त्रिपिटक के नाम से जाना जाता है। चिन्हित त्रिपिटक के नाम से आज वह प्रसिद्ध है।

तिब्बती त्रिपिटक में ५५०० संस्कृत ग्रन्थों का संग्रह है जो मूल रूप में आज उपलब्ध नहीं है। ७ वीं से १६ वीं शताब्दी के बीच उनका तिब्बती अनुवाद हुआ। इनमें पंच विद्याओं का वर्णन है। तिब्बती त्रिपिटक पर आधारित तिब्बती अनुवाद है। प्रथम अनुवादक थे संभोट। उसके बाद जिनमित्र, सुरेन्द्रबोधि, रत्नरक्षित और लगभग ३०० अन्य विद्वान थे जिन्होंने उसे समृद्ध किया। १३ वीं शती में त्रिपिटक का स्नार-थान प्राचीन संस्करण मुद्रित हुआ पर आज दुर्भाग्य से उसमें एक भी प्रति उपलब्ध नहीं है। उसके बाद यथासमय ली-थान, स्नास्थान, को-ने, पूनक, युंग-लो, वान-ली, पीकिंग, ल्हासा आदि अनेक संस्करण निकल चुके हैं।

इस तरह थेरवादी पालि तिपिटक अविकल रूप से पूरा उपलब्ध है। सर्वास्तिवादी त्रिपिटक मिश्रित संस्कृत संस्कृत, चीनी और तिब्बती में मिलता है। वह चार आगमों में विभक्त है, उसमें खुद्दक निकाय या आगम नहीं है। धर्मगुप्तक सम्प्रदाय में क्षुद्रकागम अवश्य है। सर्वास्तिवादी अभिधर्म पिटक संख्या में तो सात हैं पर ग्रन्थ-नामों में अन्तर है, यथा-संगीतिपर्यायपाद, धर्मस्कन्ध, धातुकायपाठ, प्रज्ञप्तिपाद, विज्ञानपाद, प्रकरणपाद और ज्ञानप्रस्थान। इनमें विषय, वर्गीकरण आदि में भी अन्तर है। मूल सर्वास्तिवादी त्रिपिटक नेपाली और तिब्बती अनुवाद में विद्यमान हैं। उनका विनय सर्वास्तिवादी विनय से भिन्न है। गिलगिट आगम भी कदाचित् उन्हीं का है। महासांघिक और काश्यपीय त्रिपिटक संस्कृत में है और महीशासक त्रिपिटक मूलतः प्राकृत में है। उसका चीनी अनुवाद उपलब्ध है।

थेरवादी पिटक

थेरवाद बौद्धधर्म का मूलरूप है जो पालि तिपिटक में उपलब्ध है। थेरवादी भिक्षुओं ने मागधी को मूल भाषा मानकर उसका उपयोग किया। उसे **'परियाय'** कहा जाता था जो कालान्तर में 'पालि' के रूप में स्थिर हो गया। इस मूल पालि रूप के साथ ही कतिपय विद्वानों ने थेरवाद में उन सुत्तों को भी ग्रहण कर लिया जो चीनी या संस्कृत में समान रूप से पाये जाते हैं। तृतीय संगीति के परिणाम स्वरूप इसे **विभज्ञवाद** भी कहा जाने लगा जिसका सन्दर्भ उसके तथ्याधारित मूल रूप से है। कतिपय विद्वानों ने उसे दक्षिणी बौद्धधर्म अभिधान दे दिया यह सोचकर कि पालि तिपिटक प्रथमत: श्रीलंका पहुंचा और वहीं ८० ई. पू. में उसका लिपिबद्धीकरण हुआ। वहीं से फिर वह दक्षिण-पूर्व एशिया, मध्य एशिया आदि देशों में फैल गया। पर इस सिद्धान्त को सही नहीं माना जा सकता क्योंकि तथागत के परिनिर्वाण के लगभग २५० वर्षो के बीच दीघनिकाय, दीर्घागम आदि तैयार हो चुके थे। समूचे पालि तिपिटक में भारतीय तत्त्व आपूरित हैं। उनका संचालन वस्तुत: अवन्ती से न हो कर पाटलिपुत्र से हुआ। अशोक ने अपने शिलालेखों को चतुर्दिशाओं में वहीं रहकर भिजवाया। महेन्द्र और संघमित्रा ने वही रूप वहां से श्रीलंका पहुंचाया। अशोक के बाद स्यालकोट में उसी का अस्तित्व था जहां लगभग द्वितीय शताब्दी ई.पू. मेनान्डर या मिलिन्द ने राज्य किया। उसके बाद बुद्धघोष तक पालि पिटक या थेरवाद की स्थिति अन्धकारमय होती गई। पंचम शती में बुद्धघोष ने श्रीलंका जाकर पालि पिटक तथा उस पर लिखित अट्ठकथाओं को वापिस लाने का संकल्प किया। इस पालि तिपिटक में अभिधम्म पिटक तो निश्चित रूप से उत्तरकालीन है।

अन्य पटिक

पालि पिटक का ही आधार लेकर उत्तरकालीन सम्प्रदायों ने अपना-अपना पिटक तैयार किया। महासांघिकों ने अपने पिटक को **'आचरियवाद'** की संज्ञा दी। उसमें उन्होंने कुछ विनय नियम जोड दिये, और सुत्त और विनय के रूप में परिवर्तित कर दिया। यह वैशाली की द्वितीय संगीति का परिणाम था जो बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग सौ वर्ष बाद हुई। उन्हींने **'दसवत्थूनि'** को मूल मुद्दा बनाकर महासंगीति का आयोजन किया और महासांघिक कहलाये। युवान् चांग के अनुसार उनका पिटक पांच भागों में विभक्त था - सूत्र, विनय, अभिधर्म, धारिणी और विविध। वह महासांघिकों के पन्द्रह ग्रन्थ चीन ले गया था। उसके पूर्व फाह्यान महासांघिक विनय का पूरा रूप पहुंचा चुका

था। इन ग्रन्थों में महावस्तु या महावस्तु अवदान सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिसमें ऐतिहासिक बुद्ध को अवलोकितेश्वर के रूप में प्रदर्शित किया है। विनीतदेव (आठवीं शती) के अनुसार महासांघिकों ने अपना पिटक प्राकृत में लिखा था। महावस्तु में भी इस तथ्य के प्रमाण हैं कि पिटक पालि-प्राकृत से संस्कृत की ओर गया। उदाहरणार्थ -

सहस्सं पि चे वाचा अनत्थपदसंहिता।

एकं अत्थपदं सेय्यो यां सुत्वा उपसम्मति।।

धम्मपद की यह गाथा ८.१ महावस्तु में इस रूप में उपलब्ध हैं-पृ. ४३४।

सहस्रं पि वाचानां अनर्थपदसंहिता।

का अर्थवती श्रेयः यां श्रुत्वा उपशम्यति।।

साधारण तौर पर यह माना जाता है कि जिन भिक्षुओं को राजगृह में हुई प्रथम संगीति में निष्कासित कर दिया गया था उन्होंने अपना एक पृथक् संघ स्थापित किया जिसे महीशासक नाम दिया। उन्होंने अर्हन्तों की सर्वज्ञता आदि पर प्रश्न उपस्थित कर दिये। इन्हीं महीशासकों म से सर्वास्तिवाद निकला जिसने अपने पिटक की भाषा के रूप में संस्कृत को स्वीकार किया। चतुर्थ संगीति में कनिष्क प्रथम शती ई. ने इसी को स्वीकार कर इस पर प्रथम शताब्दी में विभाषा लिखाईं। इस के अनुयायी भिक्षु वैभाषिक कहलाये। यह चतुर्थ संगीति कश्मीर में हुई। कतिपय विद्वान उसका स्थान जालन्धर भी मानते हैं। युवानच्वांग के अनुसार ये विभाषाएं ताम्रपत्रों पर उकेरी गई और पेशावर के आसपास कहीं भूमि के भीतर सुरक्षित कर दी गई। परन्तु उत्खनन में अभी तक वे उपलब्ध नहीं हुईं हैं।

चीनी, कोरियन और जापानी त्रिपिटक

दक्षिण-पूर्ववती् एशियाई देशों तथा चीन, कोरिया और जापान में भी त्रिपिटक के विभिन्न संस्करण उपलब्ध हैं। उसे चीन में   कोरिया में   जापान में और वियतनाम में   कहा जाता है। इसमें आगम, विनय और अभिधर्म संमिलित हैं, महायान और तान्त्रिक बौद्धधर्म भी।

कोरियन त्रिपिटक १०११ ई. में विकसित हुआ। यह त्रिपिटक चीनी त्रिपिटक पर आधारित है। इसे १२३६ ई. से लेकर १२५१ ई. के बीच ८१३४० काष्ठ फलकों पर उत्कीर्ण किया गया गोरये राजवंश काल में। आज वह एक राष्ट्रिय सम्पत्ति के रूप में सुरक्षित है।

तिब्बती त्रिपिटक

तिब्बती त्रिपिटक बौद्धागमों का अनुवाद है। संभोट ने सातवीं शताब्दी में तिब्बती लिपि को विकसित किया और उसमें बौद्धग्रन्थों का अनुवाद किया। यह भी कहा जाता है कि उनका पुत्र थोन-मी ने अपने साथियों के साथ भारत आकर लिपि का अध्ययन किया और तदनुसार तिब्बती लिपि को और विकसित किया। तिब्बती ग्रन्थों में कंजोर और तंजोर संस्करण प्रकाशित हुआ जिनमें क्रमशः बुद्धवचन और टीकाओं का समावेश हुआ।

इस प्रकार पालि तिपिटक भारतीय साहित्य और संस्कृति की अपार विरासत को संग्रहीत किये हुए है। उसमें प्राचीन भाषिक तत्वों का जिस प्रकार समावेश मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। बुद्ध वचनों को एक लम्बे काल तक मौखिक आधार पर सुरक्षित रखना और फिर उन्हें ताडपत्रों पर लिपिबद्ध करना उसकी अपनी विशेषता है। बहुस्सुता आगतागमा धम्मधरा, विनयधरा मातिकाधरा, पंचनेकायिका, भाणक, सुत्तन्तिक, पेटकी जैसे शब्द इसी परम्परा की ओर संकेत करते हैं। शास्ता का गम्भीर ज्ञान और दर्शन इसमें समाहित है। महासांघिक, स्थविर, मूल सर्वास्तिवाद और सम्मितिय इन चार निकायों में क्रमशः सात, तीन, चार और चार निकाय अन्तर्भूत थे। इन चारों के अपने-अपने पिटक थे। ईत्सिंग के अनुसार इन पिटकों में से प्रत्येक पिटक में लगभग एक-एक लाख श्लोक थे। ये पिटक पालि के साथ ही प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश में भी थे। इनमें उनकी सांस्कृतिक परम्पराओं का भी प्रतिबिम्बन होता था। उनका आलेखन पालि साहित्य के आधार पर किया जाना नितान्त अपेक्षित हैं। इससे जैन और वैदिक परम्पराओं के कतिपय विशेष तत्त्व उद्घाटित हो सकते हैं। जैन परम्परा बौद्ध परम्परा से प्राचीनतर हैं। इसकी पुष्टि में पालि साहित्य की मुख्य भूमिका रही है।

परिवर्त ४
पालि अट्ठकथा साहित्य और टीकाएं

पालि त्रिपिटक पर टीकाएं लिखी जाने की परम्परा अनुराधापुर के महाविहार से प्रारम्भ होती है। यद्यपि इसके पूर्व सिंहली अट्ठकथाओं की सूचना मिलती है पर उनके अनुपलब्ध होने से हम बुद्धघोषयुग पर पहुंचते हैं और फिर पराक्रम बाहु प्रथम (११५३-११८६ ई.) पर हमारी दृष्टि रुक जाती है। पराक्रम बाहु प्रथम ने पालि साहित्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। पालि अट्ठकथाओं पर टीकाएं लिखे जाने का उपक्रम उसी के समय से प्रारम्भ होता है। इसका प्रारंभिक रूप हमें "**अत्थं च धम्मं च**" (अं.नि. १, ६९, २३) और "**अट्ठकथं च पालिं च**" (म.पू. २, १४३,१४) में उपलब्ध होता है।

अट्ठकथा और टीका शब्द के अतिरिक्त पालि में विभंग निद्देस, वेय्याकरण, वण्णना, अट्ठवण्णना, अत्थसेवण्णना आदि शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। विभंग और निद्देस का प्रयोग पालि तिपिटक में हुआ ही है। जैन परम्परा में चूर्णि, भाष्य, निरुक्ति, टीका, वृत्ति आदि शब्द अधिक लोकप्रिय रहे हैं। वैदिक परम्परा में इन शब्दों के अतिरिक्त महाभाष्य वार्तिक जैसे शब्द भी मिलते हैं।

इनमें अट्ठकथा का विशेष महत्त्व रहा है। श्रीलंका की परम्परानुसार प्रथम तथा अन्य संगीतियों में अट्ठकथाओं का भी संगायन हुआ था। महिन्द उन्हीं को लेकर सिंहल पहुंचा (दी.नि.अ. ६-७ पद्य)। महावंस और सद्धम्मसंगह ने तो यहां तक कह दिया कि इन अट्ठकथाओं की रचना महिन्द ने की। वट्टगामणी के समय उनका लेखन भी किया गया परन्तु बाद में उनका लोप हो गया। बुद्धघोसुप्पत्ति के अनुसार उन्हीं को बुद्धघोष ने पालि में परिवर्तित किया। इस परम्परा में यह कथन कि अट्ठकथाओं का भी संगायन प्रथम संगीति में हुआ बिलकुल अविश्वसनीय है। वस्तुतः अगाध श्रद्धावश ऐसी मान्यता पनपी है। यहां तक कि उसे बुद्धवचन भी मान लिया गया है - **पालिमत्तमिधानितं, अट्ठकथा इध।** जो भी हो, इतना तो निश्चित है कि बुद्धघोष के समक्ष सिंहल अट्ठकथाएं थीं। इन अट्ठकथाओं में **महाअट्ठकथा, महापच्चरि, कुरुन्दी अट्ठकथा, सुत्तन्त अट्ठकथा** विशेष उल्लेखनीय हैं। समवेत रूप में इनके लेखकों को पोराणाचरिय कहा गया है जो महाविहार परम्परानुयायी थे।

पालि तिपिटक के अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि तथागत के उपदेशों के आधार पर सारिपुत्त, मोग्गल्लान, मोग्गलिपुत्ततिस्स, आनन्द जैसे महाथेरों और खेमा, उप्पलेवण्णा, धम्मदिन्ना जैसी महाथेरियों ने भी यत्र तत्र उपदेश दिये थे जिन्हें हम अट्ठकथा के उद्देश्य का पालन करते हुए देख सकते हैं। धम्मसंगणि की अट्ठकथा अट्ठसालिनी भी यही संकेत करती है जब वह कहती है कि तथागत बुद्ध के ८४००० धर्मस्कन्ध थे जिनमें ८२००० धर्मस्कन्ध बुद्ध के थे शेषों का उपदेश उनके शिष्यों और शिष्यायों ने दिये थे। उदाहरणार्थ सारिपुत्त के नाम पर निम्नलिखित सुत्त विशेष रूप से दृष्टव्य हैं - दी.नि. के सम्पसादनीय सुत्त, संगीतिसुत्त, दसुत्तरसुत्त, म.नि. के सम्मादिट्ठिसुत्त, महावेदल्लसुत्त, सं.नि. के वंगीससंयुत्त, खन्धसंयुत्त, बज्झिगसुत्त, अं.नि. के परिहानसुत्त, उपवाणसुत्त, निरोधसुत्त, इच्छासुत्त, सारिपुत्तसुत्त आदि। इसी तरह मोग्गल्लान के नाम पर भी अनुमानसुत्त, मोग्गल्लानसंयुत्त, महामोग्गल्लानसुत्त, व्याकरणसुत्त जैसे अनेक सुत्तों को उद्धृत किया जा सकता है।

अट्ठकथाओं को स्पष्ट करने वाली टीकाएं होती हैं जिन्हें साधारण तौर पर हम छह भागों में विभाजित कर सकते हैं - १) मूल टीका, २) पुराण टीका, ३) महाटीका, ४) अनुटीका, ५) नवटीका, और ६) अभिनवटीका। थाईलेण्ड में टीका के लिए "**अत्थयोजना**" शब्द का प्रयोग हुआ है। **गूढत्थदीपनी** शब्द का भी प्रयोग मिलता है पर वह अधिक लोकप्रिय नहीं हो सका। सिंहल में '**गन्ठिपद**' शब्द प्रयुक्त हुआ है। सिंहली भाषा में लिखी गई टीकाएं "**सन्नय**" कहलाती हैं और वर्मी भाषा में लिखी टीकाओं को "**निस्सय**" कहा जाता है। थाईलेण्ड में इसके लिए **निस्सय अथवा** "**वोहार**" शब्द का प्रयोग हुआ है। शब्दशः टीका के लिए '**नामसप**' संज्ञा दी गई है।

टीका साहित्य दार्शनिक, ऐतिहासिक, व्याकरणिक, सांस्कृतिक आदि दृष्टियों से शब्द की व्याख्या समाहित किये रहता है। कथाओं का भी आश्रय इसमें लिया जाता है। कथाओं का प्राधान्य होने पर वे **जातकट्ठवण्णना या धम्मपदट्ठकथा** जैसे रूप ले लेती हैं जिन्हें फिर कथात्मक साहित्य के अन्तर्गत रखना पडता है। इन टीकाओं की विकासात्मक रूपरेखा को हम प्रथम संगीति से प्रारंभ कर सकते हैं। इसके बाद महिन्द उन्हें तृतीय शताब्दी ई.पू. में सिंहल ले गये जहां उनका अनुवाद सिंहली में सिंहलट्ठकथा के नाम से हुआ। बुद्धघोष ने उन्हें पुनः पालि में रूपान्तरित किया।

व्यक्तिगत तौर पर थेरों ने भी इस क्षेत्र में अपना योगदान दिया है। उनके नाम अट्ठकथाओं में कथाओं का उपयोग करते समय हुआ है। बाद में लगभग द्वितीय से चतुर्थ

शताब्दी तक शास्त्रीय विवादात्मक इतिहास काल आता है। इसी काल में बुद्धदास (३६२-४०९ ई.) द्वारा प्रेरित **दीपनी टीकाएं** भी गणनीय हैं। इसके बाद बुद्धघोष का नाम विशेष उल्लेखनीय है एक अट्ठकथाकार के रूप में। उनका विसुद्धिमग्ग ग्रन्थ सर्वाधिक प्रसिद्ध हुआ है। फायनार ने बुद्धघोष पर अच्छा काम किया है। निगमन और महावंस के आधार पर उनका समय ३७० ई. से ४५० ई. के बीच निश्चित किया जा सकता है।

अट्ठकथा साहित्यः उद्भव और विकास

अट्ठकथा का सम्बन्ध पालि त्रिपिटक पर लिखित टीकाओं से है। संस्कृत साहित्य में अट्ठकथा से मिलता-जुलता शब्द **'भाष्य'** मिलता है पर दोनों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर दिखाई देता है। भाष्य में सूत्र का अर्थ और उसकी व्याख्या की जाती है पर अट्ठकथा में अर्थ और व्याख्या के साथ उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी स्पष्ट की जाती है एक पूरे विस्तार के साथ। उदाहरणार्थ कथावत्थु में समागत २१६ सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन कथावत्थु की अट्ठकथा में उपलब्ध होता है।

पालि का यह अट्ठकथा साहित्य बौद्ध परम्परा के अनुसार पालि त्रिपिटक के साथ श्रीलंका गया था मौखिक रूप में। वट्टगामणि अभय के समय पालि त्रिपिटक के संगायन का उल्लेख तो मिलता है पर प्राचीन अट्ठकथा साहित्य का कोई उल्लेख नहीं दिखाई देता है। संभव है, उन मौखिक अट्ठकथाओं को सिंहल में परिवर्तित कर दिया गया हो और इन्हीं परिवर्तित सिंहल अट्ठकथाओं को पालि में परिवर्तित करने के लिए आचार्य बुद्धघोस सिंहल गये हों। बुद्धघोष ने इन सिंहल अट्ठकथाओं के नामों का उल्लेख किया है - **महाअट्ठकथा, २) महापच्चिरी, ३) कुरुन्दी, ४) अन्धट्ठकथा, ५) संखेय अट्ठकथा ६) आगमट्ठकथा, एवं ७) आचरियानं समानट्ठकथा**। इनके अतिरिक्त कुछ और प्राचीन सिंहल अट्ठकथाओं का उल्लेख मिलता है जैसे - **पोराण अट्ठकथा, पुब्ब पदोसट्ठकथा, विनय अट्ठकथा, सुत्तन्त अट्ठकथा, अभिधम्म अट्ठकथा, सीहल मातिक अट्ठकथा, दीघट्ठकथा, मज्झिमट्ठकथा, संयुत्तट्ठकथा, अंगुत्तरट्ठकथा, जातकट्ठकथा और विभंगप्पकरणस्स सीहलट्ठकथा**। आचार्य बुद्धघोष ने भी अपनी अट्ठकथाओं के अन्त में लिखा है- "**सा हि महा-अट्ठकथाय सारमादाय निट्ठिता ऐसा**"। "ये अट्ठकथायें अनुराधापुर के महाविहार वासी तथा उत्तर विहारवासी भिक्षुओं की कृतियां रही होगीं। ये अट्ठकथाकार बुद्धघोष के अनुसार '**पोराणकत्थेरा**'' रहे होंगे।

महाविहारवासीनं दीपयन्तो विनिच्छयं ।
अत्थं पकासमिस्सामि, आगमट्ठकथासु पि'' समन्तपासादिका

वस्तुतः अट्ठकथा का शाब्दिक अर्थ है अर्थ का कथन करना। इस परिधि में कठिन शब्दों का अर्थ, सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक तथ्यों की प्रस्तुति तथा स्वयं के विचारों की अभिव्यक्ति। अं.नि. (१.६९, २३) में **''अत्थं च धम्मं च''** आता है जिसका अर्थ **''अट्ठकथं चं पालि चं''** किया गया है। माघ ने शिशुपालबध में उसे इस प्रकार नियोजित किया है भाष्य के साथ -

संक्षिप्तस्याप्यतोस्यैव वाक्यस्यार्थगरीयसः ।
सुविस्तरतरावाचो भाष्यभूता भवन्तु मे ।।२.२४।।

अट्ठकथा या भाष्य में रचयिता अपने मौलिक विचारों को भी प्रस्तुत करता है। भरत ने शब्दकल्पद्रुम में यही कहा है -

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः ।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विधुः।

अट्ठकथा विधा का उद्भव

तथागत बुद्ध के वचनों में जब कभी अर्थ गाम्भीर्य होता था तो उसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता का अनुभव उनके जीवनकाल में भी उनके अनुयायियों के मन में हुआ। जैन और बौद्ध आचार्य पदभ्रमण करते समय भी दर्शन, सिद्धान्त आदि विविध विषयों पर चर्चा करते रहते थे। उनके विश्लेषण की आवश्यकता होती थी। उनसे उत्पन्न संदेहजन्य तर्कों के समाधान खोजे जाते थे। उनमें कभी बुद्ध की प्रशंसा और कभी निन्दा प्रतिबिम्बित होती थी (दीघ. १) । कभी बुद्ध के विचारों को गलत या मिथ्या ढंग से प्रस्तुत किया जाता था (मज्झिम नि. भाग ३, पृ. २९७-८), या किसी सिद्धान्त विशेष पर गरमागम चर्चा होती थी (म.नि. सामगाम सुत्त), या जब किसी कारणवश कोई भिक्षु असंगत व्यवहार करता था तब सम्यक्ज्ञानी भिक्षु अपने तर्कों के माध्यम से बौद्धधर्म के ऐसे प्रसंगों को स्पष्ट किया करते थे (म.नि. **महाकम्मविभंग, सळायतनविभंग** आदि - म.नि. भाग ३, पृ. २०७-२२२)। आनन्द जैसे अनेक शिष्यों ने इस कार्य को सदैव अपने सबल कंधों से सम्हाला है। महाकच्चायन के **कच्चायनगंध, महानिरुत्तिगंध** आदि ग्रन्थ भी इसी संदर्भ में उल्लेखनीय हैं - महाकोट्ठि, मोग्गल्लान, धम्मदिन्ना, खेमा आदि ने भी यही कार्य किया है। इस आवश्यकता को हम कह सकते हैं।

अट्ठकथाओं के विकासात्मक सोपान

१) अट्ठकथाओं में पुराणाचार्यों का उल्लेख आता है। गन्धवंस में पोराणाचार्यो

को **अट्ठकथाचार्य** कहा है। तथागत बुद्ध की संबोधि के बाद वाराणसी, राजगृह, वैशाली, नालन्दा आदि जैसे नगर विकसित हुए और महाकस्सप, महाकच्चायन, सारिपुत्त, मोग्गल्लान जैसे शिष्यों का उदय हुआ जिनमें कुशल विद्वान और शास्त्रार्थी थे, वादविवादज्ञ थे। अट्ठकथाओं का उदय इन्हीं वादविवादों में देखा जा सकता है। ये वादविवादज्ञ पण्डित तथागत बुद्ध के सिद्धान्तों में दिखाई देने वाले दोषों पर विवाद करते थे। दीघनिकाय के प्रथम तेरह सुत्तों (सीलक्खन्ध) में ऐसे शास्त्रीय विवादों के प्रसंग अधिक आये हैं। **महाकम्मविभंग, सिक्खापदविभंग, सळायतन विभंग (म.नि. ३.४.७) धातुविभंग (म.नि. ३.४.१०) सच्चविभंग** आदि अभिधम्म विषयक तत्त्व मज्झिम निकाय में समागत विभंगों में अट्ठकथा साहित्य के उद्भव को और भी गहराई से देखा जा सकता है। इस संदर्भ में सारिपुत्त और महाकच्चायन के नाम से प्राप्त ग्रन्थ या ग्रन्थांश भी उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। महाकच्चायन के नाम पर निम्नलिखित ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है -**कच्चायन संगहो, महानिरुत्तिगन्धो, चुल्लनिरुत्तिगन्धो, नेत्तिगंधो, पेटकोपदेसगन्धो, और वण्णनीतिगन्धो**। इसी तरह महाकोट्ठित, मोग्गल्लान, आनन्द, धम्मदिन्न और खेमा के वचनों में भी अट्ठकथा के उद्भव के बीजों को खोजा जा सकता है जिसे हम इसका **प्रथम चरण** कह सकते हैं।

२) अभिधम्म विषयक बीज **सुत्तपिटक** में बिखरे पडे हैं। उन्हीं का विकास अभिधम्म पिटक में हुआ है। तथागत बुद्ध के उपदेशों को ही वहां व्यवस्थित किया गया है। बुद्धघोष ने इसे **वेय्याकरण** की संज्ञा दी है। इसमें गाथायें नहीं हैं। वेदल्ल के पृथक् रखने की आवश्यकता नहीं है । मज्झिमनिकाय के चुल्लवेदल्ल और महावेदल्लसुत्त को वेय्याकरण में संयोजित किया जा सकता है। कथावत्थु को छोड़कर शेष त्रिपिटक को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है - १) **वेय्याकरण (सुत्तभाजनीय)**, और २) **अभिधम्मभाजनीय**। खन्ध, विभंग, निद्देस आदि संज्ञाएं भी यहां मिलती हैं। इसके साथ ही अभिधम्मपिटक के छह ग्रन्थों को भी अट्ठकथाओं के विकास के **द्वितीय चरण** में संमिलित किया जा सकता है।

३) **तृतीय चरण** में महाकच्चाने और मोग्गलिपुत्त तिस्स के ग्रन्थों का क्रम आता है। मोग्गलिपुत्त तिस्स की कथावत्थु निश्चित रूपसे तृतीय संगीति का परिणाम है जो सम्राट् अशोक के सान्निध्य में संपन्न हुई थी। महाकच्चानो के ग्रन्थों को निश्चित करना सरल नहीं है। पेटकोपदेस को नेत्तिपकरण का पूरक ग्रन्थ माना जाता है। महाकात्यायन का **ज्ञानप्रस्थान शास्त्र** सर्वास्तिवाद का मान्य ग्रन्थ है। वसुबन्धु ने इसे अभिधम्म का सप्तम ग्रन्थ माना है। ह्यूनसांग ने इसका चीनी अनुवाद किया है **अभिधर्म विभाषाशास्त्र के** नाम से और उसे बुद्ध परिनिर्वाण की तृतीय शताब्दी में रचित ग्रन्थ

माना है। नेत्तिपकरण और पट्ठान में इसके समान विषय पाये जाते हैं। नेत्तिपकरण और ज्ञानप्रस्थान में समानता अधिक है। महाकच्चान अपने दोनों ग्रन्थों के प्रारम्भ में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि उन्होंने नया कुछ नहीं लिखा बल्कि दूसरों के उपदेशों को व्यवस्थित किया है। नेत्ति का **परिक्खारहार** नामक अध्याय पट्ठान पर आधारित है। उसके **नयसमुट्ठान** अध्याय में बुद्ध परिनिर्वाण की द्वितीय शताब्दी की घटनाओं का उल्लेख है। अतः यह ग्रन्थ कथावत्थु का पूर्ववर्ती है।

४) कथावत्थु को अट्ठकथा के विकास का **चतुर्थ चरण** माना जा सकता है। यह ग्रन्थ वस्तुतः व्याख्यात्मक है जिसमें त्रिपिटक के आधार पर अन्य मतों का खण्डन किया गया है।

५) इसके बाद मिलिन्दप्रश्न को **पंचमचरण** में नियोजित किया जा सकता है। इसमें मेनान्डर और नागसेन के बीच हुए संवाद और विवाद को रूपरेखा उपलब्ध होती है।

६) बुद्धघोष ने दीघभाणकों और मज्झिमभाणकों का उल्लेख अट्ठसालिनी (पृ. ४२०) में किया है साथ ही थेरों के अन्य सम्प्रदायों का भी। यहां समूचे त्रिपिटक, कथावत्थु, मिलिन्दपञ्हो आदि ग्रन्थों से उद्धरण दिये गये हैं, इसे हम **षष्ठचरण** कह सकते हैं।

पोराणाचार्य - अट्ठकथा के बाद पोराण भी प्राचीन बौद्ध साहित्य का एक अभिन्न अंग है। नन्दपञ्ह ने गन्धवंस में पेराणाचार्यो **(पोराणकत्थेर या अट्ठकथाचरिया)** का उल्लेख किया है। प्रथम तीनों संगीतियों में संमिलित लगभग २२०० अर्हतों को पोराणाचार्यों की संज्ञा दी है। इस सूची में महाकच्चायन का उल्लेख नहीं है। कतिपय विवादास्पद स्थलों का स्पष्टीकरण तथागत बुद्ध के समक्ष भी रखा गया था और उनके परिनिर्वाण के बाद प्रमुख शिष्यों ने उनको स्पष्ट किया था। सिंहल अट्ठकथाओं में भी उनका उल्लेख हुआ होगा। बुद्धघोष ने भी उनका उल्लेख किया है। समन्तपासादिका में उन्होंने इट्ठिय, उत्तिय, भद्दसाल, संबल, सुमन, सामणेरो एवं भण्डुको उपासकों का उल्लेख किया है। महावंस में भी यही पद्य मिलते हैं। अर्थात् बुद्धघोष ने सिंहल अट्ठकथाओं का सही रूपान्तरण किया है। विसुद्धिमग्ग (पृ. १७७, २०९) और अट्ठसालिनी (पृ. २९९) में भी पुराणाचार्यों का उल्लेख आया है।

इस तरह यह स्पष्ट है कि बुद्धघोष के पूर्व सिंहल अट्ठकथाएं थीं और उन्हीं का आधार लेकर बुद्धघोष ने अपनी अट्ठकथाओं की रचना की थी। विन्टरनिट्ज और

रिजडेविड्स ने भी इस स्थिति को स्वीकारा है। वस्तुतः अट्ठकथाओं का समय ई.पू. तृतीय शताब्दी से लेकर ई. की छठी शताब्दी तक माना जा सकता है।

पालि साहित्य की विकासात्मक अवस्था पर विचार करते समय उसमें आये अतिशयोक्तिमय और साहित्यिक रूप भी पाठक के सामने उपस्थित हो जाते हैं जिनकी रचना भिक्षुओं ने की थी। इसके बाद उसमें उन्होंने बुद्धकथाओं को विस्तार दिया और बुद्धजीवनी को भी समाहित किया। त्रिपिटक के मूलरूप में बुद्ध जीवनी नहीं थी। विनयपिटक, सुत्तपिटक और सुत्तनिपात के कतिपय स्थलों में बुद्ध जातक में उसी को विस्तार मिला, पूर्ववर्ती बुद्धों की जीवनी का प्रवेश हुआ जिसने निदानकथा और जातकट्ठवण्णना और ललितविस्तार तक आते-आते और अधिक क्रमशः कल्पनात्मक विस्तार ले लिया। उत्तरकाल में तीर्थंकर महावीर का जीवनचरित लेखन भी इससे प्रभावित हुआ है।

बुद्धघोष ने मुख्य रूप से तीन थेरवादी अट्ठकथाओं का उल्लेख किया है - १) **महाअट्ठकथा, २) महापच्चरी, और ३) कुरुन्दी**। ये अट्ठकथाएं कदाचित् तीनों पिटकों पर लिखी गई थीं। सिंहल परम्परा के अनुसार अट्ठकथाओं की मूल रचना प्रथम संगीति में हुई और उत्तरकालीन संगीतियों में उनकी पुनरावृत्ति की गई। महेन्द्र इन्हें श्रीलंका ले आये थे और वहीं सिंहल में उनका अनुवाद हुआ ऐसा बुद्धघोष की अट्ठकथाओं में उल्लेख आता है। **दीपवंस, महावंस, सद्धम्मसंगहो** आदि ग्रन्थों में भी इस परम्परा का उल्लेख हुआ है। परन्तु भारतीय ग्रन्थों में इस परम्परा का कोई उल्लेख नहीं मिलता। सिंहल अट्ठकथाओं का लेखन अवश्य वट्टगामिणि के काल में हुआ था। पर वे भी आज अनुपलब्ध हैं। कहा जाता है, लगभग १२वीं शताब्दी तक सिंहल में उनका अस्तित्त्व रहा है।

बौद्ध परम्परा के अनुसार अट्ठकथाओं का संगायन प्रथम संगीति में हो चुका था। महिन्द उन्हें तृतीय शती ई.पू. में सिंहल ले आये जहां उनका अनुवाद सिंहल भाषा में किया गया जिन्हें **सिंहलट्ठकथा** कहा गया। बाद में बुद्धघोष ने उनका अनुवाद पालि में किया। बुद्धघोष के पूर्व राजा बुद्धदास (३६२-४०९ ई.) ने सिंहल अट्ठकथाओं के लेखन की प्रेरणा बौद्ध विद्वानों को दी।

पालि अट्ठकथाओं का संगायन भले ही प्रथम संगीति में न हुआ हो पर यह निश्चित है कि उसमें उठाये गये विवादास्पद बिन्दुओं ने अट्ठकथाओं को जन्म देने में सहायता अवश्य की होगी। बौद्ध संघ के विकास के साथ अट्ठकथाओं के लिखने की

प्रेरणा भी बौद्धाचार्यो के मन में जागी होगी। द्वितीय-तृतीय संगीतियों ने इस आवश्यकता में और भी गहराई ला दी होगी। बुद्धघोष (४५० ई.) ने इन्ही सिंहल अट्ठकथाओं को पालि में परिवर्तित किया होगा। उत्तरकाल में टीकाओं में यद्यपि उन्हें बुद्धवचन कह दिया गया (सारत्थदीपिनी, पृ. १८) पर यह संभव नहीं लगता। हां, यह अवश्य है कि तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों में अट्ठकथाओं के लेखन को अनिवार्य अवश्य बना दिया होगा। तथागत बुद्ध के जीवन काल में ही इस आवश्यकता की अनुभूति हो चुकी थी (महाकम्मविभंगसुत्त, म.नि. ३,पृ. २०७, कोट्ठिकसुत्त, सं.नि. ४, पृ. १४५; सिवक सुत्त, वही ४. पृ. २३०; अग्गिवच्छ गोत्त सुत्त, म.नि. १, पृ. ४८३; सल्लेखसुत्त, वही १, पृ. ४०)। उन्होंने इस कार्य के लिए महाकच्चायन का चुनाव किया था (अं.नि. १, पृ. २३; हलिद्दक सुत्त, सं.नि. ४, पृ. ११५; मधुपिण्डिक सुत्त, म.नि. १. पृ. १०८)।

आगमिक विकास का परिदृश्य विनय पिटक में देखा जा सकता है जहां भिक्षु-भिक्षुणियों के विनय-नियम निर्धारित किये गये । **सुत्तविभंग** में उनकी पृष्ठभूमि में घटित घटनाओं का भी उल्लेख हुआ। महावग्ग और चुल्लवग्ग में संघ में अपराधों की संख्या बढती दिखती है और नियमों की बनावट भी उसी रूप में होती दिखाई देती है। गद्य के रूप में निकायों में व्याख्या भाग मिलने लगता है। **अत्थुदधारो** (धम्मसंगणि) निक्खेपकाण्ड की व्याख्या ही है। अट्ठसालिनी में इसे **अट्ठकथाकण्ड** कहा है। **निद्देस** सुत्तनिपात के अट्ठक और पारायणवग्ग का व्याख्या भाग ही है।

सिंहल एवं द्राविडियन अट्ठकथाएं

प्राचीन सिंहल अट्ठकथाएं उपलब्ध नहीं हुई। कुछ पद्य अवश्य उल्लिखित हुए हैं। जिन सिंहल अट्ठकथाओं के उल्लेख मिले हैं उनके नाम इस प्रकार हैं - १) **महाअट्ठकथा या मूल अट्ठकथा**, २) **उत्तरविहार अट्ठकथा**, ३) **महा-पच्चरिय अट्ठकथा**, ४) **कुरुन्दी अ.क.** ५) **अन्धट्ठकथा**, ६) **संखेपट्ठकथा**, ७) **आगमट्ठकथा**, ८) **पोराणट्ठकथा**, ९) **पुब्बोपदेसट्ठकथा**, १०) **विनयट्ठकथा**, ११) **सुत्तंतट्ठकथा**, १२) **अभिधम्मट्ठकथा**, १३) **सीहलमातिकट्ठकथा**, १४) **दीघट्ठकथा**, १५) **मज्झिमट्ठकथा**, १६) **संयुत्तट्ठकथा**, १७) **अंगुत्तरट्ठकथा**, १८) **जातकट्ठकथा**, १९) **विभंगप्पकतंसस्स सीहलट्ठकथा**।

इन अट्ठकथाओं में महट्ठकथा विनयट्ठकथा है जिसका सम्बन्ध महाविहार सम्प्रदाय से रहा है। उत्तरविहारट्ठकथा उत्तरविहार या अभयगिरिविहार से संबद्ध है जो

महाविहार का प्रतिद्वन्द्वी रहा है। इसी तरह अन्य अट्ठकथाओं का लेखन श्रीलंका या आन्ध्र के विविध बौद्ध सम्प्रदायों पर आधारित रहा है। समन्तपासादिका में उनका उल्लेख है। उनका उपयोग विनय और अभिधम्मट्ठकथाओं के लेखन में हुआ है। आगमट्ठकथा और पोराणट्ठकथा ग्रन्थ भी इस दृष्टि से पालि अट्ठकथाओं के उपादान रहे हैं। ये सभी अट्ठकथाएं लगभग प्रथम शताब्दी ई. पू. में लिखी गई थीं। बुद्धघोष ने इन्हीं के आधार पर सामग्री को भी समाहित किया। प्रथम शताब्दी के बाद के किसी भी भिक्षु का नामोल्लेख इसमें नहीं है। अत: सिंहल अट्ठकथाओं की समय-परिधि यही रखी जा सकती है। वर्तमान में कोई सिंहल अट्ठकथाएं उपलब्ध नहीं हैं। बुद्धघोसुप्पत्ति में कहा है कि जब बुद्धघोष इन अट्ठकथाओं का पालि रूपान्तरण कर चुके थे तब संघराज ने महिन्द के सारे ग्रन्थों को जला डाला (पृ. ६०)। पर यह सही नहीं लगता। महावंस में उनके संगायन का उल्लेख मिलता है (१२.५८; ९.८) तथा लगभग १३ वीं शती तक के ग्रन्थों में उनके उद्धरण भी मिलते हैं।

अट्ठकथाओं में दो शब्द मिलते हैं - १) **अट्ठकथायिका** जिन्होंने अट्ठकथाओं का अध्ययन किया/कराया, और २) **अट्ठकथाचरिया** जिन्होंने अट्ठकथाओं को लिखा। बुद्धघोष अट्ठकथाचरिया का बहुत सम्मान करते थे। उन्होंने उनके ग्रन्थों से उद्धरण **'तेनाहुपोराणा'** कहकर भी दिये हैं। इसी तरह भाणक विनयधर, सुत्तन्तिक, अभिधम्मिक, अक्खरचिन्तक, परसमुद्दवासी, दीघभाणक, तिपिटक महासिव, तिपिटक चूलाभय, तिपिटक चूलनाग, तिपिटक महाधम्मरक्खित आदि भिक्षुओं ने भी इन अट्ठकथाओं के संरक्षण में सहयोग किया। इसी के साथ ही बुद्धघोष मिलिन्दपञ्ह, पेटकोपदेस, नेत्तिपकरण, दीपवंस आदि पालि ग्रन्थों का भी उल्लेख करते हैं।

पालि अट्ठकथाएं

महावंस (अ. ३७) के अनुसार बुद्धघोष महानाम के काल (४०६-८ ई.) में सिंहल पहुंचे थे। उनके अतिरिक्त बुद्धदत्त, धम्मपाल, उपसेन, महानाम आदि आचार्यों ने भी पालि अट्ठकथाओं का लेखन किया। इसलिए इनका समय पंचम शताब्दी माना जा सकता है। उपलब्ध पालि अट्ठकथाओं के नाम इस प्रकार हैं -

	तिपिटक ग्रन्थ	अट्ठकथालेखक
१.	विसुद्धिमग्ग	बुद्धघोष
२.	विनयपिटकसमन्तपासादिका	बुद्धघोष
३.	पातिमोक्खकंखावितरणी	बुद्धघोष
४.	दीघनिकायसुमंगलविलासिनी	बुद्धघोष

५.	मज्झिमनिकायपपंचसूदनी	बुद्धघोष
६.	संयुत्तनिकायसारत्थप्पकासिनी	बुद्धघोष
७.	अंगुत्तरनिकायमनोरथपूरणी	बुद्धघोष

खुद्दकनिकाय

८.	खुद्दकपाठपरमत्थजोतिका	बुद्धघोष
९.	धम्मपद धम्मपदट्ठकथा	बुद्धघोष
१०.	उदानपरमत्थदीपनी	धम्मपाल
११.	इतिवुत्तकपरमत्थदीपनी	धम्मपाल
१२.	सुत्तनिपातपरमत्थजोतिका	बुद्धघोष
१३.	विमानवत्थु परमत्थदीपनी	धम्मपाल
१४.	पेतवत्थु परमत्थदीपनी	धम्मपाल
१५.	थेरगाथा परमत्थदीपनी	धम्मपाल
१६.	थेरीगाथा परमत्थदीपनी	धम्मपाल
१७.	जातकट्ठकथा	बुद्धघोष
१८.	निद्देससद्धम्मपजोतिका	उपसेन
१९.	पटिसंभिदामग्ग सद्धम्मपकासिनी	उपसेन
२०.	अपदानविसुद्धजनविलासिनी	अज्ञात
२१.	चरियापिटक परमत्थदीपनी	धम्मपाल

अभिधम्म अट्ठकथायें

२२.	धम्मसंगणी अट्ठसालिनी	बुद्धघोष
२३.	विभंग सम्मोहविनोदिनी	बुद्धघोष
२४.	कथावत्थु पंचप्पकरणट्ठकथा	बुद्धघोष
२५.	पुग्गलपञ्ञत्ति	
२६.	धातुकथा	
२७.	यमक	
२८.	पट्ठान	

इन अट्ठकथाओं का कालक्रम निश्चित करना सरल नहीं है फिर भी यह निश्चित है कि विसुद्धिमग्ग की रचना सर्वप्रथम हुई होगी क्योंकि इसका उल्लेख लगभग सभी अट्ठकथाओं में हुआ है। ये अट्ठकथाएं सिंहल अट्ठकथाओं का मात्र अनुवाद नहीं है।

उनमें तो पालि त्रिपिटक तथा अन्यत्र उपलब्ध सामग्री का भी उपयोग हुआ है। इस का संकेत निम्नलिखित उद्धरण से मिलता है - **महा-अट्ठकथायं सारं आदाय, पोराणट्ठकथायं सारं आदाय** (दी.अ. म. अ.; सं.अ. अं.अ.)। उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं, रूपकों और लोककथाओं के सन्दर्भ में भी यही कहा जा सकता है। बुद्धघोष को कदाचित् महाविहार परम्परा पर विशेष ध्यान रखना पडा होगा। फिर भी उन्होंने यथावश्यक अन्यत्र उपलब्ध सामग्री का भी उपयोग किया, सिंहल अट्ठकथाओं में प्राप्त सामग्री का संक्षिप्तीकरण भी किया और अपना मत भी व्यक्त किया - **अयं पन मे अत्तनो गति**। समन्तपासादिका आदि अट्ठकथाओं में तथागत बुद्ध की दन्त अस्थियां श्रीलंका में पहुंचने तथा बुद्ध मूर्तिपूजा जैसे मुख्य विषयों का समावेश दिखाई नहीं देता। इसका तात्पर्य यह है कि बुद्धघोष ने इन अट्ठकथाओं में स्वयं की ओर से कुछ अधिक नहीं लिखा। फिर भी उन्होंने मात्र अनुवाद और सम्पादन का ही कार्य नहीं किया, अपनी विद्वत्ता का भी यथास्थान उपयोग किया है।

पालि अट्ठकथाओं की उपयोगिता अनेक दृष्टियों से आंकी जा सकती है। उदाहरणार्थ - १) इनमें पाठान्तरों का उल्लेख है, जैसे जातकट्ठकथा में (जा १, पृ. ४८८; २४१, २९९ २३६, ९५, २७३, २७६; ३६), २) कुछ ऐसे भी स्थल हैं जहां कुछ गाथा भाग छोड दिया गया और कुछ जोड दिया गया, जैसे बुद्धवंस अट्ठकथा में नये पद्यों की संख्या अधिक है। ३) बुद्धघोष ने स्वयं के विचारों को भी इनमें संयोजित किया है। जैसे म.नि. के चूलस्सपुरसुत्त की अट्ठकथा लिखते समय बुद्धघोष ने यह विचार दिया कि दीक्षा के लिए गृहपति वर्ग अधिक अनुकूल था क्योंकि ब्राह्मण और क्षत्रिय जैसा अहंकार उसमें नहीं था। ४) मूल ग्रन्थों में प्राप्त सामग्री को यथास्थान विस्तार दिया गया। जैसे दीघनिकाय के महापदानसुत्त और म.नि. के अच्छरियब्भुतधम्म में समागत बुद्ध जन्म के संदर्भ को विस्तृत और अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया गया (दी.नि.अ. २ पृ. ४०७; म.नि.अ. ४, पृ. १६)। मूल ग्रन्थ में जहां बुद्ध की रक्षा का उत्तरदायित्व चार देवों पर है वहां बोधिसत्त्व की रक्षा अट्ठकथा में ४०००० देव करते हैं। इसे **सम्बहुलवार** कहा गया है। ५) कहीं कहीं बुद्धवचन के नाम पर नवीन गद्य-पद्यों का संमिश्रण हुआ है (दी.अ. १, पृ. २३८; सं.नि.अ. १, पृ. २०१)। पंच अन्तरधानानि जैसे विषय (अं.अ.१, पृ. ८९) भी यहां संकलित हैं जो मूल ग्रन्थों में नहीं मिलते। ६) अट्ठकथाओं में अन्तर भी दिखाई देता है जैसे उदान अट्ठ. में संकेत किया गया है (पृ. १०१)। शब्दों की निरुक्ति और घटनाओं के अकलन में अन्तर मिलता है। जैसे पपंचसूदनी में पांच ब्राह्मण सिद्धार्थ के सन्दर्भ में उनके बुद्ध होने की भविष्यवाणी करते हैं (२, पृ. १८९) जबकि

मनोरथपूरणी में यह कार्य मात्र कोञ्डञ्ञ करते हैं (भा. १, पृ. १७७)। इससे भाणक परम्परा का पता चलता है।

अधिकांश अट्ठकथाओं के नाम कुछ विशेषता लिये हुई हैं जैसे समन्तपासादिका, सुमंगलविलासिनी आदि, जबकि कुछ के नाम रचना के नाम के साथ जुडे हुए हैं जैसे धम्मपदट्ठकथा। साधारण तौर पर ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण और अन्त में प्रशस्ति अर्थात् लेखक का नामादि और जिसके आग्रह से यह ग्रन्थ लिखा गया है। ग्रन्थ का उद्देश्य, उपादान आदि भी वहां उल्लिखित हुए हैं। पोराणाचारियों के मतों का उल्लेख आदि भी वहां उल्लिखित हुए हैं। यहां विनय नियम, सुत्त, अभिधम्म, बुद्धजीवनी, कथाएं, ऐतिहासिक घटनाएं, और व्याकरण टीकाएं भी समाहित हुई हैं।

पोराणकत्थेर, पोराणाचरिया, पोराणट्ठकथा, पुब्बाचरिया आदि ग्रन्थ भी पालि अट्ठकथाओं के आधार रहे हैं। बोधवंस (पृ. ५८) के अनुसार पोराणाचार्य धम्मसंगाहक थेर थे जो प्रथम तीन संगीतियों में संमिलित हुए थे महाकच्चायन को छोडकर। मिलिन्दपञ्हो (पृ. ३६९) और विसुद्धिमग्गो (पृ. २७०) में एक पद्य उल्लिखित हुआ है जिसमें पोराणाचार्यो का उल्लेख है। गंधवंस (पृ. ५९) पोराणाचार्योऔर अट्ठकथाचार्यो को एक मानता है। खुद्दकपाठ अट्ठकथा के प्रारंभ में भी लगभग ऐसा ही उल्लेख है। विसुद्धिमग्गो (भाग २, पृ. ५२२) में भी पटिच्चसमुप्पाद के संदर्भ में दो पद्य प्रस्तुत किये गये हैं जिनमें पुब्बाचरियमग्ग का स्मरण हुआ है (पृ. ५२२-२३)। **भाणकों** ने भी पालि अट्ठकथाओं की रचना में अपना योगदान दिया है। दीघ. मज्झिम. संयुत्त अंगुत्तरनिकाय में भाणकों का उल्लेख आता ही है। मिलिन्दपञ्हो (पृ. ३४२) में खुद्दकनिकाय के भाणकों का भी उल्लेख आया है। भाणक परम्परा श्रीलंका में पालि त्रिपिटक के संगायन के बाद चार शताब्दियों तक चलती रही आलोकविहार और अनुराधाविहार में।

पालि अट्ठकथाओं की विषयानुक्रमणिका

पालि त्रिपिटक और अट्ठकथाओं की विषयसूची में कुछ अन्तर दिखाई देता है। पालि जातकट्ठकथा से पता चलता है कि सिंहल अट्ठकथा और जातक में अन्तर है। गोधा जातक (भाग १, पृ. ४८८) में कलिं की जगह फलं का प्रयोग हुआ है। इसे हम पाठान्तर कह सकते हैं। संमोहविनोदनी (पृ. २७-२८) में एक स्थान पर मूल ग्रन्थ से विरोध दिखाई दे रहा है। यह तथ्य पटिसंभिदामग्ग अट्ठकथा से स्पष्ट हो जाता है (पृ. ७५)। इसी तरह उदान अट्ठकथा (पृ. १७१), बुद्धवंस (पृ. १८) में भी विरोध है। बुद्धवंस की मूल अट्ठकथा में बुद्ध पकिण्णकखण्ड और धातुभाजनीय कथा भाग नहीं मिलते। संभव है,

उसमें ये भाग उत्तरकाल में जोड दिये गये हों। जातकट्ठकथा की निदानकथा से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। यही स्थिति मज्झिमनिकाय के अच्छरियब्भुतधम्मसुत्त के साथ भी है। इसमें अट्ठकथाकार ने मूल ग्रन्थ का सही अनुकरण नहीं किया। इससे इतना तो स्पष्ट है कि अट्ठकथाओं में विषय का विस्तार हुआ है और विस्तार के बाद यह कह दिया गया है कि ''भगवान् ने यह भी कहा था पर उसे यहां संमिलित नहीं किया गया'' (सुमंगलविलासिनी, १, पृ. ३३८)। सुमंगलविलासिनी और पपंचसूदनी में व्याख्या पद्धति को **'संबहुलवार'** शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका तात्पर्य यह है कि उन्होंने मूल ग्रन्थ के अतिरिक्त प्राप्त बुद्ध जीवनी को इसमें समाहित किया है। बुद्धवंस में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है (भाग २, पृ. ४९)। समन्तपासादिका (पृ. २९०-९४, ४७६) में इसके लिए **'पालि मुत्तनय'** शब्द भी आया हुआ है। इसके अनुसार विनय पिटक में जिन नियमों का उल्लेख नहीं हुआ उनका आकलन यहां हुआ है। पुग्गलपञ्ञत्ति (पृ. १७१) में इस विधा का प्रयोग हुआ है।

अट्ठकथाकार और टीकाकार

१) बुद्धदत्त

बुद्धदत्त कदाचित् आद्य पालि अट्ठकथाकार थे जिन्होंने श्रीलंका जाकर सिंहली अट्ठकथाओं को पालि में परिवर्तित करने का आन्दोलन प्रारम्भ किया था। वे बुद्धघोष से अवस्था में थोडे बड़े थे या समवयस्क रहे होंगे, यह कहना कठिन है क्योंकि बुद्धघोसुप्पत्ति (पृ. ५०) में बुद्धदत्त बुद्धघोष को 'आवुस' कहकर संबोधित करते दिखाई देते हैं - **आवुसो, बुद्धघोस, अहं तया पुब्बे लंकादीपे भगवतो सासनं कातुं आगतोम्हि ति वत्वा अहं अप्पयुको...**। बी.सी. ला ने अभिधम्मावतार की भूमिका में इस परम्परा के विपरीत यह उल्लेख दिया है कि बुद्धदत्त श्रीलंका में बुद्धघोष के कार्यों का संक्षिप्तीकरण कर रहे थे । (एच.पी.एल. भाग २, पृ. ३८७)। उन्होंने चूलवंस (पीटीएस, अनुवाद भाग २ पृ. ११) का उल्लेख करते हुए यह भी कहा कि बुद्धघोष राजा महानाम (४०९-४२१ ई.) के समय श्रीलंका में थे। यहीं बुद्धदत्त ने बुद्धघोष से विनयपिटक की अट्ठकथा लिखने का सुझाव दिया था। इसका तात्पर्य है कि बुद्धदत्त बुद्धघोष के ज्येष्ठ समकालीन थे।

बुद्धदत्त त्रिचनापल्लि के समीपवर्ती नगर **उरगपुर** (उरैपुर) निवासी थे ऐसा विनयविनिच्छय तथा अभिधम्मावत्तार की प्रशस्तियों से अवगत होता है। उस समय वहां कदम्बवंशीय अच्युतविक्रम राज्य करता था। वहां से बुद्धदत्त श्रीलंका आये जहां उन्होंने अनुराधापुर के महाविहार में दीक्षा ली। बाद में वे भारत भी आते-जाते रहे।

उन्होंने कावेरी नदी के किनारे बसे भूतमंगलग्राम में उत्तरविनिच्छय, विनयविनिच्छय, परमत्थदीपनी (इतिवुत्तक अ.क.) अभिधम्मावतार, रूपारूपविभाग और मधुरत्थविलासिनी जैसे ग्रन्थों की रचना की। विद्वानों ने **भूतमंगलग्राम** की पहचान कावेरीपट्टन या पल्लिवृत्ति भूतमंगलम् (तंजौर जिला) से की है (इबी ३, पृ. ३९५)। बुद्धदत्त का सम्बन्ध कांचीपुरम् से भी रहा है।

बुद्धदत्त के **विनयविनिच्छय** से ज्ञात होता है कि जब वे श्रीलंका से वापिस आ रहे थे तब समुद्री मार्ग में उनकी भेंट बुद्धघोष से हुई जो सिंहल अट्ठकथाओं को पालि में अनुदित करने के उद्देश्य से श्रीलंका जा रहे थे। उन्होंने बुद्धघोष से यह भी कहा कि जब आपका कार्य हो जाये तो उसे मेरे पास भेज दें ताकि वे उसका संक्षिप्तीकरण कर सकें। बुद्धघोष ने अन्त में उसे भेजा भी जिसे बुद्धदत्त ने विनयविनिच्छय के रूप में संक्षिप्त किया। बुद्धधोसुप्पत्ति के चतुर्थ अध्याय के अनुसार बुद्धदत्त सिंहल अट्ठकथाओं को पालि में अनुदित तो नहीं कर पाये पर जिनालंकार, दंतवंस, धातुवंस तथा बोधिवंस, की रचना अवश्य की। कहा जाता है, श्रीलंका से भारत वापिस आते ही वे कालकवलित हो गये। परन्तु यह सही नहीं लगता क्योकिं ये ग्रन्थ बुद्धदत्त द्वारा रचित नहीं हैं। इतना अवश्य है कि बुद्धदत्त का **उत्तरविनिच्छय** और बुद्धघोस का विसुद्धिमग्ग संघपाल की अभ्यर्थना पर लिखे गये थे। इससे यह पता चलता है कि बुद्धदत्त का समय पंचम शताब्दी का पूर्वार्ध रहा होगा और वे बुद्धघोष के ज्येष्ठ समकालीन रहे होंगे। विन्टरनिट्ज और मलालशेखर ने भी बुद्धदत्त का समय लगभग यही माना है।

बुद्धदत्त ने निम्न ग्रन्थों की रचना की - १) उत्तरविनिच्छय (९६९ गाथाएं), २) विनयविनिच्छय (३१८३ गाथाएं), ३) अभिधम्मावतार (गद्य-पद्य मिश्रित), ४) रूपारूपविभाग, और ५) मधुरत्थ विलासिनी (बुद्धवंस की अ.क.)। इनके अतिरिक्त जिनालंकार के रचयिता के रूप में भी उनके नाम का उल्लेख आता है। इन ग्रन्थों की रचना बुद्धदत्त ने श्रीलंका से आकर काबेरी नदी के तट पर दक्षिण के कृष्णदास विहार में बैठकर की। उन्होंने अन्धट्ठकथा, संखेपट्ठकथा आदि प्राचीन सिंहल अट्ठकथाओं का उल्लेख किया है।

बुद्धदत्त के प्रमुख ग्रन्थों की समीक्षा इस प्रकार है -

विनयविनिच्छय और उत्तरविनिच्छय

बुद्धदत्त ने विनयविनिच्छय और उत्तरविनिच्छय इन दो ग्रन्थों में विनयपिटक को संक्षिप्त रूप में पद्यबद्ध प्रस्तुत किया है। समन्तपासादिका के बाद इन दोनों ग्रन्थों की

रचना हुई होगी। सद्धम्मसंगहो (१०.३०) के अनुसार विनय विनिच्छय के रचयिता बुद्धसीह हैं परन्तु विनय विनिच्छय की पुष्पिका.के अनुसार इसके रचयिता बुद्धदत्त हैं। बुद्धसीह उनके शिष्य थे जिसे उन्होंने यह ग्रन्थ समर्पित किया । इसी तरह उत्तरविनिच्छय को उन्होंने अपने एक अन्य शिष्य संखपाल को समर्पित किया।

विनयविनिच्छय में ३१ अध्याय हैं पर इसकी टीका के अनुसार इसमें ३७ अध्याय हैं २० खन्धककथाओं को मिलाकर। परन्तु बुद्धदत्त मात्र १४ खन्धकों का उल्लेख करते हैं। उन्होंने महाखन्धक को एक मानकर उसके ११ भाग कर दिये हैं। उत्तरविनिच्छय के अनुसार विनय विनिच्छय में ४११९ पद्य हैं जबकि संस्करण में मात्र ३१८० या ३१८३ पद्य उपलब्ध हैं।

इन गाथाओं के माध्यम से लेखक ने भिक्खु और भिक्खुणी प्रातिमोक्ष को सरलढंग से कथाओं और घटनाओं का उल्लेख करते हुए प्रस्तुत किया है।

विनिच्छय का **तात्पर्य** है परीक्षण या निश्चिय या निर्णय। श्रीलंका के महाविहार सम्प्रदाय के भिक्षुओं द्वारा विनय नियमों का निश्चय करने के बाद इसकी रचना हुई होगी। यह ग्रन्थ पाराजिककथा से प्रारम्भ होता है और फिर संघादिसेसकथा, अनियतकथा, निस्सग्गियकथा, पाचित्तियकथा, पाटिदेसनियकथा और सेखियकथा से अन्त होता है। यहां तक भिक्षुविभंग है। इसके बाद भिक्षुणी विभंग प्रारम्भ होता है। खन्धककथा में महाखन्धक, उपोसथ खन्धक, सीमाकथा आदि १५ विभाग हैं। कुल ३१८३ पद्यों में यह ग्रन्थ समाप्त हो जाता है। इसकी अट्ठकथा का नाम है विनय सारत्थदीपनी जिसके लेखक हैं श्रीलंकावासी वचिस्सार महासामी (१३ वीं शती)। राजा पराक्रम बाहु ने इसपर सिंहल टीका लिखी है। रेवतथेर (११ वीं शती) की भी टीका उपलब्ध है। धीरानन्द थेर की नवीन सिंहल टीका भी इस पर हुई है।

उत्तरविनिच्छय विनयविनिच्छय का परिपूरक ग्रन्थ है। इसमें २३ अध्याय हैं और उनमें ९६९ पद्य हैं। महाविभंग में भिक्षु और भिक्षुणी विभंग हैं। उत्तरविनिच्छय पर वाचिस्सर महासामी ने **उत्तरलीनत्थप्पकासिनी** नामक अट्ठकथा लिखी है

सर्वोच्च श्रेणी (उत्तर) के नियमों को प्रस्थापित करते हुए पाराजिक, संघादिसेस आदि जैसे गर्हित दोषों को भी उद्घाटित किया है। यहां इसी क्रम में नौ नवीन शीर्षकों पर भी चर्चा की गई है - **चतुविपत्तिकथा, अधिकरणपच्चयकथा, खन्धकपिच्चयकथा, समुट्ठाणसिसकथा, एकुत्तरनयकथा, सेदमोचनकथा, लक्खणकथा और सब्बसंकलननयकथा। वाघिरसरमहासामि ने इस ग्रन्थ पर टीका लिखी है - उत्तरलिनत्थप्पकासनी।।**

अभिधम्मावतार

अभिधम्मावतार में कहा गया है कि इस ग्रन्थ लेखक उरगपुर निवासी बुद्धदत्त है। यह उरगपुर या उरयपुरचोल या कदम्ब राज्य में था। लेखक की शिक्षा बेण्हुदास मठ में हुई जिससे यह माना जा सकता है कि वह मूलतः ब्राह्मण था और अपनी ढलती अवस्था में बौद्धधर्म में परिवर्तित हुआ। उसके द्वारा लिखित छह ग्रन्थ उपलब्ध हैं - **अभिधम्मावतार, रूपारूपविभाग, विनयविनिच्छयो, उत्तरविनिच्छयो, मधुरत्थविलासिनी, और जिनालंकार**। अभिधम्मावतार में चित्त, चेतसिक, रूप और निर्वाण की व्याख्या की गई है २४ अध्यायों में।

अभिधम्मावतार में बुद्धदत्त ने अभिधम्म दर्शन को प्रस्तुत किया है। विसुद्धिमग्ग के समान यह ग्रन्थ भी सिंहल अट्ठकथाओं पर आधारित रहा है। दोनों ग्रन्थों में पर्याप्त समानता है। अन्ध, पंगु, नाम, रूप दोनों में व्याख्यायित हुए हैं। विसुद्धिमग्ग का संक्षिप्त रूप इसे कह सकते हैं। बुद्धघोष की अपेक्षा बुद्धदत्त अधिक उदार और स्वतन्त्र विचारक लगते हैं। उन्होंने पारिभाषिक शब्दों को दो भागों में विभाजित किया है - समूह और असमूह।

अभिधम्मवतार का अधिकांश भाग पद्यबद्ध है पर कहीं-कहीं उसमें गद्य भी आ गया है। वह २४ निद्देसों में विभक्त है - चित्त, चेतसिक, चेतसिकविभाग, एकविधादि, चित्तुप्पत्ति, आरम्मण, विपाकचित्तप्पवत्ति, पकिण्णक, पुञ्ञविपाकपच्चय, रूपविभाग, निब्बान, पञ्ञत्ति, कारकपटिवध, रूपावचर समाधि भावना, अभिञ्ञ, अभिञ्ञारम्मण, दिट्ठविसुद्धि, कांखावितरण, मग्गामग्गञाणदस्सनविसुद्धि, पटिपदाञाणदस्सनविसुद्धि ञाणदस्सनविसुद्धि, किलेसपथाणकथा, पच्चयनिद्देस। इन अध्यायों के विषय को बुद्धदत्त ने चार मुख्य भागों में विभाजित किया है - चित्त, चेतसिक, रूप और निब्बान। इनका विवेचन बुद्धघोष से कहीं अधिक अच्छा हुआ है। अभिधम्मावतार पर दो सिंहली टीकाएं उपलब्ध हैं - **१) महाविहार के वचिस्सार महासामी कृत, २) सारिपुत्त शिष्य सुमंगलकृत।**

रूपारूपविभाग

अभिधम्मदर्शन पर बुद्धदत्त की एक अन्य कृति है - रूपारूप विभाग। यह कृति प्रारम्भिक अध्येता की दृष्टि से लिखी गई है। गद्य में लिखित यह कृति छोटी है पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसे हम अनिरुद्धकृत अभिधम्मत्थसंगहो का संक्षिप्त रूप कह सकते हैं। लेखक ने इसमें चार तत्त्वों पर विचार किया है - रूप, चित्त, चेतसिक और चेतसिक संपयोग या निब्बान। निब्बान दो भागों में विभक्त है - रूपविभाग और

अरूपविभाग। रूपविभाग के पुनः २८ भेद हुए हैं। चित्तविभाग में ८९ प्रकार के चित्तों का वर्णन है और चेतसिक विभाग में चेतसिकों के ५२ प्रकारों को व्याकृत किया गया है। अरूपविभाग में चित्त, चेतसिक और निब्बान का वर्णन है। इनको पञ्ञत्ति भी कहा गया है। यह विभाजन बुद्धदत्त का अपना है।

रूपारूपविभागो में भी क्रम वही है पर अन्तर यह है कि चित्त को रूप कह दिया और शेष तीनों को अरूप की संज्ञा दे दी जिसे नाम कहा जाता था। इन सभी को कथा, पभेद, समुट्ठान और पवत्ति के आधार पर वर्णित किया गया है। इसकी निगमन गाथा देखिए -

अनेन पुञ्ञेन तु बुद्धदत्तो, विहारसंसारभया समुत्तो।
महामहिमरागविनोदनं सिवं, अनासकं सेवतु दिवप्पमेवा।।

मधुरत्थविलासिनी और जिनालंकार

श्रीलंका परम्परानुसार बुद्धदत्त ने मधुरत्थविलासिनी या मधुरत्थप्पकासिनी और जिनालंकार की भी रचना की बुद्धसीह की प्रार्थना पर। मधुरत्थविलासनी बुद्धवंस पर लिखी अट्ठकथा है जिसमें पूर्व बुद्धों का वर्णन है। पूजावलिय (१३ वीं शती) में भी इसे बुद्धदत्तकृत माना है।

जिनालंकार एक पालिकाव्य है। उसमें २५० पद्य हैं। भाषा सरल पर अलंकृत है। उसमें बुद्ध का जीवन वृतान्त वर्णित है। डॉ. मलाल शेखर इसे बुद्धरक्खितकृत मानते हैं। गंधवंस के अनुसार बुद्धरक्खित उसके टीकाकार हैं, लेखक तो बुद्धदत्त ही हैं। बुद्धरक्खित ११वीं शती के श्रीलंकावासी भिक्षु थे। इसकी भाषा आदि के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इसकी रचना लगभग छठी शताब्दी ई. की होनी चाहिए। और इसके रचयिता बुद्धदत्त ही होंगे।

इसमें २९ अध्याय है - रतनचंकमणकण्ड, सुमेधट्ठानकथा, तीन से छब्बीस अध्यायों में २४ पूर्वबुद्धों का जीवनचारित, २८ वें अध्याय बुद्धपकिण्णकण्ड में तण्हंकर, मेघंकर और सरणंकर नामक भावी बुद्धों का वर्णन है जो दीपंकर और मैत्रेय के पूर्ववर्ती होंगे और २९ वें अध्याय में गौतम बुद्ध का जीवन चरित है। इस तरह यह ग्रन्थ २६ भाणवारों में समाप्त हुआ है।

भरत सिंह उपाध्याय ने उसे १२ वीं शती के किसी अन्य बुद्धरक्खित की कृति माना है। गंधवंस में एक और जिनालंकार का उल्लेख किया है जो बुद्धदत्त की कृति है।

२) बुद्धघोष

आचार्य बुद्धघोष एक सफल पालि अट्ठकथाकार थे। वे मूलतः ब्राह्मण कुलीन

थे और बुद्धगया के समीपवर्ती ग्राम के निवासी थे। वर्मी परम्परा के अनुसार इस ग्राम का नाम घोषग्राम था। धर्मानन्द कौशम्बी ने विसुद्धिमग्ग के आधार पर उन्हें दक्षिण के मोरण्ड खेटक का निवासी सिद्ध किया। उनके माता-पिता का नाम केशिनी और केशी था। वे संस्कृत और वेद के मर्मज्ञ थे और पतंजलि व्याकरण के अनुयायी थे। सांख्य-योग के पण्डित थे। रेवत महाथेर के साथ शास्त्रार्थ और उनके व्यक्तिगत उपदेश के प्रभाव से वे बौद्ध भिक्षु बन गये और जिज्ञासुओं की शंकाओं का समाधान करते रहे। बाद में उन्होंने **ज्ञानोदय, अट्ठसालिनी और परित्तट्ठकथा** ग्रन्थ लिखे। सद्धम्मसंघ (पृ. ५३) और महावंस (पृ. २५१) के अनुसार उस समय तक भारत में पालि अट्ठकथाओं का लेखन प्रारम्भ नहीं हुआ था। महेन्द्र ने श्रीलंका में जाकर वहां उनका अनुवाद सिंहल में अवश्य कर दिया था। सासनवंस (पृ. ५३) में महाविहार के संघराज महाथेर और बुद्धदत्त से उसकी भेंट का उल्लेख है और मनोरथपूरणी (भा. ३. पृ. ४०८) में ज्योतिपाल थेर के कांचीपुर तथा श्रीलंका में रहने का विवरण मिलता है। श्रीलंका के राजा महानाम के समय वे श्रीलंका गये थे।

श्रीलंका में पहुंचते ही बुद्धघोष ने **महाविहार** के महाथेर से अपने आने का उद्देश्य बताया। महाथेर ने बुद्धघोष की विद्वत्ता की परीक्षा के लिए निकाय की "**अन्तोजटा बहिजटा...**" वाली एक गाथा की व्याख्या करने का आदेश दिया जिसे उन्होंने थोडे ही समय में पूरा कर दिया। कहा जाता है, इस व्याख्या रूप विसुद्धिमग्ग को शक्र तीन बार उठा ले गया और बुद्धघोष ने उसे तीन बार पुनः पुनः लिखा। समूचा महाविहार उनकी विद्धत्ता से बहुत प्रसन्न हुआ और उनके उद्देश्य की पूर्ति में भरपूर सहयोग दिया। बुद्धघोष ने गंथाकार विहार में रहकर सभी सिंहली अट्ठकथाओं को मागधी (पालि) में परिवर्तित कर दिया मात्र तीन माह में और महाविहारवासियों को अपने संस्कृत भाषा के ज्ञान से भी परिचित कराया। उन्होंने विसुद्धिमग्ग आदि और भी अन्य पालि ग्रन्थों को लिखकर पालिवाङ्मय को समृद्ध किया। विद्वानों ने उनकी तुलना सायण और शीलांक से की है।

कतिपय विद्वानों का यह मन्तव्य है कि बुद्धघोष भारत न लौटकर वर्मा गये जहां उन्होंने कच्चायन पालि व्याकरण का प्रचार किया। पर इसका उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता। यह भी कहा जाता है कि बुद्धघोष ने बौद्ध उपमाओं पर भी वर्मी भाषा में ग्रन्थ लिखा पर इसका भी उल्लेख वर्मी परम्परा में नहीं है। इसके बावजूद बुद्धघोष की प्रसिद्धि वर्मा तक तो निश्चित पहुंच चुकी थी। और उनके दो ग्रन्थों अट्ठसालिनि और विशुद्धिमग्ग से वह परिचित हो गया था। कम्बोडिया परम्परा के अनुसार बुद्धघोष की मृत्यु कम्बोडिया में हुई।

महावंस (३७.२१५-४६) में भी बुद्धघोष के विषय में अच्छा विवरण मिलता है। तदनुसार बुद्धघोष राजा महानाम (५ वीं शती) के समय श्रीलंका पहुंचे थे और रेवत महाथेर से उन्होंने दीक्षा ली थी। पर यह नाम बुद्धघोष के ग्रन्थों में नहीं मिलता। विशुद्धिमग्ग के अनुसार उनका जन्म पाटलिपुत्र में हुआ था। वैदिक धर्म और पातंजलि व्याकरण से वे सुपरिचित थे। गंधवंस और सद्धम्मसंगह के अनुसार बोधगया के पास एक घोषग्राम था। वहां एक पुरोहित परिवार केशी और केशिनी रहता था। उनके पुत्र का नाम था घोष। चमत्कारात्मक ढंग से वर्णन करते हुए महावंस ने बताया कि किस प्रकार रेवत महाथेर ने घोष को दीक्षित किया और उसे अभिधम्म की शिक्षा दी। बाद में अपने पिता को सद्धम्म की ओर आकर्षित किया और श्रीलंका गये जहां मार्ग में बुद्धदत्त से भेंट हुई। संघराज महाथेर के पास जाकर सिंहली अट्ठकथाओं को मात्र तीन भागों में मागधी में परिवर्तित किया। यहीं उन्हें बुद्ध जैसा मानकर 'बुद्धघोष' की संज्ञा दी गई। विसुद्धिमग्ग, परियत्ति आदि ग्रन्थ भी यहीं लिखे गये। बाद में वे भारत आये और बोधगया में उनकी मृत्यु हुई।

थामस फालक और स्मिथ जैसे विद्वानों ने बुद्धघोष को ऐतिहासिक व्यक्तित्व मानने से अस्वीकार कर दिया। फिर भी उन्होंने उन्हें ३०७ई. से ६०७ई. के बीच में रखने का प्रयत्न किया है। कल्याणी शिलालेख के आधार पर कुछ विद्वान बुद्धघोष को १५ वीं शताब्दी में रखते हैं। सच तो यह है कि बुद्धघोष की जीवनी चमत्कारात्मक कथाओं से भर गई है। इसलिए विद्वानों को उसकी तथ्यात्मकता पर सन्देह होने लगा है। पर यह सही नहीं है। बुद्धघोष निश्चित रूप से ऐतिहासिक व्यक्तित्व रहे हैं और उनका समय लगभग पंचम शताब्दी है। गंधवंस भी इसी तिथि को स्वीकार करता है।

बुद्धघोष की ग्रन्थ सम्पदा

आचार्य बुद्धघोष ने बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार और स्थायित्व **(परियत्ति सासन)** के लिए अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। वे यद्यपि बडे विद्वान और अध्येता थे फिर भी उनकी प्रस्तुत कहीं-कहीं अपरिष्कृत दिखाई देती है। बुद्धवंस में बुद्धघोष विरचित ञानोदय का उल्लेख हुआ है। पर अन्यत्र उसका उल्लेख नहीं मिलता। महावंस में ही धम्मसंगणि पर लिखी अट्ठसालिनी का उल्लेख मिलता है, सासनवंस और सद्धम्मसंगह में भी। कदाचित् इसकी रचना गया में हुई और श्रीलंका में उसे परिष्कृत किया गया।

विसुद्धिमग्ग

बुद्धघोष की रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं -

१. ञानोदय (अप्राप्त), २. अट्ठसालिनी - धम्मसंगणि अट्ठकथा, ३. विसुद्धिमग्ग, ४. समन्तपासादिका (विनय पिटक की अट्ठकथा) ५. सुमंगलविलासिनी (दीघनिकाय की अट्ठकथा), ६. पपंचसूदनी (म.नि. अट्ठकथा), ७. सारत्थप्पकासिनी (सं.नि. अट्ठकथा), और ८. मनोरथ पूरणी (अं.नि. अट्ठकथा), ९. कंखावितरणी (पातिमोक्ख अ.क.), १२. परमत्थ जोतिका (सुत्तनिपात तथा खुद्दकपाठ अट्ठकथा), १३. जातक अट्ठकथा वण्णना, १४. अपदान अ.क. १५. संमोह विनोदनी (विभंग अ.क.) १६. पट्ठान पकरण अ.क., १७. धम्मपद अट्ठकथा, १७. पंचप्पकरणअट्ठकथा - धम्मसंगणि और विभंग को छोडकर शेष ५ अभिधम्मग्रन्थों पर अ.क.।

विसुद्धिमग्ग बुद्धघोष की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति है जिसका लेखन मोरण्डखेतक में हुआ। उन्होंने इसमें त्रिपिटक को संक्षिप्तकर प्रस्तुत किया है। इसे हम थेरवाद परम्परा का विश्वकोष कह सकते हैं।

बुद्धघोष ने महायान बौद्धधर्म को **वेदत्तवाद या वेतुल्लवाद** संज्ञा से अभिहित किया है। उसे वहां महाशून्यतावाद भी कहा है। ये अट्ठकथाऐं विषय सामग्री का भण्डार हैं जिनमें कथाएं, लोककथाएं, परम्परा, इतिहास, जीवनी, शब्द, दर्शन आदि सब कुछ हैं। बुद्धघोष ने अन्तिम समय बोधगया में बिताया। बुद्धघोसुप्पत्ति में मरण के तीन भेद बताये हैं - समुच्छेद, खणिक और सम्मुति। समुच्छेद मरण निरोग अवस्था में होता है, खणिक मरण में निर्विचार हुआ जाता है और सम्मुतिमरण प्राकृतिक मरण है। बुद्धघोष का मरण शान्तिपूर्वक हुआ और वे तुषितभवन में उत्पन्न हुए। कम्बोडिया परम्परा के अनुसार बुद्धघोष का मरण वहां के बुद्धघोष-विहार में हुआ था। कल्याणी शिलालेख के अनुसार बुद्धघोष श्रीलंका से थैटन गये। यह थैटन सुवण्णभूमि या थाईलेण्ड था, निश्चित नहीं कहा जा सकता। सुवण्णभूमि में रामञ्ञदेश, मलयपेनिनसुला और कम्बोडिया संमिलित हैं जहां सुवर्ण पाया जाता था। यहां विसुद्धि का अर्थ है निर्वाण और उसकी प्राप्ति का मार्गदर्शक है विसुद्धिमग्ग। इसमें महाविहार की परम्परा का अनुकरण किया गया है। इसकी रचना के समय बुद्धघोष के समक्ष कोई ग्रन्थ रहा होगा इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। विषय की प्रस्तुति सरल और दृष्टान्त युक्त है, उपमाओं और लोककथाओं का उपयोग किया गया है। इसमें भक्ति तत्त्वों का भी समावेश हुआ है, बुद्धपूजा का उल्लेख है और ध्यानजन्य चमत्कारों का भी वर्णन है। नागरक्षा, बकुलभिक्षु की रक्षा, संजीव का जीवित हो जाना आदि ऐसे ही चमत्कार हैं। विसुद्धिमग्ग नृप **महानाम के राज्य (५ वीं शती) में संघपाल** की प्रार्थना पर लिखा गया था (सासनवंस, पृ. ३०) निदानकथा में इसकृति की रचना-पृष्ठभूमि का उल्लेख हुआ है। इस संदर्भ में निम्नलिखित कारिका उल्लेखनीय है जिसमें शील की व्याख्या प्रश्नोत्तरशैली में की गयी है -

अन्तो जटा बहिजटा, जटाय जटिता पजा।
तं तं गोतम पुच्छामि, को इमं विजटये जटं।

इसका उत्तर निम्नलिखित गाथा में दिया गया है।

सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो, चित्तं पञ्ञं च भावयं ।
आतापी निपको भिक्खु, सो इमं विजयटये जटं ।।

वि.म. पृ. २

यही गाथा इसी ग्रन्थ के अन्त में पुनरावृत्त हुई है और अन्य अट्ठकथाओं में भी समाहित है। इसे योग का परिणाम भी कहा जा सकता है। कहा जाता है, अनुराधापुर के महाविहार में पहुंचकर बुद्धघोष ने भिक्षुओं के समय अपना उद्देश्य बताया और कहा कि वे सिंहल अट्ठकथाओं को पालि में परिवर्तित करना चाहते हैं। उनके परीक्षण के निमित्त उन्होंने उपर्युक्त दो गाथाओं को बुद्धघोष के समक्ष रखा। एक में प्रश्न है और दूसरे में उसका उत्तर है। बुद्धघोष ने त्रिपिटक और अट्ठकथाओं का अध्ययन कर इन दोनों गाथाओं की व्याख्या के रूप में विसुद्धिमग्ग की रचना की। इसमें सील, समाधि और पञ्ञा को मार्ग के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इन गाथाओं का उल्लेख पंच निकायों और अट्ठकथाओं में भी मिलता है। पेटकोपदेस, मिलिन्दपञ्ह और अनागतवंस से भी सामग्री एकत्रित की गई है। अभिधम्म की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ उपयोगी है। इसकी वसुबन्धु के अभिधर्मकोश से तुलना की जा सकती है जिन्होंने उसकी रचना के लिए धर्मामृत के संयुक्त अभिधर्महृदयशास्त्र का उपयोग किया था।

विसुद्धिमग्ग और विमुत्तिमग्ग

विसुद्धिमग्ग की तुलना

Frauwallner ने विसुद्धिमग्ग की तुलना अभयगिरि विहारवासी उपतिस्स (लगभग चतुर्थ शती) के विमुत्तिमग्ग से की है-

	विसुद्धिमग्ग (२३ अध्याय)	विमुत्तिमग्ग (१२ अध्याय)
१.	निदानकथा	निदान
२.	सील धुतांग	सील परिच्छेद
३.	कम्मट्ठानगहण	धुतांग
४.	पठविकसिण	कल्याणमित्त
५.	सेसकसिण	भावनापरिच्छेद

६.	असुभकम्मट्ठान	कम्मट्ठान परिच्छेद
७.	छ. अनुस्सति	कम्मट्ठान या भावनामुख
८.	अनुस्सति कम्मट्ठान	
९.	ब्रह्मविहार	
१०.	अरुप्प	
११.	समाधि	
१२.	इद्धिविध	९. पंच अभिञ्ञा
१३.	अभिञ्ञा	
१४.	खन्ध	१०. पञ्ञा परिच्छेद
१५.	आयतन धातु	११. पंच उपाय
१६.	इन्द्रिय सच्च	
१७.	पञ्ञा भूमि	
१८.	दिट्ठिविसुद्धि	
१९.	कंखावितरण विसुद्धि	१२. सच्च परिच्छेद
२०.	मग्गामग्गञाण दस्सनविसुद्धि	
२१.	पटिपदाञाण दस्सनविसुद्धि	
२२.	ञाणदस्सन विसुद्धि	
२३.	पञ्ञाभावनानिसंस	

विमुत्तिमग्ग

विमुत्तिमग्ग के सन्दर्भ में कहा जाता है कि इसके मूल लेखक थे अरह उपतिस्स जिन्हें तथागत बुद्ध के प्रिय शिष्य सारिपुत्त के रूप में पहचाना जाता है। इसका अनुवाद कम्बोडियन भिक्खु संघपाल ने चीन में रहकर ५०५ ई. में किया। वे गुणभद्र के शिष्य थे जो महायानी भिक्षु थे। उनकी मृत्यु ६५ वर्ष की अवस्था में ५२० ई. में हुई। संघपाल बुद्धघोष से पूर्ववर्ती हैं।

समन्तपासादिका में अशोकपुत्र से लेकर शिव तक एक भिक्षुओं की सूची में उपतिस्स का नाम आता है जो विनयपिटक में निष्णात था। उसके दो शिष्य थे महासुमत थेर और महापदुमतथेर। संघपाल का स्थान संघ में बहुत था। शव के सन्दर्भ में उन्हीं से पूछा गया था कि वहां थुल्लच्चय दोष होगा या पाराजिक। समन्तपासादिका के अनुसार संघपाल संघनायक था। समन्तपासादिका का चीनी अनुवाद संघभद्र ने ४८८ ई. में किया था राजा वसभ के राज्यकाल में (६६ ई.)। उपतिस्स का समय भी यही है। विमुत्तिमग्ग और विसुद्धिमग्ग के विषय की तुलना भी कई है।

डॉ. वापट के अनुसार दोनों ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि वे शील, समाधि और प्रज्ञा का विश्लेषण समान रूप से कर रहे हैं पर कहीं कहीं विचारों में मतभेद भी है। इसके बावजूद विसुद्धिमग्ग में जो विषय का विस्तार और स्पष्टीकरण मिलता है वह विमुत्तिमग्ग में नहीं है। उसमें अभिधम्म पिटक से भी भरपूर सामग्री ली गई है, भले ही यहां प्रारंभ में मातिका न देकर पद्य दिया गया हो। धम्मपाल ने इसकी तथ्यसंगति बताते हुए कहा कि यह न अट्ठकथा है, न प्रकरण है, बल्कि दोनों के मध्य का ग्रन्थ है। निगमन में भी इसका संकेत हुआ है।प्रज्ञा वाले प्रकरण पर पटिसंभिदामग्ग की ञाणकथा का प्रभाव है। विमुत्तिमग्ग में थेरवादी परम्परा का परीक्षण नहीं मिलता, अतः उसे विसुद्धिमग्ग का पूर्ववर्ती ग्रन्थ कहा जा सकता है। विमुत्तिमग्ग विसुद्धिमग्ग से लगभग १०० वर्ष पहले का लिखा ग्रन्थ होना चाहिए। विसुद्धिमग्ग, वस्तुतः बौद्ध ज्ञानकोश है उसमें शील, समाधि, ध्यान, आर्य सत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि सब कुछ है। सुमंगल विलासिनी के अनुसार उसमें सीलकथा, धातुधम्म, कम्मट्ठान, चरियविधान, ध्यान, समापत्ति, अभिञ्ञा, पञ्ञा, खन्ध, धातु, आयतन, इन्द्रिय, चत्तारि अरियसच्चानि, पच्चयाकार, नय, मग्ग, विपस्सनाभावना आदि का विवेचन है (पृ. ७२)। सासनवंसदीपनी उसके कुशल-अकुशल, अव्याकत धम्म, आयतन, धातु, सतिपट्ठान, कम्म, पकति आदि विषय विवेचन का उल्लेख करती है (पृ. ३०-३१)। यह ग्रन्थ वस्तुतः बौद्ध विद्या के विद्वान के लिए है, साधारण पाठक के लिए नहीं। उसकी भाषा और विषय कठिन है, दुर्बोध है। पातंजल योगदर्शन से भी अधिक व्यवस्थित और विस्तृत है। इसकी रचना 'साधुजनपामुज्जत्थाय' हुई है।

विसुद्धिमार्ग प्राप्त करने के उपाय की तीन भूमियां हैं - शील, समाधि और प्रज्ञा। ये धर्मस्कन्ध हैं। प्रथम दो परिच्छेदों में इनका वर्णन हुआ है। ३-१३ परिच्छेदों में समाधि का और १४-२३ परिच्छेदों में प्रज्ञा का निरूपण है। निदानकथा में शील के लक्षण, भेद आदि का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में तेरह प्रकार के धुतांगों का वर्णन है जिन्हें हम तपश्चर्या का प्रारूप कह सकते हैं। राग-द्वेष-मोह को दूर करने के लिए इनका पालन करना आवश्यक है। यहां समाधि का लक्षण है - **कुसलचित्तेकग्गत्ता**। इसके दो भेद हैं - उपचार समाधि और अर्पणा समाधि।

तृतीय अध्याय से समाधि का विवेचन प्रारम्भ होता है। उसमें कर्मस्थानों (समाधि के आलम्बनों) का वर्णन है। समाधि की दस बाधाओं और उसके अयोग्य १८ स्थानों का निर्देश है। आगे अनुस्मृति, ब्रह्मविहार, ऋद्धिविध, अभिज्ञा आदि का वर्णन है। प्रज्ञा की विवेचना १४-२३ अध्याय तक है। प्रज्ञा का लक्षण है - **कुसलचित्तसम्पयुत्तं** विपस्सनाञाणं पञ्ञा। इसमें पंचस्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय, मार्ग-अमार्ग का ज्ञान, प्रतिपदा ज्ञान आदि का विवेचन हुआ है।

विसुद्धिमग्ग में पटिसंभिदानमग्ग का उल्लेख करते हुए शील के चार भाग कर दिये - चेतनासीलं, चेतसिका सीलं, संवर सीलं और अवीतिकम्मो सीलं। सील के पालन से अकुशल कर्मों का विनाश होता है और मन शान्त होता है। शील सभी कुशलकर्मों का आधार है। शील, चित्त और प्रज्ञा की विशुद्धि से ही निर्वाण प्राप्त होता है। यहां शील के १४ प्रकारों का वर्णन हुआ है। संक्षेप में शील के दो भेद हैं - चरित्तसील एवं वारित्तसील। यहीं पंचशीलादि का वर्णन मिलता है।

धुतांगों का सम्बन्ध तप से है। यहां समाधि, अनुस्सत्ति, भावना, ऋद्धि, अभिञ्ञा आदि का विवेचन करते हुए प्रज्ञा की अवधारणा को स्पष्ट किया है। रूप, वेदना, संज्ञा, संसार, आयतन, इन्द्रिय, सच्च, दुक्ख, पटिच्चसमुप्पाद, नाम-रूप आदि में वेदना, संज्ञा और संस्कार नाम हैं क्योंकि वे सदा पदार्थ को देखते हैं और रूप महाभूतों का परिणाम है। नाम रूप के भेद गिनाते हुए बुद्धघोष ने रूप के दो भेद किये हैं - भूतरूप और उपादायरूप। मग्गामग्गञाणदस्सनविसुद्धि को स्पष्ट करते हुए फस्स, वेदना, संखार, विञ्ञाण, कम्म, उपेक्खा, समाधि, निर्वाण आदि का भी विस्तृत विवेचन किया है।

इस तरह विशुद्धिमार्ग बौद्धधर्म का कोश है। इसका संक्षिप्त विवेचन भी सरल नहीं है। यह उल्लेखनीय है कि बुद्धघोष ने महातिस्स थेर का उल्लेख किया है जो चेतियपब्बत से अनुराधापुर भिक्षा के निमित्त आया करते थे। एक नाग थेर थे जो करलियगिरि पर रहते थे और धातुकथा पर उपदेश देते थे। एक चूडामय थेर थे जो त्रिपिटक और अट्ठकथाओं के अच्छे ज्ञाता थे। यहां अनुराधापुर का भी नाम अनेक बार आया है।

इस पर **विसुद्धिमग्ग महाटीका, विसुद्धिमग्गचुल्लटीका, विसुद्धिमग्ग-गंथिपद** जैसी अनेक टीकाएं लिखी गई हैं। इसकी प्रशस्ति के अनुसार विसुद्धिमग्ग पंचनिकायों का सार है। इसका चीनी और तिब्बती अनुवाद भी हुआ है। इसमें प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं का भी उपयोग हुआ है (पृ. १८०, ३२-१८०)। विमुत्तिमग्ग के रचयिता उपतिस्स का भी उल्लेख यहां हुआ है (पृ. २५७)। "**अतिप्पिय सहायो.. यो अट्ठकथायं सोण्डसहायोतिवुत्तो**" जैसे कथन में यह तथ्य स्पष्ट दिखाई देता है (पृ. ३१६)।

तिब्बती अनुवाद में विमुत्तिमग्ग के तृतीय अध्याय का अनुवाद **विमुक्तिमार्गधुतगुण निर्देश** नाम से हुआ है। १९५८ में सिंहल में भी विमुत्तिमग्ग नाम से उसका प्रकाशन हुआ था। वहां **अमताकरवण्णना** नामक उसपर ११३५ की लिखी टीका भी उपलब्ध है। इसका सिंहली अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है।

समन्तपासादिका

समन्तपासादिका बुद्धघोष की विनयपिटकीय अट्ठकथा है। प्रारंभ में उन्होंने महा अट्ठकथा, महापच्चरी, कुरुण्दी, पोराणाचार्य आदि का उल्लेख किया है जहां से उन्होंने सामग्री संग्रहीत की है। बुद्धश्री की प्रार्थना पर यह अट्ठकथा लिखी गई। सर्वप्रथम बुद्धघोष ने विनयपिटक पर यह अट्ठकथा लिखी, धम्म पर नहीं क्योंकि उनकी दृष्टि में विनय बौद्धधर्म का आधार है। यह लेखन महामेघवनोद्यान में उन्होंने महानाम या तिरिविलास राजा के राजकाल में ४२९-४३० ई. में की। इसमें विनय के साथ ही तत्कालीन भारतीय इतिहास, दर्शन और संस्कृति से संबद्ध सामग्री भरी पडी है।

इस अट्ठकथा में **कुरुन्दी, महाअट्ठकथा, महापच्चरी, अन्धक अट्ठकथा, संखेय अट्ठकथा और पच्चरी** नामक सिंहल अट्ठकथाओं से उद्धरण दिये गये हैं। वज्रबुद्धि का नाम भी इससे जुडा हुआ है। १२वीं शती तक इन अट्ठकथाओं का अस्तित्व था। बहिरनिदानवण्णना तक इनका विस्तृत वर्णन मिलता है। अपुव्वपदवण्णना में विशेष पदों का स्पष्टीकरण किया गया है। पाराजिकों का वर्णन अधिक विस्तार से हुआ है। छोटी दीक्षा को पब्बज्जा और बडी दीक्षा को उपसम्पदा कहा जाता है। चार पाराजिकों का वर्णन है जिन्हें विनय में 'मेथुनधम्म' संज्ञा दी गई है। संघादिसेस का वर्णन लगभग हर भाग में है।

इन अट्ठकथाओं में **पकिण्णक** शब्द का प्रयोग हुआ है जिनमें उनके समुट्ठान (उद्भव) की चर्चा की गई है। इसी तरह **'पालि मुत्तक'** शब्द का सम्बन्ध 'पालित्रिपिटक से बाहर' से है। वरंजकण्ड में धम्म का विस्तृत वर्णन करने के बावजूद पाराजिक अट्ठकथा में यौगिक अभ्यास पर चर्चा की गई है। पाचित्तिय की भी व्याख्या गहराई से हुई है।

समन्तपासादिका की **विषय सूची** संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है - १. बौद्ध संगीति के आहूत के कारण, २. संगीति के सदस्यों का चुनाव, ३. आनन्द के बिना संगीति का न हो पाना, ४. संगीति का स्थान, ५. गन्धकुटी का क्या किया आनन्द ने ? ६. १८ महाविहार, ७. संगीति के लिए वृहदाकार मण्डप का निर्माण ८. बुद्ध के आदि - अन्त वचनों का पारायण, ९. विनय, सुत्त, अभिधम्म के रूप में पिटक का विभाजन, १०. विनय को कैसे तृतीय संगीति तक पहुंचाया, ११. मोग्गलि का जीवन सार, १२. अशोक का विवरण, १३. अशोक द्वारा उपदेशकों का बाहर भेजा जाना, १४. पीतिसुख और ध्यान पर चर्चा, १५. वज्जिभूमि और वज्जिपुत्तक का महत्त्व १६. गर्भधारण के विविध प्रकार, १७. वैशाली में महावन, १८. भरुकच्छ का महत्त्व, १९. वैशाली के महावन में कूटागारशाला, २०. कम्मट्ठान, सति, समाधि आदि का विवेचन।

समन्तपासादिका में पाटलिपुत्र का उल्लेख इस रूप में हुआ है कि धम्माशोक यहां जन्म लेगा। भद्दवग्गिय भिक्षुओं की यहां प्रशंसा की गई है। समन्तपासादिका में तीन प्रकार के सद्धम्म का वर्णन मिलता है - १. परियत्तिसद्धम्म, २. पटिपत्ति सद्धम्म, और ३. अधिगम सद्धम्म। यहां चार प्रकार के गुलामों की चर्चा हुई है - १. परिवारजन्य, २. क्रयजन्य, ३. अरिजन्य, और ४. स्वजन्य। इसी प्रकार छह प्रकार की गर्भधारण क्रियाओं का वर्णन हुआ है - १. संभोगजन्य, २. गुप्तांग को वस्त्राच्छादित कर योनि में रखना, ३. मासिककाल में पुरुष मूत्र का का पान करना, ४. मासिककाल में योनि का स्पर्श करना, ५. मासिककाल में पुरुष के ऊपर लेटना और ६. गाय के समान योनि को सूंघना। रथ प्रकारों और मुद्रा प्रकारों की भी चर्चा हुई है। बुद्ध जीवनी, ऐतिहासिक व्यक्तित्व और भौगोलिक स्थानों का भी विवरण मिलता है। इसका अनुवाद चीनी भाषा में प्रथम बार सन् ४८९ ई. में हुआ था। इस पर **वज्रबुद्धिटीका, सारत्थदीपनी, समन्तपासादिका, अत्थयोजना अनुटीकाएं मिलती हैं।**

कंखावितरणी

कंखावितरणी सोणथेर के अनुरोध पर **पातिमोक्ख** पर लिखी अट्ठकथा है लगभग ४१० ई. में। उत्तरकालीन विकसित विनय नियमों की रूपरेखा इसमें मिल जाती है। कदाचित् सोण नामक भिक्षु की प्रार्थना पर इसकी रचना हुई थी। बुद्धघोष की सशक्त लेखनी का दर्शन यहां होता है।

कंखावितरणी पर कंखावितरणी पोराणटीका, विनयत्थ मंजूसा, कंखावितरणी अट्ठयोजना महाटीका भी मिलती हैं। इस अट्ठकथा में **सीहलमातिकाट्ठकथा** का उल्लेख हुआ है। सैद्धान्तिक विवरण यहां कम मिलता है। समन्तपासादिका में पाराजिक को **'मनुस्स विग्गह'** कहा गया है जबकि कंखा वितरणी, में उसे **'जीवितवरोपनवत्थु'** की संज्ञा दी गई है। भिक्खु, उपसंपदा, सीमा, कठिन चीवर आदि शब्दों की भी अच्छी व्याख्या हुई है। विनय नियमों की व्याख्या के समय **कप्पियभूमिकथा** का भी उल्लेख हुआ है।

सुमंगलविलासिनी

संघथेर या दाठानाग नामक भिक्षु की प्रार्थना पर लिखी गई यह **दीघनिकाय अट्ठकथा** अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इस पर दो अनुटीकाएं मिलती हैं- **लीनत्थप्पकासिनी और साधुजन विलासिनी**। इसके प्रारम्भ में संघत्थेर, दाठनाग, भदन्त बुद्धमित्र, जोतिपाल, जीवक आदि थेरों का नामोल्लेख है। जोतिपाल से बुद्धघोष की भेंट कांची में हुई थी। इससे यह स्पष्ट है कि बुद्धघोष का सम्बन्ध दक्षिण से रहा है।

सुमंगलविलासिनी का नाम सुमंगल परिवेण के आधार पर है जहां बुद्धघोष रहते थे। इसमें विसुद्धिमग्ग को उद्धृत किया गया है। यहां सुत्तन्त का तात्पर्य बुद्धवचन है (सु.वि. ५६६)। माणवो ति सत्तो पि चोरो पि तरुणो पि (सु.वि. ३६.६) पालि कोश की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। आगे अत्थरणं, पच्चत्थरणं (सु.वि. ८६, २५-२८) के उल्लेख यह व्यक्त करते हैं कि बुद्धघोष के समय कीमती कम्बलों का प्रयोग संघ में होने लगा था। बोधि परिच्छेद में बुद्ध की जीवनी पर प्रकाश डाला गया है। "**एवं एतं भूतपुब्बंति**" (सु.वि. ६१५,१४) का सम्बन्ध तृतीय संगीति से है और '**तम्बपण्णित्थेरेहि**' का तात्पर्य श्रीलंका के पुराणाचार्यों से है।

इसके तीन भाग हैं - १. सीलक्खंध, २. महावग्ग और ३. पाटिकवग्ग। इसमें इतिहास, परम्परा, संस्कृति, भूगोल, दर्शन, समाज आदि का विवरण मिलता है। बुद्धघोष ने प्रारम्भ में ही इसकी विशेषताओं का आकलन किया है। इसमें बुद्ध द्वारा प्रोक्त दीर्घ सुत्तों पर लिखित अट्ठकथा महाविहार परम्परा पर आधारित है। यहां उल्लिखित भिक्षु की दैनिक चर्या के अनुसार वह ब्रह्ममुहूर्त में उठकर अपने विहार और बोधिवृक्ष को साफ करे, जलपात्र भरे, पौधों का सिंचन करे, गुरु सेवा करे, स्नान कर आवास पर कम्मट्ठानों पर चिन्तर करे, भिक्षापात्र लेकर ग्रामांचल में भिक्षार्थ जाये और जनसमुदाय को उपदेश देकर विहार वापिस हो जाये। भोजन के उपरान्त गन्धकुटी में जाकर विश्राम करे, उपदेश दे, ध्यानकरे, चमत्कार प्रदर्शन करे। रात्रि के प्रथम द्वितीय प्रहर में उपदेश दे। यहीं **तथागत के आठ अर्थ** दिये हैं जिनमें एक अर्थ तथा का तथ्य है - १. विपस्सिन, सिखि आदि पूर्व बुद्धों के अनुसार बोधि प्राप्त करना, २. उन्हीं के अनुसार जन्म-मरण समाप्त करना, ३. बुद्ध की विशेषताओं को प्राप्त करना, ४. पटिच्च समुप्पाद के सत्य को समझना, ५. स्वयं सत्य रूप होना, ६. सत्य का उपदेश देना, ७. सत्यात्मक कार्य करना और ८. शील, समाधि, प्रज्ञा और विमुत्ति से प्रत्येक पदार्थ पर विजय पाना। अन्यत्र तथागत शब्द का अर्थ **सत्तो** भी है जो आत्मवाची है अतः अव्याकृत प्रश्नों में तथागत का अर्थ आत्मा होना चाहिए। तथागत बुद्ध की जीवनी का भी उल्लेख यहां है। दस पारमिताओं की प्राप्ति होने पर बुद्ध ने अनोमा नदी के किनारे २९ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली, छह वर्ष कठोर तपस्या की, उरुवेला में सुजाता से भिक्षा ग्रहण की, बोधिवृक्ष के नीचे ध्यान किया , मारविजय की, प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान प्राप्त कर बोधि प्राप्त की। बाद में योग्य व्यक्तियों को अपने संघ में दीक्षित किया - आलवक, अंगुलिमाल, महाकप्पिन आदि। इसके लिए वे लम्बी यात्रा भी किया करते थे। जीवक कोमारभच्च, तिस्समणेर, पोक्खरसाति, अम्बट्ठ के उदाहरण भी इसी सन्दर्भ में दिये गये हैं।

बुद्ध परिनिर्वाण के बाद का दृश्य भी यहां अंकित है। आनन्द का दुःखी होना, जेतवन में भिक्षुओं को छोडकर राजगृह जाना, अजातशत्रु से १८ विहारों के जीर्णोद्धार

करने का आग्रह करना, वैभारपर्वत के पास पण्डाल बनवाना, प्रथम संगीति की व्यवस्था करना, आनन्द की अर्हत् प्राप्ति, महाकश्यप की अध्यक्षता, विनय प्रश्नों के लिए उपालि की नियुक्ति, दीघनिकाय की प्रस्तुति आदि। सुमंगलविलासिनी में सुत्तों के चार भेद किये गये हैं - **अनज्झासयो, परज्झासयो, पुच्छावसिको और अत्थुप्पतिको।**

सुमंगलविलासिनी भौगोलिक और राजनीतिक विवरण की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। इसमें अंग, दक्षिणापथ, घोषिताराम, कोशल, राजगृह आदि देशों और नगरों का वर्णन है। गंगा का दक्षिणवर्ती भाग दक्षिणापथ कहा जाता था। तत्कालीन क्रीडाओं, मुद्राओं, पुथुज्जनों, अजातशत्रु, देवदत्त आदि के उल्लेख हैं। ब्रह्मदत्त, सुप्पिय परिव्राजक का धर्मपरिवर्तन, षड्तीर्थंकरों का वर्णन आदि भी विस्तार से दिया गया है।

पपंचसूदनी

पपंचसूदनी मज्झिमनिकाय की अट्ठकथा है जिसकी रचना बुद्धमित्तथेर की प्रार्थना पर हुई थी। सुमंगलविलासिनी की शैली में लिखी यह अट्ठकथा इतिहास, भूगोल, दर्शन, धर्म आदि दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसके तीन भाग हैं - **मूलपंञास, मज्झिमपंञास और उपरिपंञास**। इसमें चार सुत्तनिक्षेप, बलबोज्झंग, धम्मचक्क, निब्बाण, पृथ्वी, तथागत अभिसंबुद्ध, मिथ्यादृष्टि, दुःख आदि का विवेचन है। सम्मुतिदेसना और परमत्थदेसना के आधार पर आचार्य ने अनिच्च, दुक्ख, अनत्त, खन्ध, धातु, आयतन, सतिपट्ठान आदि को स्पष्ट किया है।

पपंचसूदनी में दमिलभाषा और आन्ध्रभाषा का उल्लेख है, वृक्षपूजा का भी। कृषि और गायपालन मुख्य व्यापार था। दवाओं में घी, नवनीत, तेल, मधु और फाणित की गणना की गई। तीन प्रकार के देव हैं - **सम्मति, उपपत्ति, और विसुद्धिदेव**। यहां बुद्ध की जीवनी का भी उल्लेख है। पंचशीलों का वर्णन है, दस प्रकार की विवाहिता और अविवाहिता नारियों का वर्णन है। षड्तीर्थिकों की तथा और भी बहुत कुछ सांस्कृतिक सामग्री है।

सारत्थप्पकासिनी

बुद्धघोष ने सारत्थप्पकासिनी की रचना जोतिपाल थेर की प्रार्थना पर की। **संयुत्तनिकाय** पर यह अट्ठकथा लिखी गई है। इसमें जेतवन (श्रावस्ती) का विस्तृत वर्णन है जिसे अनाथपिण्डिक ने अपार सम्पत्ति देकर खरीदा था और उसे संघ के लिए अर्पित कर दिया था। बुद्ध यहीं रहते थे और श्रावस्ती में भिक्षा लेने जाते थे। चार प्रकार के

बुद्ध होते हैं - सब्बञ्ञुबुद्ध, पच्चेकबुद्ध, चतुसच्चबुद्ध और सुतबुद्ध। यहां चार प्रकार के **ओघ** (बाढ) की चर्चा है - काम, दिट्ठि, भव और अविज्जा ओघ। **सद्धम्म** की व्याख्या में दस शीलों का परिपालन है। शाक्य और कोलियों में रोहिणी नदी के पानी पर टकराव का उल्लेख है। धनंजय सेठ, मिगारमाता, किसागोतमी, राजगृह, षडतीर्थिक, आम्रपाली आदि का विवरण है।

मनोरथपूरणी

बुद्धघोष ने मनोरथपूरणी भदन्त थेर की प्रार्थना पर लिखी थी। यह **अंगुत्तरनिकाय** की अट्ठकथ है। इसमें लगभग १०० कथायें हैं जिनमें से कुछ कथाएं महाप्रजापति गोतमी, खेमा उप्पलवण्णा, किसा गोतमी, पटाचारा आदि भिक्षुणियों से संबद्ध हैं। इसमें अञ्ञकोण्डञ्ञ, सारिपुत्त, मोग्गल्लान, महाकस्सप, अनुरुद्ध, भद्दिय, पिण्डोलभारद्वाज, पुण्ण मन्तानिपुत्त, महाकच्चान, चुल्ल महापन्थक, सुभूति, रेवत, कंखारेवत, सोणकोलिविस, सोणकुटिकणा, सीवलि बक्कलि, राहुल रट्ठपाल, कुण्डधान, बंगीस, उपसेन, दब्ब, पिलिन्दवच्छ, बाहिय, दारुचीरिय, कुमारकस्सप, महाकोट्ठित, आनन्द, उरुवेल कस्सप, कालुदायी, बक्कुल, सोमित, उपालि, नन्द, नन्दक, महाकप्पिन, सागत, राधा और मोघराज का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त धम्मदिन्ना, नन्दा सोणा, सकुला, भद्दाकुण्डलकेशी, भद्दाकापिलानी, भद्दाकच्चाना, सीगालकमाता, तपस्सु, भल्लिका, सुदत्त गहपति, चित्तगहपति, हत्थक, महानामा, सक्क, उग्गगहपति, सूर, जीवक कुमारमच्च, नकुलपिता गहपति, सुजाता, सेननिधीता, विसाखा मिगारमाता, खुज्जुत्तरा, सामावती, उत्तरा, नन्दमाता, सुप्पवासा, कोलियधिता, सुप्पिया, कातियानी, नकुलमाता, गहपतानी और कालिउपासिका का भी विवरण मिलता है।

बुद्धत्व प्राप्ति के बाद तथागत बुद्ध द्वारा किये गये ४५ वर्षावासों का विस्तृत विवरण इस ग्रन्थ में दिया गया है। ये स्थल हैं - १) ऋषिपत्तन मृगदाव २-४) राजगृह, ५) वैशाली, ६) मंकुल पर्वत, ७) त्रायस्त्रिंश, ८) सुंसुमारगिरि, ९) कौशाम्बी, १०) पारिलेय्यक, ११) नाला, १२) वेरंजा, १३) चालिय पर्वत, १४) श्रावस्ती (जेतवन), १५) कपिलवस्तु १६) आलवी १७) राजगृह, १९) चालिम पर्वत, २०) राजगृह, २१-४५) श्रावस्ती (जेतवन और पूर्वाराम में वैकल्पिक रूप से), ४६) वैशाली के समीप वेलुव या वेलुव गांव)।

खुद्दकनिकाय अट्ठकथा - परमत्थजोतिका

बुद्धघोष ने खुद्दकनिकाय के तीन ग्रन्थों पर अट्ठकथाएं लिखी हैं - **खुद्दकपाठ**,

धम्मपद और सुत्तनिपात। खुद्दकपाठ और सुत्तनिपात की अट्ठकथाओं की संयुक्त संज्ञा है परमत्थजोतिका जो गद्यबद्ध है। ये ग्रन्थ किसी व्यक्ति की प्रार्थना पर नहीं लिखे गये। महाविहार का भी उल्लेख इनमें नहीं है। खुद्दकनिकाय की अट्ठकथा के प्रारंभ में कहा है - "अट्ठकथा जैसे दुष्कर कार्य को पूरा करने का प्रयत्न करुंगा" पर प्रशस्ति में स्वयं को बौद्धधर्म के मर्मज्ञ होने की बात कही गई। फिर संपूर्ण 'रतनसुत्त' की व्याख्या की गई।

सुमंगल विलासिनी में **सुत्तनिक्खेप** का प्रयोग हुआ है जबकि यहां अत्थुप्पत्ति और निक्खेपप्पयोजना शब्द का प्रयोग हुआ है। **विसुद्धिमग्ग** का भी कोई उल्लेख नहीं है। **तिरोकुड्ड** (प. जो. २०१, १०-२१६) का उल्लेख धम्मपाल की पेतवत्थु अट्ठकथा में मिलता है (१९, २१-३१)।

बी.सी. ला जैसे कतिपय विद्वानों ने परमत्थजोतिका को आचार्य बुद्धघोष की कृति न कहकर किसी अन्य बुद्धघोष की कृति बताई है। पर यह सही नहीं लगता। परमत्थजोतिका में जिस विद्वत्ता के साथ व्याख्या के दर्शन होते हैं उससे लगता है कि यह कृति अट्ठकथाकार बुद्धघोष की ही होनी चाहिए। इसमें प्राचीन भारत का धार्मिक और राजनीतिक इतिहास भरा हुआ है। यहां जेतवन में अनाथपिण्डिक की कुटी, कपिलवत्थु, राजगृह के १८ विहार, सत्तपण्णिगुफा, वैशाली, मगध, गयाशीर्ष, गंगा, बिम्बिसार, लिच्छवि, महाकश्यप, आनन्द, महोगाविन्द, विशाखा, धम्मदिन्ना, मल्लिका आदि का वर्णन मिलता है। परमत्थजोतिका पर **परमत्थजोतिका दीपनी** नामक टीका भी उपलब्ध है। पपंचसूदनी का उल्लेख **'एवं मे सुतं'** की व्याख्याकाल में हुआ है।

सुत्तनिपात अट्ठकथा में राग, तण्हा, मान, दोस, मोह, अनुसय, अकुसलमूल, सति, ब्रह्मलोक, उपोसथ, संकप्प, पमाद, झान, धम्म, गंभीरपञ्ञा, मुसावाद, पाणातिपात, उपाधि आदि की सुन्दर व्याख्या की गई है। धनिय के संदर्भ में 'निवुत्त' की भी व्याख्या हुई है। खग्गविसाणसुत्त के संदर्भ में तीन प्रकार के **नाटकों** का उल्लेख है। गन्धमादत, चंदगब्भ, वाराणसी, मगध, सावत्थी, सुन्दरीपरिव्राजक, कोशल, नेरंजरा श्रेणिय बिम्बिसार, पसेनदि, मंधाता, महागोविन्द आदि का विस्तृत वर्णन है। यहां वाराणसी के एक सारथी का वर्णन है जो ५०० गाडियां लेकर व्यापारार्थ विदेश गया। एक लालुदायि परिव्राजक की कथा है जो जगह-जगह भटकते हुए अन्त में बौद्धधर्म ग्रहण कर लेता है। यहीं श्रावस्ती के एक समृद्ध उपासक का उल्लेख है जिसने पसेनदि को ऋण दिया था। लिच्छवियों के उद्भव की चर्चा है और मेत्तासुत्त की पृष्ठभूमि भी।

धम्मपदट्ठकथा

बुद्धघोष ने यह धम्मपद अट्ठकथा कुमार कस्यप भिक्षु की प्रार्थना पर लिखी थी। इस पर **वरसंबोधि की धम्मपदटीका, सुमंगल की सिंहल धम्मपिया अट्ठवा गद्य पद्य टीका उपलब्ध है। कुमारकस्सप ने भी धम्मपदस्स अट्ठुववण्णना** नामक टीका लिखी है। इसमें ४२३ के स्थान पर २९९ पद्य है। यह ग्रन्थ वत्थु (विषय) में विभक्त है जिनका विशेष उपयोग इन पद्यों को स्पष्ट करने में हुआ है। इसकी ६० कथाएं जातककथाओं से मिलती जुलती हैं जिनका उल्लेख भी यहां मिलता है । गद्य-पद्य को संयुक्त करने के लिए 'अनुसन्धि' शब्द का प्रयोग हुआ है। धम्मपद अट्ठकथा का सम्बन्ध श्रीलंका से है क्योंकि यहां अनुराधापुर के दक्षिणवर्ती ग्राम भोक्कंत का उल्लेख हआ है। धम्मपद के पद्यों की व्याख्या में प्राचीन कथाओं का उपयोग नहीं हुआ। धम्मपद का उपयोग जातकों को स्पष्ट करने में हुआ है।

कतिपय विद्वान इसे बुद्धघोषकृत नहीं मानते विषयवस्तु की भिन्नता के कारण। पर यह सही नहीं लगता। पुष्पिका में स्पष्टरूप से इसे बुद्धघोषकृत माना गया है। उन्होंने इसे सिरिनिवास (महानाम) के राज्यकाल में महाविहार के गन्थकार परिवेण में लिखा था। जातकट्ठकथा से इसकी अधिक समानता दिखाई देती है। इसमें उसकी लोककथाओं का समावेश है। **सद्धम्मरत्नावली** के नाम से १३वीं शती में धम्मपदट्ठकथा का सिंहल अनुवाद हुआ था जिसमें लेखक ने उसकी लगभग सभी कथाओं का उपयोग किया। शैली में भिन्नता विषय की भिन्नता के कारण है, लेखक की भिन्नता के कारण नहीं। बुद्धघोष ने महा अट्ठकथा, पच्चरी और कुरुन्दी का पालि अनुवाद किया है इसलिए घोषक सौदागर जैसी कतिपय कथाओं में पारस्परिक वैविध्य हो सकता है। इसके लिए बुद्धघोष को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। इसका चीनी अनुवाद २२३ ई. में हुआ था।

इस अट्ठकथा में ४२३ धम्मपद गाथाओं की व्याख्या कथाओं के साथ की गई है। इन कथाओं के आठ विभाग हैं **वत्थु** के नाम से - १) गाथा, २) कथा से संबद्ध व्यक्ति, ३) कथा का वर्तमान से संबन्ध-पच्चुप्पन्न वत्थु, ४) समर्थक गाथाएं, ५) शब्दशः अनुवाद, ६. श्रोता को आध्यात्मिकता का लाभ, ७. पूर्वजन्म कथा, और ८. उसका वर्तमान जन्म से सम्बन्ध। जातक कथाओं के भी लगभग ऐसे ही विभाग मिलते हैं। ये कथाएं भारतीय सांस्कृतिक तत्त्वों से आपूर हैं। इसमें पशु-पिक्षियों की भी कथाएं हैं। विशाखा, पटाचारा आदि भिक्षुणियों से संबद्ध भी कथाएं हैं। कुछ कथाएं विनय पिटक से ली गई हैं, जैसे देवदत्त, बोधिराजकुमार, छन्न आदि। कुछ उदान से ली गई हैं जैसे महाकस्सप, सामावती, विशाखा, सोण, कोटिकण्ण, सुन्दरी, नन्दा, सुप्पवासा आदि।

जातक कथाओं से भी कुछ का सम्बन्ध है, जैसे देवधम्म, कुलावक, तेलपत्त, सालित्तक, बब्बु, गोध, चुल्लपलोभन, अननुसोचिय, केसव, सालिय, कुस, घत इत्यादि। थेरीगाथा, अंगुत्तरनिकाय आदि अट्ठकथाओं से भी धम्मपद अट्ठकथाओं की समानता दृष्टव्य है, जैसे कुण्डलकेशी, पटाचारा, नन्दा, खेमा, धम्मदिन्ना आदि। मट्ठकुण्डली, सुमन, एकसाटक ब्राह्मण, पोसकराधिता, सिरिमा जैसी कथायें मिलिन्दप्रश्न में भी उपलब्ध हैं। यहां एक साटक विशेषण महत्त्वपूर्ण हैं। दीघनिकाय और मज्झिमनिकाय में यही विशेषण निग्गण्ठ नातपुत्त के अनुयायी के लिए भी प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ क्षुल्लक किया जा सकता है। संभव है, एकसाटक ब्राह्मण जैन सम्प्रदाय से सम्बद्ध रहा हो।

५४ करोड कार्षापणों से **अनाथ पिण्डिक** ने जेतवन विहार बनवाया था। उसके परिवार की एक लडकी सातवाहन राजा के परिवार में व्याही गई थी। घोषक सौदागर की कथा में यहां कुछ अन्तर है। इन कथाओं पर कुछ विद्वानों ने ग्रीक कथाओं का भी प्रभाव माना है। यहां अनेक कथाएं ऐसी भी हैं जिनमें जैन मुनियों का तिरस्कार किया गया है। जातक अट्ठकथा की लगभग ५० गाथाएं यथा वत् उल्लिखित हुई हैं। यहां बिम्बिसार, अजातशत्रु, पसेनदि, अचेलक निगण्ठ, आजीविक, जटिल, मिच्छादिट्ठि आदि का वर्णन है। कतिपय नगरों का वर्णन है, जैसे - तक्षशिला, कपिलवत्थु, कुरुरट्ठ, कोशाम्बी, कोशल, वाराणसी, सोरेय्या, मगध, राजगृह, सावत्थी, वेसाली। कुछ नारियों का वर्णन है जैसे - महापजापति गोतमी, खेमा यसोधरा, समनादेवी, मायादेवी, मल्लिका, पटाचारा, सुजाता राहुलमाता, वासुलदत्ता, सुप्पवासा, दिन्न, किसागोतमी, रूपनन्दा आदि। वेणुवन, महावन, जेतवन, मंगल-पोक्खरणी, गंगा, रोहणी, सिद्धार्थ, सारिपुत्त, महिन्द, राहुल, आनन्द, वेस्सवन, सोण, कूटिकण्ण, मोग्गल्लान और मीण्डक, कोसाम्बीवासी तिस्सथेर। यहां वासवदत्ता और उदयनकथा का भी उल्लेख हुआ है। कोसाम्बी राजा परन्तप की पत्नी किन्हीं परिस्थितियों वश एक महर्षि के साथ पत्नी के रूप में रहने लगी। उसका पुत्र उदयन था जिसे ऋषि ने कोशाम्बी के सिंहासन पर बैठाया और उसकी पत्नी वासवदत्ता बनी। महाकच्चायन, महाधनसेट्ठि, कुण्डलकेशी, संसारमोचक, उप्पलवण्णा, विशाखा, पसेनदि, मध, उदेन, जीवक, दिन्न, किसागोतमी, मल्लिका, वासमखत्तिया, उत्तरा, रोहिणी, पुण्णा, रूपनन्दा, ...यसेट्ठि आदि का भी यहां विवरण दिया गया है।

जातकट्ठकथा

जातकट्ठकथा की रचना बुद्धघोष ने अत्थस्सि, बुद्धमित्त और बुद्धदेव थेरों की

प्रार्थना पर की थी। इनमें बुद्धदेव महिंसासक सम्प्रदाय के थे और बुद्धघोष महाविहार परम्परा के। इसका तात्पर्य है कि दोनों परम्पराओं में जातक के सन्दर्भ में कोई विशेष मतभेद नहीं था।

इसपर **लीनत्थप्पकासिनी** नामक पालि टीका और **जातक अट्ठवा** गटपद्य नामक सिंहल टीका उपलब्ध है। समन्तपासादिका में **जातकट्ठवण्णना** का उल्लेख मिलता है। प्राचीन सिंहल अट्ठकथा का भी उपयोग जातकट्ठकथा में हुआ है। गूढ वस्सन्तर और गूढ उम्मग्ग जातक जैसी कतिपयजातक कथाएं कल्पनात्मक हैं जिनका लेखन उत्तर थाइलेण्ड च्यांगमा में हुआ। साधारणतः जातकों की पूर्वकथा वाराणसी से संबद्ध है पर हंसवती (क्र. १२) और सुधम्मवती (क्र. २६) जातकों में थैटन-वर्मा के स्थानों का उल्लेख हुआ है। दिव्यावदान और महाभारत, पंचतन्त्र से भी कुछ पद्य यहां उद्घृत हुए हैं।

अभिधम्म अट्ठकथा

आचार्य बुद्धघोषने बुद्धघोष थेर की प्रार्थना पर अभिधर्म के सात ग्रन्थों पर अट्ठकथाएं लिखीं सिंहल अट्ठकथाओं के आधार पर। ये हैं - १. धम्मसंगणि पर अट्ठसालिनी, २. विभंग पर संमोह विनोदनी, ३. कथावत्थु, पुग्गलपंञत्ति, धातुकथा, यमक और पट्ठान पर पंचप्पकरणट्ठकथा। अट्ठसालिनी की रचना गया में हुई थी पर उसने अन्तिम रूप श्रीलंका में लिया क्योंकि इसमें विसुद्धिमग्ग को उद्घृत किया गया है। एक **परित्त अट्ठकथा** का भी उल्लेख मिलता है।

अट्ठसालिनी

महावंस (३७.५.२२५) के अनुसार इसकी मूल रचना गया में हुई थी। बाद में अनुराधापुर में उसे अन्तिम रूप दिया गया। **सद्धम्मसंगहो** (पृ. ५३) में स्पष्टतः कहा गया है कि ञाणोदय, धम्मसंगणि और परित्त परिट्ठकथा गया में लिखी गई थीं जिन्हें प्राचीन सिंहल अट्ठकथाओं से सामग्री एकत्रितकर श्रीलंका में सम्हारा गया। अट्ठसालिनी की निदानकथा में बुद्धघोष ने कहा कि अभिधम्म का संगायन प्रथम संगीति में हो चुका था। उसी की पुनरावृत्ति शेष दो संगीतियों में हुई। बाद में महेन्द्र उसे श्रीलंका ले गये जहां उनका रूपान्तरण सिंहल में हुआ और फिर सिंहल से उसे पालि में किया गया।

यहां **दो निदानों** का उल्लेख है - १. अधिगमननिदान जिसमें दीपंकर से लेकर बुद्ध की अभिसंबोधि प्राप्ति तक का उल्लेख है और २. देसना निदान जिसमें धम्मचक्कपवत्तन का विवरण है। इसमें **महट्ठकथा** का उपयोग हुआ है। यहां मिलिन्दपञ्हो का उल्लेख हुआ है।

अभिधम्म में **धम्म की व्याख्या** तीन प्रकार से की जाती है - सुत्तन्त दृष्टि से, अभिधम्म दृष्टि से और प्रश्नात्मक दृष्टि से। ये अट्ठकथाएं निम्न प्रकार वर्णित हैं -

१. **कथावत्थु** - यह तृतीय संगीति का परिणाम है जिसकी अध्यक्षता मोग्गलिपुत्ततिस्स ने स्वयं की थी। महाधम्महदय या महाधातुकथा के दोषों को दूर कर यह ग्रन्थ लिखा गया। सारिपुत्त से इन ग्रन्थों का उदय समझा जा सकता है। नाम और रूप में अन्तर स्पष्ट करने के लिए अभिधम्म का निर्माण हुआ है। यहां बुद्धघोष ने विनय और अभिधम्म को खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत रखा है। इसे उन्होंने बुद्धवचन माना है और कहा है कि अभिधम्म बौद्धधर्म की सुन्दर व्याख्या है पर वह बुद्ध के लिए है, अन्य के लिए नहीं। पदेसविहारसुत्त में अभिधम्म का मूल दृष्टव्य है, ऐसा तिस्सभूति ने बताया। बुद्धघोष ने आगे कहा कि सुमेध के रूप में बुद्ध ने अभिधम्म त्रायस्त्रिंश में सिखाया। जातक निदान में भी यही कहा है।

२. **धम्मसंगणि** - चार अध्यायों में विभक्त है - चित्तुप्पादकण्ड, रूपकण्ड, निक्खेपकण्ड और अट्ठकथाकण्ड। प्रथम अध्याय में कुशल, अकुशल और अव्याकृतधम्म की विस्तृत व्याख्या की है और विञ्ञाण को समझाया है। द्वितीय अध्याय में रूप को स्पष्ट किया है जो अव्याकृतधम्म की परिधि में आता है। तृतीय अध्याय प्रथम दो अध्यायों का सारांश है और चतुर्थ अध्याय तृतीय अध्याय का संक्षिप्त रूप है। परम्परा से इस अध्याय के रचयिता सारिपुत्त को माना जाता है।

अट्ठसालिनी का मुख्य उद्देश्य है पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करना। इसे हम विसुद्धिमग्ग का परिपूरक ग्रन्थ भी कह सकते हैं। इसमें कुछ नदियों के नाम अंकित हैं - अचिरवती, गंगा, गोदावरी, नेरंजरा, महि, सरभू और अनोमा। उसमें अनेक द्वीपों और नगरों के नाम भी यहां अंकित हैं - कासीपुर, कोसल, इसिपत्तन, जंबुद्वीप, जातवन, तम्बपण्णी, अपरगोयान, पाटलिपुत्त,पुव्वविदेह, बन्धुमति, भरुकच्छ, राजगह, साकेत, सावत्थी, सिंहलदीप। इसी तरह यहां अजित, अञ्ञकोण्डञ्ञ, अभयथेर, अस्सगुत्त, आनन्द, आलारकालाम, उदायी, उद्द, उपक, कस्पप, छन्न, दुट्ठगामनि, दसक, दीपंकर, नागसेन, बुद्धघोष, भद्दजि, मल्लिका, महाकस्सप, महिन्द, मोग्गलिपुत्ततिस्स, रेवत, विपस्सि, विस्सकम्मा, सारिपुत्त, सुजाता, सुमन, सोनक, मेत्तय्य, पिंगलबुद्धरक्खित, चक्कन उपासक (पृ. ४७३) का उल्लेख हुआ है। यहां चित्त, विञ्ञाण, धातु, फस्स, वेदना, कम्म, धम्म, निब्बान, नाम, रूप, सील आदि शब्दों की मार्मिक व्याख्या की गई है।

सम्मोह विनोदनी

सम्मोहविनोदनी विभंग अट्ठकथा का नाम है। इसे बुद्धघोष ने १८ विभागों में विभक्त किया है। इनमें पंचस्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय, पच्चयाकार, सतिपट्ठान, सम्मप्पधान, इद्धिपाद, बोज्झंग, मग्ग, झान, अप्पमञ्ञ, सिक्खापद, पठिसंभिदा, ञाण, खुद्दकवत्थु, धम्महदय, अरियसच्च, अविज्ञा, काय, जाति, जरा तण्हा, निब्बान, नाम-रूप, मरण, माया आदि शब्दों की व्याख्या की गई है। बुद्धघोष ने यहां अनार्य भाषाओं का उल्लेख किया है - ओड्ड, किरात, अन्धक, योनक, दमिलभासा।

धातुकथा पकरण एवं पुग्गलपञ्ञत्ति अट्ठकथा

धातुकथा पर लिखित बुद्धघोष की यह अट्ठकथा १४ भागों में विभक्त है। इनमें पंचस्कन्ध, द्वादश आयतन, षोडश धातु, पच्चय आदि का सुन्दर विवेचन हुआ है। पुग्गलपंञत्ति अट्ठकथा में उन्होंने पंचस्कन्ध पर विस्तृत विवेचन किया है और उसे रथ और रथांगों के माध्यम से समझाया है।

कथावत्थु आदि अट्ठकथाएं

कथावत्थुपकरण अट्ठकथा में बुद्धघोष ने दुःख और दुःखसमुदय को सांसारिक तथा दुःखनिरोध और दुःखनिरोधोत्पत्तिमार्ग को निर्वाण से सम्बद्ध बताया है। इन्द्रियों में दस इन्द्रियों का संबन्ध इच्छाओं से, नव का सम्बन्ध भावी संसार से और तीन का सम्बन्ध आध्यात्मिकता से है। बुद्धघोष ने समयविमुत्त को सोतापन्न, सकदागामी, और अनागामी तथा असंवयविमुत्त को सुक्खविपस्सकरवीणासव के रूप में वर्णित किया है। उन्होंने कुप्पधम्म को अष्टसमापत्ति युक्त साधारण व्यक्ति से तथा अकुप्पधम्म को अष्टसमापत्तियुक्त अनागामी खीणासवी व्यक्ति से जोडा है। यहां गोत्रभु, धम्मानुसारी, अन्तरा परिनिब्बायी, अकनिट्ठगामी आदि शब्दों को लेखक ने स्पष्ट किया है। चित्त और कम्म के बीच सम्बन्ध स्थापित करते हुए चित्त और चैतसिक को मन के रूप में प्रस्थापित किया है। कर्म के विनष्ट होने पर अर्हदावस्था प्राप्त हो जाती है। पंचस्कन्धों के परिणाम स्वरूप पुद्गल की उत्पत्ति होती है।

यमकप्पकरण अट्ठकथा में मूल, खंध, आयतन, धातु, सच्च, संखार, अनुस्सय, चित्त, धम्म और इन्द्रिय यमक पर चर्चा हुई है। यहां मूल का अर्थ है कारण। **पट्ठानपकरण अट्ठकथा** की रचना चुल्लबुद्धघोष की प्रार्थना पर हुई थी। इसके चार विभाग हैं - अनुलोमपट्ठान, पच्चनीयपट्ठान, अनुलोमपच्चनीयपट्ठान, और पच्चनीयअनुलोमपट्ठान।

३. धम्मपाल

धम्मपाल बुद्धघोष के उत्तरवर्ती अट्ठकथाकार हैं। गंधवंस में चार धम्मपालों का उल्लेख मिलता है - १. गंधवंस धम्मपाल जिन्होंने चौदह ग्रन्थ लिखे, २. आनन्द के शिष्य चुल्ल धम्मपाल, जिन्होंने बुद्धघोष की अभिधम्मटीका पर सच्चसंक्षेप अनुटीका लिखी, ३. तृतीय धम्मपाल वे हैं जो वुत्तोदय के लेखक संघरक्षित तथा अभिधम्मत्थसंगहो के लेखक अनुरुद्ध के बीच हुए हैं, और ४. चतुर्थ धम्मपाल वे जो अरिभद्दनपुर (पेगन) वर्मावासी थे। इनमें आचार्य धम्मपाल अट्ठकथाकार हैं। सासनवंस (पृ. ३३) के अनुसार वे तमिलदेशवर्ती बदरतित्थ (वर्तमानचेन्नई का समीपवर्ती भाग) के निवासी थे। बाद में श्रीलंका के महाविहार में जाकर उन्होंने पेतवत्थु आदि पालि ग्रन्थों पर अट्ठकथाएं लिखीं। ह्यूनशांग के अनुसार धम्मपाल का जन्म कांचीपुर में ६४० ई. में हुआ। युवान चांग ने उन्हें नालन्दा से सम्बद्ध किया जो छठी अट्ठकथा, शताब्दी के अन्त में हुए।

धम्मपाल के प्रमुख ग्रन्थ हैं - **१. नेत्तियपकरण अट्ठकथा २. इतिवुत्तक अ.क., ३. उदान अ.क., ४. चरियापिटक अ.क., ५. थेर-थेरी गाथा अ.क. ६. विमानवत्थु अ.क., ७. पेतवत्थु अ.क. ८. परमत्थमंजूसा-विसुद्धि मग्ग अ.क., ९. लीनत्थप्पकासिनी - चार निकायों पर लिखी अ.क. १०. लीनत्थप्पकासिनी-जातकट्ठकथा, ११. नेत्तत्थ कथायटीका, १२. परमत्थदीपनी, १३. लीनत्थवण्णना**। परमत्थ दीपनी में उदान, इतिवुत्तक, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा और चरियापिटक अ.क. संमिलित हैं। इन्हें वर्मा में **विमलविलासनी** कहा जाता है। धम्मपाल ने इन ग्रन्थों के लिए सिंहल और द्रविड अट्ठकथाओं से सामग्री संग्रहीत की। कहा जाता है, धम्मपालने धम्मरक्खित की अभ्यर्थना पर नेत्ति अट्ठकथा तथा टीका लिखीं। बुद्धघोष ने पांच गद्य ग्रन्थों पर अ.क. लिखीं जबकि धम्मपाल ने पांच पद्य ग्रन्थों पर अ.क. लिखीं। मलालशेखर और रिज डेविडस् ने धम्मपाल के ग्रन्थों की विस्तृत सूची दी है और उन पर समीक्षा भी की है। दोनों की शैली और विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला है। धम्मपाल की विशेषता यह है कि उन्होंने विषय का अच्छा प्रतिपादन किया और अर्थ तथा व्याकरण पर अधिक ध्यान दिया। पारिभाषिक शब्दों की भी व्याख्या अच्छी की। बुद्धघोष का पाण्डित्य निश्चित ही अधिक गहरा दिखाई देता है। सांस्कृतिक सामग्री की दृष्टि से भी बुद्धघोष के ग्रन्थ अधिक समृद्ध हैं। धम्मपाल की रचनाओं की योजना का क्रम इस रूप में देखा जा सकता है। १. सर्वप्रथम काव्य ग्रन्थ की भूमिका, किस तरह से उन्हें समग्र रूप में देखा जा सकता है, २. बाद में पृथक् रूप से प्रत्येक काव्य की शब्दात्मक मीमांसा, कथाओं के साथ उनकी व्याख्या और मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी।

धम्मपाल की अट्ठकथाएं

गंधवंस के अनुसार धम्मपाल ने **उदान, इतिवुत्तक, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा और चरियापिटक पर अट्ठकथाएं लिखीं हैं**। उदान, उदान अट्ठकथा और इतिवुत्तक अट्ठकथा ३४-३४ भाणवारों में समाप्त हुई है। विमानवत्थु में स्वर्ग और नरक का वर्णन है। इसमें तावतिंस आदि स्वर्गों की श्रेणियों तथा उनमें जन्म लेने वालों के कुसल कर्मों के प्रकारों का वर्णन है। यहां साधारण तौर पर सभी का जन्म होता है। निर्माणरति में कुछ विशिष्ट लोगों का और ब्रह्मलोक में अतिविशिष्ट लोगों का जन्म होता है। चातुर्महाराजिक का वर्णन है। विमानों का उपयोग पृथ्वी पर आने के लिए होता है। इसमें अनेक कथाओं का वर्णन है, जैसे पीठविमान, कुंजरविमान, दीपविमान, दासी विमान आदि।

पेतवत्थु अट्ठकथा में प्रेतों का वर्णन बौद्ध परम्परानुसार है। इसमें भी अनेक कथाएं वर्णित हैं, जैसे -सूकरमुखपेत, तिरोकुड्ड पेल, गेणपेत, खलातियपेत आदि जो पेत के प्रकारों की ओर संकेत करते हैं। इन कथाओं में अकुशल कर्मानुसार गति प्राप्ति का वर्णन है। कुशल कर्म करने पर व्यक्ति को प्रेतयोनि से मुक्ति मिल जाती है।

थेरगाथा अट्ठकथा (परमत्थदीपनी) में सावत्थी, कोसाम्बी, मगध, चम्पा, वेसाली, अवन्ती आदि प्राचीन नगरों का वर्णन है और बिम्बिसार, चण्डप्रद्योत आदि राजाओं का भी। मल्ल, वज्जि, साक्य आदि की भी चर्चा है। इसी तरह सुभूति, रेवत, दासक, अभय, उत्तिय, यस, पिण्डोल, भारद्वाज, चुन्द, धनिय, कच्चायन, मोग्गलान, आनन्द, कस्सप, सारिपुत्त, पुण्ण, अनुरुद्ध, फुस्स, अंगुलिमाल आदि थेरों का वर्णन है। यहां महाविहार परम्परा के अतिरिक्त अन्य परम्पराओं का भी उपयोग हुआ है।

थेरीगाथा अट्ठकथा (परमत्थदीपनी) में अभिरूपनन्दा, चित्ता, सुक्का, तिस्सा, सुमेधा, पुण्णा, सुन्दरी, सीहा, खेमा, मुत्ता, दन्तिका, सामा, किसागोतमी, धम्मा, सोणा, सुजाता, अम्बपाली चापा आदि थेरियों का वर्णन है। थेरी अपदान में भी इनका वर्णन मिलता है। कुण्डलकेसी शास्त्रार्थ करनेवाली थेरी थी। भद्दा भी ऐसी ही थी। वह पहले जैन भिक्षुणी बनी। बाद में आनन्द ने उसे शास्त्रार्थ में पराजितकर बौद्धधर्म में दीक्षित किया। चरियापिटक, इतिवुत्तक और उदान अट्ठकथाएं भी इसी परमत्थदीपनी में जुडी हुई हैं।

धम्मपाल ने इन अट्ठकथाओं में बुद्धघोष का उपयोग किया है। उन्होंने भी महाविहार परम्परा का अनुकरण किया है। "**आगमट्ठकथासु**" कहकर यह संकेत किया है। परमत्थ जोतिका का उल्लेख निगमन में हुआ है। वदरतिट्ठ विहार का भी। उदान

और इतिवुत्तक अट्ठकथाओं में तथागत "**एवं मे सुतं**", सुत्तनिक्खेप जैसे शब्दों की व्याख्या में सुमंगल विलासिनी का उपयोग हुआ है। थेर-थरी गाथा अट्ठकथा में अपदान और महाविहार परम्परा का उपयोग हुआ है । यहां ६० महासावकों का भी उल्लेख है। चरियापिटक अट्ठ. में दस पारमिताओं का वर्णन है।

गन्धवंस के अनुसार धम्मपाल ने खुद्दकनिकाय के सात ग्रन्थों पर अट्ठकथाएं लिखी थीं - **उदान, इतिवुत्तक, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा और चरियापिटक।** इनके अतिरिक्त धम्मपाल कि निम्न रचनाएं भी मिलती है- **लीनत्थप्पकासीनी, परमत्थमंजूसा, नेत्तिप्पकरण, नेत्ति-अट्ठकथा टीका, परमत्थदीपनी और लीनत्थवण्णना।**

लगता है, दक्षिण भारत में भी उत्तर भारत के समान पालि के विद्वान रहे हैं। बुद्धदत्त, बुद्धघोष, धम्मपाल, अनुरुद्ध, बुद्धप्पिय, दीपंकर आदि पालि के प्रसिद्ध विद्वानों का सम्बन्ध दक्षिण भारत से रहा है।

अन्य अट्ठकथाकार

बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल के अतिरिक्त इसी काल में कुछ और अट्ठकथाकार हुए हैं, जैसे - आनन्द, चुल्ल, उपसेन, महानाम, कस्सप, वजिर बुद्धि, खेम, अनिरुद्ध, धम्मसिरि और महासामि।

आनन्द भारतीय भिक्षु थे जिनकी शिक्षा-दीक्षा ८-९ वीं शती में हुई थी श्रीलंका में। वे अरण्यवासी या वनवासी सम्प्रदाय के थे। उनका एक ही ग्रन्थ अभिधम्ममूल टीका उपलब्ध है। आनन्द का दूसरा नाम वनरतन तिस्स भी था। आनन्द के शिष्य चुल्ल धम्मपाल ने **सच्चसंखेय**, तथा अभिधम्ममूल टीका पर "**लीनत्थ वण्णना**" लिखी।

इसी तरह उपसेन की **सद्धम्मप्पजोतिका या सद्धम्मट्ठितिका** नामक निद्देस की टीका, महानाम की **पटिसंभिदामग्ग अट्ठकथा सद्धम्मप्पकासिनी**, काश्यप की **तिच्छमोहविच्छेदिनी और विमेदनी, वजिरबुद्धि** की समन्तपासादिका पर वजिरबुद्धिटीका, क्षेम का खेमप्पकरण अथवा परमत्थदीप की रचना की ।

अनिरुद्ध (११-१२ वीं शती) का **अभिधम्मत्थसंगहो**, परमत्थ विनिच्छय तथा नामरूप-परिच्छेद, अनुरुद्धशतक प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। धर्मसिरि की खुद्दकसिक्खा, महासामी की मूलतिक्खा ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं।

सद्धम्मप्पजोतिका

सद्धम्मप्पजातिका **निद्देस टीका** है जिसके लेखक सारिपुत्त हैं। इसकी रचना थेरदेव की प्रार्थना पर हुई थी। निद्देस के निगमन (३.१५०) के अनुसार सारिपुत्त का दूसरानाम उपसेन था जो महाविहारवासी थे। यह टीका सिंहल राजा सिरिनिवास श्रीसंघ बोधि (८५१-८८५ ई.) के काल में लिखी गई थी। उपसेन ने धम्मपाल से पर्याप्त सामग्री लेकर टीका को तैयार किया। सुत्तनिपात पर भी उनकी एक टीका मिलती है।

सद्धम्मप्पकासिनी

पटिसंभिदामग्ग पर सद्धम्मप्पकासिनी नामक टीका महाविहारवासी महानाम द्वारा रचित है। इसकी रचना राजा मोग्गल्लान की मृत्यु के बाद हुई लगभग ५५९ ई. में। महानाम ने यह टीका अपुब्बवण्णना सिद्धान्त के अनुसार लिखी है जिसमें यदा कदा शब्दों के अर्थ दिये गये। यह प्राचीन पद्धति मानी जाती है। इसलिए विद्वानों ने इसका समय द्वितीय शताब्दी माना है। कुछ इसे बाद का मानते हैं। इसे परिञ्ञेय्या निद्देस कहा गया है। पटिसंभिदामग्ग पर इससे प्राचीन कोई टीका नहीं है। इसमें प्राचीन सिंहल अट्ठकथाओं का भी उपयोग हुआ है। शून्यवाद को स्पष्ट करते समय महानाम ने ञायगन्थ और सद्दगन्थ का उल्लेख किया जो आज भी अपरिचित हैं।

मधुरत्थविलासिनी

बुद्धवंस पर यह बुद्धदत्तथेर की टीका है। एक पाण्डुलिपि की प्रशस्ति में इसे मधुरत्थप्पकासिनी नाम दिया है और इसके लेखक को गोदावरी के पास काबेरीपट्टन में कण्हदासविहार का वासी बताया है। इसके अनुसार इसमें २६ भाणवार हैं अर्थात् २०३०० या २०८००० अक्षर हैं। यह टीका लगभग ८ वीं शती की है। इसमें अट्ठसालिनी और विमानवत्थुत्थकथा का उल्लेख है।

विसुद्धजनविलासिनी

यह **अपदानट्ठकथा** है जिसे गुण शोभन श्रीलंका ले आये थे। निगमन के अनुसार। इसमें पच्चेक बुद्धों की एक लम्बी सूची दी गई है। यहां संस्कृत वैय्याकरण पाणिनि, चन्द्र और कातन्त्र का उल्लेख है (अप. १७), इसमें ''गंगावालिकोपम'' उद्धरण मिलता है जो बौद्धसंस्कृत साहित्य में ही उपलब्ध है, पालि में नहीं।

अभिधम्मपिटक अट्ठकथा साहित्य

अभिधम्मपिटक पर अनेक अट्ठकथाएं और टीकाएं हैं जिनका संक्षिप्त विवरण

इस प्रकार है। साधारण तौर पर यह कहा जाता है कि आनन्द ने राजगृह में प्रथम संगीति काल में अभिधम्म का संगायन किया था जो सही नहीं है। जो भी हो, पर इतना निश्चित है कि इसमें विरोधीं मतों की समीक्षा की गई है।

अभिधम्मपिटक पर अट्ठसालिनी, संमोह विनोदनी और पंचप्पकरणट्ठ- कथा प्रमुख हैं। इन तीनों के लेखक बुद्धघोष हैं। इनके विषय में हम यथास्थान विचार कर चुके हैं।

लघु ग्रन्थ

बौद्धधर्म की परिचय पुस्तिकाओं में सर्वप्रथम हम **परिवार, पेटकोपदेस और नेत्तिपकरण** का नाम ले सकते हैं। परिवार का सम्बन्ध विनय से है और पेटकोपदेस तथा नेत्तिपकरण सुत्तन्त की व्याख्या करते हैं। उत्तरकाल में विसुद्धिमग्ग की रचना हुई जो निर्विवाद रूप से इन तीनों का स्थान लेने में सक्षम है।

लघु विनय ग्रन्थ

बौद्ध विनय को स्पष्ट करने की दृष्टि से हम बुद्धदत्त के **विनय विनिच्छय और उत्तरविनिच्छय** को प्रस्तुत कर सकते हैं। ये दोनों ग्रन्थ पद्य में निर्मित हैं और उच्च श्रेणी के हैं। अत: याद करने की दृष्टि से भी उपयोगी हैं। इसमें खन्धक का सारा विषय भरा हुआ है। २० में से १४ अध्यायों का ही संक्षिप्तीकरण हुआ है। और संघभेदखन्धक को छोड़ दिया गया है। इन ग्रन्थों की पृष्ठभूमि में समन्तपासादिका अवश्य रही है। कुरुन्दी का भी यहां उल्लेख हुआ है। भिक्खुनी खन्धक के वाद बुद्धदत्त ने चार अध्याय जोडे हैं जो न विनय में हैं और न समन्तपासादिका में हैं - १. विनयकम्म, २. कम्मविपत्ति, ३. पकिण्णकनय, और ४. कम्मट्ठान।

उत्तरविनिच्छय के निगमन के अनुसार बुद्धदत्त उसके लेखक हैं और संघपाल लेखन के प्रेरक हैं। बुद्धघोष ने भी संघपाल का उल्लेख इसी रूप में किया है। प्रशस्ति में यह कहा गया है कि थेर शीवलि उत्तरविनिच्छय की सिंहल प्रतिलिपि अरिभद्दक विहार में ले गये जहां थेर रेवत ने उसे रूपान्तरित किया। निगमन में यह भी लिखा है कि बुद्धदत्त ने चोल देश के भूतमंगल गांव में निर्मित वेण्हुदास विहार में यह कार्य किया। अभिधम्मावतार के निगमन में उल्लिखित कण्हदास यही वेण्हुदास होना चाहिए। गद्यात्मक निगमन में बुद्धदत्त का सम्बन्ध उरगपुर से जोडा गया है। विनयविनिच्छय कदम्बवंशीय नृप अच्युत के कार्यकाल में लिखा गया था। अत: इसकी रचना का समय लगभग छठी शताब्दी होगा।

परम्परानुसार विनयविनिच्छय सारिपुत्त के शिष्य द्वारा रचित है। इसके प्रेरकों में चार नामों का उल्लेख मिलता है। १. संमुगल थेर, २. थेर बुद्धमित्त चोल, ३. थेर

महाकस्सप सीह और ४. उपासक धम्मकित्ति पण्डित, और ५. वाणिज भाणु। बुद्धदत्त और बुद्धघोष समकालीन थे।

खुद्दकसिक्खा और मूलसिक्खा

खुद्दकसिक्खा के लेखक धम्मसिरि और मूलसिक्खा के लेखक महासामी थे। ये दोनों ग्रन्थ व्यावहारिक दृष्टिकोण से रचे गये हैं, दोनों ग्रन्थ पातिमोक्ख का वर्णन संघादिशेष को छोडकर करते हैं और फिर विहार निर्माण करने/कराने के नियम बनाते हैं। इन ग्रन्थों का उल्लेख पराक्रमबाहु कतिकावत (११६५ ई.) में हुआ है।

खुद्दकसिक्खा और मूलसिक्खा इन दोनों लघु ग्रन्थों का सम्पादन रोमन लिपि में डॉ. एडवर्ड मूलर ने किया और उनका नागरी लिप्पयन्तरण डॉ. हरप्रसाद दीक्षित ने किया। खुद्दकसिक्खा में ४७९ गाथाएं और कुछ गद्य भाग हैं। इसकी रचना अनुराधपुर के प्रसिद्ध विद्वान स्थविर धर्मश्री ने की लगभग चतुर्थ शताब्दी में। इसका उल्लेख सासनवंस और गन्धवंस में भी आता है। आनन्द वनरतन (१३ वीं शती) ने सिंहली भाषा में इसका अनुवाद किया तथा संघरक्खित, वाचिस्सर और महायस ने टीकाएं लिखीं। कहा जाता है, वैयाकरणिक मोग्गल्लान ने भी इस पर टीका लिखी थी। इसी तरह मूलसिक्खा में १११ गाथाएं और अल्प मात्रा में गद्य भाग है। इसकी रचना सिंहली भिक्षु महासामी ने की ल. चतुर्थ शती में। **वाचिस्सर** ने इस पर भी टीका लिखी।

ये दोनों ग्रन्थ विनय के संक्षिप्त संग्रह हैं। इनका विभाजन परिच्छेदों में नही हुआ। भाषा और शैली प्रभावक है, प्रौढ है और प्राचीन है। खुद्दकसिक्खा की प्रारम्भिक गाथाओं में निबद्ध **मातिका** में सम्पूर्ण ग्रन्थ की विषय सूची निबद्ध है। तदनुसार इसमें चार पाराजिक धर्म, चीवर, पात्र एवं प्रवारणा, वर्षावास, उपोसथ आदि से लेकर विपश्यना पर्यन्त विवेचन किया गया है। मूलसिक्खा में भी इन्हीं विषयों का संक्षिप्त विवेचन है।

पालिमुत्तक विनय विनिच्छय संगह

यह ग्रन्थ **समन्तपासादिका** का संक्षिप्त रूप है। इसके लेखक सारिपुत्त और प्रेरक पराक्रम बाहु प्रथम (११५३-११८६ ई.) हैं। इस पर **विनयालंकारनामक टीका** मिलती है।

एक अन्य **पालिमुत्तक विनय विनिच्छय** ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है जिसके लेखक हैं वर्मा के त्रिपिटकालंकार रतनुपर निवासी (१७वीं शती)।

विमतिविनोदनी

परम्परानुसार इसके लेखक हैं कस्सप जो दक्षिण भारतीय थे। उन्होंने सारिपुत्त

की सारत्थदीपनी का खण्डन किया है। तमिल ग्रन्थ कुण्डलकेसि वत्थु में नागसेन ने सारिपुत्त के मत का खण्डन किया पर बुद्धप्पियने उसे स्वीकार नहीं किया। कस्सप ने पुन: उसका सयुक्तिक खण्डन किया।

सीमाविवाद विनिच्छयकथा

इसे वर्मा में जेय्यधम्म ने १८५८ ई. में लिखा जिसमें कितनी दूर से भिक्षु संघ कार्य के लिए आ सकते हैं, इसका निश्चय किया गया। यह ग्रन्थ श्रीलंका के भिक्षुओं के लिए एक सन्देश पत्र के रूप में है।

वचिस्सर के **सीमालंकार और सीमालंकार संगह** ग्रन्थों का उल्लेख कल्याणी शिलालेख (१४७६ ई.) में हुआ है जिनसे पता चलता है कि वर्मा में १५वीं शताब्दी में विनय अट्ठकथाओं और टीकाओं का उपयोग होता था।

अभिधम्म लघु ग्रन्थ

अभिधम्मावतार और रूपारूपविभाग

आचार्य बुद्धदत्त द्वारा लिखित ये दोनों ग्रन्थ अभिधम्म को समझने के लिए बहुत उपयोगी हैं। इसी तरह विसुद्धिमग्ग महाटीका में एक **सुमतावतार** का भी उल्लेख है और वहीं अभिधम्मावतार को प्रकरण के रूप में स्मरण किया गया है। यह प्रकरण गद्य-पद्य मिश्रित है। रूपारूप विभाग एक लघुकृति है जो गद्य में लिखी गई है।

अभिधम्मावतार पर एक **पोराणटीका** है जिसके लेखक हैं वचिस्सर महासामिथेर। उसी पर निगमन के अनुसार **अभिधम्मावतार विकासिनी** नामक एक विस्तृत टीका है लगभग ७०० पृष्ठों की। इसके लेखक हैं नन्दिपरिवेण के सुमंगलथेर थे जो पुलट्ठिनगरीय जेतवन के सारिपुत्त के शिष्य थे। यहां **"मधुरत्थसार संदीपनम्हि"** उल्लेख इस तथ्य का संकेत करता है कि **विनयत्थसारसंदीपनी** सारिपुत्त के किसी अन्य शिष्य द्वारा लिखित होगी। इसलिए उसमें उल्लिखित सुमंगलअरञ्ञवासी होना चाहिए।

वर्मा में लिखी सातलघु अभिधम्म पुस्तिकाएं हैं जिनका संग्रह **लक्खणगन्थ** में किया गया है। उनमें से तीन अनिरुद्ध द्वारा लिखित हैं।

अभिधम्मत्थसंगहो

अभिधम्मत्थसंगहो के लेखक अनिरुद्ध ने अभिधम्मदर्शन को सूत्र रूप में निबद्ध किया जो बहुत लोकप्रिय हुआ। निगमन के अनुसार इस ग्रन्थ के प्रेरणास्रोत रहे नम्ब या नम्म। अनिरुद्ध सिंहली भिक्षु थे। उनका समय ११-१२ वीं शती है। उन्होंने पोलोन्नरुवा के मूलसोमविहार में रहकर अभिधम्मत्थसंगहो की रचना की। उनका कुछ समय कांची में भी बीता।

अभिधम्मत्थसंगहो में चार पदार्थों की सत्ता स्वीकार की गई - चित्त, चेतसिक, रूप और निर्वाण। चित्त सहेतुक (लोभ, द्वेष, मोह) और अहेतुक होता है। सहेतुक चित्त तीन प्रकार के हैं - कुशल, अकुशल और अव्याकृत। चित्त के धर्म चेतसिक हैं। उनकी संख्या ५२ है। इसी तरह रूप और निर्वाण पर यहां सुन्दर विवेचन हुआ है। इस पर सुमंगल द्वारा लिखी एक **'विभावनी'** नामक टीका है जिसे २४ दिनों में लिखा गया था। एक अन्य टीका **'मणिसार मंजूसा'** है उसके लेखक अरियवंस इरवकी नदी के किनारे निर्मित धम्मक पव्वत नामक विहार में रहते थे (१४६६ ई.)। इसमें कुछ और भी टीकाओं का उल्लेख मिलता है, जैसे **जातकट्ठकथा, खुद्दसिक्खा, विनयसंगह, नेत्ति**। एक अन्य टीका है **अभिधम्मत्थसंगहदीपनी** जिसके लेखक हैं वर्मा के सीलाचार (१८०१ ई.)।

अभिधम्मत्थसंगहो पर एक अज्ञातकर्तृक **सरूप टीका** है जो कम्बोडियन लिपि में उपलब्ध है। अभिधम्मत्थ विभावनी टीका में समागत २३० भूलों को सुधारकर वर्मा के भिक्षु लेदी सयदव (१९ वीं शताब्दी) ने **परमत्थ दीपनी टीका** की रचना ई.सन् १८९७ में की।

इस तरह अभिधम्मत्थसंगहो पर निम्नलिखित **प्रमुख टीकाएं** उपलब्ध हैं - १) सुमंगलकृत अभिधम्मत्थ विभावनी, २-१०) अज्ञातकृत अभिधम्मत्थ अट्ठकथा, अभि. दीपनी, अभि. गन्थ, अभि. मधु, अभि. पदयोजना, अभि. पकरण, अभि. टीका - विवरण, नवानुटीका, सरूपदीपक, सरूप दीपनी ११) मौंगटुन औंगकृत अभि. परित्त, १२) विमलबुद्धकृत अभि. टीका, १३) विमल सयदवकृत अंकुर टीका, १४) वेपुल्ल बुद्धिकृत दसगंठिवण्णना, १५) भदन्त दीपमालाकृत महा-अतुल टीका, १६) धर्मानन्द कौशाम्बीकृत नवनीतटीका, १७) अरियवंसकृत नवातुटीका, १८) लेदी सयदवकृत परमत्थदीपनी, १९) वेपुल्लबुद्धिकृत परमत्थमंजूसा, २०) भदन्त नागिन्दसामीकृत परमत्थविसोधनी २१) महाकस्सपकृत पराणटीका, २२) छपटकृत संखेपवण्णना, २३) धम्मकेतुकृत संखेयटीका २४) चन्दगोमीकृत सीहल व्याख्यान २५) अज्ञातकृत अभि. सरूप २६) प्रो. भागचन्द्र जैन भास्कर कृत बौद्ध मनोविज्ञान (हिन्दी) २७) भदन्त आनन्दकौसल्यायनकृत अभिधम्मत्थसंगह हिन्दी टीका, २८) भदन्त रेवतधम्म और रामशंकर त्रिपाटीकृत अभिधर्मप्रकाशिनी व्याख्या (हिन्दी)।

कुछ और भी अभिधम्म परिचय पुस्तिकाएं हैं, जैसे - **परमत्थविनिच्छय** - यह ग्रन्थ ३९ परिच्छेदों में विभक्त है और ११४६ पद्यों में रचित है। इसके लेखक हैं दक्षिण भारतीय कांची में काबेरीनगर निवासी अनुरुद्ध। प्रेरक थे संघ विसेट्ठ। यह अनिरुद्ध संस्कृत के अनिरुद्धशतक के लेखक से भिन्न है।

नामरूप परिच्छेद के भी लेखक अनिरुद्ध हैं जिन्होंने १८४५ पद्यों में अभिधम्म को स्पष्ट किया "**महाविहारवासीनं वण्णनानय निस्सितं**" के आधार पर इसमें १३ अध्याय हैं।

सारसंखेप के लेखक आनन्द (१४०० ई.) ने इसे स्याम में लिखा अपने शिष्य धम्मपाल के लिए। पांच परिच्छेदो में विभक्त यह ग्रन्थ ३८७ पद्यों में लिखा गया है।

नामरूप समास

नामरूप समास के लेखक खेम जिनका समय अज्ञात है। इसमें चित्त और चेतसिक का व्याख्यान है। **नामचारदीपक** के लेखक हैं सद्धम्मजोतिपाल, अरिमद्दन नगरवासी (१५वीं शती) जिन्होंने विनय और अभिधम्म पर अनेक ग्रन्थ लिखे। इसमें सात परिच्छेद और २९९ पद्य हैं।

नामरूप समास वर्मी पालि साहित्य का मुख्य ग्रन्थ है। यद्यपि मलालशेखर उसे श्रीलंका के थेर खेम द्वारा रचित मानते हैं पर वर्मा में उसे अभिधम्म के लक्खणगन्थों में संमिलित किया गया है। इस पर १२ वीं शती में सिंहली थेर वाचिस्सार ने टीका लिखी। नामरूपसमास को वर्मा में **खेमप्पकरण और परमात्थदीप** के नाम से जाना जाता है। सीलक्खंध महाथेर के शिष्य बटपोल धम्मपाल ने उसे कुछ ठीक किया और सिंहल टीका सिविपटपत के साथ वह प्रकाशित हुआ। धम्मपाल ने उसे अनिरुद्ध (१२ वीं शती) द्वारा रजित माना है। बुद्धदत्त ने १९ वीं शती के प्रारम्भ में इसकी मूल प्रतियों के आधार पर नामरूपसमास विञ्ञत्ति के रूप में रोमन संस्करण में प्रकाशित हुआ। इसके लेखक के रूप में खेम को स्वीकार किया है।

सच्चसंखेप

इसका सम्पादन किया है भिक्खु धम्माराम ने और प्रकाशन हुआ है पी.टी.एस. द्वारा रोमन लिपि में १९१०-१२ में। इसकी पृष्ठ संख्या है १२३। इसे मध्यकालीन अभिधम्म साहित्य के अन्तर्गत नियोजित किया गया है। उंग के अनुसार अनुरुद्ध का परमत्थ विनिच्छय, कथपकी मोहविच्छेदनी और नामचरटीयक, सद्धम्मजोतिपालकृत आदि का समावेश भी इसी में हुआ है। सच्चसंखेप में पांच परिच्छेद है - रूपविभाग, वेदनादिखन्धतयविभाग, चित्तप्पवत्तिविभागो, पकिण्णकसरिगह-विभागो और निब्बानविभागादीहिसरिगहितो इसमें कुल ३८७ कारिकाएं हैं। इन सभी का सम्बन्ध अभिधम्मत्थ संगह से है। ये धम्मपाल आनन्दाचार्य के शिष्य थे। सासनवंस में धनिमपालचरियों के नाम से उनका उल्लेख मिलता है। कहीं-कहीं उन्हें चूलधम्मपाल भी कहा गया है।

अभिधम्मत्थसंगह सरूप

अभिधम्मत्थसंगहसरूप की एक हस्तलिखित प्रति में पालि ३५३ के रूप में सुरक्षित है। इसका संपादन डॉ. चन्द्रभूषण वर्मा ने १९९५ में अंग्रेजी अनुवाद के साथ किया है। आचार्य अनिरुद्ध (ल. १२ वीं शती) के अभिधम्मत्थसंगहो पर लिखी इस पालि-टीका में चित्त, चेतसिक, रूप और निर्वाण के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। वर्मी परम्परा में इस पर लगभग चालीस टीकाएं लिखी गई हैं। थाई परम्परा में भी यह ग्रन्थ इसी तरह लोकप्रिय है।

इस टीका के रचयिता हैं भिक्खु सिरिबन्ध (अथवा सिरिबद्ध) जो १९ वीं शती के विद्वान हैं। इसकी लिपि मूल कम्बोडियन है। अधिक संभव है कि लेखक कम्बोडिया निवासी रहा हो। वर्मी परम्परा में अभिधम्म पर निम्नलिखित ९ टीकाएं मिलती हैं -

१) परमत्थविनिच्छय - अनिरुद्धकृत
२) नामरूपपरिच्छेद - अनिरुद्धकृत
३) अभिधम्मावतार - बुद्धदत्तकृत
४) रूपारूपविभाग- बुद्धदत्तकृत
५) सच्चसंखेप - धम्मपालकृत
६) महाविच्छेदनी - महाकस्सपकृत
७) खेमप्पकरण या नामरूपसमास - खेमकृत
८) नामाचारदीपक - सद्धम्मजोतिपालकृत
९) अभिधम्मत्थसंगह - अनुरुद्धाचार्यकृत

अभिधम्मत्थसंगह पर अनेक अनुटीकाएं लिखी गई हैं जिसकी एक संक्षिप्त सूची इस प्रकार है -

१. अभिधम्मत्थविभावनी - सुमंगलकृत
२. अभिधम्मत्थसंगहअट्ठकथा - अज्ञात कर्तृक
३. अभिधम्म संगहदीपनी - अज्ञातकर्तृक
४. अभिधम्मत्थ संगह ग्रन्थ - अज्ञातकर्तृक
५. अभिधम्मत्थ मधु ग्रन्थ - अज्ञातकर्तृक
६. अभिधम्मत्थ पदयोजना ग्रन्थ - अज्ञातकर्तृक

७. अभिधम्मत्थ पकरण ग्रन्थ - अज्ञातकर्तृक
८. अभिधम्मत्थ परित्त - मौंग तुन औंग
९. अभिधम्मत्थ टीका - विमलबुद्धि
१०. अभिधम्मत्थ टीका विवरण - अज्ञातकर्तृक
११. अंकुरटीका - विमल सदवकृत
१२. दसगंठिवण्णना - वेपुल्लबुद्धि
१३. महा अतुलटीका - मदनदीपमाला
१४. नवनीत टीका - धर्मानन्दकोसाम्बी
१५. नवानुटीका - अरियवंस
१६. नवानुटीका - अज्ञातकर्तृक
१७. परमत्थदीपनी टीका - लेदी सदव
१८. परमत्थविसोधनी - भदन्त नागिन्दसामी
२०. पराणटीका - महाकस्सप
२१. सरूपदीपक - अज्ञातकर्तृक
२२. सरूपदीपनी - अज्ञातकर्तृक
२३. संखेपवण्णना - छपट
२४. संखेपटीका - धम्मकेतु
२५. सीहलव्याख्यान - चन्दगोमि
२६. अभिधम्मत्थसंगह सरूप - सिरिबन्ध सिरिभद्दभिक्खु

अभिधम्मत्थसंगह सरूप ९ अध्यायों में विभक्त है। इसकी गन्थारम्भकथा में यह गाथा मिलती है।

निरंगणञ्च निम्मलं लोकनाथं भिवन्दिय
बुद्धं धम्मं च संघं च निस्सयपकरणाय।
धम्मसरूपकामेन सिरिभद्देन भिक्खुना
याचितो हं करिस्सामि अभिधम्मत्थसरूपकं।।

इस गाथा के अनुसार इस टीका के रचयिता सिरिभद्दभिक्खु हैं। इस ग्रन्थ के ९ अध्यायों के नाम हैं -

१. चित्तपरिच्छेद वण्णना

२. चेतसिक परिच्छेद वण्णना

३. पकिण्णक परिच्छेद वण्णना

४. वीथिपरिच्छेद वण्णना

५. वीथिमुत्त-परिच्छेद-वण्णना

६. रूप परिच्छेद-वण्णना

७. समुच्चय परिच्छेद वण्णना

८. पच्चय परिच्छेद वण्णना

८.कम्मट्ठान

इसी तरह **मोहविच्छेदनी** नामक ग्रन्थ अभिधम्म के सातों ग्रन्थों की मात्तिकाओं पर लिखी गई है। लेखक हैं कस्सप जो नागाननविहारवासी थे। यह विहार चोल सम्राट राजाधिराज ने बनवाया था। इसका समय है १२०० ई.।

पालि टीका साहित्य

महाविहारवासी भिक्षुओं ने धम्म, विनय और अभिधम्म को अधिक स्पष्ट करने की दृष्टि से टीकाएं और अनुटीकाएं तथा व्याकरण, कोश आदि ग्रन्थ लिखे। यह क्रम श्रीलंका के अधिराज पराक्रमबाहु प्रथम (११५३-११८६ ई.) के बाद अधिक विकसित हुआ। १२ से १४ वीं शताब्दी तक इस प्रकार का पालि साहित्य श्रीलंका में अधिक लिखा गया। बाद में १५ से १९ वीं शताब्दी तक वर्मा का स्थान प्रमुख रहा। यहां हम मात्र वर्मी टीकाओं का उल्लेख कर रहे हैं।

१. अभिधम्म टीकाएं - पराक्रमबाहु प्रथम के शासनकाल में उदुम्बरगिरि विहार के निवासी सिंहली स्थविर महाकस्सप की अध्यक्षता में एक संगीति आहूत की गई जिसका उद्देश्य पालि साहित्य पर टीकाएं लिखकर धम्म का प्रचार करना था। इस दृष्टि से बुद्धघोष की अट्ठकथाओं पर निम्नलिखित टीकाएं लिखी गईं जिनका विवरण इस प्रकार हैं - १. सारत्थदीपनी - समन्तपासादिका की टीका, २. पठम सारत्थमंजूसा-सुमंगलविलासिनी की टीका, ३. दुतिय सारत्थ मंजूसा - पपंचसूदनी की टीका, ४. ततिय सारत्थमंजूसा- सारत्थप्पकासिनी की टीका, ५. चतुत्थ सारत्थ मंजूसा - मनोरथपूरणी की टीका, ६. पठम परमत्थप्पकासिनी-अट्ठसालिनी की टीका ७. दुत्तिय परमत्थप्पकासिनी - सम्मोह विनोदनी की टीका ८. ततिय परमत्थप्पकासिनी-पंचप्पकरण अट्ठकथा की टीका।

इन टीकाओं में निम्नलिखित अभिधम्म टीकाएं उल्लेखनीय हैं। १. आनन्द की अट्ठसालिनी मूल टीका। यह टीका कलसपुरवासी आनन्द ने लिखी। इस टीका को लीनत्थ जोतिका या लीनत्थपदवण्णना भी कहा जाता है। अट्ठसालिनी मूलटीका की प्रशस्ति के अनुसार इसके लेखक आनन्द और प्रेरक धम्ममित्त थे। वजिरबुद्धि के अनुसार आनन्द विनय में भी दक्ष थे।

२. धम्मपाल की टीकाएं

परमत्थदीपनी के अतिरिक्त धम्मपाल ने बुद्धघोष द्वारा लिखित चारों निकायों की अट्ठकथाओं पर टीकाएं लिखीं (गन्धवंस, ६०, ११ पिटकतसमुयिन नं. १९९-२०१)। **लीनत्थप्पकासिनी** धम्मपाल की टीका है आनन्द की लीनत्थजातिका पर। लीनत्थप्पकासिनी नाम की एक जोतिका टीका भी है। **नीलत्थवण्णना अनुटीका और विभंग अनुटीका एवं पंचप्पकरण अनुटीका** भी धम्मपाल की कृतियां हैं, ऐसा परमत्थदीपनी में कहा है। विसुद्धिमग्ग और नेत्तिपकरण पर भी उनकी टीकाएं मिलती हैं। विसुद्धिमग्ग पर लिखी टीका का नाम परमत्थमंजूसा है जो सिद्धगामपरिवेणवासी दाठनाग की प्रेरणा पर लिखी गई थी।

धम्मपाल की **नेत्तिअट्ठकथा** थेर धम्मरक्खित की प्रेरणा पर लिखी गई और उनकी परमत्थदीपनी भी। नेत्ति. चार निकायों पर केन्द्रित है। इसके लेखक नागपट्टन के धम्मासोकाराम में रहते थे। धम्मपाल ने अपनी ही नेत्ति अट्ठकथा पर एक टीका भी लिखी थी।

लीनत्थवण्णना

इसका प्रारंभिक भाग लीनत्थप्पकासिनी जैसा है। गन्धवंस (६०.५.१३) में तो उसे लीनत्थप्पकासिनी कहा ही है। सारिपुत्त ने पालिमुत्तक विनय नामक विनिच्छयसंघ पर टीका लिखी। लगता है, धम्मपाल के साहित्य का पूर्ण परीक्षण होने के बाद सारिपुत्त और धम्मपाल के ग्रन्थों का निश्चय किया जा सकता है। जैसे ही परमत्थदीपनी और लीनत्थवण्णना के अन्तर उल्लेखों का स्पष्टीकरण हो जाता है, दो धम्मपालों के प्रश्न का भी उत्तर मिल जाता है। सुमंगलविलासिनी में भर्तृहरि का उद्धरण मिलता है (भाग ३. ११९)। भर्तृहरि का समय लगभग ५वीं शताब्दी है। अत: धम्मपाल बुद्धघोष से अल्पवयस्क होना चाहिए और उनका समय पांचवीं शती के बाद ही होगा।

इस तरह अभिधम्मत्थसंगहो पर निम्नलिखित प्रमुख टीकाएं उपलब्ध हैं - १) सुमंगल कृत अभिधम्मत्थ-विभावनी, अज्ञातकृत अभि. अट्ठकथा, अभि. दीपनी,

अभि. गन्थ, अभि. मधु, अत्रिपदयोजना, अभि. पकरण, अभि. टीका - विवरण, नवानुटीका, सरूप-दीपक, सरूप-दीपनी, ११) मौंगटुन औंगकृत अभि. परित्त, १२) विमलबुद्धकृत अभि. टीका, १३) विमल सयदव कृत अंकुर टीका, १४) वेपुल्ल बुद्धिकृत दसगंठिवण्णना, १५) भदन्त दीपमाला कृत महा-अतुल-टीका, १६) धर्मानिन्द कौशांबी कृत नवनीतटीका, १७) अरियवंसकृत नवानुटीका, १८) लेदी सयदवकृत परमत्थदीपनी, (१८०१ ई.)।

अभिधम्मत्थसंगहो पर एक अज्ञातकर्तृक **सरूप टीका** है जो कम्बोडियन लिपि में उपलब्ध है। अभिधम्मत्थविभावनी टीका में समागत २३० मूलों को सुधारकर वर्मा के भिक्षु लेदी सयदव (१९ वीं शताब्दी) ने परमत्थ दीपनी टीका की रचना ई. सन् १८९७ में की।

कुछ और भी अभिधम्म परिचय पुस्तिकाएं हैं - जैसे - **परमत्थविनिच्छय** यह ग्रन्थ ३९ परिच्छेदों में विभक्त है और ११४६ पद्यों में रचित है। इसके लेखक हैं दक्षिण भारतीय कांची में काबेरीनगर निवासी अनुरुद्ध। प्रेरक थे संघ विसेट्ठ।

३. विनयगंथिपद वजिरबुद्धिकृत

वजिरबुद्धि का विनयगंथिपद एक प्रकार की टीका है। गंथिपद धम्मसिरि का उल्लेख करता है और अनुगंथिपद वजिरबुद्धि का। वजिरबुद्धि **पोराणगंथिपद** का उल्लेख करते हैं जो धम्मसिरि से अज्ञात नहीं है और आनन्द धम्मसिरि का उल्लेख करते हैं। इनका क्रम इस प्रकार संयोजित किया जा सकता है - पोराणगंथिपद-**धम्मसिरिगन्थिपद**-आनन्द-वजिरबुद्धि। उपतिस्सऔर बुद्धमित्त थेर धम्मिसिरि के समकालीन थे और उन्हें वजिरबुद्धि ने उच्चकोटि का विद्वान माना है। धम्मसिरि खुद्द के लेखक रहे और गन्थिपद के भी। उनका समय कलसपुर के आनन्द से पूर्ववर्ती होना चाहिए। अतः वजिरबुद्धि और धम्मपाल समसामयिक होना चाहिए और यह समय होगा ५५०-६०० ई.।

४. सारिपुत्त और बुद्धनाम की अनुटीकाएं

पराक्रमबाहु ने १२ वीं शताब्दी में श्रीलंका में कुछ ऐसे सुधार किये जिनसे वहां का धर्म और साहित्य प्रभावित हुआ, संघ में एकीकरण के भाव पैदा हुए और महाविहार परम्परा का प्रभुत्व बढा। विनय नियमों के पालन करने में संघ को दृढता दिखानी पडी और सारिपुत्त को **'पालिमुत्तकविनयविनिच्छय संघ'** ग्रन्थ को लिखने के लिए नियुक्त किया और समन्तपासादिका पर टीका लिखने के लिए प्रेरित किया।

सारत्थदीपनी

सारत्थदीपनी टीका में किसी लेखक का नामोल्लेख यद्यपि नहीं है पर सारत्थदीपनी में सारिपुत्त का नामोल्लेख है। सारिपुत्त पराक्रम बाहु प्रथम द्वारा निर्मित जेतवन विहार में रहते थे (महावंस, ४८.३४)। सारत्थदीपनी के निगमन के अनुसार उसके लेखक सारिपुत्त हैं। इसे लीनत्थदीपनी भी कहा गया है। यह संक्षिप्त पर सारगर्भित अनुटीका है सिंहल की गंठिपद टीका कठिन है अतः उन्हें पालि में रूपान्तरित किया गया। वजिरबुद्धि की अपेक्षा सारिपुत्त की इस टीका के लेखन का उद्देश्य वजिरबुद्धि से भिन्न था। सारिपुत्त ने समूचे सुत्तन्त पर सारत्थ मंजूसा नामक एक अनुटीका भी लिखी थी। आज मात्र मनोरथपूरणी पर लिखी ही टीका मिलती है।

सारत्थमंजूसा अंगुत्तरटीका

समन्तपासादिका टीका की तरह इसकी भी भूमिका में पराक्रमबाहु प्रथम का नाम प्रेरक के रूप उल्लिखित है। निगमन में भी यही है पर वहां लेखक का नाम नहीं है। लगता है, सारिपुत्त ने सुत्तन्त पर एक ही टीका लिखी थी। उनका अन्यत्र कहीं उल्लेख नहीं मिलता। सारिपुत्त के शिष्य बुद्धनाम ने अवश्य कंखावितरणी पोराण टीका तथा विनयत्थ मंजूसा टीकायें लिखी हैं। कंखावितरणी पोराणटीका का दूसरा नाम **'लीनपदविकासक'** भी मिलता है। इसमें वजिरबुद्धि को अनेक बार उद्धृत किया गया है। पोराणगंठिपद, गंठिपद, और अनुगंठिपद जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है। थेर उपतिस्स ने भी इसमें स्थान पाया है।

विनयत्थ मंजूसा

इसमें विस्तृत निगमन है और उसमें पराक्रमबाहु प्रथम की प्रशंसा की गई है। इसके अनुसार लेखक बुद्धनाग पोलन्नरुवा के चोलकुलिन्दक परिवेण में रहते थे। वे महाथेर और महासामि सारिपुत्त के शिष्य थे। सुमेध कदाचित् सारिपुत्त के गुरु थे। सुमेध के आदेश से बुद्धनाग ने विनयत्थमंजूसा लीनत्थपकासनी मातिकट्ठकथा लिखी।

५. उत्तरकालीन अनुटीकाएं

विनय संखेपट्ठकथा

Peter Kiefter Pulo के अनुसार Bavarian State Library Munich में **विनयलक्खणरासी** नामक एक अपूर्ण पालि पाण्डुलिपि संग्रहीत है जिसका लेखक है नाणिन्द थेर। वर्मी पुस्तकालय में इस नामकी अनेक पाण्डुलिपियों के नाम मिलते हैं, विशेषतः **लक्खणरासी** के नाम से। उनमें से कुछ वर्मी टीकाएं भी हैं।

विनय लक्खणरासी में नौ विनय ग्रन्थों का संग्रह किया गया है - १. कंखावितरणी अट्ठकथा, २. पातिमोक्खपदत्थनुवण्णना, ३. खुद्दसिक्खा-अभिनवटीका, ४. विनयालंकारटीका, ५. विनयसंखेप - अट्ठकथा, ६. समन्तपासादिका, ७. वजिरबुद्धिटीका, ८. सारत्थदीपनी और ९. विमत्तिविनोदनी टीका। इसमें लेखनतिथि का कोई उल्लेख नहीं है। लेखक नाणिन्द उस समय मात्र २३ वर्ष का था और वर्मा के साकवनाराम (व्यान्त) में रहता था। उपर्युक्त नव ग्रन्थों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विनय संखेयट्ठकथा का संकलन लगभग १२-१३ वीं शती में हुआ होगा।

विनय संखेपट्ठकथा और पालिमुत्तकविनय विनिच्छयसंगह में अनेक संदर्भो में समानता दिखाई देती है, जैसे - १. अध्यायों के विभाजन में २. पालिमुत्तक विनय विनिच्छय संगह से अधिक समानता सामग्री को व्यवस्थित करने में, और ३. शाब्दिक समानता। फिर भी विनयसंखेपट्ठकथा में कुछ अध्याय स्वतन्त्र भी हैं और कुछ समन्तपासादिका और उसकी टीकाओं से भी सामग्री एकत्रित हुई है। अतः यह कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ स्वतन्त्र होना चाहिए और विमतिविनोदनी टीका के बाद १२-१३ वीं शती में लिखा गया होगा।

टीकाओं और अनुटीकाओं के लेखन की परम्परा १५ वीं शताब्दी तक चलती रही। ञाणकित्ति ने विनय और अभिधम्म पर टीकाएं लिखीं। वे अभिनवपुर के पंसाराम विहार में रहा करते थे। उनकी समन्तपासादिका अत्थयोजना, अट्ठसालिनी अत्थयोजना और विभंग अट्ठकथा अत्थयोजना टीकाएं प्रसिद्ध हैं। व्याकरणात्मक टिप्पणियां उन्होंने अच्छी मात्रा में दी हैं। **अभिधम्मट्ठकथा अत्थ योजना** भिक्षु शुद्धशील के आग्रह पर १५०२ ई. में लिखी गई। उसे पंचिका नाम अत्थयोजना भी कहा जाता है।

नेत्तिविभावनी नेत्ति अट्ठकथा पर लिखी गई टीका है। इसके लेखक हैं महाथेर और महाधम्मराजगुरु सद्धम्मपाल जिन्होंने इसे १५६४ ई. में समाप्त किया महाधम्मराज राजा के मन्त्री अनन्तसुति के आग्रह पर।

दीघनिकाय के सीलक्खंधवग्ग पर एक वर्मी भिक्षु संघराज ञाणाभिवंस धम्मसेनापति धम्मराजाधिराजगुरु ने १८०० ई. में टीका लिखी। उनकी **साधुजन विलासनी नामक एक और अत्थयोजना** प्राप्त होती है। इसमें उन्होंने बोदवपय राजा द्वारा निर्मित अमरपुर के विहारों की सूचना दी है। नेत्तिपकरण पर ञाणाभिवंस की **पेटकालंकार टीका** भी उल्लेखनीय है।

लेदी सयदव और उनके कतिपय अभिधम्म पालि ग्रन्थ

लेदी सयदव आधुनिक कालीन पालि साहित्यकारों में अग्रगण्य हैं। उनका जन्म वर्मा के सैंग-प्पिन-क्यी नामक ग्राम में ई.सन् १८८६ में हुआ। उनके माता-पिता

उन्हें ''तत्खौंग'' कहा करते थे जिसका तात्पर्य होता है - बौद्धधर्म के शिखर तक पहुंचने वाला व्यक्तित्व। बाद में उन्हीं को लेदी सयदव के नाम से पहचाना गया। उनके ही नाम से वहां लेदी निकाय की भी स्थापना हुई। '**ञाणधज**' भी उनको कहा जाता था। देश-विदेश में वे बौद्धधर्म के एक प्रतिष्ठित, विद्वान और योगी-ध्यानी माने जाते रहे हैं। वे जंगल में रहकर ध्यान किया करते थे।

बाल्यावस्था से ही लेदी सयदव लोकनीति, धर्मनीति और परित्तसुत्तों का अध्ययन करते रहे। १५ वर्ष की अवस्था में उन्होंने सयदव उनन्दा से श्रामणेर की दीक्षा ली और १८६६ में उपसम्पदा ग्रहण की। राजा मिण्डोन ने अपनी राजधानी मण्डलय में उन्हें बौद्धशासन के प्रचार के लिए एक विहार का दान किया। यहां रहकर उन्होंने पालि त्रिपिटक का गहन अध्ययन किया और भिक्षुओं को पातिमोक्ख का पाठ कराया। उस समय वहां लगभग ८०००० भिक्षु थे।

उसी समय वहां भदन्त जागर नरिंद तथा सुमंगल के सान्निध्य में पंचम बौद्ध संगीति का भी आयोजन किया गया। भिक्षुओं ने मौखिक रूप से त्रिपिटक का पाठ किया। सयदव ने कथावत्थु का पुनरावर्त किया। इसी समय राजा महाधम्मराज ने ७२९ माखल पाषाण खण्डों पर पालि त्रिपिटक को उत्कीर्ण कराया १८७१ ई. सन् में। इस समय तक लेदी सयदव पालि त्रिपटक और व्याकरण के अधिकृत व्याख्याता हो चुके थे। फलतः राजा ने उन्हें 'पठमसाछ' की उपाधि से अलंकृत किया।

अभिधम्म से सम्बद्ध विशेष प्रश्नों का समाधान करते हुए लेदी सयदव ने '**पारमी दीपनी**' टीका की रचना की। इसी समय उन्होंने मनिसार मंजुस्टीका की निगम गाथाओं का वर्मी भाषा में अनुवाद भी किया। अभी तक अभिधम्म के अध्ययन के लिए भिक्षुओं को श्रीलंका पर निर्भर रहना पडता था। लेदी सयदव ने इस कठिनाई का अध्ययन किया और **अभिधम्मत्थ विभावनी टीका** में २३० भूलों को सुधारकर परमत्थ दीपनी टीका ई.सन् १८९७ में लिखी। इसी बीच उन्होंने पालि टीका **लक्खण दीपनी** और **उपोसथ सील विनिच्छय** की भी रचना की।

मेत्ता भावना के आधार पर लेदी सयदेव ने मांसाहार का निषेधकर शाकाहार को प्रोत्साहन दिया और पशु-पक्षियों की जिन्दगी को बचाने का आह्वान किया। इसके अतिरिक्त सयदव के निम्न **पालि ग्रन्थ** भी अवलोकनीय हैं - पटिच्च समुप्पाद दीपनी (१८९७ ई.), पुण्णोवाद कम्मट्ठान (१८९९ ई.) विज्ञामग्ग दीपनी (१८९९ ई.), पण्डित वेदनीय दीपनी (१८९९ ई.), उत्तमपुरिस दीपनी (१९०२ ई.), आहारदीपनी, अनत्तदीपनी और धम्मदीपनी (१९०३-४ ई.), सम्मादिट्ठि दीपनी, चतुसच्चदीपनी,

कम्मट्ठान दीपनी, परमत्थसंखेप, निरुत्तिदीपनी (१९०५ ई.)। निरुत्तिदीपनी मोग्गल्लान व्याकरण पर लिखी टीका है। इसमें उन्होंने कच्चायना रूपसिद्धि और सद्दनीति के विषय को भी समाविष्ट किया है। आनापान दीपनी, परमत्थसंखित्त (वर्मी भाषा में), भावनादीपनी, बोधिपक्खियदीपनी, सद्दसंखेप (१८०७ई.), विपस्सना दीपनी आदि।

सयदव की पालि विद्वत्ता को देखकर ब्रिटिश सरकार ने उन्हें 'अग्गमहापंडित की उपाधि दी और यांगोन विश्वविद्यालय ने डी.लिट्. उपाधि से सम्मानित किया। १९२३ ई. में उनका देहावसान हो गया। यहां इन ग्रन्थों में से कतिपय विशिष्ट ग्रन्थों का यहां परिचय दिया जा रहा है। पाठकों और साधकों के लिए उनकी विशेष उपयोगिता हो सकती है -

१) विपस्सना दीपनी

विपस्सना की पृष्ठभूमि में तीन विप्पलासों (भ्रान्तियां) का विवेचन हुआ है - संज्ञा, चित्त और दृष्टि विप्पलास। इन्हें क्रमशः जंगली हिरण, जादूगर और पथमुक्तव्यक्ति का उदाहरण देकर समझाया गया है। इसी तरह तीन प्रकार की मञ्ञना (कल्पनाएं) होती हैं - तण्हा, मान और दिट्ठि। दो अभिनिवेश होते हैं - तण्हा और दिट्ठि। दो भूमि होती हैं - पुथुज्जन और अरिय भूमि। इसी नाम की दो गतियां हैं। दो सत्य हैं - सम्मुति और परमत्थ सच्च। यहीं चित्त, चेतसिक और निब्बाण का भी सुन्दर विवेचन हुआ है। महाभूत, भाव, जीवितरूप, आहार रूप, गोचर रूप, विञ्ञत्तिरूप, विकाररूप, लक्षणरूप, अभिञ्ञा, परिञ्ञा, अनत्ता आदि को भी विस्तार से स्पष्ट किया गया है। विपस्सना दीपनी का लेखन २७ फरवरी १९१५ ई. सन् में समाप्त हुआ।

२) पट्ठानुद्देस दीपनी

इसमें ३४ पच्चयों की विवेचना निम्न शीर्षकों से की गई है - हेतुपच्चय, आरम्मण, अधिपति, अनन्तर, समनन्तर, सहजात, अञ्ञमञ्ञ, निस्सय, उपनिस्सय, पुरेजात, पच्छजात, आसेवन, कम्म, विपाक, आहार, इन्द्रिय, झान, मग्ग, सम्मपयुत्त, विप्पयुत्त, अत्थि, नत्थि, विगत, और अविगत। इन सम्बन्धों को सोदाहरण स्पष्ट किया है। बौद्धधर्म के अनुसार सभी पदार्थ सापेक्ष हैं और यही सापेक्षता **'पच्चय'** शब्द से सूचित होती है। 'पच्चय' का तात्पर्य है उपकारक धर्म। हेतु का अर्थ है मूल। हेतुत्वेन उपकारक होने पर हेतुपच्चय कहलाता है। उदाहरणार्थ बीज अंकुर का हेतुपच्चय है। **पट्ठान** का अर्थ है मूलकारण-प्रधान कारण। यहां सम्बन्धों की विस्तृत व्याख्या की गई है।

सम्मादिट्ठि दीपनी

सम्मादिट्ठि के सन्दर्भ में यहां सर्वप्रथम तीन मिच्छादिट्ठियों का विवेचन है - पुब्बेकतहेतुदिट्ठि, इस्सरनिम्मानहेतुदिट्ठि और अहेतु-अपच्चयदिट्ठि। इनका फिर खण्डन किया गया है। यहां कम्मस्सकावाद को स्पष्ट करते हुए अत्ता और अनत्ता को स्पष्ट करते हुए सन्ततिवाद की उपस्थापना उदाहरणों के साथ की गई है।

नियाम दीपनी

इसमें प्रकृति के नियमों की चर्चा की गई है। ये नियम पांच प्रकार के हैं - उतु, बीज, कम्म, चित्त और धम्म नियम। इनका सोदाहरण विवेचन करने के बाद सम्मुतिसच्च और परमत्थसच्च, इन दो सत्यों को तथा पांच प्रकार के कल्पों, चार प्रकार के अचिन्तेरय, तीन प्रकार के लोक, तथा प्रतीत्यसमुत्पाद अ‍ैर धम्मनियाम का विस्तृत विवेचन किया है।

चतुसच्चदीपनी

इसमें पंचस्कन्ध, द्वादश आयतन, अष्टादश धातुप्रकार आदि तत्त्वों का स्पष्ट विवेचन किया गया है।

बोधिपक्खिय दीपनी

प्रारम्भ में पुग्गलपञ्ञत्ति और अंगुत्तरनिकाय के समान पुद्गल को चार भागों में विभाजित किया गया है - उग्घटितञ्ञू, २) विपचतञ्ञू, ३) नेय्य, ४) पदपरम। वहीं तीन प्रकार के रोगियों का भी वर्गीकरण हुआ है जिन्हें उपर्युक्त चार प्रकार के पुद्गलों से समीकृत किया जा सकता है। प्रथम तीन प्रकार के पुद्गल सोत्तापत्ति श्रेणी के होते हैं और पदपरम श्रेणी के पुद्गल सकदागामी में गिने जा सकते हैं। इस श्रेणी के पुद्गल शील, समाधि और प्रज्ञा की साधना करते हैं, विद्या और चरण की आराधना करते हैं। चरण के अन्तर्गत दान, शील, इन्द्रियसंवर, भोजनमत्तञ्ञुता, जागरियनुयोग, सद्धम्म और चार ध्यानों का अन्तर्भाव है। सद्धम्म का तात्पर्य है सद्धा, सति, हिरि, ओत्तप्प, बहुसच्च, वीरिय और पञ्ञा।**मिच्छाधम्म** धम्मन्तराय हैं, धर्मपालन में विघ्न पैदा करने वाले हैं। पारमिताओं की साधना के बिना उन्हें दूर नहीं किया जा सकता है। कुशलकम्म करने से पारमिताओं की साधना की जा सकती है।

इसके बाद यहां सतिपट्ठान (४), सम्मप्पधान (४), इद्धिपाद (४), इन्द्रिय (५), बल (५), सम्बोध्यंग (७), और मग्गंग (८), इन ३७ बोधिपाक्षिक धर्मो का विवेचन हुआ है। शील विशुद्धि के माध्यम से इनकी साधना की जा सकती है। ये बोधिपाक्षिक धर्म बुद्ध शासन की महनीय संपदा है। इस शासन के अधिकारी हैं - भिक्खु, भिक्खुणी, सामणेर, सामणेरी, सिक्खमान, उपासक और उपासिका।

मग्गंग दीपनी

इसमें अष्टांगिक मार्गों का विवेचन है। सम्मादिट्ठि के अन्तर्गत कम्मस्सकता सम्मादिट्ठि, दसवत्थुक सम्मादिट्ठि और चतुसच्च सम्मादिट्ठि को विस्तार से स्पष्ट किया गया है। यहां कुशल-अकुशल कर्मो की व्याख्या करते हुए वर्तमान और अतीतकृत कर्मो का आख्यान हुआ है और साथ ही सब्बे सत्ता कम्मपटिसरणा, कम्मदायादा, चतुदार्यसत्य, सम्मासति, वट्ट (संसार), दिट्ठि, निब्बाण, अनिच्च, दुक्ख, अनत्त के स्वरूप को स्पष्ट किया है। इन पालि ग्रन्थों के अतिरिक्त उनके अन्य पालि ग्रन्थ भी अध्ययन की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। उदाहरणतः परमत्थदीपनी टीका में लेखक ने अभिधम्मत्थ विभावनीटीका में आगत २३० भूलों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है।

इस प्रकार पालि अट्ठकथा साहित्य का परिमाण बहुत विशाल है। उसका वैविध्य भी फैला हुआ है। भले ही वह सिंहली अट्ठकथाओं पर आधारित रहा हो पर उत्तरकाल में उनके लेखकों ने उसमें जो तत्कालीन संस्कृतिक सामग्री का आकलन किया है वह भारतीय सांस्कृतिक परिवेश को समझने के लिए एक सशक्त और प्रामाणिक दस्तावेज है। उसकी संरचना श्रीलंका के महाविहारवासी परम्परा पर आधारित रही है। बुद्धघोष ने अनेक स्थानों पर 'पोराणकत्थेरा' कहकर उल्लेख भी किया है। बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल की अट्ठकथाएं संस्कृत-प्राकृत की वृत्ति, चूर्णि और व्याख्याओं से कम नहीं हैं।

इन अट्ठकथाओं में उत्तरकालीन बौद्ध सम्प्रदायों के संदर्भ उपलब्ध होते हैं। उन सन्दर्भो की पृष्ठभूमि में बौद्धधर्म के विकास की कथा प्रच्छन्न है। हम जानते हैं, वैशाली की संगीति में विनय की दस वस्तुओं के कारण संघभेद प्रारम्भ हुआ जो पाटलिपुत्र संगीति में स्थापित हो गया। वैशाली संगीति के स्थविर अर्हत्, भिक्षुओं के विरोध में महादेव की नयी पांच वस्तुएं प्रतिपादित हुई। इस प्रकार संघ दो भागों में विभक्त हो गया - १) पूर्वी भिक्षु जिनमें अर्हत् कम और नये विनय के पक्षधर थे, और २) पश्चिमी भिक्षु जो कौशाम्बी, मथुरा और अवन्ती में केन्द्रित थे। उनमें स्थविर भिक्षुओं का प्राधान्य था। इस कारण पहला वर्ग महासांघिक कहलाया और दूसरा वर्ग स्थविर के नाम से परिचित हुआ। इनमें अट्ठकथा साहित्य स्थविरवर्ग से सम्बद्ध है। पर वहां महासांघिक विचारधारा

का भी जहां-तहां उल्लेख मिलता है। कालान्तर में महादेव के कारण महासांघिकों का एक केन्द्र आन्ध्रप्रदेश बना। बुद्धघोष ने उन्हें अन्धक या अन्धक कहा है अमरावती में इन्हीं महासांघिकों का एक महाचैत्य था। यहीं से महायान का विकास हुआ।

इन पालि अट्ठकथाओं और टीकाओं का सांस्कृतिक मूल्यांकन अभी भी अपेक्षित है। इनमें बौद्धधर्म के विकास की अन्तर्कथाएं तो गुम्फित हैं ही, समूची भारतीय संस्कृति के ऐसे विविध पक्ष या तो अनुद्घाटित लगते हैं या उद्घाटित तत्त्वों के साक्षी बन जाते हैं। उदाहरण के तौर पर राजा वसभ का उल्लेख है जो जैन सांस्कृतिक परम्परा में आदि तीर्थंकर के रूप में प्रस्थापित हैं। वैसे भी जैन परम्परा को प्राचीनतम सिद्ध करने के लिए पालि साहित्य ने एक अहम् भूमिका का निर्वहन किया ही है। इसी तरह अजातशत्रु, उदयन, प्रसेनजित, अशोक आदि महाराजाओं के योगदान के उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। श्रीलंका के इतिहास की दृष्टि से भी अट्ठकथाओं का महत्त्व कम नहीं है। वहां यह पौराणिक उल्लेख मिलता है कि तथागत बुद्ध ने वहां तीन बार विहार किया (समन्त. भा. १. पृ. ८९)। देवानंपिय तिस्स और अशोक की मित्रता का भी वर्णन है। तिस्स का महिन्द से भी मिलना हुआ था (वही, पृ. ७३)। बोधिवृक्ष का आरोपण भी उसके लिए हितकर सिद्ध हुआ। अजातशत्रु के जन्म से पूर्व उसकी माता के दोहद आदि का उल्लेख भी दृष्टव्य है। भौगोलिक वर्णन भी महत्त्वपूर्ण है। इन सब दृष्टियों से अट्ठकथा साहित्य का अध्ययन किया जाना चाहिए।



परिवर्त ५
पालि वंस, आख्यान, काव्य, व्याकरण, छन्द और शिलालेखी साहित्य

१. पालि वंस साहित्य

पालि साहित्य की परिधि मात्र त्रिपिटक नहीं है, उसमें वंस, काव्य, व्याकरण, आख्यान, छन्द, चयनिका, शिलालेख आदि विधाएं भी पुष्पित हुई हैं। यहां हम उनका संक्षिप्त उल्लेख कर रहे हैं। **वंस** का अर्थ है परम्परा। प्राचीन भारतीय साहित्य में इस परम्परा का सम्बन्ध कुल, जाति, इतिहास, अध्यात्म, आचार्य आदि प्रवृत्तियों से संस्थापित है। सभी सम्प्रदायों में ये प्रवृत्तियां प्रचलित रही हैं। संस्कृत साहित्य में रामायण, महाभारत, हर्षचरित, नवसाहसांकचरित, राजतरंगिणी और प्राकृत अपभ्रंश साहित्य में पउमचरिय, पासणाहचरिय, महावीर चरिय, वड्ढमाणचरिय, सुपासणाहचरिउ आदि पुराण-चरित काव्य प्रसिद्ध हैं ही। पालि साहित्य में वंशपरम्परा का सम्बन्ध **इतिहास** विधा से है। इस की तुलना हम पुराण विधा से कर सकते हैं। अन्तर यह है कि इतिहास पुराण विधा अतिशयोक्ति और अतिरंजना से ओतप्रोत है जबकि वंश साहित्य में यह विशेषता प्रायः नहीं दिखाई देती। यदि मिलती भी है तो उतने परिमाण में नहीं। इतिहास-पुराण में सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश मन्वन्तर और वंशानुचरित का वर्णन मिलता है। इनमें पालि वंस साहित्य को वंश और वंशानुचरित के साथ रखा जा सकता है। यहां पालि में बुद्धवंस, अपदान जैसे ग्रन्थ पहले से ही विद्यमान थे जहां २४ बुद्धों की वंश परम्परा आबद्ध है। इसे हम वंश साहित्य की पृष्ठभूमि कह सकते हैं। धर्मवृत्त और कथाएं दोनों परम्पराओं के अंग हैं।

वंस साहित्य श्रीलंका के इतिहास से संबद्ध है। गायगर ने इसके सांस्कृतिक पक्ष को और पेरेरा ने ऐतिहासिक पक्ष को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है। इसमें इतिहास के साथ ही स्तूप और अस्थि-वितरण का भी वर्णन मिलता है।

वंस साहित्य से भारतीय इतिहास के अनेक बिन्दु निश्चित हो जाते हैं, जैसे बुद्ध के परिनिर्वाण के २१८ वर्ष बाद अशोक का राज्याभिषेक हुआ और बुद्ध का

जीवनकाल ५६३ ई.पू. से ४८३ ई.पू. के बीच निश्चित हुआ (२) बुद्ध बिम्बिसार की अपेक्षा पांच वर्ष ज्येष्ठ थे और बिम्बिसार अजातशत्रु समकालीन थे ३) नन्दराज, चन्दगुप्त मौर्य आदि ऐतिहासिक अधिपति हुए, ४) गौतमबुद्ध बौद्धधर्म के संस्थापक थे। प्रमुख पालि वंस साहित्य इस प्रकार है - सर्वप्रथम श्रीलंका का वंस साहित्य श्रीलंका के वंस साहित्य पर एक दृष्टिपात करते हैं।

श्रीलंका का वंस साहित्य

बुद्धवंस

वंस साहित्य का कदाचित् प्राचीनतम ग्रन्थ बुद्धवंस है जिसमें तथागत बुद्ध के अतिरिक्त २४ अन्य बुद्धों का चरित वर्णन मिलता है। उन बुद्धों के साथ उत्पन्न हुए बोधिसत्व के २४ जन्मों का वृत्तान्त भी इसमें उपलब्ध है। बुद्धवंस में वर्णित बुद्धों के नाम इस प्रकार हैं - तण्हंकर, मेधंकर, सरणंकर, दीपंकर, कोण्डिन्य, मंगल, सुमन, रेवत, सोमित, अनोमदस्सी, पद्म, नारद, पद्मोत्तर, सुमेध, सुजात, प्रियदर्शी, अर्थदर्शी, धर्मदर्शी, सिद्धार्थ, तिष्य, पुष्य, विपश्यी, शिखी, विश्वभू, ककुच्छन्द, कोणागमन, काश्यप, गौतम और मैत्रेय। इनमें २७ बुद्ध तथागत बुद्ध के पूववर्ती हैं और एक भविष्यत् काल में होंगे। इन सभी का वर्णन बुद्धवंस में मिलता है। अपदान में थेर-थेरियों का ही जीवनचरित वर्णित है, बुद्धों का नहीं। बुद्धवंस में वर्णित प्रायः सभी बुद्धों की जीवन घटनाएं सांची, भरहुत, नागार्जुनी कोंडा, सारनाथ, अजन्ता, एलोरा, अमरावती आदि स्थानों पर उत्कीर्ण हैं।

दीपवंस

दीपवंस द्वीप अर्थात् सिंहलदेश का प्राचीनतम ऐतिहासिक ग्रन्थ है। बुद्धघोष ने समन्तपासादिका की भूमिका में उसका उपयोग किया है। उन्होंने कथावत्थु में भी इसका आधार लिया है (१.५-८-६)। इसमें महासेन के शासनकाल (३२५-३५२ ई.) तक का सिंहल इतिहास वर्णित है। अतः इसकी रचना इसके पूर्व होनी चाहिए। लेखक का नाम अज्ञात है। चूलवंस के अनुसार इसका सार्वजनिक पाठ लंकानरेश धातुसेन (४६०-४७८ ई.) प्रतिवर्ष किया करता था। यह उसकी लोकप्रियता का सूचक है। बुद्धघोष की अट्ठकथाओं के समान दीपवंस का भी आधार प्राचीन सिंहली अट्ठकथाएं रही हैं - महाअट्ठकथा, महापच्चरी, कुरुन्दी, चुलपच्चरी, अन्धट्ठकथा आदि। अतः दीपवंस का समय बुद्धघोष से लगभग १०० वर्ष पूर्व होना चाहिए।

विद्वानों का मत है कि दीपवंस पालि अट्ठकथाओं के आधार पर लिखा गया है। यह श्रीलंका का इतिहास ग्रन्थ है। इसका लेखक अज्ञात है। मलालशेखर के अनुसार दीपवंस किसी एक लेखक की कृति नहीं है, समय-समय पर अनेक लेखकों ने उसे विकसित किया है। पेरेरा ने उसे चतुर्थ शती की कृति माना है। ओल्डनवर्ग और मलालशेखर ने उसे लगभग पंचमशती का ग्रन्थ स्वीकार किया है। इसमें श्रीलंका के मूहसिव से लेकर महानाम तक के राज्य का इतिहास दिया गया है। पर ये तथ्य कहां तक सही हैं, इसकी मीमांसा आवश्यक है।

दीपवंस २१ अध्यायों (भाणवारों) में विभक्त है और इसमें १३४७ श्लोक (जगतीछन्द) हैं। इसे महाकाव्य का रूप माना जा सकता है। इसमें कहीं-कहीं बीच में गद्यभाग भी उद्घृत है, जैसे ४.४७ के बाद विनयपिटक को उद्घृत किया है। व्याकरणिक और छन्दभूत त्रुटियां भी कहीं-कहीं दिखाई देती हैं। वर्णन में भी शिथिलता है। इसका रचनाकाल चतुर्थ-पंचम शताब्दी माना जा सकता है। दीपवंस के अनुसार सिंहल का प्रथम अभिषिक्त राजा विजय था। विजय का ही वंशज देवानंपिय तिस्स था जिसके काल में अशोक ने महेन्द्र और संघमित्रा को भेजा था सिंहल में बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसारके लिए। बोधिवृक्ष की शाखा भी इसी के समय अनुराधापुर में रोपी गई। बाद में सिंहल पर तमिलों का आक्रमण हुआ जिसे दुट्ठगामिणि ने रोका। उसने अनुराधापुर में स्तूप और लौहप्रासाद का निर्माण कराया। उसके बाद वट्टगामणि का राज्य हुआ जिसके शासनकाल में पालि त्रिपिटक का संगायन हुआ प्रथम शताब्दी ई.पू. में। अन्त में महासेन का शासन होता है (३२५-३५२ ई.) और फिर दीपवंस समाप्त हो जाता है। दीपवंस की **विशेषतायें** ये है -

१) इसमें आचार्यवाद के साथ सिंहल में बुद्ध का तीन बार आगमन और फिर बौद्धधर्म की स्थापना

२) घटनाओं और कथानकों के निर्देश सूचक शब्दमात्र दिये गये हैं।

३) घटनाएं लोकगीतात्मक ढंग से प्रस्तुत हुई हैं।

४) राजवंश का इतिहास विजय से महासेन तक है।

५) पुनरुक्ति और क्रमभंग है।

६) मोग्गलिपुत्त द्वारा पडोसी देशों में धर्म का प्रचार (परि. ८) और लंकाद्वीप की स्थिति (परि. १७)

७) अट्ठकथाओं सहित त्रिपिटक का लिपिबद्ध होना (परि. २०) आदि का वर्णन है।

इस ग्रन्थ को आख्यान परम्परा में रखा जाता है। गायगर और फ्राउलनर ने इस पर विशेष कार्य किया है। वंसट्ठप्पकासिनी नामक टीका इस पर लिखी गई है।

महावंस

महावंस का लेखक महाकवि **महानाम** पांचवीं शताब्दी का विद्वान इतिहासकार है। उसने दीपवंस के ही आधार पर महासेन के शासनकाल (३२५-३५२ ई.) तक का इतिहास ३७ अध्यायों में यहां निबद्ध किया है। दीपवंस की शैली से यह अधिक सरस, काव्यात्मक, विस्तृत और परिष्कृत है। इसका समय बुद्धघोष से पूर्ववर्ती होना चाहिए। महावंसटीका के अनुसार सेनापति दीघसंद द्वारा निर्मापित बिहार में रहकर लेखक ने इस ग्रन्थ को पूरा किया। यहां महावंस को "**पद्यपदोरूवंसगाथा**" भी कहा गया है। दीपवंस में दुट्ठगामणि की कथा १३ गाथाओं में है जिसे महानाम ने पल्लवितकर महाकाव्य बना दिया है। इसमें बहुत सी साहसपूर्ण और अद्भुत कथाएं भी संमिलित हो गई हैं। महानाम ने इन्हें सिहलट्ठकथा-महावंस से लिया। इसे ही महावंस की रचना का मूल स्रोत कहा जा सकता है। इसमें चमत्कारिकता अधिक है।

महावंसकार ने महावंस की रचना की पृष्ठभूमि स्पष्ट करते हुए कहा है कि पुराण कथाएं विस्तृत, संक्षिप्त और पुनरुक्त अधिक थीं। उन दोषों से मुक्तकर कथाओं को प्रामाणिक बनाया गया है - **पोराणेहि कतो पेसो ......**। वस्तुतः महावंस एक महाकाव्य है। इसका प्रारम्भ गौतम बुद्ध की जीवनगाथा से होता है जिन्होंने, कहा जाता है, तीन बार श्रीलंका की यात्रा की। इसके बाद बुद्ध का वंश इतिहास, महासम्मत आदि राजाओं का इतिहास, तीन बौद्ध संगीतियों का इतिहास, महासांघिक सम्प्रदाय का जन्म, विजय द्वारा श्रीलंका पर शासन, श्रीलंका में बौद्धधर्म का प्रवेश देवानंपिय तिस्स के राज्यकाल, अभय-पाण्डुकाभय आदि का शासन, दुट्ठगामणि द्वारा तमिलों का निष्कासन, वट्टगामणि के राजकाल में त्रिपिटक और अट्ठकथाओं के लेखन आदि का उल्लेख है।

चूलवंस (३८.५९) में समागत गाथा "**दत्वा सहस्सं दीपेतुं दीपवंसं समादिसि**" के आधार पर 'महावंस' को दीपवंस की **दीपिका** कहा जा सकता है क्योंकि इसमें दीपवंस का ही विस्तार किया गया है। समय समय पर महावंस में वृद्धि होती रही। धर्मकीर्ति ने पराक्रमबाहु (१२४०-१२७५ ई.) तक किसी अन्य विद्वान ने

कुछ और आगे तक, और फिर तिव्वोतुवावे सुमंगल ने १७५८ ई. तक तथा हिक्कडुवे सुमंगल ने इसे अंग्रेजों के शासनकाल (१८१५ ई.) तक परिवर्धित किया इसी को चूलवंस कहा जाता है।

दीपवंस और महावंस की तुलना करने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि १) दीपवंस की अपेक्षा महावंस अधिक विस्तृत और सशक्त है निर्वेद पैदा करने वाला है, काव्यात्मक है। २) यहां दीपवंस के समान ही बुद्ध का तीन बार लंकागमन बताया है। ३) देवानंपिय तिस्स ने अशोक के पास भेंट भेजकर मित्रता स्थापित की और फिर महेन्द्र, इट्ठिय, उत्तिय, सम्बल और भद्दसाल को लंका में बौद्धधर्म के प्रचार के लिए भेजा। ४) दीपवंस ने दुट्ठगामणि का वर्णन मात्र १३ पद्यों में किया जबकि महानाम ने महावंस में इसे ८६१ पद्यों में किया जो एक चरित काव्य जैसा हो गया। ५) महावंस में अभयगिरिविहार परम्परा का उल्लेख नहीं है, महाविहार परम्परानुगामी अधिक हैं ६) महावंस दीपवंस की अपेक्षा अधिक काव्यात्मक और इतिहास परम्परा के लिये हुए है। परिष्कृत भी है। पुनरुक्तियां भी नहीं हैं। ७) सामग्री और रचना की दृष्टि से समानता है। बहुत सी गाथाएं भी मिलती जुलती हैं। महावंस को हम इतिहास-पुराण का मिश्रित रूप कह सकते हैं। इसमें ९१५ गाथाएं हैं और परिवर्धित संस्करण में ५७९१ गाथाएं हैं।

चूलवंस

३७.५० अध्याय तक महावंस है **(महावंसो निट्ठितो)**। उसके बाद ३७.५१ से चूलवंस प्रारंभ हो जाता है जिसे पांच लेखकों ने परिवर्धित किया है -

१) धम्मकित्ति ने पराक्रमबाहु (११५३-११८६) तक १९८ गाथाएं जोडीं (७९ परिच्छेद तक)

२) बुद्धरक्खित ने पराक्रमबाहु (१३०२-१३३२) तक द्वितीय से लेकर पराक्रमबाहु चतुर्थ तक ८०-९० परिच्छेद तक रचना की।

३) तिव्वोटुवावे सुमंगल कित्तिसिरिराजसीहे (१७४६-१७८१) ने ९१ से १०० परिच्छेदों तक की रचना की कीर्तिश्री राजसिंह की मृत्यु तक (ई.सन् १७८५)।

४) हिक्कडुवे सिरि सुमंगल और बट्टुवन्तुदवे पण्डित ने १९१५ ई. तक मात्र १०१ वां परिच्छेद लिखा।

५) युगिरल पञ्ञानन्द ने १८१५ - १९३५ ई. तक लिखा। इसमें सिंहल की आधुनिक पालि रचनाओं पर प्रकाश पडता है।

महावंस टीका

महावंस पर एक टीका भी हुई है जिसका नाम है **अनुत्तानपदवण्णना**। उसे पद्यपदोरुवंस (गाथा) भी कहा जाता है। इसमें उत्तरविहार (अभयगिरिविहार) की अट्ठकथा का उल्लेख आता है महावंस ने जिसकी उपेक्षा की थी। इसमें विसुद्धिमग्ग (१८,१६) और समन्तपासादिका (१०४१-१५-१७) का भी उल्लेख आया है। इसमें महावंस के अतिरिक्त भी कुछ सूचनाएं हैं - जैसे सालिराजकुमार कथा, महागिरि विहार और अभयगिरिविहार के महावंसगत अन्तर। इस टीका को वंसत्थपकासिनी भी कहा गया है।

महावंसटीका का समय गायगर के अनुसार १००० ई. से १२५० तक माना जा सकता है। मलालसेखर ने इसे ८-९ वीं शती स्थापित किया है। इसमें बहुत से नये कथानक और दृष्टान्त जोड दिये गये हैं जिन्हें समन्तपासादिका और सुमंगलविलासिनी से लिया गया है।

विस्तृत महावंस

मलालसेखर ने Extended Mahavnsa के नाम से संपादित कर ई. सन् १९३७ में कालंबो से प्रकाशित किया। इसे साधारणतः महावंस की संज्ञा दी जाती है। इसमें २७ परिच्छेद हैं जिनकी रचना किसी अज्ञात **मोग्गल्लान** ने की। इसमें महावंस, बुद्धवंस, थूपवंस और महावंस टीका का उपयोग हुआ है। इसमें ५७९१ पद्य हैं। इसे कम्बोडियन महावंस भी कहा जाता है। इसमें तित्तिर जातक भी संमिलित है जो वर्मी संस्करण का अनुकरण करता है।

वंसमलिविलासिनी

बुद्धरथ ने महावंस के १३ में से मात्र ९ परिच्छेदों का सम्पादन किया है। यह वस्तुतः महावंस का ही संक्षिप्त रूप है। इसमें मिलिन्दपञ्हो और निदानकथा का भी उल्लेख अध्याय १३ में हुआ है। यहां बुद्ध की छठी केसधातु का वर्णन है। इन धातुओं पर छह स्तूपों का निर्माण हुआ - सक्कथूप, पज्ञुनथूप, मणिमेखलाथूप, अधिकनाविकथूप, वरुणनागराजथूप और सत्तनाविकथूप।

महाबोधिवंस

गद्य-पद्य मिश्रित महाबोधिवंस में अनुराधापुर में बोधिवृक्ष आरोपण की कथा १२ अध्यायों में वर्णित है। यह सिंहली भाषा में लिखित ग्रन्थ का पालि अनुदित रूप है

(महा.टी. ४१२.१२)। इसके लेखक हैं सिंहली भिक्षु **उपतिस्स** जो लगभग १० वीं शताब्दी के माने जाते हैं। इसका भाष्य काव्यात्मक है। पराक्रमबाहु महास्थविर (१३ वीं शती) ने इसका सिंहली अनुवाद १२ अध्यायों में किया। इसी तरह भिक्षु सरणंकर संघराज ने इसपर मधुरार्थ प्रकासिनी नामक सिंहली टीका की रचना की।

इस ग्रन्थ की भाषा बडी परिमार्जित, पाण्डित्यपूर्ण, लालित्यमयी, मनोहारी और साहित्यिक है। उस पर संस्कृत का प्रभाव अधिक है। इसे हम संस्कृत मिश्रित पाली कह सकते हैं। इसका प्रारम्भ दीपंकर बुद्ध से होता है और समाप्ति श्रीलंका में बोधिवृक्ष का आरोपण और उसकी पूजा से होती है। देवानंपियतिस्स के शासनकाल तक ही उसका सम्बन्ध है। यह ग्रन्थ मूल सिंहल भाषा में था जिसके आधार पर इसकी रचना हुई है। बुद्धवंस, निदानकथा, अट्ठकथा, दीपवंस, महावंस आदि ग्रन्थों का भी आधार लिया गया है। रोमनलिपि में इसका सम्पादन एम.ए. स्ट्रांग (लंडन १८९१) ने किया है।

थूपवंस

थूपवंस की रचना सारिपुत्त के शिष्य **वाचिस्सर** ने १३ वीं शती में की। गद्य-पद्य मिश्रित शैली में लिखित यह ग्रन्थ निदान कथा समन्तपासादिका, महावंस, महावंसटीका आदि पर आधारित है। इसमें १६ अध्याय हैं जिनमें दुट्ठगामिणि (१०१-७० ई.पू.) द्वारा अनुराधापुर में निर्मित महास्तूप और अन्य स्तूपों का वर्णन है, लोहपासाद का भी। इसमें दुट्ठगामिणि के समय तक निर्मित स्तूपों का विवरण दिया गया है। तथागत बुद्ध का जीवन प्रसंग भी दिया हुआ है। अशोक और अजातशत्रु द्वारा निर्मित ८४००० स्तूपों का उल्लेख है। सिंहली में भी थूपवंस मिलता है। यह ग्रन्थ दीपंकर से प्रारम्भ होता है और बुद्ध संगीति, स्तूप आदि में समाप्त होता है।

इन १६ अध्यायों को तीन अध्यायों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम में दीपंकर, सुमेध आदि बुद्धों की कथा है, द्वितीय अध्याय में तथागत बुद्ध तथा अशोक तक का इतिहास है और तृतीय अध्याय में स्तूपों का वर्णन है। इन सोलह अध्यायों के नाम इस प्रकार हैं जिन्हें कथा का नाम दिया गया है - अभिनिहार, चूलामणिदस्सथूपद्वय, दसथूप, धातुनिधान, चतुरासीतिसहस्सथूप, थूपाराम, बोधिआगमन, योजनथूप, महियंगढथूप, मरीचवट्टि विहार, थूपसाधनलाभ, थूपारम्भ, धातुगब्भरूपवण्णना और महाचेतिय कथा। वचिस्सर की अन्य रचनाएं हैं - **पटिसंभिदामग्ग की लीनत्थदीपनी टीका, सच्चसंखेपटीका और विसुद्धिमग्गसंखेप**। इस ग्रन्थ का संपादन डॉ. विमलचरण ला ने सन् १९३५ में किया था।

दाठावंस

दाठावंस में बुद्ध की दंत-धातु की कथा वर्णित है। इसके रचयिता सारिपुत्त के शिष्य पुलन्नरुआवासी **धम्मकित्ति** पराक्रमबाहु प्रथम (११९७-१२०० ई.) के राजगुरु थे। दाठावंस में पांच परिच्छेद हैं जिनमें जगती, स्रग्धरा मन्दाक्रान्ता, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा आदि अनेक छन्दों का उपयोग हुआ है। इसका अपर नाम '**दन्त धातुवंस** है। इसकी कथावस्तु थूपवंस जैसी ही है। अन्तर यह है कि इसकी कथा कित्तिसिरिमेघवण्ण (३०४-३३२ ई.) तक चलती है जबकि थूपवंस महाचेत्तियकथा में पूर्ण होता है। दाठावंस सिंहली रचना दण्डदावंस पर आधारित है। बाद में दाठावंस पर सिंहली वंश ग्रन्थ दळदा पूजावली लिखा गया। इसमें संस्कृत गद्य मिला हुआ है। यहां निरुत्तिया मागधीकाय बुद्धिया (गाथा ४) में पालि के लिए मागधी शब्द का प्रयोग हुआ है।

दाढावंस एक पालि काव्य है जिसमें तथागत बुद्ध की दन्तधातु का काव्यात्मक वर्णन है। इसपर संस्कृत शैली का प्रभाव है। इसका शब्दकोष समृद्ध है। इसे हम अर्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ कह सकते हैं। इसके रचयिता पुलत्ति निवासी धम्मकित्तिथेर एक कुशल तर्कशास्त्री, संस्कृत-मागधी, काव्य और आगम विशेषज्ञ थे। वे सारिपुत्त के शिष्य थे। पराक्रमबाहु के अनुरोधपर उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की थी। इसका रचनाकाल १३वीं शती है। इसमें पांच अध्याय हैं। इसका प्रारम्भ दीपंकर, सुमेध और बुद्ध की जीवनी से होता है और समाप्ति श्रीलंका में तथागत बुद्ध की दन्तधातु की पूजा से होती है। कित्तिसिरी मेघवाहन के राजकाल में इसकी स्थापना हुई है। यह ग्रन्थ संकलनात्मक अधिक है। भाषा काव्यात्मक है। इसका नागरी संस्करण डॉ. प्रद्युम्न ने संपादित किया।

ललाटधातुवंस (नलाटधातुवंस)

इसमें बुद्ध के ललाट की अस्थि का वर्णन पांच अध्यायों में है। सिंहली में लिखित '**धातुवंस**' इसी पर आधारित है जिसके लेखक थे **ककुसन्ध स्थविर** (१५ वीं शती)। अत: ळळाटधातुवंस की रचना १५ वीं शती से पूर्व होनी चाहिए। इस ग्रन्थ में रोहण और मलय की प्राचीन कथाएं, बुद्ध, दीपंकर आदि की जीवन गाथाएं, महानाम के राजकाल में आई ललाटधातु, काकवण्ण तिस्स परिवार की गाथा जिसने स्तूप का निर्माण कराया आदि जैसे विषयों का वर्णन है। अज्ञातकृत यह लघुग्रन्थ महावंस पर आधारित है। इसी तरह की थाईलेण्ड में लिखी गई पालि रचना "**जिनकालमाली** है जिसे गायगर ने १९वीं शती की रचना माना है।

सिंहल में भी कुछ वंस साहित्य उपलब्ध है, जैसे पूजावलिय, निकायसंग्रह, धातुवंस, राजावलिय, राजरत्नाकरय, दलदा-सिरित, दलदापूजावलिय, दम्बदेवी अस्न, कन्दवुरुसिरित, सद्धर्मरत्नाकरय आदि।

समन्तकूटवण्णना

समन्तकूटवण्णना की रचना आचार्य वेदेह थेर ने श्रीलंका में १३ वीं शती में की। इसमें भारत श्रीलंका में प्रचलित बौद्धधर्म का परिचय दिया गया है। यह ग्रन्थ बुद्ध के तुषितलोक अवतरण से प्रारम्भ होता है जो महामाया के गर्भ में सफेद हाथी के रूप में श्रीलंका में तीन बार हुआ। इसमें बुद्ध की तीन बार श्रीलंका यात्रा का वर्णन मिलता है जहां उन्होंने सोमणोल और समन्तकूट पर रहकर उपदेश दिया था। उसका मूल रूप सिंहली लिपि में १८९० में प्रकाशित हुआ। बोलाण धम्मानन्द थेर ने उसका प्रथम सम्पादन किया १९१० में। वेदेहथेर ने इसकी रचना में निदानकथा और महावंस का आधार लिया। इसमें त्रिष्टुभ (उपजाति), शवतरी (वसन्ततिलका), और अतिशक्करी मालिनी, एक स्थान पर भुजंगप्रयात और शार्दूलविकीडित का भी प्रयोग हुआ है। प्रारम्भ और अन्त में श्रग्धरा का भी प्रयोग हुआ है। विमलकीर्ति ने इसका उल्लेख किया है।

समन्तकूटवण्णना ८०२ पालि पद्यों में लिखा बुद्ध का जीवन वृत्तान्त है। इनमें ७१७ पत्रों में बुद्धचरित और शेष भाग में समन्तकूट का वर्णन है। सुमन के आग्रह पर बुद्ध ने समन्तकूट पर अपना पैर रखा। कूट का अर्थ है पर्वत। समन्तकूटवण्णना का अर्थ है - समन्त पर्वत की प्रशंसा। इसके लिए इसमें मात्र २९ पद्य दिये गये हैं और शेष में भ. बुद्ध का चरित वर्णन है। इसे महाकाव्य कहा जा सकता है।

लेखक आचार्य वेदेहथेर आरञ्ञायतनी महाथेर वनरतन आनन्द के शिष्य थे। पहुलथेर के अनुरोध पर इसकी रचना की थी। वेदेहथेर विप्पगाम परिवार से थे। उनकी तीन रचनाएं हैं - रसवाहिनी, सीहलसद्दलक्खण और सीदतसंगर। अन्तिम दोनों ग्रन्थ पालि व्याकरण से सम्बद्ध हैं। रसवाहिनी में लेखक के बारे में अधिक जानकारी दी गई है।

श्रीलंका में पालि में साहित्य लेखन चतुर्थ पंचम शती से प्रारम्भ हो गया था। १३ वीं शती तक सिंहल भाषा पर पालि का प्रभाव बहुत अधिक हुआ। समन्तकूटवण्णना १३ वीं शती की रचना है - इसमें छह अध्याय हैं - १) गन्थारंभकथा, २) बोधिसत्तचरितकथा, ३) मारविजयकथा, ४) सम्बोधिकथा, ५) बुद्धस्सलंकागमन कथा, ६) बुद्धस्स समणोलगमनकथा। पंचम अध्याय में कहा है कि बोधि प्राप्ति के नवें वर्ष बुद्ध श्रीलंका गये वहां के महानागोद्यान में रूके जो महावालुकानदी के किनारे अवस्थित था। वहीं यक्षों ने उन्हें श्रीलंका धर्मोपदेश के लिए समर्पित कर दी।

रम्मे तदा रतनदीपवरम्हि लोको-
लोकाभिधान-हरिकण्डक-यक्खदासे।
ओदुम्बदे सुमनकूटक-तण्डुलेय्ये
सेलेसु मारगिरि-मिस्सक-रिट्ठनामे ।।५१६।।

वर्मा का वंस साहित्य

छकेसधातुवंस

इसे किसी वर्मी भिक्षु ने १९ वीं शताब्दी में रचा जिसका संपादन मिनियेफ ने १८८५ ई. में किया। छकेसधातुओं पर छह स्तूपों का निर्माण हुआ। **'एवं मे सुतं'** शैली में यह धातु वंस लिखा गया। यह मात्र दस पृष्ठों की रचना है। भाषा व्याकरण आदि की दृष्टि से प्रांजल नहीं है। वस्तुकथा भी काल्पनिक है। वर्मा में लिखित इस वंस में, सक्क, पज्जुन्न, मणिमेखला, अद्धिकनाविक, वरुणनागराज और दमिलनाविक द्वारा निर्मित स्तूपों का सुन्दर वर्णन उपलब्ध है।

अत्तनगल्लविहारवंस (हत्थवनगल्लविहारवंस)

इसमें अत्तनगल्ल विहार की कथा ११ अध्यायों में वर्णित है। इसका संपादन मलालशेखर ने सन् १९३० में किया था। इसमें अनुराधपुर के नरेश संघबोधि (२४७-२४९) को बोधिसत्त्व के रूप में प्रस्तुत किया गया है। पराक्रमबाहु द्वितीय (१२३४-१२६४) के समय लिखा गया यह ग्रन्थ पूजावलिय (१२६६ ई.) में उद्घृत है। लेखक का नाम अज्ञात है। इसकी भाषा मनोहारी और लालित्यपूर्ण है। इसका नाम हर परिच्छेद के अन्त में चुल्ल गंधवंस मिलता है जो वृहद् ग्रन्थ का संक्षिप्त रूप रहा होगा।

संगीतिवंस

गद्य पद्य मिश्रित यह काव्य ९ परिच्छेदों में विभक्त है जिनमें ९ संगीतियों का वर्णन है। इन ९ संगीतियों में वर्मा में राजा तिलक (१४४२-१४८७ ई.) के सान्निध्य में च्यांगमाई में १४७७ ई. में हुई संगीति तथा १७८८ ई. में राम प्रथम के सान्निध्य में बेंकाक में हुई संगीति भी गर्भित है। १७८९ ई. में हुई संगीति के समय **वनरतन विमलधम्म** ने इसे बेंकाक के जेतवन विहार में रहकर लिखा। धर्मधाता ने इसका अनुवाद थाई में किया ७ परिच्छेदों में। इसका प्रकाशन १९२३ ई. में हुआ। इसके दो अन्य रूप भी उपलब्ध हैं - पहले रूप में दस भावी बुद्धों का वर्णन है और दूसरा वह है जिसमें भविष्य में संघ में होने वाले भयों का वर्णन है।

अनागतवंस

अनागतवंस में भावी बुद्ध मैत्रेय तथा अन्य बुद्धों का वर्णन १५० किंवा १४२ पद्यों में है। यह भारतीय भिक्षु **कस्सप** (१२ वीं शती) की रचना है जिसपर अनेक टीकाएं लिखी गई हैं। अनागतवंस का संपादन मिनियेफ ने सन् १८८६ में किया था। श्रीलंका और वर्मा से इसके अनेक संस्करण निकल चुके हैं। गद्य-पद्य मिश्रित शैली में लिखे इस ग्रन्थ में बोधिसत्त्वों के नामों में वैविध्य है। भाषा सरल और सुबोध है।

अनागत वंस देसना

इसका सिंहल से अंग्रेजी अनुवाद उदय मेड्डेगम ने किया जो १९९३ में दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इसमें अनागत बुद्ध मैत्रेय की कथा वर्णित है। ऐसे अनागत तीर्थंकरों की कल्पना जैन, क्रिश्चियनिटी, इस्लाम में भी है। बोधिसत्त्व परम्परा का उल्लेख दीघनिकाय में भी मिलता है। उदय ने इस परम्परा पर ईरानी प्रभाव बताया है। महासांघिक सम्प्रदाय के ग्रन्थ महावस्तु में मैत्रेय का उल्लेख आया है। जैन परम्परा का प्रभाव इस पर माना जा सकता है।

महायानी बौद्ध परम्परा का प्रादुर्भाव लगभग प्रथम शती में हुआ है। सद्धर्मपुण्डरीक, वज्रच्छेदिका में मैत्रेय का उल्लेख बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर, मञ्जुश्री और अमिताभ के साथ हुआ है। अमिताभ का सुखावती व्यूह इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है। कोरिया में मैत्रेय को संरक्षक के रूप में स्वीकारा गया है। जापानी संस्कृति में भी उन्हें सौभाग्य सूचक कहा है।

महायानी परम्परा ने मैत्रेय को आध्यात्मिक गुरु माना है। थेरवादी परम्परा में उसको आगम परम्परा से बाहर माना। इसलिए अनागतवंस को अभी तक आगम ग्रन्थ नहीं स्वीकारा गया। उसका एक मात्र उल्लेख सुत्तपिटक के सुत्तनिपातक में चक्कवत्ति सीहनाद सुत्तन्त में आया है। वहां मैत्रेय की आध्यात्मिक दृष्टि को स्थान दिया गया है। उनका धर्म है पंचशील परिपालन। अनागतवंश के अनुसार अशोक मैत्रेयशासन में जन्मधारण करेंगे और उनके एक विशेष प्रमुख शिष्य बनेंगे।

महावंस के अनुसार दुट्ठगामिणी मैत्रेय वंश परम्परा में जन्मग्रहण करेंगे। राजपरम्परा ने भी मैत्रेय को पूज्य माना अनुराधपुर नरेश धातुसेन ने अपने नगर में मैत्रेय की प्रतिमा का स्थापन किया था। थेरवादी परम्परा में अनागत बुद्धों में से मात्र मैत्रेय का अस्तित्व मिलता है। अट्ठकथाओं में भी उनका उल्लेख हुआ है।

उत्तरकाल में नाथ परम्परा भी महायानी बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर की परम्परा के साथ जुड गई। अनागत वंस की विषयवस्तु इसी से संबद्ध है। पोया महोत्सव पर श्रीलंका में इसका पाठ किया जाता है। इसकी रचना विलगममूल ने १४ वीं शती में की। इसमें १४२ पद्य हैं। इसमें संस्कृत शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। परन्तु चूंकि अनागतवंस का उल्लेख बुद्धघोष की विसुद्धिमग्ग में हुआ है, यह रचना ५ वीं शती से पूर्व की होनी चाहिए। **रत्नावलिय और पूजावलिय** में भी उसका उल्लेख हुआ है।

यहां केतुमती नगर का उल्लेख हुआ है। जहां चक्रवर्ती शक का राज्य था। इसके दुर्गविधान का वर्णन उसमें मिलता है। इसमें दसपारमिताओं का पालन करते हुए निर्वाण प्राप्ति का वर्णन किया गया है। इसमें महापनद प्रासाद और संख कथा दी गई है। मैत्रेय का अवतरण अजित राजकुमार के रूप में बताया फिर उनके शिष्यों का उल्लेख और फिर परिनिर्वाणका वर्णन हुआ है।

दसबोधिसत्तोद्देस और दसबोधिसत्तुप्पत्तिकथा

दसबोधिसत्तोद्देस में मैत्रेय से लेकर आगे दस भावी बोधिसत्त्वों का वर्णन है। इनमें कोसल पसेनदि भी सम्मिलित है। दसबोधिसत्तुप्पत्तिकथा का विषय दसबोधिसत्तोद्देस से मिलता जुलता है। **'एवं मे सुतं'** शैली में लिखी गई यह रचना सिंहली और कंबोडियन परम्परा में भी प्रचलित है कुछ अन्तर के साथ। यह रचना **सद्धतिस्स** की है जिनका समय लगभग १४ वीं शती है।

सद्धम्मसंगहो

इसमें गद्य-पद्य मिश्रित ११ अध्याय हैं जिनमें प्रारंभिक कालसे १३वीं शताब्दी तक के बौद्धसंघ का इतिहास लिखा गया है। यहां तीन संगीतियां, धर्म प्रचार का विस्तृत विवरण आदि विषय महावंस के समान दिया गया है। इसके रचयिता हैं थाईलेण्ड के **धम्मकित्ति महासामि** जो धम्मकित्ति संघराज के शिष्य थे (१४ वीं शती)। उन्होंने लंकाराम में इस ग्रन्थ की रचना की थी। कहा जाता है, वालावतार व्याकरण के रचयिता भी धम्मकित्ति महासामि थे। पर मलालसेखर के अनुसार वालावतार किसी अन्य सिंहली भिक्षु धम्मकित्ति की रचना थी जिन्होंने सिंहली में सद्धर्मालंकार तथा निकाय संग्रह ग्रन्थ लिखे थे। इसकी भाषा सरल और सुबोध है। इसमें त्रिपिटक के अनेक ग्रन्थों का उल्लेख है।

गन्धवंस

वर्मा में लिखित यह १९ वीं शताब्दी का आधुनिक ग्रन्थ है जिसमें पालि ग्रन्थों

की विस्तृत सूची दी गई है। यहां पालि ग्रन्थकारों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है - १) पोराणाचरिय, २) अट्ठकथाचरिय, और ३) गन्थकाचरिय। इन आचार्यों का वर्णन देशक्रम से भी दिया गया है। उनका रचनास्थान और उद्देश्य से भी अवगत कराया गया है। इसके प्रारम्भिक आठ अध्यायों में संघबोधि का चरित वर्णन है और अन्तिम तीन अध्यायों में राजा द्वारा निर्मित अनेक विहारों का वर्णन है। इसके अनुसार प्रत्युपकार के लिए संघबोधि ने अपना सिर काटकर दे दिया था। इसलिए श्रीलंका के इतिहास में उसकी तुलना बोधिसत्व से की जाती है। सांकृत्यायन के अनुसार इस ग्रन्थ के लेखक सिंहल भिक्षु अनोमदस्सी का कोई शिष्य भिक्षु **नन्दपञ्ञ** रहा है। यह गद्य-पद्य मिश्रित चम्पूकाव्य है, रचनाशैली, छन्दलालित्य काव्य कौशल और काव्यांग गुणों से परिपूर्ण है। पालि साहित्य के अध्येता के लिए उनके द्वारा प्रस्तुत पालि ग्रन्थ सूची बडी उपयोगी है इसका रोमन लिपि में संपादन मिनयेफ ने किया जिसका प्रकाशन पीटीएस जर्नल १८८५ में हुआ। डॉ. विमलेन्दु ने इसका नागरी संस्करण प्रकाशित किया है ।

सन्देस कथावंस

सन्देस कथावंस श्रीलंका के दस व्यक्तियों द्वारा १८५८ में वर्मी राजा मिन्-दोन्-मिन् (१८५२-७२ ई.) को लिखित एक पत्र का प्रारूप है। इस प्रारूप में श्रीलंका में ईसाई धर्म प्रचारकों द्वारा बौद्धधर्म पर किये गये आघात का वर्णन है और उसका पुनरुत्थान करने का निवेदन है। साथ ही कोलम्बो के समीप वस्सकड नामक ग्राम में एक संघाराम निर्मित कराने की प्रार्थना भी है। इस प्रार्थना में तात्कालिक बौद्धधर्म की स्थिति का आभास होता है। इस प्रकार की अन्य रचनाएं भी लंका, वर्मा, थाई और कम्बोडिया में इस समय हुई हैं। १९ वीं शताब्दी में लंका में लिखित **'रामसन्देस'** भी एक प्रकार का सन्देश काव्य है।

सासनवंस

सासनवंस भी वरमी भिक्षु **पञ्ञसामि** द्वारा १८६१ ई. में लिखित बुद्ध शासन का इतिहास है। इसमें प्रारम्भ से लेकर ९ वीं शताब्दी तक का बौद्धसंघ का इतिहास दृष्टव्य है। इसमें दस अध्याय हैं। इनमें बुद्धजीवनी, बौद्धसंगीति, धर्मप्रचार, वर्मा का बौद्धसंघ, उसका विकास आदि का विस्तृत वर्णन है। वरमी भिक्षु संघ में उठे उस विवाद का भी उल्लेख है जिसमें **पारुपण (दोनों कन्धों को चीवर से ढांकना) और एकंसिक (दायें कन्धे को खोलकर रखना)** पर मतभेद था। इसी तरह विहार-सीमा सम्बन्धी

विवाद का भी उल्लेख हुआ है। इसमें यह भी उल्लिखित है कि बुद्ध अपने संघ के साथ वर्मा में धर्मप्रचार के लिए आये थे। इसके अनुसार वनवासी के योनरक्खित थेर ब्रह्मदेश में, महाधम्मक्खित थेर महाराष्ट्र में, सिंहल के मज्झिम थेर चीन देश में धर्मप्रचार के लिए गये। वर्मी भिक्षुसंघ के इतिहास की दृष्टि से सासन वंस एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

सासनवंस दीप - इसकी रचना **विमलसार थेर** ने १८८० ई. में की। इसमें १२ अध्याय है जिनमें बुद्ध तथा उनके धर्म का इतिहास वर्णित है। श्रीलंका में अमरपुर निकाय की स्थापना का भी उल्लेख यहां हुआ है।

बुद्धघोसुप्पत्ति

बुद्धघोसुप्पत्ति आचार्य बुद्धघोष की जीवनगाथा है जिसे **महामंगल** नामक भिक्षु ने जातकट्ठकथा, दीपवंस, महावंस आदि ग्रन्थों के आधार पर लिखी है। इसका लेखन काल चौदहवीं शताब्दी है। इसमें चमत्कारात्मक तत्त्व अधिक है, भाषा भी परिमार्जित और आकर्षक नहीं है। जनश्रुतियों का उपयोग होने से प्रामाणिक भी नहीं है। बुद्धघोष की जीवन गाथा पढने के बाद ऐसा स्पष्ट आभास होता है कि बुद्धघोष के पूर्व बुद्धदत्त श्रीलंका पहुंचे थे। वहां यह भी कहा गया है कि बुद्धघोष ने अट्ठकथाओं के लेखन में सिंहल अट्ठकथाओं का सम्यक् उपयोग किया और उसके बाद उन्हें जला दिया गया। बुद्धघोष के योगदान को देखकर यहां यह भी कहा गया कि भविष्य में बुद्धघोष मैत्रेय के अग्रश्रावक होंगे।

इस ग्रन्थ का नागरीलिपि रूपान्तरण डॉ. राजेश रंजन ने किया है। इसमें आठ परिच्छेद हैं जिनमें जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त बुद्धघोष का जीवनवृत्त दिया गया है। इसके अतिरिक्त चूलवंस, गन्धवंस और सद्धम्मसंगह में भी उनका जीवन परिचय उपलब्ध होता है। इनमें चूलवंस का सैंतीसवां परिच्छेद प्राचीनतम माना जा सकता है। बुद्धघोसुप्पत्ति की भाषा सरल और प्रवाहमयी है पर कहीं-कहीं व्याकरणिक अशुद्धियां भी दृष्टिगोचर होती हैं। उपमा, दृष्टान्त आदि अलंकारों के प्रयोग ने लेखक को उत्तम कवि की श्रेणी में रख दिया है। संघराज को अभिधर्म के कठिन स्थलों का स्पष्टीकरणकर उन्होंने अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया। लौह प्रासाद में रहकर उन्होंने उनके आदेशानुसार पालि तिपिटक को मागधी भाषा में परिवर्तित किया। द्वितीय परिच्छेद के अन्त में बुद्धघोस के विषय में ठीक ही कहा गया है -

महाबोधिसमीपम्हि जातो ब्राह्मण कुलेसु।

बुद्धथोसो ति नामेन बुद्धो विय महीतले।।

पूजितो नरदेवेहि ब्राह्मणेहि पि पूजितो,

पूजितो भिक्खुसंघेहि, निच्चं लभति पूजितं।।

थाईलेण्ड का वंस साहित्य

उत्तरीय थाईलेण्ड के बौद्धइतिहास की दृष्टि से चामदेवी वंस और जिनकालमाली विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

चामदेवीवंस

महाथेर **बोधिरंसि** की यह रचना पालि गद्य-पद्य मिश्रित है जो १४६० और १५३० ई. के बीच लिखी गई। इस काल में श्री लंका से विशेष सम्बन्ध स्थापित हुए। च्यांगमई एक बौद्ध केन्द्र बन गया। कहा जाता है, तथागत बुद्ध ने यहां की यात्रा की थी। हरिपुंजय का इतिहास मिलता है। ११ वीं शती के आदिच्चराज ने यहां बौद्ध मन्दिरों का निर्माण किया। वासुदेव, सुक्कदन्त, अनुसिस्स, बुद्धजटिल और सुरल इन पांच ऋषियों ने **मिगसंघ** की स्थापना की। उन्होंने चामदेवी को हरिपुंजय के सिंहासन पर बैठाया। इसका वर्णन यहां १४ अध्यायों में हुआ है।

जिनकालमाली

थाई भिक्षु **रतनपंञ थेर** की यह रचना १५१६ ई. की है। वे बोधिराम विहार के प्रमुख थे। इसे हम बौद्धधर्म का इतिहास कह सकते हैं जो गौतमबुद्ध से प्रारम्भ होता है और थाईलेण्ड में बौद्धधर्म की स्थापना पर यह समाप्त होता है। छह अध्यायों में यह इतिहास ग्रन्थ लिखा गया है।

लेखक ने इसे उच्च थाईलेण्ड के रतनविहार में लिखा था। वह वर्मा के सिंहली भिक्षु सम्प्रदाय से संबद्ध था। इसमें बौद्ध संघ के विषय में अपने विचार व्यक्त किये गये हैं। इसी तरह के अन्य ग्रन्थ हैं **धम्मचेतिका कल्याणी शिलालेख (४७८ ई.) और पञ्ञासामी का सासनवंस (१८६१ ई.)। धम्मकित्ति का लिखा सद्धम्मसंगह।** इसके प्रथम भाग में चौबीस पूर्व बुद्धों की कथा है और द्वितीय भाग में भारत और श्रीलंका के बौद्धधर्म की स्थिति का समीक्षण है। इसका आधार है महावंस, थूपवंस, बोधिवंस, दाठावंस, ललाटधातुवंस। तृतीय अध्याय में थाईलेण्ड के धार्मिक और राजनीतिक स्थिति का चित्रण है। इसी में श्रीलंका से आयी बुद्ध मूर्ति का मनोरम वर्णन है। अन्तिम भाग में धार्मिक उपदेश है।

जिनकालमाली का रोमन संस्करण बुद्धदत्त थेर ने किया (श्रीलंका, पी.टी.एस.१९६३)और उसका नागरी लिप्यन्तरण और अनुवाद डॉ. हरप्रसाद दीक्षित ने किया। मूल थाई पगति में इसका शीर्षक जिनकालमालिनी दिया गया है पर सिंहली और रोमन लिपि में उसे जिनकालमाली माना गया है - **वक्खमिगन्थं जिनकालमालि।** ग्रन्थ के अन्त में भी यही मिलता है - **यस्मा ततो सो जिनकालमाली (पद्य १६२)।**

इसमें १६५ गाथाएं हैं और शेष भाग गद्य में लिखित है। इसकी विषयवस्तु को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं - प्रथम भाग में बुद्ध के परिनिर्वाण प्राप्ति तक का वर्णन है, द्वितीय भाग में भारत एवं श्रीलंका के बौद्धधर्म का इतिहास वर्णित है। इसी भाग में तथागत बुद्ध का वहां तीन बार आगमन, महेन्द्र स्थविर का परिनिर्वाण और लौहप्रासाद का निर्माण आदि का वर्णन है, और तीसरे भाग में थाईलेण्ड के मैनम घाटी के विभिन्न धार्मिक एवं राजनीतिक इतिहास से सम्बन्धित देशों का विवरण है, जैसे लाओस, कम्बोडिया एवं स्याम। यहीं उस बुद्ध प्रतिमा का भी वर्णन है जो भारत से श्रीलंका पहुंची और फिर श्रीलंका से थाईलेण्ड की राजधानी बैंकाक के राजमहल में सुरक्षित है। यहीं यह भी कहा गया है कि मिलिन्दपञ्हो की रचना भारत में उस समय हुई थी जब श्रीलंका में कूटकण्णतिस्स (१६-१८ए.डी.) का राज्य था।

जिनकालमाली का यह वर्णन जातक निदान पर आधारित है। यहां व्यग्घी जातक का उल्लेख है जो जातकट्ठकथा में नहीं मिलती। जातकमाला, दिव्यावदान, अवदानकल्पलता, सुवर्णप्रभाससूत्र आदि ग्रन्थों में यह जातक अवश्य संकलित हैं। इसकी भाषा सरल और परिमार्जित है जैसा **मोहान्धकारंऽनिधनं पहन्त्वा** आदि मंगलवचन से ध्वनित होती है।

संगीतिवंस का उल्लेख हम पीछे कर ही चुके हैं।

मूलसासना - इसमें लान्ना थाई राज्य में बौद्धधर्म के इतिहास की प्रस्तुति है। इसके लेखक हैं **बुद्धञान और बुद्धबुकाम** जिन्होंने इसकी रचना १४१८ई. में की।

सिहिंगनिदान - इसकी रचना **बोधिरंसि** ने १५ वीं शती में की चामदेवीवंस का भी लेखक वही था। इसमें बुद्धप्रतिमा का इतिहास दिया गया है जो श्रीलंका से आई थी। राम खमहेंग के काल में १३७८ई. में अयोध्या में इसे लाया गया था।

रतनबिम्बवंस - थेर ब्रह्म राजपञ की यह पालि रचना महाधम्मराजब्बत विहार के सज्जिनालय में राम प्रथम के कार्यकाल में १५ वीं शती में लिखी गई।

इनके अतिरिक्त अक्षोरनित (१९०७ ई.), पढमसंबोधि (१८४५ ई.) उप्पातसिन्त, सद्धम्मसंगह (धम्मकित्ति) आदि इतिहास ग्रन्थ भी पालि में उपलब्ध हैं।

समूचे वंस साहित्य का अध्ययन करने से पता चलता है कि वंस शब्द का प्रयोग निम्नलिखित अर्थो में हुआ है - वंश, वांस, वांसुरी, इतिहास या परम्परा और आचार्य

परम्परा। इन अर्थो में से वंस साहित्य में इतिहास या परम्परा के अर्थ में वंस शब्द का प्रयोग प्रमुख रूप से हुआ है। यह साहित्य मूलतः स्थविरवाद से सम्बद्ध रहा है पर इसमें महायान और उसके विविध निकायों तथा सिद्धान्तों का उल्लेख भी हुआ है। इसी के साथ तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और पारिवारिव स्थित का चित्रण हुआ है। वंस साहित्य का आधार सिंहली अट्ठकथाएं रही हैं - जैसे महाअट्ठकथा, महापच्चरी, कुरुन्दी, अन्धट्ठकथा आदि। इन्हीं अट्ठकथाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन आचार्य परम्परा सिंहल द्वीप में बडी सुदृढ थी। उसी परम्परा के आधार पर ही वंस साहित्य के महान् ग्रन्थों का सृजन हुआ।

आख्यान काव्य (गीति काव्य)

पालि साहित्य में मानसिक विकारों को दूरकर चित्त को विशुद्ध करने का पथ-प्रशस्त किया गया है। उसमें काव्यात्मक तत्त्व के लिए स्थान अधिक नहीं था। थेर-थेरीगाथा में अवश्य स्वानुभूति को व्यक्त करने के लिए उदात्त और लालित्य पदों का प्रयोग हुआ। वहां काव्यप्रतिभा के लिए पर्याप्त अवसर मिला। इसी क्रम में उत्तरकाल में पालि में आख्यानात्मक काव्य भी लिखे गये जिनकी पृष्ठभूमि में नैतिक उपदेश और सामाजिक अभ्युत्थान रहा है। इन काव्यों में जातक, अट्ठकथाओं और महावंस से सामग्री ली गई है। कुछ प्रमुख आख्यानक काव्य इस प्रकार हैं -

बुद्धालंकार

बुद्धालंकार इसे वर्मी भिक्षु **शीलवंश ने** १५ वीं शताब्दी में पद्यबद्ध किया। निदानकथा की सुमेधकथा पर यह काव्य आधारित है।

सहस्सवत्थुप्पकरण

अभी तक इस ग्रन्थ का लेखक अज्ञात था पर मत्थ्सुमुर के प्रयत्न से उसका नाम **रट्ठपाल** निश्चित हो गया जो गुट्टवंक विहारवासी था, ऐसा रसवाहिनी की भूमिका में उन्होंने सिद्ध किया है। **सहस्सवत्थुप्पकरण** में यह कहा गया है कि वह सीहलट्ठकथानय का उपयोग अपने ग्रन्थ में करेगा। सहस्सवत्थुप्पकरणट्ठकथा से भी इसकी पृष्टि होती है। **वंसट्ठप्पकासिनी** में सहस्सवत्थुप्पकरण का उल्लेख हुआ है **(महावंसवुत्तनयेन वेदितव्वं)**। सालिराजकुमारवत्थु आदि जैसे प्रकरणों के देखने से ऐसा लगता है कि सहस्सवत्थुपकरण और सहस्सवत्थुप्रकरण अट्ठकथा में कहीं कहीं वैभिन्न्य है। सहस्सवत्थुपकरण में एक हजार कथाओं को आकलित करने का संकल्प मिलता है पर इसमें मात्र १०१ कथाएं ही उपलब्ध हैं। इनका आधार रहा है - महावंस, जातकट्ठकथा, अपदान। भक्ति तत्त्व भी इसमें मुखरित हुआ है।

रसवाहिनी

निगमन के अनुसार रसवाहिनी या मधुरसवाहिनी के मूल लेखक **रट्ठपाल** हैं और उसे विशुद्ध किया है वैदेह ने जो आरञ्ञरतन आनन्द के शिष्य थे। इनका समय १३ वीं शताब्दी माना जाता है। उनकी एक अन्य रचना सामन्तक भी है। रट्ठपाल की कथाओं पर आधारित रसवाहिनी दो भागों में विभाजित है। प्रथम भाग जंबुद्वीप की कथाओं से संबद्ध है और द्वितीय भाग श्रीलंका में प्रचलित कथाओं से भरा है। इसमें गद्य-पद्य मिश्रित दस अध्याय हैं और १०३ कथाएं हैं। रसवाहिनी और सहस्स वत्थुप्पकरण की कथाओं में पर्याप्त समानता दिखाई देती है। इसके लेखक वैदेह स्थविर मूलतः ब्राह्मण थे। बाद में वे बौद्ध भिक्षु बन गये और वनवासी सम्प्रदाय के अनुयायी हो गये। समन्तकूटवण्णना नामक उनका एक काव्य भी है जिसमें ७९६ पालि गाथाएं हैं। रसवाहिनी पर एक **रसवाहिनी गण्ठि** नामक पालिटीका भी उपलब्ध है। पेंगान शिलालेख (१४वीं शती) में रसवाहिनी का उल्लेख आता है। गायगर ने इसकी पालि को बहुत अशुद्ध माना है। इसका नागरी रूपान्तरण डॉ. हरप्रसाद दीक्षित ने किया (वाराणसी, २००७)।

राजाधिराजविलासिनी

यह ग्रन्थ १८वीं शताब्दी के वरमी राजा बुद्धप्पिय (बोदोपया) की प्रार्थना पर लिखा गया था। इसमें उसी की प्रशंसा की गई है। इसकी कथाएं जातक, अट्ठकथा और वंस साहित्य पर विशेष रूपसे आधारित हैं।

इनके अतिरिक्त वरमी भिक्षु आवा निवासी (१५ वीं शती) का **रट्ठसार** जातक कथाओं का पद्यबद्ध अनुवाद है। प्रोम के भिक्षु तिपिटकालंकार (१७ वीं शताब्दी) का वेस्सन्तर जातक अनुवाद तथा एक अन्य वरमी भिक्षु की **मालालंकारवत्थु** (१८ वीं शती) भी उपलब्ध हैं।

चयनिका

कुछ ऐसी चयनिकाएं भी उपलब्ध हैं जिनका संकलन व्यावहारिक दृष्टि से किया गया और जिन्हें अनुपिटक के समानान्तर आदर मिला। मध्यकाल में इन चयनिकाओं की लोकप्रियता अधिक हुई। मूल पिटकों से भी इनका अध्ययन अधिक हुआ। इनका विवरण इस प्रकार है -

सारसंगह - भिक्षुओं के उपयोग के लिए इसका संग्रह किया गया। इसमें ४० कथाओं का संग्रह है। मातिका (१६०३२) में उनकी सूची दी गई है। प्रत्येक अध्याय एक भूमिका के साथ प्रारम्भ होता है और पिटक या अट्ठकथाओं के उद्धरणों के साथ उनका

अन्त होता है। जैसे **दानाधिपुञ्ञकम्मसंगहनय** विनयपिटक के उद्धरण से प्रारंभ होता है। इसका चयन सिद्धत्थ के गुरु **बुद्धप्पिय** ने १३-१४ वीं शताब्दी में किया। विमलकीर्ति ने अपने सद्धर्मरत्नाकरय में इसका उल्लेख किया है।

सन्देस कथा - यह ग्रन्थ गद्यमय है। इसका संपादन मिनायेक ने सन् १९८५ में किया। इसमें पालि साहित्य विषयक अनेक उल्लेख है। इसी तरह सुवण्णभूमि, रामञ्ञ, कंबोज आदि राज्यों का भी उल्लेख है।

बुद्धघोसुप्पत्ति - महामंगल नामक सिंहली भिक्षु ने १४ वीं शताब्दी में इसमें बुद्धघोष की जीवनी लिखी है। इसका सम्पादन जेम्स ग्रेनी ने सन् १८९२ में किया। इसमें बुद्धदत्त और बुद्धघोष के मिलन का उल्लेख है और कहा गया है कि बुद्धदत्त ने अपने ग्रन्थों का मूल्यांकन कराने के लिए अपने कुछ ग्रन्थ बुद्धघोष के पास भेजे थे।

दसदान वत्थुप्पकरण - इसमें संघ के योग्य आहार, वस्त्र, विहार आदि दस प्रकार की आवश्यक वस्तुओं के दान देने का आग्रह किया गया है। इसके लिए ३७ आख्यानों (वत्थु) का भी उपयोग हुआ है। दान देने से कुशल कर्मो की वृद्धि होती है। अनिसंस से मिलता-जुलता यह पुण्य कार्य है (दस.)। पेगान शिलालेख (१४४२ ई.) में इसका उल्लेख हुआ है। अतः इसे हम लगभग १४ वीं शती में रख सकते हैं। इस पर **धम्मपाल** की टीका भी उपलब्ध है। यह धम्मपाल कौन है, इसकी मीमांसा होनी चाहिए। लेखक का नाम अज्ञात है।

उपासकजनालंकार - पटिपत्तिसंगह के आधार पर उपासकजनालंकार का संयोजन **आनन्द** ने किया। उपासक की भूमिका के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इसका चयन ११५०-१२०० ई. के बीच हुआ होगा। इसमें सिंहल **'धर्मप्रदीपिका'** का उल्लेख मिलता है। जैनों में इस प्रकार की चयनिकाएं अधिक प्रचलित थीं। संभवतः उन्हीं के आधार पर पालि चयनिकाएं तैयार की गई होगीं। उपासकजनालंकार का प्रारम्भ निदानकथा से होता है। सरणगमन, सील, आजीव आदि विषयों पर यह चयन हुआ है।

स्यामी भिक्षुओं द्वारा की गई चयनिकाएं

मंगलत्थदीपनी - इसे श्रीमंगल ने ई. १५२४ में तैयार किया। **मंगलसुत्तन्त** (खुद्दकपाठ) पर लिखी इस चयनिका में मातापितुपट्ठानकथा जैसी अनेक कथाएं समाहित हैं। इसके पूर्व १५२० ई. सन् में **सिरिमंगल** ने ही न्तरदी**चक्कवालदीपनी और ञाणविलास की संख्यापकासक पर टीका लिखी। इसी तरह वेस्संतर जातक पर उनकी विस्तृत टीका वेस्स**पनी (१५१७ ई.) भी उपलब्ध है।

तथागत बुद्ध की जीवनी के संदर्भ में **'पठमसंबोधि'** का संकलन दो भागों में लगभग १५ वीं शती में हुआ। प्रथम भाग में ८ परिच्छेद हैं जिसमें तुषित भवन से लेकर धम्मचक्कपवत्तन तक वृत्तान्त दिया गया है। इसके दूसरे भाग का संकलन सुवण्णरसि ने १८४५ ई. में किया। इसमें २९ परिच्छेद हैं जिनका प्रारम्भ बुद्ध के माता-पिता के विवाह से होता है और धम्म की समाप्ति से अन्त होता है।

'जिनमहानिदान' में ८५ कथाओं का संग्रह है जिनका प्रारम्भ दीपंकर बुद्ध से होता है और अन्त अस्थि विभाजन से होता है। इन दोनों भागों में प्राचीन साहित्य से सामग्री एकत्रित की गई है।

धम्मविलास - धम्मथत (धम्मसत्थ)

इसके लेखक हैं **सारिपुत्र या धम्मविलास**। सासनवंस के अनुसार वे रामञ्ञ सम्प्रदाय के प्रथम साहित्यकार थे। उनका जन्म १२ वीं शताब्दी में रंगून के समीपवर्ती ग्राम पडिपज्ञय में हुआ। उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम काल में संघ में प्रवेश लिया। राजा नरपतिसिथु ने उन्हें धम्मविलास की उपाधि से विभूषित किया। उनका **धम्मसत्थ** नामक एक प्रसिद्ध विनय नियम ग्रन्थ है जिसमें मनुस्मृति की मीमांसा बौद्धधर्म की दृष्टि से की गई है। १८ वीं शती तक इसका भरपूर उपयोग हुआ है।

ब्रह्माण्डीय पालि ग्रन्थ

वर्मी परम्परा में ब्रह्माण्डीय पालि ग्रन्थ लिखे गये जिनका सम्बन्ध पुनर्जन्म से रहा है। ये ग्रन्थ निम्न प्रकार से हैं -

पंचगतिदीपनी

यह पांच कण्डों में विभक्त है और ११४ पद्य हैं। लेखक अज्ञात है। इसका विवरणा पृ. २३६ पर देखें।

छगतिदीपनी

यह ग्रन्थ अश्वघोष के संस्कृत ग्रन्थ षड्गतिकारिका का पालि रूपान्तरण है यह रूपान्तरण ११-१२ वीं शती में हुआ। इसका चीनी अनुवाद भी ११ वीं शती में हुआ। श्याम में लिखी **लोकप्रज्ञप्ति** का भी इससे सम्बन्ध रहा है।

लोकपञ्ञत्ति

यह ग्रन्थ महावस्तु और दिव्यावदान पर विशेष आधारित है। गद्य में लिखित इस ग्रन्थ में निगमन नहीं है। १६ अध्यायों में विभक्त इस ग्रन्थ में अशोक और उपगुप्त को

भी स्थान मिला है। इसका लेखन समय है १४४२ ई.। इस ग्रन्थ का उल्लेख **थैत्रैभूमिकथा और पैगान शिलालेख** (१११३ ई.) में मिलता है। श्रीलंका साहित्य में इसका उल्लेख नहीं है।

लोकप्पदीपकसार

इसके लेखक हैं १४ वीं शती के **मेधंकर** जो वर्मा के मुत्तम विहार के निवासी थे। बाद में अरञ्ञवासी सम्प्रदाय में दीक्षित होने के लिए श्रीलंका गये। इसमें आठ परिच्छेद हैं जो पद्यबद्ध हैं। पांच प्रकार की योनियों का वर्णन है और आख्यानों द्वारा नैतिक उपदेशों का आकलन है। **महावंस** से इसमें काफी सामग्री ली गई है।

चक्कवालदीपनी

इसे **श्रीमंगल** ने १५२० ई. में लिखा। छह कण्डों में विभक्त इस ग्रन्थ में पिटक से उद्धरण दिये गये हैं। थाई में इसका अनुवाद हुआ है। इस का सम्पादन डॉ. प्रीति दुबे ने किया जिसका प्रकाशन वाराणसी से २००१ में हुआ। चक्कवालदीपनी बौद्ध परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी रचना त्रिपिटक में से सामग्री एकत्रितकर की गई है और वहां से उद्धरण भी दिये हुए हैं। शैली, सरल और सरस है। इसके लेखक हैं आचार्य श्री **मंगल** जो थाईलेण्ड निवासी थे। मंगलत्थदीपनी, वेस्सन्तरदीपनी, चामदेवी वंस आदि ग्रन्थ भी इस क्षेत्र में लिखे गये हैं।

मलालशेखर ने अनेक श्री मंगल नामक विद्वानों का उल्लेख किया है। श्रीमंगल नामक एक वर्मी भिक्षु थे जिन्होंने १४ वीं शती में बुद्धघोष की अट्ठकथाओं के आधार पर कई ग्रन्थ लिखे। एक लाओस निवासी श्रीमंगल थे जिन्होंने **मंगलदीपनी और संख्यापकासक टीका** लिखी। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक कदाचित् सिंहलवासी श्रीमंगल रहे होंगे जिन्होंने सीहलाराम के स्वणखवन्ति नामक विहार में इसे लिखा। उस समय वहां परमेन्द-नवपुर के राजा लंकवह्य राज्य करते थे। इसका रचनाकाल है शक सं. ७८८।

इसमें छह अध्याय हैं जिन्हें कण्ड या काण्ड कहा गया है। चक्कवाल का अर्थ प्रथमकण्ड में बताया है **लोकधातु** जो अनवरत उत्पत्ति और विनाश के क्रम में लगा रहता है। गतिशील होने के कारण इसे चक्कवाल कहा गया है। यह वायुमण्डल के ऊपर अवस्थित है। इसके मध्य सुमेरु है, चारों ओर सात पर्वत श्रेणियां हैं - युगन्धर, इसिधर, करवीक, सुदस्सन, नेमिधर, विनतक और अस्सकण। इन पर्वतश्रेणियों पर चार दिक्पाल तथा यक्षों का निवास है। यहीं हिमालय पर्वत है। चक्कपाल के चारों ओर चन्द्र, सूर्य, तावतिंसभवन, असुरभवन, अवीचिमहानिरय तथा चार महीद्वीप होते हैं - जम्बुद्वीप, अपरगोयन, पुब्बदेह, उत्तरकुरु। पृथ्वी का भी विवरण यहां दिया गया है।

द्वितीयकण्ड में पर्वतों का वर्णन है तृतीय कण्ड में जलाशयों का वर्णन है। चतुर्थ कण्ड में द्वीपकथा है, पंचम कण्ड में भूमिकथा है। यह सबसे बडा अध्याय है और छठा कण्ड प्रकीर्णक निर्देश है।

चन्दसुरियगतिदीपनी - यह ज्योतिष ग्रन्थ है। इसकी मूल पाण्डुलिपि १७७५ ई. में लिखी गई। ने १९८१ ई. में इसका उपयोग किया। इसका एक अध्याय अमन विनिच्छय है। इसके लेखक महाथेर **उदुम्बर** हैं। प्रशस्ति में इसका नाम '**चन्दसुरियविनिच्छयपकरण**' मिलता है और लेखक के रूप में तिपिटक **महाथेर**।

नीतिपरक ग्रन्थ

लोकानेय्यप्पकरण

वर्मा का यह नीतिपरक ग्रन्थ है जो पालि में लिखा गया है। इसकी लिपि कम्बोडियन है। इसमें २६८ भोर्जपत्र हैं। इसके लेखक आदि के बारे में यहां कोई उल्लेख नहीं है। हां पहले पत्र पर राम चतुर्थ लिखा जो इसका लिपिकाल १८५१-१८६८ होना चाहिए, यह संकेत करता है।

प्रारम्भ में लेखक ने इसे "**सुभासित वाक्यं**" कहा। इसमें पंचतन्त्र और हितोपदेश का अनुकरण किया गया है। इसे प्रकरण कहा गया है। इसे निदान, अतीतवत्थु और समाधान के आधार पर जातक के समान विभाजित किया गया है। महाउम्मग्ग जातक नं. ५४६ का अनुकरण अधिक दिखाई देता है। इसमें प्रश्न रीति को अपनाया गया है जिसमें बोधिसत्त्व धनंजय राजा को शिक्षा देता है और विरोधियों को पराजित करता है। इसमें ६०० गाथाएं हैं पर अधिकाधिक १०० गाथाएं नीतिपरक खोजी जा सकती हैं।

अथेरवादी पाली साहित्य

श्रीलंका का महाविहार परम्परावादी साहित्य तो काफी बचा रहा पर अभयगिरि विहार जैसी अन्य शाखाओं का पालि साहित्य नष्ट हो गया। उसे अन्वेषित करने की आवश्यकता है। प्रश्न उठता है, कहीं कल्पित साहित्य इसी प्रकार का साहित्य तो नहीं है। अनुपलब्ध ऐसे साहित्य का प्रायः उल्लेख मिलता है। जैसे ञाणोदय बुद्धघोष का प्राथमिक साहित्य माना जाता है। इसी तरह महाधम्महदय भी उल्लेखनीय है जिसके स्थान पर कथावत्थु का उदय हुआ और कथावत्थु को वितण्डवादियों ने पालि त्रिपिटक से बाह्य ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया और त्रिपिटक की परिधि से उसे बाहर कर दिया।

वज्रबुद्धि ने पन्नवार का उल्लेख किया परन्तु उसकी विषयसूची का भी पता नहीं चल पा रहा है। मात्र कुछ उद्धरण अवश्य मिल जाते हैं। विसुद्धिमग्ग में अनागतवंस का उल्लेख हुआ है (४३४.१२-३)। पर वह उपलब्ध अनागत वंस से पृथक् है। केसधातुवंस और महाबोधिवंस कथा क्रमशः महावंस और महावंसटीका वंसत्थप्पकासिनी में उल्लिखित है पर उपलब्ध नहीं है। पेटक या सुमतावतार सारसमास, सद्दगन्थ और ञायगन्ध की भी यही स्थिति है जिनका उल्लेख पटिसंभिदामग्ग अट्ठकथा में है। जातत्थकी का उल्लेख मात्र पैगान लेख (१४४२ ई.) में है। वाचिस्सार ने थूपवंस के निगमन में पटिसंभिदामग्ग की व्याख्या के रूप में लीनत्थदीपनीटीका का उल्लेख किया है। प्राप्त ग्रन्थ से वह भिन्न है। कदाचित् वह नष्ट हो गया हो॥।

थेरवादी परम्परा के बाह्य ग्रन्थों का उल्लेख प्रायः पालि त्रिपिटक में नहीं मिलता। भारतयुद्ध (महाभारत) या सीताहरण (रामायण) को **'नीरत्थकथा'** के रूप में उल्लिखित किया है (सुमंगलविलासिनी, ७६, १३) और भरत, रामायणादि को आख्यान के रूप में उद्धृत किया है (सु.वि. ८४.१५)। इसी तरह नागसेन की कुण्डलकेसिवत्थु का उल्लेख हुआ है जो नाथगुप्तक कुन्तलकेसी होनी चाहिए। **'मधुकोस'** का उल्लेख भी सु.वि. में आया है (४२३, १९-२१) पर आज वह उपलब्ध नहीं है।

पत्र काव्य

पत्र मात्र समाचार भेजने के लिए नहीं रहते। उनसे भावात्मक सम्बन्ध भी स्थापित किये जाते हैं। साधक अपने सांसारिक मित्रों को सावधान करने के लिए भी पत्र लिखा करते हैं। पालि में भी ऐसे कुछ पत्र उपलब्ध हुए हैं जिनका संकलन **क्पमज्ञ** ने किया है। इनमें दो प्राचीन पत्र हैं और शेष नवीन।

सद्धम्मोपायन

सद्धम्मोपायन टीका के अनुसार इसके लेखक **महाथेर आनन्द** हैं जिन्हें अभयगिरिकविचक्रवर्ती कहा गया है। इसका सम्बन्ध महाविहार परम्परा से हटकर अभयगिरि विहार से है । चन्द्र गोमिन के शिष्यलेख का प्रभाव इस पर अधिक है। यह १९ अध्यायों में विभक्त है और ६२१ पद्यों में निबद्ध है। यह पत्र पियसब्रह्मचारी बुद्धसोम को लिखा गया था। लेखक आनन्द का समय निश्चित नहीं है।

महानागकुल सन्देस

६२ पद्यों में लिखित यह काव्यात्मक पत्र श्रीलंका के महानागकुल निवासी महाथेर **नागसेन** ने वर्मी भिक्षु अभिमद्दनपुर निवासी महाथेर कस्सप के पत्र के उत्तर में

लिखा था। प्रारम्भ में दोनों नगरों का वर्णन है। बाद में पराक्रमबाहु प्रथम के सुधारों का काव्यात्मक उल्लेख है। इसका समय लगभग १३ वीं शताब्दी है।

अधोलिखित पत्र उत्तरकाल के हैं जो थेरवादी परम्परा के भिक्षुओं ने अपने मित्रों को लिखे थे.

संदेसकथा

यह पत्र १८०१ ई. में ञाणाभिवंस ने श्रीलंका के तीन श्रामणेर और एक उपासक को वर्मा में दीक्षित किये जाने वाले समाचार को पुष्ट करने के लिए लिखा था। जब ये भिक्षु वर्मा से श्रीलंका वापिस हुए तो छपट ने उन्हें **अभिधम्मत्थसंगहो, अभिधम्मत्थसंगहो टीका और संखेपवण्णना ग्रन्थ भेंट में दिये।**

एक अन्य लम्बा पत्र स्याम के अग्गमहासेनापति ने सिरि अयुद्धा देव महानगर (अयुह्या) से सिरिवद्धनपुर (केन्डी श्रीलंका) महाराजाधिराज को १७५० ई. में लिखा। यह पत्र पालि काव्य की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि इसके बाद स्याम से श्रीलंका को लगभग ७५ पत्र लिखे गये। इनका संकलन ने १९६२ में किया है।

शिलालेख

शिलालेख भाषा और संस्कृति के संवाहक होते हैं। पालि शिलालेख संख्या में कम होते हुए भी गुणात्मक दृष्टि से बडे महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें इतिहास और दर्शन-झांकता नजर आता है। ई. पू. तीसरी शताब्दी से लेकर लगभग १५ वीं शताब्दी तक पालि शिलालेख बौद्धधर्म दर्शन और संस्कृति के विविध पक्षों को उद्घाटित कर रहे हैं।

प्राचीन शिलालेखों में उद्धृत पालि ग्रन्थ

इन प्राचीन शिलालेखों में पालि ग्रन्थों का उल्लेख विशेष दृष्टव्य है। जैसे अशोक के भाब्रू लेख में कुछ धम्मपरियायों का उल्लेख मिलता है। उनमें **विनयसमुकसे, अलियवसानि, अनागतभयानि, मुनिगाथा, मोनेय सोते, उपतिस पसिने, लाघुलोवादे**। विद्वानों ने इन धम्मपरियायों की पहचान पालि ग्रन्थों से विविध रूपों में की है। इसी तरह द्वितीय शताब्दी के लेखों में **धम्मकथिक, पेटकिण, सुत्तन्तिक, सुत्तन्तकिनी, और पंचनेकायिक**। इससे यह तथ्य स्पष्ट है कि इन लेखों के पूर्व उपर्युक्त पालि ग्रन्थों का प्रचलन था। पिटक, सुत्तन्त, निकाय और जातक का प्रयोग भी होता रहा है। जातकों में वितुर पुनकिय, मिग, नाग, यवमज्झकिया, मुगपकय, लतुवा, छदन्तिय, इसिसिंगिय, हंस, किंनर, इसिमिगो, जनक राजा, सिवला देवी, विडल जातक, कुकुट जातक, मखादेविय आदि दृष्टव्य हैं। भरहुत स्तूप पर भी कतिपय जातकों का उत्कीर्णन हुआ है - जैसे कुरंगमिग, सन्धिभेद, असदिस, महाकपि आदि।

सारनाथ संग्रहालय में संग्रहीत बोधिसत्त्व की एक मूर्ति पर तीन पालि लेख उत्कीर्ण हैं। यह मूर्ति कनिष्ककालीन है। इसी तरह वर्मा के मौंगन में दो स्वर्ण प्लेट मिली हैं जिनमें पालि लेख पंचम शताब्दी की कदम्ब लिपि में उत्कीर्ण है - ये धम्मा हेतुप्पभवा आदि।वहीं ह्यवज में भी दो स्वर्ण पत्र छठी शताब्दी के मिले हैं जिनमें विनय और विभंग से वेदनाखन्ध आदि का उत्कीर्णन हुआ है। १४४२ ई के एक लेख में तो २९५ पालि ग्रन्थों का उल्लेख है ही। पेगु का कल्याणी पालि लेख (१४७६ ई.) वर्मा के बौद्धधर्म के इतिहास पर प्रकाश डालता है। इसमें **विनयपिटक की अट्ठकथा, पातिमोक्ख, खुद्दकसिक्खा, विमतिविनोदिनी, सारत्थदीपनी** आदि का उल्लेख है। श्रीलंका के गलविहार में पराक्रमबाहु का भी एक शिलालेख मिला है जिसमें विनय ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है।

इन पालि शिलालेखों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

१) अशोक के अभिलेख

पालि के प्राचीनतम शिलालेखों में अशोक के शिलालेख उल्लेखनीय हैं। उनमें अशोक ने अपने जीवन की विशेषताओं को गिनाया है। उनमें इतिहास, संस्कृति और भाषा के विविध रूप मिलते हैं। पालि-प्राकृत भाषाओं के विकास की कहानी भी उनमें छिपी हुई है। अशोक 'देवानं पिय' के रूप में उद्धृत है। तथागत बुद्ध के प्रति उसके मन में जो भक्ति और आत्मसमर्पण दिखाई देता है, अपनी प्रजा के लिए जो ममत्व उसके मन में पलता है, हिंसा और क्रूरता पर चिन्तन करने के बाद अहिंसा की जो स्थायी ज्योति जलती है, बुद्धत्व के प्रति जो लगाव दिखाई देता है, कलिंगयुद्ध से जो आध्यात्मिक चेतना जाग्रत होती है, बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति जो दृढता प्रस्फुटित होती है वह अन्यत्र कहीं नहीं है। उसके चौदह शिलालेख, सात स्तम्भ लेख, दो कलिंग लेख, दो लघु शिलालेख तथा भाब्रूशिलालेख, लघु स्तम्भ लेख और गुफा लेखों में समूची भारतीय संस्कृति के विविध आयाम दिखाई देते हैं।

इन लेखों में अशोक का व्यक्तित्व, कृतित्व, प्रशासन, दर्शन, बुद्धभक्ति, सर्वधर्मसमभाव, अहिंसा, संयम, जीवन परिवर्तन, कलिंगयुद्धजन्य पवित्रता, भिक्षुसंघ, उपासकत्व, भिक्षुवत् जीवन यापन, धार्मिक सहिष्णुता, धर्मयात्रा, सद्भावना आदि जैसे पुनीत तत्त्व प्रतिबिम्बित होते हैं। भाब्रू शिलालेख में बुद्धवचनों का उल्लेख हुआ है सात धम्मपरियायों के रूप में जो पिटकों में उपलब्ध हैं।

२) सांची और भरहुत के अभिलेख

इन अभिलेखों में पिटक का वर्गीकरण हुआ है। उनमें चित्रकथाओं और जातक

कथाओं आदि के माध्यम से बौद्ध संस्कृति प्रतिबिम्बित हुई है। तीसरी-दूसरी शताब्दी ई.पू. की संस्कृति इनमें 'रेखांकित हुई है और बुद्ध वचनों की प्रमाणिकता सिद्ध हुई है।

३) सारनाथ के कनिष्ककालीन अभिलेख

सारनाथ के कनिष्ककालीन अभिलेखों में तथागत बुद्ध का धम्मचक्कपवत्तन विशेष रूप से अंकित हुआ है। प्रथम शताब्दी के आसपास बौद्धधर्म की स्थिति से भी अवगति हो जाती है।

४) मौंगन (वर्मा) के दो स्वर्णपत्र लेख

ये पालि अभिलेख वर्मा के मौंगन ग्राम से प्राप्त हुए हैं। लगभग पांचवीं शताब्दी के ये अभिलेख आर्यसत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि बौद्ध सिद्धान्तों को अभिलिखित किये हुए हैं। बीस स्वर्ण पत्रों पर लिखा हुआ यह पालि अभिलेख वरमा में बौद्धधर्म के विकास का इतिहास प्रदर्शित करता है। इसकी लिपि कन्नड-तेलगू से मिलती-जुलती है।

५) मब्जा में प्राप्त खण्डित पाषाण लेख

बरमा के प्राचीन प्रोम (मब्जा) के बोबोगी पैगोडा में सन् १९१०-११ में तीन खण्डित पाषाण लेख मिले जो संभवतः छठी शताब्दी के हैं। इसकी भी लिपि कन्नड-तेलगू से मिलती-जुलती है। इसमें अभिधम्म पिटक की विषय सामग्री अंकित है।

६) पैगान का अभिलेख

बरमा के तौंगद्विन नामक प्रान्त के बौद्ध उपासक राज्यपाल ने १४४२ ई. में भिक्षुसंघ के लिए एक महत्त्वपूर्ण दान दिया। यह लेख यद्यपि पालि में नहीं है पर इसमें पालि, संस्कृत और वर्मी साहित्य के २९५ ग्रन्थों का उल्लेख है जिससे वर्मा के बौद्ध अध्ययन की दिशा का आभास होता है। पालि साहित्य के विकास की दृष्टि से भी इस लेख का महत्त्व है। यह अभिलेख १२०० ई. में निर्मित पैगान में प्राप्त हुआ। लगता है, तत्कालीन बौद्धशिक्षा क्षेत्र में जिन ग्रन्थों का अध्ययन किया/कराया जाता होगा उन सभी ग्रन्थों की सूची इस लेख में समाहित है।

७) कल्याणी अभिलेख

पेगू-वरमा के अधिपति धम्मचेति ने सन् १४७६ में कल्याणी अभिलेख अंकित कराया। इस लेख में बौद्ध विनय की परम्परा का विशेष उल्लेख है। भिक्षुओं के उपसम्पदा-संस्करण की विधि एवं विहार-सीमा के संदर्भ में उठे विवाद को शान्त करने के लिए विनयविषयक ग्रन्थों पर विशेष मन्थन हुआ और फिर उस सीमा का निर्धारण

इसमें किया गया। यह सीमानिर्धाण सिंहल निकाय के अनुसार हुआ। सिंहल के कल्याणी विहार में वर्मी भिक्षुओं को उपसंपदा के लिए भेजा गया। वहां से वापिस आकर उन्होंने पेगूनगर में सीमा स्थापित की जिसे कल्याणी सीमा का अभिधान दिया गया। १९ वीं शती में पंचम संगीति के फलस्वरूप समूचा पालि त्रिपिटक पाषाण पर अंकित किया गया। इसमें **नेत्ति, पेतवत्थु और मिलिन्दपञ्हो** भी संमिलित हैं।

पालि काव्य, व्याकरण, छन्द और शब्दकोश

पालि काव्य संस्कृत जैसा न विशाल है और न समृद्ध है परन्तु वह 'बहुजन हिताय' लिखा गया है जो काव्य का आन्तरिक तत्त्व है। इस दृष्टि से समूचा त्रिपिटक काव्यत्व की परिधि में आ जाता है। थेर-थेरीगाथाओं में सुन्दर गीतिकाव्य के दर्शन होते हैं। इसी तत्त्व ने उत्तरकाल में विकास किया और पालि में संस्कृत काव्य के आधार पर काव्यों का निर्माण होने लगा। १० वीं से १५वीं शताब्दी तक श्रीलंका और वर्मा में पालि काव्य लिखे गये। परन्तु काव्य को भिक्षु संघ के लिए उपयुक्त नहीं माना गया, उसमें अनागतभय देखा गया। इसलिए पालिकाव्य परम्परा अधिक सशक्त नहीं हो पायी। फिर भी जो भी है वह संस्कृत काव्य से प्रभावित है।

ये पालि काव्य दो भागों में विभक्त हैं- वर्णनात्मक और आख्यानात्मक। वर्णनात्मक काव्य ग्रन्थों में तेलकटाहगाथा, जिनालंकार आदि काव्य आते हैं और आख्यानात्मक काव्य में रसवाहिनी, बुद्धालंकार आदि गद्यकाव्य आते हैं। इनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है -

पज्जमधु

तथागत बुद्ध की प्रशंसा में लिखे गये इस काव्य में १०४ पद्य हैं। उनमें १०२ वसन्ततिलका और अन्तिम दो शार्दूलविक्रीडित छन्द हैं। इसके लेखक आनन्द अरञ्ञरतन के शिष्य **बुद्धप्पिय** हैं जो मूलतः चोल देश के दक्षिण भारतीय थे पर उन्होंने लंका में सिंहली भिक्षु आनन्द वनरतन के सान्निध्य में शिक्षा प्राप्त की थी। संभवतः यही बुद्धप्पिय '**रूपसिद्धि**' व्याकरण के भी रचयिता हैं। अतः इनका समय १३वीं शती माना जा सकता है। इसपर संस्कृत का प्रभाव है। प्रथम ६९ गाथाओं में बुद्ध की प्रशंसा की गई है और शेष गाथाओं में उनकी प्रज्ञा का वर्णन है। भक्तितत्त्व यहां प्रधान हो गया है।

तेलकटाहगाथा

९८ या १०० वसन्ततिलका छन्द में लिखे इस काव्य में संसार का सुन्दर चित्रण है। इसका केन्द्रीय तत्त्व है कि इस संसार में कडाही में उबलते हुए तेल के समान भयंकर त्रासद दुःख हैं जिन्हें बुद्ध शासन का पालन करने से दूर किया जा सकता है। यह वस्तुतः

शतक काव्य धारा का प्रतिनिधित्व करता है। इसका विभाजन ९ वर्गों में है - १. रतनत्तय (२-५), २. मरणानुस्सति (६-२८), ३. अनिच्चलक्खण (२९-४३), ४. दुक्खलक्खण (४४-५४), ५. अनत्तलक्खण (५५-६३), ६. असुभलक्खण (६४-७७), ७. दुच्चरित आदीनवा (७८-८३), ८. चतुराक्खा (८४-८८) और ९. पटिच्च समुत्पाद (९०-९१)। इन गाथाओं में कुछ शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण है - पमादं (गा. ६०), परित्तं (गा. ८८), जाति (गा. ९१-९२), जरामरणं (गा. ९२), पंचक्खन्ध (गा. ५५), मरणानुस्सति (गा. ८८)। कवि ब्राह्मण परम्परा के राम, अर्जुन (गा. १७), ब्रह्मा (गा. १९), इन्द्र (गा. ३५), सुरवरा (गा. ४१), महिस्सर (गा. ४१), वेतरणीनदी (गा. ४१), गंगा (गा. ४१-५६), धनद (गा. ७८), मकरद्धज (गा. ७८) का भी उल्लेख करता है।

इन वर्गों में बौद्धधर्म का समूचा दर्शन समाहित हो जाता है। देखिये इस पद्य को जिसमें शरीर को विविध रोगों का घर बताकर उसमें विमोहित न होने की चेतावनी दी गई है।

गंडूपमे विविध-रोगनिवासभूते
काये सदा रुधिरमुत्तकरीस पुण्णे
यो एत्थ नन्दति नरो ससिगालभक्खे
कामं हि सोचति परत्थ स बालबुद्धि ।।६९।।

बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार कल्याणी (वर्तमान केलनिया-श्रीलंका) के राजा तिष्य (३०६-२०७ ई.पू.) ने कल्याणिय नामक भिक्षु को अपनी महारानी के साथ अनैतिक सम्बन्ध में लिप्त होने के कारण उबलती हुई कडाही में डालने का आदेश दिया। भिक्षु निर्दोष था। उसने मृत्यु के पूर्व यह वैराग्य मूलक पालिकाव्य लिखा। इस कथा का उल्लेख **महावंस (२२.१२-१३), रसवाहिनी (पद ४), तथा सद्धम्मालंकार (पद ४) में आया है पर तेलकडाहगाथा में इसका** कोई संकेत नहीं है। इसी कथा का आधार लेकर किसी **कल्याणिय** नामक भिक्षु ने यह काव्य लिखा है। इस काव्य को तृतीय शताब्दी ई.पू. में तो नहीं रखा जा सकता। हां, इस काव्य का सर्वप्रथम उल्लेख प्राचीन बुरी-थाईलेण्ड शिलालेख में बुद्धसिरि ने शक सं. ६८३ या ई. ७६१ में इसे उद्धृत किया है। अतः इसका समय लगभग सप्तम शताब्दी माना जा सकता है। भाषा और शैली की दृष्टि से भी यह समय सही लगता है। विन्टनित्ज और गायगर ने इसे १२ से १४ वीं शती में नियोजित किया जो तथ्यसंगत नहीं लगता।

जिनचरित

जिनचरित का विषय बुद्धचरित के समान तथागत बुद्ध की जीवनी का वर्णन

संबोधि प्राप्ति तक लिया गया है। इसमें ४५ वर्षावास भी संमिलित हुए हैं। अलंकृत भाषा में लिखे इस काव्य में ४७२ गाथाएं हैं भिन्न-भिन्न छन्दों में इसे जातक निदानकथा का छन्दोबद्ध संस्करण कहा गया है। भाषा कहीं-कहीं शिथिल भी है।

इस काव्य के रचयिता **वनरतन मेधंकर** ने यह काव्य राजा विजयबाहु द्वारा निर्मित परिवेण में रहकर भुवनेकबाहु (१२७७-१२८८ ई.) के राज्यकाल में पूरा किया (जिनरचित ४६९-४७१)। गायगर ने इसे विजयबाहु तृतीय (१२२५-१२२९ ई.) माना जो मेधंकर का समकालीन था। चार्ल्स डुरोइसलि ने उसे विजय बाहु द्वितीय (११८६ ई.) माना। जिनचरित में मेधंकर ने स्वयं को सुमंगल का शिष्य माना। ये सुमंगल सारिपुत्त के गुरु नन्दिपरिवेण के सुमंगल हो सकते हैं। अत: मेघंकर का समय १३वीं शती माना जा सकता है।

पयोगसिद्धि

पयोगसिद्धि नामक एक और ग्रन्थ लेखक का मिलता है। जिनचरित में लेखक कवि ने बुद्धचरित के समान बुद्ध-चरित का वर्णन काव्यात्मक ढंग से विविध छन्दों में किया है। जातक निदानकथा पर आधारित यह काव्य ग्रन्थ पालि का एक सुमधुर बुद्ध जीवन चरित है। इसका प्रारम्भ ब्राह्मणवंशीय सुमेध से होता है। दीपंकर बुद्ध सुमेध के विषय में भविष्यवाणी करते हैं और कहते हैं कि वे एकदिन तुषित स्वर्ग से अवतरित होकर राजा सुद्धोदन-माया के पुत्र के रूप में जन्मग्रहण करेंगे लुम्बिनी में। आगे तथागत बुद्ध की पारम्परिक जीवनी का चित्रण चित्रालंकारिक ढंग से कवि ने किया है।

जिनकालमाली या जिनकालमालिनी

इसके यशस्वी लेखक थेर **रतनपञ्ञ** ने आर्यशूर की जातकमाला का अनुकरण कर इसकी रचना की है। १५१६ ई. में। थाईवासी लेखक ने इसके प्रथम भाग में बोधिसत्त्व के बुद्ध होने की प्रार्थना करते हुए बुद्धचरित का वर्णन किया। इसी प्रसंग में उन्होंने व्याघ्री जातक का उल्लेख किया है। द्वितीय भाग में श्रीलंका के बौद्धधर्म के इतिहास का वर्णन है। तृतीय भाग में थाईलेण्ड के विविध धार्मिक एवं राजनीतिक इतिहास का वर्णन है। यही बुद्ध की उस चामत्कारिक बुद्ध की प्रतिमा का वर्णन है जो भारत से श्रीलंका और श्रीलंका से थाई ले जायी गई थी। वह आज भी बेंकाक राजमहल में सुरक्षित है। यह एक सुन्दर वंस काव्य है जिसमें स्तूप, लोहप्रासाद, रत्नप्रतिमा आदि का काव्यात्मक वर्णन है।

जिनालंकार

किरातार्जुनीय, शिशुपालवध, चन्दप्रभचरित जैसे संस्कृत काव्यों की

अलंकार प्रधान शैली से मण्डित जिनालंकार काव्य बुद्धरक्खित नाम के सिंहल भिक्षु द्वारा २७८ गाथाओं में रचित एक सुन्दर पालि काव्य है। इस काव्य का विषय बुद्ध की संबोधि प्राप्ति तक जीवन-चित्रण है। ग्रन्थ के अन्त में कवि ने इसका रचनाकाल बुद्ध परिनिर्वाण से १७०० वर्ष बाद माना है। अर्थात् इसकी रचना ११५६ ई. में हुई। इस काव्य में पौराणिक जीवन पद्धति, कृत्रिमशैली, अतिशयोक्ति का प्रयोग अधिक हुआ है। महायान दर्शन से भी यह प्रभावित है। एक अन्य ग्रन्थ **'जिनालंकार'** नाम से उपलब्ध है जिसके लेखक हैं **बुद्धदत्त** (४-५ वीं शती ई.)। प्रस्तुत जिनालंकार उससे पृथक् है।

साधुचरितोदय

यह पालिकाव्य **सुमेध** ने सभाधिपति गजभुज के आग्रह पर १२वीं शती में लिखा। इसमें १४३२ गाथाएं विविध छन्दों में हैं जिनमें प्राचीन वीर पुरुषों के कार्यो का वर्णन है। अपदान से इसकी विषय सामग्री ली गई है।

जिनबोधावली

३४ गाथाओं में लिखे इस लघुकाव्य में सिंहल के **देवरक्खितजयबाहु** धम्मकित्ति ने २४-२८ बुद्धों और उनके बोधिवृक्षों की प्रशंसा की है। यह रचना १४वीं शताब्दी की है।

सुबोधालंकार

श्रीलंकावासी **संघरक्खित** का ही सुबोधालंकार ग्रन्थ उपलब्ध है जो दण्डिन् के काव्यादर्श के आधार पर लिखा गया है। उसमें ३६७ गाथायें हैं। उसे पांच अध्यायों में विभक्त किया गया है।

अनागतवंस

अनागतवंस का सम्बन्ध वस्तुतः वंस साहित्य से है पर काव्यत्व की दृष्टि से उसे हम यहां भी आकलित कर रहे हैं। इसमें भावी बुद्ध मैत्रेय की जीवन गाथा प्रस्तुत की गई है। १४२ गाथाओं में वरमी परम्परा में इसके तीन रूप (संस्करण) मिलते हैं। १. गद्य-पद्य में निबद्ध इसमें संघ पर भविष्य में घटनेवाले भयों का वर्णन है, २. गद्य-पद्य मिश्रित रूप में दस भावी बुद्धों का वर्णन, ३. पद्य बद्य १४२ गाथाओं में मात्र भावी बुद्ध मैत्रेय का वर्णन। इन तीन संस्करणों में तृतीय संस्करण ही प्रमाणिक है। यह बुद्धवंस का परिपूरक है। इसमें २५ में बुद्ध गौतमबुद्ध के बाद २६ वें बुद्ध मैत्रेय का जीवनचरित आकलित है। परम्परा से हटकर इसमें कुछ वर्णन मिलता है।

गंधवंस में अनागतवंस के रचयिता का नाम **कस्सप** दिया गया है (पृ. ६१,७२)। इस पर एक अट्ठकथा भी लिखी गई है जिसके लेखक हैं उपतिस्स। गंधवंस में

अनागतवंस के रचयिता कस्सप और मोहविच्छेदनी और विमतिच्छेदनी के रचयिता कस्सप को एक ही माना है (पृ. ६१)। सासनवंस के अनुसार ये कस्सप चोल देस के निवासी थे। उपतिस्स महाबोधिवंस के रचयिता हो सकते हैं। विसुद्धिमग्ग में अनागतवंस का उपयोग कदाचित् हुआ है ऐसा विद्वानों का कथन है। इसे हम यह भी कह सकते हैं कि विसुद्धिमग्ग का प्रभाव अनागतवंस पर हो। जो भी हो, अनागतवंस लगभग १० वीं शती का काव्य ग्रन्थ है।

सद्धम्मोपायन

सद्धम्मोपायन में बौद्धधर्म के नीतिमार्ग का वर्णन है जिसमें व्यक्ति को दुराचार के दुष्परिणामों से मुक्तकर सदाचार का पथ अंगीकार करने की प्रेरणा दी जाती है। इसमें पुण्यफल, दान प्रशंसा, शीलप्रशंसा, दुराचार का दुष्परिणाम, अप्रमाद आदि तत्त्वों का काव्यात्मक वर्णन है। इसके रचयिता सिंहली स्थविर आनन्द थे जिन्हें अभयगिरि कवि चक्रवर्ती कहा गया है। उन्होंने सब्रह्मचारी बुद्धसोमप्पिय को भिक्षुत्व न छोडने की सलाह देने के लिए यह ग्रन्थ लिखा था। इसमें ६२९ गाथाएं और १९ अध्याय हैं जिनका आधार चन्द्रगोमिन् का शिष्यलेख है। लेखक **आनन्द वनरतन** के समकालीन हैं। इसलिए उनका समय लगभग १२वीं शताब्दी है। इसका संपादन रिचार्ड मोरिस ने किया है। सद्धम्मोपायन पर सद्धम्मोपायन विग्गह नामक एक व्याख्या भी लिखी गई है।

पंचगतिदीपनी

इसमें ११४ गाथाएं और पांच कण्ड हैं जिनमें नरकयोनि, पशुयोनि, भूत-प्रेत योनि, मनुष्य योनि और देवयोनि का वर्णन है। ये योनियां व्यक्ति के अपने कर्मानुसार मिलती हैं। नैतिक मार्ग को स्पष्ट करने के लिए कवि ने प्रस्तुत काव्य का निर्माण किया है। कवि का नाम और समय अनिश्चित है।

इसका सम्पादन लियोन फीर ने किया और पी.टी.एस सोसायटी जर्नल में उसका प्रकाशन १८८४ में हुआ। इसमें स्वयंकृत कर्मो का फल विवेचित है। व्यक्ति अपने कर्मो से ही स्वर्ग, नरक, मनुष्य और निर्वाण गति प्राप्त करता है। इसमें राग, द्वेष और मोह जन्यकृत कर्मो के फल से नरकों में प्राप्त दुःखों का विस्तृत वर्णन हुआ और पुण्यकर्मो से प्राप्त स्वर्ग के सुखों की झांकी प्रस्तुत की गई है। विशेष रूप से उन कुकृत्यों का विस्तृत वर्णन है जिनके कारण विविध नरकों और महानरकों तथा उस्सदनिरयों में जन्म लेना पडता है। बौद्धधर्म में आठ नरक हैं - संजीव, कालसुत्त, संघात, रोरुव, महारोरुव, तप, महातप और अवीचि। हर नरक में चार उस्सदनिरय हैं - मिल्हकरूप, कुक्कुल, असिपत्तवन और नदी (वैतरणी)।

सच्चसंखेप

धम्मपाल या चुल्ल **धम्मपाल** का यह लघुकाय ग्रन्थ लगभग १२ वीं शताब्दी में

लिखा गया है। **सद्धम्मसंगह** में उसे आनन्दकृत माना है। इसमें पांच अध्याय हैं जो अभिधम्म से सम्बद्ध हैं। रूप, वेदना, चित्तप्पवत्ति, पकण्णिकसंग्रह और निब्बान का विवेचन यहां हुआ है। इसमें ३८७ पद्य हैं। प्रारम्भिक अध्येताओं की दृष्टि से यह ग्रन्थ अधिक उपयोगी है। वर्मा में यह ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय है।

खुद्दकसिक्खा एवं मूलसिक्खा

विनय के ये संक्षिप्त संग्रह हैं। इनकी रचना अनुराधपुर के आचार्य **महासामी** या धर्मश्री ने चतुर्थ शती में की। मातिका में इसकी विषय सूची दी गई है। इनमें पाराजिक, चीवर, प्रवारणा, वर्षावास, उपोसथ, निस्सग्गिय, पाचित्तिय आदि का संक्षिप्त वर्णन है।

पालि व्याकरण साहित्य

पालि जनभाषा होने के कारण व्याकरण बाह्य रही है। संस्कृत के पाणिनि व्याकरण की तरह पालि का कोई प्राचीन व्याकरण नहीं मिलता। इसका तात्पर्य यह नहीं कि पालि का कोई प्राचीन व्याकरण था ही नहीं। भाषा पहले रहती है और व्याकरण उसके पीछे चलती है। भिक्षु के लिए '**निरुत्तिपदकोविदो**' तथा '**अक्खरानं सन्निपातं**' आवश्यक था जो इस तथ्य का पोषक है कि पालि का भी कोई व्याकरण उस काल में रहा होगा। बुद्ध के प्रमुख शिष्य महाकच्चान को पालि वैयाकरण माना जाता है। बोधिसत्त और सब्बगुणाकर नामक प्राचीन वैयाकरणों के नामों का भी उल्लेख आता है, भले ही उनके कोई ग्रन्थ उपलब्ध न होते हों।

पालि व्याकरण को शास्ता के नवांगों में परिगणित किया गया है। बुद्धघोष ने किसी भी व्याकरण ग्रन्थ का उल्लेख भले ही नहीं किया हो पर '**सकलं अभिधम्मपिटकं निग्गाथक सुत्तं... तं वेय्याकरणं**'' कहकर व्याकरण को एक स्पष्ट करने वाला साधन अवश्य माना है। धम्मपद की गाथा ''**वीततण्ह अनादानो निरुत्तिपदकोविदो। अक्खरानं सन्निपातं...** (नं ३५२) में निरुत्ति, अक्षर आदि का उल्लेख है। अन्य पालि ग्रन्थों में भी पद, अक्षर, व्यंजन, निरुत्ति आदि का उपयोग हुआ है।

बुद्धदत्त, बुद्धघोष, धम्मपाल जैसे अट्ठकथाकारों के समक्ष पालि व्याकरणिक ग्रन्थ तो निश्चित रूप से नहीं थे। उन्हें पाणिनि व्याकरण का ही सहारा लेना पडता था पालि पिटक को समझने के लिए। कतिपय श्रीलंकाई विद्वानों की अवधारणा है कि कच्चायन व्याकरण श्रीलंका में लिखा गया था जिसे तथ्यसंगत नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वान कच्चायन व्याकरण पर कातन्त्र व्याकरण का प्रभाव मानते हैं।

१) कच्चायन

कच्चायन, मोग्गल्लान और अग्गवंस जैसे पालि व्याकरण ग्रन्थ श्रीलंका और

वर्मा में लिखे गये, यह मान्यता बडी प्रबल दिखाई देती है। कच्चायन (लगभग ५ से ११ वीं शती के बीच) ने सर्वप्रथम **'सुसन्धिकप्प'** व्याकरण ग्रन्थ लिखा। महारूप सिद्धि और बालावतार कच्चायन व्याकरण पर आधारित रहे जबकि **पयोगसिद्धि, पदसाधन, सुसद्दसिद्धि और मोग्गल्लानवुत्ति** मोग्गल्लान व्याकरण से प्रभावित रहे। अग्गवंस की सद्दनीति (१२ वीं शती) का आधार ... **चुल्लसद्दनीति** की रचना हुई। सद्दनीति वर्मा में लिखी गई प्रसिद्ध पालि व्याकरण रचना है जो राजा नरपतिसिथ (११६७-१२०२ई.) के अध्ययनार्थ संयोजित हुई थी। बाद में कच्चायनयोग पर **'मुखमत्तदीपिनी टीका'** का भी निर्माण हुआ।

कच्चायन यह वस्तुतः गोत्र नाम है। परम्परा के अनुसार कच्चायन व्याकरण के रचयिता महाकच्चायन ही माने जाते हैं जो बुद्ध के प्रमुख अस्सी शिष्यों में से एक थे। परन्तु नामसाम्य के कारण जेम्स एलविस ने उन्हें महाकच्चायन मान लिया। यह सही नहीं है। मनोरथपूरणी में बुद्धघोष ने कच्चायन का वृतान्त देते समय इसका उल्लेख नहीं किया। नेत्तिपकरण के भी रचयिता महाकच्चायन को माना जाता है पर वह भी सयुक्तिक नहीं है। वे पाणिनि व्याकरण पर वार्तिक लिखने वाले कात्यायन (तृतीय शताब्दी ई.पू.) से भी भिन्न हैं। कच्चायन व्याकरण पर प्रथम भाष्य **'न्यासप्रदीप'** १२वीं शती के प्रारम्भ में लिखा गया। अतः उनका समय बुद्धघोष के बाद और १२वीं शती के पूर्व होना चाहिए। कातन्त्र व्याकरण से यह व्याकरण ग्रन्थ पृथक् है। यह ग्रन्थ चार कल्पों और २३ परिच्छेदों में विभक्त है - सन्धिकाव्य, नामकप्य, आख्यातकप्प और किब्बिधानकप्प। यह ग्रन्थ पाणिनि और विशेष रूप से कातन्त्र से अधिक प्रभावित है।

इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य पालि व्याकरणिक ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं। जैसे - **सम्बन्धचिन्ता, सत्थसारत्थजालिनी, कच्चायनभेद, सद्दत्थभेदचिन्ता, कारिक, कारिकवुत्ति, निरुसिंघ, कच्चायनसार, विभत्यत्थदीपिनी, सन्वण्णनयदीपिनी, वाच्चवाचक, सद्दवृत्ति, बालप्पबोधन, कारकपुप्फमंजरी, कच्चायन दीपिनी, गूढत्थदीपिनी, मुखमत्तसार, सद्दबिन्दु, सद्दकालिक, सद्दविनिच्चय, बीजंग, धातुपाठ, सुधिरमुखमण्डन आदि। साधनमाला भी** कच्चायन व्याकरण के आधार पर लिखी गयी एक सुन्दर पालि व्याकरण रचना है।

पालि व्याकरण ग्रन्थ संस्कृत व्याकरण ग्रन्थों के बाद ही रचे गये हैं। पालि व्याकरण के तीन सम्प्रदाय माने जाते हैं - १. कच्चायन सम्प्रदाय, २. मोग्गल्लान व्याकरण सम्प्रदाय, और ३. अग्गवंस कृत सद्दनीति व्याकरण सम्प्रदाय। १. कच्चायन व्याकरण सम्प्रदाय - कच्चायन किंवा कच्चान व्याकरण के रचयिता कच्चायन तथागत बुद्ध के प्रधान शिष्य महाकच्चायन, नेत्तिपकरण और पेटकोपदेस के रचयिता कच्चायन से भिन्न हैं। बुद्धघोष ने भी इसका उपयोग नहीं किया। उन पर सर्ववर्मा के कातन्त्र व्याकरण (चतुर्थ शताब्दी ई.) और उसकी काशिकावृत्ति का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता

है। अतः कच्चायन व्याकरण सातवीं शती के बाद का होना चाहिए। इसमें ६७५ सूत्र हैं और आठ परिच्छेदों में विभक्त है। उनमें चार बातों का विवेचन मिलता है - १. सुत्त (संक्षिप्त), २. वुत्ति (पूरकविवरण), ३) पयोग और ४. न्यास (व्याख्यात्मक टिप्पणियां)। न्यास को ''मुखमत्तदीपनी'' भी कहा जाता है। ऐसी अनुश्रुति है कि सुत्त तो कच्चायन द्वारा रचित है, शेष वृत्ति, पयोग और न्यास क्रमशः संघनंदी, ब्रह्मदत्त और विमलबुद्धि द्वारा रचित हैं।

कच्चायन व्याकरण पर निम्नलिखित पालि व्याकरण उपलब्ध हैं - १) **न्यास** कदाचित् प्राचीनतम भाग है जिसे ११ वीं शताब्दी में लिखा गया। इसपर वरमी भिक्षु छपद ने १२वीं शती में **न्यास प्रदीप** और सुत्त भाग पर **सुत्तनिद्देस** (११७१ ई.) लिखा। २. इसी समय संघरक्खित ने अन्य प्रकरणों पर सम्बन्ध चिन्ता (१२वीं शती) लिखी। ३. इसी तरह सद्धर्मश्री की **सद्दत्थ भेदचिन्ता** (१२ वीं शती), ४. बुद्धप्रिय की **रूपसिद्धि या पदसिद्धि** (१३ वीं शती) एवं उसकी टीका, ५. धम्मकित्ति का बालावतार व्याकरण (१४ वीं शती), ६. वरमी भिक्षु कण्टक नागित की **सद्दसारत्थजालिनी** (१३५६ ई.), और ७. महायस की **कच्चायन भेंट** टीका तथा कच्चायनसार (१४ वीं शती) भी प्रसिद्ध हैं। ८. कच्चायन भेंट पर दो टीकाएं मिलती हैं - वरमी भिक्षु अरियालंकार की **सारत्थविकासिनी** (१६०८ ई.) और उत्तमसिक्ख की कच्चायनभेद महाटीका। ९) कच्चयनसार पर महायस ने स्वयं एक टीका लिखी जिसे कदाचित् कच्चायनसार-पुराणटीका कहा गया है। इसी तरह सद्धम्मविलास की कच्चायनसार अभिनवटीका या सम्मोहविनासिनी, १०. क्यच्वा का **'सद्दबिन्दु'** (१४८१ ई.), ११. ञाणविलास की सद्दबिन्दु पर लीनत्थ विसोधनी (१६ वीं शती), १२. बालप्पवोधन (अज्ञात लेखक), १३. अभिनव चुल्लनिरुत्ति (अज्ञात लेखक), १४. महाविजितावी की कच्चायन वण्णना तथा वाचकोपदेस, १५. सीलवंस की धातुमंजूसा आदि और भी अनेक पालि व्याकरण ग्रन्थ हैं जो कच्चायन व्याकरण के टीका रूप में या उस पर आधारित स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध हैं। कच्चायन व्याकरण की यह लोकप्रियता का निदर्शन है।

सद्दबिंदु

इसमें पालि व्याकरण की लघुकायिक पाण्डुलिपियों का उल्लेख हुआ है जिनकी रचना वर्मी में हुई ११ से १३ वीं शती के बीच। ये लघुकायिक पाण्डुलिपियां (सद्दात्रय-क्यं) मण्डलय पुस्तकालय में सुरक्षित १९ वीं शती के 'पिटक-तो-समुइन' में उल्लेखित हुई हैं। इसमें २० से ५६ तक गाथाएं उपलब्ध होती हैं। इसी प्रकार एक अन्य सूची में १६ तथा एक और सूची में १५ लघुकायिक वर्मी पालि व्याकरणों का उल्लेख हुआ है। अभी तक इनका रोमन संस्करण भी प्रकाशित नहीं हुआ। इस क्रम में **सद्दनीति** की उस पाण्डुलिपि की चर्चा की जा सकती है जिसके लेखक हैं पेगनवंशीय नृपक्यत्वा (१२३४-५० ई.)। यह ग्रन्थ अंतःपुर की महारानियों की दृष्टि से लिखा गया था। इसमें कच्चायन

व्याकरण के सन्धि, नाम, कारक, समास, तद्धित, आख्यान और कृत की व्याख्या की गई है। इसकी टीका का नाम है **गन्थसारो नाम सद्दबिन्दु विनिच्छयो** जिसके रचयिता हैं सद्दधम्मकित्ति महाफुस्सदेव (१५ वीं शती)। इसमें पूर्ववर्ती कतिपय टीकाओं के नाम भी उल्लिखित हुए हैं। कच्चायन व्याकरण के अतिरिक्त **चुल्लनिरुत्ति और महानिरुत्ति** ये दो व्याकरण ग्रन्थ भी कात्यायन ने लिखे ऐसा गंधवंस (पृ. ५९) से पता चलता है।

२) मोग्गलानव्याकरण

कच्चायन व्याकरण के बाद मोग्गलान या मोग्गल्लायन व्याकरण लिखी गई। मोग्गल्लायन अनुराधापुर (श्रीलंका) के थूपाराम विहारवासी भिक्षु थे जिन्होंने परक्कमभुज अथवा पराक्रमबाहु (११५३-११८६ ई.) के शासनकाल में मोग्गल्लायन व्याकरण की रचना की। वे महाकस्सप थेर के साक्षात् शिष्य थे जो पुलन्नरुआ के वनवासी सम्प्रदाय के आचार्य थे। प्रशस्ति के अनुसार लेखक ने अनुराधापुर के थूपाराम विहार में रहकर ही इस ग्रन्थ का प्रणयन किया। मोग्गल्लान व्याकरण का दूसरा नाम **मागधशब्दलक्षण** भी है। उन्होंने इसमें पाणिनि, कातन्त्र और चन्द्रव्याकरण का आधार लिया है। इस पर उन्हीं की वृत्ति **कथापञ्जिका** भी उपलब्ध है। इस व्याकरण में ८१७ सूत्र हैं जिनमें सूत्रपाठ, धातुपाठ, ण्वादि पाठ आदि सभी मूल विषयों पर सर्वांगीण विवेचन हुआ है। इसी पर आधारित भिक्षु जगदीश कश्यप का पालि महाव्याकरण भी दृष्टव्य है। मोग्गल्लायन व्याकरण का दूसरा नाम "**मागधसद्दलक्खणं**" भी है। इस पर कच्चायन तथा चन्द्रगोमिन् के चान्द्रव्याकरण का भी प्रभाव दिखाई देता है। मोग्गल्लायन व्याकरण पर आधारित निम्नलिखित व्याकरण ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं।

१) मोग्गल्लान के शिष्य पियदस्सी की पदसाधना (१५ वीं शती) और उसपर राहुल अथवा वाचिस्सर की बुद्धिप्पसादिनी नामक टीका (१४७२ ई.), २) वनरतन मेधंकर की पयोगसिद्धि (१३ वीं शती), ३) राहल वाचिस्सर की मोग्गल्लायन पंजिका पदीप, पालि और सिंहली में (१४५७ ई.), ४) धातुपाठ अज्ञातकर्तृक, धातुमंजूसा से अल्पकायिक।

३. सद्दनीति व्याकरण

सद्दनीति व्याकरण सम्प्रदाय वरमा में अधिक पल्लवित हुआ। इसके लेखक पगान (ब्रह्मदेश) निवासी वरमी भिक्षु **अग्गवंस** थे जिन्होंने कच्चायन व्याकरण का आधार लेकर सद्दनीति का प्रणयन ११५४ ई. में किया। वे वरमी राजा नरपति सिन्धु (११६७-१२०२ ई.) के गुरु थे। यह व्याकरण पालि साहित्य को समझने के लिए बहुत उपयोगी है। इसमें २७ अध्याय हैं। प्रथम १८ अध्यायों को महासद्दनीति तथा शेष ९ अध्यायों को चूलसद्दनीति कहा जाता है। पदमाला, धातुमाला और सुत्तमाला इन तीन भागों में सद्दनीत्ति व्याकरण विभक्त है। पदमाला में पदों का, धातुमाला में धातु और उनसे निष्पन्न शब्दों और सुत्तमाला में १३९१ सूत्रों के माध्यम से पालि व्याकरण का

व्याख्यान किया गया है। इसमें शास्त्रार्थ प्रणाली का उपयोगकर पालि व्याकरण का पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया गया है। इस पर पाणिनि व्याकरण का प्रभाव अधिक दिखाई देता है। वर्मा में यह व्याकरण शास्त्र जैसा पूज्य माना जाता है। **धात्वत्थदीपनी** नामक एक अन्य व्याकरण ग्रन्थ अज्ञात लेखक की कृति भी उपलब्ध है जिसमें सद्दनीति व्याकरण के अनुसार पद्यबद्ध धातु-सूची दी गई है। इसमें धातुमंजूसा, धात्वर्थदीपनी और धातुपाठ का भरपूर उपयोग किया गया है।

अन्य पालि व्याकरण ग्रन्थ

उपर्युक्त तीन सम्प्रदायों के अतिरिक्त अन्य पालिव्याकरण ग्रन्थ भी लिखे गये जिनकी सूची आचार्य **सुभूति ने 'नाममाला'** में तथा डेफजायसा ने अपने केटलाग 'ए केटलाग आफ दी टेम्पल लायब्रेरीज आव सीलोन'' में प्रस्तुत की है। यह एक लम्बी सूची है इसमें से निम्नलिखित ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं।

१. पगान-वरमी भिक्षु धम्मदस्सी कृत वच्चवाचक (१४ वीं शती), २. मंगलकृत गन्धट्ठि (१४ वीं शती), ३. अरियवंस कृत गन्धामरण (१४३६ ई.) तथा उसपर लिखित टीकाएं, ४. वरमी राजा क्यच्वा की पुत्री द्वारा लिखित विभत्यत्थप्पकरण (१४८१ ई.) २७ पद्यों में। इस पर विभत्थत्थदीपनी तथा विभत्तिकथावण्णना टीकाएं भी उपलब्ध हैं, ५. सद्धम्मञाण की विभत्यत्थ रचना (१४ वीं शती), ६. संवण्णनानयदीपनी जम्बूधज द्वारा रचित (१६५१ ई.)। इसी लेखक के निरुत्तिसंगह तथा सर्वज्ञन्यायदीपनी भी प्रसद्धि है, ७. सद्धम्मपालकृत सद्दवुत्ति (१४ वीं शती), ८. अतरगम भंडार राजगुरु कृत काकपुप्फमंजरी (१८ वीं शती), ९. सुधीर मुखमण्डन, १०. विचित्ताचार की नयलक्खणविभावनी (१८ वीं शती), ११. नारदथेर की सद्दबिन्दु, सद्दकलिका सद्दविनिच्छय आदि अन्य ग्रन्थ। श्रीलंका, बरमा और थाईलेण्ड में पालिव्याकरण पर आधुनिक काल तक ग्रन्थ लिखे जाते रहे यह विशेष उल्लेखनीय तथ्य है। इन देशों में पालि की लोकप्रियता का यह प्रतीक है। सिहली, वरमी भाषाओं में भी कतिपय पालि ग्रन्थ लिखे गये।

२. पालि शब्दकोश

पालि साहित्य में दो शब्द कोश उपलब्ध हैं -

१. अभिधानप्पदीपिका और एकक्खरकोस

मोग्गलान कृत अभिधानप्पदीपिका का संपादन मुनि जिनविजय जी और डॉ. भागचन्द्र जैन ने किया। यह ग्रन्थ अमरकोश के आधार पर लिखा गया। इसमें स्वर्गकाण्ड, भूकाण्ड और श्रामण्य काण्ड में शब्दों का विभाजन किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में भिन्नार्थक शब्द भी दिये हैं। यह मोग्गलान पुलत्थिपुर (पुलन्नरुवा) के महाजेतवन विहार में रहते थे। ये मोग्गलान व्याकरणकार मोग्गलान से भिन्न थे जो अनुराधापुर के थूपाराम में रहते थे। इस पर १३५० में कित्ति **सीहसूर** की संवण्णना टीका

और वर्मी भिक्षु ज्ञानवर की १८ वीं शती में वर्मी टीका लिखी गई। डॉ. भागचन्द्र जैन के सम्पादन संस्करण में एकक्खरकोस भी सम्मिलित था।

२. **एकक्खरकोश** - इसके रचयिता हैं ब्राह्मी भिक्षु **सद्धम्मकित्ति** जिन्होंने इसे १४६५ में लिखा। यह ग्रन्थ संस्कृत एकाक्षरकोश का पालि अनुवाद है।

३. वुत्तोदय : छन्दशास्त्र

श्रीलंकावासी स्थविर संघरक्खित (१२ वीं शती) द्वारा गद्य-पद्य मिश्रित शैली में लिखित वुत्तोदय छन्द शास्त्र का एक उत्तम ग्रन्थ है। **संघरक्खित** पालि वैयाकरण मोग्गलान के शिष्य थे। सोऽन्तरायतन थेर और सारिपुत्र टीकाकार को भी उन्होंने अपना गुरु माना है। सम्बन्धचिन्ता की पुष्पिका में उदुम्बरगिरि मेधंकर का भी नामोल्लेख गुरु के रूप में किया है। वहीं उन्होंने **सुसद्दसिद्धि, योग विनिच्छय, सुबोधालंकार** और **खुद्दसिक्खाटीका** का भी उल्लेख स्वनिर्मित ग्रन्थों के रूप में किया है। वुत्तोदय छह परिच्छेदों में विभक्त है जो गद्य-पद्य मिश्रित हैं। पिंगल का भी यहां लेखक ने उल्लेख किया है। वुत्तोदय को लेखक ने मात्रा और वर्ण छन्दों में विभक्त किया है। पिंगल से लेखक अधिक प्रभावित है। समवृत्त, अर्धसमवृत्त और विषमवृत्त छन्दों का यहां वर्णन किया गया है। संघरक्षित की ही खुद्दकसिक्खाटीका और कच्चायन व्याकरण पर सम्बन्धचिन्ता व्याकरण ग्रन्थ भी मिलते हैं। वुत्तोदय पर निम्नलिखित **टीकाएं** उपलब्ध हैं -

१. ब्राह्मी भिक्षु सद्धम्मञाण (१४ वीं शती) की वुत्तोदयटीका या छन्दोसारत्थविकासिनी, २. वाचिस्सर का वुत्तोदय विवरण, ३. ब्राह्मी टीकाकार वेपुल्लबुद्धि की वचनत्थजोतिका, ४. नवविमलबुद्धि की वुत्तोदयटीका, ५. विसुद्धाचार की छन्दोमंजरी (१८९७ई.)

इनके अतिरिक्त छन्दशास्त्र पर **छन्दोविचिति, कविसारपकरण, कविसारटीकामंजरी, उपतपस्सी (१५ वीं शती) की वुत्तमाला या वुत्तमाला, सन्देससतक** आदि ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं।

४. पालि काव्यशास्त्र

पालि काव्यशास्त्र पर स्थविर **संघरक्खित** (१२ वीं शती) द्वारा ही लिखित **सुबोधालंकार** ग्रन्थ सर्वाधिक लोकप्रिय है। इस पर सारिपुत्त के शिष्य वाचिस्सर की टीका निबद्ध हुई। एक अन्य टीका **अलंकार निस्सय** नाम से भी ज्ञात हुई है जो वर्मा में १८८० ई. में लिखी गई। इसके अतिरिक्त वर्मी भिक्षु सद्धम्मञाण (१४ वीं शती) की

छपच्चयदीपनी तथा किसी अन्य वर्मी भिक्षु छक्किन्दामिसिरि की **सारत्थ संगह** (१८७२ई.) रचना भी उल्लेखनीय है।

५. धम्मसत्थ (धर्मशास्त्र)

पालि ''धम्मसत्थ'' मनुस्मृति पर आधारित है। इसे ब्राह्मी भिक्षु धम्मविलास (सारिपुत्त) ने १२वीं शती में लिखा। १३ वीं शती में '**वगरु धम्मसत्थ**' वर्मी भाषा में और १६ वीं शती में उसका **मनुसार** नामक पालि रूपान्तरण हुआ। १८ वीं शती में वन्नक्यवदिन्कृत '**मनुवण्णना**' १९ वीं शती में राजबलक्यवदिन (सन् १८३२) की मोहविच्छेदनी आदि अन्य पालि ग्रन्थ ब्रह्मदेश में रचे गये। इन ग्रन्थों में मानवतावादी विशाल दृष्टिकोण दिखाई देता है। मोहविच्छेदिनी में मनु की जगह बुद्ध को न्यस्त किया गया। ब्रह्मदेश में इसी अर्थ में इसे मानव धर्मशास्त्र कहा गया है।

पालि का काव्य, कोश, छन्द, व्याकरण आदि विविध विधाओं से सम्बद्ध यह साहित्य संस्कृत के समान प्रौढ और समृद्ध तो निश्चित नहीं है पर इसमें अपेक्षाकृत ''**बहुजन हिताय बहुजन सुखाय**'' की अभिव्यक्ति अधिक हुई है। यहां की भाषा और प्रस्तुति में जो स्वाभाविकता और प्रवणता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। बुद्ध द्वारा अनुदित और प्रशंसित शिष्य-शिष्याओं के साथ हुए संलाप और उदान गाथाएं भी यहां संकलित हैं। इसलिए इसके काव्यत्व का आकर्षण ही कुछ और है। ऐसे काव्यों की रचनाएं सिंहल और वर्मा में लगभग १५वीं शताब्दी तक होती रहीं। यहां जो कला के सृजनात्मक सौन्दर्य की कमी दिखाई देती है उसके पीछे एक कारण यह भी है कि विरागी भिक्षु से श्रृंगारात्मक वर्णन की आशा कैसे की जा सकती है। भिक्षुसंघ के लिए काव्य एक '**अनागत भय**' माना गया है। इसलिए भिक्षुगण इसमें अधिक प्रवृत्त नहीं हुए। व्याकरण साहित्य में **कच्चायन व्याकरण** प्रचीनतम पालि व्याकरण है जो सर्ववर्मा के कातन्त्र व्याकरण (चतुर्थ शताब्दी) पर आधारित है। उन्होंने उसमें पाणिनि व्याकरण और उसकी काशिकावृत्ति का अनुगमन किया है। **मोग्गल्लान** व्याकरण कच्चायन व्याकरण से अधिक सशक्त और विस्तृत है। इस पर एक सुन्दर वृत्ति और पञ्जिका भी उपलब्ध है। अग्गवंसकृत **सद्दनीति** इसी पर आधारित रही है। पालि कोस का एक स्वतन्त्र संग्रह पालि अट्ठकथा साहित्य में से संकलित किया जाना चाहिए। इसमें बहुत गाथांए इस प्रकार की वहां संग्रहीत हैं। उनके आधार पर पालिकोश का उद्भव भी देखा जा सकता है।

परिवर्त ६
दक्षिण-पूर्व एशिया का पालि-बौद्ध साहित्य : एक सर्वेक्षण

दक्षिण 'पूर्व एशिया का पालि साहित्य

दक्षिण-पूर्ण एशिय।वर्ती श्रीलंका और वर्मा में पालि साहित्य आधुनिक काल तक लिखा जाता रहा है। इस्का वर्णन क्रमश:डॉ. मलालशेखर और बोडे ने काफी अच्छे ढंग से किया है। थाईलेण्ड में लिखे गये पालि साहित्य का सवेक्षण अभी तक अधिक नहीं हो पाया। कोडेस, सुपकार और आसकर वोन हिनुवर ने इस विषय पर अवश्य कार्य किया है जो इस प्रकार है -

१. थाईलेण्ड का पालि साहित्य

१. नीति साहित्य

धम्मनीति, लोकनीति, महारहनीति और राजनीति ये चारों ग्रन्थ सुभाषित परम्परा से जुडे हुए हैं। धम्मनीति में ४१४ पद्य हैं, लोकनीति में १६७ पद्य हैं, महारहनीति में २५४ पद्य हैं और राजनीति में १३४ पद्य हैं। इनका प्रकाशन वर्मा से हुआ है।

लोकनेय्यप्पकरण का सम्पादन खमेर लिपि में प्राप्त मात्र एक ही पाण्डुलिपि के आधार पर पी.एस. जैनी ने किया है। यह ग्रन्थ पंचतन्त्र या हितोपदेश की शैली में लिखा गया है। जातक सुत्तन्तों से सामग्री लेकर यह लघुकाय ग्रन्थ तैयार किया गया है। यह ग्रन्थ १४ वीं शती का है।

'मनुस्सविनेय्य' सुत्तन्त पर आधारित है। अभी तक कदाचित् यह अप्रकाशित है। एक पत्र श्याम से श्रीलंका १७५६ में भेजा गया जो इसमें संमिलित है।

२. थाईलेण्ड का वंस साहित्य

श्रीलंका का वंससाहित्य पद्यात्मक है जबकि थाईलेण्ड के वंससाहित्य में पद्य के साथ गद्य भी जोड दिया गया है। **संगीतिवंस** की परम्परा तक यह जुडा रहा है।

चामदेववंस - चामदेवीवंश का अनुवाद थाई भाषा में महाथेर बोधिरंसी ने च्यांगमाई काल में १५ वीं शती में किया। चामदेवी नवी शताब्दी में हरिपुंजय राज्य

(लंफन) की महारानी थी। उससे सम्बद्ध ४ से ११ अध्याय इस ग्रन्थ में लिखे गये हैं। इसकी भूमिका के अनुसार बुद्ध ने भविष्यवाणी की कि अस्थियों की खोज राजा आदित्यराज १२वीं शती में करेंगे। इससे यह अनुमान लगाना सरल हो गया कि लेंफुन में बुद्ध का अस्थि संयोजन १२वीं शती में हुआ था।

फ्रासिंग बुद्ध प्रतिमा (बुद्ध रूपनिदान) का इतिहास तथा पालि साहित्य के आधार पर बुद्ध प्रतिमा का इतिहास दर्शाने वाली पुस्तकें थाईलेण्ड में प्रकाशित हुईं हैं। ब्रह्मराजपञ्ञ ने **"रत्न बिम्बवंस वण्णना"** और **"अरियवंस अमरकटबुद्धरूपनिदान"** १५ वीं शती में रचे। अरियवंस ने **"अड्ढभाग बुद्धरूपनिदान"** भी लिखा। बुद्धप्रतिमा का इतिहास थाईलेण्ड के बाहर प्रायः नहीं लिखा गया। थाइलेण्ड में ऐसे ग्रन्थ निम्न हैं।

जिनकालमाली

जिनकालमाली १५१६ ई. में लिखा गया और **रतनपञ्ञ** ने १५२७ ई. में उसे विस्तार दिया। रतनपञ्ञ उस समय च्यांगमाई के समीपस्थ बौद्धविहार में रहते थे। च्यांग माई और च्यांग राइ क्षेत्रों के इतिहास के सम्बंध १२७० से १५२७ तक रहे। भारत और श्रीलंका के बौद्धधर्म का इतिहास इससे बहुत पूर्व का रहा है। च्यांग माई में १४७७-७८ ई. में एक बौद्धसंगीति हुई राजा तिलोक के सान्निध्य में। उसका भी कोई उल्लेख पाण्डुलिपियों में नहीं है। संगीतिवंस ने थाईलेण्ड में बौद्धधर्म के इस इतिहास तथ्य को लिपिबद्ध किया है।

पंच बुद्धव्याकरण

इस ग्रन्थ का सन्दर्भ पञ्ञास जातक से है। इसमें थाइलेण्ड के पवित्र तीर्थ डनयान का इतिहास है। कहा जाता है पांच बुद्धों ने यहां की यात्रा की थी।

३. थाईलेण्ड की कल्पित ग्रन्थ सम्पदा

थाईलेण्ड में जातक कथाएं बहुत लोकप्रिय रही हैं। इनमें कुछ कल्पित कथाएं भी जुड गईं। इनका संग्रह पञ्ञासजातक में हुआ है। इसके अतिरिक्त कुछ और कथायें हैं जिनका संग्रह इसमें नहीं हो सका जैसे -

सिविजयजातक - इसे सिविजयपञ्ह अथवा महासिविजय जातक भी कहा जाता है। इसका उपयोग यूरोप में व्याकरण-व्याख्यान में हुआ है। यह कथा मूल जातक से हटकर तैयार हुई है। उत्तरी थाईलेण्ड में इसकी प्रथम प्रतिलिपि १५८० ई. में हुई।

दो जातक कथाएं और हैं जिनका संग्रह चुल्ल बुद्धघोष ने किया।वे हैं - **जातत्थकी निदान** और **सोतत्थ निदान**। इनमें **सोतत्थकी निदान** का प्रकाशन हुआ है। यह जातक निदान का संक्षिप्त रूप है। इसमें पद्य तो हैं पर गद्य प्रायः नहीं रखा गया। कुछ अतिरिक्त पद्य भी संयोजित कर दिये गये।

प्रारम्भ में कुछ कल्पित जातक कथाएं भूमिका के रूप में जोड दी गई, जैसे **सिद्धत्थ तेलदायिका राजपुत्तीवत्थु**। इसमें बोधिसत्व को अपने कर्मो के कारण स्त्रीयोनि में जन्म लेना पडा अनेक जन्मों तक (अपरापरियवेदनिय पापकम्म, २४.४)। इसमें पालि साहित्य में अन्यत्र अनुपलब्ध सूचनाएं भी संकलित हैं, जैसे - तण्हंकर, मेधंकर और सरणंकर अतीत बुद्धों के बोधिवृक्ष के संदर्भ में। सुमेध और दीपंकर बुद्ध की कथा के बाद विषयसूची दी गई है। और परिशिष्ट में तिमण्डल कथा अविजहितकथा, आनन्दयुच्छित कथा, दस भावी बुद्धों की नामावली अंकित है।

निगमन में सोतत्थ के निदान के लेखक का नाम बुद्धघोष दिया है। और सोतत्थकी को प्रकरण कहा है। जातत्थकी निदान जातक पद्यों का संक्षिप्त रूप रहा होगा। यह ग्रन्थ अप्राप्त है।

मालेय्यत्थेरवत्थु

इस ग्रन्थ में वृद्ध मालेय्य स्वर्ग नरक की यात्रा करता है और वापिस आकर पृथ्वी पर वहां के अनुभव बताता है। स्वर्ग में वह मेत्तेय्य से मिलता है जो उसे वेस्संतरजातक श्रवण का फल बताते हैं। इसका समय लगभग १५ वीं शताब्दी है।

इनके अतिरिक्त कुछ कल्पित सुत्तन्तों का भी संग्रह थाईलेण्ड में हुआ है। प्रकाशित सुत्तन्त इस प्रकार हैं -**१. तुण्डिलोवादसुत्त, २. निब्बानसुत्त, और ३. आकारवत्तारसुत्त**। तुण्डिलोवादसुत्त का प्रकाशन सिंहली पाण्डुलिपि के आधार पर हुआ और शेष दो खमेर लिपि में प्राप्त हुई। तुण्डिलोवादसुत्त में थेरवादी परम्परा के अनुसार दान के गुण प्रदर्शित हुए हैं। इसमें निब्बान की तुलना नगर से की गई है।

आकारवत्तार

आकारवत्तार का सम्पादन पी.एस. जैनी ने किया है। इसमें नारकीय दुःखों से कैसे बचा जाये इसका वर्णन किया गया है। यहां भूल से अन्त में इसे आकारवत्तार-सुत्तवण्णना कह दिया गया जबकि अट्ठकथा जैसा कोई रूप यहां नहीं है।

इन सुत्तन्तों का आकलन तृतीय संगीति तक सुत्तपिटक में नहीं हुआ। इनमें कतिपय हैं - कुलुम्बसुत्त, राजोवाद सुत्त, तिक्खिन्द्रिय, चतुपरिवट्ट, नन्दोपनन्द, अपलालदमन, रट्ठपालगज्जित, आलवकगज्जित, गूळहउम्मग जातक, गूळहवेस्सन्तरजातक। इनके संग्रह भी निकले हैं जिनके नाम हैं - वण्णपिटक,

अंगुलिमालपिटक, गूळहविनय, वेदल्लपिटक। इन सभी को अबुद्धवचन कहा गया है। इन्हें महाविहार त्रिपिटक से सम्बद्ध कर दिया गया।

आकारवत्तारसुत्त (वण्णना)

इसे पञ्ञासजातक के रूप में स्याम में संयुत्तनिकाय का भाग माना जाता है। यद्यपि मूल त्रिपिटक में इसका उल्लेख नहीं मिलता परन्तु स्याम सोसायटी बैंकाक में पालि पाण्डुलिपियों के साथ इसे संमिलित किया गया है। Dr. Okar Hinuber ने यहां के केटलाग को जर्नल आफ दी स्याम मोसायटी १९८३ में प्रकाशित किया था नं. ४७ के रूप में। खमेर लिपि में लिखी इस पाण्डुलिपि में लिपिकाल का कोई उल्लेख नहीं है पर मुख पृष्ठ की पुष्पिका में इसे संयुक्त निकाय का भाग माना गया है। पर संयुत्त निकाय में इस प्रकार के किसी सुत्त का उल्लेख नहीं है।

डॉ. पद्मनाम जैनी ने इसके सन्दर्भ में इण्डो ईरानियन जर्नल, भाग ३५-१९९२ में एक लेख प्रकाशित किया था। इस पाण्डुलिपि में आकारवतार और आकारवत्तार सुत्तवण्णना शब्दों का प्रयोग हुआ है। संभव है इसमें उसकी टीका भी संमिलित हो। अन्त में लिखा है - **संबुद्धेन पकासितं... सत्तार सवग्गेहि पटिमण्डितं।**

इस पाण्डुलिपि में ३७ पद्य हैं। अन्त में इसके पठन-पाठन के लाभ का उल्लेख है जिसे हम **वण्णना** कह सकते हैं। इसे हम थेरवादी परम्परा की पाण्डुलिपि कह सकते हैं। इसका प्रारम्भ '**एवं मे सुतं' भगवा सावत्थियं विहरति**' से होता है। इसके पठन से पाराजिक दोषी भिक्षु अवीचि नरक में जाने से बच जाता है। अन्य दोषों के कारण अन्य नरकों के दु:खों का भी उल्लेख है। उनसे भी साधक बच जाता है। ''**इति पि सो भगवा अरहा सम्मासंबुद्धो**'' यह प्रारम्भ में लिखा है और अन्त में '**परिसुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेति**' आया है।

इसमें १७ वग्ग हैं जिसमें **इति पि सो भगवा**' की पुनरावृत्ति होती है। पारमीसंपन्नो भी अनेक बार आया है। पारमी के सन्दर्भ में यद्यपि यह कोई विशेष वर्णन नहीं मिलता पर अभिनीहार, गब्भवुट्ठान और अभिसंबोधि का उल्लेख करते हुए लेखक सील, समाधि, पञ्ञा, विज्ञा, ञाण, बोधिपक्खिय, बल, चरिया, समापत्ति लक्खण आदि का उल्लेख करता है और कहता है - ''**इति पि सो भगवा चत्तारो सतिपट्ठानपारमीसंपन्नो**'' लिखता है।

'इति पि सो भगवा' जैसा कथन कोई नया नहीं है। थाईलेण्ड के **लोकनेय्यप्पकरण** में भी ऐसा ही उल्लेख आता है। इतना ही नहीं, उसके एक अक्षर का भी स्मरण संकट से बचा देता हैं। कहा जाता है, उसके स्मरण से एक व्यक्ति सर्प विष बाधा से मुक्त हो गया। 'ओं नमः शिवाय' के अनुकरण पर ऐसी परम्परा बनी है।

'आकारवत्तार' को सुत्त माना जा सकता है। विनय भंग होने का फल है अवीचि आदि नरकों में जन्म लेना। जातकट्ठकथा, विशेष रूप से निमि जातक में भी इसी तरह की व्यवस्था दी गई है। विविध पापों या पाराजिक करने से जीव को नरक जाना पडता है। प्रथमतः इन पाराजिकों का सम्बन्ध गृहस्थों तक सीमित था। बाद में उसे प्रव्रजितों के लिए भी लागू कर दिया गया।

कहा जाता है, इस सुत्त के पाठ से सुत्तविनय-अभिधम्म का फल मिलता है। सभी बुद्ध ऐसा ही कहते हैं। संयुत्तनिकाय में भी ऐसा ही कहा गया हैं- यो **पस्सति सद्धम्मं सो मम पस्सति पण्डितो। अपस्समानो सद्धम्मं मम पस्सन्तो पि न पस्सति, गाथा ५५।** वक्कलि को तगागत बुद्ध ने मृत्यु के पूर्व यही कहा था। इतिवुत्तक में भी लगभग ऐसा ही मिलता है। संयुत्त निकाय में भी यही माना गया है। यहां सारिपुत्त से यह सब कहा गया है। सुत्त समाप्त होने के बाद वण्णना शुरु होती है- ३७ से ५० वीं गाथा तक।

सिंहलवत्थुकथा

इसके लेखक अनुराधापुर युगीन हैं। इसमें प्रस्तुत की गई कथाएं सुन्दर हैं तथा शैली भी प्रसाद गुण युक्त है।

२. श्रीलंका का आधुनिक पालि साहित्य

श्रीलंका में तो पालि साहित्य की एक लम्बी परम्परा रही है। पिटक, अट्ठकथा, टीका आदि सारी विधाओं का विपुल साहित्य यहीं लिखा गया। पुलन्नरुवा युग में लगभग १२वीं शती में **सारिपुत्त** ने अट्ठकथाओं पर टीकाएं लिखीं पर वे आज उपलब्ध नहीं हैं। चान्द्र व्याकरण पर **रत्नमतिपञ्जिका** की **पंजिकालंकार टीका** लिखी। यह भी अब अप्राप्य है। विनय पर उन्हीं का प्रसिद्ध ग्रन्थ है **पालिमुत्तक विनयविनिच्छय।** महावंस में इसी को विनय विनिच्छय कहा गया है। विनयट्ठकथा पर **'संवण्णना', विनयसंग्रह लीनत्थवण्णना, विसुद्धपथसंग्रह, कम्मट्ठानसंग्रह, अभिधानपंजिकालंकार, सम्पसादनी, विनयट्ठकथाटीका, अंगुत्तरनिकाय**

अट्ठकथा, मंगलसुत्त अट्ठकथाटीका, आदि अनेक पालि ग्रन्थों की रचना की। उन्हीं के शिष्य **धम्मकित्ति** का दाठावंस और महावंस का द्वितीय भाग भी उल्लेखनीय हैं।

सारिपुत्त के ही समकालीन **वाचिस्सर** की रचनाएं भी स्मरणीय हैं - खेमप्पकरणटीका, उत्तरविनिच्छय, विनयविनिच्छय, रूपारूपविभाग, थूपवंस आदि। **मेधंकर** उदुम्बरगिरि का विनयथसमुच्चय आनन्द की पियदस्सी पदसाधन टीका और खुद्दकसिक्खा, **आनन्द महाथेर** का सद्धम्मोपायन, **अनोमदस्सी** का हत्थवन - गल्लविहारवंस, **वनरतन** आनन्द का उपासकालंकार, वनरतन **मेधंकर** के जिनचरित और पयोगसिद्धि, **संघरक्खित** का सुबोधालंकार, वुत्तोदय, खुद्दकसिक्खाटीका, सुसद्दसिद्धि, मोग्गल्लानपंजिकाटीका, सम्बन्धचिन्ता तथा योगविनिच्छय, सिद्धत्थ का सारत्थसंगह, धम्मकित्ति का सद्धम्मालंकार, देसरक्खित धम्मकित्ति के संखेप, निकायसंगह, बालावतार, तथा जिनबोधवलि उल्लेखनीय हैं।

जयवर्धनपुर काल (११-१३ वीं शती) में **राहुल संघराज** संस्कृत, पालि, प्राकृत, सिंहल, तमिल, अपभ्रंश के पण्डित थे। उनके जिन पालि ग्रन्थों का **नामोल्लेख किया गया है वे हैं - पंजिकाप्रदीप, कच्चायन, निरुत्ति, मंजूसा, सद्दनीति, चूलनिरुत्ति, सुत्तनिद्देस, पयोगसिद्धि, भेसजमञ्जूसा, अभिधानप्पदीपिका आदि।** इनके अतिरिक्त गतार उपतपस्सी का वुत्तमाला-सन्देस-सतक भी सुन्दर काव्य है। इसमें मात्र १०२ पद्य हैं और वे उत्कृष्ट कोटि के हैं।

इसके बाद १५ वीं शती में सिंहल में पारस्परिक संघर्ष प्रारम्भ हो गये, पोर्तगीजों के शासन की कठोरता और कैथोलिक अत्याचार बढा और भिक्षुसंघ अस्त-व्यस्त हो गया। इससे पालि साहित्य की बडी भारी क्षति हुई। १७५५ ई. में डचकाल (१६५८-१७८९ ई.) में विजय राजसिंहन ने स्याम से भिक्षुओं को निमन्त्रित कर पुनः भिक्षुसंघ की स्थापना की। **सरणंकर** संघराज सामणेर बने और उन्होंने सुरियगोद स्थविर का शिष्यत्व स्वीकार किया। इस समय तक पालि की अध्ययन-अध्यापन परम्परा समाप्तप्राय हो चुकी थी। सरणंकर ने उसे पुनरुज्जीवित किया। उनका **अभिसंबोधि अलंकार** प्रसिद्ध पालि ग्रन्थ है। उनके अतिरिक्त गिनेगथ की "**तिरतनमाला**" भी उल्लेखनीय है।

इसके बाद सिंहल की राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन आया और अंग्रेजों का पूर्ण शासन हो गया। फलतः ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार बढा और पालि परम्परा पुनः गर्त में चली गई। पर चिनगारी जलती रही, अंग्रेजों के विरुद्ध आवाज उठती रही। इस आवाज को तेजस्वर देने में मोहोट्टिवत्ते **गुणानन्द सामणेर** का विशेष हाथ रहा।

उन्होंने अंग्रेज पादरियों को १८७३ ई. में शास्त्रार्थ में पराजितकर बौद्धधर्म की पुनःप्रतिष्ठा की। विद्योदय और विद्यालंकार परिवेणों की स्थापना हुई। इसकी पृष्ठभूमि में धम्मालोक और धम्मानन्द नायकपाद का महान योगदान था। फिर सिंहल के स्वतन्त्र हो जाने से पालि अध्ययन परम्परा का सूत्रपात हो गया। धम्माराम, अत्थदस्सी, सुमंगल, विमलसार तिस्स, रतनजोति, मेघानन्द, आदि कुछ अच्छे पालि के विद्वान हुए। इनमें विमलसार तिस्स का सासनवंसदीप, मेधानन्द का जिनवंसदीप, पियतिस्स का महाकस्सपचरित, महानेक्खम्मचम्पू और कमलांजलि जैसी काव्य कृतियां, ञाणतिलक की एकक्खरकोसव्याख्या, कच्चायनसार व्याख्या, निरुत्तिरत्नाकर, कारिकाव्याख्या, विमलकित्ति का दीपवंस (द्वितीय भाग), पञ्ञानन्द का महावंस (तृतीय भाग), जिनवंस की भत्तिमालिनी और सुमंगल का मुनिन्दापदान **विशेष उल्लेखनीय पालि ग्रन्थ हैं**। इस पालि ग्रन्थ सम्पदा से सिंहल में पालि का प्रचार हुआ और पालि पण्डित परम्परा की स्थापना हुई।

३. लाओस का पालि साहित्य

George Coedes ने लाओस में प्राप्त पालि साहित्य की एक सूची तैयार की है। उसे देखने से लगता है कि यहां के विद्वानों ने निस्सय और जातकों पर टीकाएं अधिक लिखी हैं। सुत्तनिद्देस, निद्देसन्याससंगह आदि इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं। सुत्तसंगह से पृथक् पहचान बनाने के लिए उन्होंने १) **'पोराणसंगह'** नाम से एक संग्रह तैयार किया जो लगभग २५ निकाय-ग्रन्थों पर आधारित था। इस संग्रह में से कतिपय ग्रन्थों या सुत्तों के नाम इस प्रकार हैं - सुभसुत्त या चूलकम्मविभंग (न. नि. ३,२०२-०६), महानामसुत्त (सं.नि. ५.३९५), उपासकवग्ग (अं.नि. ३,२०३-४, २०६-०८), विसाखुपोसथसुत्त (अं.नि. १.२०५.१५), धम्महदय विभंगसुत्त (विभंग ४२२-२६), छत्तमानवकविमान (विमानवत्थु, ५३, २२९-४३), रेवती (वही, ५२, २२०-२९), गुत्तिल (वही, ३३, १३७-४८), अनेकवण्ण (वही, ८२,३१८-२२), महादुक्खक्खन्धसुत्त (म.नि. १.८३-९०), अट्ठिपुंजसुत्त (सं. नि. २.१८५-६), महाराहुलोवादसुत्त (म.नि. १.१४२०-२६), पावेय्यकसुत्त (सं.नि. २.१८७-८९), सूकरपोतिका वत्थु (धम्मपदट्ठकथा, ४.४६-५१), जरा-मरण सुत्त (सं. नि. १.७१) पियसुत्त (सं.नि. १.७१-७२), अप्पमादसुत्त (सं.नि. १.८६-८७), अपुत्तकसुत्त (सं.नि. १.९१-९३), तमोतमपरायणसुत्त (सं.नि. १.९३-९५), पब्बतूपमसुत्त (सं.नि. १.१००-०२), लोकविचरणसुत्त (अं.नि. १.१४२-४३), सुपुब्बण्ह सुत्त, (अं.नि. १.२९४) और धम्मविहारीसुत्त (अं.नि. ३,८६-८९)।

२) **सुत्तसंगह** - इसमें पांच सुत्तों का अनुवाद संग्रहीत है - सुमन (अं. नि. ३;३२-३४), वेलाम (अं.नि. ४.३९२-९६), दक्खिणाविभंग (अं. नि. ६.२५३-५९), उपोसथ (अं.नि. १.२०५-१५) और कसीभारद्वाजसुत्त (सं.नि. १२)।

३. **वामदन्तधातुसुत्त**

४. मेत्तेय्यसुत्त।

५. बुद्धापदान

६. सप्पुरिसदन - इसमें तण्हंकर से गौतमबुद्ध तक २८ बुद्धों की जीवन घटनाएं दी गई हैं।

७. मूलकम्मट्ठान में ४० कम्मट्ठानों की चर्चा है।

८. अभिधम्म चेत कम्बी - इसमें धम्मसंगणी का विषय संग्रहीत है।

९. तिलक्खणसुत्तसंगह - इसे धम्मपदसुत्तसंगह तिलक्खण विनिच्चयकथा भी कहा गया है। यह पांच अध्यायों में विभक्त है।

१०. सुधनजातक - इसमें ५० जातक संग्रहीत हैं।

११. दुकम्मजातक

१२. नन्दकुमारजातक

१३. चन्दगाधजातक - यह जातक लाओस, थाईलेण्ड और कम्बोडिया में अधिक प्रसिद्ध है। इसमें बोधिसत्व का जन्म चन्दगाधनामक निर्धन परिवार में होता है। इसमें उद्धृत सुरियगाध, देवतासंखा और सुदस्सनकुमार की पहचान क्रमशः सारिपुत्त, यशोधरा और देवदत्त से की जा सकती है।

१४. **संभमित्तजातक** - इसमें बोधिसत्व को चम्पक राजा सुभमित्त के रूप में दिखाया गया है।

१५. सुवण्णहंसजातक

१६. अरिन्दमजातक

१७. लोकविनयजातक

१८. सुरिसवंसहंसजातक

१९. सुरिसवंसहंसजातक

२०. सुवण्णमेघजातक
२१. निब्बानसुत्त - इसमें मृत्यु और निर्वाण पर बुद्ध का उपदेश संग्रहीत है।
२२. लोहगोण जातक
२३. गंधघातकजातक
२४. मूलकित्तिजातक
२५. सुनन्दराजसुत्त
२६. चक्खानवुत्तिपापसुत्त
२७. चुन्दसूकरिकसुत्त या धम्मिकपण्डितजातक
२३. लोकविदू
२४. दसवरञ्आणबुधाभिषेक - बुद्ध की प्रशंसा में लिखे गये पद्यों का संग्रह
२५. आकारवत्तसुत्त
२६. चेतनमेदा - कम्मविपाक पर आधारित
२७. महाविपाक
२८. देवधिपञ्हा
२९. पुब्बञ्ञानिसंस
३०. चतुरारक्खा
३१. योकप्पको आचारिय - योगावचार को बुद्ध का उपदेश
३२. उण्हस्सविजयजातक
३३. सलाकनिविजसुत्त
३४. पठममूलमूलि - लोक का विवरण है।
३५. अरुणवती - लोक का विवरण है।
३६. सोदत्तकिमहानिदान - यह निदान श्रीलंका, वर्मा, इण्डोचायना आदि में सिद्ध है।
३७. कुसल धम्मविनिच्छयकथा - धम्मसंगणी पर आधारित।
३८. तिंसापारमी
३९. पठमसंबोधि - बुद्ध की जीवनी ९ अध्यायों में रचित है १९ वीं शती में
४०. तिलोकदीपनी
४१. हाकस्सपत्थेरपरिनिब्बानकथा
४२. महासारिपुत्त परिनिब्बान सुत्त

४३. महामोग्गल्लान परिनिब्बानसुत्त

४४. असोकधम्मराजनिब्बान

४५. दस-अनागत बुद्धवंस

४६. चतुरासीतिधम्मक्खंधसहस्ससंवण्णना - इसमें निकाय के पारम्परिक ८४००० विभागों का वर्णन है।

कालाधारित पालि साहित्य

ग्यारह-बारहवीं शताब्दी का पालि साहित्य

बुद्धघोस के ज्येष्ठ समकालीन पालि अट्ठकथाकार **धम्मपाल** की आठ अट्ठकथाएं उपलब्ध हैं - १. नेत्तिपकरण, २. इतिवुत्तक ३. उदान, ४. चरियापिटक, ५. थेरगाथा, ६. थेरीगाथा, ७. विमानवत्थु और ८. पेतवत्थु। पांच टीकाएं हैं - १. विसुद्धिमग्ग, २. दीघनिकाय - अट्ठकथा ३. मज्झिमनिकाय-अट्ठकथा. ४.संयुत्तनिकाय अट्ठकथा, ५. अंगुत्तरनिकाय अट्ठकथा, ६. जातक-अट्ठकथा, ७. नेत्तिप्पकरण अट्ठकथा, ८. बुद्धवंस अट्ठकथा, ९. अभिधम्म अट्ठकथा।

सासनवंस (३३) के अनुसार धम्मपाल ने इन पर अट्ठकथाएं लिखीं - १. इतिवुत्तक, २. उदान, ३. चरियापिटक, ४. थेरगाथा, ५. थेरीगाथा, ६. विमानवत्थु, ७. पेतवत्थु और ८.नेत्तिप्पकरण और इन पर टीकाएं लिखीं - १. विसुद्धिमग्ग, २. दीघनिकाय-अट्ठकथा, ३. मज्झिमनिकाय - अट्ठकथा और ४. संयुत्तनिकाय अट्ठकथा।

यह उल्लेखनीय है कि गन्धवंस में अंगुत्तरनिकाय अट्ठकथा के लेखक के रूप में **सारिपुत्त** का नाम आया है जिसने राजा पराक्रमबाहु (११५३-११८६ ई.) के आग्रह पर उसकी रचना की थी। गन्धवंस में ही यह उल्लेख आया है कि धम्मपाल ने ही अपनी नेत्तिपकरण अट्ठकथा पर टीका लिखी थी। बुद्धघोष और धम्मपाल की ये अट्ठकथाएं पुराणाचार्यो की अट्ठकथाओं पर आधारित रही हैं। अधिक संभव है, गंधवंस का धम्मपाल कोई और दूसरा धम्मपाल होना चाहिए।

विनय संखेपट्ठकथा में विनयलक्खणरासी नामक एक अपूर्ण पालि पाण्डुलिपि संग्रहीत है जिसका लेखक है नाणिन्द थेर। वर्मी पुस्तकालय में इस नामकी अनेक पाण्डुलिपियों के नाम मिलते हैं, विशेषतः लक्खणरासी के नाम से। उनमें से कुछ वर्मी टीकाएं भी हैं।

विनय **लक्खणरासी** में नौ विनय ग्रन्थों का संग्रह किया गया है - १. कंखावितरंणी अट्ठकथा, २. पातिमोक्खपदत्थनुवण्णना, ३. खुद्दसिक्खा-अभिनंवटीका, ४. विनयालंकारटीका, ५. विनयसंखेप - अट्ठकथा, ६.

समन्तपासादिका, ७. वजिरबुद्धिटीका, ८. सारत्थदीपनी और ९. विमत्तिविनोदनी टीका। इसमें लेखनतिथि का कोई उल्लेख नहीं है। लेखक नाणिन्द उस समय मात्र २३ वर्ष का था और वर्मा के साकवनाराम (व्यान्त) में रहता था। उपर्युक्त नव ग्रन्थों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि **विनय संखेपट्ठकथा** का संकलन लगभग १२-१३ वीं शती में हुआ होगा।

विनय संखेपट्ठकथा और पालिमुत्तकविनय विनिच्छयसंगह में अनेक संदर्भों में समानता दिखाई देती है जैसे - १. अध्यायों के विभाजन में २. पालिमुत्तक विनय विनिच्छय संगह से अधिक समानता सामग्री को व्यवस्थित करने में, और ३. शाब्दिक समानता। फिर भी विनयसंखेपट्ठकथा में कुछ अध्याय स्वतन्त्र भी हैं और कुछ समन्तपासादिका और उसकी टीकाओं से भी सामग्री एकत्रित हुई है। अतः यह कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ स्वतन्त्र होना चाहिए और विमतिविनोदनी टीका के बाद १२-१३ वीं शती में लिखा गया होगा।

गण्ठिपद

अट्ठकथा या टीका को सिंहल और पालि में 'गण्ठिपद' भी कहा जाता है। कहीं-कहीं उसका अर्थ कठिन शब्दार्थ कोश के रूप में भी आता है जैसे उपासकजनालंकार में। प्रथम शताब्दी ई.पू. से पालि त्रिपिटक पर सिंहली भाषा में अट्ठकथाएं वट्टगामणी अभय के समय से लिखी जाती रहीं। उन्हीं के आधार पर पालि अट्ठकथाएं लिखी गईं। सिंहल भाषा में इसे **'सन्य'** भी कहा जाता है। सारत्थदीपनी में सारिपुत्त थेर ने तीन प्रकार के गण्ठिपदों का उल्लेख किया है - महा, मज्झिम और चूल। श्रीलंका में गण्ठिपद साहित्य लगभग बारहवीं शताब्दी से मिलने लगता है।

बुद्धघोषोत्तर युगीन पालि साहित्य (१२०० ई. से वर्तमान काल तक)

पीछे हमने दक्षिण-पूर्व एशिया के आधुनिक पालि साहित्य का सर्वेक्षण प्रस्तुत किया। यहां हम उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर शताब्दी क्रम से प्रमुख पालि ग्रन्थों विशेषतः टीकाओं का मात्र नामोल्लेख कर रहे हैं ताकि यह तथ्य स्पष्ट हो सके कि पालि भाषा में आधुनिक काल तक ग्रन्थ-रचना होती रही है।

बुद्धघोष के बाद आनन्द किंवा वनरतनतिस्स आदि (८००-९०० ई.) भिक्षुओं ने बुद्धघोष की अभिधर्म अट्ठकथाओं पर **'मूलटीका'** या अभिधम्म मूलटीका की रचना की। आनन्द के शिष्य चुल्लधम्मपाल ने मूलटीका पर **लीनत्थवण्णना** नामक अनुटीका लिखी। इसी परम्परा को बाद में सुमंगल, छपद, वेपुल्लबुद्धि आदि विद्वान भिक्षुओं ने अभिवृद्ध किया। ग्यारहवीं शती तक यह क्रम चलता रहा।

श्रीलंकाधिपति पराक्रमबाहु प्रथम (११५३-११८६ ई.) के शासन काल में पालि साहित्य का विशेष लेखन हुआ। उसने अशोक के समान बौद्धधर्म और पालि

साहित्य के विकास में अपना महनीय योगदान दिया। उसके राज्यकाल में टीका, काव्य, व्याकरण, कोश, छन्दशास्त्र, वंश आदि विधायें समृद्ध हुईं। भारतीय धरा पर पालि साहित्य का निर्माण तो नहीं हुआ पर श्रीलंका, वर्मा, थाईलेण्ड, कम्बोडिया, लाओस आदि दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों में सतत् रूप से उसमें लेखन होता रहा। यहां हम मात्र टीका साहित्य का ही उल्लेख कर रहे हैं। अन्य विधाओं का उल्लेख यथास्थान हो ही चुका है।

सम्राट् अशोक के समान पराक्रमबाहु प्रथम ने सिंहली स्थविर महाकस्सप के संयोजकत्व में एक बौद्ध संगीति का समायोजन किया उदुंबर गिरिविहार में। महाकस्सप एक सुप्रतिष्ठित पालि भाषा और त्रिपिटक के विद्वान थे। अभिधम्मत्थसंगह के टीकाकार, चन्द्रगोमी संस्कृत व्याकरण के आधार पर बालावबोधन नामक संस्कृत व्याकरणकार के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। इस संगीति में बुद्धघोष की अट्ठकथाओं पर टीकाएं लिखने-लिखाने का कार्यक्रम बना। तदनुसार निम्नलिखित **टीकाएं** लिखी गई - सारत्थदीपनी - समन्तपासादिका टीका १) पठम सारत्थमंजूसा - सुमंगलविलासिनी टीका, ३) दुतिय सारत्थमंजूसा - पपंच सूदनी टीका, ४) ततिय सारत्थमंजूसा सारत्थप्पकासिनी टीका, ५) चतुत्थ सारत्थमंजूसा -मनोरथपूरणी टीका, ६) पठम परमत्थप्पकासिनी - अट्ठसालिनी टीका, ७) दुतिय परमत्थप्पकासिनी - सम्मोहविनोदनी टीका ८) ततिय परमत्थप्पकासिनी-पञ्चप्पकरणट्ठकथा (धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान) । इनमें आज मात्र **'सारत्थदीपनी'** उपलब्ध है जिसके लेखक हैं सिंहली भिक्षु सारिपुत्त। उनके तीन और ग्रन्थ उपलब्ध हैं - १) पपंचसूदनी पर लीनत्थप्पकासिनी टीका २) पालिमुत्तक विनय संग्रह और ३) सारत्थमंजूसा - अंगुत्तरनिकाय अट्ठकथा टीका।

सारिपुत्त की एक लम्बी शिष्य परम्परा थी। संघरक्खित, बुद्धनाग, वाचिस्सर, सुमंगल, सद्धम्मजोतिपाल या छपद, धम्मकित्ति, बुद्धरक्खित और मेधंकर जैसे मेधावी शिष्यों ने पालि साहित्य को बहुत समृद्ध किया। **संघ रक्खित** के प्रमुख ग्रन्थ हैं - सुबोधालंकार, सम्बन्धचिन्ता, सुसद्दसिद्धि, वुत्तोदय, और अभिनव खुद्दकसिक्खाटीका। इसके पूर्व खुद्दकसिक्खा पर महायस की **पोराणखुद्दक-सिक्खा टीका** प्रसद्धि हो चुकी थी।

बुद्धनाग की **विनयत्थ मंजूसा** - कंखावितरणी टीका भी उपलब्ध है। वाचिस्सर (वागीश्वर) के १८ ग्रन्थों का उल्लेख गन्धवंस में मिलता है। उनमें दस ग्रन्थ उपलब्ध हैं - १) मूलसिक्खाअभिनव टीका - महास्वामीकृत मूलसिक्खा पर टीका। इससे पूर्व विमलसारकृत मूलसिक्खा पोराण टीका लिखी गई, २) सीमालंकार संगह (विनय सम्बन्धी ग्रन्थ), ३) भिक्षु खेमकृत खेमप्पकरण पर टीका, ४) अनिरुद्धकृत

नाम-रूप-परिच्छेद पर नामरूपपरिच्छेद टीका, ५) धम्मपालकृत सच्चसंखेप पर सच्चसंखेपटीका, ६) बुद्धदत्तकृत अभिधम्मावतार पर अभिधम्मावतार टीका, ७) रूपारूप विभाग, ८) बुद्धदत्तकृत विनय विनिच्छय पर विनय विनिच्छय टीका ९) बुद्धदत्तकृत उत्तरविनिच्छय पर उत्तरविनिच्छय टीका और १०) धम्मसिरिकृत खुद्दकसिक्खा पर सुमंगलप्पसादिनी। इनके अतिरिक्त उनकी और भी पालि रचनाएं प्राप्त हैं - योग विनिच्छय, पच्चय संगह, थूपवंस। संभव है, वाचिस्सर नाम के अनेक ग्रन्थकार रहे हों।

सारिपुत्त के अन्यतम शिष्य **सुमंगल थेर** की तीन रचनाएं मिलती हैं - १) अनिरुद्धकृत अभिधम्मत्थसंग्रह पर अभिधम्मत्थविभावनी टीका, २) बुद्धदत्तकृत अभिधम्मावतार पर अभिधम्मत्थ विकासनी टीका, और ३) चुल्ल धम्मपालकृत सच्चसंखेप पर सच्चसंखेपटीका (सारत्थसालिनी)।

सद्धम्मजोतिपाल या छपद मूलत: वर्मी भिक्षु थे। उनकी प्रमुख रचनाएं हैं - १) विनय-समुट्ठान दीपनी, २) पातिमोक्ख विसोधनी, ३) विनय-गूल्हत्थदीपनी, ४) वाचिस्सरकृत सीमालंकार-संगह की टीका, ५) मातिकत्थ-दीपनी, ६) पट्ठान-गणनानय, ७) नामचार-दीपनी, ८) अभिधम्मत्थ संगह संखेप टीका, ९) गण्ठिसार या गन्धसार, १०) न्यास-प्रदीप, ११) सुत्त-निद्देस। इसी तरह धम्मकित्ति का दाठावंस, वाचिस्सर का थूपवंस, बुद्धरक्खित का जिनालंकार और मेधंकर का विनयार्थ-समुच्चय। इन सभी सारिपुत्त और उनके शिष्यों का समय बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। इसी समय महानाम द्वितीय की महावंस टीका वंसत्थप्पकासिनी भी लिखी गई।

तेरहवीं शताब्दी का पालि साहित्य

इस कालखण्ड में पालि काव्य और वंस साहित्य अधिक लिखा गया। उदाहरणार्थ - वैदेह स्थविरकृत समन्तकूटवण्णना और रसवाहिनी, बुद्धप्रियकृत पज्जमधु, धम्मकित्ति द्वारा महावंस का चूलवंस के रूप में परिवर्धन, अज्ञातकर्तृक अत्तनगलुविहारवंस, सिद्धत्थ का सारसंगह या सारत्थसंगह, अभयगिरि चक्रवर्ती आनन्द का सद्धम्मोपायन, आनन्द वन रतन के शिष्य द्वारा रचित चतुभाणवारट्ठकथा या सारत्थ समुच्चय (गद्य-पद्य मिश्रित काव्य)।

चौदहवीं शताब्दी का पालि साहित्य

चौदहवीं शताब्दी में काव्य और वंश साहित्य अधिक लिखा गया। उदाहरणार्थ १) सिंहलप्रवासी वर्मी भिक्षु मेधंकरकृत लोकप्पदीपसार या लोकदीपसार, २) पंचगतिदीपन, ३) तेलकटाहगाथा कल्याणिय थेर द्वारा रचित, ४) महामंगलकृत

बुद्धघोसुप्पत्ति, ५) धम्मकित्ति महासामि का सद्धम्म संगह, ६) सद्धम्मञाण की छपच्चयदीपनी और वुत्तोदयपंचिका, ७) कातन्त्र व्याकरण का पालि अनुवाद।

पन्द्रहवीं शताब्दी का पालि साहित्य

इस कालखण्ड में पालि साहित्य का विशेष केन्द्र वर्मा रहा जहां **अभिधम्म** की लोकप्रियता कदाचित् सर्वाधिक रही। इस शताब्दी में निम्नलिखित ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हुए। उदाहरणार्थ - अरियवंस (पगान निवासी) के १) मणिसार मंजूसा सुमंगल कृत अभिधम्मत्थ विभावनी की टीका, २) मणिदीप - बुद्धघोष कृत अट्ठसालिनी की टीका, ३) जातक विसोधन, ४) गन्धाभरण, ५) अभिधम्म पर अनुटीका, ६) सद्धम्मसिरि की नेत्तिभावनी, ७) सीलवंस का बुद्धालंकार, ८) रट्ठसार का भूरिदत्त जातक, हत्थिपाल जातक और संवरजातक का काव्यात्मक रूपान्तरण, और ९) अज्ञातकर्तृक का २७४ गाथाओं में लिखित काव्यविरतिगाथा।

सोलहवीं शताब्दी का पालि साहित्य

इस शताब्दी के लेखकों में सद्धम्मालंकार और महानाम विशेष प्रसिद्ध हैं १) वर्मानिवासी सद्धम्मालंकार की पट्ठानदीपनी, २) महानाम या महानन्द की मधुसारत्थदीपनी - वनरतनतिस्सकृत अभिधम्ममूलटीका की अनुटीका, ३) लोओस के सिरिमंगल की मंगलत्थदीपनी।

सत्रहवीं शताब्दी का पालि साहित्य

इस काल में तिपिटकालंकार, तिलोकगुरु, सारदस्सी और महाकस्सप ये चार भिक्षु कुशल पालि साहित्यकार रहे हैं। उनकी रचनाएं इस प्रकार हैं - १) तिपिटकालंकार की तीन रचनाएं मुख्य हैं - १) वीसतिवण्णना, २) यसवड्ढनवत्थु, ३) विनयालंकारटीका। २) तिलोकगुरुकी चार कृतियां हैं - १) धातुकथा-टीका-वण्णना, २) धातुकथा - अनुटीकावण्णना, ३) यमक वण्णना और ४) पट्ठानवण्णना, ३) सारदस्सी थेर की १) गूळहत्थ दीपनी, २) विसुद्धिमग्गगण्ठिपदत्थ, ४) महाकस्सप की अभिधम्मत्थ गण्ठिपद।

अठारहवीं शताब्दी का पालि साहित्य

१८ वीं शताब्दी के तीन प्रसिद्ध पालि ग्रन्थकार हैं - **ञाणाभिवंस, ञाणवर और सारदस्सी**। वरमा के संघराज ज्ञानभिवंस की तीन रचनाएं हैं - नेत्तिपकरण की टीका पेटकालंकार, २) साधुविलासिनी दीघनिकाय की टीका और ३) राजाधिराज-विलासिनी-गद्यकाव्य। इनके अतिरिक्त उनके और भी ग्रन्थ हैं - ४) चतुसामणेरवत्थु, ५) राजवादवत्थु, ६) अभिधानप्पदीपिका - वर्मी भाषा में अनुवाद, ७) राजाधिराजनामत्तप्पकासिनी। पगान के भिक्षु सारदस्सी की धातुकथायोजना,

अज्ञातकर्तृक मालालंकारवत्थु, वर्मी भिक्षु कण्टकखिप नागित की सद्दसारत्थ जालिनी, थाईलेण्ड के भदन्त वनरतन का संगीति वंस, और बहुभाषाविद् सरणंकर संघराज के अनेक ग्रन्थ भी इसी शताब्दी की देन हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी का पालि साहित्य

इस शताब्दी में लिखे ये प्रमुख पालि ग्रन्थ इस प्रकार हैं - अज्ञात कर्तृक नळाटधातुवंस, छकेसधातुवंस, सन्देसकथा और सीमाविवाद विनिच्छय, गन्धवंस (पालि ग्रन्थ और ग्रन्थकारों की सूची), वर्मी भिक्षु पंञसामी का सासनवंस, लेदि सयदव की परमत्थदीपनी टीका, यमक, यू-यन का पिटकत्थमेन्, सीमाविवादविनिच्छय तथा लंका के समरसंकर, सिरिञम्मरतन, विक्रमसिंघे, वस्कड्डुवे सिरि सुभूति, विमलसार थेर, महागोडसिरि ञाणिस्सर, हिक्कड्डुवे सिरि सुमंगल और सिरि सिद्धत्थ धम्मानन्द के अनेक ग्रन्थ।

बीसवीं शताब्दी का पालि साहित्य

बीसवीं शती में भी श्रीलंका, वर्मा, स्याम, लाओस आदि देशों में पालि साहित्य लेखन की परम्परा अक्षुण्ण रही है, उन पर शोध भी बहुत हुआ है। श्रीलंका के भिक्षु विदुरपोल पियतिस्स की नेत्तिपकरण टीका और संयुत्तनिकायटीका, न्योंग्यन सयदव (१८७४-१९५५ ई.) की सीलक्खन्ध टीका और नमक्कार टीका, वर्मी भिक्षु मिगुन सयदव (१८६८-१९५५ ई.) की मिलिन्द अट्ठकथा (१९४९), पेटकोपदेश-अट्ठकथा, कठिन विनिच्छय और निब्बाणकथा, स्याम में रचित संखेपत्थजोतनी, संगीतवंस, पंचिकानाम-अट्ठयोजना, जिनकाल मालिनी, छामदेवीवंस, समन्तपासादिक अत्थ-योजना, कम्बोडिया में लिखित निस्सय, भारत में आचार्य धर्मानन्द कौसाम्बी द्वारा लिखित विसुद्धमग्गदीपिका और अभिधम्मत्थ संगहो की नवनीतटीका आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त बंकाक के वजिरञाण पाण्डुलिपि पुस्तकालय में वीसों पालि ग्रन्थों की पाण्डुलिपियां सुरक्षित हैं। श्रीलंका तथा वर्मा और लाओस में भी अनेक पुस्तकालय हैं जहां पालि ग्रन्थ आज भी अप्रकाशित स्थिति में रखे हुए हैं।

यहां हमने मात्र टीकात्मक पालि ग्रन्थों का उल्लेख किया है। व्याकरण, वंस, काव्य, छन्द आदि विधाओं का साहित्य भी प्रचुर मात्रा में लिखा गया है जिनका विवरण यथास्थान प्रस्तुत किया गया है । इन्हीं शताब्दियों में पालि धर्मशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ भी लिखे गये हैं। वर्मी भिक्षु धम्मविलास का धम्मविलास धम्मसत्थ (१२-१३वीं शती), वर्मी राजा वगरु का वगरु धम्मसत्थ (१३ वीं शती) का पालि अनुवाद मनुसार नाम से (१६ वीं शती), धम्मविलास द्वितीय का मनुधम्मसत्थ (१७ वीं शती), वन्न क्यव दिन्न

की मनुवण्णना (१८ वीं शती)। राजबल क्यव-दिन्न की मोहविच्छेदनी (१८३२ ई.) विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सभी ग्रन्थों का आधार रहा है मनुस्मृति। मनुस्मृति के स्थान पर बुद्ध की उदार शिक्षाएं स्थान लेती दिखाई देती हैं। मनु का स्थान बुद्ध ने ले लिया। इसी शताब्दी में डॉ. भरतसिंह उपाध्याय ने तथागत बुद्ध पर एक सुन्दर पालि महाकाव्य सृजित किया।

महाबुद्धवत्थु

डॉ. भरतसिंह उपाध्याय द्वारा विरचित यह ग्रन्थ छह भागों में प्रकाशित हुआ जिसे डॉ. संघसेन ने संपादित किया और दिल्ली संस्कृत अकादमी ने १९९१ में प्रकाशित किया। इसके प्रथम भाग में ३ परिच्छेद हैं - १. निब्बत्ति, २. परियेसना, ३. अभिसम्बोधि इसकी प्रस्तावना - संघसेन ने संस्कृत में लिखी।

'तथागत गौतम बुद्ध का चरित' संस्कृत, हिन्दी अंग्रेजी आदि भाषाओं में बहुत लिखा गया पर पालि भाषा में भरतसिंह उपाध्याय का यह पहला ग्रन्थ है जो इतने विस्तार के साथ लिखा गया। इसमें कुल प्रकाशित पृष्ठ हैं - २९२+५६२+३५२+४३६ +६३१=२२७३। भरतसिंह उपाध्याय दिल्ल विश्वविद्यालय के हिन्दू महाविद्यालय में हिन्दी के प्रोफेसर थे। वे पालि के प्रसिद्ध विद्वान थे। ग्रन्थ की भाषा सरल और सुबोध है पर कहीं कहीं अलंकृत भी है। संस्कृत पदों का पालिकरण बहुत हुआ है। इसे संस्कृत शब्द और ग्रन्थों के उद्धरण चिन्हों द्वारा संयोजित किया गया है। इसमें संस्कृत पालि शब्दों का संमिश्रण नहीं हो पाया।

उपाध्याय जी ने बौद्ध ग्रन्थों का गहन अभ्यास किया है, तथ्य-संग्रह भी अपूर्व हुआ है पर उनका विवेचन अधिक नहीं हो सका। शैव वेदान्त पर उन्होंने आक्षेप भी किया। आधुनिक समाजशास्त्रीय दृष्टि भी उन्होंने विवेचन में नहीं अपनायी। भैगोलिक विवरण सुसंगत है।

बोधिसत्त्ववत्थु की विषय वस्तु है - १) प्रथम परिवर्त में बोधिसत्त्व की निवृत्ति, बोधिसत्त्व की पर्येषणा, अभिसम्बोधि, २) द्वितीय परिवर्त - महाबुद्ध वत्थु विमर्श। यहां लेखक ने बुद्ध को राम रूप में देखा है उसी तरह से जिस तरह तुलसीदास ने कृष्णप्रतिभा को रामप्रतिमा के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने बुद्ध को मानवीय रूप में ही माना। बुद्ध ने किन कारणों से ग्रहत्याग किया इस पर लेखक ने कहीं विचार नहीं किया। तृतीय परिवर्त - महाबुद्धवत्थु का संशोधन विधि का विवरण है। ४. चतुर्थ परिवर्त में धर्म देशना।

विविध शताब्दियों में पालि साहित्य का यह एक संक्षिप्त सर्वेक्षण है। अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ इस सर्वेक्षण में छूट गये हैं। यह तथ्य उल्लेखनीय है कि पालि भाषा में ग्रन्थ सृजन भले ही कम हुआ हो पर पालि और बौद्धधर्म में शोध क्षेत्र का विस्तार हुआ है। समूचे विश्व में इस विषय का अध्ययन / अध्यापन बढा है। यह एक शुभ संकेत है।

१४४२ ई. के पगान (बरमा) अभिलेख में उद्धृत ग्रन्थ सूची

१४४२ ई. के पगान अभिलेख में उद्धृत २९५ ग्रन्थों की सूची पाली साहित्य की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है यह सूची इस प्रकार है - (१) पाराजिककड, (२) पाचित्तिय, (३) भिक्खुनी-विभंग, (४) विनय-महावग्ग, (५) विनय-चूळवग्ग, (६) विनय-परिवार, (७) पाराजिक-कंड अट्ठकथा, (८) पाचित्तियादिअट्ठकथा (९) पाराजिककंड-टीका, (१०) तेरसकंडटीका, (११) विनयसंग्रह-अट्ठकथा, (महा), (१२) विनय संग्रह अट्ठकथा (लघु), (१३) कंखावितरणी अट्ठकथा, (१४) खुदद्सिक्खा टीका, (प्राचीन) (१५) खुद्दसिक्खा टीका (अभिनवा), (१६) कंखा टीका (अभिनवा), (१७) विनय गण्ठिपद, (१८) विनय उत्तर सिंचय अट्ठकथा, (१९) विनय सिंचय टीका, (२०) विनयक्खन्ध निद्देस, (२१) धम्मसंगणि, (२२) विभंग, (२३) धातुकथा, (२४) पुग्गलपंञत्ति, (२५) कथावत्थु, (२६) मूलयमक, (२७) इन्द्रिय यमक, (२८) तिक पटठान, (२९) दुक तिक पट्ठान, (३०) दुक पुट्ठान, (३१) अट्ठसालिनी अट्ठकथा, (३२) सम्मोहविनोदनी अट्ठकथा, (३३) अभिधम्मत्थसगह अट्ठकथा, (३६) अभिधम्मत्थसंगह टीका, (३७) अभिधम्मत्थविभावनी टीका, (३८) सीलक्खन्ध, (३९) महावग्ग, (४०) पाथेय्य, (४१) सीलक्खन्ध अट्ठकथा, (४२) महावग्ग अट्ठकथा, (४३) पाथेय्य अट्ठकथा, (४४) सीलक्खन्ध टीका, (४५) महावग्ग टीका, (४६) पाथेय्य टीका, (४७) मूलपण्णास, (४८) मूलपण्णास अट्ठकथा, (४९) मूलपण्णास टीका, (५०) मज्झिमपण्णास, (५१) मज्झिमपण्णास अट्ठकथा, (५२) मज्झिमपण्णास टीका, (५३) उपरिपण्णास, (५४) उपरिपण्णास अट्ठकथा, (५५) उपरिपण्णास टीका, (५६) सगाथवग्ग संयुत्त, (५७) सगाथवग्गसंयुत्त अट्ठकथा, (५८) सगाथवग्गसंयुत्त टीका, (५९) निदान-वग्ग-संयुत्त, (६०) निदानवग्गसंयुत्त अट्ठकथा, (६१) खन्धवग्ग संयुत्त, (६२) यतनवग्ग-संयुत्त अट्ठकथा, (६५) महावग्ग-संयुत्त, (६६) एक-दुक-तिक-निपात अंगुत्तर, (६७) चतुक-निपात-अंगुत्तर, (६८) पंचनिपात-अंगुत्तर (६९) छसत्तनिपात अंगुत्तर, (७०) अट्ठ-नव-निपात-अंगुत्तर, (७१) दस एकादस निपात अंगुत्तर, (७२) एकनिपात-अंगुत्तर अट्ठकथा, (७३) दुक-तिक-चतुक-निपात-अंगुत्तर अट्ठकथा, (७४) पंचादि-अंगुत्तर अट्ठकथा, (७५) अंगुत्तर टीका, (१) (७६) अंगुत्तर टीका (२) (७७) खुद्दकपाठ, अट्ठकथा-सहित, (७८) धम्मपद, अट्ठकथा सहित, (७९) उदान, अट्ठकथा सहित, (८०) इतिवुत्तक,

अट्ठकथा सहित, (८१) सुत्त-निपात, अट्ठकथा सहित (८२) विमानवत्थु, अट्ठकथा सहित, (८३) पेतवत्थु, अट्ठकथा सहित, (८४) थेरगाथा, अट्ठकथा सहित, (८५) थेरीगाथा, अट्ठकथा सहित (८६) पाठचरिय (८७) एक-निपात-जातक अट्ठकथा, (८८) दुकनिपात-जातक अट्ठकथा, (८९) तिक-निपात-जातक अट्ठकथा, (९०) चतुक-पंच-छ-निपात जातक अट्ठकथा, (९१) सत्त-अट्ठ-नव-निपात-जातक अट्ठकथा, (९२) दस-एकादस-निपात जातक अट्ठकथा, (९३) द्वादसतेरस-पकिण्णक-निपात-जातक अट्ठकथा, (९४) वीसतिजातक अट्ठकथा, (९५) जातत्तकी-सोत्तत्तकी-निदान अट्ठकथा, (९६) चूळनिद्देस, (९७) चूल-निद्देस अट्ठकथा, (९८) महानिद्देस, (९९) महानिद्देस, (१००) जातक टीका, (१०१) दुम-जातक अट्ठकथा, (१०२) अपदान, (१०३) अपदान अट्ठकथा, (१०४) पटिसम्भिदामग्ग, (१०५) पटिसम्भिदामग्ग अट्ठकथा, (१०६) पटिसम्भिदामग्ग-गण्ठिपद, (१०७) विसुद्धिमग्ग अट्ठकथा, (१०८) विसुद्धिमग्ग टीका (१०९) बुद्धवंस अट्ठकथा, (११०) चरियापिटक अट्ठकथा, (१११) नामरूप टीका, (नवीन), (११२) परमत्थ विनिच्छय (नवीन) (११३) मोह-विच्छेदनी, (११४) लोक पञ्ञत्ति, (११५) मोह-नयन, (११६) लोकुप्पत्ति, (११७) अरुणवति, (११८) छगति दीपनी, (११९) सहस्सरंसिमालिनी (१२०) दसवत्थु (१२१) सहस्सवत्थु (१२२) सीहल वत्थु (१२३) पेटकोपदेस, (१२४) तथागतुप्पत्ति, (१२५) धम्मचक्क (पवत्तनसुत्त), (१२६) धम्मचक्क टीका, (१२७) दाठाधातुवंस, (१२८) दाठाधातुवंस टीका, (१२९) चूलवंस, (१३०) दीपवंस, (१३१) थूपवंस, (१३२) अनागतवंस (१३३) बोधिवंस, (१३४) महावंस, (१३५) महावंस टीका, (१३६) धम्मदान, (१३७) महाकच्चायन, (१३८) न्यास, (१३९) थन्-ब्यन् टीका, (१४०) महाथेर टीका, (१४१) रूपसिद्धि-अट्ठकथा, (१४२) रूपसिद्धि-टीका, (१४३) बालावतार, (१४४) वुत्ति मोग्गल्लान, (१४५) पंचिक मोग्गल्लान, (१४६) पंचिक-मोग्गल्लान टीका, (१४७) कारिका (१४८) कारिका टीका, (१४९) लिंगत्थ-विवरण (१५०) लिंगत्थ विवरण टीका, (१५१) मुखमत्तसार, (१५२) मुखमत्तसार टीका (१५३) महागण, (१५४) चूलगण, (१५५) अभिधान, (१५६) अभिधान टीका, (१५७) सद्दनीति, (१५८) चूलनिरुत्ति, (१५९) चूलसन्धि विसोधन, (१६०) सद्दत्थभेदचिन्ता, (१६१) सद्दत्थभेद चिन्ता टीका, (१६२) पद सोधन, (१६३) सम्बन्ध चिन्ता टीका, (१६४) रूपावतार, (१६५) सद्दावतार, (१६६) सद्धम्मदीपक, (१६७) सोतमालिनी, (१६८) सम्बन्धमालिनी, (१६९) पदावहामहाचक्क, (१७०) ण्वादि (मोग्गल्लान) (१७१) कतचा (कृत्-चक्र) (१७२) महाका (महाकप्प या महाकच्चायन) (१७३) बालत्तजन, (बालावतारण), (१७४) सुत्तावलि, (१७५) अक्खरसम्मोहच्छेदनी, (१७६) चेतिद्धिनेमिपरिगाथा, (१७७) समासतद्धितदीपनी, (१७८) बीजख्यं,

(१७९) कच्चायन-सार, (१८०) बालप्पबोधन, (१८१) अट्ठसालिनी, (१८२) अट्ठसालिनी निस्सय, (१८३) कच्चायन निस्सय, (१८४) रूपसिद्धि निस्सय, (१८५) जातक निस्सय, (१८६) जातककण्ठि, (१८७) धम्मपदगण्ठि निस्सय, (१८८) कम्मवाचा, (१८९) धम्मसत्त, (१९०) कलापपंचिका, (१९१) कलाप-पंचिका-टीका, (१९२) कलापसुत्त-प्रतिञ्ञासकु, (१९३) प्रिण्डो टीका, (१९४) रत्नमाला, (१९५) रत्नमाला टीका, (१९६) रोगनिदान, (१९७) दब्बगुण, (१९८) दब्बगुण टीका, (१९९) छन्दोविचिति, (२००) चन्द्रवुति (चन्द्रवृत्ति), (२०१) चन्द्रपंचिकर, (२०२) कामन्दकी, (२०३) धम्मपंञा-पकरण, (२०४) महोसट्ठि, (२०५) सुबोधालंकार, (२०६) सुबोधालंकार टीका, (२०७) तनोगबुद्धि, (२०८) तण्डि (दण्डी) (२०९) तण्डि-टीका, (२१०) चंकदास, (२११) अरियसच्चावतार, (२१२) विचित्तगन्ध, (२१३) सद्धम्मुपाय, (२१४) सार संगह (२१५) सारपिण्ड, (२१६) पटिपत्ति संगह, (२१७) सूलचारक, (२१८) पालतक्क (२१९) तक्कभासा (तर्कभाषा) (२२०) सद्दकारिका, (२२१) कासिकावुत्तिपालिनी, (२२२) सद्धम्मदीपक, (२२३) सत्यतत्वावबोध, (२२४) बालप्पबोधन-प्रुत्तिकरण (२२५) अत्थव्याख्या, (२२६) चूलनिरुत्ति मंजूसा, (२२७) मंजूसाटीका व्याख्या (२२८) अनुटीका व्याख्या, (२२९) पकिण्णक-निकाय, (२३०) चत्थ पयोग, (२३१) मत्थपयोग, (२३२) रोगयात्ता, (२३३) रोगयात्ता-टीका, (२३४) सत्थेक विप्पसवपकास, (२३५) राजमत्तन्त, (२३६) परासव, (२३७) कोलद्धज, (२३८) बृहज्ञातक, (२३९) बृहज्ञातक टीका (२४०) दाठाधातुवंस, टीका सहित, (२४१) पतिग-विवेक टीका, (१४२) अलंकार-टीका, (२४३) चलिन्दपंचिका, (२४४) वेदविधिनिमित्तनिरुत्ति-वग्गना, (२४५) निरुत्तिव्याख्या, (२४६) वुत्तोदय, (२४७) वुत्तोदय टीका, (२४८) मिलिन्द पञ्ह, (२४९) सारत्थ-संगह, (२५०) अमरकोस-निस्सय, (२५१) पिंप्डो-निस्सय, (२५२) कलाप-निस्सय, (२५३) रोगनिदान-व्याख्यं, (२५४) दब्बगण-टीका, (२५५) अमरकोस, (२५६) दण्डी-टीका, (२५७) दण्डी-टीका (द्वितीय) (२५८) दण्डी-टीका (तृतीय,) (२५९) कोलध्वज-टीका, (२६०) अलंकार, (२६१) अलंकार-टीका (२६२) भेसज्ञमंजूसा, (२६३) युद्धजेय्य, (२६४) यतनपभा टीका, (२६५) विरग्ध, (२६६) विरग्ध-टीका, (२६७) चूळमणिसार, (२६८) राजमत्तन्त टीका, (२६९) मृत्युवञ्जन, (२७०) महाकालचक्क, (२७१) महाकालचक्क-टीका, (२७२) परविवेक, (२७३) कच्चायन-रूपावतार, (२७४) पुम्भरसारी, (२७५) तत्तावतार (तत्त्वावतार), (२७६) तत्तावतार-टीका, (२७७) न्याय-बिन्दु, (२७८) न्यायबिन्दु-टीका, (२७९) हेतुबिन्दु, (२८०) हेतुबिन्दु-टीका, (२८१) रिक्कणिय-यात्रा (२८२) रिक्कणिय-यात्रा-टीका, (२८३) बरित्तरत्नाकर (वृत्तरत्नाकर), (२८४) स्यारामितिकब्यं,

(२८५) युत्तिसंगह (२८६) युत्ति-संगह टीका (२८७) सारसंगह-निस्सय, (२८८) रोग-यात्रा-निस्सय, (२८९) रोग-निदान-निस्सय, (२९०) सद्दत्थभेदचिन्ता-निस्सय, (२९१) पारानिस्सय, (२९२) स्यारामितिकब्य-निस्सय, (२९३) बृहज्ञातक-निस्सय (२९४) रत्तमाला और (२९५) नरयुत्ति-संगह।

मध्य ऐशिया का बौद्ध साहित्य

यहां हम प्रसंगतः मध्य-एशिया के बौद्ध साहित्य की ओर भी दृष्टिपात कर लें। मध्य एशिया में प्राकृत, संस्कृत, तोखारियन, खोतानीज आदि भाषाओं की जो पाण्डुलिपियां मिली हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनमें अधिकांशतः पाण्डुलिपियां सर्वास्तिवादी और महासांघिक सम्प्रदायों से सम्बद्ध हैं और मध्य एशिया की कुछियन और खोतानी भाषाओं में अनुदित हैं। ये पाण्डुलिपियां भूर्जपत्र, वेणुपत्र आदि पर लिखित हैं। कुषाणकाल में बौद्धधर्म बहुत लोकप्रिय हो चुका था। मध्य ऐशिया में मेरु, ताशकन्द, काशगर आदि अनेक स्थान ऐसे हैं जहां बौद्धधर्म बहुत लोकप्रिय रहा है। खरोष्ठी और ब्राह्मी में लिखे इन ग्रन्थों में बुद्ध देशना भरी हुई है। अनुवादकों को पालि ग्रन्थों का अभ्यास अच्छा था और साथ ही बौद्ध संस्कृत साहित्य का भी। सर्वास्तिवाद और हीनयान का अपने संस्कृत में लिखित आगम था जो पालि आगम से सादृश्य रखता था जैसे प्रातिमोक्षसूत्र, विनयपिटक आदि। चीनी त्रिपिटक भी पालि त्रिपिटक का बहुत कुछ अनुवाद मात्र है।

संस्कृत ग्रन्थों में महायानी परम्परा के ग्रन्थ अधिक हैं। यद्यपि पालि त्रिपिटक से वे उतना मेल नहीं खाते। चीनी में अनुदित त्रिपिटक पालि त्रिपिटक के अधिक समीप है। मध्य एशिया से प्रकाशित सूत्रों में संयुक्त और एकोत्तर आगम, धम्मपद का कुछ भाग, सर्वास्तिवाद का प्रातिमोक्ष सूत्र मुख्य हैं। मध्य एशिया के भिक्षु संस्कृत के विद्वान थे। संस्कृत व्याकरण, नाटक ग्रन्थ भी मिलते हैं। अश्वघोष का सारिपुत्र प्रकरण इसका उदाहरण है। प्राकृत ग्रन्थों में खरोष्ठी में लिखित धम्मपद है जिसे Dutrevil De Rhins ने खोतान में खोज निकाला था।

प्राकृत बौद्ध साहित्य

मध्य एशिया में प्रयुक्त भाषाओं में तोटवारी, नार्दरिक और शक हैं। लेकी और स्टेनकोनो के अनुसार ये भाषाएं उतनी लोकप्रिय नहीं रहीं। इन्हें कुच या कुचानीज उत्तरीय और नार्दरिक और शक को दक्षिणीय भाषाएं कह सकते हैं। खोतानी में धम्मपद मिलता है वह ईरानी भाषा से सम्बद्ध है पर भारतीय भाषा प्राकृत से अधिक प्रभावित है। स्वर्ण प्रभास, वज्रच्छेदिका और अपरामितायु सूत्र यहीं मिले हैं, तुरकिश बोली चीन में बोली जाती थी। तिब्बतन और चीनी पाण्डुलिपियां भी खोतान में पाई गई हैं। गांधारी

प्राकृत में खोतान से प्राप्त ग्रन्थ कदाचित् प्राचीनतम बौद्धग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त कुछ प्राकृत शिलालेख भी मिले हैं। सुखावती व्यूह पर प्राकृत का प्रभाव अधिक है। दीर्घागम भी कदाचित् गांधारी में रहा होगा। ये ग्रन्थ खरोष्ठी और विविध कालीन ब्राह्मी लिपि में मिलते हैं।

मध्य एशिया में संस्कृत बौद्ध साहित्य

मध्य एशिया में संस्कृत की लोकप्रियता कम नहीं थी। वहां सर्वास्तिवादियों, महासांघिकों और धर्मगुप्तकों ने संस्कृत को भरपूर अपनाया। कश्मीर और गन्धार में सर्वास्तिवाद बहुत फैला हुआ था। उसका आगम संस्कृत में ही था। महावस्तु, दिव्यावदान, ललितविस्तर और चीनी-तिब्बती अनुवादों में भी उसके उद्धरण खोजे जा सकते हैं। मूल सर्वास्तिवादी आगम संस्कृत में था जिसका चीनी अनुवाद २००-७१२ ई. में ईत्सिंग ने किया था। महायानी संस्कृत साहित्य खोतान, काशगर और कुछ में उपलब्ध हुआ है। संस्कृत-चीनी कोष भी ७ वीं शती में तैयार किया गया था। **कातन्त्र व्याकरण की भी अनेक पाण्डुलिपियां यहां मिली हैं।**

पालि त्रिपिटक को भी संस्कृत में परिवर्तित किया गया। अन्तर यह है कि पालि के सुत्तपिटक में पांच निकाय हैं जबकि संस्कृत में चार निकाय हैं। चीनी में इनका अनुवाद ४-६ वीं शती में हुआ। खुद्दक निकाय यहां नहीं है। अन्य निकायों में भी अन्तर है। महापरिनिब्बाण सूत्र के भी अनेक पाठ मिलते हैं। प्रातिमोक्ष सूत्र तथा विनयपिटक के अन्य भागों में भी अन्तर मिलता है। सर्वास्तिवादियों का सूत्रपिटक भी अन्तर लिये हुए है। उदानवर्ग प्राकृत धम्मपद से मिलता-जुलता है। एक बोधिसत्त्वपिटक का भी उल्लेख मिलता है जिसमें महायान ग्रन्थ संकलित हैं - विनय पिटक, अभिधम्मपिटक और महायानसूत्र। नेपाल में प्राप्त **नवांग ग्रन्थ हैं** - अष्टसाहस्रिक प्रज्ञापारमिता, सद्धर्म पुण्डरीक, सुवर्णप्रभास, गणव्यूह, तथागत गुह्यक समाधि राज और दशभूमीश्वर। इन्हें वैपुल्य सूत्र भी कहा जाता है। धारिणी साहित्य भी यहां मिला है। उनका उपयोग उपदेशक के संरक्षण के लिए किया जाता था। वह प्रज्ञापारमिता सूत्र का संक्षिप्तीकरण है। अनन्त मुक्तधारिणी, नीलकण्ठधारिणी, सितात पत्र महाप्रत्यगिर धारिणी आदि की पाण्डुलिपियां प्राप्त हुई हैं। नेपाल में प्राप्त सुरागम समाधिसूत्र धारिणी का नाम भी उल्लेखनीय है।

त्रिपिटक के अतिरिक्त अन्य संस्कृत ग्रन्थ भी मध्य एशिया में उपलब्ध हैं। अश्वघोष के शारिपुत्र प्रकरण, बुद्धचरित, सुन्दरानन्द, सूत्रालंकार, श्रद्धोत्पादशास्त्र, कुमारलात का कल्पनामण्डीतिका, मातृचेट का चतुःशतक स्तोत्र, शत्पंचास्तिक स्तोत्र और उसकी टीका वर्णनाई-वर्णन स्तोत्र की पाण्डुलिपियां वहां मिली हैं। इनके अतिरिक्त संस्कृत व्याकरण छन्दोविचिति और कातन्त्र व्याकरण ग्रन्थों की भी

प्रतिलिपियां चीनी तुर्किस्तान क्षेत्र से प्राप्त हुई हैं। शिलालेख भी मिले हैं। खरोष्ठी लिपि का अन्वेषक ऋषि भी यहां का था।

इसी तरह कुछियन और तुखाटियन बोलियों में भी बौद्ध साहित्य का अनुवाद हुआ है। सर्वास्तिवादी विनयप्रातिमोक्ष, प्रायश्चित्तिक और प्रातिदेशनीय, उदानवर्ग, उदानस्तोत्र और उदानंकार, कुमार विभंग, योगशतक कुछियन बोली में अनुदित हुए। खोतानीज में जिनका अनुवाद उपलब्ध है वे हैं - सुवर्णप्रभास सूत्र, वज्रच्छेदिका, अपरिमितायुसूत्र, भद्रचर्या देशना, जातकस्तव और मैत्रेय समितिनाटक तथा सिद्धसार और जीवकयुस्तक। इनमें से कुछ ग्रन्थों के तिब्बती अनुवाद भी प्राप्त हैं। सोगदियन बोली में प्राप्त अनुदित बौद्ध ग्रन्थ ये हैं - दीर्घनखसूत्र, वस्सन्तर जातक, विमलकीर्ति निर्देश, धानसूत्र, धूतसूत्र, नीलकण्ठधारणी, और पद्मचिन्तामणि धारणी सूत्र। तोखरियन अनुदित ग्रन्थों में उल्लेखनीय हैं - मैत्रेय समितिनाटक, सुवर्ण प्रभास सूत्र, जातक, कल्याणंकार सूत्र, पापंकरसूत्र आदि। भारत से चीन जाते समय भारतीय बौद्धधर्म साहित्य भी मध्य एशिया में मिला है। खोतान में धर्मरक्ष ने महापरिनिब्बाणसूत्र के दस अध्याय प्राप्त किये। महासन्निपातसूत्र, अवतंसकसूत्र, वैपुल्य सूत्र, रत्नकूटसूत्र, लंकावतारसूत्र, सारिपुत्र धारिणी, महाप्रज्ञापारमिता, अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता आदि ग्रन्थ छोक्कुक क्षेत्र में संग्रहीत थे।

भारत से चीन जाते समय बौद्ध साहित्य ने मध्य एशिया में कभी-कभी नया रूप ले लिया। इस सन्दर्भ में बौद्ध विहारों ने बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार का अच्छा कार्य किया। सूर्यगर्भसूत्र में भारतीय बौद्ध तीर्थ क्षेत्रों के अतिरिक्त चीनस्थान (चीन), खस (काशगर ?), गोमल शालागन्ध चैत्य खोतान के गोश्रृंग पर्वत पर स्थित बताये। इसी पर्वत के एक ओर बने गोश्रृंग बिहार से ही खरोष्ठी लिपि में लिखा धम्मपद भी मिला। चन्द्रगर्भ सूत्र में मध्य एशिय के उन राज्यों का उल्लेख किया जहां बुद्ध ने अपने चरण रखे। ऐसे राज्य हैं - अशोक, दरद, खस, चुक्कुक, शालेय्य (काशगर), खोतान, कुछ, मरुक, हेच्युक, अग्निदेश, क्रोरायना और चीनस्थान। खोतान, कुछ और चीन को यहां अधिक महत्त्व दिया गया। कुछ के बौद्ध विद्वान लु-येन ने सांतवीं शती में संस्कृत चीनी कोश बनाया जिसे चीनी पिटक में समाहित किया गया। मध्य एशिया के कुछ शासकों के नाम भी मिलते हैं जिन्होंने बौद्ध साहित्य और विद्वानों को संरक्षण दिया। उनके नाम हैं - खोतान के कीर्ति, विजयसंभव आदि, कुछ के हरिपुष्प, सुवर्णपुष्प, सुवणदिव आदि, अग्निदेश के इन्दिराजुन, चन्द्राजुन आदि। बेक्ट्रिया के बामियान गुफा में संगीतिपर्याय की पाण्डुलिपि मिली जो चीन की तुर्किस्तान लिपि में लिखा गया।

तिब्बती बौद्ध साहित्य

मध्य एशिय से तिब्बत में पहुंचा बौद्ध साहित्य भी उल्लेखनीय है। तिब्बती

बौद्ध साहित्य दो भागों में विभाजित है - कंजौर और तंजौर। कंजोर में आगम और तन्त्र ग्रन्थ हैं जबकि तंजौर में उनके व्याख्या ग्रन्थ, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि ग्रन्थों का समावेश है। यह भाग अधिक बडा है। कंजौर ग्रन्थ सम्पदा सात भागों में विभाजित है - १) दुल्व - में विनय, मूलसर्वास्तिवादी विनय और प्रातिमोक्ष सूत्र हैं, २) सेरचिन में प्रज्ञापारमिता साहित्य आता है। वज्रच्छेदिका इसमें अधिक लोकप्रिय है, ३) फल-चान में अवतंसक और रत्नकूट विभाग है, ४) हुआ-यान में चीनी त्रिपिटक समाहित है, ५) सूत्र साहित्य - ललित विस्तर, लंकावतार, सद्धर्मपुण्डरीक, ६) निर्वाण सूत्र, और, ७) तन्त्र साहित्य - महागणपतितन्त्र, महाकालतन्त्र, आर्य मंजुश्री मूलतन्त्र, गुह्य समाजतन्त्र, कालचक्र आदि। इसमें १०० या १०८ भाग हैं।

तंजौर भाग में २२५ भाग हैं जिनमें उत्तर कालीन बौद्धसाहित्य अधिक समाहित किया गया है जैसे - अश्वघोष, नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु आदि महायानी आचार्यो का साहित्य। साथ ही कालिदास आदि महाकवियों का साहित्य भी इसमें सुरक्षित है। व्याकरण, कोशदर्शन, आयुर्वेद आदि भी। उदान (धर्मपद) दोनों भागों में मिलता है। इनमें भारतीय व्यक्ति वाचक नामों को भी अनुदित कर दिया गया है।

कंजौर और तंजौर भागों में उत्तरकालीन बंगाली और चीनी साहित्य नहीं है, तन्त्र साहित्य है। इनमें तिब्बती और चीनी आगम साहित्य भी मिलता है जिसे प्रज्ञापारमिता, रत्नकूट, अवतंसक और महापरिनिर्वाणसूत्रों में विभाजित किया गया है। इनमें विविध कालों में लिखा गया विविध बौद्ध साहित्य सुरक्षित है। इनमें वैभाषिक विद्वान जिनमित्र विशेष उल्लेखनीय है जिसने विनय और सूत्रों का अनुवाद किया था। ११ वीं शती में अतीश विक्रमशिला से तिब्बत पहुंचा और उसने तान्त्रिक साहित्य का अनुवाद किया।

चीनी के समान तिब्बती भाषा में भी अनुवाद के रूप में आगम सुरक्षित है। कुछ सूत्र इस प्रकार हैं - १) महासमय सुत्त २०, दी. २) ब्रह्मजालसुत्त १-दी. ३) आटानाटीय सुत्त ३२-दी. ४. कर्मविभंग सुत्त ३५-म.; ५. बहुधातुक ११५-म.; ६. महाशून्यता सुत्त १२-म.; ७. तथागतेनवुत्त ५६-सं.; ८. धर्मचक्रप्रवर्तन सूक्त ५६-सं. ९. चन्दिमा-सं.; १०. सुरियो-सं.; ११. कुशलज्ञान हृदय सं. १२. महाध्वजसूत्र-सं. १३. अंगुलिमाल सूत्र मं. १४. दहरो-सं.; १५. गिरि अं.। महावस्तु और ललित विस्तर में साधारण तौर पर स्पष्ट रूप से कोई आगमिक उद्धरण नहीं मिलते। फिर भी कुछ तो हैं ही। दिव्यावदान, सूत्रालंकार, बोधिचर्यावतार, शिक्षासमुच्चय आदि ग्रन्थों में भी आगमों के कुछ उल्लेख मिलते हैं इसी तरह यशोमित्र ने अभिधर्मकोश व्याख्या में पालि साहित्य से कुछ सुत्तों का उल्लेख किया है।

खुद्दकनिकाय संस्कृत आगम में नहीं है। महाव्युत्पत्ति में मात्र चार आगमों का

उल्लेख है। चीनी आगम में भी यही स्थिति है। मध्य एशिया में स्फुट रूप से कुछ ग्रन्थ अवश्य मिलते हैं बुद्धघोष भी इस विषय में स्पष्ट नहीं दिखाई देते हैं। इससे लगता है, खुद्दकनिकाय चार निकायों के बाद विकसित होता रहा है। धर्मगुप्तक, महासांघिक और महीशासक इसे सुत्तपिटक में संमिलित करते हैं। महासांधिक मात्र इतिवुत्तक और थेर-थेरी गाथा का उल्लेख करते हैं।धर्मगुप्तकों के अनुसार खुद्दकनिकाय में ये ग्रन्थ हैं - जातक, इतिवृत्तिक, निदान, वैपुल्य, अद्भुत, अपदान, उपदेश, उदान, धर्म, पर्यान, कथावस्तु और आर्यगाथा। चीनी अनुवाद में मात्र धर्मपद, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात और उदान मिलते हैं।

धर्मपद (धम्मपद) की खोज खोतान में सेनार्ट ने १८९२ में की और उसकी पहचान ओल्डनवर्ग ने १८९७ में की। १८९८ में सेनार्ट ने उसे फ्रेंच में प्रकाशित किया। इसी आधार पर वरुआ और मित्रा ने १९२१ में उसका पुनः सम्पादन किया। बूलर और स्टेनकोनो ने धम्मपद की लेखनतिथि प्रथम शताब्दी मानी है जबकि ल्यूडर्स ने उसे तृतीय शताब्दी में रखा है। इसकी लिपि खरोष्ठी है और भाषा उत्तर-पश्चिमी प्राकृत है। इसमें १२ वग्ग हैं और २५१ गाथाएं हैं।

मध्य एशिया और चीन में धम्मपद के अनेक पाठ मिलते हैं। उसके चीनी अनुवाद चार हैं - १) धर्मपदसूत्र - धर्ममात द्वारा संकलित और विध्न द्वारा अनुदित २२४ ई. में २) धर्मपद अवदान सूत्र - धर्मत्रात द्वारा संकलित और फु-कु द्वारा अनुदित २९०-३०६ में, ३) अवदान सूत्र धर्मत्रात द्वारा संकलित और बुद्धस्मृति द्वारा अनुदित ३९८-९ ई. में ४) संघभूति द्वारा संकलित धर्मपद। इसके साथ ही उदानवर्ग भी उल्लेखनीय है जो धर्मपद का ही रूपान्तरण है। इसे पाउसन ने १९१२ में प्रकाशित किया था और फिर उसका संशोधित रूप चक्रवर्ती और पिशेल ने प्रकाशित किया। धर्मत्रात ने इसे भी संकलित किया। इसका तिब्बती अनुवाद भी मिलता है।

विनय पिटक

मध्य एशिया में विनयपिटक का जो भी रूप मिलता है उससे लगता है कि वह सर्वास्तिवाद या धर्मगुप्तक सम्प्रदाय से सम्बद्ध होना चाहिए। मूलसर्वास्तिवादियों का विनयपिटक तिब्बती में अनुदित है। गिलगिट में उसका संस्कृत रूपान्तरण प्राप्त हुआ है। उसके १५ परिच्छेद हैं। तिब्बती दुल्वा में वह छह भागों में विभाजित हैं - विनयवस्तु, प्रातिमोक्षसूत्र, विनयपिभंग, भिक्खुणी प्रातिमोक्षसूत्र, विनयक्षुद्रवस्तु और विनयुत्तर ग्रन्थ। चीनी में पांच सम्प्रदायों का विनयपिटक मिलता है - १) सर्वास्तिवाद २) मूलसर्वास्तिवाद, ३) धर्मगुप्त, ४) महीशासक, ५) महासांघिक। इनमें धर्मगुप्त विनय की लोकप्रियता चीन में अधिक थी। वह मध्य एशिया से ही वहां पहुंचा होगा। वह पालि

चुल्लवग्ग और पातिमोक्ख से मिलता-जुलता है। फाइनाट ने प्रातिमोक्ष सूत्र को सर्वास्तिवादी माना है। इसकी प्रति कुछ से प्राप्त हुई थी।

संस्कृत में परिवर्तित महापरिनिब्बाणसूत्र मूलसर्वास्तिवाद सम्प्रदाय का है जो तुरफान से प्राप्त हुआ था। यह उसके विनय क्षुद्रकवस्तु में अन्तर्भूत है। और इसी तरह वह चीनी विनय के विषय और संयुक्तवस्तु में सम्मिलित है। पालि, तिब्बती और चीनी परिनिब्बाणसुत्त की तुलना से फायनाट इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि महापरिनिब्बाणसुत्त के उपसंहार में प्रथम दो संगीतियां संयोजित थीं। पर सिंहली सम्पादकों ने उन्हें चुल्लवग्ग के परिशिष्ट के रूप में जोड़ दिया। मूलसर्वास्तिवाद और चीनी संस्करणों ने महापरिनिब्बाणसुत्त के प्राचीन रूप को ही स्वीकार किया।

महायान सम्प्रदायों के शताधिक सूत्र ग्रन्थ हैं। इनमें नव सूत्र ग्रन्थ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उन्हें धर्मपर्याय कहा जाता है। ये नव सूत्र ग्रन्थ हैं - अष्टसाहस्रिक प्रज्ञापारमिता, सद्धर्मपुण्डरीक, ललितविस्तर, लंकावतार, सुवर्णप्रभास, गण्डव्यूह, तथागतगुह्यक, समाधिराज और दशभूमीश्वर। मध्य एशिया में इनकी खण्डित प्रतियां मिलती हैं। इनके अतिरिक्त रत्नध्वजसूत्र, भद्रपाल सूत्र, रत्नराशिसूत्र, धारिणी - अनन्तमुख, नीलकंठ, महाप्रत्यंगिर, बुद्धचरित, मातृचेट के स्तोत्र, आयुर्वेदक, निय प्रदेश में प्राप्त खरोष्ठी प्रतियां भी उल्लेखनीय हैं। इन सभी ग्रन्थों पर पालि साहित्य का प्रभाव दिग्दर्शित होता है।

बोधिसत्त्व अवधारणा

इस साहित्य में बोधिसत्त्व की अवधारणा प्रतिबिम्बित हो रही है। 'बोधिसत्त्व' शब्द भावी बुद्ध के लिए प्रयुक्त होता है। जातक साहित्य की व्याख्या इसी सिद्धान्त पर आधारित है। संबोधि से पूर्व अवस्था बोधिसत्त्व अवस्था है। प्राचीन पालि साहित्य में सात बुद्धों के नाम मिलते हैं - विपस्सी, सिखी, वेस्सभू, ककुसन्ध, कोनागमन, कस्सप और गोतम। महापदानुसुत्तन्त (दी.नि.) के अनुसार सभी बुद्धों की जीवनी शाक्यमुनि के समान है। इस समानता को 'धम्मता' कहा गया है। जैन तीर्थंकरों की भी यही स्थिति है। बुद्धवंस में २४ बुद्धों के नाम इस प्रकार हैं - दीपंकर, कोण्डञ्ञ, मंगल, सुमन, रेवत, सोमित, अनोमदस्सी, पदुम, नारद, पदमुत्तर, समेध, सुजात पियदस्सी, अत्थदस्सी, धम्मदस्सी सिद्धत्थ, तिस्स और फुस्स।

बोधिसत्त्व एक संकल्प के साथ बुद्धत्व प्राप्ति की साधना करता है। इस संकल्प में आठ तत्त्व अनिवार्य हैं - मनुष्यत्व, पुरुषत्व, हेतु, शास्तृदर्शन, प्रव्रज्या, गुणसम्पत्ति, अधिकार तथा छन्द। इस साधना में दस पारमिताओं की भावना की जाती है - दान, सील, नेक्खम्भ, पञ्ञा, विरिय, खन्ति, सच्च, अधिट्ठान, मेत्ता और उपेक्खा। ३२

महापुरुष लक्षण से सम्पन्न साधक पुरुष होना चाहिए, उच्चकुलीन होना चाहिए और उसकी इन्द्रियां पूर्ण होनी चाहिए। इससे इतना तो स्पष्ट है कि नारी अवस्था में बोधिसत्त्व की साधना नहीं हो पानी। वह जातिस्मरण से भी सम्पन्न होता है।

महासांघिक लोकोत्तरवादियों ने बुद्ध के साथ बोधिसत्त्व को भी लोकोत्तर मान लिया। स्थविरवाद और सर्वास्तिवाद में वह विलक्षण महापुरुष था पर महासांघिक परम्परा में वह अलौकिक हो जाता है। वह औपपादुक है, मनोमय है, अरूप है, तुषितलोक से मायादेवी के गर्भ में मात्र एक निर्माणकाय का ही अवतार हुआ है। हीनयान में बोधिसत्त्व एक असाधारण महापुरुष रहता है। वहां अनागत तथा वर्तमान बुद्धों का कोई विशेष स्थान नहीं रहता। महायान में यही असाधारणता अलौकिकता में परिवर्तित हो गई। यहां वर्तमान बोधिसत्त्व और भावी बुद्धों की ही प्रधानता हो जाती है। इस बोधिसत्त्वचर्या में पारमिताओं और भूमियों के सिद्धान्त का विशेष विकास हुआ।

हीनयान मुख्यतः भिक्षुओं का धर्म है। भिक्षु शीलविशुद्धि पूर्वक शमथ-विपश्यना की साधना करता है। इसमें श्रोतापत्ति, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत् ये चार भूमियां प्रसिद्ध हैं। फलप्राप्त की दृष्टि से चार की जगह आठ आर्य पुद्गल हो जाते हैं। महायान में उपासक का महत्त्व बढ गया और सात श्रावक भूमियां हो गईं - शुक्ल विदर्शना, गोत्र, अष्टमक, दर्शन, तनु, वीतराग, और कृतावीभूमि। महाव्युत्पत्ति में यही संख्या बीस तक पहुंच गई। महावस्तु में बोधिसत्त्व की चार चर्यायों और दस भूमियों का निर्देश है। चार चर्यियें हैं - प्रकृतिचर्या (सहजगुण प्रकाशन), अनुलोमचर्या (संकल्पपूर्वक कार्यायिन), अनिवर्तनचर्या (लौटना नहीं) और अधिमुक्तिचर्या। प्रारम्भ में महायान का विनय हीनयानी विनय ही था। बाद में उसका विकास हुआ और करुणा और अहिंसा का परिपाक हुआ। मांसभक्षण निषेध इसी प्रवृत्तिका फल है। बाद में ''**उपाय कौशल**' के समर्थन से विनय में शिथिलता आयी। ज्योतिर्माणवक की कथा उल्लेखनीय है जिसमें उसने ४२००० वर्ष का ब्रह्मचर्य खण्डित कर लिया (शिक्षा समुच्चय पृ. १६७)। राजतरंगणी में कश्मीर के ऐसे विहारों का उल्लेख है जिनमें भिक्षु कलत्र-पुत्र आदि के साथ आवास करते थे। तिब्बती परम्परा अभी भी ऐसी देखी जाती है। महावस्तु की दस भूमियां ये हैं - दुरारोहा, बद्धमाना, पुष्पमण्डिता, रुचिरा, चित्तविस्तरा, रूपवती, दुर्जया, जन्मनिदेश, यौवराज्य और अभिषेक। चन्द्रकीर्ति ने मध्यमकावतार में भूमियों का पारमिताओं के साथ इस प्रकार सम्बन्ध स्थापित किया है - १) प्रमुदिता - दानपारमिता। २) विमला - शील; ३) प्रभाकरी - क्षान्ति, ४) अर्चिष्मती - वीर्य, ५) सुदुर्जया - ध्यान, ६) अभिमुखी - प्रज्ञा; ७) दूरंगमा - उपायकौशल, ८) अचला - प्रणिधान; ९) साधुमती - बल और १०) धर्ममेघा-ज्ञान।

ॐ

परिवर्त ७
श्रीलंका का पालि-बौद्ध साहित्य

इस अध्याय में हम श्रीलंका के पालि साहित्य और उस पर आधारित सिंहल साहित्य का सर्वेक्षण प्रस्तुत कर रहे हैं। पालि साहित्य का सिंहल वासियों ने टीकायें, व्याख्याएं आदि बहुविध साहित्य की रचना की है जो पालि ग्रन्थों को समझने के लिए अत्यंत उपयोगी होगा। इसी आशा से यहाँ हम समग्र सिंहल साहित्य पर एक दृष्टिपात कर रहे है जिसमें पालि साहित्य को प्रमुख रूप से ध्यान में रखा गया है।

पौराणिक परम्परानुसार श्रीलंका रावण के आधिपत्य में पली-पुसी थी, भले ही उसका उल्लेख किसी ऐतिहासिक ग्रन्थ में न मिलता हो। हां, विभीषण को अवश्य वहां एक देव के रूप में पूजा जाता है। उसके पूर्वजों को वैदिक संस्कृत में राक्षस कहा गया है। परन्तु जैन परम्परा में वह राक्षस नहीं था, बल्कि राक्षसवंशीय था। हनुमान को भी इसी तरह वहां वानर नहीं माना बल्कि वानरवंशीय माना है। दीपवंस और महावंस में जिस नाग, यक्षजाति और द्रविड परिवार का उल्लेख मिलता है, वह कदाचित् जैन परम्परा की ओर संकेत कर रहा है। श्रीलंका के महावंस के अनुसार श्रीलंका में बौद्धधर्म पहुंचने के पूर्व **जैनधर्म** का अस्तित्व था भी तदनुसार पाण्डुकाभय (४३८-३६८ ई.पू.) ने जोतिय निगण्ठ के लिए अनुराधापुर में एक विहार बनवाया था (महावंस पृ. ६७)। वहां जैनों के ५०० परिवार रहते थे। बाद में वट्टगामणि अभय ने उन्हें नष्ट कर दिया (महा. टीका पृ. ४४४)। अत: यह अधिक तथ्यसंगत लगता है कि राक्षस और वानर मानव जाति के ही थे। भारत पहुंचने वाला विजय गुजरात (लाट) के राजा सिंहबाहु का पुत्र था जो कदाचित् जैन परम्परा का अनुयायी था, क्षत्रिय था। लगभग इसी समय पाण्डुप्रदेश से अभय तथा विहार प्रदेश से महेन्द्र आदि भी वहां पहुंचे थे। इन प्रदेशों की भाषा प्राकृत थी और सिंहल की भाषा पर पालि-प्राकृत का ही प्रभाव सर्वाधिक है। सिंहल नरेश अशोक कालीन देवानंपिय तिस्स के शिलालेखों की भाषा भी पालि-प्राकृत या उससे प्रभावित है। उसे ही उत्तरकाल में सिंहली अभिधान मिला और श्रीलंका को सिंहल कहा जाने लगा।

सिंहल के इतिहास और साहित्य को उसकी राजधानियों के नाम से भी विभाजित किया गया है जैसे १) प्राचीन युग-अनुराधपुरकालय (ई. पू. ४३७ से १०५८ तक), २) मध्ययुग-पोलन्नरुवकालय (ई. १०५८-१२३४), ३) नूतनयुग-महानुवरकालय (ई. १७०६-१८१५ तक)। इसी आधार पर हम सिंहल-पाली साहित्य का विभाजन कर रहे हैं।

प्राचीन युग

१) प्राचीन युग (ई.पू. ४३७ से १०५८ तक)-प्राचीन युगीन सिंहल राजा पाण्डुकाभय (ई. पू. ३७७-३०७) ने अनुराधपुर को अपनी राजधानी बनाया। उनके ही समय भारत से महेन्द्र आदि भिक्षु अपने साथ बौद्धधर्म और त्रिपिटक ले गये। महावंस के अनुसार उनके ही जीवनकाल में अनुराधपुर महाविहार बना और वहां तीस हजार भिक्षुओं की संख्या हो गई। दुट्ठगामणी के राज्यकाल (ई. पू. १०१-७७) में यहां एक भिक्षु सम्मेलन हुआ जिसमें भिक्षु समुदाय दो भागों में विभाजित हो गया - १) **ग्रन्थधुर** अर्थात् साहित्यसेवी, और २) **भावनाधुर** अर्थात् योगाभ्यासी। ग्रन्थधुर समुदाय साधना में शिथिल होने लगा तो स्थविरवादी अनुराधपुर महाविहार में से एक शाखा निकली जो अभयगिरि विहार के नाम से प्रचलित हुई। कालान्तर में वह महायान की ओर झुक गई। स्थविरवादी अनुराधपुर महाविहारवासी भिक्षुओं के प्रयत्नों से वट्टगामणी राजा के समय पालि त्रिपिटक को लिपिबद्ध किया गया आलोक विहार में।

लगभग २०० वर्षो के बाद व्यवहारतिस्स के राज्यकाल (ई.२६४-२८१) में अभयगिरी विहारवासी भिक्षुओं ने **वैपुल्य पिटक** का निर्माण किया जिसे राजा ने जलवा दिया। कलान्तर में अभयगिरी विहारवासी भिक्षुओं ने राजाओं के सहयोग से महाविहारवासी भिक्षुओं को दण्डित कराया और महाविहार पर अपना अधिकार कर लिया। महाविहारवासी स्थविरवादी भिक्षु ने दक्षिण की ओर जाकर **दक्षिणगिरि विहार** की स्थापना की। बाद में उसके सागल पक्षी स्थविर ने अनुराधपुर महाविहार के एक भाग पर अधिकार कर जेतवन विहार की स्थापना की। इस तरह स्थविरवादी परम्परा में ही अभयगिरिवासी और जेतवनवासी ये दोनों परम्परायें पृथक् रूप से प्रतिष्ठित हो गई। भिक्षुणी परम्परा अनुराधपुर युग तक ही चल सकी।

अशोक पुत्र महेन्द्र के निधन के बाद लगभग २०० वर्ष तक त्रिपिटक मौखिक रीती से चलता रहा। भिक्षुओं को जब उसमें कमी दिखाई देने लगी तो वट्टगामणी राजा के

समय उसे लिपिबद्ध कर दिया गया, साथ ही उसकी अट्ठकथाओं को भी। इसी समय सिंहल अट्ठ कथाएं भी संपादित हुई। राजा बुद्धदास के समय (ई.३१८-४२६) महाधर्म कथिक नामक भिक्षुने सुत्तपिटक के कुछ भाग का सिंहल अनुवाद किया। इसी तरह और भी पालि ग्रन्थों का सिंहल अनुवाद हुवा। बुद्धघोष, बुद्धदत्त और धम्मपाल ने त्रिपिटक पर पालि में अट्ठकथाएं लिखी। कतपय विद्वानों का यह भी मत है कि ये अट्ठकथाएं सिंहली अट्ठकथाओं का पालि रूपांतरण है। इसी तरह अभिधम्म पिटक पर काश्यप द्वितीय (ई.६३४-६४२) ने अट्ठकथा कि रचना की। सिंहल की यह अट्ठकथाएँ ''**हेळट्टुवा**' के नाम से प्रसिद्ध है।

सिंहल के वेस्सगिरि शिलालेख अशोक की ब्राह्मी लिपि में उट्टंकित हुए हैं। उपर्युक्त अट्ठकथाओं में वर्तमान में कोई भी सिंहल अट्ठकथा उपलब्ध नहीं है। धम्मपद अट्ठकथाओं में कुछ उल्लेख सिंहल अट्ठकथाओं से मिलते हैं। बुद्धघोष ने भी पांच सिंहल अट्ठकथाओं का उल्लेख किया है। महावंस का आधार भी महावंस की सिंहल अट्ठकथा मानी जाती है। विसुद्धिमग्ग का आधार भी सिंहल **विमुक्ति मार्ग** रहा है। इसी तरह सी-गिरि गीत, सियवसलकर (काव्यादर्श का अनुवाद) धम्मपद की सिंहल अट्ठकथा (धमपिय अटुवा) जातक अटुवा, सिखवळाद विनिस, हेरण सिखविसि आदि ग्रन्थ भी प्राचीन युग के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। संस्कृत साहित्य का लेखन भी प्रारम्भ हो चुका था इस समय तक।

मध्ययुग (१०००-१६००)

इस युग में पोलन्नरुव श्रीलंका की राजधानी बनी और तब से सिंहल साहित्य और भाषा की समृद्धि हुई। अनुराधपुर युग के अन्तिम समय में (९८१ से १०५८ तक) तमिलों के आक्रमणों से श्रीलंका की सांस्कृतिक परम्परा का बहुत ह्रास हुआ। भिक्षु समुदाय लगभग समाप्त हो गया। विजयबाहु ने बडे साहस के साथ शासनारूढ होकर भिक्षु समुदाय की स्थापना की वर्मी भिक्षुओं के माध्यम से और विहारों के बीच पनपी अन्यमनस्कता को दूरकर महाविहार शासन को स्थापित किया। प्रतिमा निर्माण और स्तूप निर्माण का प्रचलन बढा। चोल राजाओं के प्रभाव से वैदिक मन्दिरों का भी निर्माण हुआ। परित्राण धर्मदिशना प्रारम्भ हुई, संस्कृत रचनाएं लिखी जाने लगीं। पालि काव्य, कोश और व्याकरण ग्रन्थों का लेखन हुआ, सिंहल गद्य साहित्य की अभिवृद्धि हुई, महायान का भक्तिमार्ग आगे बढा, मुवंदेवदावत गीत काव्य का सृजन हुआ,

महाबोधिवंस लिखा गया, संस्कृत भाषा का प्रभाव बढा, अभिधम्मत्थ संगहो और महाबोधिवंश लिखे गये। परिकथा के रूप में धर्म प्रदीपिका, भक्ति साहित्य के रूप में अभावतूर जैसे ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इसी तरह संस्कृत पालि ग्रन्थों पर **सन्नय** (भाष्य) साहित्य का निर्माण हुआ।

महापराक्रमबाहु के बाद पोलन्नरूव का पतन हो गया और भिक्षुपरम्परा भी ध्वस्त हो गई। विजयबाहु ने उसे पुनरुस्थापित किया, उपसंपदा दिलाकर महाविहारों का निर्माण कराया, साहित्य का निर्माण हुआ, दम्बदेणिकालय (१२२०-१२९३ ई.) में सिंहल बौद्ध साहित्य की रचना हुई, पालि छन्द और व्याकरण साहित्य का सृजन हुआ, कर्मविभाग, धम्मपद सन्नय, रूपसिद्धि व्याकरण, मौद्गल्यायन व्याकरण पर विरचित सन्नय, कच्चायन व्याकरण पर कसयिन सन्नय, जातकट्ठकथा पर अट्टा सन्नय लिखा गया। बुद्धचरित और वन्दना के रूप में विद्याचक्रवर्ती ने सगसरण और बुतसरण गुरुलगोमी ने दहम सरण, तथा धम्मसेन ने सद्धर्मरत्नावली की रचना की। किसी महास्थविर बुद्धपुत्र की पूजा आवली भी बडी प्रसिद्ध रचना है। पद्य साहित्य में तोटगमुवे सा कविचिन्तामणि और गद्य साहित्य में विशुद्धिमार्ग सन्नय, व्याकरण का सिदत संगरा, कोश में **अभिधानप्पदीपिका**, और छन्दशास्त्र में **वुत्तोदय** की रचना हुई और सिंहली में एलु सन्दस् लकुणु लिखा गया।

कुरुणैगल काल (१२९३-१३४७ ई.) में **परिवेण** परम्परा का प्रारम्भ हुआ। तोटगमुवे विजयबाहु परिवेण तथा बीदागम घनानन्द परिवेण इसी काल का प्रकल्प रहा है। इस काल में यद्यपि साहित्यिक समृद्धि अधिक नहीं हुई फिर भी रत्नमाली नम् चैत्यवर्णना, अज्ञातकर्तृक दम्बदेणि अस्न, वीरसिंह प्रतिराज का उम्मगजातक, जातकट्ठकथा के अनेक सिंहल अनुवाद, धर्मकीर्ति का दाठावंस पर आधारित दळवा सिरित्, अनुवाद, सिंहल बोधिवंस, विलगम्मुल महास्थविरपाद का महावंस का सिंहल बोधिवंस, विलगम्मुल महास्थविरपाद का महावंस का सिंहल रूपान्तरण, सिंहल जातकपोत, दाठावंस का सिंहल अनुवाद इसी काल की रचनाएं हैं।

गम्पोल काल (१३४७ - १४१२ ई.) में महास्थविर के लिए 'माहिमि' के समान 'संघराज' शब्द का प्रयोग प्रारम्भ हुआ जिसे महायान का प्रभाव कहा जा सकता है। गडलादेणिय तथा लंका तिलक जैसे विशाल विहारों का निर्माण भी इसी काल की देन हैं। वैदिक देवताओं का आहरण बौद्धधर्म में इसी काल में अधिक दृढ हुआ। निकाय

संग्रह, (धर्मकीर्ति) वृत्तमाला शतक, अलु अत्तनगलु विहारवंसय, हत्थवनगल्ल विहारवंस, मयूर सन्देश, धर्मकीर्ति द्वितीय का सद्धर्मालंकार (पालि रसवाहिनी पर आधारित), पालि परमी महासतकय आदि ग्रन्थ इसी काल की देन हैं।

जयवर्धनपुर कोट्टि कालय (१४१२-१५८० ई.) में द्रविणों का आक्रमण कम हुआ और पोर्तगीजों का आगमन बढ गया। इस काल में पराक्रमबाहु षष्ठ ने दन्तधातु मन्दिर विहार का निर्माण कराया, उपसम्पदाकर्म तथा कठिन चीवर दान महोत्सव प्रारम्भ किया, देवी-देवताओं से भौतिक सुख समृद्धि की याचना बढी, बौद्धधर्म का दुर्भाग्यपूर्ण इतिहास प्रारम्भ हुआ, धर्मपाल (ई. १५५१ में) के क्रिश्चियन हो जाने के कारण भिक्षुओं का रहना भी कठिन हो गया। परन्तु इस काल में साहित्य रचना का परिमाण अच्छा रहा। विशेष रूप से गद्य-पद्य काव्यों की रचना की ओर झुकाव अधिक रहा। कुवेणी अस्न, राहुल दहम् गट (धर्मसेन), सद्धर्म रत्नाकर, धम्मदिन्न, पियुम मल, नामावलि, अनुरुद्धशतक, परेवी सन्देश, नमुरु वन मल या नाममाला, बुद्धगुणालंकार, कोकिल सन्देश, कण् सेकय्य, कव् सिलुमिण, सत्तुभत्त जातक, पराक्रमबाहुचरित, गुत्तिलकाव्य, मोग्गल्लान व्याकरण पंजिका पर पंजिका प्रदीप, दूतकाव्य, कव लकुणु मिणिमल्, बुद्धिप्पसादिनी टीका, भक्तिशतक आदि सिंहली और पालि में लिखित ग्रन्थ इसके प्रबल प्रमाण हैं।

सीतावक काल (१५३०-१५९२ ई.) में पालि-बौद्धधर्म और साहित्य को विकसित होने का अवसर नहीं मिल पाया। पोर्तगीजों ने उस पर जबर्दस्त आघात किया। राजसिंह ने अपने पिता की हत्याकर शैवधर्म ग्रहण कर लिया और बौद्धधर्म और साहित्य के विनाश में जुट गया। उसने बौद्धों का पूज्य स्थान श्रीपाद शैवों को सौंप दिया। बौद्ध साहित्य की होली खेली गई। इसके बावजूद पालि ग्रन्थों के आधार पर भिक्षुओं ने सिंहली भाषा में प्रभूत साहित्य-सर्जना की। सैवल अस्न, दहम सोण्ड कव, कुसुदाकव, कव् सिळु मिण, लोवैडसंग्रा, सुभाषित काव्य आदि जैसे ग्रन्थ इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय हैं।

सेनकडगल काल (१५९२-१७०६ ई.) में पोर्तगीजों से हालेण्ड ने श्रीलंका को हथयाया। राजसिंह द्वितीय की अदूरदर्शिता के कारण सिंहल को ये विपत्तियां झेलनी पडीं। बाद में विक्रम राजा ने बौद्धधर्म की उन्नति के लिए यथासंभव प्रयत्न किये। उसने संघाराम बनवाये, चैत्य बनवाये, उपसंपदा करायी। इसके बावजूद बौद्धधर्म के विनाश

को रोका नहीं जा सका। हां, इस काल में तमिल पुस्तकों के सिंहली अनुवाद अवश्य हुए हैं, साथ ही प्रशस्ति गीतों की भी रचनाएं बहुत हुई हैं। इनके अतिरिक्त चन्द्र किन्नर जातक सिंहली रूपान्तरण 'सेनकडगल-कालय के नाम से, थूपवंस, धातुवंस और ललाट वंस का 'सेरूविल' आदि नामों से रूपान्तरण हुए, राजरत्नाकर, उपमातरंग माला, आण्डी मालय, विधुरजातक काव्य, विमुक्ति संग्रह, महाजन जातक काव्य, दियगोडविस्तरय, मन्दारपुर पुवत्, तुन्सरणे कवि पोत्, महाविनिकमन् कब, देवदत्तवरुणे, महापदरंग जातक, रंकखंगसंदेस आदि जैसी काव्य रचनाएं भी हमारे समक्ष हैं जो किसी न किसी रूप में पालि और बौद्ध दर्शन से सम्बद्ध हैं। बैलिविट सरणंकर का योगदान इसमें बहुत हुआ है।

अभिधानप्पदीपिका का आधार लेकर सिंहलीज में अनेक कोश लिखे गये। जैसे पियुम्माला (१२ वीं शती), रुवनमाला, नामावलिय, पुराणनामवलिय नवनामावलिय। इन सिंहलीज कोशों में पालि और संस्कृत शब्दों को बहुतायत से अन्तर्भुक्त कर लिया गया।

सिंहलीज में छन्दशास्त्र की भी रचना हुई - जैसे एकुसन्दासलकुण, लकुणुसर। इसी तरह अलंकार शस्त्र भी उसमें उपलब्ध है। जैसे दण्ड्यालंकार सन्ने काव्यादर्श के आधार पर लिखा गया है। पालि का अलंकारग्रन्थ सुबोधालंकार पर सिंहलीज में एक सन्ने (टीका) लिखी गई है।

विनय में भैषज विद्या की अच्छी सामग्री मिलती है। सिंहल नरेश बुद्धदास (३९२-४०९ ई.) ने सारत्थसंगह की रचना की। राजा अग्गबोधि ने भेषज्ञमंजूषा लिखी। मयूरपाद की योगार्णवय और प्रयोगरत्नावलीय, शैलसिंह का वैद्य चिन्तामणि भैषज्यसंग्रहव, मिदेल्लव का योगरत्ननाममालाव भी उल्लेखनीय हैं। ज्योतिष के क्षेत्र में संघराज अनवमदर्शी का दैवज्ञकामधेनु, राहुल का टोटगमुनिमित्त, अज्ञातकर्तृक नवग्रह आराधनाव भी उल्लेखनीय हैं। इन सभी ग्रन्थों में पालि का आधार लिया गया है।

नूतन युग

महनुवर काल (१७०६-१८९५ ई.) में सिंहल के संबन्ध दक्षिण भारत से दृढतर हुए। सेनरत नरेश ने मधुरा सेनायवकार द्रविड राजवंश की राजकुमारी को अपनी पटरानी बनाया जो कदाचित् जैन परम्परा से सम्बद्ध रही हो। धीरे-धीरे द्रविड प्रदेश से लोग श्रीलंका में पहुंचे और विभिन्न पदों पर काम करने लगे। नरेन्द्रसिंह के बाद उसके

उत्तराधिकारी भी द्रविड प्रदेशी बने रहे जिसे सिंहली जनता स्वीकार नहीं कर पायी। इसी बीच सिंहल की बागडोर अंग्रेजों के हाथों में चली गईं। बौद्धधर्म को यथास्थिति में लाने के लिए सरणंकर ने बहुत प्रयत्न किया। उन्होंने सीलवत समागम की स्थापना कर मठाधीशों की आलोचना प्रारम्भ की। नरेन्द्र सिंह नरेश ने उनके इस प्रयत्न की प्रशंसा की और उन्हें सारी सुविधाएं प्रदान कीं। उन्होंने विस्मृत उपसम्पदा को प्रारम्भ किया १७५९ में और स्यामोपालि महानिकाय की स्थापना की। उसी के सान्निध्य में उपसम्पदा आदि परम्पराओं का निर्वाह होने लगा। सरणंकर ने एक विद्यास्थान की स्थापना की जिससे पुस्तकों को प्रकाशित किया गया। 'श्रृंगारलंकारय' उसी प्रक्रिया में प्रकाशित हुईं। ई. १७१८ में सारार्थ संग्रह सरणंकर, इतिविसो, जातक काव्य, सुमगुदा कव, सारार्थ दीपनी, महासेन, तेरुवनमाला, देवधर्मजातक, परित्राण धर्मदेशना, सिंहलविमानवत्थुप्रकरण मुनिगुणालंकार, अभिसम्बोधि अलंकार, नवगुणवर्णना, भेसज्ञमंजुसाव आदि शताधिक पालि और सिंहल काव्य ग्रन्थों की रचना हुई। इस समूची साहित्य सर्जना में संघराज सरणंकर और अत्तरगम वण्डार पण्डितुमा तथा उनके शिष्य परिवार का विशेष हाथ रहा है।

श्रीलंका का शासन हालेण्ड के हाथ से निकलकर १८१५ में अंग्रेजों के हाथ चला गया। उन्होंने कोलम्बो को राजधानी बनाया। लगभग सौ वर्ष उनका शासन रहा। १९४७ में श्रीलंका ने स्वतन्त्रता प्राप्त की। संघराज सरणंकर के प्रयत्नों से जिस धार्मिक नवचेतना का विकास हुआ था वह अन्तिमकाल तक बनी रही। यही कारण था कि अंग्रेजों से सन्धि में यह शर्त जोडी जा सकी कि बुद्धधर्म की रक्षा में सरकार किसी प्रकार की हानि नहीं पहुंचायेगी। परन्तु अंग्रेजों ने इसे कभी नहीं माना और ईसाईधर्म के प्रचार-प्रसार में बौद्धधर्म पर आघात करते रहे। सुमंगल स्थविर ने इसका यथाशक्ति विरोध किया।

कोलम्बकालय (१८१५-१९६०) में पालि-बौद्धधर्म और साहित्य के प्रति चेतना जाग्रत हुई। बौद्ध-ईसाई संघर्ष हुए। स्यामनिकाय तथा अमरपुर निकाय के साथ ही रामण्य निकाय नाम से एक और भिक्षु परम्परा की स्थापना हो गई। विद्यालंकार और विद्योदय परिवेणों की स्थापना से नवीन सांस्कृतिक चेतना का जागरण हुआ, साहित्य और संस्कृति का प्रचार हुआ, एशियाई सोसायटी की सिंहल शाखा का प्रचार हुआ, एशियाई सोसायटी की सिंहल शाखा की स्थापना हुई, तथा पुरातत्त्व विभाग और सांस्कृतिक विभाग ने कार्य प्रारम्भ किया।

कोलम्बो-कालय की विशिष्ट जानकारी के लिए राजाबलि ग्रन्थ उल्लेखनीय है। यह भी उल्लेखनीय है कि लगभग इसी समय जैन परम्परा में भी राजबलिकथे लिखा गया। १८१६ में वुडगन्हटन काव्य की रचना हुई। इसमें विजयराजसिंह से लेकर विक्रमनायवक्कार वंश के थे। इसमें उनके अमानुषिक अत्याचारों का वर्णन है। इसके बाद पालि और सिंहली भाषा में विविध ग्रन्थ और काव्य लिखे गये जिनका उल्लेख करना यहां संभव नहीं लगता परन्तु उनमें राजावलियां, वंस, जातक, तीर्थयात्रा, सिंहल रामायण, प्रेतवस्तुवर्णन, सिंहल-पाली व्याकरण, चरित्र, विसुद्धिमग्ग टीका, यात्रा वृत्तान्त, सिंहल-पालि कोष, काव्य, नारीशिक्षा, नाटक, संगीत, उपन्यास, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विद्याओं में प्रभूत साहित्य लिखा गया।

अभी तक हमने काल के आधार पर सिंहल साहित्य का विवरण दिया। अब हम यहां विधाओं के आधार पर सिंहल साहित्य को मात्र पालि और बौद्ध साहित्य में विभाजितकर संक्षेप में उसके उल्लेख करने का प्रयत्न करेंगे।

गद्य साहित्य

विनय साहित्य

लगभग तृतीय शताब्दी ई.पू. में श्रीलंकाधिपति देवानं पिय तिस्स के बौद्धधर्म में दीक्षित हो जाने से सिंहल द्वीप में बौद्धधर्म की प्रस्थापना हुई। महिन्द ने वहां की जनता को धर्मोपदेश दिया और कहा कि जब तक यहां भिक्षुवर्ग की स्थापना नहीं होगी, बौद्धधर्म सफलता पूर्वक नहीं पनप सकता। यह सुनकर राज परिवार के एक सम्मानित सदस्य अरिट्ठ ने भिक्षुधर्म को स्वीकार किया और विनय का अध्ययन किया। तबसे विनय पिटक पर पाली और सिंहली भाषाओं में टीकाओं की रचना होने लगी। जो उसे विस्तार और गहराई से अपने अध्ययन का विषय नहीं बना पाये उनके लिए महासामी ने **मूलसिक्खा** और धम्मसिरि ने **खुद्दसिक्खा** जैसे लघु ग्रन्थों की रचना कर दी। १२-१३ वीं शती में इन का शब्दश: अनुवाद क्रमश: मूलसिखा सन्नय और खुदुसिक सन्नय के नाम से हुआ। इन दोनों को सिंहली में मूलसिखवळन्द या सरित्-वरित-सिख या सिखवळन्द-सिखवळन्दविनिस अभिधान मिला। पाली टीकाओं में भी इनका उपयोग किया गया है। इसके लेखक महासामी का समय लगभग दशम शताब्दी माना जा सकता है। महिन्द चतुर्थ के पूर्व उसकी रचना हुई होगी। सिखकरणी हेरणसिख और हेरणविनिस भी चुल्लवग्ग पर आधारित हैं। इसी तरह सामणेरप्रश्नय भी खुद्दकपाठ पर आधारित है।

विनय की टीकाएं और अनुवाद

सारिपुत्त ने अपनी विनयपिटक की टीका **सारत्थदीपनी में** विनय की तीन टीकाओं का उल्लेख किया है - **महागंठिपद, मज्झिमगंठिपद और चूलगण्ठिपद।** राहुल ने भी अपनी पंजिकाप्रदीपय में विनयगटपदय का उल्लेख किया है। ये सभी ग्रन्थ अप्राप्य हैं। विनय पर कुछ सन्नय अवश्य मिलते हैं, जैसे सारिपुत्त और मोग्गल्लान का विनय सन्नय और विनयगाथासन्नय। इनके अतिरिक्त प्रातिमोक्षसन्नय तथा मूलसिखा और खुद्दसिखा के अनुवाद भी उपलब्ध हैं।

बुद्धदत्त थेर रचित विनय विनिच्छय का सिंहली अनुवाद वनविनिस-सन्नय नाम से हुआ है। कांखावितरणी-पिटपोत-यह टीका भिक्खु पातिमोक्ख और भिक्खुणी पातिमोक्ख पर हुई है। इसमें शब्दों की निष्पत्ति और पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं, पालि के उद्धरण भी मिलते हैं। इसमें वज्रबुद्धि टीका का भी उल्लेख हुआ है। इसमें व्याकरण की विशेषताओं पर अधिक प्रकाश नहीं डाला गया है। इसमें अटुवा-गटपदय, अटुवा सनय आदि पूर्व टीकाओं का भी उल्लेख हुआ है।

विनय विधान

विनय नियमों को शिलाओं या स्तम्भों पर उत्कीर्ण कराया जाता था। महेन्द्रचतुर्थ ने ११ वीं शती में मिहिन्तले में ऐसे नियमों को उत्कीर्ण कराया था ई. ७५-११३। संघ की शुद्धि की दृष्टि से अपराधों को स्वीकार किया जाता था संघ के समक्ष जिसे कतिकावत कहा जाता है। निकाय संग्रहय में इसका उल्लेख है। कतिकावत क्र. १। पराक्रमबाहु और निश्शंकमल्ल के समय इसका प्रचलन अधिक रहा। इस प्रक्रिया में पालि विनय ग्रन्थों का विशेष ध्यान रखा गया।

सुत्तों का अनुवाद

विनयपिटक के समान सुत्तपिटक का भी अनुवाद सिंहली भाषा में हुआ है। चूलवंस के अनुसार महाधम्मकथी ने राजा बुद्धदास के शासनकाल में ३६२-४०९ ई.पू. पिटक का सिंहली भाषा में अनुवाद किया था। इसी तरह पूजावलिय के अनुसार धम्मिक ने अग्रबोधि प्रथम के समय सुत्तों का अनुवाद किया, जैसे सूत्र-सन्नय। इनमें कुछ बारहवीं शती का है तो कुछ १८ वीं शती का। इनमें संस्कृत और एकु शब्दों का उपयोग किया गया है। इसी तरह के अन्य अनुवाद हैं - महापरिनिर्वाण सूत्र सन्नय, महासतिपट्ठान सूत्रसन्नय, सिगालोवाद सूत्र सन्नय, धम्मिकसूत्र, अटुवासन्नय आदि।

संघराज साधुचरियाव के आधार पर सरणंकर संघराज और उनके शिष्यों द्वारा अनेक टीकाएं अनुटीकाएं लिखी गयीं। जैसे तिब्बटुवावे सिद्धार्थ बुद्धरक्षित ने महासतिपट्ठान सूत्रसन्नय, कंबुरुपिटिये गुणरत्न ने हत्थिपदोपम और कालकारामसुत्त, कुंकुणावे सुमंगल ने धम्मचेतिय सुत्त, बमिणिवत्ते, उन्नान सने अरियवंस सुत्त आदि।

सुत्तनिपात और उसकी टीका परमत्थजोतिका पर सूत्रनिपात सन्नय लिखा गया। जिसमें मोग्गल्लान व्याकरण के आधार पर शब्दों की निष्पत्ति, निदान कथाएं और संस्कृत कारिकाएं दी गई हैं। इसमें छत्तीस सुत्तों की ही व्याख्या है। 'एवं मे सुतं' की व्याख्या में 'मे' की व्याख्या 'मया और अहं' दोनों रूपों से की गई। महापरिनिर्वाणसूत्रसन्ने, दंसकपवत्तुंसूत्र सन्ने और वम्मिकसूत्रासन्नय "एक समयं..." की व्याख्या में समय की व्याख्या अनेक ढंग से की है। चक्रवर्ति सिंहनाद सूत्र सन्ने, महासमय सूत्रसन्ने वर्ष, ऋतु आदि की विस्तृत व्याख्या करते हैं। सूत्र सन्नयों में ऐसी सामग्री है जो न मूल ग्रन्थ में है और न उसकी टीकाओं में। सप्तसूर्योद्गमनसूत्र सन्ने भी ऐसा ही सूत्र है जिसकी सामग्री न अंगुत्तरनिकाय के सत्तसूर्य निद्देस में मिलती है और न मनोरथपूरणी में। ब्रह्मजाल सूत्रार्थ व्याख्यान, अंगुलिमाल सूत्रसन्नय आदि भी ऐसे ही सूत्र हैं जिनमें विशिष्ट सामग्री भी समाविष्ट हुई है।

टीकाएं और अनुवाद

धम्मपद अट्ठकथा पर सिंहली टीकाएं

धम्मपद अट्ठकथा पर धम्मपिया-अटुवा-गटपदय नामक सिंहली टीका है जिसके प्रणेता नरेश कास्सप (९१३-९२३ ई.) हैं। इसमें हरशब्द की सुन्दर व्याख्या की गई है। पालि के साथ सिंहली शब्दों की भी व्याख्या हुई है। यहां संस्कृत शब्दों का भी उपयोग हुआ है।

बोधिवंस - महोबोधिवंस की पालि सहज और सरल नहीं है। इसलिए उसे समझने के लिए टीकाओं की आवश्यकता अधिक हुई। महाबोधिवंस ग्रन्थिपदविवर्णय नामक १२ वीं शती सिंहली टीका ऐसी ही है। इस पर एक पालि टीका भी है। गुरुलुगोमी ने इस पर धर्मप्रदीपिका नामक सिंहली टीका लिखी है। १७वीं शती में वलिविट सरणंकर ने मधुरार्थप्रकाशिनी नामक टीका लिखी जिसमें हर शब्द की व्याख्या की गई है। संस्कृत उद्धरणों का भी उपयोग हुआ है।

पालि जातक - पालि जातकों का अनुवाद बहुत लोकप्रिय हुआ है। जातक-अट्ठवा-गटपदय बुद्धघोष की जातकट्ठकथा की सिंहली टीका है (११ वीं शती)। तेमिय, निमि, साम, विधुर, खण्डहाल, भूरिदत्त, मखादेव और महाजनक इन आठ जातकों को सिंहली में अटजातकय कहा जाता है। इन पर अट-दा-सन्नय नामक सिंहली टीका है जो १२ वीं शती की है। जातक सन्नय या जातक गाथासन्नय भी जातकट्ठकथा की व्याख्या करता है। इन जातकों के आधार पर अनेक काव्य भी लिखे गये हैं। जैसे राहुल का काव्यशेखरय।

अभिधम्म पर टीकाएं

सुत्तपिटक और विनय पिटक के बाद भिक्षु समुदाय ने अभिधम्म पटिक पर अपना ध्यान दिया और उसे अध्ययन का केन्द्र बनाया। नरेश महेन्द्र चतुर्थ (९५६-९७२) ने उसके अध्ययन के लिए भिक्षुओं को अनेक सुविधाएं दीं। राजा कस्सयप पंचम ९१३-९२३ ने अभिधम्म पिटक को स्वर्णाक्षरों से लिखाया, विशेष बाहु प्रथम (१०५९-१११४) ने धम्मसंगणि का अनुवाद किया सिंहली में। बुद्धदत्त के अभिधम्मावतार पर विजमावतार सन्नय नामक सिंहली टीका लिखी गई। इसी तरह अभिधम्मत्थसंगहो पर अभिधर्मार्थसंग्रहसन्ने टीका की रचना हुई। महाकस्सप थेर ने इस पर पालि टीका लिखी। इन सभी टीकाओं में संस्कृत का प्रभाव दिखाई देता है।

विसुद्धिमग्ग पर सिंहली टीकाएं

विसुद्धिमग्ग पर शब्दशः विस्तृत सिंहली टीका लिखी पराक्रमबाहु द्वितय ने (१२३६-१२७१)। इसके पूर्व लिखी गई विसुद्धिमार्ग-सन्ने महासन्नय टीका मिलती है। इसमें अश्वघोष के सौन्दरानन्द और बसुबन्धु के अभिधर्मकोश का उल्लेख हुआ है। पराक्रमबाहु माध्यमिक और विज्ञानवाद से सुपरिचित दिखाई देता है। शून्यता पर की गई चर्चा नागार्जुन का स्मरण कराती है। विज्ञानवाद से भी वे अपरिचित नहीं थे। ज्ञेयसम्पत्ति टीका और उस पर भाष्य और भाष्य टीका भी उल्लेखनीय है। इस टीका से बौद्ध दर्शन का अध्ययन सुगम हो जाता है।

बौद्ध सिद्धान्त संग्रह

पालि अट्ठकथा एक टीका का रूप है। उस पर भी टीकाएं लिखी गईं। उनपर परिकथाएं और प्रकरण भी लिखे गये। इसी तरह बौद्धधर्म को समझने के लिए कुछ

संग्रहात्मक ग्रन्थ भी लिखे गये। गुरुलुगोमी ने ऐसा ही एक संग्रह ग्रन्थ लिखा धर्मप्रदीपकाव और अमावतुर भी।

धर्मप्रदीपिकाव

धर्मप्रदीपकाव गुरुलुगोमी की रचना है जिसे उसने महाबोधिवंस की परिकथा के रूप में लिखा था। लेखक ने स्वयं बोधिवंसपरिक्थ ा कहकर इसे स्वीकार किया है। महाथूपवंस और चरियापिटक का भी उपयोग इसमें हुआ है। इसमें भगवत्, अर्हत, सम्यक्संबुद्ध, विद्याचरणसंपन्न, तथागत आदि शब्दों की विस्तृत व्याख्या की गई है। इसमें जिनालंकार, बुद्धवंसटीका, तेलकटाहगाथा और अभिधानप्पदीपिका का उल्लेख हुआ है। चन्दगोमनी, सूर, शान्तिदेव और धर्मकीर्ति, का भी स्मरण किया गया है। इसका समय लगभग १३ वीं शती है। इसमें एकु सिंहली का उपयोग हुआ है जहां संस्कृत-पालि शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता। फिर भी कवि ने जहां तहां उनका प्रयोग कर नवीन शैली का प्रयोग किया है।

कर्मविभागय

कुशल-अकुशल कर्मो की व्याख्या करते हुए अकुशलकर्मो को कैसे दूर किया जाये इस मार्ग को यहां, स्पष्ट किया गया है। इसके लेखक का नाम अज्ञात है। भाषा के आधार पर इसे बारहवीं शताब्दी में संयोजित किया जा सकता है। इसमें नरकों और कल्पों का वर्णन है। कर्म के चार भेद किये गये हैं - जनक, उपस्थंभक, उपपीडक और उपघातक। मैत्री, बोधि आदि की प्रशंसा की गई है। संस्कृत भाषा में लिखित महाकर्म विभंग भी उपलब्ध है पर उसका कोई उपयोग यहां नहीं हुआ है।

लघु ग्रन्थ

इनके अतिरिक्त कुछ लघु ग्रन्थ भी लिखे गये हैं, जैसे स्कन्धादीनगे विभागय, नव अर्हादी बुदुगुणविभागय और विमुक्तिसंग्रहय। ये तीनों ग्रन्थ किसी एक लेखक के हैं। विमुक्ति संग्रह के अन्त में यह लिखा है कि ये ग्रन्थ, पेरादेणिया के विक्रमबाहु १३६९-१३७५ के राजयकाल में लिखे गये जो लंका तिलकविहार का संस्थापक रहा है।

मिलिन्दप्रश्नय

मिलिन्दपञ्हो का सिंहली नाम सद्धर्मादासय है। इसके लेखक हैं सीन टीकुम्बुरे। यह ग्रन्थ सरणंकर की परम्परा से सम्बद्ध है। इसका लेखन केंडी के राजा कीर्ति श्री राजसिंह के राज्यकाल में हुआ। पालि और संस्कृत से यह ग्रन्थ प्रभावित है।

उपासकजनालंकारय

१३ वीं शती में आनन्द थेर ने कोटमले विहार में इसकी रचना पालि में की थी। इसका सिंहली अनुवाद विक्रमराजसिंह के काल में मोरतोट धम्मक्खन्ध महाथेर ने किया। इसमें नव निद्देस हैं। जिनमें सील और धुतांगों की चर्चा हुई है।

बुद्धचरित

अमावतुर

सिंहली भाषा में लिखा यह प्रथम ग्रन्थ है जिसमें तथागत बुद्ध की जीवनी दी गई है। इसके लेखक हैं गुरुलोगोमी। बुद्ध को उन्होंने पुरिसदम्मसारथी नामक गुण के आधार पर वर्णित किया है। इसमें जटिल कथा और ब्राह्मण द्रोण से भेंट जैसी घटनाओं का वर्णन है। इसमें अठारह अध्याय हैं जिनकी विषय सामग्री पालि सुत्तों और अट्ठकथाओं से ली गई है। विशेष रूप से निदानकथा, सरभंगजातक, मातंगजातक, कूटदन्तसुत्त म.नि. कुणालजातक, यक्खसंयुत्त, सक्कपञ्हसुत्त आदि। इसमें जीवनी के साथ-साथ सिद्धान्तों का भी वर्णन हुआ है। प्रदीपिकाव जैसी सुगठित भाषा इसमें भले ही न हो पर पालि उद्धरणों के उपयोग से उसे आकर्षक अवश्य बना दिया है। पादपंकजस्तव का मोहक उद्धरण देखिए -

गण्डस्थलीलुंठितदानमसीनिषेक,
भ्रान्तोन्नद्भ्रमरमण्डलडिण्डिनेन।
क्रोधोष्मसाधिदयता धनपालकेन
पादद्वये प्रणत मार्यधृतांकुशे ति।।

पूजावलिय

इसकी रचना मयूरपाद थेर ने बुद्ध के अरहम् गुण के आधार पर की है। वे स्वयं को बुद्धपुत्र, सुगतोरस, तथागतपुत्र जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं। अभिधम्म विभंगटीका के लेखक सुमंगल के वे भाई थे। इसकी रचना पराक्रमबाहु द्वितीय (१२३०-१२७१) के राज्यकाल में हुई थी। इसमें हत्थवनगल्ल विहार वंस का उल्लेख हुआ है। इसमें ३४ अध्याय हैं। इस पर महायान का प्रभाव दिखाई देता है। अर्हत् प्रत्येकबुद्ध और बुद्ध बनने के मार्ग को यहां स्पष्ट किया गया है। संस्कृत ग्रन्थ नरसीहगाथा का भी उद्धरण हुआ है। भाषा सरल और स्पष्ट है। संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत है। इन सभी अध्यायों के अन्त में एक पालि पद्य लिखा मिलता है -

पूजा विसेसं सह पच्चयेहिं
यस्मा अयं अरहति लोकनाथो।
अत्थानुरूपं अरहंति लोके
तस्मा जिनो अरहति नाममेतं।।

सारत्थ संग्रहय

इसकी रचना सरणंकर संघराज ने की है १७२६ में। इसमें संस्कृत और पालि के उद्धरण बहुत हैं। लक्खणसुत्त, जातकनिदान, बुद्धवंस, महाबोधिवंस, विसुद्धिमग्ग, धम्मचक्कपवत्तन सुत्त आदि से इसकी सामग्री ली गई है। इसे नव अध्यायों में विभक्त किया गया है। संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। यह कृति पूजावलिय से अधिक परिष्कृत है।

श्रीसद्धर्मावबाद संग्रहव

इसकी रचना सरणंकर संघराज के शिष्य सिद्धार्थ बुद्धरक्खित ने १७७३ ई. में की। उन्होंने कथाओं के माध्यम से बौद्ध सिद्धान्तों को समझाने का प्रयत्न किया है। पालि उद्धरण भी यदा कदा दिये हैं। सरणंकर ने 'बुद्धो' की व्याख्या की और बुद्धरक्खित ने 'सत्था' शब्द को अधिक अपनाया। इस ग्रन्थ में १३ अध्याय हैं जिनमें धर्मानिशंसवर्णना, सम्बुद्धगुणवर्णना, सद्धर्मगुणवर्णना, सरणागमन विभागानिशंस, राजधर्मानुशासना आदि का समावेश है। इसमें पूजावलिय और सद्धर्मालंकारय का कोई अनुकरण दिखाई नहीं देता।

सर्वज्ञगुणालंकारय

इसमें तथागत बुद्ध और बोधिसत्त्व के गुणों की चर्चा कथाओं के माध्यम से की गई है। इसमें वुतसरण, पूजावलिय, अलंकारय और रत्नाकरय से सामग्री एकत्रित की गई है। इसमें ३२ अध्याय हैं। इसमें बुद्ध का श्रीलंकागमन और उनका उपदेश दिखाया गया है और अन्त में बौद्धधर्म के विलुप्त होने की बात कही गई है। लेखक का नाम अज्ञात है।

भक्ति साहित्य

त्रिशरण

सिंहल साहित्य में बुद्ध, धर्म और संघ इन त्रिरत्नों पर प्रभूत भक्ति साहित्य

लिखा गया है। ऐसे ही साहित्य में **अमृतावह** का मुख्य स्थान है जिसमें बुतसरण, धम्मसरण और संघसरण ये तीन भाग हैं। इसके लेखक हैं विद्याचक्रवर्ती पराक्रमपण्डित। इसपर गुरुलुगामी के अमावतुर का प्रभाव दिखाई देता है। इसमें मार, अंगुलिमाल, नीलगिरि, नन्दोपनन्द, महाब्रह्म, बत्तीस महापुरुषलक्षण, बोधिसत्त्व के २४ विवरण, ४९ भिक्षुओं की कथाएं आदि का समावेश है। भाषा सरल और प्रवाहमयी है, संस्कृत शब्दों का प्रयोग कम है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में "बुदं सरणं येमि यि बुदसरणं यायुतु" लिखा मिलता है।

उपदेशात्मक साहित्य

सिंहली उपदेशात्मक साहित्य का प्रारम्भ परिच्छेदपोत से होता है जिसके लेखक हैं आगम चक्रवर्ती। इसे धर्मपरिच्छेदय भी कहा जाता है और अववादपरिच्छेदय भी। इसमें पब्बतोपमसुत्त और रट्ठपालसुत्त को भी यहां संमिलित किया गया है। इसमें भिक्षु और उपासक से संबद्ध अनेक कथायें प्रस्तुत की गई हैं। दानपरिच्छेदय, सीलपरिच्छेदय, भावना परिच्छदेय सरणानिसंसय आदि और भी परिच्छेद हैं जिनमें लेखक की भक्ति और श्रद्धा प्रतिबिम्बित होती है।

लेखक यहां बुद्धोत्पाद क्षेत्र रूप श्रीलंका में उत्पन्न होने के लिए अपना सौभाग्य मानता है। उपासक के लिए लेखक बौद्धप्रतिपत्तिय प्रस्तुत करता है। उसने उसकी विषय सामग्री सुत्तपिटक से एकत्रित की है। भाषा और शैली कर्मविभागय से मिलती जुलती है। चार परिच्छेदों में विभक्त यह ग्रन्थ पराक्रम बाहु षष्ठ (१४१०-१४६८) के राज्यकाल में लिखा गया।

बौद्ध कथाएं

सिंहल में बौद्धकथाएं लोककथाओं के रूप में विकसित हुई हैं। उनका सम्बन्ध ईश्वर, महात्मा, पशु, पक्षियों आदि से रहता है जिनके माध्यम से बौद्ध सिद्धान्तों को स्पष्ट किया जाता है। बुद्ध बोधिसत्त्व, यक्ष, देवी, देवताओं से सम्ब्रन्धित ये कथाएं पालि और सिंहल साहित्य में भी अवतरित हो गईं। कतिपय साहित्यिक ग्रन्थ इस प्रकार हैं।

सद्धर्मरत्नावलिय

इसकी रचना धर्मसेन ने लगभग १३ वीं शती में की। इसका उल्लेख पालि गाथा

में भी हुआ है **सद्धम्मट्ठितं इच्छन्तो**। कवि की एक और रचना 'दहंगटय' का उल्लेख मिलता है। सद्धर्मरत्नावलिय का आधार है **धम्मपदट्ठकथा**। इन कथाओं का उपयोग लेखक अपने उपदेशों में किया करता था। उसने कुछ कथाएं मिलिन्दपञ्हो, दीघनिकाय, सुत्तनिपात, पेतवत्थु और बुद्धवंस से भी ग्रहण की है। नागसेन, काष्ठवाहन, सामावती, महाकाल थेर, भट्टकुण्डली, अदिन्नपुव्वक आदि कथाएं पालि साहित्य से ली गई हैं पर उनका अनुकरण शत् प्रतिशत् नहीं हुआ। धर्मसेन ने इन कथाओं को लिखते समय उपमा, रूपक आदि अलंकारों का प्रयोग किया है।

सद्धर्मालंकारय

धर्मसेन की रत्नावलिय और जातक-पोत आदि ग्रन्थों में सुत्तपिटक आदि की अट्ठकथाओं में उपलब्ध कथाओं को संग्रहीत किया गया है। पर कुछ ऐसे भी ग्रन्थ हैं जिनमें श्रीलंका में ही प्राप्त लोककथाओं का संग्रह हुआ है। महावंसटीका में ऐसे संग्रह का उल्लेख **'सहस्सवत्थुप्पकरण'** के नाम से हुआ है। यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। पर उन कथाओं का संग्रह वेदेह की रसवाहिनी और देवरक्षित जयबाहु के सद्धर्मलिंकारय जैसे ग्रन्थों में हुआ दिखाई देता है। देवरक्षित जयबाहु धर्मकीर्ति अपने ग्रन्थ सद्धमोलंकारय को धर्मव्याख्यान के रूप में उद्धृत करते हैं। अलंकारय में **रसवाहिनी** की लगभग सभी कथाओं का समावेश हुआ है। साथ ही पद्मावती और मैत्रेय्य वस्तुव की कथाएं भी। यहां लेखक ने रसवाहिनी की कथाओं को कुछ व्यवस्थित कर दिया है। इसमें २५ अध्याय हैं जिनमें चौथे से पच्चीसवें अध्याय तक १२५ कथाएं हैं जबकि रसवाहिनी में १०३ कथाएं हैं। अन्य कथाओं के साथ कुछ ऐसी भी कथाएं हैं जिनमें नारी जन्म से ही ऐसे प्रयत्न करती है कि वह पुराण दीपंकर बुद्ध के समय निर्वाण प्राप्त कर सके।

जयबाहु धर्मकीर्ति यह स्वयं स्वीकार करते हैं कि उन्होंने अपने ग्रन्थ की विषय सामग्री बौद्ध संस्कृत साहित्य से ग्रहण की और महायानी विचारधारा से वे प्रभावित रहे। उन्होंने शैव सम्प्रदाय के विरोध में भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। वे 'ईश्वर' की विचारधारा से भी असहमत दिखाई देते हैं।

धर्मकीर्ति के गुरु शीलवंस धर्मकीर्ति ने गडलादेनिय में सद्धम्मतिलकविहार का निर्माण कराया। उसने अमरावती में भी एक बुद्ध मन्दिर बनवाया था। उसने पालि ग्रन्थों की भी रचना की थी। जयबाहु धर्मकीर्ति के अन्य ग्रन्थ हैं - **निकायसंग्रहय**,

वालावतर, पालिव्याकरण का अनुवाद और जिनबोधावलि नामक पालि काव्य।

सद्धर्मरत्नाकरय

जय बाहु धर्मकीर्ति के शिष्य विमलकीर्ति ने अपने गुरु का अनुकरण करते हुए 'सद्धरत्नाकरय' ग्रन्थ की रचना की। इसे **सारसंगह** भी कहा जाता है। इसमें पालि ग्रन्थ वनरत्न मेधंकर के जिनचरित, विदेह के समन्तकूटवण्णना और लेखक के स्वयं के ग्रन्थ जिनबोधावलि, सद्धम्मालंकारय और निकाय संग्रहय समाहित है। रत्नाकरय में ३६ अध्याय हैं। उनके अन्त में पालि गाथा मिलती है। प्रथम अध्याय के नाम है प्रकीर्णक संग्रह कथा। इसमें त्रिकाय, चतुरार्यसत्य का वर्णन है। दो से चार अध्यायों में अभिनीहार, पारमिता आदि का वर्णन है। यह ग्रन्थ अनागतवंस, मेत्तेय्यवत्थु, जिनचरित, जिनबोधावली आदि ग्रन्थों पर आधारित है।

जातक कथाएं

श्रीलंका में जब बौद्धधर्म पहुंचा उस समय उसमें बोधिसत्त्व सिद्धान्त नहीं था, मात्र अर्हदावस्था और उसके बाद निर्वाण की प्राप्ति थी। दुट्ठगामणी के विषय में भी महावंस में यही कहा गया कि वह मैत्रेय बुद्ध का प्रमुख उपासक होगा। धीरे-धीरे महायान बौद्धधर्म ने वहां जडे जमाईं और बोधिसत्त्व सिद्धान्त आता गया। बोधिसत्त्व बुद्ध के रूप में सम्मानित होने लगे। चतुर्थ शती के राजा श्रीसंघबोधि को बोधिसत्त्व कहकर सम्बोधित किया गया।

श्रीलंका में जातक कथाएं बहुत लोकप्रिय हैं। जातकट्ठकथा पालि अध्येताओं के बीच एक रुचिकर ग्रन्थ बन चुका है। गुरुलोगोमी अपने अमावतुर ग्रन्थ में २०८ जातकों का उल्लेख किया है। पराक्रमपण्डित ने थूपवंस में पारमिताओं को स्पष्ट करने के लिए उनका उपयोग किया है। बुतसरण, धम्मसरण आदि ग्रन्थों में भी यही स्थिति है। इसलिए लेखक उनका अनुवाद अवश्यकतानुसार करते रहे। संपूर्ण जातक का अनुवाद पराक्रमबाहुचतुर्थ (१३०३-१३३३) के समय हुआ। मेधंकर थेर ने उसे अपने शिष्यों को पढाया। जातकपोत ग्रन्थ लिखा गया। विगुलवत्त शिलालेख में १५ वीं शती वीरसिंह पतिराज और पराक्रम नामक दो मन्त्रियों के नामों का उल्लेख मिलता है जिन्हें जातककथाएं बहुत प्रिय थीं।

पंसियपंसजातकपोत या जातकपोत में पालि जातक जैसी ही क्रमसंख्या रखी गई है। चौबीस विवरण और निदानकथा किसी भी प्राचीन पाण्डुलिपियों में नहीं जुडे हुए

हैं। लगता है, उन्हें बाद में जोडा गया है। सिंहली जातक ग्रन्थ में उम्मदन्तीजातक को संघरक्षित ने अठारहवीं शती में जोडा है। उसमें काव्यात्मक पद्धति को अपनाया गया है। साधारण तौर पर पालि जातकों में प्रारम्भ में कहा जाता है, इसे भगवान् ने जेतवन में कहा। सिंहली जातक ग्रन्थ में इसकी जगह प्रारम्भ में तथागत के गुणों का वर्णन किया जाता है और काव्यात्मक ढंग से श्रावस्ती आदि का वर्णन होता है। भूरिदत्त, विधुर, उम्मग्ग और वेस्सन्तर जातकों की पद्धति ऐसी ही है। सिंहल साहित्य में जातक साहित्य के आधार पर जातकपोत आदि प्रभूत साहित्य का निर्माण हुआ है।

अनागतवंस

अनागतवंस बुद्धवंस का परिपूरक है। उस पर उपसेन ने समन्तमद्दिका नामक टीका लिखी है। उसी पर सिंहली टीका अनागतवंसय के नाम से पराक्रम महाथेर ने लिखी। बोधिवंसय में लिखा है कि पराक्रमबाहु चतुर्थ अनागतवसंय का वाचन किया करता था। इसमें कल्पों की व्याख्या करते हुए मैत्रेय, मुहूर्त आदि अनागत बुद्धों की चर्चा हुई है। मैत्रेय बुद्ध के विषय में की गई भविष्यवाणी रत्नावलिय और पूजावलिय में चर्चित हुई है। मैत्रेय्य-वस्तुव की कथा सिंहल अनागतवंसय के आधार पर लिखी गई है।

विमानवस्तुप्रकरणय

विमानवत्थु पर धम्मरक्खित के शिष्य रत्नपाल ने विमानवत्थुप्रकरणय नामक सिंहल टीका लिखी महाथेर इन्दजोति के आग्रह पर। इसमें पालि टीका में प्राप्त कथाओं को समाविष्ट किया गया है। सिंहल टीका में पालि गाथाएं संमिलित की गई हैं। पालि टीका में ६८ कथाएं हैं पर यहां मात्र ५६ कथाओं का ही आकलन हुआ है। धम्मरक्खित सरणंकर संघराज के शिष्य थे।

ऐतिहासिक साहित्य

विदेशी विद्वानों का कथन है कि प्राचीन भारतीय साहित्यकार इतिहास और परम्परागत कथाओं में अन्तर नहीं कर सके। यह कथन सिंहली साहित्य के सम्बन्ध में नहीं कहा जा सकता। वहां भिक्षुओं ने संस्थानों का सारा रिकार्ड सम्हालकर रखा है। सिंहल में बौद्धधर्म का पहुंचना और वहां के राजाओं द्वारा उसका सहयोग दिया जाना यह सब भिक्षुओं ने साहित्य में अंकित किया है। उदाहरण तौर पर अनुराधपुर के

महाविहार और उसे समर्थन देने वाले दुट्ठगामणी का रिकार्ड सिंहली साहित्य में 'सीहलट्ठकथा महावंस' नामक ग्रन्थ में समाविष्ट है। इसी के आधार पर महानाम ने महावंस लिखा। विनय पिटक की अट्ठकथा समन्तपासादिका ने भी अपनी सामग्री वहीं से ली है। महावंसटीका में कुछ और अट्ठकथाओं का उल्लेख हुआ है, जैसे उत्तरविहार अट्ठकथा, उत्तरविहार महावंस, महाचेतियवंसट्ठकथा और महाबोधिवंसट्ठकथा।

महाविहार का इतिहास पालि में भी अनुदित हुआ है। लगभग छठी शती तक सिंहली भाषा पूरी तरह विकसित हो चुकी थी। पालि और सिंहली ने इस सन्दर्भ में परस्पर आदान-प्रदान किया है। सिंहलथूपवंसय, दळदासिरित धातुवंसय और सिंहलबोधिवंसय, सद्धर्मालंकारय इसके उदाहरण हैं।

थूपवंसय

पराक्रम पण्डित का थूपवंसय कदाचित् प्राचीनतम इतिहास ग्रन्थ है। पोलोन्नरुवा के वाचिस्सर ने संकेत किया है कि पालि महाथूपवंस लिखते समय उनके समक्ष पालि और सिंहली ग्रन्थ सामने थे। इन दोनों की आधार भूमि थी महावंसटीका की महाचेतियवंसट्ठकथा। यहां महाथूप का तात्पर्य है रतनमालीचेतिय। सरणंकर (१८ वीं शती) ने उसका उल्लेख किया है।

यह अधिक संभव है कि जब वचिस्सर ने 'थूपवंस का पुनर्लेखन किया तब उसने समसामयिक अनेक थूपों का भी उल्लेख किया है। थूपवंस का उपयोग वस्तुतः महोत्सव में संमिलित श्रद्धालुओं को आकर्षित करने के लिए किया जाता था। रूपनवालिसाय के दक्षिणी भाग पर एतद्विषयक एक शिलालेख भी उत्कीर्ण हैं।

पराक्रमपण्डित का थूपवंसय वाचिस्सर के पालि **थूपवंस** का मात्र अनुवाद नहीं हैं उसमें कुछ ऐसी घटनाओं का भी उल्लेख है जो पालि थूपवंस में नहीं मिलती। दोनों ग्रन्थों में चौबीस बुद्धों का और चूडामणिथूप तथा दुस्सथूप का वर्णन उपलब्ध है। बोधिसत्त्व के जन्म से लेकर बोधि प्राप्ति तक का वर्णन वाचिस्सार ने संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत किया है। जबकि पराक्रम ने उसे विस्तार दिया है। अध्यायों में भी दोनों ग्रन्थों में अन्तर है। थूपवंसय की भाषा बडी काव्यात्मक है। राजकुमार तेमिय का वर्णन अलंकारात्मक अधिक है। थूपवंसय के लेखक को कदाचित् इसीलिए सकल विद्याचक्रवर्ती पराक्रम पण्डित कहा गया है।

पराक्रमबाहु द्वितीय के काल में भी ऐतिहासिक साहित्य लिखा गया। अत्तंगलविहार का इतिहास उसी के राज्यकाल में लिपिबद्ध हुआ। प्रथमतः वह पालि में लिखा गया और बाद में लगभग १५० वर्ष बाद सिंहली में आया। इसी तरह दम्बदेणी-अस्न में दम्बदेनिय और चन्द्रभानु के बीच हुए युद्ध का विवरण है। अत्तंगलवंसय और पूजावलिय में कुछ अन्तर अवश्य है। इसमें सांस्कृतिक सामग्री भी भरी पडी है। इसी तरह कण्डवुरु-सिरित में राजा की दैनिक क्रियाओं का वर्णन हैं। इस पर ब्राह्मणिक क्रियाओं का प्रभाव दिखाई अवश्य देता है पर हम नरेश को बौद्धधर्म का पालन करता हुआ भी पाते हैं।

दन्तधातु का इतिहास

सिंहल साहित्य में दन्तधातु का इतिहास लेखन बहुत हुआ है। कलिंग देश से कीर्तिश्रीमेघवर्ण के समय सिंहल देश में बुद्ध की दन्तधातु पहुंची। उस दल में दन्तकुमार और हेममाला संमिलित थे। इसका वर्णन धर्मकीर्ति के पालि दाठावंस में उपलब्ध है और सिंहली सन्ने में भी। पूजावलिय, दम्बदेणी-अस्न और पालि हत्थवनगल्लविहारव में भी इसका वर्णन है। ये सभी रचनाएं पराक्रम बाहु द्वितीय के काल की हैं। नरेश पराक्रमबाहु चतुर्थ (१३०३-१३३३) ने दन्तधातु के लिए एक भव्य मन्दिर भी बनवाया।

दडदासिरित में दन्तधातु के स्थापनकाल में किये गये कर्मकाण्ड का वर्णन है। इसका लेखक है देव्रददम्पसिंगिनावन। पराक्रमबाहु भी उसमें संमिलित हुआ था लगभग १३२५ ई. में। इस ग्रन्थ में सात अध्याय हैं जिनमें प्रथम पांच अध्याय दन्तधातु उत्सव से संबद्ध हैं। शेष दो में उत्तरकालीन घटित घटनाओं का आलेखन हुआ है। तदनुसार खेम कलिंग देश के नगर दन्तपुर जाता हैं. यहां नाटकीय ढंग से यह बताया जाता है कि निगण्ठ इसके विरोध में थे। पाण्डुक ने खीरधार को पराजित किया और गुहासिव को दन्तधातु देकर उसे कलिंग वापिस भेजा। सिंहली ग्रन्थ में इसका विस्तृत वर्णन उपलब्ध है।

इसकी भाषा संस्कृतमिश्रित है और काव्यात्मक भी। दाठावंस और महावंस से पालि गाथाएं उद्धृत हुई हैं। जिनचरित और जिनालंकार का भी प्रभाव यहां दिखाई देता है। दन्तधातु का इतिहास कीर्तिश्री राजसिंह तक चलता रहा जैसा दळदावंसय से प्रगट होता है। दळदाहटन नामक एक और भी ग्रन्थ है जो इस विषय से सम्बद्ध है। यहां निगण्ठों के अस्तित्त्व का प्रमाण श्रीलंका में जैनधर्म के अस्तित्व का विशेष साक्षी है।

धातुवंसय

ललाटधातुवंसय या धातुवंसय के लेखक ककुसन्ध थेर। पालि में उसे धातुवंस कहा गया है कदाचित् इसलिए कि इसका सम्बन्ध अन्य धातुओं से भी रहा है। इसके अनुसार ललाटधातु रुहुण के मन्दिर में रखी गई थी। महावंस में इसका उल्लेख नहीं है। रसवाहिनी में इसका उल्लेख अवश्य है।

धातुवंसय के प्रथम अध्याय में कहा गया है कि तथागत बुद्ध ने श्रीलंका की तीन यात्राएं की और नागराजा सुमन उनके साथ थे इस यात्रा में। बाद में उन्होंने सेरुविल की रक्षार्थ कुछ नागों को नियुक्त किया जहां धातु की प्रतिष्ठा की जानी थी। इसमें रुहुण के शासक और साधुओं का इतिहास दिया गया है। ललाटधातु देवानंपिय तिस्स के भाई महानाग के राजकाल में श्रीलंका में लायी गई। उससमय वह मगध का राजा था। इसके लिए उसके उत्तराधिकारियों द्वारा भी दान दिया जाता रहा। काकवण्णतिस्स ने मलय देश के सेरुविल में दागव मन्दिर स्तूप के रूप में बनवाया। अनेक चमत्कार उस समय हुए। इस ग्रन्थ में यह भी लिखा है कि कदरगम में गोठाभय ने दस राजाओं का बध किया। भाषा आदि के माध्यम से इस ग्रन्थ को १३-१४वीं शती में रखा जा सकता है।

बोधिवृक्ष का इतिहास

श्रीलंका में बौद्धधर्म पहुंचने के बाद अनुराधपुर में बोधिवृक्ष लगाया गया। महाबोधिवंस टीका में महाबोधिवंस अट्ठकथा का उल्लेख आता है। महाबोधिवंस की रचना दसवीं शती में उपतिस्स ने की। यह मूल ग्रन्थ पालि में है पर इसमें सिंहली शब्दों का प्रयोग किया गया है। गुरुलोगोमी ने धर्मप्रदीपिकाव की रचना इसी के आधार पर की और विल्गुम्मुल संघराज ने उसे सिंहली में लिखा पराक्रम बाहु चतुर्थ के राजकाल में।

विल्गुम्मुल के पराक्रम बाहु महासामी ने सिंहली में सिंहलबोधिवंसय और सूर्यशतकसन्ने तथा अनागतवंसय की रचना की। लेखक केलनिया के कित्सरिमेवन विहार का प्रमुख था। १३३३ ई. का वहां एक लेख भी मिलता है। सूर्यशतकसन्ने के अनुसार पराक्रमबाहु महास्थविर गलतुरुमुल संघराज के शिष्य थे। पालि रचना **वुत्तमालासन्देस शतक** के लेखक उपतपस्सी दादिगम संघराज के शिष्य थे। अभिधानप्पदीपिका के रचयिता मोग्गल्लान विल्गम्मुल या सरसिगामसमूह सम्प्रदाय के थे। उपतिस्स के पालि ग्रन्थ का सिंहल में अनुवाद किया विल्गम्मुल ने। उपतिस्स का यह पालि काव्य **बोधिवंसय** संस्कृत कादम्बरी के समान आलंकारिक भाषा में है।

अत्तंगल विहार का इतिहास

अत्तंगल विहार का इतिहास **अत्तंगलविहारवंस** नामक ग्रन्थ पालि में दम्बदेणिय के पराक्रमबाहु द्वितीय के राज्यकाल में लिखा गया। पालि का यह ग्रन्थ अवदान शैली में है। महाबोधिवंस से भी अधिक काव्यमय है। जातकमाला से यह अधिक प्रभावित है। इसी का सिंहल अनुवाद ''अत्तंगलुवंससन्ने'' १३९२ ई. में किया गया। अनुवादक का नाम अज्ञात है। इसकी रचना शत्रुसिंहकुंजर नामक सेनापति के आग्रह पर हुई। पूजावलिय और निकायसंग्रह का प्रभाव इस पर दिखाई देता है। एक और **हत्थवंगल्लविहारवंस** का सिंहली अनुवाद वीदागम के थेर मैत्रेय का भी मिलता है।

बौद्धधर्म का इतिहास

निकाय संग्रह

बौद्धधर्म के इतिहास की दृष्टि से निकायसंग्रह या शासनावतारय का विशेष महत्त्व है। इसकी रचना गडालादेणिय के जयबाहु देवरक्खित ने की थी। इसमें प्रारंभ से १३७५ ई. तक का बौद्ध इतिहास दिया गया है। इसमें उन कठिनाईयों का भी उल्लेख है जिनका सामना उसे करना पडा है। चरित्रहीन भिक्षुओं का बहिष्कार, वज्री साधुओं में यश का निष्कासन, कालाशोंक का समय, धर्माशोक के समय मोग्गलिपुत्ततिस्स का निष्कासन, वैतुल्य सिद्धान्तों का खण्डन और व्यवहार तिस्स का विरोध आदि घटनाओं का उल्लेख इस ग्रन्थ में हुआ है। वीरबाहु द्वितीय ने भिक्षु संघ की शुद्धि का यथाशक्य प्रयत्न किया। जयबाहु थेर ने संघ का नेतृत्व धर्मकीर्ति के नाम से किया।

निकाय संग्रह में इन सब घटनाओं का उल्लेख होते हुए भी बोधिवृक्ष और सिंहल में बौद्धधर्म के उदय जैसी ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख नहीं मिलता। इसका कारण यह हो सकता है कि लेखक का मात्र उद्देश्य था - मात्र विरोधी घटनाओं का उल्लेख करना। लेखक ने अपनी विषय सामग्री कतिकावत से एकत्रित की है और महावंसटीका से भी। इसकी भाषा में तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है।

धर्मकीर्ति के शिष्य विमलकीर्ति ने **निकायसंग्रह** में उल्लिखित घटनाओं का आलेखन अपने सद्धर्मरत्नाकरय में किया है और पराक्रमबाहु चतुर्थ तक का विवरण दिया है। इसी तरह सुलुपूजावलिय में पूजावलिय के आधार पर १५० राजाओं का विवरण दिया गया है। यह ग्रन्थ पालि में रचा गया ८०० गाथाओं में सिद्धत्थ बुद्धरक्खित द्वारा।

उपसंपदा कार्यो का भी विवरण इसमें मिलता है।वील-वागेदर पण्डित मुदियन्से के नेतृत्व में एक दल श्यामदेश गया जिसका उल्लेख स्यामसन्देश वर्णनाक ग्रन्थ में मिलता है। संस्कृत भाषा का प्रभाव इस ग्रन्थ पर दृष्टव्य है। विजयराजसिंह (१७३९-१७४७) और कीर्तिश्री राजसिंह (१७४२-१७८२) ने इस दल को आश्रय दिया था इस उद्देश्य से कि यह दल श्याम में जाकर वहां भिक्षु संघ को स्थापित करे। इसी प्रकार का एक अन्य ग्रन्थ **'स्यामोपसम्पदावत'** भी उल्लेखनीय है जिसके लेखक तिब्बतुवावे सिद्धार्थ बुद्धरक्खित ने इस घटना का विस्तृत विवरण दिया है। इसमें विलवागेदर का भी उल्लेख है जो इस दल में श्याम देश गया था। इसमें उपसंपदा आदि कार्योका विवरण दिया गया है।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी ग्रन्थों का उल्लेख किया जा सकता है जिनमें १८ वीं शती तक बौद्धधर्म के पुनरुत्थान की चर्चा की है। इन ग्रन्थों में सासनावतर्णय और संघराज साधुचर्याव विशेष उल्लेखनीय है।

नरेशों का इतिहास

सिंहली राजवंशों के इतिहास की दृष्टि से राजरत्नाकरय और राजावलिय विशेष महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। राजरत्नाकरय की रचना बलंपाय महाथेर ने की जो अभयराजपरिवेण के प्रधान थे। उन्होंने केन्द्री के राजा वीर विक्रम के योगदान पर विशेष चर्चा की है। लेखक ने इसमें दाठावंस, महाबोधिवंस, रसवाहिनी, धर्मप्रदीपिकाव, निकायसंग्रह और महावंस से सामग्री एकत्रित की है।

राजावलिय में विमलधर्मसूर्य द्वितीय तक के बौद्धधर्म का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। राजावलिय के अनेक संस्करण हुए हैं, जेसे वन्निराजवलिय। इसमें रावण का भी उल्लेख है। फिर सिंहबाहु, सिंहवल्हि, विजय, कुवेनी, पराक्रमबाहु आदि का विस्तृत उल्लेख हुआ है। पोर्तुगीज आदि का भी उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ की भाषा अधिक आलंकारिक नहीं है। ब्रिटिश राज्य के पूर्व तक का इतिहास इसमें दिया गया है।

राजावलिय से अधिक विशदतर इतिहास मिलता है सुलुराजावलिय में। इसमें सिंहल के प्रथम नरेश विजय से लेकर श्री विक्रमराजसिंह तक का विवरण है। इसमें तमिल आक्रमणों का भी विस्तृत विवरण है जिनसे बौद्धधर्म पर जबर्दस्त आघात हुआ है। राजा दुट्ठगामणी ने उन आघातों को दूर किया और तमिल आक्रमणकारियों को मार भगाया और अनुराधपुर को वापिस लिया। हजारों विहारों का निर्माण उसने कराया।

इसकी रचना संघराज सरणंकर के शिष्य द्वारा हुई। इसमें श्री विक्रमराजसिंह तक का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। ब्रिटिश राज्य के पूर्व तक। बाद में ब्रिटिश लोगों ने उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। यहां यह भी कहा गया कि विक्रमराज सिंह ने बौद्धधर्म का विनाश किया, मन्दिर तोडे, भिक्षुसमुदाय का वध किया।

सुलुराज विलय से भी अधिक विस्तृत विवरण मिलता है नरेन्द्र चरितावलोकन प्रदीपिकाव में जिसके लेखक हैं असगिरिविहार के महाथेर यटनवल। इसमें ८८ अध्याय हैं जिसमें प्रारम्भ से लेकर अन्त तक सिंहल का इतिहास वर्णित है। नरेशकीर्ति श्री राजसिंह तक का वर्णन महावंस पर आधारित है और बाद की सामग्री अन्य ग्रन्थों से ली गई है। १८१५ ई. तक का वर्णन इसमें दिया गया है।

छोटी-मोटी ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख वित्तिपोत में हुआ है। ऐसे ग्रन्थों में बम्बुप्पत्तिय, जनवंसय, बुद्धराजवलिय, कुरुणंगलविस्तरय, यापानुवरविस्तरण विशेष उल्लेखनीय हैं।

पद्य काव्य

प्रारम्भिक सिंहली, संस्कृत एवं पालि काव्य

प्रारम्भिक सिंहली काव्य

काव्य को गद्य का पूर्ववर्ती माना जाता है। सिंहली साहित्य की भी यही स्थिति है। यहां भी काव्य को गद्य से अधिक सम्मान दिया गया है। यहां की प्राकृतिक सुषमा ने पद्य को जन्म दिया है। लगभग प्रथम शताब्दी ई.पू. में यहां के ब्राह्मी शिलालेखों में सर्वप्रथम एक पद्य का उपयोग हुआ है। यह शिलालेख तिस्समहाराम में ओक्टागोनल स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। परमजोतिका अट्ठकथा में कहा गया है कि सिंहली महिलाएं खेत में काम करते समय यह पद्य बुद्धगीत के रूप में गाया करती थीं। श्रीलंका में दन्तधातु के आगमन पर वहां सिंहली में एक गीत तैयार किया गया था। अग्गबोधि प्रथम (५६८-६०१) के काल में बारह कवियों का उल्लेख आता है - सकदामल, असकदामल, दमि, बाविरी, डलविसो, अनुरुत, डलगोट, डलसल, कितसिरि, पुरवडु, सूरियबाहु और कसुवुकोटापा। इन कवियों में कुछ कवियों के उल्लेख उत्तरकालीन साहित्य में प्राप्त होते हैं। सिदतसंगरा के समय तक सन्देश काव्य प्रचलित हो चुका था। मेघदूत, जानकीहरण आदि संस्कृत काव्यों का भी अनुवाद सिंहली में हुआ है।

पालि काव्य

पालिकाव्यों में वनरत्न मेधंकर के **जिनचरित** का अनुवाद जिनचरितसन्नय (१२०० ई.) सारिपुत्त के शिष्य धर्मकीर्ति थेर ने **दाठावंस** का अनुवाद दाठावंसन्नय के नाम से आनन्द थेर ने **सद्धम्मोपायन** का अनुवाद सद्धम्मोपायनसन्नय के नाम से किया है। मुवदेवतावत, सस्सदावत और कसिलुमिना के नाम भी काव्य रूप में आते हैं। इनमें सस्सदावत बौद्ध स्तोत्र है जिसे काव्यतिलकय कहा जाता है।

अलंकृत काव्य

सिंहली में जातकों पर आधारित अलंकृत काव्यों की अच्छी संख्या है। ऐसे काव्यों में मुवदेवतावत काव्य मखादेवजातक पर आधारित है जो एक खण्डकाव्य जैसा है। इसमें १६५ पद्यों में बुद्ध के अतीत जीवन के मूल्यों पर प्रकाश डाला है। अन्तिम छन्द गजगामी छन्द में और शेष पद्य योगी छन्द में अनुस्यूत हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और अनुप्रास अलंकारों का अच्छा योग है।

संसजातक पर आधारित सस्सदावत या काव्यतिलकय में १९३ पद्य हैं जिनमें बुद्ध, श्रावस्ती, जेतवन विहार, बौद्ध सिद्धान्त आदि विषयों पर आलंकारिक विवेचन है। जातकट्ठकथा, जातकमाला और जातकस्तव से यह कथा प्रभावित है। सेनापति कीर्ति (११९७-१२००) के समय इस काव्य की रचना हुई है।

सिंहली महाकाव्य के रूप में 'कवसि लुमिणी' का नाम उल्लेखनीय है। इस काव्य में १५ सर्ग हैं। इसके रचयिता हैं पराक्रमबाहु द्वितीय। जिन्होंने इसे कुसदावत नाम दिया है। यह काव्य कुसजातक पर आधारित है। महाकाव्य की दृष्टि से इसकी कथा में कुछ परिवर्तन किया गया है। इसमें युद्ध के दृश्य हैं, पवित्रात्मा के विरोध में किये गये पाप कर्मो को भी यहां छोड दिया गया है। पराक्रमबाहु षष्ठ के समय तोटगमुव कवि ने काव्य शेखरय की रचना की जो तथागत बुद्ध के अतीत जन्म पर आधारित है। सन्तुमस्तजातक के वाराणसी राजा के मन्त्री सेनक को केन्द्र में रखकर कवि राहुल ने अपना काव्य लिखा है। इसमें १५ सर्ग हैं जिनमें तीन राजाओं का वर्णन है - श्री पराक्रम, कोसल राजा और जनक। कवि ने वृद्ध ब्राह्मण का अच्छा चित्रण किया है। यह काव्य १४४९ ई. में रचा गया।

सिंहली पद्यों में जातक कथाएं

सिंहली कवियों ने जातकों पर आधारित पद्य भी लिखे हैं। कुछ तो उनमें कवसिंहगिणा तथा काव्यशेखरय की श्रेणी के अलंकृत पद्य हैं और कुछ कम अलंकृत हैं। ऐसे काव्यों में 'गुत्तिलकाव्यय' एक अज्ञात कवि की रचना उल्लेखनीय है जिसमें बोधिसत्त्व गुत्तिल या संगीतकार के रूप में प्रस्तुत केयगये हैं। यह काव्य श्रीपराक्रमबाहु के मन्त्री जयपाल के आग्रह पर लिखा गया। इसमें तथागत बुद्ध की स्तुति तथा देवदत्त के रूप में मूसिल पात्र को प्रस्तुत किया गया है। इसमें राजा के समक्ष गुरु और शिष्य के बीच संगीत की प्रतिस्पर्धा हुई है। बाद में कुशलकर्म करने का उपदेश दिया गया है। यह उपदेश गुत्तिलय ने किया है जो तथागत बुद्ध का प्रतिनिधित्व कर रहा है। यह काव्य अधिक अलंकृत नहीं है।

अलगियवन्न का कुसदाकव एक अलंकृत काव्य है। सीतावक के राजसिंह का यह दरबारी कवि है। इसने भी कवसिड्डमिणा की कथा को प्रस्तुत किया है। कवि ने राजसिंह के मन्त्री अर्थनायक की पत्नी माणिकसामी के लिए लिखा गया। उसकी प्रशंसा इसमें अधिक है। इसमें नगर, राजा तडाग, उद्यान आदि का वर्णन है। इसमें युद्ध का वर्णन नहीं है। लगता है, कवि मुकवाटी था। उसके पिता अच्छे विद्वान और धर्म के ज्ञाता थे, धर्मध्वज थे जो राजसिंह के दरबार में थे। अन्तिम पद्य से पता चलता है कि यह काव्य १६१० ई. में समाप्त हुआ। इसी समय एक अन्य कवि ने बोधिसत्त्व की पत्नी यशोधरा को प्रस्तुत किया जो पूर्व जन्म में किन्नरी थी। यह कथा चण्डकिन्नरजातक पर आधारित है। इस काव्य को 'सन्दकिन्दुरिदाकव' कहा जाता है। किन्नरी के मृत पति पर लिखे गये पद्य अधिक संवेदनशील और हृदयस्पर्शी रहे हैं। यह काव्य देनगमुवविहार के विलगंमुल सम्प्रदाय के कवि की रचना है जो १६-१७वीं शती में लिखी गई।

एक अन्य काव्य गामणीचण्डजातकय भी उल्लेखनीय है जिसे यतवत्ते ने १७०३ में लिखा। यह काव्य गामणीचण्डजातक पर आधारित है। सलावत के मन्त्री जयपाल के आग्रह पर लिखा गया यह काव्य बोधिसत्त्व के जीवन को प्रस्तुत करता है। इसकी भाषा सरल है। इसमें चार वृत्तों का उपयोग किया गया है - सिवुपद, वसन्त, पदक और समुद्रघोष। इसमें २३७ पद्य हैं।

कवि मातर ने मणिचोरजातक के आधार पर १७१४ में एक काव्य लिखा जो कुसदाकव जैसा दिखाई देता है। इसी तरह केन्डी के नरेन्द्रसिंह के राजरूकाल में गन्नोरव

के थेर महासेन ने सुमुगुडाकवनामक काव्य समुद्रजातक के आधार पर लिखा। कवि वटपुलव के शिष्य थे।

दक्षिण श्रीलंका के राजा नरेन्द्रसिंह के राज्यकाल में तीन अलंकृत काव्य लिखे गये - कवमिणिकोण्डोल, कविमिणिमलडम और कवमुतुहर। कवमिणिकोण्डोल के रचयिता समरजीव हैं जिन्होंने उसे ७२१७ पद्यों में पूरा किया है। यह काव्य जयद्दिसजातक पर आधारित है और उसे अभयसिरिवर्धन के आग्रह पर लिखा गया है। यह काव्य अलंकृत काव्य है।

समजीव के एक प्रतिस्पर्धी कवि दिसनायक ने सोणकजातक के आधार पर कवमिणिमलदम काव्य की रचना की। इसमें ७२४ पद्य हैं। समरजीव के काव्य से यह कम अलंकृत है। कवमुतुहर काव्य के रचयिता हैं सालियले मणिरतन थेर जिन्होंने अपनी विषय सामग्री दशरथजातक से ली। इसमें ७३२ पद्य हैं जो २४ अध्यायों में विभक्त हैं। यह भी एक अलंकृत काव्य है। कवि यह काव्य उपर्युक्त दो काव्यों से भिन्न दिखाई देता है। इसकी भूमिका कुछ अलग ही है। अभयरत्न का पुत्र डिंगी अप्पुहामि बाल्यावस्था में ही काल कवलित हो गया। उसके दुःखी पिता ने मणिरत्न से निवेदन किया कि वे उसके पुत्र की स्मृति में एक काव्य रचना कर दें। मणिरत्न ने यह अभ्यर्थना स्वीकार कर ली और इस काव्य की रचना कर दी। कवि ने इसकी रचना १७७८ ई. में की।

इसी समय बुद्धरक्खित ने काव्यदीपनिय काव्य लिखा जिसमें ९६० पद्य हैं। इस काव्य का आधार रहा है सुत्तसोमजातक। इसमें ९६० पद्य हैं। इनकी रचना कीर्तिश्री राजसिंह के राज्यकाल में हुई १७७८ ई.। इसमें एकाक्षरबन्धन का प्रयोग हुआ है।

केन्डी के राजा राजाधिराजसिंह ने असदिसजातक के आधार पर 'असदिदाकव' काव्य की रचना की। इसमें ६०३ पद्य हैं जिन्हे छह सर्गो में विभाजित किया गया है। राजा धम्मरक्खित थेर का मित्र था। इस काव्य में अदिस के रूप में बोधिसत्त्व को स्थापित किया है।

राजाधिराजसिंह के राज्यकाल में ही किरिमाटियावे नामक कवि ने सुदस्सनजातक को पद्यबद्ध किया। इसमें १९८ पद्य हैं जिनकी रचना १७८५ ई. में हुई। सिंहल इसी कवि का मिलता है। अन्य कवियों का सिंहली बौद्ध साहित्य भी उल्लखनीय है, जैसे धर्मकीर्ति का कालिंगबोधिजातककव (१७९९ ई.) धम्मानन्दथेर का

देवधम्मजातक और संबुलाजातक (१८८४ ई.), धम्मक्खन्धथेर का अन्धभूतजातक (१८२६ ई.) सुमितथेर का कवमिणिरिंदम पंचायुधजातक (१८३२ ई.), सुमनथेर का कवमिणिपहण, का दीघतिकोसलजातक १८४० ई. विधुरजातक ४६७ पद्य, वेस्सन्तरजातक काव्यय, हत्थिपालजातक, महामुग्गजातक, उम्मग्गजातक काव्यय २००० पद्य, कण्टहालजातकय, महाकण्ठजातकय आदि। ये सभी रचनाएं राजाधिराजसिंह के राज्यकाल में लिखी गई हैं।

धार्मिक साहित्य

मात्र जातक ही नहीं, सिंहली में अन्य बौद्ध कथाओं को भी साहित्य रचना का विषय बनाया गया है। जैसे - विदेह की रसवाहिनी, धर्मकीर्ति की सद्धर्मालंकारय, अलगियवन्न का दहंसोण्डकव (१६३ पद्य, १९१७ ई.) सत्कोरले का आलवकदमनय ४४७ पद्य, पालि से सिंहली में अनुदित, किरम धम्मान्नद का कवमुतुहर और नन्दिय वेलन्द कथाव आदि।

जातक के अतिरिक्त रामायण-महाभारत का विषय भी सिंहली साहित्य में ग्रहीत हुआ है, जैसे कोव्वाकुडुव ने महाभारत को जातक बनाकर महापदरंगजातकय नाम से एक काव्य लिखा जिसमें १५१४ पद्य हैं। इसी तरह रामरावण को भी सिंहली कवियों ने अपने साहित्य में उतारा है।

सिंहली सन्देश काव्य

कालिदास के मेघदूत ने सिंहली कवियों को भी आकर्षित किया पर उन्होंने उस विचार स्पन्दन को दूसरी ओर मोड दिया और मेघ जैसे अजीव पदार्थ के स्थान पर पक्षी जैसे सजीव तत्त्वों को अपना माध्यम बनाया। ऐसे माध्यम में प्राचीनतम उल्लेख है **मयूरसन्देश**। इसके उद्धरण अवश्य मिलते हैं। सिंहली व्याकरण सिदतसंगरा में। संयोग से यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध सिंहली सन्देश काव्यों में प्राचीनतम काव्य है तिसरसन्देशय जिसमें राजहंस को दूत बनाया गया है। इसके लेखक कोई भिक्षु है जो ईश्वर उपुल्वन से, भिक्षुओं की रक्षा के लिए प्रार्थना करता है। इसमें समुद्रघोषा, खन्जा, वसत, नड्गाह, तोटक, पदक, कमला आदि अनेक छन्दों का प्रयोग हुआ है। एक अन्य मयूरसन्देशय भी मिलता है जो भुवनेकबाहु पंचम (१३६०-१३९१) के राज्यकाल में

लिखा गया था। इसी तरह हंससंदेशय, परेवीसन्देशय, साललिहिणीसन्देशय, गिरासन्देशय, सव्वुलसन्देशय, कोकिला, कहकुरुलुसन्देशय, नीलकोबुलसन्देशय, कटकिरिलिसन्देशय, दियलसव्युलसन्देशय, किरलसन्देशय, अष्टनारीसन्देशय आदि उत्तम कोटि के सन्देश काव्यों का परिचय मिलता है। इन काव्यों में प्रत्यक्ष/अप्रत्यक्ष रूप से पालि/बौद्ध साहित्य/दर्शन की चर्चा हुई है।

शिक्षात्मक पद्य

सिंहली साहित्य में ऐसे भी ग्रन्थ हैं जो प्राणि मात्र को नैतिक शिक्षा देने के लिए लिखे गये हैं। उदाहरणार्थ धर्मसेन का दहंगटमालय (१३ वीं शती) मैत्रेय थेर का लोवडसंग्रहाव (१४ वीं शती)। सुभाषितय, लोकोपकारय, वदंकविपोत, अनुरागमलय, दानमितिमलय, मोदामलय आदि अनेक ग्रन्थ हैं जिनमें इसी प्रकार के पद्य पिरोये गये हैं।

प्रशस्ति साहित्य

सिंहल कवियों को वहां के राजा आश्रय देते रहे हैं और कवि उनकी प्रशंसा करते रहे हैं। प्रशंसा में लिखित ऐसे काव्यों में प्रमुख काव्य इस प्रकार हैं - राहुल का काव्यशेखर, गुत्तिलकाव्यय, अलगियवन्न, दहंसोण्डकव। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे काव्य हैं जो पूर्ण रूप से प्रशस्ति काव्य कहे जा सकते हैं - जैसे दगडिगम का पराक्रमबाहु (१४० पद्य), विक्रमसिंह अदिकारन वर्णनाव ६५ पद्य, कुस्तन्तीनुहटन, महहटन, श्रृंगारालंक, नरेन्द्रसिंह राजस्तुति, वडिगहहटन आदि अनेक ग्रन्थ इनके अतिरिक्त अज्ञातकर्तृक पराकुम्बासिरित भी उल्लेखनीय हैं।

बुद्ध स्तोत्र साहित्य

तथागत बुद्ध के प्रति व्यक्त भक्ति गीत भी सिंहली साहित्य में बहुत मिलते हैं इसे स्तोत्र साहित्य कह सकते हैं। गुरुलोगोमी का पादपंकजस्तव, रामचन्द्र भारती का भक्तिशतक या बुद्धशतक संस्कृत में उपलब्ध हैं। सिंहली में वीदागम मेतेय्यथेर का बुद्धगुणालंकारय (१५५८ ई.), मणिरत्न का प्रातिहार्यशतक, संघरक्खित का तेरुवनमाला, धम्माराम थेर का वरनमगवसक, अज्ञातकर्तक तुन्सरणय विशेष उल्लेखनीय हैं। इन स्तोत्रों की भाषा अलंकृत है और संस्कृत से प्रभावित है। इनमें तथागत बुद्ध के गुणों की महिमा गायी गई है।

प्रेमाख्यानक काव्य

सिंहली साहित्य में अनेक सुन्दर प्रेमाख्यानक काव्य हैं जिनमें अपनी प्रेमिका के प्रति अगाध प्रेम व्यक्त किया गया है। वियोवगरतनमालय के लेखक समरजीव पत्तायामे लेकम ने अपनी प्रेमिका के वियोग में १२८ पद्यों में यह काव्य लिखा है जिसमें जातकों के आधार पर बताया है कि बोधिसत्त्वों को भी ऐसे ही दु:ख सहना पडे हैं। समरजीव का ही रतवतीकथाव है जो उम्मग्गजातक पर आधारित है।

समरजीव के ही समकालीन कटुवा ने दिशानायक मकरध्वजय नामक शतक लिखा। एक अज्ञानकर्तृक काकोवुलसक (८२ पद्य) भी प्रसिद्ध है। गसकोन और रानी राजसिंह के बीच हुए प्रेम को भी सिंहली पद्यों में कैद किया गया है। गजनायक नीलमे द्वारा लिखित 'रतिरत्नारय' में २६३ पद्य हैं जो कामशास्त्र से प्रभावित हैं। कोराला ने भी रतिरत्नालंकारमा की रचना की। ऐसे और भी ग्रन्थ हैं जो प्रेमाख्यानक कहे जा सकते हैं।

विविध काव्य

धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त सिंहली में ऐतिहासिक और कथात्मक साहित्य भी उपलब्ध है। ऐतिहासिक साहित्य पालि में लिखा गया पर बाद में सिंहल कवियों ने लोककथाओं का उपयोग कर उसे सिंहली में भी निर्मित किया। सिंहली जाति के संस्थापक के विषय में प्रचलित कथा को कुवेनियासन, सीहवासन, राजावलिय और विजेराजकथाव ग्रन्थों में देखा जा सकता है। इसी कथा को किरम धम्मानन्द ने सियवासमल्दम ने १८२० ई. में २२९ पद्यों में लिखा। इसी के आधार पर सीहवल्लीकटाव की भी रचना की गई। दलदाहटन, दाठागोत्रप्रदीपय, दलदासिरित काव्य तथागत बुद्ध की दन्तधातु से सम्बद्ध हैं। कुछ काव्य ऐसे भी हैं जो जीवन वृत्तान्त लिये हुए हैं।

बौद्ध कथाएं

जातक और अन्य बौद्ध कथाओं के आधार पर भी सिंहली साहित्य निर्मित हुआ है। उदाहरणार्थ वेस्सन्तर जातक के आधार पर वेसन्तरहल्ल ९५ पद्य, और सिद्धन्तजातक के आधार पर सिद्धन्तहल्ल लिखा गया। इसी तरह पिरिनिवन्मंगल्लय, देवदत्तकथाव, अलवुकथाव, अलसाहल्ल, यशोदरावत, दहम्मिणिक्कमवर्णनाव, वस्तुलंकारय आदि काव्यों में बुद्धचरित लिखा गया। देवी पत्तिनि सिंहल में बहुत पूज्य मानी गई है। उस पर भी काफी साहित्य निर्मित हुआ है। तमिल काव्य शिलप्पदिकारम और मणिमेकलई में

कन्नकी और कोवलन इन दो देवियों का उल्लेख आता है जिनका प्रभाव देवी पत्तिनी पर दिखाई देता है। तिसिंहल कवितिलक का वयन्तीमालयदेवी पत्तिनी और कोवलन के बीच हुए प्रेम का वर्णन करता है। इस कथा से सम्बद्ध और भी अनेक काव्य हैं तथा अनेक प्रकार के देवी देवताओं के प्रति व्यक्त भक्ति काव्य और भी लिखे गये। उनसे कुछ काव्य ऐसे भी हैं जो तथागत बुद्ध के गुणों का गान करते हैं, जैसे मुणिगुणसिरसपादय, कपुंसिरसपादय, दीपंकर सिरस पादय, सुबमंगुसांतिय, सत्‌दिन, तिथिपसलोस, होराहत, दोलोस्रासिय, मलयकागे पादिन्न आदि। इन काव्यों में भ. बुद्ध तथा अन्य बुद्धों के गुणों का वर्णन किया गया है।

बौद्ध साहित्य के आधार पर सिंहली नाट्य साहित्य का भी निर्माण हुआ है। जैसे सन्दकिन्दुरुजातकय मनमेकथाव आदि।

व्याकरण, कोश, गद्य-पद्य काव्य आदि

चन्द्र व्याकरण

गटपदसन्नयों के अध्ययन से यह पता चलता है कि सिंहली साहित्य में उनका क्या स्थान है। पालि व्याकरण संस्कृत व्याकरणों के आधार पर बनाये गये हैं यह हम जानते ही हैं। पालि व्याकरण को समझाने के लिए संस्कृत धातुओं का उपयोग होता रहा है। श्रीलंका में **चन्द्र व्याकरण** बहुत प्रचलित रहा है उस पर सिंहली टीकाएं भी लिखी गई हैं। जैसे प्रेलते महाकश्यप का बालावबोधन सन्नय। इसी चन्द्र व्याकरण के आधार पर मोग्गल्लान व्याकरण जैसे पालि व्याकरण भी लिखे गये। इस पर मोग्गल्लानवृत्ति सन्नय की रचना हुई। १३ वीं शती में आनन्द थेर ने इस पर पदसाधन सन्नय, गोविन्द थेर का सम्बन्ध चिन्तासन्नय और एक अन्य थेर ने कापरकपुष्प मंजरी सन्ने जैसी टीकाएं लिखीं। इसी तरह राहुल की पंजिकाप्रदीपय, मोग्गल्लान की पंजिका पर लिखी टीका १४६० ई. भी बहुत लोकप्रिय हुई।

कच्चायन व्याकरण

संस्कृत के कातन्त्र व्याकरण पर आधारित पालि का कच्चायन व्याकरण लिखा गया। इस पर कसयिन पिटपोत, पंचिकाप्रदीपय, बुद्धप्पिय थेर की महारूपसिद्धि, राहुल की महारूप सिद्धिसन्नय और अज्ञातकर्तृक सन्देहविधाहिनी टीकाएं लिखी गयीं। बालावतार पालि व्याकरण पर भी सिंहली टीकाएं हुईं। गडलाडेणिसन्नय-जयबाहु

धर्मकीर्ति, ओकण्डपोलसन्नय-धम्मजातिथेर, लियनसन्नय दियहुन्नत-धम्मजोतिथेर और बालावतारसंग्रहय सिटिनामलुवे-धम्मजोति विशेष प्रसद्धि हुई। इन्हीं टीकाओं के आधार पर सिदतसंग्रा नामक सिंहली व्याकरण भी लिखा गया।

पालि कोश **अभिधानप्पदीपिका** की रचना मोग्गल्लान थेर ने १२ वीं शती में अमरकोश के आधार पर की। इस पर सिंहली टीका निघण्डुसन्ने लिखा गया। राजा पराक्रमबाहु ने भी अमरकोश के आधार पर पालि रूपमाला का सृजन किया (१४ वीं शती)। इसी तरह नामावलिय, नवनामावलिय १७७८ ई. और पुराणनामावलिय का भी उल्लेख मिलता है।

अभिधानप्पदीपिका का सांस्कृतिक मूल्यांकन किया जा सकता है। इसमें दार्शनिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पहेलूओं का काफी आलेखन हुआ है। उदाहरण के तौर पर यहां मिलता है कि बौद्धधर्म का अनात्मवाद अथवा निरात्मवाद सिद्धान्त बहुत अधिक प्रचलित था! अभि. में आत्मा के अर्थ में जीव, पुरिस, अत्त, पाण, सरीरि, मूल, सत्त, देही, पुग्गल, पाणि, पजा, जन्तु, जन, लोक और तथागत शब्दों का प्रयोग किया गया है (गा. ९२-९३) इसी तथागत को बुद्ध ने अव्याकृत कहा था (दि. ९-३-१६)। इस कथन से यह स्पष्ट है कि बुद्ध ने आत्मा के प्रश्न को मूलतः अव्याकृत कोटि में रखा था। इन अव्याकृतों में तथागत शब्द का अर्थ निश्चित ही आत्मा लिया गया है। उसी का उत्तरकालीन विकास अनात्मवाद के रूप में सामने आया। अत्त शब्द का प्रयोग चित्त अर्थ में भी हुआ है। तथागत का अर्थ जिन और सत्य भी दिया गया है- **तथागतो जिने सत्ते चये देहे समुस्सयो** (१०९९)।

परिवर्त ८
वर्मा का पालि साहित्य

वर्मा

बर्मा या म्यामार थेरवाद बौद्धधर्म का प्रमुख देश है। इसे स्वर्ण देश कहा गया है। यहां पेगोडा और स्वर्णजटित मूर्तियां हैं। हलिंगनदी के किनारे वसा रंगून विशाल उद्यानों झीलों, होटलों आदि से सुशोभित है। यहां का लगभग २५०० वर्ष पुराना पेगोडा दर्शनीय है जिसमें अपार स्वर्ण लगा हुआ है। यहां की ९० प्रतिशत जनता बौद्ध है। हर उपासक लगभग दो वर्ष के लिए बौद्ध भिक्षु बनता है यहां अपराध कम होते हैं। कहा जाता है, यहां तथागत बुद्ध ने अपरान्त में यात्रा की थी। यहां चन्दन की लकडी से एक विहार बनवाया गया था लेकाइंग में जिसे देखने उनका आगमन हुआ था। तृतीय बौद्धसंगीति के फल स्वरूप यहां योनक धम्मरक्खित बौद्धधर्म के प्रचार के लिए आये थे। इस प्रदेश को स्वर्णभूमि कहा गया है। सासनवंस में अरिमद्दन नगर के राजा सम्मुति का उल्लेख है। यहीं तम्बद्वीप में भ. बुद्ध का समागम हुआ था। सोण और उत्तर यहां बौद्धधर्म के प्रचार के लिए आये थे। एक अन्य परम्परा है कि यहां तपस्सु और भल्लिक तथागत के केश धातु लेकर आये थे।

कहा जाता है, बुद्धघोष मूलतः यहीं के निवासी थे। यहीं से वे श्रीलंका गये जहां से पालि अट्ठकथाएं, कच्चायन व्याकरण और मनुविधान ले आये। चीनी यात्री कांग ताइ यहां बौद्धधर्म का अस्तित्व तृतीय शताब्दी में बताते हैं। नागार्जुनी कोण्डा अभिलेख भी यही कहता है। हमावजा में प्राप्त अभिलेख छठी शताब्दी का बताते हैं। यहीं समीपवर्ती ग्राम क्युन्डवाज में एक स्वर्णपत्र मिला है जिस पर उत्कीर्ण पालि लेख भी बताता है कि निम्न वर्मा में बौद्धधर्म ल. (५-६ वीं शती) में स्थापित हुआ। तारानाथ १६ वीं शती ने यहां हीनयानी बौद्धधर्म का समय पेगान पुखम और पेगु हिसावती में अशोककालीन बताया और महायानी बौद्धधर्म को प्रचारित करने का श्रेय आचार्य बसुबन्धु के शिष्यों को दिया। ईत्सिंग ने भी इसका समर्थन किया है। चीनी प्रमाण ८-९

वीं शती का समय बताते हैं। पुरातात्त्विक प्रमाण भी यही सिद्ध करते हैं। यहां भूमिस्पर्शी मुद्राओं में प्राप्त भ. बुद्ध की मूर्तियां भी यही प्रमाणित करते हैं। महायानी बौद्धधर्म के भी प्रमाण यहां प्राप्त होते हैं। पेगान में महायान और तन्त्रयान का प्रचार हुआ।

पुरातात्त्विक प्रमाण यह भी सिद्ध करते हैं कि वर्मा में मात्र बौद्धधर्म नहीं था। वहां **वैदिक** धर्म का भी अस्तित्व था। श्रीक्षेत्र, कृसावत पागु और सुधम्मवती थातोन इसके विशेष केन्द्र थे। दोनों धर्मो में संघर्ष भी होता रहा। स्लपत राजवन में इसका वर्णन भी मिलता है। यहां प्राप्त शिलालेखों में संस्कृत-पालि मिश्रित रूप में प्रयुक्त हुई हैं। संस्कृत का प्रयोग महायान बौद्धधर्म की ओर संकेत करता है। पेगु में प्राप्त ये शिलालेख यही प्रमाणित करते हैं। तान्त्रिक बौद्धधर्म भी यहां मिलता है। तिब्बतन बौद्धधर्म का अनुकरण करता हुआ। ८ वीं से १५वीं शती तक यही स्थिति रही है।

वर्मा में **अरि सम्प्रदाय** का भी योगदान बौद्धधर्म के विकास में बहुत अधिक है। उसका सम्बन्ध तान्त्रिक बौद्धधर्म से रहा है। पंच मकारों का भी प्रयोग उसके अनुयायियों में होने लगा था। रे ने इस सम्प्रदाय का सम्बन्ध समनकुट्टकों से स्थापित किया है। सासनवंस ने भी उसका समर्थन किया है। वस्तुतः निम्न वर्मा में थातोन में द्वितीय शती में थेरवाद परम्परा स्थापित हुई है और उच्च वर्मा में महायानी परम्परा का विकास हुआ है लगभग ११ वीं शती में। यहां पेगान में अनुरुद्ध ने बाद में थेरवाद का प्रचार किया। नागयूजा भी यहां लोकप्रिय थी जो महायानी तान्त्रिक सम्प्रदाय का अंग थी। यह पूजा समन्तकूटकों में अधिक प्रचलित थी जो निम्न भिक्षुओं के साथ अधिक जुडी थी।

वर्मा के इतिहास में ११ वीं शती का विशेष महत्त्व माना जा सकता है। इस समय अनुरुद्ध ने पेगा अरिमद्दनपुर में वर्मीराज्य स्थापित किया जिसमें निम्न और दोनों भाग सम्मिलित थे। ये गौतम बुद्ध के अनुयायी समन्तकुट्टक थे। ये भिक्षु० काले चीवर पहिनते थे और जनता को पापमुक्त करने का आश्वासन देते थे। यहीं तलिंग भिक्षु शिव अर्हन् धम्मदरसी ने राजा को थेरवादी बौद्धधर्म की ओर मोडा और अरि या समन्तकुट्ट में पहुंचकर उसका प्रचार किया। सुधम्मपुर के राजा मनोहरि को पराजित कर थातोन से पिटक ग्रन्थ लाकर अरिमद्दनपुर के प्रासाद में सुरक्षित रखे गये। अनिरुद्ध को श्रीलंका भेजकर दोनों ने वहां के पिटकों से तुलनात्मक अध्ययनकर पिटकों का संकलन किया गया।

मोन भाषा कला और संस्कृति का भी प्रचार इसी समय से अधिक हुआ। अरियों को दबाकर यहां थेरवाद बौद्धधर्म स्थापित कर दिया गया। पेगन उसका केन्द्र बन गया। थतोन पर विजय प्राप्त करने से यह स्थिति और अधिक सबल हो गई। श्रीलंका के राजा विजयबाहु (१०५५-१११० ई.) से भी उसके सम्बन्ध मधुर हुए। अनुरुद्ध ने श्रीलंका के महाविहार, अभयगिरि, जेतवन जैसे विहारों को थेरवाद की ओर संगठित किया। श्रीलंका से बुद्ध दन्तधातु को वर्मा पहुंचाया गया जिसे वहां स्वेजिगन् पेगोडा में रखा गया। सासनवंस में इसका विशेष वर्णन मिलता है।

अनुरुद्ध के उत्तराधिकारियों ने आनन्द मन्दिर, गौडव पलिन मन्दिर, बोधगया मन्दिर, श्वेगु मन्दिर बनवाये। इसी समय अग्गवंस ने **सद्दनीति** नामक पालि व्याकरण ग्रन्थ लिखा। **पेगन** एक पालि अध्ययन केन्द्र के रूप में विश्रुत हुआ। नरपति सिथु ११७३-१२१० ई. के राज्यकाल में चपत श्रीलंका के महाविहार में दीक्षा लेकर सिंहल संघ में प्रविष्ट हुआ। उस समय वर्मा में सिंहलसंघ काफी लोकप्रिय हो गया था। धर्मविलास थेर ने इसकी शुरुवात की थी। बाद में मंगोलियन आक्रमणों से वर्मा त्रस्त हो गया।

धम्मचेति ने संघ में कुछ सुधार किया। उसने श्रीलंका भेजकर उपसंपदा ग्रहण कराई। सभी बौद्ध सम्प्रदायों में उसने एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। १६ वीं शती में अभिधम्मदर्शन का अध्ययन क्षेत्र बढा। थेर सद्धम्मालंकार ने पट्ठानसारदीपिनी और मधुसारत्थदीपनी जैसी टीकाएं लिखीं। राजा उक्किंसक ने तिपिटकालंकार और अरियालंकार के निर्देशन में बौद्धधर्म का अच्छा उत्कर्ष किया। इसी काल में **निरुत्तिसार मंजूसा** लिखी गई। एकंसिक और पांपणे का विवाद भी इसी समय बढा। बोदवपया का राज्य भी बौद्धधर्म की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहा है। सासनवंस के लेखक पञ्ञासामी ने इस समय की स्थिति पर अच्छा प्रकाश डाला है।

राजा मिण्डोन गिन के सान्निध्य में १८७१ ई. में वर्मा में पंचम संगीति हुई। लगभग २४०० थेरों ने भाग लिया। इसमें पाषाणों पर तिपिटक उत्कीर्ण किया गया और उनका मुद्रण भी हुआ। १९५४ ई. में षष्ठ संगीति हुई जिसका समापन १९५६ में हुआ। भदन्त रेवत इसके अध्यक्ष थे। आज वर्मा में तीन सम्प्रदाय हैं **सुधम्म, स्वेगिन और द्वारनिकाय**। लेडी सयदव आदि जैसे विद्वान थेरों और महाथेरों ने पालि साहित्य का निर्माण किया। वर्मा के स्वतन्त्र हो जाने पर बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार अच्छा हुआ।

वर्मा का पालि बौद्ध साहित्य

पेगानकालीन पालि साहित्य

वर्मी बौद्धधर्म पर भारतीय बौद्धधर्म का प्रभाव होना तो स्वाभाविक है पर श्रीलंकाई बौद्धधर्म का भी योगदान उस पर कम नहीं है। वहां के भिक्षुगण ग्यारहवीं शताब्दी में वर्मा आये और वहां के बौद्धधर्म को स्थायित्व देने का यथाशक्य प्रयत्न किया। इसी समय से वहां पालि साहित्य की रचना प्रारम्भ हुई। वां तलंग शिक्षकों ने उच्च वर्मा में पालि आगम या त्रिपिटक को स्थापित किया और उसे सशक्त बनाया। इस पर एक आलेख भी लिखा गया १०६४ में। नन्द या आनन्द मन्दिर और विहार का निर्माण पेगान में उच्च वर्मा के नरेश क्यनसिद्धत्थ ने किया। इस विहार में धम्मसेनापति ने **कारिका** नाम से एक पालिव्याकरण की रचना की। गन्धवंस में उन्हें आचार्य माना है। उन्होंने एतिमासमिदीपिका और मनोहार की समीक्षा भी की है। थातागतुप्पत्ति का भी उल्लेख आता है जिसके लेखक थे नानगम्भीर।

पेगान में अनुरुद्ध के बाद पालि शिक्षण की गति-प्रगति हुई और ११५४ ई. में अग्गवंस थेर ने **सद्दनीति** की रचना की। इसे त्रिपिटक व्याकरण की संज्ञा दी गई है। इसमें पच्चीस विभाग हैं। ग्रन्थ के द्वितीय भाग में धातुमाला में पालि का संस्कृत रूपान्तरण भी दिया गया है। अग्गवंस नरेश नरपतिसिथु (११६७-१२०२) के शिक्षक थे। गन्धवंस में अग्गवंस को भारतीय माना गया है। कहा जाता है, उत्तरजीव पेगान से श्रीलंका गये सद्दनीति की प्रति लेकर और फिर महाविहार पहुंचे। सासनवंस में कहा गया है कि सद्दनीति के अतिरिक्त अरिमद्दन भी पालि व्याकरण के रचयिता रहे हैं।

सुत्तनिद्देस या कच्चायन सुत्तनिद्देस की रचना उत्तराजीव के शिष्य चपद ने अरिमद्दनपुर पेगान में की अपने शिष्य धम्मचारी के आग्रह पर। उनकी एक और अन्य कृति **संखेपवण्णना** भी उपलब्ध है जो अभिधम्मत्थसंगहो पर लिखी टीका का रूप है। मूल रूप से इसकी रचना श्रीलंका में हुई जिसका लिप्यन्तरण बाद में वर्मी लिपि में हुआ तलिंग अक्षरों में। अभिधम्मत्थसंगहो का अनुकरण कर इस ग्रन्थ को भी लेखक ने नव भागों में विभाजित किया है।

चपद की अन्य रचनाएं हैं - **नामचारदीपनी, अरिमद्दन, सीमालंकार, विनयसमुट्ठानदीपनी, विनयगूळहट्ठदीपनी, मातिकट्ठदीपनी** और

पट्ठानगणान्य। यहां **सद्धत्थभेदचिन्ता** के लेखक सद्धम्मसिरि ने अपनी टीका का आधार पालि और संस्कृत, कच्चायन व्याकरण और पाणिनि व्याकरण, दोनों व्याकरणों को बनाया। वर्मा में लिखने वाले वे प्रथम लेखक थे विमलबुद्धि जिन्होंने कच्चायन पर न्यास और उसकी टीका '**मुखमत्तदीपिनी** लिखी और सद्धम्मकित्ति थेर ने एक **कुहरकोसे** लिखा। अग्गपण्डित ने पेगान में '**लोकपत्ति**' लिखी। कहा जाता है, विमलबुद्धि ने राजकुमारी के प्रेमवश गृहस्थावस्था स्वीकार की और राजा ने उसे 'राज्ञुगमहामच्च उपाधि देवर सम्मानित किया। **लिंगत्थविवरण** नामक पालि व्याकरण लिखा। वहां यह भी लिखा कि उस पर नानसागर ने **लिंगत्थविवरणप्पकासिका** और उत्तम ने **लिंगत्थविवरणटीका** लिखी। एक अज्ञातकर्तृक लिंगत्थविवरण विनिच्छय भी मिलता है जो सूभूतिचन्दन के ग्रन्थ पर आधारित है। उत्तम ने श्रीलंका के वचिस्सर के वालावतार व्याकरण पर भी टीका लिखी। धम्मदस्सी सामणेर का वाच्यवाचक और उस पर सद्धम्मानन्द की टीका पेगान के थेर अभय की **सदत्थभेदचिन्ता महाटीका** और संघरक्खित की संबंधचिन्ता पर सम्बन्ध चिन्ताटीका भी उल्लेखनीय है। **सुबोधचिन्ता** श्रीलंका के प्रसिद्ध विद्वान बुत्तोदय के रचयिता की कृति है। Mabd Haynes Bode ने सद्धम्मसिरि और अभय का काल १४ वीं शती बताया है।

पेगान के नरेश नरपति के उदार भरे शासन काल में छपट की मृत्यु के बाद उसके सिंहलसंघ में फूट पैदा हो गई। राहुल ने स्वयं को उससे अलग कर लिया। कहा जाता है, वह किसी नायिका के प्रेम पाश में फंस गया और पेगान छोडकर मलयदीप चला गया जहां उसने राजा को विनय का अध्ययन कराया। उसके बाद क्यस्व नरेश हुआ जो साहित्य का संरक्षक था। उसके संरक्षण में पालि व्याकरण और अभिधम्मत्थसंगहो का विशेष अध्ययन किया गया। सासनवंस के अनुसार अरिमद्दन में पालि व्याकरण नारी वर्ग के बीच विशेष लोकप्रिय हुआ। क्यस्व भी अच्छा विद्वान था। उसने भी **सद्दबिन्दु और परमत्थबिन्दु** नामक पालि व्याकरण ग्रन्थों की रचना की १२३४ ई. और उसकी पुत्री ने **विभत्यत्थ** लिखा। धम्मराज क्यस्व तिपिटक और अट्ठकथा का कुशल ज्ञाता था। उसने पेगान में एक बुद्धमन्दिर भी बनवाया था। गंधवंस के अनुसार गुणसागर ने **मुखमत्तसार** नामक व्याकरण ग्रन्थ और उस पर संघराज के आग्रह पर टीका भी लिखी। सद्धम्मनाण थेर ने १४ वीं शती में पेगान में विभत्यत्थ ग्रन्थ लिखा। उन्होंने **छन्दोसारत्थविकासिनी** नामक वुत्तोदय टीका और **छपच्चयदीपिनी** नामक छन्दोशास्त्र भी लिखा। वुत्तोदय

संघरक्खित (१२ वीं शती) का ग्रन्थ है। संघरक्खित ने संस्कृत व्याकरण ग्रन्थ कातन्त्र को भी पालि में अनुदित किया। मंगल (१४ वीं शती) ने गंधत्थि और सिरि सद्धम्मविकास ने सद्धम्मनासिनी नामक कच्चायन टीकाएं लिखीं।

पेगान वंश १२७७ अस्तित्वहीन हो गया। मंगोली आक्रमणों से वर्मी सत्ता समाप्त हो गई। शानवंश ने खन्धपुर को अपनी राजधानी बनाया। यहां भिक्षु वस गये पर किसी भी प्रकार का साहित्य सृजन नहीं हुआ। १३१२ ई. में शान नरेश सीहसूर ने पन्या विजयपुर की स्थापना की जहां से भिक्षुसंघ का संरक्षण और साहित्य सर्जना के प्रति उत्साह का जागरण हुआ। इसी राज्यकाल में श्री सुमंगल थेर ने **समन्तपासादिका, अभिधम्म, अट्ठसालिनी और सम्मोहविनोदनी पर पालि टीकाएं** लिखकर नये अध्ययन क्षेत्र को विकसित किया। इन टीकाओं में व्यकरणिक विशेषताओं को अधिक स्पष्ट किया गया। कितित्तसूर के राज्यकाल में एक आफीसर विद्वान ने मोग्गल्लान के अभिधानप्पदीपिका शब्दकोष पर **संवण्णना** नामक पालि टीका लिखी। उसी ने कोलधज पर टीका लिखी और दण्डिप्पकरण भी। कत्तिसूर के ही राज्यकाल में पालि व्याकरण पर एक और ग्रन्थ लिखा गया और नागिन ने **सद्दसारतिजालिनी** नामक टीका लिखी। संघरक्खित के वुत्तोदय पर नरविमलबुद्धि ने पेगान में एक टीका लिखी पर गंधवंस के अनुसार उनका यह कार्य पन्या में सम्पन्न हुआ। विमलबुद्धि ने **अभिधम्मपण्णरसत्थान** लिखा। वुत्तोदयटीका की रचना पेगान के वेपुल्लबुद्धि ने की। विमलबुद्धि की अन्य रचनाएं मिलती हैं - **सद्धम्मसारत्थजालिनी टीका, परमत्थमंजूसा, अभिधम्मत्थसंगहटीका, दसगंठिवण्णना और विदधिमुखमण्डन** सासनवंस के अनुसार सिंहली लेखकों में अभिधम्मत्थसंगहो पर नवविमलबुद्धि ने और अत्थव्याख्यान पर चूलबुद्धि ने टीका लिखी। और वर्मी लेखकों में विमलबुद्धि ने वुत्तोदयटीका और वेपुल्ल ने वचनत्थजोति की रचना की परन्तु गन्धवंस इन्हें वर्मा में लिखा मानता है। उसके अनुसार चुल्लवज्रबुद्धि या चुल्लविमलबुद्धि ने अत्थ व्याख्यान पेगान में लिखी। सद्धम्मपाल की पालि व्याकरण सद्दवुत्ति या **सद्दवुत्तिपकासक** नाम से १४ वीं शती में प्रकाशित हुई। सासनवंस के अनुसार सद्धम्म गुरु सारिपुत्त ने सद्दवुत्ति की रचना पन्या में की परन्तु गंधवंस उसे पेगान में लिखी मानता है। सद्धम्मगुरु, सद्दवुत्ति का लेखक ने निरुत्तिसारमंजूसा कच्चायन निरुत्ति टीका या **निरुत्तिपिटक** लिखी। एक अज्ञातकर्तक सम्बन्धमालिनी नामक पालि व्याकरण का भी उल्लेख मिलता है।

पालि साहित्य मुत्तिम और पेगु नगर में (१२-१५ वीं शती)

पेगु रामञ्जजदेश में प्रथम साहित्यकार के रूप में सासनवंस में सारिपुत्त का नाम लिया गया है। बाद में वही धम्मविलास के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनका जन्म पादिपजेय्य रंगून के पास १२ वीं शती में हुआ। नवपति-सि-थु के राज्यकालमें वे पेगान गये और आनन्द से बौद्धसंघ में उपसंपदा ली और फिर छपट के साथ श्रीलंका गये। बाद में अपने देश में आकर सीहलसंघ का प्रतिनिधित्व किया। इस संघ की स्थापना होने के बाद नरपति ने उन्हें धम्मविलास की उपाधि दी और वह सिंहल का नेता हो गया। वर्मा में इस समय ब्राह्मण धर्म का प्रभाव था। उस प्रभाव से मुक्त होने के लिए बौद्धधर्म में कुछ नियम भी बनाये गये। तलंग भिक्षु सारिपुत्त या धम्मविलास ने प्राचीन धम्मसत्थ का साथ दिया और बौद्धधर्म प. वैदिक प्रभाव का प्रचार हुआ।

मर्तवन के राजा गगर ने बौद्धधर्म का अच्छा प्रचार किया। उसके राज्यकाल में महिषीभद्दा के गुरु मेधंकर (१४ वीं शती) ने श्रीलंका जाकर **लोकदीपसार** नामक एक ग्रन्थ लिखा जिसे अनेक अध्यायों में विभाजितकर नरक, स्वर्ग आदि का विवेचन किया। कथाओं के आधार पर गद्यवंस ने उसे नव मेधंकर के नाम से उल्लिखित किया है। मध्य चौदहवीं शती में हंसावती पेगुनगर पेगु राज्य का मुख्य नगर हो गया। एक विद्वान ने यहां सासनवंस के अनुसार **अफेग्गुसार** नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें उसने अभिधम्म विषय को विस्तार दिया। सासनवंस और फोरछभेर ने लेखक का नामोल्लेख किये बिना ही ग्रन्थ का नाम अफेग्गुपथो और अफेग्गुसरदीपनीपथो बताया। गंधवंस में इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। नेविल कर ग्रन्थ सूची में अफेग्गुसारदीपनी को अभिधम्मत्थविभावनी की अनुटीका के रूप में प्रस्तुत किया गया। मण्डलय सूची में अफेग्गुसारदीपनी के रचयिता के रूप में पराक्रमबाहुल राजा के पुत्र महासुवण्णदीप का नामोल्लेख हुआ है।

कच्चायनभेद या कच्चायनभेददीपिका में कच्चायन व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों को स्पष्ट किया गया है। कच्चायन सार १४ वीं शती में समूचे ग्रन्थ का सारांश प्रस्तुत किया गया है। महायस ने उस पर कच्चायनसार टीका लिखी और पेगान के सद्धम्मविलास ने उसपर **सम्मोह विनासिनी** टीका की रचना की। म्यामार के अरियलंकार और तिपिटकालंकार नामक भिक्षुओं ने उसपर टीकाएं लिखीं। अरियलंकार की टीका का नाम सारत्थविकासिनी है। कच्चायनसार का समय १४ वीं शती होना चाहिए क्योंकि इसमें बालावतार, रूपसिद्धि, चूलनिरुत्ति और सम्बन्धचिन्ता के उल्लेख हुए हैं।

श्रीलंका का महावज्र बुद्धि पेगु के राजा धम्मचेति का समकालीन था (१४८०-९१)। उसकी वज्रबुद्धिटीका में विनय के कठिन स्थलों को स्पष्ट किया गया है। महावज्रबुद्धि ने अपनी यह टीका धम्मचेति के पास भेजी थी। पेगु के राजा भिक्षु धम्मचेति ने बौद्धधर्म का अच्छा प्रचार-प्रसार किया। सिंहलसंघ में उसने सुधार भी किया, श्रीलंका भेजकर भिक्षुओं को उपसम्पदा दिलाई। कल्याणसीमा का निर्धारण किया, विनय का अध्ययन बढाया। श्रीलंका के महावगबुद्धि ने **वज्रबुद्धिटीका विनयगण्ठि** की रचना की। पालि बौद्ध साहित्य पन्या विजयपुर अव रतनपुर और तौंग जेय्यवड्ढनपुर नगर में शिन थिलवन्थ ने यजविंगया की रचना की १५ वीं शती में। उसमें म्यामार के बौद्धधर्म का वर्णन नहीं मिलता पर श्रीलंका और भारत के बौद्धधर्म की कथा अवश्य मिलती है। अरियवंस ने इस काल में अभिधम्मत्थ विभावनी पर मणिसार मंजूसा नामक टीका लिखी। रतनपुर भाव में उसके श्रोताओं में उसका राजा भी था। अरियवंस के ग्रन्थों में अट्ठसालिनी पर लिखी गई **मणिदीपटीका** बहुत प्रसिद्ध है। उसका गन्धाभरण और जातकविसोधन नामक अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। उसके महानिस्सार ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है।

अरियवंस का समकालीन सीलवंस था जिसने भाव में राजा सिरिसुद्धम्मराजाधिपति १५ वीं शती के राज्यकाल में सुमेधकथा के आधार पर बुद्धालंकार की रचनाकी और अपने नगर पर **पब्बतब्भन्तर** काव्य लिखा। सीलवंस ने राजा के आग्रह पर विहार में रहकर पालि ग्रन्थों पर व्याख्यान दिये वर्मी भाषा में और नेत्तिपकरण और परायणवत्थु ग्रन्थ लिखे जो यह सिद्ध करते हैं कि वह मात्र कवि नहीं था, एक कुशल टीकाकार भी था। रट्ठसार अवका एक अन्य लेखक था (१४६८ ई.) जिसने भूरिदत्त जातक, हत्थिपाकजातक, संवरजातक आदि की रचना काव्यात्मक ढंग से की। गंधवंस में **काव्यविरतिगाथा** नामक पालिकाव्य का उल्लेख है। जिसमें २७४ पद्य हैं। पकुधणागर ने उस पर टीका लिखी है।

अरियवंस के शिष्य थेर सद्धम्मकित्ति का एकक्खरकोस प्रसिद्ध है। पर गंधवंस में इसका उल्लेख नहीं है। थेर महापराक्रम के सुराविमुच्छय का उल्लेख अवश्य है वहां। सासनवंस के अनुसार पन्या में अनेक लेखक रहते थे जिन्होंने पालि बौद्ध साहित्य की रचना की जैसे सद्धम्मगुरु ने **सद्दवुत्ति**, विजितावी ने **कच्चायनवण्णना सन्धिकप्प** और वाचकोपदेस पर (१६०६ ई.) त्राणविलास ने संख्यापकासक, सिरिमंगल ने संख्यापकासक टीका और मंगलदीपनी, एक अज्ञातकर्तृक उप्पादसन्ति।

हंसावती पेगु में कुछ थेरों ने अभिधम्म पर साहित्यसृजन किया। जैसे सद्धम्मालंकार ने पट्ठावसारदीपनी महानाम ने मधुसारत्थदीपनी। सासनवंस के अनुसार **मधुसारत्थदीपनी** का लेखक आनन्द था। वागरु धम्मसत्थ की रचना मर्तवन में हुई १२८० ई. में जिसका पालि अनुवाद सोलहवीं शती में बुद्धघोस ने किया मनुसार के नाम से। १७ वीं शती में मनु-पिन के नाम से उसे पालि पद्य में संयोजित किया गया। १६५० में उसे **मनुधम्मसत्थ** के नाम से लिखा गया। इन सभी रचनाओं में बौद्धविनय का प्रस्तुतीकरण हुआ हैं। इसी काल में रजदरित अयेदवपोन और पवतुगी यजविन बिन्यदल का वंस साहित्य भी मिलता है।

सत्रहवीं शताब्दी का पालि साहित्य

१६१७ में वर्मा और पेगु हंसावती एक हो गये। पोर्तगीजों ने विहार आदि नष्ट कर दिये। सासनवंस में बयं नाउंग राज्यकालीन किसी पालि साहित्य का उल्लेख नहीं है। परन्तु यह माना जाता है कि उस समय वर्मा में वेदशास्त्रों का कोई अच्छा ज्ञाता नहीं था। इसलिए वयं नाउंग ने सगंग विहार के प्रधान भिक्षु को निवेदन किया कि वे कुछ तरुण भिक्षुओं को रामंज भेजें जो बौद्धशास्त्रों के साथ वेदसत्थों के भी कुशल ज्ञाता हों। इसदृष्टि से उन्होंने तिपिटकालंकार, तिलोकालंकार और तिसरणालंकार नामक भिक्षुओं को भेजा। उनके साथ चालीस भिक्षु और थे। उनके आने पर राजा ने पेगु में मेघोचेतिय के पास एक विहार बनवाया और उसे उन्हें समर्पित कर दिया। उपोसथ के दिन उसने उन भिक्षुओं को बुलाकर त्रिपिटक पर विचार मन्थन किया/कराया। महाधम्मराज के समय वेदशास्त्रों का अध्ययन अधिक हुआ। परन्तु बौद्धसंघ ने इसे स्वीकार नहीं किया।

१७ वीं शती में पालि और वर्मा भाषा में लिखने वाले अनेक विद्वानों के नाम मिलते हैं। जेसे वरभिसंघनाथ जिसने मणिकुण्डलवत्थु लिखा और उसी के समकालीन एक अन्य भिक्षु ने सत्तराजधम्मवत्थु की रचना की। इन वर्मी विद्वानों ने पालि व्याकरण और अभिधम्म का अध्ययन किया। सजिन्दराजाभिधेरयदीपनी रत्नाकर की प्रसिद्ध कृति है। तिपिटकालंकार (१५७८ ई.) ने वसन्तराजजातक, अट्ठसालिनी टीका, प्रसिद्ध काव्यात्मक कृतियां लिखीं। अरियालंकार का धातुपच्चय विभाग पालि व्याकरणात्मक ग्रन्थ है। तिपिटकालंकार वर्मी राजा सुरकित्ति ने इरावती नदी के किनारे निर्मित प्रोन के विहार में अपना आवास बनाया जहां रहकर उन्होंने अभिधम्म का विशेष अध्ययन किया

और अट्ठसालिनी पर एक टीका लिखी। बाद में राम मिन (१५९९-१६०५ ई.) के अनुरोध पर **यसवडढनवत्थु** की रचना की। तिरियपब्बत पर रहकर उसने **विनयालंकार टीका** लिखी। अभिधम्म के कुशल अध्येता के रूप में उनकी अच्छी ख्याति हो गई। इस समय तक वर्मा में अभिधम्म के अध्ययन ने काफी लोकप्रियता पा ली। तिलोकगुरु ने अनेक वर्षों तक यहां अभिधम्म की टीकाओं का अध्ययन किया। और धातुकथा तथा यमक पर टीका वर्मी निस्सय लिखीं। पर इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण टीका पट्ठान पर लिखी गई।

मध्ययुगीन विहार अभिधम्म के अध्ययन के मुख्य केन्द्र बन गये और उनमें रहकर भिक्षुओं ने अनेक टीकाएं लिखीं। सासनवंस के अनुसार इस काल में एक और विद्वान हुए जिन्होंने अनेक पालि ग्रन्थ लिखे जैसे अ**ट्ठसालिनी टीका** सद्धम्मजोतिपाल के द्वारा लिखित संखेपवण्णना पर, सुमंगल द्वारा लिखित अभिधम्मत्थ पर विभावनी और अभिधम्म पिदेकवर विभंग। अरियलंकार ने ही सारत्थविकासिनी नामक कच्चायन भेद पर पालि टीका भी लिखी। उक्कमसिक राजा ने पेगोडा के चारों और चार विहार बनवाये जिनमें रहकर थेरों ने न्यास् आदिकी रचनाएं लिखीं। सिरिनन्द धम्मराज १६४८ ई. के राज्यकाल में दाठनाग ने न्यास पर **निरुत्तिसारमंजूसा** नामक टीका लिखी। गंधवंस में कच्चायन की चुल्लनिरुत्तिटीका का भी उल्लेख आया है।

उक्कंसिक द्वारा सम्मानित जबूदीपज पेगान से उसी विहार में पहुंचे और वहीं रहकर **संवण्णनानयदीपनी, निरुत्तिसंग्रह, सर्वज्ञनयदीपनी और रूपभेदपकात्तिनी नामक** पालि ग्रन्थों की रचना की तथा विनय का वर्मी अनुवाद किया। मणिरतंनं ने अट्ठसालिनी, संमोहविनोदनी और कंखावितरणी पर टीकाओं का लेखन किया और अभिधम्मत्थविभावनी और संखेयवण्णना का वर्मी भाषा में अनुवाद किया। सारदस्सी थेर ने **गूलहट्ठदीपनी और विसुद्धिमग्गगण्ठिपदत्थ** पालि ग्रन्थों की रचना की और नेत्तिपकरण का वर्मी अनुवाद किया। १७ वीं शती के मध्यकाल में चीनी राजाओं के आक्रमणों से वर्मा में अशान्ति बनी रही। फलतः कोई विशेष नहीं लिखा जा सका। अनेक प्रयत्नो के बाद महापरवधम्मराज लोकाधिपति (१६५१ ई.) राजा बने और उन्होंने अनेक विहार बनवाकर थेरों को समर्पित किये। उनमें रहकर अग्गधम्मालंकार ने अनेक पालि ग्रन्थों तथा कच्चायन व्याकरण का अनुवाद, वर्मी भाषा में किया। उसने अभिधम्मत्थसंगहो, धम्मसंगणि मातिका, राजवंस संखेय धातुकथा, यमक और पट्ठान का भी वर्मी अनुवाद किया।

नरवर राजा के राज्यकाल में तेजोदीप थेर ने परित्त पर टीका लिखी। सिरिपर महाधम्मराज (१६७२ ई.) के राज्यकाल में देवचक्कोमास थेर वेदसत्थों का ज्ञाता था। उसी के राज्यकाल में पाम पत्तोंपर पाण्डुलिपियों का लेखन और अभिधम्म का पठन-पाठन प्रारम्भ हुआ। देवचक्कोमास ने अपने शिष्यों को पालि में पट्ठान पढने की शिक्षा दी। १३-१४ वीं शती की अपेक्षा १७ वीं शती में पालि व्याकरण का अध्ययन कम हुआ और अभिधम्म के अध्ययन का विस्तार हुआ। राजगुरुओं के सान्निध्य में अभिधम्म त्थसंगहो पर २३ वर्मी टीकाएं लिखी गई १७ वीं शती में। इतनी टीकाएं किसी अन्य ग्रन्थों पर नहीं लिखी गईं। अग्गधम्मालंकार का नाम भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है।

गंधवंस वर्मी भिक्षु नन्दञ्ञ की रचना है (१७ वीं शती)। उसे चुल्लगंधवंस भी कहा जाता है। इन अध्यायों में पालि तिपिटक और वर्मी और सिंहली पालि साहित्य का वर्णन है। इसी काल में विनय को आणादेसना, सुत्त को वोहारदेसना और अभिधम्म का परमत्थदेसना कहा जाने लगा। विनय की परिपालना होने लगी और पालि अध्ययन का विस्तार हुआ। समाज पर सुत्त का भी प्रभाव पडा। परित्त और जातक साहित्य अधिक लोकप्रिय हुआ और अभिधम्म के अध्ययन को परमत्थधम्म माना जाने लया। इसी के साथ ही आचार्य अश्वघोष, असंग और शान्तिदेव के ग्रन्थों का भी अध्ययन प्रारम्भ हुआ जिससे संस्कृत भाषा का प्रचार हुआ। धम्मसंगणि और अभिधम्म के अध्ययन का भी विस्तार हुआ। इसके बाद वर्मी इतिहास में उथल-पुथल अधिक रही जिससे साहित्य निर्माण में बडी बाधा आई।

१८ वीं शती में वर्मा में बडी अशान्ति रही और भिक्षु सम्प्रदाय को कोई प्रश्रय नहीं मिला। अलौगपया ने स्थिति संभाली अवश्य पर वह भी अधिक सफल नहीं हो पाया। बाद में स्थिति बदली और सेतिभिन्द (१७१४-१७३३ ई.) के राज्यकाल में थेर उक्कसमाल ने वण्णबोधन और लक्खननड की रचना की। वह पालि तिपिटक टीका आदि का कुशल ज्ञाता था। १७३३ ई. में महाराजाधिपति राजा बना और उसने ञाणवर को आचार्य नियुक्त किया। वह अभिधम्मत्थसंगहो के अध्ययन की कठिनाइयों से अपरिचित नहीं था। उसने गण्ठिपदत्थ तथा बुद्धघोष की अट्ठसालिनी पर टीका लिखी। फिर **अभिधम्म विनिच्छय** और पातिमोक्खलेखन ग्रन्थों की रचनाकर विनय के अध्ययन का विस्तार किया। साथ ही राजाधिराज निमित्तप्पकासिनी की भी रचना की। इसी का समकालीन लेखक सारदस्सी था जिसने धातुकथायोजन नामक ग्रन्थ लिखा।

अलोगपया राजा बौद्धधर्म का कुशल अनुयायी था। वह बौद्ध साहित्य का संरक्षक था। उसके राज्यकाल में मुनिन्दघोष ने अभिधम्मत्थसंगहो का अनुवाद वर्मी भाषा में अनुवाद किया। उसका प्रशासन भी प्रशंसनीय था। मणुक्यय वर्मी भाषा में लिखित ग्रन्थ पालि ग्रन्थों पर आधारित था। जातक, मिलिन्दपञ्हो, समन्तपासादिका कंखावितरणी, विसुद्धिमग्ग, सरत्थदीपनाटिका आदि ग्रन्थों से उसमें उल्लेख और उद्धरण मिलते हैं। **मनुवण्णना धम्मस्तत्थ** १८९८ ई. में प्रकाशित हुआ। इस काल में एकंसिक परम्परा का प्रचलन तेज हुआ।

अलौंगपय के राजा सिरिपवर महाधम्मराज ने जेय्यपुर की स्थापना की और उसके प्रतिद्वन्द्वी ने आवा को अपनी राजधानी बनाया। नानालंकार उसका आचार्य था जो पारूपन परम्परा का अनुयायी था। उसने **पदविभाग** नामक पालि व्याकरण ग्रन्थ की रचना की और न्यास, अभिधम्म, यमंक और महापट्ठान जैसे ग्रन्थों का वर्मी अनुवाद किया। उसके बाद उसका भाई सेतिमिन्द १७६३ ई. में शासन सम्हाला। उसका आचार्य था जम्बुदीप अनन्तधज जिसने विनयविनिच्छय नामक व्याकरण टीका लिखी। राजा बौद्ध था पर उसका झुकाव वैदिक धर्म की ओर भी था। इसलिए संस्कृत भाषा में भी ग्रन्थ लिखे गये। आयुर्वेद, ज्योतिष आदि विविध क्षेत्रों में साहित्य सृजन हुआ। वोपदेव का मुग्धबोध इस समय अधिक प्रचलित हुआ। **मनुसार, मनुवण्णना और विनिच्छयपकासिनी** ग्रन्थ काफी लोकप्रिय हुए। मनुवण्णना के पालि और वर्मी संस्करणों में अन्तर दिखाई देता है। वर्मी संस्करणों में पालि के उल्लेख नहीं मिलते।

१७७६ ई. में महाधम्मराजाधिराज ने शासन का भार ग्रहण किया। उस पर विनय विशेषज्ञ नन्दमाल थेर का प्रभाव था जो पारूपनस परम्परा का अनुयायी था। बाद में इस थेर का नाम हो गया - नरिन्दाभिधजमहाधम्मराजाधिराज गुरु। उसने **सासनसुद्धिदीपिका** ग्रन्थ लिखा और विनयविनिच्छय, सुत्तसंगह, महावग्गट्ठकथा जैसे प्राचीन पालि ग्रन्थों का अनुवाद वर्मी भाषा में किया। अभिधम्म पर उसका कोई ग्रन्थ नहीं था।

१७८२ ई. में बोदोपया राजा हुआ। इस समय ञाण महाथेर ने **राजाभिसेकगन्ध** नामक पालि ग्रन्थ का वर्मी अनुवाद किया, उसे शुद्ध किया। राजकृपा से उसे ञाणाभिसासनधजमहाधम्मराजगुरु उपाधि दी गई। राजा ने अनेक विहारों का निर्माण कराया और चार संघराजों को नियुक्त किया। श्रीलंका से भी ञाणवंस का

सम्बन्ध स्थापित हुआ। वहां के अमरपुर सम्प्रदाय से उसका विशेष सम्बन्ध था। उसने नेत्तिपकरण पर पेटालंकार नामक टीका और दीघनिकाय पर साधुज्ञनविलासिनी नामक टीका लिखी। जातकट्ठकथा का वर्मी अनुवाद भी किया। इनके अतिरिक्त **चतुसामणेरवत्थु, राजोवादानवत्थु, छद्दन्तनागराजुप्पत्तिकथा, तिगुम्मथोमन** जैसे कुछ और ग्रन्थ लिखे। सासनवंस में उसके राजाधिराज विलासिनी की बडी प्रशंसा की गई है। १८-१९ वीं शती में कुछ और भी वंस साहित्य लिखा गया।

१९ वीं शती का पालि साहित्य

हमञ्ञन राजवनि वर्मी बौद्धधर्म के अध्ययन के लिए एक अच्छा उपयोगी वंस ग्रन्थ है। उसका प्रणयन राजा वगयिदव के सान्निध्य में १८२९ ई. में हुआ। इसके अतिरिक्त कुछ और भी वंस ग्रन्थ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, जैसे **तगडंगवंस, रखइंग वंस, थरमित्तर वंस, हुगेप्पियुग्विस, पेगनवंस, वसाधिपनी, तलंग वंस, पेगुवंस, तवोयवंस, चेतिवकथा, चेतिवंस** आदि। राजबल (१८३२ ई.) का **महाविच्छेदनी** पालि गाथाओं में लिखा एक विनय ग्रन्थ है मनु का अनुकरण करते हुए। बाद में **राजवंस, सुराजमग्गदीपनी, सीकथा, उपायकथा, अक्खरविसोधम, नागराजुप्पत्तिकथा, निरयकथादीपक, उपोसथविनिच्छय, परित्त, मंगलसुत्त लोकनीति काव्यसारत्थसंघ उपासक विनिच्छय** आदि ग्रन्थ भी पालि में लिखे गये।

वर्मा में इस काल में अभिधम्म साहित्य के अध्ययन ने लोकप्रियता पाई। अभिधम्मत्थसंगहो का आधार लेकर बडी मात्रा में साहित्य सृजन हुआ। सारूपत्थदीपनी (१८९४ ई.), ओवादकथा, नावनियमदीपनी सद्दमेधनी, पाराजिक पाचित्तिय ग्रन्थों को पालि और वर्मी भाषाओं में तैयार किया। लगरभिधज ने ललितविस्तर के आधार पर कामादिनकथा की रचना की। अट्ठसालिनीगण्ठी, विसुद्धिमग्गदीपनी, असंखतधम्मपकासनी, विसुद्धाचार, कच्चायनवण्णनाचक्क, धात्वत्थसंगह, विसुंगामसीमाविनिच्छय उसके अन्य ग्रन्थ हैं जो पालि और वर्मी भाषाओं में हैं।

बीसवीं शदी में महाथेर लेदी सयदव का नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। उनके ग्रन्थ १९०५-१९०६ में प्रकाशित हुए। **निरुत्तिदीपनी, निब्बानदीपनी, रूपदीपनी, बोधिपक्खियदीपनी, आनापादीपनी, ओवाद, पारमिदीपनी, सद्दसंखेय, पब्बाजनियकम्मवाचा, धम्मदीपनी, पटिच्चसमुप्पाददीपनी परमत्थसंखेप,**

सच्चत्थदीपनी, विज्झामग्गदीपनी, लक्खणदीपनी, आहारदीपनी सीलविनिच्छय, अनत्तदीपनी, दानदीपनी और **धम्मदेसना** ये उनके ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं।

वर्मा अभिधम्म के अध्ययन के लिए विशेष प्रसिद्ध है। विहारों में पालि पाण्डुलिपियों का भी अच्छा संग्रह है। मण्डलय ऐसा ही केन्द्र है। वर्मा में पालि त्रिपिटक और अट्ठकथाओं का मुद्रण भी हुआ है। महाथेर लेदी सयदव अभिधम्म के कुशल महापण्डित रहे हैं। उन्होंने लगभग १५० ग्रन्थ बौद्धधर्म पर लिखे हैं। जैसे **महासमयसुत्त, ब्राह्मणिमन्थनसुत्त, हेमवतसुत्त, सीलक्खन्ध टीका, नमक्कार टीका।**

एक अन्य विद्वान महाथेर थे मिंगुन सयदव(१८६८-१९५५) ई. जो मूलतः थातोन के निवासी थे। उन्होंने **मिलिन्द अट्ठकथा (१९४९ ई.) पेटकोपदेस, अट्ठकथा, कठिनविनिच्छय और णिब्बानकथा** ग्रन्थ लिखे। इनके अतिरिक्त अंग्रेजी और वर्मी भाषाओं में भी प्रभूत साहित्य का लेखन हुआ। **छकेसधातुवंस** गद्य-पद्य शैली में लिखित एक इतिहास है जिसमें स्तूप निर्माण का इतिहास दिया गया है। पिटकत्थमिन (१९०६ ई.) में वर्मी पालि साहित्य का आलेखन है। इस काल में ७२९ पत्थरों पर त्रिपिटक उत्कीर्ण किया गया। और भी विविध पालि साहित्य यहां प्रकाशित हुआ है।

वर्मी पालि साहित्य पर Mabel Haynas Bode आदि विद्वानों ने शोधकार्य करने पर यह तथ्य स्थापित किया कि वर्मा का पालि साहित्य संख्या और गुण मे कम नहीं है। भारतीय पालि साहित्य और भाषावर्ग से प्रभावित वर्मी भाषा और साहित्य दृष्टव्य है। ११-१२ वीं शती से उसका पालि साहित्य विवर्धित हुआ है। गन्धवंस, सासनवंस और पिटकत्थमेन (१९०६) ग्रन्थों से इसकी पुष्टि होती है। श्रीलंका से भी उसे पर्याप्त सहायता मिली है। लोअरवर्मा के मृम्मसंघ ने अपना स्वयं का साहित्य निर्मित किया। सासनवंस इन दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है। उस पर महायान की अपेक्षा हीनयान का प्रभाव अधिक है। यहां सुत्त और विनय के साथ ही अभिधम्म पर विशेष अध्ययन हुआ है। यहां का पालि साहित्य इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। जातक, वंस और व्याकरण ने भी लेखकों को आकृष्ट किया है।

वर्मा में पालि पिटक

वर्मा के इतिहास में विविध उतार-चढाव आये पर वहां बौद्धधर्म और पालि पर कोई विशेष संकट नहीं आया। भारतीय भाषा, साहित्य और संस्कृति का उस पर गहरा प्रभाव रहा है। वर्मी साहित्य में पालि को **मागधभासा और मूलभासा** की संज्ञा दी गई है पर इसे हम निर्विरोध रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। जो भी हो, वर्मा में पालि तिपिटक बहुत लोकप्रिय रहा है। सुत्तपिटक का दीघनिकाय कदाचित् लघुतम घटक है पर उसमें ब्रह्मजालसुत्त, सामञ्ञफलसुत्त, महासतिपट्ठानसुत्त, महापरिनिब्बानसुत्त जैसे अनेक महत्त्वपूर्ण सुत्त सन्निहित हैं। खुद्दकनिकाय भी इसी तरह कम महत्त्व का नहीं है। धम्मपद, सुत्तनिपात, जातक, परित्त जैसे ग्रन्थ उसकी सीमा में आते हैं। परित्त या महापरित्त का उपयोग अनपेक्षित दुर्घटनाओं से मुक्त रहने के लिए किया जाता है। सुत्तनिपात के मंगलसुत्त का भी उपयोग इसी के लिए होता रहा है। सोण और उत्तर ने यहां आकर यक्खिणी समुदाय को इन्हीं के माध्यम से शान्त किया था। राजा अनोरत (११ वीं शती) के समय तो उसका उपयोग भिक्षुवर्ग मातृघात जैसे पापाचरण के सन्दर्भ में भी करने लगा था। पर वर्मी बौद्धधर्म ने उसे स्वीकार नहीं किया। वर्मी परम्परा ने खुद्दकनिकाय में चार और ग्रन्थ सम्मिलित किये हैं - **मिलिन्दपञ्ह, सुत्तसंगह, पेटकोपदेस और नेत्तिपकरण।**

विनय पिटक का सम्बन्ध भिक्खु-भिक्खुणी की आचार संहिता से है जो वर्मा में सिंहल से पहुंचा। ११ वीं शती से वर्मा में विनय पर अधिक कार्य हुआ है। पूरा विनय आकार में बडा है इसलिए उसे दो भागों में विभाजित कर दिया गया - **मूलसिक्खा और खुद्दकसिक्खा**। द्विमातिका के आधार पर इसे भिक्खुपातिमोक्ख और भिक्खुणी पातिमोक्ख कहा जाता है तथा पातिमोक्ख की अट्ठकथा कंखावितरणी को अधिक पढा जाता है। इसके अतिरिक्त परित्त और कम्मवाचा का प्रयोग भिक्षु समुदाय अधिक करता रहा है। पब्बज्जा और उपसंपदा में भी उनका उपयोग होने लगा था। यहां विनय अट्ठकथाओं की भी लोकप्रियता बढी। बुद्धघोष, धम्मपाल, बुद्धदत्त, ञाणगंभीर, कस्सप और आनन्द जैसे टीकाकारों ने वर्मी बौद्धधर्म को बहुत प्रभावित किया। बुद्धघोष का विसुद्धिमग्ग इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय रहा है।

धम्मपाल की अट्ठकथाएं अधिकांश रूप में दक्षिण भारतवर्ती कांची में लिखी

गई। श्रीलंका को भी इसका सौभाग्य मिला। अधिकांश टीकाएं श्रीलंका में लिखी गईं। नेत्तिपकरण टीकायें, सच्चसंखेप और अभिधम्मत्थसंगह जैसे ग्रन्थों की रचना यहीं हुई। वर्मा में छठी शती तक की कोई विशेष पालि रचनाएं नहीं मिलतीं। निम्नवर्मा इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वर्मा के रामञ्ञदेश के तालिंग यहीं रहते थे। उन्हें मनि कहा जाता था। वे बौद्धधर्म के अनुयायी थे। उच्चवर्मा में उन्हीं ने बौद्ध विनय और सिद्धान्त को लोकप्रिय बनाया। यद्यपि अशोक के धर्मदूत तृतीय शताब्दी ई.पू. में वहीं पहुंचे थे।

वर्मा का पालि साहित्य लगभग ११ वीं शती से प्रारम्भ होता है। उसी समय उच्च वर्मा में तैलंग ने पालि पिटक का संयोजन किया था। यहां भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार पहले से ही था। वर्मा में दीपवंस और महावंस से कोई प्राचीन पालि ग्रन्थ नहीं है जो वहां यथार्थ स्थिति पर प्रकाश डाल सके। फिर भी रामञ्ञ प्रदेश में कुछ ऐसे प्रमाण तो मिल ही जाते हैं। एक तेलंग भिक्खु अरहन्त वहां के राजा का गुरु बन गया और उसने मिथ्या समण संघ तोडने का यथाशक्य प्रयत्न किया। इससे बौद्धधर्म बच गया। यहीं सुधम्मपुर में कुछ पालि ग्रन्थ भी थे और बौद्ध स्मारक भी। राजनीतिक परिवर्तन हुआ, पालि बौद्धधर्म के विस्तार का समय आया और यहां वर्मा में पालि तिपिटक पहुंचा।

सीमालंकार सिंहली थेर वाचिस्सर के ग्रन्थ पर टीका है। **विनयगूढट्ठदीपिनी** की रचना छपटने अपने गुरु के आग्रह पर की। इसमें विनयपिटक के विशिष्ट शब्दों की व्याख्या की गई है। **नामचारदीपिनी** में छपट ने अभिधम्मदर्शन को स्पष्ट किया है। **गंठीसार** पिटक के कठिन स्थलों पर लिखी टीका है। इसी तरह **मातिकत्थदीपिनी और पिट्ठानगणानय** अभिधम्म से सम्बद्ध हैं।छपटने श्रीलंका से आकर वर्मा में सींहलसंघ की स्थापना की स्थापना की। उसने महाविहार परम्परा के अधिक महत्त्व दिया। वर्मा में उसने उसी के अनुसार उपसम्पदा भी दी भिक्षुओं को दीक्षितकर। परन्तु छपट के विरोधियों ने इसे स्वीकार नहीं किया। दक्षिण परम्परावादी अरहन्त सोण और उत्तर के अनुयायी थे। उन्होंने उसी परम्परा की उपसंपदा का समर्थन किया दोगन नरेश नरपतिसिथु यद्यपि प्राचीन परम्परावादी था फिर भी वह महाविहार की परम्परा का प्रशंसक था। इसलिए उसने छपट के आन्दोलन का न विरोध किया और न समर्थन ही।

अरहन्त का वर्मा संघ या **मृम्म संघ** बहुत महत्त्व पूर्ण रहा। इस समय व्याकरण ग्रन्थ अधिक लिखे गये। राजा ने सारिपुत्त की वृद्धावस्था आदि पर विचार कर उसे

आचार्य ही बनाये रखना उचित समझा। सारिपुत्त ने महाविहार परम्परा का वहां प्रचार-प्रसार किया। महावंस के अनुसार रामञ्ञ देश से कुछ भिक्षु श्रीलंका पहुंचे और वहां उन्होंने बौद्धधर्म की शिक्षा दी विजयबाहु के राज्यकाल में (१०७१-११२३ ई.)। सारिपुत्त वहां १२४६ तक रहे। उन्होंने 'धम्मसत्थ' ग्रन्थ की रचना की जो वैदिकधर्म से प्रभावित था। यह प्रभाव वहां १८ वीं शती तक रहा। सिंहलसंघ के विरोध में आन्दोलन हुआ और महिषी ने अपने दो आचार्यो बुद्धवंस और महानाग को श्रीलंका भेजा। वहां उन्होंने उपसम्पदा ली और वापिस आकर श्रीलंका संघ का निर्माण किया मर्तवन में।वहां सिंहलसंघ और अरहंत गण में दूरियां बढ गईं। पेगु और वर्मा में भी प्रतिद्वन्द्विता बढ गई। फलत: १५ वीं शती तक पालि की अधिक रचनाएं नहीं मिलतीं। शानवंश ने इस समय बौद्धधर्म को विशेष आश्रय नहीं दिया। हां, यह अवश्य है कि पेगु में कुमारचेति पेगोडा के पास कुछ प्राचीन शिलालेख मिले जो लगभग १५ वीं शती के थे।

वर्मा में १३ वीं शती में वर्मा, तलांग और शान के बीच संघर्ष हुए। मंगोलों के आक्रमणों ने वहां शानवंश को शक्ति सम्पन्न बना दिया। शानों ने १२०८ में पेगान राजा को पराजित किया और खन्धपुर, विजयपुर और जेय्यपुर में अपना राज्य स्थापित किया और उच्च वर्मा में भी आवस में १३६४ में। पालि साहित्य की दृष्टि से रत्नपुर भी बडा महत्त्वपूर्ण नगर रहा है। वहां के विहार बौद्धधर्म के प्रचारक केन्द्र बन गये थे।

पर इतना निश्चित है कि उस समय विहारों में वेदशास्त्रों का अध्ययन किया जाता था। और अध्ययन करने वालों को वेदसत्थकोविद कहा जाता था। पर उन्हें **परियत्तिपटिपत्तिसुमन्दा** माना जाता था। पिटकों का ज्ञान उन्हें कम रहता था। थेर परम्परा से भी मुक्त रहते थे। ऐसे विद्वान वैदिक ब्राह्मण पण्डित ही होते थे। बल्कि वे बौद्धथेरों में से ही अध्येता होते थे। पुस्तकालयों में सूर्य सिद्धान्त, लघुग्रह, द्रव्यगुण, तन्त्रशास्त्र, कामशास्त्र आदि ग्रन्थों को एकत्रित किया जाता था। थेर इन शास्त्रों का मात्र अध्ययन करते थे और पालि में उन्हें लिखते थे। जीवन में उनका व्यवहार नहीं किया जाता था। इसका उद्देश्य यही था कि थेर उनके आधार पर उपदेश दे सकें। इसलिए राजनीति, लोकनीति, धम्मनीति, हितोपदेश, अथर्ववेद, अमरकोश आदि शाखाओं और ग्रन्थों का उपयोग विहारों में बहुत अधिक हुआ है। वर्मी विद्वानों ने भी उनका यथाशक्य उपयोग किया है। महाधम्मराज और उक्कंसिक जैसे राजाओं ने उदारता पूर्वक विहारों में ऐसे पुस्तकालयों की स्थापना की जहां इन वैदिक ग्रन्थों को एकत्रित

किया जा सके। तिपिटकालंकार, अरियालंकार जैसे विद्वान ऐसे ही पुस्तकालयों से तैयार हुए हैं जो पालि, संस्कृत और वर्मी भाषा के कुशल पण्डित रहे हैं। अरियालंकार तो धातुपच्चय विभाग अर्थात् व्यांकरण के महापण्डित थे।

तिपिटकालंकार १५७८ ई. पन्द्रह वर्ष की अवस्था में संघ में प्रविष्ट हुए और प्रोम में जाकर पालि का अध्ययन किया। उन्होंने वहां रहकर वेस्सन्तर जातक का काव्यानुवाद किया। बीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने उपसम्पदा ग्रहण की। इसी समय पारुपनस और एकंसिक विवाद खडा हो गया। एकंसिक सम्प्रदाय भिक्षाटन के समय पंखा लिये रहते थे। उसका प्रभाव अधिक हो गया। दूसरी ओर गूढाभिलंकार और उनके अनुयायीगण को समाज में अधिक सम्मान नहीं मिला। फिर भी वे सद्धम्मचारी बने रहे। संघराज कोई भी ऐसा विनय नियम संघ में स्थापित नहीं कर सके जो पारुपनस विनय को वापिस ला सके।

बोदोपया के राज्यकाल में ही एकंसिक और पारुपनस का विवाद पुनः उठ खडा हुआ। अतुल ने एकंसिक का पक्ष लेते हुए उसे मोग्गल्लान से सम्बद्ध बताया जिसने चूलगण्ठिपद लिखा। साथ ही यह भी कहा कि बुद्धघोष वर्मा लाया गया। प्रतिपक्षियों ने कहा कि यह तथ्य सही नहीं है। वह ग्रन्थ **विनयगण्ठिपद** था जो १२ वीं शती में मोग्गल्लान ने लिखा था। उसका कोई सम्बन्ध अर्हत् मोग्गल्लान से नहीं है। विवाद गहराता रहा। पर बोदापया ने पारुपन परम्परा को मान्य माना जिसे संघ को स्वीकार करना पडा।

बोदोपया के समय संस्कृत साहित्य का प्रचार बढा श्रीलंका और वर्मी संघ के बीच सम्बन्धों को विस्तार मिला। संघराज ञाणभिवंस को श्रीलंका में बडा सम्मान मिला, अमरपुर सम्प्रदाय से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थिर हुए, अभिधम्म विषयक ग्रन्थों का विशेष आदान-प्रदान हुआ। ञाण द्वारा लिखित ग्रन्थों का प्रचार हुआ - पेटालंकार (नेत्तिपकरण टीका), दीघनिकाय टीका साधुजनविलासिनी, जातकट्ठकथा का वर्मी अनुवाद, चतुसामणेरवत्थु, राजोवादवत्थु, छद्दन्तनागराजुप्पत्तिकथा और तिगुम्मथोमन उसका राजधिराज विलासिनी ग्रन्थ भी विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

अलौगपया ने तेलंगों पर विजय प्राप्त कर अपनी प्रभुसत्ता सिद्ध की और उनकी भाषा तथा राष्ट्रियता को कुचल डाला। अनोरत, धम्मचेति, बयिन नाउंग, उक्कंसिक,

अलौगप्पा, ह्यूनपिऊसिन, बोदोपया सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थिर किये और पालि साहित्य का सिंहलसंघ फला, फूला, श्रीलंका में वर्मी सम्प्रदाय अमरपुर ने भी गति पकडी। इस काल में श्रीलंका और भारत से विशेष सम्बन्ध स्थापित हुए, मनुशास्त्र का अनुकरणकर पालिधम्मसत्थों की रचना हुई। तालिंग भिक्खु सारिपुत्त का **धम्मविलास** (११७४ई.) ऐसा ही नीतिशास्त्र ग्रन्थ है।

१२८० ई. में लिखित वगरू **धम्मसत्थ** की तुलना वैदिक शात्र मनु, याज्ञवल्क्य और नारद के साथ की गई है। वैदिक शास्त्रों के विवाह, बलि, तप आदि रूप पालि धम्मसत्थ में नहीं हैं। यहां कम्म सिद्धान्त को महत्त्व दिया गया है। बागरु का पालि अनुवाद तालिंग विद्वान बुद्धघोष ने किया जिसका नाम है **मनुसार**। इसके बाद १७५६ शती में इसी के अनुकरण पर **मनु धम्मसत्थ** लिखा गया। वर्मी में दरज्ञ वितारणी का भी इसी तरह विशेष सम्बन्ध पालि ग्रन्थों से रहा है जैसे - जातक, मिलिन्दपञ्ह, समन्तपासादिका, कंखावितरणी, विसुद्धिमग्ग, सारत्थदीपिनीटीका।

१७६६ से १७७४ के बीच ह्यसिन हेप्पु शिन ने भी कुछ नीति ग्रन्थ लिखे, जैसे **मनुसार, मनुवण्णना, विनिच्छय पकासिनी**। वन्न-क्यव-दिन का **मनुयिनलंका** भी प्रसिद्ध है। आधुनिक युग के पालि नीतिशास्त्र के रूप में राजबल द्वारा लिखित १८३२ में **मोहविच्छेदनी** भी उल्लेखनीय है, जो पालिगाथा में है। मनु धम्मत्थ का अनुकरण इसमें अधिक है। मनु को देवता के रूप में यहां स्थापित किया गया है। इन सबको देखकर यह लगता है कि पालि का उपयोग नीतिशास्त्र के क्षेत्र में अच्छा हुआ है। इसमें तलिंग द्वारा-निर्मित वेदिकशास्त्र और वर्मी भिक्षुओं द्वारा निर्मित धम्मसत्थ सुरक्षित हुए हैं। संघराज ने सद्धम्मपजोतिका, महानिद्देस का संपादन लेखन किया। वर्मी में अनुवाद भी। सासनवंस में और किसी का उल्लेख नहीं है। ञेय्यधम्मवंस ने सद्धम्मविलासिनी का वर्मी अनुवाद किया। उसके शिष्य पञ्ञासामी ने सद्दत्थभेदचिन्ता का वर्मी अनुवाद किया, अभिधानप्पदीपिका पर टीका लिखी और उसका वर्मी अनुवाद किया। इसी तरह उसके शिष्यों ने अंगुत्तर, संयुत्त, दीघनिकाय का वर्मी अनुवाद किया।

उसके बाद राजनीतिक परिवर्तन हुआ। पञ्ञासामी ने **नागर जुप्पत्तिकहो** नामक एक सुन्दर काव्य रचना की। संघराज ञेय्यधम्म ने **सुराजमग्गदीपिनी** लिखी। पञ्ञासामी की अन्य पालि रचनाएं हैं - **सीलकथा, उपायकथा,, अक्खरविसोधनी, आपत्तिविनिच्छय, बोहारत्थभेद, विवादविनिच्छय, राजसेवकदीपिनी, निरयकथादीपक, उपोसथविनिच्छय, सद्दनीति**।

१८६८-७१ में एक संगीति आहूत की गई जिसके परिणाम स्वरूप तिपिटक को पाषाण कर उत्कीर्ण किया गया और वर्मा में एक प्रेस भी लगाया गया।

विहार इतिहास

बोदोपय का निधन १८१९ में हो गया। उसके सिंहासन पर उसका पुत्र बैठा। उसकी शासन विधि प्रशसंनीय थी। धर्मनीति के आधार पर उसने शासन किया, भिक्षु समुदाय से विचार-विमर्श किया, विहारों को दान दिया। उसी काल में पेगन में राजवंस की रचना हुई। उसका गुरु पञ्ञासीह महास्थविर बनाये गये। ब्रिटिश ने उस पर १८२४ में आक्रमण किया। दोनों के बीच सन्धि हुई। १८३७ में उसके छोटे भाई ने शासन पर अधिकार कर लिया। उसने अपना गुरु-महाथेर सुरियवंस को बनाया। सुरियवंस के बाद नेरयधम्म संघराज बने।



परिवर्त ९
थाईलेण्ड, कम्बोडिया एवं लाओस का पालि साहित्य

थ ईलेण्ड का पालि साहित्य

कहा जाता है, ई.पू.ल. द्वितीय शताब्दी में कुछ जातियां पडोसी देशों के साथ संभावित संघर्षो से बचने के लिए चीन प्रदेश से दक्षिण की ओर और असाम आदि प्रदेशों में फैल गई। इसमें एक समुदाय थाई नाई थाईलेण्ड पहुंचा उसका सम्बन्ध असम, उच्च वर्मा, दक्षिणचीन, लाओस, उत्तर वियतनाम, थाईलेण्ड आदि भागों से स्थापित किया जा सकता है।

पुरातात्त्विक प्रमाणों से यह जानकारी मिलती है कि बौद्धधर्म थाईलेण्ड तब पहुंचा जब वहां मोन-खमेर द्वारावती थी। वहां एक वृहदाकार पेगोडा था जिसे पेथोम चेदिय (प्रथम चेतिय) कहा जाता था। यह माना जाता है कि सम्राट अशोक ने सोण और उत्तर को बौद्धधर्म के प्रचारार्थ सुवर्णभूमि भेजा था। यह सुवर्णभूमि आधुनिक वर्मा और थाईलेण्ड का प्रदेश होना चाहिए। प्रथमतः यहां थेरवाद बौद्धधर्म का प्रचार हुआ। पाषाण पर उत्कीर्ण पालि शिलालेख, बुद्ध के चरण चिन्ह और धर्मचक्र का उत्कीर्णन इसका प्रमाण है। इसके बाद वहां कनिष्क काल (ल. प्रथम शताब्दी में महायान पहुंचा जो उत्तर भारत से सुमात्रा, जावा, वर्मा, थाईलेण्ड मलावह और कम्बोडिया तक फैल गया। आठवीं शती में कश्मीर से भी कुछ समुदाय महायानी, उपदेशों के प्रचारार्थ इन प्रदेशों तक पहुंचे। श्री विजय ने यहां अपना राज्य भी स्थापित किया। यहां प्राप्त स्तूप और चेतिय इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं। कम्बोडिया के नरेश सूर्यवर्मन् ने यहां महायान बौद्धधर्म और शैवधर्म के मिश्रित रूप का प्रचार १० वीं - १ वीं शती में किया। यहां एक शिलालेख मिला है जिसमें श्री विजय का उल्लेख है। थाईलेण्ड और कंबोडिया की संस्कृति परस्पर मिली हुई है। संस्कृत भाषा का प्रभाव यहां की भाषा पर बहुत है। कम्बोडियन लिपि पर दक्षिण भारतीय लिपि का प्रभाव है और इसी लिपि से थाई लिपि प्रभावित है।

थाई वंश परम्परा के अनुसार थाईलेण्ड में बौद्धधर्म की स्थापना सम्राट अशोक ने अपने धर्मदूतों को भेजकर की थी। परन्तु पुरातात्त्विक प्रमाण यह कहते हैं वह द्वारावती लाव काल में पहुंचा था। फ्र पेथम चेतिय और अन्य स्थापत्य इसके प्रमाण हैं। ये स्थापत्य यहां के बौद्धधर्म की विकास कथा को चार अवस्थाओं में विभाजित करते हैं - १. न कोनपेथम राजधानी काल, २. महायान काल, ३. थेरवाद काल. ४. लंकावंस काल। पुरातात्त्विक प्रमाणों में एक धम्मचक्क भी मिला है फ्र पेथम चेतिय के समीप, बुद्ध का आसन और बुद्ध का चरण चिन्ह भी। ये सभी बौद्धमूर्ति की स्थापना के पूर्ववर्ती चिन्ह हैं। यहीं एक पालि शिलालेख भी मिलता है। राजबुरी, सुपनबुरी, लोपबुरी और नकोन राजसिम में प्राप्त पुरातत्त्व में और नकोन पेथम के पुरातत्त्व में समानता दिखाई देती है।

कतिपय भिक्षुओं ने यहां महायान को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया। अनुरुद्ध ने १०४४ में मोन प्रदेशों पर अधिकार किया और अपना शासन द्वारावती तक फैलाया और साथ ही थेरवाद को भी लोकप्रिय बनाया। सिंहल से लौटे साधुओं ने भी सिंहलसंघ को जन-जन तक पहुंचाने का प्रयत्न किया। रूवांग वंश शासन ने भी इसमें साथ दिया। १३७७ के लेख से भी यह प्रमाणित होता है। इससे महायान की लोकप्रियता में कमी आई। फिर भी वहां दोनों समुदाय बने रहे और पालि और संस्कृत का प्रचार होता रहा। पब्बज्ञाकाल में दोनों भाषाओं का उपयोग होता रहा। इसके बावजूद पालि और थेरवाद का प्रभुत्व अधिक बढा। थाई में खमेर लिपि में पालि ग्रन्थों का उत्कीर्णन हुआ। महाधम्मराज नरेश ने में पालि ग्रन्थों और आचार्यो के नामों का भी उल्लेख किया है। लान्ना भिक्षुगण सिंहल गये और पालि का अध्ययनकर वापिस हुए। जिनकालमालीपकरण और मंगलत्थदीपनी जैसे कुछ पालि ग्रन्थ भी साथ ले आंये। १४०० और १६५० ई. के बीच पालि बौद्धागम पालि ग्रन्थों का पारायण होता रहा। महायान धर्म के प्रति लोगों में रूचि कम हो गई। सिंहलकला का प्रचार-प्रसार अधिक हुआ।

उस समय तक भारत में बौद्धधर्म अस्तंगत होने की ओर बढ रहा था। पडोसी देशों में उसके प्रति श्रद्धा अधिक जाग्रत हो रही थी। त्रिपिटक का अनुवाद वहां की अपनी-अपनी भाषाओं में होने लगा था। कम्बोडिया में पालि की अपेक्षा संस्कृत की ओर झुकाव अधिक बढा। थाईलेण्ड भी कम्बोडिया का अनुकरण करने लगा। सिंहल में अवश्य पालि का प्रभाव अधिक था। वहां पालि पिटक अनुदित भी हो चुका था। उसी के

प्रभाव से थाईलेण्ड में पालि पिटक का प्रचार बढा। सुखोदय काल १३५०-१४५० ई. में पालि के निम्न लिखित तीस ग्रन्थ उपलब्ध हो गये - १. अट्ठकथा - चतुरागम २. अट्ठकथा टीका अभिधम्मावतार, ३. अभिधम्मसंगह या अभिधम्मत्थसंगह, ४. सुमंगलविलासिनी, ५. पपंचसूदनी, ६. सारत्थप्पकासिनी, ९. अट्ठकथाटीकाविनय १०. धम्मपद. ११. धम्ममहाकथा, १२. मधुरत्थपुराण विलासिनी, १३. धम्मजातक, १४. जिनालंकार, १५. सारत्थदीपनी, १६. बुद्धवंस, १७. सारसंगह, १८. मिलिन्दपञ्ह, १९. पालेय्यक पारिलेय्यक, २०. महानिदान, २१. अनागतवंस २२.. चरियापिटक, २३. लोकपंचत्ति, २४. महाकल्प २५. अरुणवत्ति, २६. समन्तपासादिका, २७. जक्खणाभिधम्म, २८. अनुटीका हिंगधम्म अभिधम्म, २९ सारिकविनिच्छय्य, ३०. लोकुप्पत्ति। सिंहल पालि तिपिटक की भी खमेरलिपि में प्रतिलिपि की गई। १७६७ के वर्मी आक्रमणों से थाईलेण्ड के इस पालि साहित्य की बडी हानि हुई। कुछ फ्रेन्च मिशनरीज ने इस साहित्य को एकत्रित किया और उसे में सुरक्षित रखा। खमेर लिपि का भी उपयोग बढ गया पालि साहित्य के लिखने में।

१७६७ के बाद थाईलेण्ड का रूप बदलने लगा। चीनी मूल फय तक सिन के नेतृत्व में थाईलेण्ड की सेना ने वर्मी सेना को खदेडकर वापिस भेज दिया। इसमें कम्बोडिया और लाओस का भी सहयोग मिला। बेंकाक के पास थोनबुरी को राजधानी बनाया गया। उसने पालि पिटक तथा अन्य साहित्य कम्बोडिया आदि से एकत्रित किया। इसी बीच अयोध्या का पतन हो गया और संघ में भ्रष्टाचार बढ गया जिसे रोकने के लिए नरेश ने कठोर कदम उठाये। फलतः १७८२ में उसे राजगद्दी छोडनी पडी।

उसके बाद राम प्रथम शासनारूढ हुआ। प्रथमवर्ष में ही उसने पालि त्रिपिटक का सम्पादन किया। परन्तु उसमें भूलें अधिक रह जाने से १७८८ में उसने २१८ भिक्षुओं और ३२ उपासक पण्डितों को आमन्त्रितकर पांच माह तक लगातार विचार-विमर्श के बाद उसका संगायन कराया। इसमें कुल २८८ भाग और ३५६८ भोजपत्रों के बंडल थे। आज भी यह पिटक वत फ्रक्यों पुस्तकालय मे सुरक्षित है। इसे गिल्ट एडीसन कहा गया। इसकी एक प्रति कम्बोडियन लिपि खोमयो में स्याही से भी की गई। त्रिपिटक के अतिरिक्त पालि के अन्य ग्रन्थों की भी प्रतिलिपियां कराकर भिन्न-भिन्न पुस्तकालयों में सुरक्षित कर दी गई।

राम प्रथम ने पालि साहित्य सुरक्षा के अतिरिक्त चारित्रिक प्रतिष्ठा का भी प्रयत्न किया। तदर्थ उसने उपासक और भिक्षु वर्ग के लिए एक विनय विधान तैयार

किया जिसमें अन्य धर्मावलम्बियों को भी शान्ति के साथ रहने की संकल्पना दी गई। प्रत्येक भिक्षु को परिचय पत्र दिया गया, उनका रिकार्ड रखा गया और उन्हें विनय का परिपालन आवश्यक बनाया गया। १८०१ में १२८ भिक्षुओं को विनय का पालन न करने के कारण कठोर रूप से दण्डित भी किया गया।

राम द्वितीय के काल में त्रिपिटक का एक ही संस्करण तैयार किया गया। राम तृतीय ने उसके सात सुन्दर सुवर्णमय संस्करण तैयार कराये गये। कम्मोलो संस्करण भी बनाये गये। मोंगकुट शासन काल में पालि साहित्य की सुरक्षा के लिए कठोर कदम उठाये गये। १८९३ में छुललोंगकोर्न के शासनकाल में पालि त्रिपिटक का सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया गया। नेशनल लायब्रेरी में ये सारे संस्करण सुरक्षित हैं।

वर्मा नरेश अनवरत (अनुरुद्ध) ने १०५७ में उत्तरी थाईलेण्ड पर आक्रमण कर उस प्रदेश को अपने अधिकार में ले लिया। अब यहां का बौद्धधर्म पेगान बौद्धधर्म हो गया जो थेरवाद का ही एक रूप था। इसी काल में श्रीलंका नरेश विजयबाहु १०५५-१११० ई. के निवेदन पर अनवरत ने अपने कुछ बौद्ध साधुओं को पालि पिटक के साथ श्रीलंका भेजा और वे वहां से बुद्ध की दन्तधातु के साथ वापिस वर्मा पहुंचे। श्रीलंकानरेश पराक्रमबाहु ११६५ ई. के समय एक बौद्ध संगीति का आयोजन किया गया जिसमें वर्मी भिक्षु भी संमिलित हुये। बाद में वर्मा में श्रीलंका से लगातार बौद्ध साहित्य और कला पहुंचती रही। **अरण्यवासी सम्प्रदाय** का प्रभाव बढता गया और वर्मा में बौद्धधर्म को राजधर्म का रूप प्राप्त हो गया। श्रीलंका से ही थेरवाद थाईलेण्ड पहुंचा और लगभग १६ वीं शती तक उसने वहां अच्छी लोकप्रियता प्राप्त कर ली। सुखोदय और अयोध्या उसके केन्द्र बन गये।

लोओस में भी बौद्धधर्म की स्थापना थाईलेण्ड के माध्यम से १३७५ में हुई। यहां पालि ग्रन्थों पर शब्दशः टीकायें लिखी गईं। जातक साहित्य यहां अधिक लोकप्रिय हुआ। "**लोकिपण्णासजातक**" नाम से ५० जातकों का संग्रह मिलता है जिसे किसी सामणेर ने १५-१६ वीं शती में संग्रहीत किया। यह सामणेर छियांगमई का निवासी था। एक जम्बुपत्तिसुत्त भी मिलता है जिसमें जम्बुपत्ति राजा की भेंट तथागत बुद्ध से बताई जाती है चक्रवर्ती पोषाक में। उन्हें देखकर उसका दर्पभंग हो जाता है। यहां के पालि साहित्य के सन्दर्भ में हमने अन्यत्र विस्तार से लिखा है।

१४२३ ई. में कुछ भिक्षु थाई से श्रीलंका पहुंचे और वहां से सिंहली भिक्षुओं को लेकर थाई में **निकाय सम्प्रदाय** की स्थापना की। १७५० ई. में श्रीलंका नरेश राजसिंह ने थाई भिक्षुओं को बुलाकर सिंहली भिक्षुओं के नैमित्तिक क्रियाकाण्ड में सुधार कराया। अठारह भिक्षुओं ने जाकर श्रीलंका में ७०० भिक्षुओं को दीक्षा दी और तीन हजार लोगों को बौद्धधर्म में दीक्षित किया। इससे यहां श्रीलंका में श्यामी सम्प्रदाय का सूत्रपात हुआ।

बैंकाक में १७८८ में एक **बौद्ध संगीति** हुई जिसका उद्देश्य था पालि पटिक को सुधारकर उसका संगायन करना। १७६७ में वर्मी नरेश ने अयोध्या पर अधिकार किया और वहां के पुस्तकालयों, मन्दिरों और अन्य प्रमुख स्थानों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। फिय तक सिन ने थाईलेण्ड को उससे मुक्त कराया और १७६९ में बेंकाक के पास थोनबुरी को अपनी राजधानी बनाया। उसने त्रिपिटक आदि लाकर बौद्धधर्म को पुनः स्थापित किया। नरेश राम ने इस कार्य को आगे बढाया और बेंकाक में भिक्षु समुदाय को आमन्त्रितकर पांच माह में १७८८ में त्रिपिटक को संशोधित कराकर उस महाधातु को ३५६८ भूर्ज पत्रों पर लिखाकर उसे सुरक्षित किया। इसमें १५७ भाग सुत्तपिटक के, ४० विनय के, ५६ अभिधम्म के और ३५ सद्दविसेस के भाग थे। उसके उत्तराधिकारियों ने इस पिटक की अनेक प्रतियां करायीं। १७८८ में **नवीं संगीति** हुई राम तृतीय के काल में और धुललांगकोर्न (१८६८-१९१०) ने उसे पहली बार मुद्रित कराया। थाई, सिंहली और वर्मी में लिखित पिटक का अध्ययनकर थाई लिपि में १८९३ में उसे पुनः मुद्रित कराया गया राम पंचम के राजकाल में और उसे मन्दिरों में वितरित कर दिया गया। बाद में इसके अनेक संस्करण छपे। १९३० तक उसके १५ संस्करण हो चुके थे।

बौद्धधर्म वस्तुतः थाईलेण्ड का जीवन्त धर्म बन चुका है। आज भी यहां का शासक संवैधानिक रूप से बौद्ध ही होता है। यहां का राजधर्म भी बौद्धधर्म है।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि भले ही सम्राट् अशोक ने धर्मदूत भेजकर थाईलेण्ड में थेरवाद की स्थापना की हो पर बाद में वहां महायान का प्रचार अधिक हुआ। उसके बाद १० वीं शती में अनुरुद्ध नरेश थेरवादी बना और उसने वहां थेरवाद का प्रचार-प्रसार किया। बाद में लान्ना ने १३५०-१७६७ तक अयोध्या पर राज्य किया और वहां श्रीलंका के सहयोग से १४३० में **लंकावंस** की स्थापना हुई। इससे थाईलेण्ड में पालि साहित्य का प्रचार हुआ। १४४२ में त्रिलोक ने इस आन्दोलन को और भी गति दी और १४७५ में एक संगीति आहूत कर पालि पिटक का पुनःसंगायन कराया। यह कार्य उत्तरीय क्षेत्र छियोग मई में किया गया।

१५-१७ वीं शती में छियांगमई की उत्तरीय थाई राजधानी में तो पालि विद्वान हुए हैं पर अयोध्या के दक्षिणी भाग में थाई लिपि का तो प्रयोग हुआ पर पालि साहित्य की रचना वहां नहीं हुई। संभव है, १७६७ में उन्हें नष्ट कर दिया गया हो। थाई लिपि के साथ सिंहल लिपि का भी प्रयोग हुआ है। बाद में १९ वीं शती में मोंगकुट राम चतुर्थ ने नई लिपि 'अरियक' की खोज की जो रोमन लिपि पर आधारित थी। इससे मुद्रण की सुविधा हो गई। पर जनता ने इसे स्वीकार नहीं किया। पहले खमेर लिपि का उपयोग होता था पालि ग्रन्थों के लेखन में और थाई (१२८३ ई.) का उपयोग होता था टीकाओं के लेखन में। पर छुल लांगकोर्न राम पंचम, (१६६८-१९११ ई.) के राजकाल में समूचा पालि त्रिपिटक थाई लिपि में मुद्रित हो गया और उसका वितरण भी किया गया।

थाई पालि साहित्य

साधारणतः यह माना जाता है कि थाई पालि साहित्य का लेखन लगभग १८ वीं शती से प्रारम्भ हुआ। फिर भी यहां हम कालक्रमानुसार उसके पूर्ववर्ती पालि साहित्य का भी उल्लेख कर रहे हैं। इस पर डॉ. हम्मलव सद्धातिस्स ने Pali Literature of South East Area में अच्छा कार्य किया है।

सद्धम्म संगह

इसके लेखक हैं **धम्मकित्ति** जिनका समय १४ वीं शती है। वे मूलतः थाई भिक्षु थे पर वे कुछ समय के लिए श्रीलंका में भी रहे हैं। वहां से वे अयोध्या लौटे और वहीं लंकाराम में रहकर इस ग्रन्थ का प्रणयन किया। लेखक ने इस ग्रन्थ को ११ अध्यायों में विभक्त किया है जिनमें श्रीलंका में प्रचलित बौद्धधर्म का इतिहास आकलित हुआ है। प्रथमतः तीन संगीतियों का वर्णन हुआ है। बाद में वट्टगामणी अभय के काल १०१-११ ई.पू. का पालि त्रिपिटक के लेखन में उल्लेख हुआ है और बुद्धघोष तथा कस्सप की टीकाओं की सूची दी गई है पराक्रमबाहु काल ११५३-११८६ ई. में नवम अध्याय पालि साहित्य के अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख करता है।

चामदेवीवंस

इसके लेखक हैं छियंगमई के **बोधिरश्मि** जिनका एक और ग्रन्थ उपलब्ध होता है सीहिंगनिदान जिसमें श्रीलंका से आई बुद्ध मूर्ति का विवरण दिया है। इस मूर्ति को १३ वीं शती में सुखोदय नरेश रूअंग ने प्राप्त किया था। इन दोनों ग्रन्थों की रचना १५-१६ वीं शती में हुई थी।

रतनवंस

इसके लेखक हैं **ब्रह्मराजपंच** जिन्होंने इसे १५ वीं शती के अन्त में लिखा था सिरिजनालय के महाधम्मराजपबत विहार में जहां आकर्षक बुद्ध मूर्ति स्थापित थी। इसी तरह वर्मा के अरियवंस ने **अमरकत बुद्ध रूपनिदान** नामक पालि ग्रन्थ लिखा जिसमें भी इसी बुद्ध की मूर्ति का वर्णन किया गया हैं। इन दोनों की विषय सामग्री भारत से आयातित रही है। इनकी रचना १५ वीं शती में हुई।

इतर पालि साहित्य

नवपुर में भी अनेक पालि लेखक हुए हैं। त्राणकित्ति ने , पातिमोक्ख गन्थिदीपिनी और रूपसिद्धि पर **कच्चायन रूपदीपिनी** नामक ग्रन्थ १५ वीं शती में लिखे। उनका एक अन्य ग्रन्थ और भी अधिक प्रसिद्ध हुआ **अट्ठसालिनी अत्थयोजना**। उसे उन्होंने छियांगमई के पनसाराम में १४९५ में लिखा था। उन्हीं का **सम्मोहविनोदनी अत्थयोजना, पंचपकरणट्ठकथा योजना और बुद्धघोसनिदान** नामक अन्य रचनायें भी उन्हीं के प्रतिभा प्रसून हैं। पिटकत्थमइंग के अनुसार इन दोनों रचनाओं के लेखक सुमंगलनामक थेर थे पर प्रशस्ति में स्पष्ट रूप से त्राणकित्ति का नामोल्लेख है जो अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक माना जा सकता है। संभव है, पिटकत्थमइंग में अत्थसालिनी अट्ठकथायोजना और सम्मोहविनोदनी अट्ठकथा योजना का संकेत रहा हो। त्राणकित्ति का ही अभिधम्मत्थसंगहो पर **पंचिकानाम अत्थयोजना** नामक ग्रन्थ भी मिलता है। धम्मराज नरेश (१२३४-१२५० ई.) द्वारा रचित सद्दबिन्दु पर भी गन्थसार अभिनवटीका की रचना हरिपुंजय के धम्मकित्ति महाफुस्सदेव ने त्राणकित्ति के ही अनुरोध पर की थी।

कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि **मालेय्यथेरसुत्त** की रचना श्रीलंका में हुई थी पर फ्रमालई की कथा थाईलेण्ड में अधिक प्रचलित है। इस ग्रन्थ की मूल रचना छियांगमई में हुई थी। उस पर लोहकुम्मजातक, संकिच्चजातक, महानारदकस्सप-जातक और निमिजातक का प्रभाव दिखाई देता है। संभव है, यह कथा श्रीलंका से थाईलेण्ड पहुंची हो। इसमें कहा गया है कि श्रीलंका में जन्मा मालेय्य थेर तरुणावस्था में भिक्खु बनता है, फिर अर्हन्त बनकर नरक की यात्रा करता है जहां वह अपने सम्बन्धियों को दु:खी और ताडित होता हुआ पाता है।

जिनकालमालीपकरण

थाईलेण्ड के **रतनपञ्ञ** थेर द्वारा लिखित यह जिनकालमालीपकरण १५२६ में लिखा गया रत्तवन विहार में। यह कदाचित् यहां का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक दस्तावेज है। इसमें बौद्धधर्म का इतिहास भारत से प्रारम्भ होता है, और श्रीलंका के अनुराधापुरीय महाविहार का उल्लेख करते हुए थाईलेण्ड में सिंहल बौद्धशासन की स्थापना से अन्त होता है। इसे हम श्रीलंका का वंस काव्य और थाईलेण्ड का अवदान कह सकते हैं। इसे प्रशस्तिकाव्य भी कहा जा सकता हैं। क्योंकि इसमें मेंग्राई वंस का इतिहास दिया गया है जिसमें छियांगमई, कम्बोडिया, योनरट्ठ, सुखोदय आदि का इतिहास समाहित है। इसमें श्रीलंका के साथ दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों के सम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया है। यह ग्रन्थ छः अध्यायों में विभाजित है - १) बुद्ध जीवनी, तथा २४ अन्य बुद्धों की कथा, २) प्रथम तीन संगीतियों का वर्णन, ३) श्रीलंका का बौद्धधर्म, २५६ ई. तक ४) हरिपुंजय का धार्मिक इतिहास, ५) लान्ना राज्य का इतिहास और ६) श्रीलंका का बौद्धधर्म।

वजिरसारत्थसंगह

यह ग्रन्थ भी रतनपञ्ञ द्वारा रचित है। इसमें तथागत बुद्ध के उपदेशों का संग्रह किया गया है। इसका लेखन महावनाराम में हुआ। इसी लेखक का **मूलसासन** नामक एक और पालि ग्रन्थ मिलता है जिसमें लान्न राज्य का इतिहास सन्निहित है।

वेस्सन्तरदीपनी

इसके रचयिता **श्रीमंगल** नामक थेर हैं जिन्होंने वेस्सन्तरजातक के आधार पर इसकी रचना १५१७ में की।

चक्कवालदीपनी

इसके रचयिता **सिरिमंगल** महाथेर हैं जिन्होंने उसे १५२० में सवणखम विहार में रहकर लिखा। इसमें विश्वसृष्टि के सन्दर्भ में विचार किया गया है। इसी विषय पर अग्गचंसुत्त दी.नि. के आधार पर लिखा गया **लोकदीपनी** नामक ग्रन्थ भी उपलब्ध है।

मंगलत्थदीपनी

इसके रचयिता **सिरिमंगल** थेर ने इसे मंगलसुत्त (सुत्तनिपात) के आधार पर

१५२४ में लिखा जिसमें तथागत बुद्ध के सन्देश को विसुद्धिमग्ग आदि ग्रन्थों के आधार पर धम्मकथिकों के लिये संग्रहीत किया गया है। सिरिमंगल थेर ने ही अपने समकालीन ञाणविलास द्वारा रचित संख्यापकारसक पर १५२० में एक टीका लिखी विलकपनाथाधिराज के शासनकाल १४९५ में। इसी काल में उत्तराराम नामक थेर ने **विसुद्धिमग्गदीपनी** की रचना की। इसी समय सीलवंस नामक थेर ने **उप्पादसान्ति** की रचना की जिसके पद्यों के पठन-पाठन से उपसर्गों पर विजय प्राप्त की जाती थी।

गन्थाभरण टीका

गन्थाभरण के रचयिता **अरियसंवर** नरपति (१४४२-१४६८) काल में अव में रहने लगे थे। उनके इस ग्रन्थ पर संघराज सुवण्णरंसि ने १५८४ में इस टीका की रचना की। यहां यह उल्लेखनीय है कि १५४८ में छियांगभर्म को पेगु नरेश ने अपने अधिकार में कर लिया। १८ वीं शती तक वह वर्मा के अन्तर्गत रहा। १७८२ में चक्रीवंस के काल से आधुनिक थाइलेण्ड के दिन बदले और १९४९ में उसे थाईलेण्ड नाम मिला। इसी से संबद्ध संखेप में १६०४ तक का इतिहास दिया गया है।

पठमसंबोधि

इसमें तथागत बुद्ध की जीवनी लिखी गई है। इसके लेखक का नाम अज्ञात है। फिर भी चूंकि इसका उल्लेख १७ वीं शती के गन्धवंस में आया है अत: यह कहा जा सकता है कि इसकी रचना इसके पूर्व हुई होगी। विसुद्धिमग्ग पर आधारित **संखेपत्थजोतनी** भी अज्ञातकर्तृक है।

सोतब्बमालिनी

सोतब्बमालिनी लगभग १३० पृष्ठों का ग्रन्थ है जिसमें श्रोता के गुणों पर प्रकाश डाला गया है। कहा जाता है, उपालि थेर १७५६ में इसे थाईलेण्ड से श्रीलंका ले आया उपसम्पदा की पुनरस्थापना की दृष्टि से। इस पुस्तक में एक कथा दी गई है कि तम्बपण्णि जाते समय धम्मसंगणि की "कुसला धम्मा.." गाथा को सुनकर एक मछली इतनी मोहित हो गई कि वह उसके साथ तट तक चली गई। लोगों ने उसे मार डाला। वहां से मरकर उसने सिंहल द्वीप में सुमन नाम से जन्म लिया। बाद में वही सद्धासुमन नाम से भिक्षु बना और त्रिपिटक का पण्डित हुआ। यह १८ वीं शती की रचना है। इसमें थाईलेण्ड का सिंहल के प्रति सम्मान दिग्दर्शित हुआ है।

संगीतिवंस

इसकी रचना भदन्त **वनरत्न विमलधम्म** ने राम प्रथम के राजकाल में १७८९ में की। इसमें नव संगीतियों का इतिहास दिया गया है। तदनुसार उनमें प्रथम तीन भारत में, बाद की चार श्रीलंका में और अन्तिम दो थाईलेण्ड में हुईं - छियांगमई १४७५ और बेंकाक १७८८ में। यह ग्रन्थ नव अध्यायों में विभक्त है - १. जम्बुदीपसंगीतिनिद्देस, २. लंकादीपचतुत्थवारसंगहनिद्देस, ६. जिनकालमालीपकरण के चार अध्याय, ७. अनुक्कमछतिंसराजनिद्देस, ८. नवधम्मसंगहनिद्देस, और ९. विविध।

अयोध्या के इतिहास के विषय में **महायुद्धकारवंस और चूलयुद्धकारवंस** विशेष उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

मुकुलट्ठकथा

यह टीका अनुरुद्ध के परमत्थविनिच्छय पर लिखी गई है। इसके लेखक हैं महाबोधि थेर जिन्होंने इसकी रचना संघ के आदेश पर देवाये प्रदेश में की। प्रशस्ति के अनुसार लेखक थाई निवासी था।

बुद्धलक्खण

बौद्ध मूर्तिकला पर लिखा यह कदाचित् प्रथम ग्रन्थ है जिसमें उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है।

रामञ्ञ समणवंस

इसमें पेगुनरेश के आदेश पर १४७६ में कल्याणी शिलालेख का उल्लेख किया गया है। राम चतुर्थ मोंगकुट राजा ने अपने २७ वर्ष के भिक्खुकाल में धम्मयुत्तनिकाय की स्थापना की थी (१८५१-६८)। उसने पालि शिक्षा में कुछ नये आयाम भी जोडे। उसके कुछ पालि ग्रन्थ महामुकुट राजविद्यालय से १९६८ में प्रकाशित हुए। यहीं से उसके और भी पालि ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ।

व्याख्यासाहित्य

थाईलेण्ड का समूचा पालि साहित्य त्रिपिटक पर आधारित है। उसमें अधिकांश व्याख्या साहित्य है। जैसे - **समन्तपासादिका-अट्ठयोजना, भिक्खु पातिमोक्ख गण्ठदीपनी, सीमासंकरविनिच्छय, अट्ठसालिनी-अट्ठयोजना,**

सम्मोहविनोदनी-अत्थयोजना, धातुकथा-अत्थयोजना, पुग्गलपंञत्ति-अत्थयोजना, कथावत्थु अत्थयोजना, यमकअत्थयोजना, पट्ठान-अत्थयोजना, और अभिधम्मत्थविभावनी-पंजिका-अत्थयोजना। इस व्याख्या साहित्य की रचना की ञाणकित्ति (१४४२-८७) स्थविर ने जिसने श्रीलंका में पराक्रमबाहु पंचम (१४१२-६७) के शासनकाल में पालि का अध्ययन किया।

आचार्य सिरिमंगल (१५ वीं शती) के तीन पालि ग्रन्थ मिलते हैं - **वेस्सन्तरदीपनी, संख्यापकासकदीपनी और मंगलत्थदीपनी** (१५२४)। लेखक छियांगमई के आसपास का निवासी था। सारत्थसंगह का लेखक भिक्खु नन्दाचरिय है। अभिधम्मपिटक की मातिका पर रतनपंञ ने **मातिकत्थसरूप**-धम्मसंगणि की रचना की (१५ वीं शती)। यह भी छियांगमई का ही रहने वाला था। भिक्षु उत्तराराम ने **विसुद्धिमग्गदीपनी** लिखी। वह लान्ना का निवासी था।

व्याकरण

व्याकरण के क्षेत्र में महारतनपाल के अनुरोध पर लिखी गई थेर धम्मसेनापति की पदक्कमयोजना सद्दत्थभेदचिन्ता बडी प्रसिद्ध कृति है। जिनकालमाली के अनुसार थेर धम्मसेनापति ने १५ वीं शती में **सद्दत्थभेदचिन्ता** पदक्कमयोजना की रचना १४ वीं शती में की जो सद्दत्थभेदचिन्ता पर टीका है। **सद्दबिन्दु-अभिनवटीका** की रचना हरिभुंजयनिवासी सद्दधम्मकित्ति महाफुस्सदेव ने की। वह ञाणकित्ति का समकालीन था। उसी की एक अन्य रचना है - सद्दबिन्दु पर **गन्थसार नामक टीका**। यह रचना १६ वीं शती की है। कच्चायन व्याकरण परम्परा पर ही यह टीका आधारित है। इनके अतिरिक्त सुवण्णरंशि १५ वीं शती की **गन्थाभरणटीका, अज्ञातकर्तृक गन्थाभरण संखेपटीका, ञाणकित्ति की मूलकच्चायनयोजना, सिरिमंगल १५३५ की वजिरसासंगह और थेर रतनपञ्ञ की वजिरसारत्थसंगह टीका** भी उल्लेखनीय हैं।

वंस साहित्य

थाईलेण्ड का वंस साहित्य इस प्रकार है - थेर बोधिरसि (१५ वीं शती) के **चामदेवीवंस और सिहिंगनिदान**। चामदेवीवंस में कहा गया है कि तथागत बुद्ध ने थाईलेण्ड की यात्रा की थी। वहां यह भी कहा गया है कि बुद्ध शासन की लोकप्रियता यहां अधिक रहेगी, हरिभुंजय नगर की रचना होगी, उसकी महारानी चम्पादेवी तथा

आदित्य द्वारा धम्म का प्रचार होगा। सिंहिंगनिदान में हरिभुंजय के नरेश आदित्य का इतिहास (११ वीं शती) दिया गया है और यहां श्रीलंका से आनीत तथागत बुद्ध की स्वर्ण रजत मूर्ति के अतिशय का वर्णन है। जहाज़ टूट गया पर मूर्ति डूबी नहीं वह जल पर तैरने लगी, किनारे आ गई। वहां से वह सुखोदय तथा बाद में अयोध्या, कांफेंगफेट, छियांगरई और छियांगमई ले जायी गई।

रतनबिम्बवंसपकरणवण्णनाकथा का लेखन थेर ब्रह्मराजपंच ने किया जो अयोध्या के नरेश बोरोम द्वितीय १४ वीं शती के शासनकाल में सुखोदय के महाधम्मराज विहार में रहते थे। यह गद्य-पद्यात्मक चम्पूशैली में लिखी लघुकाय कृति है जिसमें तथागत मूर्ति के चमत्कार का वर्णन है। यह मूर्ति भारत से श्रीलंका और श्रीलंका से कम्बोडिया और अयोध्या लायी गई। अयोध्या से लोपबुरी, कंफेंगफेर, छियांगरै, लेंपेंग, व्यांगचेन, थोनबुर, और अन्त में १८८२ में वतफ्रक्यो। एक अन्य काव्य है **अमरकतबुद्धरूपनिदान** जिसकी रचना थेर अरियवंसने की। उसी की एक अन्य कृति है **अद्धभागबुद्धरूपनिदान** जिसमें एक और बुद्ध मूर्ति का इसी तरह वर्णन किया गया है।

जिनकालमाली के रचयिता हैं थेर रतनपञ्ञ जो पहले छियांगरै के वत पकेव के निवासी थे। बाद में वे छियांगमई के सीहलाराम के निवासी हो गये। यह रचना वहीं के रतनमहाविहार में लिखी गई। इसमें तथागत बुद्ध के सिद्धान्त, संगीतियां, श्रीलंका और थाईलेण्ड के बौद्धधर्म का इतिहास दिया गया है। संगीतिवंस की रचना राजगुरु विमलधम्म ने की जो १८ वीं शती में बेंकाक के जेतवन विहार में रहते थे। अष्टम संगीति का संयोजन छियांगमई के महाबोधाराम में किया गया। इसके अध्यक्ष थे धम्मदिन्नमहाथेर और संरक्षक थे सिरिधम्मचक्कवत्तिलक नरेश। इस संगीति का उद्देश्य था त्रिपिटक की लिपि आदि को ठीक करना। इस संगीति को अट्ठमहासंगीति अक्खरसंसोधन संगीति का अभिधान मिला। इसमें दक्षिण पूर्व एशिया में फैले बौद्धधर्म का भी वर्णन मिलता है।

सद्धम्मसंगह की रचना नरेश बोरोम द्वितीय के शासनकाल में धम्मकित्ति महासामी ने की। प्रशस्ति के अनुसार लेखक ने पालि का अध्ययन श्रीलंका में किया। बेंकाक लौटने पर राजा ने उसे वत पकेव का निर्माण कराया जहां रहकर उसने इसकी रचना की १४ वीं शती में। इसमें लेखक ने बौद्ध संगीतियों का तथा श्रीलंका के बौद्धधर्म का इतिहास प्रस्तुत किया है। एक चूलसद्धम्मसंगह का भी उल्लेख मिलता है जो १५ वीं शती की अज्ञातकर्तृक रचना है।

विविध ग्रन्थ - सुवण्णरंसि ने १६ वीं शती में तथागत बुद्ध की जीवनी लिखी। इसका उल्लेख गन्धवंस में हुआ है। किसी अज्ञातकर्तृक की रचना उपपत्तिसन्ति परित्त भी प्रसिद्ध है। सासनवंस में लिखा है कि सेना ने इसका पारायण कर चीनी सेना को पराजित किया था। श्रीमंगल की चक्कवालदीपनी (१५२०), ञाणविलास का संख्यापकासक, सुमंगल की संख्यापकासक टीका (१५२०) भी उल्लेखनीय हैं। थाईलेण्ड के पालि साहित्य का यह संक्षिप्त विवरण है।

आधुनिक काल में पालि अध्ययन की स्थिति

थाईलेण्ड में पालि अध्ययन का आधुनिक काल मोंगकुट नरेश १८०४-१८६८ अर्थात् राम चतुर्थ से प्रारम्भ होता है। राम चतुर्थ ने लगभग २७ वर्ष बुद्धवज्रञाण नामक भिक्षु के रूप में व्यतीत किये। उसने उस काल में पालि का गहन अध्ययन किया और पालि-परीक्षा विभाग का प्रधान बना। १८३३ में उसने धम्मयुत्तिकनिकाय की स्थापना की और पालि में बोलने और लिखने के लिए प्रेरित किया। उसके उत्तराधिकारी छुल्लोंगकोने (१८६८-१९११) अर्थात् राम पंचम ने थाई में पालि परीक्षा को प्रारम्भ किया। १८४३ में उसने श्रीलंका से त्रिपिटक के ४० भाग मंगाये और उनके आधार पर वर्मी संस्करण तैयार किया। १९२५ में उस संस्करण का प्रकाशन भी हुआ। उसने पालि में कुछ स्तवन लिखे जिन्हें मन्दिरों में गाया जाता था। छुल्लोंगकोर्न ने पालि परीक्षा को पाश्चात्य ढंग से व्यवस्थित किया। पालि को शिक्षा के क्षेत्र में अनिवार्य बना दिया, उसकी मौखिक परीक्षा भी प्रारम्भ हो गई, और वत महाधातु में महाधातु राजविद्यालय की स्थापना १८९० में की जो महानिकाय का प्रमुख महाविद्यालय बना। १९४७ में इसी को बौद्ध विश्वविद्यालय का अभिधान मिला।

युवराज वजिरञाणवरोरस (१८५९-१९२१) ने अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण की, संघ में भिक्षु बना और पालि परीक्षाओं में सुधार किया। बी.ए. एम.ए., पी-एच.डी. उपाधियां प्रारम्भ की पालि में। इससे त्रिपिटक और अट्ठकथाओं के अध्ययन में गहनता आई। १८९३ में उसने वत बोमोरनिवेस में महामकुट राजविद्यालय की स्थापना की और स्वयं १८९२-१९१० तक प्रधान बना रहा। १९४५ में इसे बौद्ध विश्वविद्यालय के रूप में मान्यता मिली। १९१० में उसने 'नक धम्म' विद्यालयों की स्थापना की जिनमें पालि के विशेष अध्ययन की व्यवस्था की गई। १९१० में उसे संघराज बनाया गया। वह एक सफल पालि लेखक था जिसने अपनी पालि रचनाओं को थाई अनुवाद के साथ प्रकाशित

किया। १९६४ में धम्म और पालि के रूप में परीक्षा को दो भागों में विभक्त कर दिया गया।

नकधम्म महाविद्यालयों में ल. ३०००० छात्र हैं और १४५०० भिक्षु पालि अध्यापक हैं। ६१५ पालि महाविद्यालय हैं। पालि परीक्षा का नाम है पिरयेण। इसमें मंगलत्थदीपनी, धम्मपद अट्ठकथा, समन्तपासादिका और विसुद्धिमग्ग जैसे ग्रन्थ निर्धारित हैं। पालि अध्ययन विभाग में पालि के साथ ही संस्कृत, पुरातत्त्व, इतिहास, दर्शन आदि विषयों का अध्ययन/अध्यापन किया/कराया जाता है। परित्तों का भी अध्ययन होता है। चूलराजपरित्त और महाराजपरित्त नामक पुस्तकों का संकलन भी किया गया है। महासतिपट्ठानसुत्त, जातक, मालेय्यसुत्त, भावना आदि ग्रन्थ यहां बहुत लोकप्रिय हैं। महामुकुट विश्वविद्यालय भी एक प्रसिद्ध बौद्ध विश्वविद्यालय है।

२ कम्बोडिया का पालि साहित्य

एक दन्तकथा के अनुसार कम्बोडिया निवासियों ने महाभारतयुद्ध में बडा काम किया था। विजय के बाद वे आधुनिक कम्बोडिया में वस गये जो उस समय इन्दपत के नाम से जाना जाता था। कोण्डञ्ञ नामक ब्राह्मण ने यहां वैदिकधर्म की स्थापना की और वहां की राजकुमारी से विवाह कर इन्दपत का शासक बन गया। एक अन्य दन्तकथा के अनुसार इन्द्रप्रस्थ के शासक आदित्यवंश ने अपने पुत्र को देश निकाला दिया जो कम्बोडिया पहुंचा। वहां राजकुमारी से विवाह कर वह वहां का नरेश बन गया। राजकुमारी के पिता नागराज ने उस स्थान का नाम कम्बुज कर दिया।

इन दन्तकथाओं में कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं है। ऐतिहासिक तथ्य तो यह है कि अशोक ने सोण और उत्तर को यहां भेजकर बौद्धधर्म की स्थापना की थी। परन्तु यहां की अंकोरवाट और अंकोर थाम की कला को देखकर ऐसा लगता है कि यहां के बौद्धधर्म पर महायान का प्रभाव अधिक रहा है। कीर्ति पण्डित के प्रयत्नों से जयवर्मन् पंचम (९६८-१००० ई.) के शासनकाल में एक शिलालेख के अनुसार माध्यन्तविभंग के कारण यहां शान्ति स्थापित हुई और तत्त्वसंग्रहटीका जैसे ग्रन्थों का क्रय करके उसके प्रभाव को और भी सक्षम बना दिया।

कोण्डञ्ञ कम्बोडिया का प्रथम नरेश बना। उसने नागसेन को चीन के नरेश वोति के पास ४८४ में भेजा ताकि वह बौद्धधर्म को वहां लोकप्रिय बना सके। जयवर्मन् सप्तम (११२१-१२०१) के कारण कम्बोडिया में बौद्धधर्म की स्थापना हो सकी। नरेश

ने यहां मूर्ति की स्थापना की और वर्मन् ने अनेक कला कृतियों का निर्माण कराया। यहां शैव सम्प्रदाय का प्रभाव अधिक था। भाववर्मन् द्वितीय (६३९ ई.) के शासनकाल में सोमशर्मन् ने एक मन्दिर का निर्माण कराया और उसमें विष्णु-मूर्ति की स्थापना की और रामायण महाभारत आदि ग्रन्थों को आयातित किया। यहां के साहित्य पर इन ग्रन्थों का प्रभाव देखा जा सकता है।

खमेर राज्य के पतन के साथ वैदिक धर्म का भी ह्रास थाईलेण्ड में हो गया। थाईलेण्ड ने कम्बोडिया पर विजय प्राप्त की। फलतः पालि साहित्य और थेरवाद यहां प्रतिष्ठित हो गया। पालि साहित्य की प्रतिलिपियां की गईं। १२-१३ वीं शती में संस्कृत और पालि समान रूप से व्यवहार में आ गई। पर १४ वीं शती में संस्कृत का प्रचार कम हुआ। चम्पा में १२२३ का और कम्बोडिया में १३३० का संस्कृत शिलालेख मिला। वैदिक और महायान को थेरवाद ने पीछे छोड दिया। १३०९ का पालि शिलालेख श्री इन्द्रवर्मन् नरेश का मिला है।

महावंस - कम्बोडियन पालि साहित्य विशेष रूप से अनुवाद या लिप्यन्तरण के रूप में उपलब्ध होता है। पेरिस पुस्तकालय में खमेरलिपि में लिखे अनेक पालि ग्रन्थ सुरक्षित हैं। महावंस का संशोधित कम्बोडियन महावंस कम्बोडिया में मिला जबकि मूल महावंस श्रीलंका में ल. ५ वीं शताब्दी में महानाम द्वारा लिखा गया। मलालशेखर ने उसका सम्पादन १९३७ में किया और उसका नाम Extended Mahavamsa दिया। मूल पालि महावंस में २९१५ पद्य हैं जबकि इसमें ५७२२ पद्य हैं जो ललित शैली में नहीं हैं। २४ बुद्धों की स्तुति मूल महावंस में मात्र छह पद्यों में की गई जबकि यहां उसके लिए १२६ पद्यों का उपयोग किया गया। दुट्ठगामणी द्वारा निमन्त्रित भिक्षुओं के यहां नाम भी अतिरिक्त हैं। अध्याय भी अधिक हैं जैसे ३७ वां अध्याय। अधिक संभव है कि कम्बोडियन महावंस की रचना किसी कम्बोडियन भिक्षु मोग्गल्लान ने की है ९-१० वीं शती में हो।

पालि साहित्य का प्रभाव

खमेर गद्य - पद्य साहित्य में अप्रचलित शब्दों का प्रयोग बहुत हुआ है जो पालि या संस्कृत से लिये गये हैं। अधिकांश लेखकों का समय और नाम अज्ञात है। जो ज्ञात हैं वे संक्षिप्त पद्यों के संग्रह प्रतीत होते हैं। उनमें त्रिपिटक और परम्परागत व्यवहार का मिश्रण कर दिया गया है। केर कल, कोन चाउ को नरेश अंग ड्वांग के नाम से जोड

दिया गया और उनको काफी प्राचीन बता दिया गया। यहां प्रयुक्त शव्द पालि या संस्कृत से लिये गये। खमेर गद्य साहित्य में कर्म साहित्य का बाहुल्य है जो त्रिपिटक का अनुवाद मात्र है। जातक उनमें प्रमुख है। वेस्सन्तर जातक जैसे पचास जातकों का और रामायण का उपयोग उपन्यास, नाटक भक्ति आदि के क्षेत्र में कम्बोडिया में हुआ है।

पालि अध्ययन का पुनरुत्थान

लगभग १०० वर्ष पहले नरेश प्रअंग ड्वांग ने आदेश दिया कि त्रिपिटक का अध्ययन रायल पैलेस में कराया जाय। उसके पुत्र ने भी उसका पालन किया। १९३० में वहां की स्थापना हुई जिसमें थेरवाद के विशेष अध्ययन/अध्यापन की व्यवस्था की गई। यहां १९२५ में रायल लायब्रेरी की भी स्थापना हुई थी जिसमें पालि साहित्य को सुरक्षित किया गया। १९२९ में खमेर लिपि में त्रिपिटक के ११० भाग तैयार किये गये - १३ विनय पिटक, ६४ सुत्तपिटक और ३३ अभिधम्मपिटक। १९६९ में दतर्थ एक बडा समारोह भी किया गया। इस संस्करण में श्रीलंका वर्मा और इंगलेण्ड संस्करणों से पाठान्तर भी एकत्रित किये गये, अट्ठकथाओं, टीकाओं और जातकों का भी उपयोग किया गया। एक ओर पालि और दूसरी ओर खमेर लिपि में उसे प्रकाशित किया गया और उसे श्रीलंका, भारत, वर्मा, चीन, जापान, थाईलेण्ड आदि देशों में भेजा गया।

में खमेर लिपि में सुरक्षित कतिपय पालि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं - १. **महावेस्सन्तर अट्ठकथा, २. आदिकम्म, ३. सद्धन्तपरिवास, ४. बहुंसा बहुल चिन्तामणिरतन, ५. पढमसमबोधि, ६.. अमतरसधारा, ७. अमतरसधारानागत-बुद्धवंसवण्णना, अमतरसधाराटीका, ८. बीजाधरजातक, ९. लोकनेय्यधनंजय, १०. पालिपञ्चगति, ११. सुत्तजातकनिदाननिसंस, १२. सक्कपब्बं, १३. महाराजपब्बं, १४. गाथा लोकनेरय, १५. पंचगतिदीपनियट्ठकथा, १६. चतुरारक्खा अट्ठकथा, १७. सानायुपकरण १८. उपासक विनिच्छय, १९. इन्दसाव २०. महाबुद्धगुण २१. विवाह २२. मंगलविवाह, २३. मंगल अट्ठरस अट्ठकथा २४. बुद्धघोष निदानो २५. तिलोकविनिच्छय २६. बिम्बाभिलयसुत्त, २७. बिम्बामिलाभवण्णना, २८. जम्बूदीपवण्णना, २९. ओवादानुसासन ३०. महाविपाक, ३१. महारतनबिम्बिवंग, ३२. परमत्थदीपनी, ३३. यस्ससरस्सती, ३४. युद्धकम्मजातक वण्णना ३५. महाजातक, ३६. महासथजातक, ३७. भूरिदत्तजातक, ३८. सुवण्णसोमाजातक, ३९. महावेस्सन्तरजातक**

बौद्ध भिक्षुवर्ग ने शिक्षा क्षेत्र में भी योगदान दिया। उसने १९०९ में संघराज ने पालि हाई स्कूल की स्थापना की अंगकोर वाट में। बाद में उसे १९१४ में राजधानी फिनोम पेन्ह में स्थानान्तरित कर दिया गया जहां उसका और भी विस्तार हुआ। १९७५ तक इसके ६०० केन्द्र खुल गये और १०००० भिक्षुओं और सामणेरों ने पालि आदि विषयों का अध्ययन किया। यही बाद में बौद्ध विश्वविद्यालय के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। इसी के साथ ही धम्म विनय स्कूल, धम्मदूत कालेज, बौद्ध विश्वविद्यालय, पुस्तकालय आदि भी स्थापित हुए जिनमें पालि बोद्धधर्म के अध्ययन की समुचित व्यवस्था हुई।

३. कम्बोडिया का पालि साहित्य

खमेर शासन को दक्षिण-पूर्व एशिया का मुख्य सांस्कृतिक संरक्षक माना गया है। उसका सम्बन्ध दक्षिण चीन महासागर और स्याम खाडी कम्बोडिया, लाओस, वियतनाम और कम्बोडिया से रहा है। अंगकोर की खमेर राजधानी की स्थापना जयवर्मन् द्वितीय ने ८०२ ई. में की जिसका विकास बारहवीं शती तक होता रहा। इस बीच वहां ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर और बाद में बुद्ध की मूर्तियां का निर्माण हुआ। कम्बोडिया भारतीय संस्कृति का संबाहक रहा हैं लं. पांचवी शती तक। ५०३ ई. में जयवर्मन् ने चीन में अपना दूत भेजा तथागत की मूर्ति के साथ। रुद्रवर्मन् का अभिलेख वहां बौद्धधर्म के प्राबल्य का उल्लेख करता है। ७वीं शती में वहां शैव सम्प्रदाय लोकप्रिय हुआ। यशोवर्मन् ने नवीं शती में विशाल सुगताश्रम की स्थापना की। सुवण्णवर्मन् (११ वीं शती) बौद्ध था और उसे निर्वाणपद विरुद मिला था पर प्रखन शिलालेख में पहले शिव को और फिर बुद्ध को नमन किया गया। अनेक मन्दिरों में उत्कीर्ण शिलालेखों में शिव और विष्णु को नमस्कार किया गया है। जयवर्मन् सप्तम (११८१-१२०१) कम्बोडिया का सर्वश्रेष्ठ बौद्ध नरेश रहा है। शिलालेखों में उसके बौद्ध विहारों के लिए प्रदत्त दान का भूरिशः उल्लेख है। कवीन्द्रारिमथन और कीर्तिपण्डित का नाम बौद्ध के रूप में उल्लिखित है। यहां महायान का प्रभाव दिखाई देता है। श्रीन्द्रवामदेव का लेख (१३०८) पालि में लिखा गया है। उसमें थेरवाद को राजधर्म के रूप में स्वीकारा गया है। फिर भी महायान का प्रभाव बना रहा। १२ वीं शती तक कम्बोडिया में पालि ग्रन्थ अधिक नहीं पहुंचे। खमेर उन्हें ले आये और उनका लिप्यन्तरण कराया, अनुवाद कराया।

जीवनी

तथागत बुद्ध की जीवनी पर अनेक पालि ग्रन्थ उपलब्ध हैं। **पढमसम्बोधि** में चौदह अध्याय हैं जो तुषितवग्ग से प्रारम्भ होते हैं और परिनिब्बाणकथा में समाप्त होते हैं। इसकी विषय सामग्री जातकट्ठकथा की निदानकथा, बुद्धवंस और परिनिब्बाणसुत्त पर आधारित है। इसकी रचना सुवण्णरंसि ने की। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम पढमाभिसम्बोधिविस्तार कथा है।विवाह मंगल या मंगलविवाह पढमसम्बोधि का ही एक अध्याय है जिसमें युवराज सिद्धार्थ और राजकुमारी यशोधरा का विवाह वर्णन हैं। इसमें प्रथम संगीति को भी संमिलित कर लिया गया है। इसका लेखक है महासेन। संपिण्डित महानिदान में जातकट्ठकथा के दूरेनिदान, अविदूरे निदान और सन्तिकेनिदान के आधार पर तथागत की जीवनी प्रस्तुत की गई है। इसमें महाकस्सप की मृत्यु १२० वर्ष की अवस्था में हुई और कहा गया कि उनका शरीर कुक्कुटसम्पात पर्वत पर तब तक रहेगा जब तक मैत्रेय बुद्ध वहां नहीं पहुंचते। **बिम्बाभिलापवण्णना** का सम्बन्ध बिम्बादेवी से है जो राजकुमार सिद्धार्थ की पत्नी रही है। तथागत ने कपिलवस्तु में प्रथम भेंट उसी को दी उपदेश देने के लिए। **अमतरसधारा** अनागतवंस की टीका है जिसमें १५० पद्य मैत्रेय बुद्ध पर हैं। गन्धवंस उपतिस्स का उल्लेख करता है जो अनागतवंस का लेखक रहा है। मलालशेखर ने इस उपतिस्स को बोधिवंस का लेखक माना है (१० वीं शती)। अनागतवंसट्ठकथा को ही कम्बोडिया में अमतरसधारा के रूप में पहचान दी गई है। **महारत्नबिम्बवंस** का अभिधेय है नागसेन की जीवनचर्या जिसका जन्म तथागत के परिनिर्वाण के ५०० वर्षो बाद हुआ। यहां बताया गया है कि कम्बोडियन बुद्ध मूर्ति का निर्माण नागसेन ने कराया था। यह मूर्ति पहले अयोध्या पहुंची। बाद में क्रमशः पकार, जंराय और पुंजय। मरकत बुद्ध मूर्ति की भविष्यवाणी के साथ इस ग्रन्थ की समाप्ति होती है।

विनयग्रन्थ

आदिकम्म का सम्बन्ध पाराजिक के गुरुकापत्ति से है जिसका सम्बन्ध सुदिन्न से रहा है। पुत्रोत्पत्ति की लालसा में सुदिन्न अपनी पत्नी के साथ रहने लगता है। फलतः उसे बीजक नाम का पुत्र उत्पन्न होता है। फिर भी आदिकम्मिक होने के कारण वह अपराधी नहीं माना गया। **चतुपारिसुद्धसील** में चार गुणों का वर्णन है - पातिमोक्खसील, आजीवपरिसुद्धसील, इन्द्रियसंवरसील और पच्चयसन्निसितसील।

लेखक अज्ञात है। उसने विसुद्धिमग्ग के सीलनिद्देस के आधार पर यह ग्रन्थ लिखा है। **महाविपाक** चतुपारिसुद्धसील से प्रारम्भ होता है और पातिमोक्ख से उसकी समाप्ति होती हैं ओवादानुसासना में सामणेर और भिक्षुओं के लिए अनुशासन की व्यवस्था दी गई है। इसमें चीवर, पात्र, कठिनचीवर का कैसा उपयोग करना चाहिए यह बताया गया है। इसका लेखक स्याम का संघराज माना जाता है। **सुद्धन्तपरिवास** में परिवास की व्याख्या है संघादिशेष होने पर। **सासनायुप्पकरण** में बौद्ध विनय शासन को स्पष्ट किया गया है। इसके दो भाग हैं - प्रथम भाग पालि में है और दूसरा भाग वर्मी में है। इसमें संघदान को विभक्त करने की व्यवस्था है। उसे तीन भागों में विभक्त कर दिया गया - संघ, संघप्रमुख और चेतिय। **संगीतिकथा** में प्रथम संगीति की चर्चा की गई है जो राजगृह की सप्तपर्णी गुफा में हुई थी महाकस्सप की अध्यक्षता में और अजातशत्रु के संरक्षणत्व में। ५०० भिक्षुओं ने इस संगीति में धम्म और विनय का संगायन हुआ था।

सैद्धान्तिक ग्रन्थ

भोज्झंगपाठभावना में महाकस्सपबोज्झंगसुत्त के आधार पर सप्त बोध्यंगों पर विचार किया गया है। चतुभाणवार की टीका **सारत्थसमुच्चय** से यह ग्रन्थ अधिक प्रभावित है। ग्रन्थ के अन्त में लिखा है कि किस तरह सामणेर निग्रोध ने इसकी देशना देकर सम्राट् अशोक को प्रभावित किया था। **चतुरारक्खा** में २९ पालि पद्य हैं जिनमें चार ध्यानांगों पर विचार किया गया है - १. बुद्धानुस्सति, २. असुभानुस्सत्ति, ३. मरणानुस्सति और ४. मेत्तानुस्सति। इस अज्ञातकर्तृक रचना के रयचिता कम्बोडिया और थाईलेण्ड की परम्परानुसार बुद्धघोषाचार्य हैं। इन पद्यों में अध्यात्म और साधना के बीज दिखाई देते हैं। उदाहरणार्थ -

बुद्धानुस्सति मेत्ता च असुभं मरणस्सति।

इति इमा चतुरारक्खा भिक्खु भावेय्य सीलवा।।

अनन्तवित्थारगुणं गुणन्तो 'नुत्तारं मुनिं।

भावेय्य बुद्धिमा भिक्खु बुद्धानुस्सति मादितो।।

चतुरारक्खा-अट्ठकथा एक संक्षिप्त अट्ठकथा है। इसकी मूल उत्पत्ति कम्बोडिया में हुई। कवि प्रारम्भ में बुद्ध गान करता है और फिर दस पारमिताओं का वर्णन करता है। दसपुञ्ञकिरियवत्थु में लेखक दसकुसलकम्मों पर चर्चा करता है - दान,

सील, भावना, अपचायन, वेय्यावच्च, पत्तिदान, अनुमोदना, धम्मसवण, धम्मदेसना और दिट्ठिज्जुकम्म। **दसवत्थु** ग्रन्थ दस भागों में विभक्त है - अन्न, पान, वत्थ, यान, माला, विलेपन, धूपगन्ध, सयन, आवास और पदीप। लेखक सर्वप्रथम बुद्ध, धम्म और संघ को नमन करता है। इसमें दान पर निकाय के आधार पर विवेचन किया गया है।

अनिस्मा एक लघु ग्रन्थ है जिसमें परित्त या मंगलसुत्त का लाभ बताया जाता है और वर्णन किया गया है कि महामोग्गल्लान ने अवीचि नरक और देवलोक में जाकर परित्तगान का लाभ बताया और धम्मदेसना दी। बाद में अट्ठसंवेजनीयवत्थु की व्याख्या की। **इन्दसाव** एक लघुकाय धारणी है जिसमें इन्द्र को एक पत्र लिखा गया है और फिर दस पारमिताओं की व्याख्या की गई है। यहां साव का तात्पर्य पत्र से है। कायनगर या कायनगरसुत्त में तथागत बुद्ध की देसना वर्णित है। इसमें काया की तुलना नगर से की गई है। त्रिविध शिक्षा अधिशील, अधिचित्त और अधिप्रज्ञा का सम्बन्ध आनापानसति से स्थापित किया है। क्लेशों की व्याख्या करने के बाद उनसे दान, शील और भावना के माध्यम से कैसे मुक्त हुआ जा सकता है, इसकी व्याख्या की गई है। क्लेशों की उपमा योद्धाओं से और उन्नीस शोभनसाधारणों की उपमा बुद्धिमानों से की गई है। अभिधम्म के अनुसार अन्त में चित्त की व्याख्या की गई है।

महाबुधगुण में बुद्ध के नव गुणों की प्रशंसा की गई है और अन्त में दस पारमिताओं का वर्णन हुआ है। **महाकप्पलोक सण्णनपञ्ञत्ति** में यह वर्णन है कि तथागत ने वैशाली के आम्रवन में अनिच्च पर देशना दी थी और अन्त में बुद्ध रक्खितखेत्त पर व्याख्या की गई है जिसे चक्कवाल कहा जाता है। **मंगल अट्ठत्थसार** अट्ठकथा दीघनिकाय के लक्खणसुत्त पर लिखी व्याख्या है। इसमें बुद्ध के बत्तीस महापुरुष लक्षणों पर विस्तार से विचार किया गया है। इसके बाद सत्तारियधान पर विचार किया गया है - सद्धा, सील, हिरि, ओत्तप्प, सुत, चाग और पञ्ञा। तृतीय भाग में सत्तबोज्झंग पर विवेचन हुआ है - सत्ति, धम्मविचय, विरिय, पीति, पस्सद्धि, समाधि और उपेक्खा। प्रशस्ति के अनुसार इसका लेखक है नरेश बुद्धपादमंगलमहादेव जिसने बुद्धपद प्राप्त करने की इच्छा से इसका लेखन किया है। **पंचगतिदीपनी पालिपंचगति** में पंचगतियों का वर्णन है - निरय, तिरच्छन योनि, पेत्तिविसय, मनुस्सलोक और देवलोक। इसमें पांच खण्ड हैं निरयखण्ड आदि। यह अज्ञातकर्तृक रचना है। पंचगतिदीपनीयट्ठकथा पंचगतिटीका के नाम से इस पर एक टीका उपलब्ध है। **तिण्णकवत्थु**

तिण्णपालकवत्थु में कठिन चीवर दान के गुणों की अनुशंसा की गई है। इसे पुण्यकार्य माना गया है। तिण्णक नामक बुनकर ने तथागत को इस कठिनचीवर का दान किया था।

त्रैलोकविनिश्चय का प्रचार कम्बोडिया और थाईलेण्ड में समान रूप से है। वह तिलोकविनिच्छय का अनुवाद है जिसका लेखन फ्रय, पिजा और अन्यों ने १७९० में किया था राम प्रथम के निवेदन पर। बुद्धगान करने के बाद यहां रूपलोक, भूमिलोक, सत्तलोक और आकाशलोक पर विचार किया गया है। फिर लेखक लोकविनाश की बात करता है और सात कल्पों की। यह सत्तसुरियसुत्त पर आधारित है। अन्त में कम्मविपाक का उल्लेख है। यससस्सत्थ में धारणी समाहित है जिसमें पढमं, दापारमिं दुतियं सीलपरमिं आदि के साथ दस पारमिताओं का वर्णन हुआ है। **चुल्लटीका विसुद्धिमग्ग** में विसुद्धिमग्ग के कठिन शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत हुई है। थाईलेण्ड में इस टीका का नाम है - संखेपत्थजोतनी- विसुद्धिमग्ग-चूलटीका। समासरूपदीपनी के योजनासमास में समास पर विचार किया गया है।

महादिव्वमन्तः एक परित्त पाठ

महादिव्वन्त कम्बोडिया में एक परित्त पाठ के रूप में लोकप्रिय है। इस पर डॉ. पद्मनाभ जैनी ने १९६५ में एक आलेख लिखा था जिसका प्रकाशन के नाम से मोतीलाल बनारसीदास ने २००१ में प्रकाशित किया था। इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि उन्हें के महाधीश से प्राप्त हुई थी। उन्होंने उसे महायानी माना था। यह ग्रन्थ वहां तो नहीं मिला पर बेंकाक के नेशनल म्यूजियम मिल गया। इसमें कम्बोडियन लिपि में लिखे ४८ पत्र हैं।

दिप्पमन्त शब्द का प्रयोग पाण्डुलिपि में इस प्रकार मिलता है - इध **संगामं गच्छन्तो भासेन्तो दिव्वमन्त्रकं**। परन्तु उसकी पुष्पिका में महादिव्वमन्त शब्द उपलब्ध होता है। इसकी भाषा में संस्कृत प्राकृत शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। इसमें एक स्थान पर गद्य है और १०८ अनुष्टुप और एक उपजाति छन्द है। यह संख्या पवित्रता का प्रतीक है। तथागत के चरणों में १०८ चिन्हों का उल्लेख मिलता है - **अट्ठुत्तरसतं यस्स मंगलं चरणद्वये (पद्य ५)**

इसके विषय के संदर्भ में कहा जा सकता है कि त्रिमंगल वन्दना १-९, जय

गाथा १०-१३, १०८ लक्षणों का विश्लेषण १४-१७, दस पारमिताएं १८-२०, मण्डल १८-२०, मण्डल में दसबुद्ध २७-३३, चन्द परित्त ३४-७, सुरिय परित्त ३८-९, मन्त्र ४०-५२, नवग्रह १२ मास, १२ पशु, १४ नक्षत्र, बारह राशि ५३-५५, अष्ट मातृकाएं ५६-६२, संपत्ति प्राप्ति निवेदन ६३-७७, सिद्धिगाथा,, हर राम आदि की प्रशस्तियां ९०-८, उपसंहार ९९-१०८।

महादिव्वमन्त में परित्त को केन्द्र में रखा गया है जिसे दो भागों में विभाजित किया गया है - चन्द और सूरिय परित्त। इन दोनों परित्तों का सम्बन्ध संयुत्तनिकाय से हैं- १५०-१, उनका समायोजन परित्तसुत्तों १४-१५ में हुआ है, चतुआणवार। छह पद्य ऐसे हैं जो श्रीलंका-वर्मा के परित्त सूत्रों में उल्लिखित हैं। अतः यह लघु ग्रन्थ महायानी परम्परा का तो नहीं माना जा सकता है। हां, हर हरि, राम का उल्लेख यह अवश्य सोचने को बाध्य करते हैं कि कहीं यह बौद्ध तान्त्रिक परम्परा से सम्बद्ध तो नहीं है। यहां ईश्वर और बुद्ध का उल्लेख एक साथ हुआ है। **बुद्धरूपं च सव्वेसिं** में बुद्ध देवी-देवताओं का संकेत किया है जो थेरवादी परम्परा के विरुद्ध है।

ब्राह्मण देवी-देवता, विशेष रूप से हरिहर का उल्लेख कम्बोडियन परम्परा की ओर संकेत करता है जिस पर पहले शैवों का अधिकार था बाद में बौद्धधर्म ने उसे दबा दिया। खमेर परम्परा से उसे सम्बद्ध होना चाहिए। इसमें धारिणी देवी का भी उल्लेख हुआ है जो कम्बोडिया और स्याम परम्परा का मूल रूप है। अंगकोरवाट में उसकी मूर्ति भी उत्कीर्ण है।

बारह पशुओं का उल्लेख चीनी परम्परा की ओर संकेत करता है। सूर्यवर्मन प्रथम (ई. १०३९) के अभिलेख में भी उसका उल्लेख हुआ है। खमेर लेख में भी (ई. ११८३)। यह चीनी परम्परा हरिपुञ्जय श्याम में प्रचलित थी जैसा जिनकालमाली ई. १५१६ में उल्लिखित है। इसके साथ यह भी विचारणीय है कि इसकी कतिपय गाथाएं (१७-२१-३;१०७-८) श्रीलंका के जयपरित्त, महाजयमंगल गाथा , चूलजिनपंजर जैसे परित्त पाठों में उपलब्ध हैं। अतः इसका समय ल. १५ वीं शती होना चाहिए। इसका मूल रूप श्रीलंका का होगा। १५ वीं शती में श्रीलंका से भिक्षु कम्बोडिया और स्याम आये होंगे और उनसे यह प्रति यहां की लिपि में लिखी गई होगी।

जातक साहित्य

थेरवाद बौद्धधर्म की प्रतिष्ठा के बाद कम्बोडिया में जातक साहित्य बहुत

लोकप्रिय हुआ। उसके आधार पर लेखकों ने नाट्य प्रदर्शन के माध्यम से नैतिक जीवन की व्याख्या की और बोधिसत्त्व के पूर्वजन्मों के गुणों की प्रशंसा की। ऐसे जातकों में भूरिदत्त, महोसध, महाउम्मग और वेस्सन्तर विशेष उल्लेखनीय हैं। पण्णासजातक नामक एक संग्रह कम्बोडियन अनुवाद के साथ १५-१६ वीं शती में स्थान में लिखा गया। सीलजातक, सुद्धकम्म और विज्ञाधरजातक भी लिखे गये। धनंजय जातक और विधुर पंडितजातक के आधार पर गाथालोकनेरय नाम का पालि काव्य लिखा गया जिसका प्रथम अध्याय नगरपवेसखण्ड और अन्तिम अध्याय द्वादसपञ्ञहखण्ड है जिसमें दसराजधम्म का वर्णन है - दान, सील, परिच्चाग, अज्जव, मद्दव, तप, अक्कोध, अविहिंसा, खन्ति और अवरोधिता। महावेस्सन्तर अट्ठकथा में तेरह अध्याय हैं जिनमें प्रथम है दसवरगाथा, और १०-११ वां अध्याय है - सक्कपब्बं और महाराजपब्बं। सिविजयजातक राजा सिविजय की जीवनी है। वह १५ अध्यायों में विभक्त है। इसमें दानपारमिता का वर्णन है। यह ग्रन्थ १७-१८ वीं शती की रचना है। इसमें देवधम्म का उल्लेख है। महाजम्बूपतिसराजा (जम्बूपतिसुत्त) भी एक लोकप्रिय महाग्रन्थ है। मिलिन्दटीका को मधुरत्थपकासिनी भी कहा जाता है। उसे डेनिस विद्वान पाउल टुक्सेन ने प्राप्त किया और उसे रायल लायब्रेरी में रख दिया। मिलिन्दपञ्हो ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें तथागत के अस्सी अनुव्यंजनों का वर्णन है जिनालंकारटीका के अतिरिक्त। इसके लेखक का नाम है महातिपिटक चूलाभ्यत्थर जिन्होंने उसे ल. तेरहवीं शती में श्रीलंका में लिखी। पर अधिक संभव है कि यह रचना छियांगमई में १४७४ में पूरी हुई होगी सीहलसासन के प्रभाव में।

भक्ति साहित्य

कम्बोडियन पालि साहित्य में एक अलग तरह का परित्त लिखा गया। उसमें महाकुंसानफलपरित्त महाचक्कवालपरित्त, सोवसमंगलपरित्त जैसे परित्त संग्रहीत हैं। अन्त में एक धारणी को संग्रहीत किया गया है। बाहुंस, बाहुंस चिन्तामणिरतन या बाहु टीका एक भक्ति ग्रन्थ है जिसके दस अध्याय हैं - मार, यक्ख, आळवक, नालागिरि, अंगुलिमाल थेर, चिन्चा, सुन्दरी, सच्चक, मन्दोपनन्द, ब्रह्मनिमन्तनिक और उपसंहार। बहुसहस्स से मिलता-जुलता बुद्धजयमंगल है जिसमें रतनपल्लवंक के रूप में तथागत की भक्ति की गई है जिसमें उन्होंने मार को पराजित किया।

१९६१ में डॉ. पी.एस जैनी को नेशनल लायब्रेरी बेंकाक में भूर्जपत्र पर लिखी

महादिब्बमन्त्र की एक प्रतिलिपि प्राप्त हुई जिसका उपयोग कम्बोडिया और थाईलेण्ड में कहीं भी नहीं हुआ था। खमेरलिपि में वह लिखी गई थी। उसमें १०८ पद्य थे पालि में। सभी अनुष्टुभ छन्द में मात्र एक उपजाति में। इसमें बुद्ध के १०८ नामों की स्तुति, मण्डल, राशि, ग्रह, नक्षत्र, मास आदि की चर्चा करते हुए हर, हरिहर और राम का उल्लेख, दिब्बमन्त्र का प्रभाव, युद्धादि में निर्भय रहना और उसे जीतना आदि का वर्णन है। बौद्धधर्म पहुंचने के पूर्व क्रम्बोडिया में हरिहर की लोकप्रियता, धारिणी (पृथ्वी देवी) का अंकन कला में फ्र थ्रार्नी के रूप में, वेनतरय (गरुड) के रूप में उल्लेख विशेषतः अंगकोर में, चीनी द्वादशवर्षीय चक्र का प्राचीनतम उल्लेख सूर्यवर्मन् प्रथम (१०३९) के लेख में, परित्त का उल्लेख हुआ है। अज्ञातकर्तृक यह स्तोत्र मध्यकाल का है। चतुभाणवार में ऐसे बीस परित्त में हैं जबकि मिलिन्दपंञ्ह में मात्र छह हैं।

यह एक संक्षिप्त विवरण है। इस पर अभी और कार्य अपेक्षित है। फ्रेन्च विद्वानों ने इस क्षेत्र में अच्छा कार्य किया है खमेर लिपि में लिखित साहित्य पर ।

३. लाओस का पालि साहित्य

वर्मा, श्रीलंका की अपेक्षा अन्य देशों में पालि साहित्य अपेक्षाकृत बहुत कम है। George Coedes ने लाओस में प्राप्त पालि साहित्य का विवरण दिया है। इसमें निस्सय अधिक हैं और जातक भी।

वर्मी भिक्षु छपट के कच्चायन व्याकरण पर **सुत्तनिद्देस** या निद्देसन्याससंगह लिखा गया। निकायों के आधार पर पोरणसंगह तैयार किया गया जिसमें ये सुत्त संग्रहीत हैं - सुभसुत्त या चूलकम्मविभंग, महानामसुत्त, उपासकवग्ग, विसाखुपोसथसुत्त, धम्महदयविभंगसुत्त, छत्तमानवकविमान, रेवतीविमान, गुत्तिलविमान, अनेक वण्णविमान, महादुक्खक्खन्धसुत्त, अट्ठिपुंजसुत्त, महाराहुलोवादसुत्त, पावेय्यकसुत्त, सूकरपोतिकावत्थु; जरामरणसुत्त, पियसुत्त, अप्पमादसुत्त, अपुत्तकसुत्त, तमोतमपारायणसुत्त, पब्बतूपमसुत्त, लोकविचरणसुत्त, सुपुब्बण्हसुत्त और धम्मविहारीसुत्त। यहां इन सुत्तों का मूल पालि स्थान भी उल्लिखित हुआ है।

एक अन्य संगह है **सुत्तसंगह** जो सिंहल के सुत्तसंगह से अलग है। इसमें पांच सुत्तों का अनुवाद है - सुमन, वेलाम, दक्खिणविभंग, उपोसथ और कसीभारद्वाज सुत्त वामदन्तधातुसुत्त में तथागत के बायें दन्त-धातु की कथा है।

बुद्धापदान

यह एक अज्ञातकाल की रचना है जिसमें बुद्धापदान और मेत्तेय्यसुत्त, का अनुवाद समाहित है और साथ ही मूलकम्मट्ठान और सप्पुरिससुत्त का लोओत्सियन रूपान्तरण संग्रहीत है। मेत्तेय्यसुत्त का सम्बन्ध भावी बुद्ध मेत्तेय्य से है जिसे गौतमबुद्ध ने सारिपुत्त के समक्ष व्याख्यायित किया और उसे स्वयं से संबद्ध किया। इसमें मेत्तेय्य बुद्ध का सारा जीवन चरित प्रस्तुत किया गया है। सप्पुरिससुत्त में तण्हंकर से लेकर गौतम तक २८ बुद्धों के जन्मस्थान, माता-पिता के नाम गृहस्थ काल, बोधिवृक्ष और जीवनकाल का विस्तृत वर्णन है। गौतम बुद्ध के विषय में उनके पूर्वजन्मों की कथा, दस पारमिताओं की प्राप्ति, माया की कुक्षि में प्रवेश, सम्बोधि प्राप्ति और परिनिर्वाण काल का वर्णन किया गया है। इसी के द्वितीय भाग में बताया गया है कि सिखिबुद्ध के काल में वह किस तरह सद्देय्य ब्राह्मण संघ को दान देकर चक्रवर्ती बना और बाहुल भिक्षु के रूप में जन्म ग्रहण किया। इसका प्रारम्भ **'एवं मे सुतं'** से प्रारम्भ होता है। **मूलकम्मट्ठान** का आधार पालि ग्रन्थ है। जो योगावचारियों के लिए लिखा गया। इसमें ध्यान, योग और शमथ कम्मट्ठान की विस्तृत व्याख्या की गई है।

अभिधम्म चेत कम्बी एक लघु ग्रन्थ है जो धम्मसंगणि पर आधारित है। तिलक्खणसुत्तसंगह का पूरा नाम है **धम्मपद्सुत्तसंगह तिलक्खण विनिच्छय कथा**। यह अनुवाद पांच भागों में विभक्त है - १) दूर्भाग्यपूर्ण जन्म, २) व्यक्ति के दुःख, दुःखसत्य, दुःखोत्पत्ति और दस पुण्यकार्य, ३) दुःखनिरोध और दुःखनिरोधमार्ग, ४) विश्व की सर्वोच्च स्थिति, और ५) तथागत बुद्ध के गुण, अनित्य, दुःख और अनात्म की विशेषताएं। इसमें धम्मपद आदि ग्रन्थों के उद्धरण देकर अपने विचारों को प्रस्तुत किया गया है।

सुधनजातक पञ्ञासजातक का एक भाग है। दुकम्मजातक पञ्ञासजातक की १८ वीं कथा है जिसमें एक ऐसी स्त्री का वर्णन है जिसने तीन पतियों के साथ अपना जीवन बिताया। एक उसमें ऐसा व्यक्ति है जिसने तीन बार भिक्षुत्व अवस्था ग्रहण की और उसे छोडकर गृहस्थ बना। उसने ऐसे नगर में प्रवेश किया जहां वह पकडा गया, जेल में डाला गया। उसने अपने पिता की कोई बात नहीं मानी। बाद में अपनी पत्नी चिन्चमानविका, मित्र देवदत्त की बात मानकर, तदनुकूल आचरणकर तक्षशिला का राजा दुकम्म बना। अन्त में यह कथा जातकट्ठकथा के समान समाप्त होती है यह कहकर

कि उसे भ. बुद्ध ने तब कहा जब वे जेतवन आराम में रह रहे थे। नन्दकुमार या मातिका का प्रारम्भ सुत्त के समान होता है पर वह वस्तुतः एक प्रकार की जातककथा है जिसमें पुण्यकार्यो के प्रतिफल का वर्णन किया गया है। चन्दगाधजातक लाओस, थाईलेण्ड और कम्बोडिया में समान रूप से लोकप्रिय है। इसमें चन्दगाध बोधिसत्त्व का वर्णन है। चम्पानगर में अकाल पडने पर चन्द्रगाध अपने भाई सुरियगाध के साथ वहां जाते हैं। सुरियगाध इन्द्र द्वारा प्रदत्त पौधे वहां लगाता है और उसकी पुत्री से विवाह करता है। इन्दपत्त में चन्द्रगाध नरेश की सुपुत्री देवतासंखा से परिणय करता है। यात्रा के दौरान तूफान के कारण दोनों अलग-अलग हो जाते हैं और संयोग से राजकुमारी बच जाती है जो बाद में भिक्षुणी बन जाती है। चन्दगाध चमत्कारी रत्न और चन्दन के कारण संखनगर पहुचंता है जहां वह तीन श्रेष्ठियों की पुत्रियों के साथ विवाह करता है। उसके बाद वह अपनी पूर्व पत्नी की खोज करता है। इस बीच उसकी भेंट एक तरुणी ब्रह्मचरिणी मालिका से होती है और वह उसके साथ भी विवाह कर लेता है। बाद में वह अपनी ससुराल पहुंचता है जहां शत्रु से युद्धकर राज्य हथया लेता है। वहां वह ३०० वर्षो तक राज्य करता है। सुरियगाध, देवतासंख्या और सुदस्सनकुमार की पहचान यहां क्रमशः सारिपुत्त, यशोधरा और देवदत्त के साथ की गई है। प्रशस्ति के अनुसार इसका लेखक है गम्भीरपञ्ञा।

सम्मभित्तजातक पचास जातकों में एक है जिसका उल्लेख सुभमित्तजातक के रूप में भी हुआ है। इसमें शुभमित्र बोधिसत्त्व, का वर्णन चम्पक के राजा के रूप में हुआ है। उसके भाई अशुभमित्रा ने उसका राज्य छीन लिया। शुभमित्र अपनी पत्नी केशिनी और दोनों पुत्रों के साथ राज्य से बाहर निकल गया। नदी पार करते समय वह परिवार से अलग हो गया। संयोग से वह तक्षशिला का राजा बन गया। भेंट के रूप में उसे दो तरुण युवक दिये गये जिन्हें उसने नौका के रक्षक के रूप में रख लिया। उसी नौका पर उसकी पत्नी रहती थी जिसने उन दोनों रक्षकों को पहचान लिया। बाद में सारा परिवार एक साथ हो गया। उसने जयसेन को राज्य सौंप दिया। यहां शुभमित्र, अशुभमित्र, जयसेन, मायादित्य, और केसेनी की पहचान क्रमशः बुद्ध, देवदत्त, आनन्द, राहुल और यशोधरा से की गई।

सुवण्णहंस या **द्वेसीसजातक** एक द्विशीर्ष वाले सुवर्ण हंस की कथा है। यह कथा कस्सपबुद्धकाल की है। अरिंदमजातक कथा तथागत बुद्ध ने जेतवन में रहते हुए

समाज को दी थी दानपारमिता के सन्दर्भ में। बोधिसत्त्व ने अरिंदम नरेश के रूप में जन्म लिया। इन्द्र ने ब्राह्मण बनकर उनकी सारी सम्पत्ति ग्रहण कर ली और उसे द्वाररक्षक बना दिया। पत्नी ने एक बालक को जन्म दिया जिसकी बाहर ही मृत्यु हो गई। बाद में नरेश ने उसकी सारी सम्पत्ति वापिस कर दी और वह पुनः शासक बन गया। सुवण्णजातक में सुवर्ण के रूप में बोधिसत्त्व की कथा दी गई है। लोकविनय जातक का उपदेश बुद्ध ने जेतवन आराम में दिया था। आनन्द ने भ. बुद्ध के लौकिक उपदेशों की प्रशंसा की थी। इसमें धनंजय बोधिसत्त्व की कथा दी गई है कि किस तरह उन्होंने संघर्षो पर विजय प्राप्त की। यह ग्रन्थ अनेक अध्यायों में विभक्त है - १) उपपत्तिनिदान कथा, २) वितकपञ्ह, ३) मलतलधम्मपञ्ह, ४) द्वारपंह, ५) विनिच्छयपञ्ह, ६) पुरोहितलक्खणवण्णना, ७) धम्मोवाद कथा, ८) क्रोधपञ्ह, ९) संखितकण्ड, १०) अकतञ्ञूकथा, ११) सल्लापकथा, १२) वियोगकण्ड, १३) अधिवत्थकण्ड, १४) आवाहकण्ड, १५) धम्मदेसनाकण्ड, १६) पाचीगामानुपत्तवण्णना, १७) नगरपत्तकण्ड, १८) अंगरट्ठगमन कण्ड, १९) चतुपुग्गलदुच्चजिकण्ड, २०) करणकण्ड, २३) अभंगिधम्मवण्णकथा, २४) उपराजकण्डपारिच्छेदकथा और २५) धम्मयुद्धकण्ड।

बालसंख्याजातक जम्बूपति नरेश जैसी कथा को समाहित किये हुए है। यह कथा राजगृह के वेणुवन में कही गई थी। इसमें निम्नलिखित अध्याय हैं - १. पठमसमागम, २. भामारिगुण, ३. बालसंख्य, ४. सुमित्तकण्ड, ५. सल्लपन्तपारिच्छेदो पंचम, ६. जयसमागम, ७. नगरपवेसकण्ड। सुरियवंसहंसजातक या पवरवनहंसजातक पचासजातकों में संमिलित नहीं है। इसमें देवदत्त कथा का उल्लेख है। **सुवण्णजीव्ह जातक** भी लाओस में बहुत लोकप्रिय है। **सुवण्णमेघजातक** कथा भी जेतवन में कही गई थी। बोधिसत्त्व राजकुमार सुवण्णमेघ अपने भाई जयराजकुमार की ईर्ष्या का कारण बना। उसे बाहर फेक दिया गया था पर सौभाग्य से उसे बचा लिया गया। यह जातक भी पूर्वोक्त पचास जातकों से बाहर है। **सुवण्णहंसजातक** में सुत्तनिपात के विजयसुत्त का उल्लेख हुआ है। वाराणसी के ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के पुत्र के रूप में बोधिसत्त्व का उल्लेख है। **निब्बानसुत्त** में बुद्ध का उपदेश मृत्यु के सन्दर्भ में हुआ है और निर्वाण की प्राप्ति के लिए पुण्यकार्यो का होना आवश्यक बताया है। पेतलोक से इसका आख्यान हुआ है। इसे सुनकर दो महिलाएं उम्मदन्ती और उप्पलवण्णा नाम से भिक्षुणी बनीं।

लोहगोणजातक भी पचास जातकों से बाहर है। इसे जेतवन में कहा गया था। इसमें दो वृषभों का युद्ध बताया गया है बडा वृषभ नाग से युद्ध करता हुआ मृत्युलोक को प्राप्त हुआ। बोधिसत्त्व कासिकनगर के नरेश बने। वहां उनका नाम रखा गया इन्दचक्कवंसराज। **गंधघाटकजातक में** एक मेण्ढक की कथा है। जेतवन में इसे कहा गया था। इन्दपत्तनगर के नरेश सुद्दस्सन के पुत्रा के रूप में उनका जन्म हुआ। मेंढक की मूलकित्तिजातककथा जेतवन में कही गई जिसमें यह बताया गया कि बोधिसत्त्व ने मूलकित्ति के रूप में अपने पिता यसकित्ति के लिए अपने जीवन को समर्पित कर दिया। सुनन्दराजसुत्त या नन्दसुत्त त्रिपिटक में नहीं है। इसमें सुनन्द ने बुद्ध से अनेक प्रश्न पूछे भावी धम्म के विषय में। चक्खानवुत्तिपायसुत्त जातक है और सुत्त भी। उसे चक्खानवुत्तिजातक भी कहा जाता है। इस कथा का सम्बन्ध पदुमुत्तर बुद्ध के समय होने वाले बोधिसत्त्व से था। **चुन्दसूकरिकसुत्त** या धम्मिकपण्डितजातक का सम्बन्ध धम्मपदट्ठकथा में नहीं है। इसके दो भाग हैं - १. इति पि सो, और २. कथात्मक ढंग से सुत्त की व्याख्या। दीपंकर बुद्ध के समय चार भिक्षु सुवण्णभूमि से सिविरट्ठ पहुंचे जहां सुरूप नरेश का शासन था। ये भिक्षु श्रीलंका जाकर चुन्दसूकरिकसुत्त को ले आये और उसका यहां विस्तार किया। इन्द्र ने उसका उपदेश देवों को दिया। राजा के मन्त्री धम्मिकपण्डित ने यह सब व्यवस्था की। मरकर वह देवलोक गया और फिर वहां से वह बुद्ध हुआ। इस सुत्तपाठ का यही फल है। लोकविदू 'इति पि सो' पर आधारित है। इसमें लोक का वर्णन है।

दसवरञाणबुद्धाभिसेक में बुद्ध की स्तुति की गई है। बुद्ध मूर्ति बनाने के पूर्व इसका पाठ किया जाता है ताकि बुद्ध के गुण उस मूर्ति में प्रतिष्ठित हो सकें। रत्नत्रय की स्तुतिपूर्वक इसका अनुवाद हुआ। इसमें बुद्ध की जीवनी अभिधम्म की शिक्षा पर्यन्त दी गई है। इसमें बुद्धकीर्तन करते हुए उनके ज्ञान की प्राप्ति की अभिलाषा व्यक्त हुई है। दस जातकों का उल्लेख इसमें हुआ है। इसका प्रारम्भ, ''एवं कते बुद्धं विय बुद्धरूपं अपि महातेज महानुभावं होतु एव' से होता है। आकारवत्तसुत्त 'इति पि सो' रूप में एक अनुवाद है बुद्धाभिसक का।

चेतनाभेद में कम्मविपाक का वर्णन है जो बुद्ध और अनुरुद्ध के बीच संवाद के रूप में प्रस्तुत किया गया है। महाविपाक उसका संक्षिप्त रूप है। वह जातक शैली में लिखा गया है। देवाधिपञ्हा में मानवों के बीच सामाजिक और जातीय अन्तर के कारण

को स्पष्ट किया गया है। पब्बज्ज्ञानिसंस में प्रव्रज्या के गुणों का वर्णन है। उसका वर्णन सुत्त शैली में हुआ है। चतुरारक्खा पालि ग्रन्थ का अनुवाद मात्र है। योकप्पक्को आचरिय में योगावचर का वर्णन है और योगध्यान की परस्परा को प्रस्तुत किया गया है। उण्हस्सजातक एक प्रकार से सारिपुत्त की कथा है जो अपनी ही मृत्यु की भविष्यवाणी करता है। वह बुद्ध की खोज करता है और फिर बुद्ध उसे सत्कार्यो की व्याख्या करते हैं। सलाकरिविज्ञासुत्त में सुत्तशैली में पुप्फाला और कलता शब्दों का विश्लेषण किया गया हे।

पढममूलमूलि में लोक का वर्णन है। अरुणवती ग्रन्थ भी लोक का वर्णन करता है। इसका प्रारम्भ होता है सिखि बुद्ध और उनके शिष्य अभिभू की भेंट ब्रह्मा से। सुत्त शैली में लिखी गई इस प्रति में अनेक विषयों पर चर्चा हुई है - १) बुद्ध की विशेषताएं, २) ३३ स्वर्ग, ३) समुद्र और पर्वत, ४) पूर्वबुद्ध, ५) सूर्य, चन्द्र, ग्रह और नक्षत्र, ६) चार द्वीपनिवासी, ७) पशुप्रेत, ८) नरक, ९) विमान. १०) विश्व सृष्टि और प्रलय। यह त्रैभूमिकथा का अनुवाद है जिसे १३४५ में सुखोदय नरेश ने लिखा था। इसलिए इसमें अनेक उद्धरण भी प्रस्तुत हुए हैं।

सदत्तकिमहानिदान सिंहली में लिखी पुस्तक का पालि अनुवाद है। वह महानिदान और संपिण्डतमहानिदान और जातत्तगिनिदान से अधिक समीप है। जिनकालमालिनी का यह ग्रन्थ उपजीव्य है। इसमें बहिर, महा, अतिदूर-दूर अविदूर और सन्तिकनिदान की अभिव्यक्ति है। इनमें बुद्ध के पूर्वजन्मों का वर्णन है। प्रशस्ति के अनुसार इसके लेखक हैं बुद्धघोष जो प्रसिद्ध आचार्य बुद्धघोष से भिन्न होंगे। कुसल धम्मविनिच्छयकथा धम्मसंगणि की मातिका (विषयसूची) है जो त्रिरत्न स्तुति से प्रारम्भ होती है। तिंसापारमी में तीस पारमिताओं का वर्णन है। इसमें चरियापिटक का उल्लेख है। यह पुस्तक जातकट्ठवण्णना पर आधारित है। प्रारम्भ से बोधिसत्त्व सम्बोधि प्राप्त करने की प्रतिज्ञा करते दिखाई देता है। पढमसम्बोधि है। इसमें १५ अध्याय हैं जिनमें निदानकथा से उद्धरण अधिक दिये गये हैं। १९ वीं शती में इसकी पुनर्रचना की गई और उसे ९ अध्यायों में विभकत किया गया - १. महाभिनिक्खमण, २. लक्खण, ३. राजाभिषेक, ४. महाभिनिक्खमण, ५. दुक्करचरिय, ६. मारविजय, ७. सम्बोधि, ८. ब्रह्मज्झेसन और ९. धम्मचक्कपवत्तन।

तिलोकदीपनी मूलसासना और जिनकालमालिनी पर आधारित है। इसमें

बोधिसत्त्व की तीन श्रेणियां दी गई हैं - पञ्ञाधिक, सद्धादिक और विरियाधिक। इसमें बुद्ध के वेस्सभू पर्यन्त पूर्व जन्म की कथाएं दी गई हैं। महाकस्सपथेरपरिनिब्बानकथा में सारिपुत्त के परिनिर्बाण का वर्णन है। सुत्तशैली में इसका लेखन हुआ है। महामोग्गल्लानपरिनिब्बानवत्थु में मोग्गल्लान के परिनिर्वाण की कथा है। जातकशैली में इसे लिखा गया है। असोकधम्मराजनिब्बान में सम्राट् अशोक की मृत्यु का वर्णन है। इसमें कहा गया है कि कुण्डलतिस्स और व्याघत्थेर ने तथागत बुद्ध के परिनिर्वाण के २१८ वर्ष बाद जम्बुद्वीप और लंकाद्वीप में क्रमशः महाधम्मासोक और देवानंपियतिस्स के रूप में जन्म ग्रहण किया। अनागत बुद्धवंस में भावी दस बुद्धों का वर्णन है। अनागतवंस से यह ग्रन्थ पृथक् है। चतुरासीतिधम्मक्खन्धसहस्संवण्णना भी लाओस में लिखा एक पालि ग्रन्थ है। अक्खरगन्थि एक पालि व्याकरण है जिसमें सद्द पर भी एक अध्याय लिखा गया है। इसमें पालि त्रिपिटक को ८४००० भागों में विभक्त किया गया है।



परिवर्त १०
पालि-बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार और कला

१. भारत में पालि-बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार

पालि साहित्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भगवान् बुद्ध ने अपना धर्मचक्र प्रवर्तन ऋषिपत्तन (सारनाथ-मृगदाव) से प्रारम्भ किया जहां उन्होंने अञ्ञात कोंडञ्ञ, भद्दिय, वप्प, महानाम एवं अस्सजि नामक पुराने पञ्चब्राह्मण साथियों को चतुरार्यसत्यों का उपदेश दिया। महावस्तु के अनुसार पूर्ण, नालक और सभिय ने भी कुछ समय बाद यहीं दीक्षा ली थी। श्रेष्ठिपुत्र यश भी अपने मित्र-परिवार सहित बौद्धधर्म की शरण में पहुंचा। अब तक बुद्ध का शिष्य कुल ५९ की संख्या तक पहुँच चुका था।

ऋषिपत्तन से भगवान् बुद्ध ने उरुवेला की ओर बिहार किया। बीच में ही कापासियवन (सासाराम के समीप) में भद्रवर्गीय क्षत्रियों को धर्मोपदेश देकर दीक्षित किया। उरुबेला में उरुबेलकाश्यप, नदी काश्यप और जटा काश्यप अपने लगभग ८०० शिष्यों सहित यज्ञक्रिया में संलग्न थे। बुद्ध ने वहाँ पहुँचकर अपनी अलौकिक चमत्कृति के बल पर काश्यप बन्धुओं को पराजित किया और सशिष्य उनको अपना अनुयायी बना लिया। इस अद्वितीय शक्ति का उल्लेखन साँची स्तूप के तोरण में भी दृष्टव्य है।

बुद्ध इस समय तक एक प्रभावक व्यक्तित्व के रूप में सामने आ चुके थे। राजगृह पहुँचने पर राजा बिम्बिसार भी उनके प्रभाव से बच नहीं सके। उन्होंने भी बुद्ध का शिष्य होना स्वीकार किया और वेणुवन दान में समर्पित किया। यहीं राजगृह में संजयबेलट्ठिपुत्त भी अपने धर्म और दर्शन के प्रचार में संलग्न थे। उनके प्रधान शिष्य दो थे - सारिपुत्र और मौद्गल्यायन। बुद्ध के शिष्य अश्वजित् (अस्सजि) से भिक्षाटन काल में सारिपुत्र की भेंट हुई और उससे निम्नलिखित गाथा सुनकर बुद्ध से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि वह अपने मित्र मौद्गल्यायन के साथ बौद्धधर्म में दीक्षित हो गया। कालान्तर में ये दोनों व्यक्तित्व बुद्ध और बौद्धधर्म के प्रधान स्तम्भ बन गये। गाथा इस प्रकार है -

ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतुं तथागतो आह।
तेसं च यो निरोधो एवं वादी महासमणो ।।

तदनन्तर कुछ समय बाद बुद्ध ने नालन्दा की ओर बिहार किया। बीच में ही बहुपुत्रक चैत्य में महाकाश्यप (काश्यप अग्निदत्त, पालि-पिप्फलि माणव) से भेंट हुई। वह उस क्षेत्र का एक प्रभावशाली ब्राह्मण था। वार्तालाप के बीच बुद्ध ने सम्यक् प्रहाण का चतु:सूत्री उपदेश दिया - (१) वर्तमान पाप वासनाओं का क्षय करना, (२) भविष्य में उनकी वृद्धि को राकना, (३) वर्तमान पुण्यों की सुरक्षा करना, और (४) यथाशक्ति, उनकी वृद्धि करना। यह उपदेश सुनकर महाकाश्यप का सारा सन्देह समाप्त हो गया और वह बुद्ध का अनुचर बन गया। बौद्ध साहित्य में महाकाश्यप को बहुत सम्मान दिया गया है। बुद्धधर्म में उनका स्थान सारिपुत्र और मौद्गल्यायन के बाद ही आता है। भगवान् बुद्ध के लिए ये तीनों व्यक्ति अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए। पालि साहित्य की संरचना में उनकी अहं भूमिका रही है।

राजा शुद्धोदन उदायी, छन्दक आदि राजपुरुषों के माध्यम से बुद्ध के पास अपना स्नेह निमन्त्रण राजगृह में ही पहुँचा चुके थे। बुद्ध ने इसे सहर्ष स्वीकार भी कर लिया था। राजगृह से ६० दिन में लगभग १६० मील पदयात्रा करते हुए वे कपिलवस्तु में पहुंचे। वहाँ पूरे नगरवासियों ने उनका स्नेहिल स्वागत किया और उनके पद-चिन्हों पर अपनी आँखें बिछा दी। बुद्ध के उपदेशों को सुनकर राजा शुद्धोदन और महारानी महाप्रजापति ने उनका धर्म-ग्रहण किया। इनके अतिरिक्त यशोधरा, आनन्द, अनुरुद्ध, भद्दिय, नन्द, देवदत्त, उपालि, छन्दक, और राहुल ने भी बुद्धधर्म की दीक्षा को स्वीकार किया।

भगवान् कपिलवस्तु से लौटे और राजगृह के पास सीतावन चैत्य में श्रावस्तीवासी अनाथपिण्डक से उनकी भेंट हुई। सृष्टि, आत्मा, कर्म आदि के विषय में बुद्ध के विचार सुनकर अनाथपिण्डक का मन सहसा उनकी ओर आकर्षित हो गया और श्रावस्ती आने का निमन्त्रण देने के साथ ही वहाँ बुद्धबिहार निर्माण कराने की भी इच्छा व्यक्त की। सारिपुत्त श्रावस्ती गये और स्थल के चुनाव में उन्हें राजकुमार जेत का वन उपयुक्त दिखाई दिया। राजकुमार जेत की दृष्टि में उस वन की भूमि का कण-कण स्वर्णमुद्राओं के समकक्ष था। अनाथपिण्डक ने इसे सहर्ष स्वीकार किया। इस प्रकार जेतवन बौद्धधर्म का प्रधान स्थल हो गया। प्राचीन मुद्राओं में भी इसका अंकन हुआ है।

श्रावस्ती पहुँचने पर राजा प्रसेनजित ने बुद्ध का अथक हार्दिक स्वागत किया। बुद्ध ने उसे सांसारिक अनित्यता तथा यज्ञादि की अनुपयोगिता पर सुन्दर विवेचन किया। यहीं शाक्यों और कोलियों के बीच उत्पन्न संघर्ष को शान्त करने का भी अवसर उन्हें मिला। पिता के अन्तिम दर्शन करने के लिए बुद्ध को एक बार पुन: कपिलवस्तु जाना

पड़ा। वहाँ से फिर वैशाली आये और वैशाली में आनन्द के आग्रह से महाप्रजापति के नेतृत्व में भिक्षुणी संघ का निर्माण किया।

इस प्रकार बुद्ध ने ४५ वर्ष तक उत्तर प्रदेश और बिहार में परिभ्रमण कर अपने धर्म का प्रचार-प्रसार किया। इस बीच उक्त व्यक्तियों के अतिरिक्त असिबन्धकपुत्त गामणी, महाकात्यायन, ज्योतिस्क, जीवक, अभयराजकुमार, न्यग्रोध, उपालि, पंचशिख, विशाखा, सोणदण्ड, अंगुलिमाल, महालि, सीह, सच्चक, सुनक्खत्त, देवदत्त आदि अनेक और भी व्यक्तियों से उनका सम्पर्क हुआ और जो बाद में उनके शिष्य बने। वैशाली से भंडगाम, हत्थिगाम, जम्बुगाम, भागनगर आदि नगरों में भ्रमण करते हुए पावा पहुँचे। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते बुद्ध का शरीर जर्जरित हो गया था। और चुन्द द्वारा दिये गये 'सूकरमद्दव' से उनका काल और निकट आ गया। उसे वे पचा नहीं सके और यहीं वे कालकवलित हो गये। इस महामानव की यही अन्तिम यात्रा थी। यहां सूकरमद्दव का अर्थ सूअर का मांस नहीं, बल्कि शर्कला नामक कंदमूल है (अट्ठकथा)।

त्रिपिटक के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध ने उत्तरप्रदेश और बिहार, विशेष रूप से, मगध एवं कोशल तक ही अपनी चारिका सीमित रखी थी। विनय पिटक में इस प्रदेश को 'मज्झिम जनपदा' कहा गया है और इसके सीमावर्ती प्रदेशको पच्चन्तिम जनपद (श्रावस्ती आदि) की संज्ञा दी गई।

बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद ही संघभेद प्रारम्भ हो गया। फलतः पाठनिर्धारण के लिए राजगृह में एक सम्मेलन बुलाया गया जो प्रथम संगति के नाम से विश्रुत है। लगभग सौ वर्ष बाद दस वस्तुओं की विधेयात्मकता पर विचार करने के लिए वैशाली में द्वितीय संगति का आयोजन किया गया। इस समय तक थेरवादी (परम्परावादी) और महासांघिक (सुधारवादी) प्रतिद्वन्द्वी निकाय के रूप में सामने आ चुके थे। इन्हें पाचेय्यक और पच्छिमक भी कहा गया है। इनके वैशाली, अवन्ती, कौशाम्बी और मथुरा प्रधान केन्द्र थे। बौद्धधर्म इन प्रादेशिक केन्द्रों के माध्यम से विस्तार पाने लगा। फलस्वरूप प्रादेशिक भेद भी उभरने लगे। कौशाम्बी से अवन्ति-दक्षिणापथ की ओर स्थविरवादी, मथुरा से उत्तरापथ की ओर सर्वास्तिवादी और मगध से आन्ध्रपथ की ओर महासांघिक सम्प्रदाय अपने विचारों के प्रचार-प्रसार में प्रवृत्त ही गये। महासंघ से ही उत्तरकाल में महायान की उत्पत्ति हुई। चौथी पाँचवीं ई. शती तक उत्तर भारत में महायान बहुत लोकप्रिय हो गया। लगभग सातवीं शती में महायान से वज्रयान जैसी अनेक शाखायें-प्रशाखायें निकलीं जिसे तान्त्रिक बौद्धधर्म कहा गया। यही तान्त्रिक बौद्धधर्म बौद्धधर्म की अवनति का मूल कारण बना। महाकारुणिकता के आधार पर

स्वयं की निर्वाण-प्राप्ति स्वीकार न करना तथा उसके लिए उच्चकोटि के दर्शन का विकास करना महायान की देन है।

अशोक के समय (ई.पू. २७४-२३२) तक स्थविरवादी सम्प्रदाय में ही अठारह भेद हो गये थे। अशोक स्वयं बौद्ध था या नहीं इसमें मतभेद हो सकता है पर उसने बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार में जिन विविध उपायों का अवलम्बन लिया, उसने अशोक की बौद्धधर्म के प्रति अभिव्यक्त अभिरुचि तो सर्वमान्य है ही। पाटलिपुत्र में आहूत तृतीय संगीति इसका प्रमाण कहा जा सकता है। बौद्ध परम्परानुसार अशोक ने ८४,००० स्तूपों का भी निर्माण कराया। प्रस्तरकला के क्षेत्र में बौद्धधर्म का योगदान यहीं से प्रारम्भ होता है। अशोक के स्तम्भों में भी धर्मचक्र आदि अनेक बौद्ध प्रतीक उत्कीर्ण हैं। इसी समय बिहारों का भी सुव्यवस्थित निर्माण प्रारम्भ हो गया था।

तृतीय संगीति का महत्त्व बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से विशेष है। मोग्गलिपुत्त तिस्स ने प्रत्यन्त जनपदों में बौद्ध धर्म को किस प्रकार व्यापक बनाया जाय, इस दृष्टि से एक योजना बनायी जिसके अन्तर्गत निम्नलिखित भिक्षुओं को यह दायित्व सोंपा गया। मध्यान्तिक स्थविर को कश्मीर और गन्धार, महादेव को महिंसकमण्डल, रक्षित को वनवासी, योतक धर्मरक्षित को अपरान्त, महाधर्मरक्षित को महाराष्ट्र, महारक्षित को योनक (ग्रीकराज्य), मध्यम (मज्झिम) को हिमवन्त, सोडाक तथा उत्तर को सुवर्ण भूमि तथा महेन्द्र स्थाविरको इट्ठिय उत्तिय, सम्बल और भद्दिय स्थविरों के साथ ताम्रपर्णी (श्रीलंका) द्वीप भेजा गया। इन देशों में बौद्ध प्रचारकों को सफलता भी मिली।

अशोक के समय में ही बौद्धसंघ की एकता समाप्तप्राय हो चुकी थी। उसको विकास और विस्तार का मूल कारण कहा जा सकता है। पुष्यमित्र शुंग बौद्धों का घनघोर शत्रु था। फिर भी जन साधारण में बौद्ध धर्म की लोकप्रियता कम नहीं हुई। भारहुत स्तूप, कार्लेकी गुफायें, सांची का स्तूप, पवनी के स्तूप आदि इसके प्रमाण हैं। इतना ही नहीं, उसने मिलिन्द (मेनान्डर) जैसे ग्रीक राजाओं को भी आकर्षित किया। इसीसे सम्बद्ध प्राचीन अनेक मुद्रायें भी मिलती हैं। मोग्गलिपुत्त तिस्स ने तो यवन देश जाकर वहां एक ग्रीक को दीक्षित किया जिसका नाम धर्मरक्षित रखा गया। धर्मरक्षित ने अपरान्तक देश में बौद्धधर्म का कुशलतापूर्वक बहुत प्रचार किया। ग्रीकों ने भारत में बौद्ध कला के क्षेत्र में एक नयी शैली दी जिसका विकास पंजाब और उत्तर पश्चिमी भारत में हुआ।

अशोक के राज्यकाल में बौद्धधर्म लगभग १८ सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। इनमें से बहुत से भेद तो प्रादेशिक स्तर पर रहे। द्वितीय संगीति के फलस्वरूप

महासांघिक सम्प्रदाय का जन्म हुआ जिसने उत्तरकाल में महायान के रूप में विकास किया। महासांघिकों के अष्टनिकायों में एकव्यवहारिक, लोकोत्तरवाद, अपरशैल और उत्तरशैल विशेष प्रभावक रहे। स्थविरवाद से सर्वास्तिवाद हेमावत ये दो संघ पृथक् हुए। महासांघिकों की उत्पत्ति वैशाली में हुई पर उसका दक्षिण में, विशेष रूप से धान्यकटक पर्वत के आसपास के प्रदेश में, अधिक विकास हुआ। सातवाहनकाल इस दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। स्थविरवाद की अन्य शाखायें शुंग काल से कुषाण काल तक अर्थात् लगभग ई. पू. २०० से ई. २००-३०० तक विकसित होती रही हैं। सर्वास्तिवाद ने मथुरा से नगरहर और तक्षशिला (गन्धार) से कश्मीर तक अपना प्रभाव जमाया तथा महीशासक और सम्मितीय ने दक्षिणभारत, लाट, और सिन्ध में लोकप्रियता प्राप्त की। धर्मगुप्त श्रीलंका भी गया पर वहाँ स्थविरवाद की प्रतिद्वन्दिता में उसे पीछे हटना पड़ा। चैत्यवादी निकाय ने धान्यकटक (आन्ध्र) में पैर जमाये। पूर्वशैलीय, अपरशैलीय, सिद्धार्थक और राजगिरिक सम्प्रदाय इसी से अविर्भूत हुए हैं। महायान का विकास भी इन्हीं सम्प्रदायों से हुआ है।

अशोक ने बौद्धधर्म का संरक्षण निर्विवाद रूप से किया। वह मूल रूप से जैन था या वैदिक या आजीवक यह एक विवादग्रस्त विषय है। उसका पितामह चन्द्रगुप्त अवश्य जैन था। अशोक के शिलालेख उसके व्यक्तित्व की कहानी कह रहे हैं। तृतीय संगीति, बौद्धधर्म का विदेशों में प्रचार, पशुहत्या पर प्रतिबंध, शाकाहार का प्रचार, बौद्ध विहारों और स्तूपों का निर्माण, महापथ, कुआ आदि का निर्माण, लिपि का प्रचार आदि ऐसे सुनियोजित सामाजिक कार्य किये हैं जो उसे जैन और बौद्धधर्म के समीप खडा कर देते हैं।

अशोक के बाद शुंग वंश आया जिसने वैदिक धर्म का समर्थन किया पर उसके राजकाल में बौद्धधर्म का अच्छा विकास हुआ। शुंग के बाद ग्रीक आये जिन्होंने बौद्धधर्म में अच्छी रुचि दिखाई। मेनान्डर ने तो बौद्धधर्म ग्रहण भी कर लिया था। उसकी मुद्राओं पर धर्मचक्र का निशान इसका समर्थन करता है। शक, पल्हव, कुषाण ने भी बौद्धधर्म का विकास किया। कुषाण राजा कनिष्क तो महायानी परम्परा के लिए अशोक सम्राट् जैसा था। अश्वधोष को भी इसी समय में रखा जा सकता है। नागार्जुन आर्यदेव, दिङ्नाग प्रायः कुषाण काल में रहे। उन्होंने महायान चिन्तन का अच्छा विकास किया। जैनधर्म और वैदिकधर्म भी इसी समय उन्नत दशा में रहे।

कनिष्ककाल वस्तुतः बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। उसका साम्राज्य काबुल, गन्धार, सिन्ध, उत्तर-पश्चिम भारत, कश्मीर और मध्यदेश तक फैला हुआ था। मूलतः वह ईरानी था। बाद में उसने बौद्धधर्म स्वीकार कर

लिया। यह सब चतुर्थ संगीति की पृष्ठभूमि में घटित हुआ था जो कनिष्क के धर्म-प्रेम का ही फल था। सर्वास्तिवाद की दृष्टि से इस संगीति का विशेष महत्त्व रहा है।

गुप्तकाल में राज्याश्रय न मिलने के बावजूद बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार में कमी नहीं हुई। गुप्तवंशीय राजा यद्यपि भागवत धर्म के विशेष अनुयायी रहे हैं पर उनकी दृष्टि बौद्धधर्म के प्रतिकूल नहीं रही। कौशाम्बी, सांची, बोधगया, मथुरा आदि स्थानों पर प्राप्त उत्कीर्ण लेख इसके प्रतीक हैं कि उन्हें राज्य से पर्याप्त अनुदान मिला करता था। मथुरा, सारनाथ, नालन्दा, अजन्ता आदि की कलाओं ने गुप्तकाल के गौरव को दिगदिगन्त तक फैला दिया। नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थापना भी इसी समय हुई थी। असंग वसुबन्धु, दिङ्नाग, और बुद्धघोष का योगदान भी स्मरणीय है। हीनयान के १८ सम्प्रदाय और महायान के माध्यमिक और विज्ञानवाद सम्प्रदायों का भी कार्यकाल गुप्तकाल रहा है।

फाहियान ने गुप्तकाल में ही भारत की यात्रा की थी। उस समय चन्द्रगुप्त द्वितीय का राज्य था। फाहियान मध्य-एशिया में बौद्ध संस्कृति के प्रचार और प्रभाव को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। लोप-नोर का दक्षिणी प्रदेश और कड़ा शहर हीनयानी सम्प्रदाय के गढ़ थे जहाँ हजारों की संख्या में भिक्षु रहते थे। खोतान और काशगर में भी उसने बौद्धधर्म के विभिन्न सम्प्रदायों की स्थिति को सन्तोषप्रद बताया। बलोरतद्य पर्वत मालाओं के पास से सिन्धु नदी को पारकर फाहयान भारत आया जहाँ उसने बौद्धधर्म का अच्छा प्रभाव पाया। उद्यान, गन्धार, तक्षशिला, पेशावर, नगरहार, अफगानिस्तान, पंजाब, मथुरा, श्रावस्ती, पाटलिपुत्र, वाराणसी, चम्पा, ताम्रलिप्ति आदि देशों-प्रदेशों में फाहियान घूमा जहाँ उसने हीनयान और महायान के विभिन्न सम्प्रदायों को निकट से देखा। इस बीच उसे बौद्धधर्म फलता-फूलता हुआ नजर आया। गुप्तकाल की दृष्टि से फाहयान का यात्रा विवरण बहुत उपयोगी है।

सप्तम शताब्दी में हर्ष का साम्राज्य था। राजा हर्षवर्धन अपने जीवन के उत्तरकाल में बौद्ध बन गया था। इसी समय युआन-च्वांग और ईत्सिंग ने भारत यात्रायें की। युआन-च्यांग ने सप्तम शताब्दी के तृतीय-चतुर्थ दशक में भारत का भ्रमण किया। नगरहार (जलालाबाद) में उसने ६३० ई. में प्रवेश किया। गन्धार, प्रवरपुर (श्रीनगर), साकल (स्यालकोट), उत्तरमध्यभारत, कन्नोज, प्रयाग आदि प्रदेशों में भ्रमण किया। श्रीहर्ष से भी उसकी भेंट हुई। इस समय भी बौद्धधर्म की स्थिति अच्छी थी। ईत्सिंग ने सप्तम शताब्दी के सप्तम-अष्टम दशक में भारत यात्रा की। इस समय भी भारत में हीनयान और महायान सम्प्रदायों की स्थिति अच्छी थी। नालन्दा, बलभी आदि स्थानों पर बौद्धधर्म के विशाल ज्ञानकेन्द्र थे।

हर्ष के बाद बौद्धधर्म भारत में अधिक नहीं पनप सका। धीरे-धीरे उसका प्रभाव कम होता गया। बौद्धों में प्रचलित तात्कालिक साधना क्षेत्र शिथिलाचार का गढ़ बन गया था। इसी मनोवृत्ति की पृष्ठभूमि में बौद्धधर्म का पतन भारत से प्रारम्भ हो गया। इसी समय तान्त्रिक बौद्धधर्म का उदय हुआ उसका प्रथम ग्रन्थ रत्नकेतुधारिणी का भी यही समय है। धर्मकीर्ति ने मन्त्रपरम्परा की आलोचना की। मन्त्र परम्परा का संयोगात्मक और चमत्कारात्मक तत्त्वों ने बौद्धधर्म की जडे हिला दीं। यद्यपि पालवंश का राज्याश्रय पाकर बौद्धधर्म अपनी स्थिति पुनः मजबूत बना सकता था पर ऐसा हो नहीं सका। नालन्दा के अतिरिक्त विक्रमशिला, ओदन्तपुरी और सोनपुरी जैसे शिक्षाकेन्द्र बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार में लगे थे पर लगभग १२ वीं शती के बाद वे बौद्धधर्म को भारत में अपनी पुरानी स्थिति में नहीं ला सके। भारत में बौद्धधर्म का ह्रास एक रहस्य बन गया है। उसके ह्रास के मुख्य कारण ये हैं - तुर्की, मुस्लिम आक्रमण लगभग दसवीं शती में प्रारम्भ हो गये। बौद्धधर्म बहुदेव पूजक और मूर्तिपूजक था। मुस्लिम इन दोनों सिद्धान्तों के विरोधी थे। उन्होंने जैनधर्म बौद्धधर्म और वैदिकधर्म का यथासंभव विनाश किया। बौद्धधर्म और वैदिक धर्म के बीच दूरी कम हुई। शंकर के अद्वैतवाद और बौद्धधर्म के बीच सम्बन्ध और घनिष्ठ हुए।

नालन्दा का विनाश ११९७ में और विक्रमशिला का १२०३ में मुहम्मद गौरी ने किया। बौद्धधर्म का ह्रास विनाश यहीं से शुरू हुआ। इसी समय बौद्धधर्म तिब्बत, चीन, नेपाल, तिब्बत की और बढा। राजाओं का प्रश्रय भी बन्द हुआ। वैदिक मतावलम्बियों ने भी बौद्ध मन्दिरों का विनाश किया और उन्हें अपने मन्दिरों में परिवर्तित किया। बौद्ध भिक्षुओं का शिथिलाचार और उसमें तान्त्रिकता के प्रवेश ने भी बौद्धधर्म पर कठोर आघात किया।

लगभग १२ वीं शती के बाद बौद्धधर्म भारत में अपनी साधना से प्रायः दूर हो गया। फिर भी उसका प्रभाव बौद्धेतर सम्प्रदायों पर बना रहा। उदाहरण के तौर पर महाराष्ट्र के सन्तों को लिया जा सकता है जिन पर बौद्धधर्म की अक्षुण्ण छाप है। ज्ञानेश्वर, एकनाथ आदि सन्तों ने अपने अधिकांश सिद्धान्त बौद्ध सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में रचे हैं, भले ही वहाँ उनके नामों में परिवर्तन कर दिया गया हो। उड़ीसा आदि प्रदेशों में भी इसी स्थिति को देखा जा सकता है। विदेशी विद्वानों ने इस क्षेत्र में अच्छा कार्य किया है। पी.टी.एस. की स्थापना ने उसमें एक नयी जाग्रति ला दी है।

यह प्रसन्नता का विषय है कि आधुनिक काल में भारत में पालि-बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार द्रुतगति से बढ रहा है। सर्वश्री पं. राहुल सांकृत्यायन, धर्मानन्द कौसाम्बी, भिक्षु जगदीश काश्यप, आनन्द कौसल्यायन और डॉ. आम्बेडकर जैसे चिन्तकों के

अथक प्रयत्नों से यह विषय पल्लवित हो रहा है। अधिकांश विश्व-विद्यालयीय विभागों में और यूजीसी तथा यूपीएससी जैसे सरकारी संस्थानों में इस विषय की अध्ययन/अध्यापन/परीक्षण की व्यवस्था होने से उसकी लोकप्रियता अहर्निश बढ रही है। भारत सरकार तथा विदेशी सरकारें भी इसमें अभिरुचि ले रही हैं।

बौद्धधर्म के पुनरुत्थान का कार्य सर्वाधिक किया है भारत में डॉ. भीमराव आंबेडकर ने (१८९१-१९५६ ई.) महार जाति में पैदा हुए इस व्यक्तित्व ने संघर्ष करते हुए विदेशों में उच्चकोटि की शिक्षा प्राप्त की और १९३० तक अपनी समाज में और वे राष्ट्रीय क्षेत्र में एक अच्छे दलित समाजोद्धारक सुशिक्षित राजनीतिक नेता के रूप में स्थापित हुए। महात्मा गांधी से सदैव उनका विरोध रहा। जातिवाद से मुक्त होने के लिए वे हिन्दुओं से कट जाना आवश्यक समझते थे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद अम्बेडकर भारतीय संविधान के शिल्पी बने और विधि मन्त्री भी। उन्होंने संविधान में दलितों के उद्धार हेतु अनेक अनुच्छेद डाल दिये। १९५६ में लाखों दलित समाज को बौद्धधर्म में धर्मान्तरित किया। बाद में देश के चारों ओर और भी धर्मान्तरण हुआ। उनका यह बौद्धधर्म थेरवादी बौद्धधर्म था। उसे हम नवयान या भीमयान नहीं कह सकते।

लद्दाख

यहां तिब्बती बौद्धधर्म का प्रचलन है। गेलुग और ड्रुग्य सम्प्रदायों का प्रभाव अधिक है। परम्परागत विहार हैं। अब यहां मार्क्सवाद का भी प्रभाव देखा जाता है। जन्सकर और स्पिटी तिब्बती भी है।

कश्मीर और बौद्धधर्म

उत्तर पश्चिमवर्ती जम्मू कश्मीर में महावंस के अनुसार अशोक ने मज्झन्तिक भिक्षु को गान्धार प्रदेश में बौद्धधर्म के प्रचार के लिए भेजा था। उसके बाद यहां कदाचित् मिलिन्द या मेनान्डर ने १५५-१३० ई.पू. में राज्य किया। मिलिन्द का नागसेन के साथ प्रसिद्ध वार्तालाप इसी प्रदेश में हुआ था। ग्रीक कला से प्रभावित बुद्ध मूर्ति सर्वप्रथम गन्धार में ही मिली है। कनिष्क ७८-१२३ ई. ने चतुर्थ बौद्ध संगीति भी यहीं आहूत की थी। ह्यूनसांग, तारानाथ और बूस्टोन ने भी इसकी सूचना दी है।

कुषाण साम्राज्य के बाद यहां बौद्धधर्म का ह्रास होता गया। कुमारजीव ने अपने जीवन के कुछ वर्ष यहां विताये और फिर वे चीन-तिब्बत गये बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार के लिए। हूणों के आक्रमणों ने भी बौद्धधर्म का विनाश किया। क्षेमगुप्त (९५०-५८) और हर्ष (१०८९-११०) जैसे वैदिकानुयायी राजाओं ने भी इस विनाश प्रक्रिया में काफी साथ दिया। बाद में लोहरा वंश (११०१-१३३९) और कल्हण ने बौद्धधर्म को

बचाने का यथाशक्य प्रयत्न किया। राजतरंगणी में इसका सुन्दर वर्णन मिलता है। शाह मिजरा (१३३९ ई.), अभिषेक और सिकन्दर (१३८९-१४१३) ने बाद में बौद्धधर्म को कश्मीर में ध्वस्त कर दिया। १५ वीं शती तक बौद्धधर्म कश्मीर से पूर्णतः नष्ट हो गया। लद्दाख में अवश्य वह किसी तरह बचा रहा।

पश्चिम-मध्यएशिया में तक्षशिला में तृतीय शती में बामियन और जौलियन स्तूप मिले। यहां भी हूण और तुरफान सुलतान ने १४४९ में बौद्धधर्म को लगभग समाप्त कर दिया।

२. विदेशों में पालि-बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार

दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व एशिया में पालि-बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार

लगभग १२ वीं शती के बाद बौद्धधर्म यद्यपि अपनी मातृभूमि से लुप्त प्राय हो गया, पर इसके पूर्व ही उसने अपना महत्त्वपूर्ण स्थान विदेशों में जमा लिया था। इस दिशा में अशोक का योगदान अविस्मरणीय रहेगा। तृतीय संगीति का फल यह हुआ कि बौद्धधर्म ने भारत की सीमा का उल्लंघन किया। उसने श्रीलंका, वर्मा, थाईलेण्ड, कम्बोडिया आदि दक्षिण देशों और नेपाल, तिब्बत, चीन, कोरिया, जापान आदि उत्तर देशों की जनता में अपना अमिट स्थान बना लिया। आज भी बौद्धधर्म की ज्योति इन देशों में फैली हुई है जो करोड़ों व्यक्तियों को आध्यात्मिक शान्ति का मार्ग प्रशस्त करती है।

२. श्रीलंका में बौद्धधर्म

श्रीलंका और भारत के बीच अतीत काल से ही सांस्कृतिक और राजनीतिक सम्बन्ध रहे हैं। अशोक के शिलालेखों में श्रीलंका का उल्लेख ताम्रपर्णी द्वीप के नाम से मिलता है। कहीं-कहीं उसे रत्नद्वीप और सिंहलद्वीप भी कहा गया है। परम्परानुसार बुद्ध-परिनिर्वाण के ही वर्ष में लाट (गुजरात) देश से विजय सिंह अपने मित्र परिवार सहित वहां पहुँचा। इसलिए उसका नाम सिंहल अधिक प्रचलित और ऐतिहासिक है। विजय सिंह ने ताम्रपर्णी द्वीप पर अधिकार किया और वहां की संस्कृति को भारतीय संस्कृति, विशेष रूप से लाटदेशीय संस्कृति से ओतप्रोत कर दिया। बौद्धधर्म के पूर्व श्रीलंका में जैनधर्म भी प्रचलित था। महावंश से यह स्पष्ट ज्ञात होता है।

विजय के पहुंचने के बाद लगभग २०० वर्ष तक श्रीलंकावासी बौद्धधर्म से अपरिचित रहे। अशोक के पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा ने वहाँ जाकर सिंहलवासियों के मन में बौद्धधर्म के प्रति आकर्षण पैदा किया। संघमित्रा ने बोधिवृक्ष का आरोपण अनुराधापुर में करके यह कार्य और अधिक प्रभावक बना दिया। देवानंपिय तिस्स

(२४७-२०७ ई.पू.) ने इस पुण्य कार्य में अपना सभी प्रकार का सहयोग दिया। स्तूपों, चैत्यों और महाबिहारों का निर्माण भी प्रारम्भ हो गया। महेन्द्र और संघमित्रा ने श्रीलंका में लगभग अड़तालीस वर्ष तक धर्म प्रचार किया। और वहीं उन्होंने सांसारिक शरीर छोड़ा। श्रीलंका के इतिहास में श्रीलंका में बोधिवृक्ष का आरोपण और बुद्धदन्त का आनयन, ये दो घटनायें बड़ी महत्त्वपूर्ण रही हैं। पुनः उसने अनुराधापुर को अपना केन्द्र बनाया।

तिस्स की मृत्यु २०७ ई.पू. में हुई और उसके बाद उसके उत्तराधिकारियों में विवाद हो गया। फलतः राज्य रोहण और कल्याणी में विभक्त हो गया। १७७ ई. पू. में चोलों का आक्रमण हुआ जिसे कल्याणी राजा दुट्ठगामणी ने १०१ ई. पू. में निरस्त कर दिया। इसके राज्य में श्रीलंका ने बडी उन्नति की। पर तिस्स के उत्तराधिकारियों में वैमनस्य बना रहा और श्रीलंका का राज्य दक्षिण भारत के ब्राह्मणवर्ग के हाथ पहुंच गया। इसके बाद जैन परम्परा के समान यहां भी बारह वर्ष का भयंकर अकाल पडा जिसे 'ब्राह्मणतिस्स' अकाल के नाम से जाना जाता है। इससे भिक्षु वर्ग इधर-उधर चला गया।

सद्धतिस्स के लघुपुत्र वट्टगामणी ने २९ ई.पू. ने किसी तरह अपना राज्य वापिस पाया। इससे पुनः अनुराधापुर बौद्धधर्म का केन्द्र बन गया। उसने वज्जीपुत्तीय आचार्य धर्मरुचि की शिक्षाओं के आधार पर अभयगिरि विहार की स्थापनाकर उसे अपने सहयोगी महास्थविर महातिस्स को सौंप दिया। महाविहारवासी इससे असन्तुष्ट हो गये। वे पहले ही राजा के विरोध में कार्य करते रहे। उन्होंने सद्धतिस्स को संघ से निष्कासित कर दिया। इधर वट्टगामणी ने अभय गिरिविहार और सद्दतिस्स को पूर्ण समर्थन दिया। अभयगिरि विहार उत्तरकाल में धीरे-धीरे उदार दृष्टिकोण वाला होता गया और महायान की ओर झुक गया।

इधर महाविहारवासी भिक्षुओं ने यह आवश्यक समझा कि अकाल के कारण नष्ट-भ्रष्ट हुआ पालि त्रिपटक का संगायन कर दिया जाया यह कार्य वट्टगामणी के राजकाल ८९-७७ ई.पू. में अनुराधापुर के समीवर्ती आलोक विहार में संपन्न हुआ। इसी समय वट्टगामणी की मृत्यु भी हो गई। इस समय पालि त्रिपिटक को लिपिबद्ध कर दिया गया। अभयगिरि विहार वासियों ने भी अपना त्रिपिटक लिपिबद्ध किया स्वतन्त्र रूप से जिस पर महायान का प्रभाव था। दोनों विहारों में इस विषय पर मतभेद इतने उभरे कि राजा वोहारिक तिस्स २६३-२८५ ई. को अभयगिरि विहार वासियों द्वारा संकलित पालित्रिपिटक को पूर्णतः जला देने का आदेश देना पडा। इस समय तक भारत में महायान सम्प्रदाय स्थापित हो चुका था।

चतुर्थ शती में राजकीय पक्ष पुन: अभयगिरि विहार के साथ हो गया और वह स्थिति तक बढा कि महासेन राजा ३३४-६१ ई. ने महाविहार को नष्ट करा दिया और उसके भिक्षुओं को भिक्षा देने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया। इससे भिक्षु श्रीलंका के दक्षिणी भाग में चले गये। महासेन राजा इतना असन्तुष्ट हो गया कि उसने महाविहार मन्दिर की जगह अपने अधिकार में ले ली और उस पर जेतवन विहार का निर्माण करा दिया। इसका उद्देश्य था पुरातनवादी महाविहार और उदारवादी अभयगिरि विहार की विचारधारा के बीच मध्यममार्ग की विचारधारा को प्रश्रय देना।

इसके बावजूद महाविहार सम्प्रदाय को दबाया नहीं जा सका। उसका विकास होता रहा। पंचमशती में श्रीलंका की यात्रा करने वाले चीनी यात्री फाह्यान ने यह सूचना दी कि दोनों विहार लोकप्रिय थे। पर अभयगिरि विहार की लोकप्रियता अधिक थी। सातवीं शताब्दी में ह्यून सांग ने श्रीलंका की यात्रा की और लिखा कि दोनों विहारों में महाविहार थेरवादी था और अभयगिरि महायान और थेरवाद दोनों को स्वीकार करता था। दोनों यात्रियों ने यह भी लिखा कि राजा मेघवाहन के राजकाल ३५२-३७९ ई. में जो बुद्ध की दन्तधातु लायी गई थी वह अभयगिरि विहार के अधिकार में थी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि महाविहार की स्थिति इस समय अधिक अच्छी नहीं थी।

राजा महानाम (४०९-४३१) के राजकाल में आचार्य बुद्धघोष श्रीलंका पहुंचे और महाविहार में रहकर ही उन्होंने प्राचीन सिंहल अट्ठकथाओं को पालि में रूपान्तरित किया और थेरवाद बौद्धधर्म को संक्षिप्त रूप में विसुद्धिमग्ग में समाहित किया। अत: लगता है, थेरवाद की दृष्टि से बाद में महाविहार की स्थिति उन्नत हो गई होगी। अभयगिरि विहार कालान्तर में महायान की ओर झुकता गया। महाविहार और अभयगिरि विहार के बीच द्वन्द्वमें उतार-चढाव राजनीति के आधार पर होता रहा है।

५९८ ई. में अभियगिरि और सागालिय निकायों ने महाविहार निकाय को स्वीकार कर लिया। ८१९ ई. में वज्रयान ने प्रवेश किया ९२१ ई. में मुस्लिम आक्रमण हुए। ११ वीं शती में भारत से बौद्धधर्म का ह्रास होने लगा। थेरवाद श्रीलंका, वर्मा, थाईलेण्ड, और कम्बोडिया जैसे देशों में फैला और महायान तिब्बत, चीन, जापान, कोरिया आदि देशों में लोकप्रिय बना। इसी समय पाण्डु और चोल राजाओं ने श्रीलंका पर आक्रमण किया। फलत: महेन्द्र ९८२-१०२९ ई. को अनुराधापुर छोडना पडा और दक्षिणी भाग में रोहण को राजधानी बनाना पडा। यह देख चोलों ने १९१७ में श्रीलंका पर आक्रमण कर पोलन्नरुआ को अपनी राजधानी बनाया। इससे बौद्धधर्म को गहरा आघात लगा। १०७० में विजयबाहु १०५५-११७० ने वर्मा के राजा अनुरुद्ध के सहयोग से चोल राजा को पराजित कर बौद्धधर्म को पुन: अपना स्थान दिया। इसके लिए उसे

वर्मा से भिक्षुओं को निमन्त्रित कर श्रीलंका में भिक्षुसंघ की स्थापना करनी पडी। वर्मी भिक्षुओं ने कुछ वर्ष यहां रहकर पालि त्रिपिटक की प्रतिलिपि की और वर्मा ले गये।

विजयबाहु की मृत्यु के बाद श्रीलंका में पुनः राजनीतिक उथल-पुथल हुई जिसे पराक्रम बाहु प्रथम ११५३-८६ ने समाप्त किया और पुलन्नरुआ को राजधानी बनाकर बौद्धधर्म की स्थिति को सशक्त बनाया। उसने अपने अधीन सभी भागों का सुन्दर विकास किया जलस्रोतों का अच्छा उपयोग किया। उसने बौद्धसंघ को भी विशुद्ध बनाने का प्रयत्न किया। अभयगिरि विहार और जेतवन विहार को बन्दकर भिक्षुओ को आदेश दिया कि वे या तो उपासक बन जायें या थेरवादी परम्परा में दीक्षित हो जायें। ११६० में अनुराधपुर में संगीति बुलाकर थेरवादी परम्परा को और भी स्थिर बना दिया।

पराक्रम बाहु प्रथम की मृत्यु के बाद ११८६ ई. श्रीलंका में पुनः विघटन प्रारंभ हुआ और वह दक्षिण भारतीय तमिलों के आधीन बन गया। १२४४ में पराक्रम बाहु द्वितीय (१२३६-७०) ने अपना राज्य उनसे पुनः वापिस लिया पर फिर भी द्वीप का उत्तरी भाग तमिलों के अधिकार में बना रहा पोर्तुगीज आने के पहले तक। इसी बीच चीन में मुगलवंश के संस्थापक कुबलाई खान ने श्रीलंका के नरेश के पास एक दूत के माध्यम से एक विनम्र अनुरोध भेजा कि उसे तथागत बुद्ध के दन्तधातु भेज दी जाय। राजा ने इस अनुरोध पर गहराई से विचारकर एक नहीं दो दन्तधातुएं भेज दीं। ये दन्तधातुएं मूल नहीं थीं। मूल दन्तधातुएं अन्ततः केन्डी के दन्तधातु मन्दिर में सुरक्षित रख दी गईं जो आज भी सुरक्षित हैं वहां।

इस समय तक भारत में वज्रयान फैल चुका था। श्रीलंका भी उसके प्रभाव से बच नहीं सका। रत्नकूट आदि सूत्रों के साथ मन्त्र-तन्त्र का प्रचार उसी प्रभाव का परिणाम है। मध्यकाल में द्रविड़ आक्रमण अधिक तेज हुए। उसके बावजूद बौद्धधर्म और साहित्य विकसित होता ही गया। उत्तरकाल में बौद्धधर्म का उत्थान और पतन, दोनों देखे जा सकते हैं। १४९८ में पोर्तुगीज आये और उन्होंने श्रीलंका पर अपना आधिपत्य जमाया। १५९७ में श्रीलंका के अन्तिम राजा की मृत्यु हुई। १६६५ में डच ने वहां अधिकार किया। केण्डी फिर भी स्वतन्त्र बना रहा। उसके बाद ब्रिटिश आये और उन्होंने केण्डी पर भी अधिकार कर लिया। १९४७ तक श्रीलंका पर वे राज्य करते रहे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद बौद्धधर्म की लोकप्रियता अहर्निश बढती रही।

१७५३ ई. में केण्डी में स्याम निकाय की स्थापना हुई जिसमें उच्चकुलीन लोगों को ही बौद्ध भिक्षु बनाया जाता था। इसके विरोध में निम्नजाति का एक प्रतिनिधि समुदाय वर्मा के राजा के पास गया अमरपुर जहां राजाने उन्हें दीक्षित कराकर वापिस भेजा। श्रीलंका में उसे अमरपुरनिकाय के नाम से जाना जाता है। १८६३ में इसी तरह का दूसरा प्रतिनिधि समुदाय वर्मा गया और वहां से दीक्षित होकर वापिस आया। श्रीलंका में

वह १८६५ में रामञ्ञनिकाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आज भी भिक्षु और उपासक समुदाय को जातिवाद ने विभक्त कर रखा है।

आधुनिक युग में १९४७ ई. में श्रीलंका में बौद्धधर्म ने नयी करवट ली। महाथेर सुमंगल धर्मानन्द, अनागारिक धम्मपाल आदि के अथक प्रयत्नों से बौद्धधर्म की स्थिति यहां बहुत अच्छी हो गई। भिक्षु साम्यवादी और समाजवाद की ओर झुके। भण्डारनायके की विजय में इसी समुदाय का हाथ था। राजनीतिक क्षेत्र में भिक्षु संघ का प्रवेश हुआ, धर्मप्रचार में भी वह आगे आया, मन्दिरों और बिहारों में स्कूल प्रारम्भ हुए, कृषि भी करने लगा। यह सब आलोचना का विषय भी बना।१८ वीं शताब्दी के मध्यदशकों में श्रामणेर मिगेत्तुवत्ते गुणानन्द ने ईसाइयों से दार्शनिक लोहा लेकर बौद्धधर्म को पुनरुज्जीवित किया। तदनन्तर महास्थविर धर्माराम, सुमंगल और अनागारिक धर्मपाल जैसे विद्वानों ने श्रीलंका में बौद्धधर्म को अधिक पुष्पित और सुव्यवस्थित कर दिया। आज श्रीलंका बौद्ध देशों में अग्रणी माना जाता है।

श्रीलंका की संस्कृति, भाषा और कला को भारतीय संस्कृति, भाषा और कला से प्रभावित होना स्वाभाविक है। उसकी लिपि भी भारतीय लिपि से उद्भूत है। श्रीलंका के बौद्धधर्म का प्रभाव वर्मा, कम्बोडिया, थाईलेन्ड आदि देशों पर भी पड़ा जहाँ आज भी बौद्धधर्म अपनी प्रभावक स्थिति में है।

३. स्वर्णभूमि में बौद्धधर्म

स्वर्णभूमि अर्थात दक्षिण पूर्व एशिया में वर्मा, कम्बोडिया, लाओस, और थाईलेण्ड आदि देशों की गणना की जाती है। वियतनाम पर चीनी प्रभाव के कारण वहां महायान बौद्धधर्म है। मलयेशिया, सुमात्रा, और जावा मूलतः मुस्लिम देश हैं। जावा और बाली के कुछ भागों पर अवश्य भारतीय संस्कृति का प्रभाव देखा जाता है। वैसे यहां चीनी संस्कृति विविध भागों से समय-समय पर आती रही है और भारतीय संस्कृति भी समुद्री मार्ग से आकर छायी रही है। अशोक ने यहां धर्मप्रचारार्थ बौद्ध भिक्षु भेजे थे। अतः इन देशों में थेरवाद और महायान दोनों सम्प्रदायों का अस्तित्व दिखाई देता है। इनमें पारस्परिक विवाद और संघर्ष भरे तत्त्व भी बिखरे पडे हैं। फिर भी बौद्धधर्म उनमें फलता-फूलता रहा है। यहां का पालि साहित्य बहुत समृद्ध है।

प्राचीन काल में कम्बोडिया को फुनान कहा जाता था। जाति और भाषा की दृष्टि से वह खमेर से सम्बद्ध लगता है। चम्पा वियतनामा उसका एक प्रतिद्वन्द्वी साम्राज्य था। जावा-सुमात्रा को श्री विजय की संज्ञा दी जाती रही है। फुनान ने तृतीय शती में चीन से राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे। चतुर्थ शती में कुषाण वंश ने उस पर

अधिकार कर लिया। छठी शती तक फूनान और चीन के सम्बन्ध मधुर रहे। यहां शैव और बौद्धधर्म एक साथ पनपते रहे। फुनान का अन्तिम शक्तिशाली राजा जयवर्मन प्रथम था। ५१४ में उसकी मृत्यु के बाद उत्तराधिकार के लिए संघर्ष होता रहा। सातवीं शती में फुनान पर खमेर का आधिपत्य हो गया। चम्पा पर चीनी और वियतनामी आक्रमण होते रहे। खमेर ने फुनान और चम्पा पर अधिकार किया।

६०० से ८०० ई. के बीच श्री विजय नामक राज्य दक्षिणपूर्व एशिया में शक्तिशाली रहा। यह राज्य सुमात्रा, जावा और मलय पेनिनसुला का संमिलित नाम है। भारत और चीन से उसके व्यापारिक सम्बन्ध रहे हैं। चीनी यात्री Yi-Jing ने ६७१ में यहां की यात्रा की थी। उसके अनुसार यहां थेरवाद और महायान बौद्धधर्म का अस्तित्व था।

जावा में शैव सम्प्रदाय लोकप्रिय था। फिर भी वहां बौद्ध स्मारक और ४०० बौद्ध मूर्तियां आदि भी मिलीं जो शैलेन्द्र वंशीय नामक बौद्ध राजा के काल की हैं। यह शैलेन्द्र वंश बाद में सुमात्रा पहुंचा। इन दोनों को श्रीविजय के नाम से जाना जाता है। चोलों ने उस पर आक्रमण किया। १३ वीं शती में मंगोलियन आक्रमण हुआ और श्री विजय का साम्राज्य नष्ट भ्रष्ट हो गया। तान्त्रिक बौद्धधर्म यहां अपने पैर जमा चुका था।

१३ वीं शती में मलय जावा सुमात्रा पर मुस्लिम आक्रमण हुए। वाली ने किसी सीमा तक इन आक्रमणों को रोकने का प्रयत्न किया। इण्डोनेशिया में बौद्धधर्म अभी भी अच्छी स्थिति में है।

मलाया वर्मा से लेकर जावा, सुमात्रा, बोर्नियो द्वीप समूह तक प्राचीन स्वर्णभूमि के अन्तर्गत आता था। इसे हम दक्षिण-पूर्व ऐशिया कह सकते हैं। महावंस (१२.४४-५५) के अनुसार तृतीय संगीति के फलस्वरूप देवानंपिय अशोक ने सोण और उत्तर को ३५३ ई.पू. में स्वर्णभूमि में बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार के लिए भेजा था। साँची में प्राप्त अभिलेख से भी यह प्रमाणित हो जाता है।

४. वर्मा (म्यामना) में बौद्धधर्म

वर्मा के लोग मोन खमेर से सम्बद्ध हैं जो कबोडिया में लगभग १५०० ई.पू. में आये। इसके पूर्व का कोई भी पुरातात्त्विक प्रमाण नहीं मिलता। भारतीय ऐतिहासिक साधनों से यह पता चलता है कि वर्मी लोग भारतीय संस्कृति से जुडे हुए थे।

इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि श्रीलंका के विजयबाहु के राज्याभिषेक से लौटने पर वर्मी भिक्षु अपने साथ पालि पिटक ले आये थे १०८० में। इस समय वर्मा में थेरवाद की अपेक्षा महायान सम्प्रदाय का बाहुल्य था। १०८६ में अनुरुद्ध के सेनापति

क्यन्जित्थ ने सत्ता पर अधिकार किया और थातोन के मोन परिवार को अपने विश्वास में लिया। उससे पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित किया और वर्मा के मन्दिरों को मौन कलात्मक पद्धति से सजाया-सम्हारा गया और पालि ग्रन्थ सम्पदा को और स्थापत्य को पेन्टिंग से अलंकृत किया गया। इस समय के शिलालेख भी मोन भाषा में हैं। थेरवादी सम्प्रदाय इस काल में काफी लोकप्रिय हो गया था। आगे की तीन शताब्दियों तक यहां की यह महाविहार परम्परा समृद्ध बनी रही। श्रीलंका की महाविहार परम्परा पर इसका प्रभाव पडा। वस्तुतः समूचा दक्षिण पूर्व एशिया भाग इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। वियतनाम अवश्य महायानी बना रहा।

दक्षिण वर्मा में ५-६ वीं शती से बौद्धधर्म के अस्तित्व के प्रमाण मिलना प्रारम्भ हो जाते हैं। प्यू जाति की प्राचीन राजधानी श्रीक्षेत्र के समीप मौङ्-गन और ह्मावजा में उपलब्ध स्वर्णपत्रों पर ये ''धम्मा हेतुप्पभवा '' जेसे प्रसिद्ध बुद्धवचन उत्कीर्ण मिलते हैं। थेरवाद परम्परा ही इस समय यहाँ प्रचलित रही होगी। तलैङ्, भ्रम्म आदि वर्मी जातियों में भी बौद्धधर्म लोकप्रिय हो गया था।

वर्मा में ग्यारहवीं शताब्दी में महायानी साधना का भी प्रचार बढ़ा। दीपंकर का १०५४ ई. में देहावसान होने पर शिन् अर्हन् ने राजा अनुरुद्ध के सहयोग से बौद्धधर्म की तान्त्रिक शाखा का प्रसार किया। राजा अनुरुद्ध ने थातोन के राजा मनोहर (मनुहा) पर आक्रमण कर त्रिपिटक हस्तगत किया। उसे नयी वर्णमाला में लेखबद्ध किया गया। तलैङ् भिक्षुओं से वर्मी जनता ने हीनयान की दीक्षा ली। तब से यहाँ पालि और स्थविरवाद प्रचलित है। सिंहल राजा (१०६५-११२० ई.) के समय अनुरुद्ध ने श्रीलंका को सैन्य सहायता दी और बदले में उससे बुद्ध की दन्तधातु ग्रहण की। इसी दन्तधातु पर स्वेजिगान महास्तूप का निर्माण हुआ। बाद में त्रिपिटक को भी मंगाकर उसका एक शुद्ध संस्करण तैयार किया गया। पगान में अभी भी बुद्ध की एक विशाल प्रतिमा आकर्षण का केन्द्र बनी हुई है। अनिरुद्ध के पुत्र केन्जित्था (१०८४-१११२ ई.) ने भी अपने पिता की भाँति बौद्धधर्म का पर्याप्त संरक्षण किया। बोध गया के मन्दिर का उद्धार, बिहार निर्माण, तथा प्रदीप-रत्नदान का श्रेय केन्जित्था को ही है।

शिन् अर्हन् की मृत्यु (१११५ ई.) के बाद पंथगू संघाधिपति हुए। वे राजा नरत्थू के विरोध में सिंहल चले गये। वहाँ से ११७३ ई. में वापिस आये। उनके बाद उत्तरजीव संघराज हुए। उत्तरजीव ससंघ सिंहल की यात्रा पर गये। साथ में चपटा नामक श्रामणेर भी था। सिंहल भिक्षुओं ने चपटा को सिंहलनिकाय में दीक्षित किया। चपटा भिक्षु अपने कुछ साथियों के साथ सिंहल में ही रहे। ११८१-८२ ई. में पगान वापिस पहुँचने पर वर्मा में सिंहल संघ और भ्रम्मसंघ नाम के दो संघों की स्थापना हो गई। प्रथम महाबिहार निकाय का सदस्य था तो द्वितीय सोण और उत्तर की परम्परा का अनुयायी

था। चपटा के साथ राहुल, आनन्द, सीवली और तामलिन्द भिक्षु भी थे। उनमें राहुल ने भिक्षु अवस्था छोड़कर गृहस्थावस्था को स्वीकार कर लिया। शेष भिक्षु सिंहल निकाय का प्रचार करते रहे। सिथु राजा के बाद हतिलो-मितेल, क्यासवा और नरथिहपते ने राजगद्दी ग्रहण की। किन्तु उस समय तक वहाँ पर मुसलमानों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे। १२८७ ई. में कुबले खान् की सेना ने पगान पर अधिकार भी कर लिया था।

भ्रम्म और तैलङ् परस्पर विरोधी थे। उन दोनों को एक बर्बर घुमन्तु जाति शान् ने पराजित किया। उनमें से थीहथू ने बौद्धधर्म स्वीकार किया। आगे चलकर बौद्धधर्म का प्रचार बढ़ा। उस समय भिक्षु धम्मचेति (१४७२-७९ ई.) ने गृहस्थावस्था स्वीकारकर शिन्-सा-बू की सुपुत्री से विवाह कर राज्यशासन सूत्र सम्हाला। बौद्धधर्म का प्रभाव धम्मचेति के समय और अधिक बढ़ा। १४७२ ई. में उसने बोध गया जैसा मन्दिर बनवाने की घोषणा की। भिक्षु संघ में व्याप्त आचार-शैथिल्य को दूर करने के लिए उसने २२ भिक्षुओं को सिंहल भेजा। वहाँ से वे उपसंपदा लेकर १४७६ ई. में वापिस आये। और उन्होंने नये भिक्षुओं को उपसम्पन्न किया। भ्रम्म संघ सिंहल संघ के समीप आता गया। धम्मचेतिने उसी को मान्यता दी।

धम्मचेति के समय तक वर्मा अनेक राज्यों में विभाजित हो गया था। इसी समय १५२७ ई. में थोहन्-व्या नामक राजा आवा का अधिकारी हुआ। उसने बौद्धधर्म पर घनघोर अत्याचार किये। उसके विरोध में १५४३ ई. में मिन्क्यियानोङ् ने उसकी हत्या कर अत्याचार को समाप्त किया। वपिन्नीङ् (१५५१-८१) ने तैलङ्गों का विद्रोह शान्तकर वर्मा को एक सूत्र में बांधने में सफलता पाई। उसने अनेक स्तूप और बिहारों का भी निर्माण कराया। वापनीङ् के बाद भ्रम्म और तैलङ्गों में पुनः संघर्ष प्रारम्भ हो गया। १७४०-४५ ई. में तैलङ्गों ने शिमिम्म हता बुद्धकेति के नेतृत्व में पेगू में अपना अधिकार जमाया। अलौङ् पया (१७५६-५७) ने बादम में इन्हें वर्मा से निकाल बाहर किया। वर्मा को एकसूत्र में बाँधने के लिए उसे बहुत कीमत चुकानी पड़ी।

धम्मचेति के प्रभाव से वर्मा में साधारणतः एक ही संघ रह गया था। उसमें भी मतभेद पैदा हो गया। मतभेद का मूल कारण था चीवर। लगभग १७०० ई. में गुणाभिलंकार भिक्षु ने एकांस चीवर पहिनने की रीति चलाई। इसके पूर्व पारुपण (प्रारोपण) प्रथा थी जिसमें चीवर से दोनों कंधे ढके जाते थे। एकंसिक चीवर प्रथा का अन्त बोदाब्या (१७८२-१८१९ ई.) ने कराया। मूल त्रिपिटक भी पारुपण प्रथा का पोषक है। फिर भी एकंसिक प्रथा सिंहल की स्यामनिकाय में अभी भी प्रचलित है।

कीर्तिश्री राजसिंह (१७४८-७८ ई.) ने उच्चकुलीन भिक्षुओं को ही सिंहल में

उपसम्पदा के योग्य बताया। फलतः १८०० ई. में कुछ भिक्षु वर्मा गये जहाँ उन्होंने अमरपुर में ज्ञानाभिवंश से दीक्षा ली। सिंहल देश में वापिस आने पर अमरपुर-निकाय की स्थापना हो गई। ये उभयांसी थे। इसी प्रकार सिंहल में एक और भी रामञ्ञनिकाय नाम का सम्प्रदाय है जो उभयांशी है। बाद में मिन-दोन-मिन (१८५२-७७ ई) ने संगमर्मर की ७२९ पट्टियों पर त्रिपिटक को उत्कीर्ण कराया।

१८८५ ई. में वर्मा पर अंग्रेजों ने अधिकार किया। १९४८ ई. में स्वतन्त्र होते ही बौद्धधर्म वर्मा का राजधर्म बन गया। यहाँ वर्मी संस्कृति का रग-रग बौद्ध संस्कृति से प्रभावित देखा जाता है। महाबोधि सभा को इसका विशेष श्रेय है।

१९४२ में वर्मा को साधारण तौर पर स्वतन्त्रता मिल चुकी थी जब वर्मी आन्दोलन कारियों ने जापानी सेना को सहयोग दिया। जापानी सेना का प्रारंभ में स्वागत हुआ पर यह प्रसन्नता अधिक समय तक नहीं रह सकी। ब्रिटिश सेना ने वर्मी शासन को बहुत नुकसान पहुंचाया। जापानी सेना ने ब्रिटिश सेना को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से जो भी कदम उठाये वे सभी वर्मा को हानिप्रद सिद्ध हुए। हजारों लोग इसमें मारे गये और अनेक भागों में अकाल पड गया। यह सब मारे गये और अनेक भागों में अकाल पड गया। यह सब देखकर लार्ड माउण्टेन ने १९४५ में वर्मा पर आक्रमण कर दिया। पर यहां के मार्क्सवादी छात्रों की तत्परता के कारण यह आक्रमण विफल हो गया।

१९८८ में नेविन के विरोध में जबर्दस्त आन्दोलन हुआ। लगभग तीन हजार लोग मारे गये। इससे नेविन ने त्यागपत्र दिया पर इससे भी जनता सन्तुष्ट नहीं हुई। Aung San की पुत्री Aung San Kyi के नेतृत्व में पुनः आन्दोलन हुआ। उसे १९८९ में वर्मी सरकार ने जेल में बन्द कर दिया। फिर भी चुनाव में उसकी पार्टी ने ८० प्रतिशत सीटें जीती। १९९१ में उसे नोबल शान्ति पुरस्कार भी मिला। उसके बाद वर्मा ने अनेक राजनीतिक करवटें लीं। फिर भी सयदेव, गोयनका आदि विद्वानों के सहयोग से यहां बौद्धधर्म पुष्पित-पल्लवित होता रहा।

वर्मा के पुरातात्त्विक प्रमाणों से पता चलता है कि यहां हीनयानी बौद्धधर्म अधिक प्रचलित रहा है। कदंब राजवंश के अभिलेख ३००-६०० ई. पालि भाषा में पल्लव लिपि में प्राप्त हुए। १९२६ ई. में २० स्वर्णपत्रों पर एक पाण्डुलिपि मिली जिस पर प्रतीत्य समुत्पाद उत्कीर्ण है।

वर्मा में बौद्धधर्म आज भी जीवन्त इसलिए है कि यहां प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रव्रज्या लेना थोडे समय के लिए अनिवार्य है। हर बौद्ध विहार एक विद्यालय है जहां भिक्षु शिक्षक भी है। वर्मी समाज इन विहारों का संरक्षण भलीभांति करता है।

५. इण्डोनेशिया में बौद्धधर्म

इण्डोनेशिया में बौद्धधर्म लगभग पांचवीं शती में भारत से पहुंचा। सुमात्रा के राजा श्रीविजय ने वहां थेरवाद बौद्धधर्म की स्थापना की। जावा में बाद में तन्त्र परम्परा पहुंची जिसे शैलेन्द्र वंश ने भरपूर आश्रय दिया। बोरोबोदुर बौद्ध कला केन्द्र उसी का परिणाम है। बाद में बौद्ध और शैवतन्त्र दोनों एक साथ चलते रहे। १५ वीं शती में इण्डोनेशिया में इस्लाम आया। फिर भी बौद्धधर्म को वहां समाप्त नहीं किया जा सका।

वर्तमान में इण्डोनेशिया में बौद्धधर्म और अधिक लोकप्रिय हो गया। चीन, थाईलेण्ड और श्रीलंका के भिक्षु वहां बौद्धधर्म को अपने-अपने ढंग से विकसित करने में जुटे हुए हैं। जिनरक्खित थेर के प्रयत्न से इस कार्य में अधिक गति आ सकी है।

सोण और उत्तर का प्रभाव मलयद्वीप पर भी पड़ा। यहाँ के जन-जीवन में बौद्ध संस्कृति का प्रभाव बहुत अधिक है। केद्दा के समीप ४-५ वीं शती का बौद्धमन्दिर प्रसिद्ध है। यहाँ एक बौद्ध शिलालेख भी उपलब्ध हुआ है। इसी समय यहाँ महायान बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ। लगभग ८ वीं शती तक यहाँ बौद्धधर्म अच्छी स्थिति में रहा। यहां धम्मरत महाचैत्य तथा उसके आसपास पचास विहारों का निर्माण हुआ था।

गुप्तकाल में सुमात्रा भी बौद्धधर्म का प्रधान केन्द्र बन गया था। ६८४ ई. में जयनाग श्रीविजय का शासक था। श्रीविजय हिन्द-द्वीपसमूह में संस्कृति और शिक्षा का आकर्षक स्थान था। यहाँ महायान का विशेष प्रचार था। कहा जाता है, सुवर्णद्वीप के प्रकाण्ड पण्डित धर्मकीर्ति के पास आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान (९८१-१०५४ ई.) बारह वर्ष तक पढ़ते रहे। ७ वीं से ११ वीं शती तक स्वर्णद्वीप (इण्डोनेशिया) का बहुत अधिक महत्त्व था। महायानी साधना का भी यहाँ प्रभाव रहा है। विशेषरूप से सर्वास्तिवाद अधिक लोकप्रिय रहा है।

६. जावा

जावा का भी भारत से सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा है। जावा का प्रथम राजा अजि-शका (प्रथम शताब्दी) भारतीय ही था। पाँचवीं शताब्दी में गुणवर्मा ने बौद्धधर्म का यहाँ अच्छा प्रचार किया। जावा की संस्कृति पर दक्षिण भारतीय कला और संस्कृति का विशेष प्रभाव है। पल्लवों के पूर्व और सातवाहनों के बाद के धान्यकटक और श्रीपर्वत (नागार्जुनीकोंडा) में प्राप्त शिलालेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि तृतीय शताब्दी में सिंहल, चीन, और किरात (चिलात, मलय) तक बौद्धधर्म का प्रचार था। पल्लव लिपि और जावा-हिन्दचीन लिपियों में साम्य दिखाई देता है। श्रीविजय का शैलेन्द्र राजवंश महायानी तथा तान्त्रिक बौद्धधर्म का अनुयायी था। उस समय सातवीं शताब्दी में मगध

और नालन्दा तन्त्रयान के प्रमुख केन्द्र थे। शैलेन्द्र वंशीय राजाओं ने दिग्विजयें भी कीं। १२६४ ई. के बाद उनका पतन होने लगा। शैलेन्द्र राजवंशों ने वास्तुकला पर विशेष ध्यान दिया। बरोबुदूर का महाचैत्य, चण्डीसरी, चण्डीसेबू, चण्डी मेन्दुत् और चण्डीपवान मन्दिर बौद्धकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दू संस्कृति का प्रसार भी यहाँ कम नहीं रहा। यहां का बरोबदूर महास्तूप बहुत प्रसिद्ध है। (९ वीं शती)

७. बालीद्वीप

वालीद्वीप और जावा के बीच केवल डेढ़ मील की खाड़ी है। चीनी इतिहास से ज्ञात होता है कि छठी शताब्दी में यहाँ बौद्धधर्म बहुत लोकप्रिय था। यहाँ बौद्धधर्म चीन से नहीं आया प्रत्युत भारत से पहुंचा था। उग्रसेन भारतीय राजा था जिसने नवीं शताब्दी में वाली पर शासन किया। ११ वीं शताब्दी में वाली पर जावा का शासन हुआ पर कादिरी राज्य का पतन होने पर वाली पुनः स्वतन्त्र हो गया। बाद में मुसलमानों और डचों के आक्रमणों से वाली भी नहीं बच सका। फिर भी यहाँ शैवधर्म के साथ-साथ बौद्धधर्म पल्लवित होता रहा। यहाँ प्रायः शिव और बुद्ध को एक माना जाता है। ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व की कोई वास्तुकला यहाँ उपलब्ध नहीं हुई। उत्तर कालीन मन्दिर अवश्य मिलते हैं।

८. बोर्नियो

बोर्नियो भी बौद्ध दृष्टि से महत्त्वपूर्ण द्वीप है। यह जावा से अठगुना बड़ा है। यहाँ के इतिहास से ज्ञात होता है कि लगभग तीसरी-चौथी शताब्दी में बोर्नियो में ब्राह्मण संस्कृति का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। पश्चिम बोर्नियों में भी प्राप्त अभिलेखों से स्पष्ट है कि लगभग १० वीं शताब्दी में यहाँ बौद्धधर्म का भलीभांति प्रचार हो गया था। दक्षिण-पूर्वी बोर्नियो मर्त्तपुर जिले में गुनुङ्-कूपाङ् के बीच उत्खनन में बोधिसत्त्व मञ्जुश्री की पाषाणमूर्ति मिली है। कुछ बुद्ध मूर्तियाँ कोम्बेङ् में भी प्राप्त हुई हैं। इनकी कला भारतीय है। बोर्नियो में प्राप्त पीतल की एक बुद्ध की मूर्ति भी कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। फिलिपीन और सेलीबीज में भी बौद्धकला के निदर्शन प्राप्त हुए हैं। इन सभी स्थानों पर मुसलमानों के आक्रमण हुए जिनसे बौद्धधर्म और कला की विशेष हानि हुई। इन सभी के बावजूद इण्डोनेशिया (सुमात्राद्वीप समूह) की संस्कृति पर बौद्धधर्म की अमिट छाप पड़ी हुई है। स्याम (थाईलेण्ड), काम्बुज (कम्बोडिया), और चम्पा (वियतनाम) भी इसी के अभिन्न अंग है।

९. कम्बोडिया (कम्बोज) में बौद्धधर्म

श्रीविजय से संघर्ष बने रहने के कारण फूनान ने खमेर जाति को मेकांग नदी

की ओर जाने के लिए बाध्य कर दिया। इस प्रक्रिया में सर्वप्रथम छेनल ने फूनान का राज्यहरण किया सातवीं शताब्दी में। छेनल एक निर्बल और विभक्त राज्य था। चम्पा और श्री विजय से हमेशा उसे भय बना रहता था। जयवर्मन द्वितीय ने आठवीं शतीमें अंगकोर राज्य को हस्तगत किया। वह शैलेन्द्र राजा से प्रभावित था। अपने राज्य के संस्कारित करने के लिए उसने बौद्ध बोरोबुदुर को आदर्श मानकर एक पहाडी पर हिन्दू स्मारक बनवाया और उसमें शिवलिंग की प्रतिष्ठा की। उसके उत्तराधिकारी भी इसी तरह उस पर मन्दिर बनवाते रहे। अंगकोट वात में सबसे बडा मन्दिर खमेर राजाओं में सूर्यवर्मन द्वितीय ११३०-५० ने निर्मित कराया। पूरा मन्दिर लगभग एक मील के विस्तृत क्षेत्र में फैला है। इसका गर्भागृह लगभग १४० फीट ऊंचा, अधिष्ठान लगभग १०० गज चौडा है। यह मन्दिर विष्णु को समर्पित किया गया है।

जयवर्मन सप्तम (११८१-१२१८) महायान बौद्धधर्म का अनुयायी था। उसने अंगकोट वात की पार्श्ववर्ती पहाडी वेयोन पर एक बौद्ध मन्दिर बनवाया। उसके शिलालेखों से पता चलता है कि वह इस मन्दिर के निर्माण से अपनी प्रजा को सन्तुष्ट करना चाहता था। हिन्दूधर्म भी साथ साथ यहां फुलता-फ लता रहा। उसने चिकित्सालय, धर्मशालाएं मार्ग आदि बनवाकर अपने राज्य का सुन्दर विकास किया। यहीं उसने अंगकोट थोम नामक राजधानी का भी निर्माण किया। इन सभी विकासकार्यो में काफी आर्थिक व्यय हो गया। फलत: यह राज्य समाप्त हो गया। पुरातत्त्व की खोजों से यह सिद्ध हो गया है कि कम्बोज का प्रसिद्ध मन्दिर अडकोरयाम पहले बौद्ध विहार था जिसे बाद में शैव देवालय के रूप में परिवर्तित कर दिया गया।

जयवर्मन सप्तम के बाद अंगकोरवात थेरवाद बौद्धधर्म का केन्द्र बन गया। इन्द्रवर्मन् तृतीय थेरवादी राजा था। उसके बाद के शिलालेखों की भाषा संस्कृत के स्थान पर पालि हो गई। थेरवाद की ओर झुकाव होने का कारण थाईलेण्ड का प्रभाव भी था। यहां थेरवादी परम्परा १५ वीं शताब्दी तक चलती रही। बाद में राजधानी अंगकोर के स्थान पर फनोम पेन्ह बना दी गई। १९ वीं शती तक थाईलेण्ड से संघर्ष चलता रहा कम्बोडिया का। वियतनाम से भी उसे लडना पडा। फ्रान्स से १८६३-६४ में एक सन्धि हुई जिससे उसे इस संघर्ष से कुछ राहत मिली। १९५३ तक यह सन्धि चलती रही। कम्बोडिया के राजकुमार नोरोदोम सीहनोक के प्रयत्न से फ्रान्स से कम्बोडिया १९५३ में स्वतन्त्र हो गया।

१९७५ तक बौद्धधर्म कम्बोडिया में बना रहा। १९७० में जनरल लोन लोल ने अमेरिका के सहयोग से राज्य हस्तगत किया सीहनोक से। वियतनाम युद्ध का भी कुछ प्रभाव पडा। कम्युनिस्ट सरकार के कारण भी यहां बौद्धधर्म को हानि उठानी पडी। हजारों लोग मारे गये और बौद्धभिक्षुओं को हठात् गृहस्थ बनना पडा। प्राचीन कम्बोडियन संस्कृति धूल में मिल गई। १९७९ में वियतनाम की मध्यस्थता के कारण

जनरलपोल पोट की अमानवीयता समाप्त हो गई और कम्बोडियन संस्कृति पुनः पनपने लगी। बौद्ध भिक्षु संघ की पुनः स्थापना हुई १९८० में। इसमें लगभग ८०० भिक्षु एकत्रित हुए। पोल पोट के कार्यकाल में लगभग ६०००० भिक्षु पदच्युत हुए। नये स्थापित बौद्धसंघ में पचासवर्ष की अवस्थावाला व्यक्ति ही संमिलित हो सकता है। संघ की अर्थव्यवस्था का उत्तरदायित्व सरकार पर ही रहा।

१९९० में वियतनामी सैनिक हस्तक्षेप समाप्त होते ही प्रधान मन्त्री हनसेन ने बौद्धधर्म को राजधर्म घोषित किया और समस्त प्रतिबन्ध समाप्त कर दिये। आज भी यही स्थिति बनी हुई है।

११. लाओस में बौद्धधर्म

लाओस के पश्चिम में थाईलेण्ड और पूर्व में वियतनाम और उत्तर पश्चिम में वर्मा तथा दक्षिण में कम्बोडिया है। इस पर प्रारम्भ में कम्बोडिया और थाईलेण्ड का प्रभाव रहा है। यहां थाईलेण्ड के लोग काफी संख्या में है।

लोओस का इतिहास १४ वीं शती से प्रारम्भ होता है। यहां का राजा अपने पुत्र फनगुम के साथ किसी तरह अंगकोट पहुंचा। फनगुम ने वहां थेरवाद का अध्ययन किया। खमेर के राजा ने उसका विवाह अपनी पुत्री के साथ कर दिया और १३५० में उसने अपनी सेना देकर लाओस को हस्तगत करने का संकल्प दिया। इस समय तक अंगकोट राज्य निर्बल होकर थाईलेण्ड के अधीन हो गया था। इसका लाभ लेकर फनगुम ने मेकांग नहीं से लगे हुए प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया इसे ही लाओस कहा गया। उसने खमेर संस्कृति को भी स्थापित किया। इसके लिए उसने अपने गुरू को आमन्त्रित किया। वे अपने साथ बुद्धमूर्ति भी ले आये जिसे फ्रबेंग कहा जाता है। इस तरह लाओस की स्थापना हुई और वहां थेरवादी बौद्धधर्म प्रारम्भ हुआ।

इन राज्यों के बीच लाओस अपना अस्तित्व बनाये रखने में सफल रहा। उसके राजा ने जनकल्याण के लिए बहुत कार्य किया बौद्ध संघ को योगदान देकर वह अपने कुशलकर्म में वृद्धि करता रहा। राजा विष्णु १५०१-२० ने कम्बोडिया का अच्छा विकास किया। विष्णु के पुत्र सेट्ठथिरन नें १५४८-७१ और थाईलेण्ड के बीच १५६६ में एक सन्धि हुई जिसके अन्तर्गत उसे अपनी राजधानी फ्रबेंग से हटाकर वियेन चान थाई राजधानी अयोध्या के समीप करना पडा। इसके बावजूद सेट्ठथिरन थेरवादी बौद्धधर्म को लोकप्रिय बनाने में कोई कमी नहीं की। उसने थातलुआंग और फ्रकेओं ये दो बडे बौद्ध मन्दिर खमेर शैली के बनवाये। फ्रकेओं की बुद्धमूर्ति थाईलेण्ड ने १७७८ में आक्रमणकर अपने अधिकार में ले ली।

वर्मा ने सेट्ठथिरात के शासनकाल में दो बार असफल आक्रमण किये। अन्ततः १५७४ में उसने उस पर विजय प्राप्त की। १६३७ में यहां सूर्यवंश का राज्य हुआ। १६९४ में लाओस दो भागो में विभक्त हो गया। उसका दक्षिणी भाग वियतनाम के और उत्तरी भाग वर्मा और थाइलेण्ड के प्रभाव में रहा। १७७८ में थाईलेण्ड ने दक्षिणी भाग पर अपना अधिकार किया और उत्तरी भाग को भी उसमें समाहित कर लिया। उसने उपर्युक्त दोनों बुद्ध मूर्तियों को भी अपने अधिकार में ले लिया। १८९३ में फ्रांस ने लाओस के दोनों भागों पर अपना शासन स्थापित किया। द्वितीय विश्व युद्ध काल में वह जापान के अधिकार में रहकर वह कुछ स्वतन्त्र अवश्य हुआ पर १९४६ में उसे कम्युनिस्ट आन्दोलन का सामना करना पडा। १९६० में गृहयुद्ध हुआ। १९७५ में अमेरिका वियतनाम युद्ध में पराजित हुआ और लाओस पर कम्युनिस्टों का अधिकार हो गया।

इस गृहयुद्ध का असर बौद्धधर्म पर पडा। बौद्धभिक्षुओं को भिक्षा मिलना बन्द हो गया। उन्हें उत्पादक बनकर कृषि आदि कार्य करने के लिए विवश होना पडा। उन्हें शिक्षा कार्य और सामाजिक क्षेत्र में काम करना पडा। कम्युनिस्ट शासन होने के कारण थेरवाद बौद्धधर्म के प्रचार और साधना में अनेक बाधाएं आयीं। काफी लोग विदेशों में चले गये। कम्युनिस्ट सरकार ने संघ को विनष्ट करने का प्रयत्न किया पर वह ऐसा नहीं कर सकी। उसने भिक्षुओं को मार्क्सधर्म के प्रचार में लगा दिया। वर्तमान में इस स्थिति में कुछ सुधार हुआ है। यहां पालि साहित्य भी अच्छे परिमाण में मिलता है ।

१२. हिन्दचीन (थाईलेण्ड) में बौद्धधर्म

वर्मा के लोग मोन खमेर से सम्बद्ध हैं जो कबोडिया में लगभग १५०० ई.पू. मे आये। इसके पूर्व का कोई भी पुरातात्त्विक प्रमाण नहीं मिलता। भारतीय ऐतिहासिक साधनों से यह पताचलता है कि वर्मी लोग भारतीय संस्कृति से जुडे हुए थे। दक्षिण पूर्व एशिया में थाईलेण्ड ही एक ऐसा देश है जिसने पाश्चात्यशासन को कभी आश्रय नहीं दिया और परम्परागत राजपरम्परा से जुडा रहा। यही कारण है कि बोद्धधर्म के स्थान पर यहां राजा को पर्याप्त महत्त्व दिया गया। भले ही वह पाश्चात्य परिभाषा में स्वतन्त्र नहीं रहा हो पर स्वतन्त्रता के देहली पर आरोहण कर उसने स्वतन्त्रता का उपभोग किया है। १९३२ से वह ऐसी ही स्वतन्त्रता के साथ विकसित हो रहा है। आज वह दक्षिण पूर्व ऐशियायी देशों में कदाचित् सर्वाधिक विकसित देश है और बौद्धधर्म उसके हर अंग से जुडा है।

वर्मा के समान थाईलेण्ड के भी प्राचीन निवासी मोन थे जिन्होंने सप्तम शती में द्वारावती राज्य की स्थापना की। खमेर राज्य ने ११ वीं शती में उस पर अपना अधिकार किया। पुरातात्त्विक प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि द्वारावती कालीन बौद्धधर्म शुद्ध थेरवादी था। यहां की मोन कला पर श्रीलंका की बौद्धकला का प्रभाव रहा जबकि वर्मी

मोन कला भारतीय कला से प्रभावित रही। जो महायानी का ही एक रूप था।

चीनी इतिहासकारों के अनुसार चम्पा राज्य की स्थापना १९२ ई. में हुई थी। पर बौद्धधर्म का प्रभाव नौवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ। इसी समय इन्द्रवर्मा द्वितीय ने लक्ष्मीन्द्र लोकेश्वर नामक महाबिहार का निर्माण कराया। ९०२ ई. में यहीं स्थविर नागपुष्प ने 'प्रमुदित लोकेश्वर बिहार' स्थापित किया। यहाँ पर उत्कीर्ण प्रशस्ति से यह ज्ञात होता है कि चम्पा में तान्त्रिक बौद्धधर्म का प्रचार अधिक था। १३ वीं शती तक बौद्धधर्म यहाँ रहा पर शैव धर्म अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय था।

चम्पा के पश्चिम में एक प्रदेश था, जिसे चीनी इतिहासकारों ने फोनन् कहा है। यहाँ का कौडिण्य राजा सोमवंशी था। उसके बाद फान्-चे-मन् (२२५ ई.) ने अपना राज्य मलाया तक विस्तृत किया। २४०-४५ ई. में फूनान् से पाटलिपुत्र दूत भेजे गये। इसी समय उनका परिचय बौद्धधर्म से हुआ। इस समय तक फोनन् भारतीय संस्कृति से ओतप्रोत हो गया था। ४३८ ई. में भिक्षु नागसेन किसी प्रकार फोनन् पहुंचे। राजा जयवर्मा ने ४८४ ई. में नागसेन को एक आवेदनपत्र के साथ चीन भेजा। उस पत्र में चीन में प्रचलित बौद्धधर्म की प्रशंसा की गई थी। फोनन् में उपलब्ध शिलालेखों से यह स्पष्ट है कि इस समय तक वहाँ बौद्धधर्म का विस्तार हो चुका था। जयवर्मा के काल में अवलोकितेश्वर बुद्ध और वज्रपाणि की प्रतिमायें बन चुकी थी।

कम्बुज चम्पा के समान भारतीय नाम कम्बोज के अनुकरण पर रखा गया होगा। यहाँ मूलतः शैवधर्म प्रचलित था। फूनान् पर भववर्मा ने अपना अधिकार किया। उसके बाद महेन्द्रवर्मा, ईशानवर्मा, जयवर्मा प्रथम आदि राजाओं ने कम्बुज पर शासन किया। यहाँ सर्वप्रथम जयवर्मा प्रथम (६६५ ई.) के शिलालेखों में ही बौद्धधर्म का उल्लेख मिलता है। उसके बाद लगभग (दूसरी शताब्दी तक कम्बुज शैलेन्द्र राजाओं के अधिकार में रहा) उसके बाद जयवर्मा द्वितीय (८०२ ई.) सिंहासन पर बैठा। कुछ बौद्ध मन्दिरों का उसने निर्माण कराया। जयवर्मा तृतीय (८६९-८७७ ई.) के काल में पल्लव वास्तुशिल्प का अनुकरण दिखाई पड़ता है। यशोवर्मा के बाद सूर्यवर्मा (१००२-४९ ई.) के राज्यकाल में बौद्धधर्म का उत्कर्ष बढ़ने लगा। आज यहाँ स्थविरवादी बौद्धधर्म प्रचलित है। इस कला पर जैन संस्कृति और कला का प्रभाव दिखाई देता है।

थाई वासियों का मूल स्थान युन्-नन् (चीन) था। इसी ओर चिन्दवीन, इरावदी, सालविन, के प्रदेश लाल नदी के तट पर अवस्थित थे। इसी प्रदेश को उन्होंने गन्धार कहा है। परम्परानुसार इस प्रदेश को अशोक ने स्थापित किया था। थाई ने प्रारम्भ से ही अपनी स्वतन्त्रता के लिए चीन से संघर्ष किया। थाई में बहुत नाम भारतीय नामों का अनुकरण करनेवाले रखे गये। १४ वीं शती तक अयोध्या उनकी राजधानी रही। इस

बीच बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार बढ़ता ही गया। आज भी थाई में बौद्धधर्म बहुत लोकप्रिय है।

१४३१ में थाईलेण्ड ने खमेर राज्य पर अधिकार कर लिया और अंगकोट के स्थान पर फनोम फेन्ह को राजधानी बनाया। १५६९ में अयोध्या पर वर्मा ने अधिकार कर लिया। १६०० से थाईलेण्ड संगठित हो गया और वर्मा से स्वतन्त्र हो गया।

मोंगकूट का राजा राम पंचम १८६८-१९१० भी अपने पिता के आदर्शो पर चलता रहा। उसने अपने देश को नये विकासपथ पर आगे बढाया। पाश्चात्य संस्कृति के साथ ही यहां बौद्धधर्म का प्रभाव बना रहा। उसने भिक्षु संघ में शिक्षा का प्रसार किया, विश्वविद्यालय स्थापित किये। धम्मयुत सम्प्रदाय इससे अधिक लाभान्वित हुआ।

राम पंचम की मृत्यु १९१० में हुई। उसके ३४ पुत्र और ४३ पुत्रियां थी। उसके दो पुत्र राम षष्ठ और सप्तम के रूप में राज्य करते रहे। दोनों केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के सप्तम थे। दोनों ने बौद्धधर्म को आगे बढाया। राम सप्तम के काल में १९३२ में रक्तहीन क्रान्ति हुई जिसके अनुसर राजा नाम मात्र का था। सारी शक्ति जनता के हाथ बनी रही।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका ने थाईलेण्ड को काफी आर्थिक सहायता दी। वियतनामयुद्ध के समय अमेरिकी सेना को यहां अच्छा सहयोग मिला। वर्तमान में थाईलेण्ड एक समृद्ध व्यापारिक देश बन गया है।

वर्तमान में यहां ९२ प्रतिशत जनता बौद्धधर्मावलम्बी है। यहां का राजा भी बौद्ध है। लगभग सभी बौद्ध कुछ समय के लिए बौद्ध भिक्षु बनते हैं और विहार में रहते हैं। राजा भी इस परम्परा का पालन करता है। राजा के ही नेतृत्व में महानिकाय और धम्मपुत्तिक निकाय का विभाजन हुआ है और ये दोनों निकाय अच्छा काम कर रहे हैं। राजा के सुधारवादी दृष्टिकोण का विरोध संघ ने अवश्य किया पर उसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पडा। ध्यान और विनय की परम्परा का प्रचलन लोकप्रिय हुआ। अजहन चा, बुद्धदास, धीरवंस आदि महानुभावों के प्रभाव से बौद्धधर्म का प्रचार विदेशों में भी हुआ है।

उत्तर में बौद्धधर्म

१३. अफगानिस्तान और उत्तर वियतनाम में बौद्धधर्म

अफगानिस्तान और भारत का सम्बन्ध प्रागैतिहासिक काल से रहा है। बुद्ध के समय अफगानिस्तान दारयोवहु के साम्राज्य का अंग था और गन्धार के नाम से पुकारा जाता था। वर्तमान में वहाँ कन्धार और पेशावर (पुरुषपुर) प्रमुख नगर है। बुद्ध के जीवन

काल में ही उनका धर्म सन्देश गन्धार तक पहुंच चुका था। परम्परानुसार अशोक ने यहां ८४ हजार स्तूप बनवाये थे। उनमें एक तक्षशिला में था। तृतीय संगीति के फलस्वरूप मध्यान्तक को कश्मीर-गन्धार में बौद्धधर्म के प्रचार के लिए भी भेजा गया था। मौर्यवंश के बाद कश्मीर और गन्धार बौद्धधर्म के केन्द्रस्थल हो गये। गन्धार की मूर्तिकला प्रसिद्ध ही है। असंग और वसुबन्धु जैसे प्रकाण्ड बौद्ध दार्शनिक भी गन्धार से ही मिले। कपिशा (कोहदमन) भी भारतीय साहित्य में बहुचर्चित नगरी रही है। मध्यएशिया के यातायात के लिए गन्धार (अफगानिस्तान) ही एक सरल और सीधा रास्ता था। लगभग दशवीं शताब्दी तक बौद्धधर्म यहाँ रहा है। हर विदेशी को उसने बौद्धधर्म का पाठ दिया है। आज भी यहाँ बौद्धकला अपनी जीवित अवस्था में दिखती है।

काबुल से लगभग ४०० कि.मी. पर वमियान नामक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बौद्धकेन्द्र रहा है। यहां दो बुद्धि मूर्तियां मिलीं जो १७५ और १२० फीट की हैं। तालिबान ने उन्हें नष्ट कर दिया। यहां अनेक गुहा मन्दिर भी हैं। नगरहार, उड्यान आदि और भी अन्य बौद्ध केन्द्र थे।

चीनी तुर्किस्तान और सोवियत तुर्किस्तान को मिलाकर मध्यएशिया कहा जाता है। पश्चिमी मध्यऐशिया का प्रसिद्ध नगर बुखारा बौद्धधर्म का स्मरण दिलाता है। मंगोलियन आज भी बिहार के लिए बुखार कहा करते हैं। इस्लाम के पूर्व यहां बौद्ध-बिहार था। गन्धारकला की मूर्तियों में बौद्ध मूर्तियां ही अधिक मिलती हैं। वक्षुनदी के दोनों ओर हिन्दुकुश और दरबन्द की पहाड़ियों के बीच बुखार देश था। वर्तमान में उजवेक जाति के लोग दोनों ओर रहते हैं। उत्तरी भाग सोवियत में है और दक्षिणी भाग अफगानिस्तान में।

पश्चिमी मध्य-एशिया की जरफशां नदी का प्राचीन नाम सोग्द (सुग्ध) है। समरकन्द और बुखार इसी के किनारे बसे हुए हैं। सोग्दी भाषा और संस्कृति भारतीय भाषा और संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित है। सोग्दी भाषा में कुछ बौद्ध ग्रन्थ भी मिले हैं। मानी के धार्मिक सिद्धान्तों पर बौद्धधर्म का प्रभाव अधिक था। २१६ ई. में मेसोपोतामिया में जन्मा मानी ईसाई, जर्थुस्ती और बौद्ध, इन तीन धर्मो का समन्वित रूप जनता के समक्ष रखना चाहता था। पर ईसाइयों ने उसे शैतान का रूप मानकर समाप्त करा दिया। इसके बावजूद मध्यएशिया की संस्कृति पर बौद्धधर्म का प्रभाव अमिट रहा है।

खोतान (संस्कृत कुस्तन) प्राचीन नगर तरिम के दक्षिण भाग में है। ५७-७५ ई. में खोतान में कई बार विद्रोह हुआ। फलतः द्वितीय शती में खोतान राज्य की स्थापना हुई। तृतीय शती में विजय सम्भव के राज्य में यहाँ बौद्धधर्म आया। राजगुरु आर्येविरोचन

ने खोतानी भाषा के लिए एक लिपि बनाई जिसका मूलाधार ब्राह्मी लिपि था। तभी से संस्कृत नामों का प्रारम्भ हो गया। विजय सम्भव की आठवीं पीढी के राजा विजयवीर्य के गुरु भारतीय बौद्ध भिक्षु थे। इसने अनेक बिहारों और स्तूपों का भी निर्माण कराया। विजयवीर्य के पुत्र भी बौद्धधर्म में दीक्षित हुए। विजयवीर्य के पुत्र विजयधर्म और पौत्र विजयसिंह ने बौद्धधर्म की अपूर्व सेवा की। खोतान पर उत्तरकाल में विदेशियों ने अनेक बार आक्रमण किया। इस कारण यहां के बौद्धविहार और स्तूप नष्ट-भ्रष्ट हो गये। सप्तम शताब्दी के चतुर्थ दर्शक में तुर्की राज्य खोतान से समाप्त हुआ और विजयसिंह का राज्याधिकार आया। इसी समय आचार्य धर्मपाल वहां पहुंचे। बाद में तो खोतान चीन का अंग हो गया। और चार चीनी छावनियों में अन्यतम माना जाने लगा। आठवीं शताब्दी तक चीन का प्रभाव खोतान पर रहा। इसके बाद भोट का अधिकार हुआ। लगभग २०० वर्षो बाद पुनः चीन से सम्पर्क हुआ पर १० वीं शताब्दी में मुसलिम आक्रमणों के कारण खोतान परतन्त्र हो गया और बौद्धधर्म समाप्त-प्राय हो गया। तत्कालीन साहित्य से ज्ञात होता है कि खोतान में महायानी साधना का प्रचार अधिक था। वहां बुद्ध की मूर्ति-पूजा बड़े उत्साह के साथ की जाती थी। ह्वेन-सांग भारत से लौटते समय भी यहां रुका और वहां के बौद्धधर्म तथा साहित्य की स्थिति से अवगत कराया।

खरोष्ठी लिपि का प्रयोग गंधार में होता था। पश्चिमोत्तर प्रदेश के मनसहरा और शाहबाज गढ़ी में अशोक के लेख इसी लिपि में उत्कीर्ण मिलते हैं। ये लेख प्राकृत भाषा में लिखे गये हैं। इनमें देशी और विदेशी नामों का एक साथ प्रयोग मिलता है। धम्मपद की भाषा और उन प्राकृत अभिलेखों की भाषा में साम्य दिखाई देता है। पूर्वी मध्य एशिया के दक्षिणी भाग में शकभाषा का प्रचलन था। संस्कृत में उपलब्ध बौद्ध संस्कृत साहित्य का अनुवाद इस भाषा में हुआ है।

काशगर और खोतान पर कनिष्क का भी अधिकार रहा है। उस समय बौद्धधर्म वहां अवश्य था। विशेष रूप से सर्वास्तिवाद का प्रचार था। चीन से पश्चिम की ओर कूचा भी बौद्धधर्म का केन्द्र था। सम्भव है कूचा और कुशद्वीप एक ही हो। सूत्रालंकार के अनुसार कनिष्क को कुश जाति का बताया गया है। तृतीय शताब्दी में कूचा बौद्धधर्म का प्रमुख केन्द्र था। यहां से चीनी सेना कुमारजीव को हठात् चीन ले गयी, जहां कुमारजीव ने बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में किया। सातवीं शताब्दी तक कूचा बौद्धधर्म का केन्द्र रहा है। हीनयान और महायान दोनों साधनायें समान रूप से प्रचलित रही हैं। ह्वेनसांग ने यहां के बौद्धधर्म की स्थिति बहुत सन्तोषप्रद बतायी है। कूची भाषा और साहित्य पर संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। प्रतीत्यसमुत्पाद,

स्मृत्युपस्थान, शक्रप्रश्न, महापरिनिर्वाण, उदानवर्ग, उदानालंकार, अवदान, करुणापुण्डरीक आदि ग्रन्थ कूची भाषा में उपलब्ध हुए हैं। तुखारी भाषा में इसी प्रकार जातक आदि अनेक ग्रन्थ मिलते हैं।

कूचा के पूर्व तूर्फान एक मरुद्वीप है। यहां लगभग ८ वीं शताब्दी तक बौद्धधर्म अपनी समृद्ध अवस्था में रहा। यहां अनेक हस्तलेख भी मिलते हैं। रूसी और जर्मनी विद्वानों ने उन हस्तलेखों को पढ़ने का अथक परिश्रम किया। तुर्फान के उत्खनन में बौद्ध मूर्तियां, बौद्धचित्र, चीनी-ईरानी सिक्के, बोधिसत्त्वों के मुण्ड आदि विविध प्राचीन सामग्री उपलब्ध हुई। स्तूपों के नीचे मानो ग्रन्थ भी मिले। कूचा के पूर्व में तुन-ह्वाड है, जो चीन की सीमा के सन्निकट है। यहां कभी चीन का राज्य रहा तो कभी तिब्बत का। फिर भी बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार बना रहा। यहां उपलब्ध बौद्ध गुफाएं चतुर्थ शताब्दी की हैं। सम्भव है, यह प्रभाव समुद्रगुप्त का रहा हो। क्योंकि चीन में बौद्धधर्म पाचवीं शताब्दी में पहुंचा। बाद में चीन का भी प्रभाव पड़ा। भित्ति चित्र और बौद्धमूर्तियों पर गान्धारकला का प्रभाव स्पष्टतः दिखाई देता है। उसमें सहस्रबुद्ध गुहाबिहार सर्वाधिक प्रसिद्ध है। जो चित्र उपलब्ध हुए हैं उनमें कुछ बोधिसत्वों अर्हन्तों और बुद्धमूर्तियों के हैं और कुछ सांसारिक जीवन के सन्दर्भ बताते हैं। उन चित्रों में चीनी और नेपाली कला विशेष रूप से दिखाई देती है। प्रायः सभी चित्र महायान से सम्बद्ध हैं वे अधिकांश चित्र नवीं शताब्दी के हैं। स्टाइन को नीया के ध्वंसावशेषों में खरोष्ठी लिपि और प्राकृत भाषा की शताधिक पट्टियाँ प्राप्त हुई। एक तावी साधु वङ् ताऊ को यहां का बड़ा भारी पुस्तक भण्डार मिला जिसे पेलियो नामक फ्रेन्च विद्वान ने १९७६-७७ ई. में स्वयं देखा। उन्होंने उसकी सूची भी बनाई। हस्तलिपि ग्रन्थों और चित्रकला की दृष्टि से यह भण्डार विशेष महत्त्वपूर्ण है। जापानी विद्वान काउन्टर ओतानी ने भी १९०२ में यहां कुछ मूल्यवान् सामग्री प्राप्त की। सेनार्ट और ओल्डेन वर्ग को खरोष्ठी अक्षरों में लिखी प्राकृत धम्मपद की अपूर्ण पाण्डुलिपि यहीं मिली थी। कुईधर में भी कुछ बौद्धग्रन्थ मिले थे।

तुर्की भाषा में बौद्ध साहित्य मिलता है। इसका प्राचीन साहित्य उइगुर साहित्य के रूप में उपलब्ध होता है। हूणों के अन्तिम समय में उजवेकी, तुर्की आदि प्रदेशों में बौद्धधर्म चला गया था। उइगुर पश्चिमोत्तर मंगोलिया के निवासी थे। उइगुर लिपि से ही मंगोल और मंचु लिपियां निकलीं। उइगुरों में बौद्धधर्म का प्रचार ई. पू. प्रथम शताब्दी के पूर्व ही हो गया था। उइगुर साहित्य में उपलब्ध बौद्ध ग्रन्थ तोखारी, शक, चीनी और तिब्बती से अनुवादित हुए हैं। यहां सर्वास्तिवाद और महायान बौद्धधर्म का विशेष प्रचार था। बाद में मुसलमानों के कारण लगभग १२वीं शताब्दी में बौद्धधर्म को बड़ा आघात लगा। पर सोवियत रूस अब उइगुर साहित्य को समृद्ध कर रहा है।

वियतनाम में बौद्धधर्म

वियतनाम चम्पा सर्वाकार में फैला हुआ है। उसे तीन भागों में विभाजित किया जाता है - उत्तर में टोंकिंग मध्य में अन्तम और दक्षिण में कोचीन चीन। प्रथम दशमी शताब्दी तक टोकिंग चीन का भाग था, अन्तम और उत्तर कोचीन भाग पर भी उसका अधिकार था और दक्षिण भाग पर फूनन की सत्ता थी जो बाद में खमेर राज्य के अन्तर्गत हो गया था। १९३९ में टोंकिंग स्वतन्त्र हो गया। चम्पा १४७१ में वियतनाम के अधिकार में चला गया और खमेर राज्य का मेकोंग भाग भी उसने अपने अधिकार में ले लिया। इस तरह वियतनाम का निर्माण हुआ। १८ वीं शताब्दी तक वहां वियतनामी ही शेष रहे। इस पूरे समय में वियतनाम पर चीन का ही सर्वाधिक प्रभाव बना रहा। इसलिए वहां कनफ्यूसिज्म, लोओज्म और चीनी बौद्धधर्म चान लोकप्रिय रहा। विशेष रूप से जापान के जेन बौद्धधर्म की मान्यता देखी जाती है।

वियतनाम में बौद्धधर्म प्रथम-द्वितीय शताब्दी १८९ ई. में पहुंच चुका था। द्वितीय शती में वह टोकिंग में फैल गया यह कार्य यहां Mesu-Po ने किया। वियतनामी बौद्धधर्म का इतिहास ५८० से प्रारम्भ होता है जब भरतीय बौद्ध भिक्षु विनीत रुचि चान बौद्धधर्म लेकर वहां पहुंचा। चम्पा राज्य की स्थापना ९०२ ई. में हुई। यहां प्रथम जेन परम्परा १२१६ और द्वितीय जेन परम्परा वु यान टोंग नामक चीनी बौद्ध भिक्षु द्वारा ९ वीं शती तक चली उस समय यहां २० स्तूप, मंदिर और ५०० भिक्षु थे। दिन्ह वंश ९६९-८१ में वियतनामी बौद्ध भिक्षु संघ Ngo-Chan-Luu भिक्षु के नेतृत्व में स्थापित किया। ले वंश ने उसकी सलाह पर चीनी त्रिपिटक आयातित किया और वियतनाम में सुख समृद्धि ले आया। बाद में उस पर फ्रान्स का अधिकार हो गया। ११ वीं शती में चीनी भिक्षु चाओं दांग ने राजा ले थान्ह टोन १०५४-७२ के सहयोग से चान बौद्धधर्म को बहुत लोकप्रिय कर दिया। उस समय यहां ९५ पगोडा निर्मित हुए, जनता का टेक्स कम हुआ, बुद्ध मूर्तियां स्थापित हुई और दीन-हुरु पनोडा का निर्माण हुआ। बाद में Cy-Thanh-To (१०५४-१०७२) ने भी बौद्ध धर्म का बहुत लोकप्रिय बनाया। निर्धनों को भोजन और वस्त्र वितरित किया। प्रमुदित लोकेश्वर विहार यहां का प्रमुख विहार रहा है। सम्मितीय सम्प्रदाय यहां अधिक लोकप्रिय रहा है।

१२८४ में चीनी मंगोलियन राजा कुबलाई खान ने वियतनाम पर आक्रमण किया और ट्रान वंश १२२५-१४०० का अधिकार हो गया। गुरिल्ला युद्ध बाद में स्वतन्त्रता के लिए होता रहा। राजा ट्रान न्हान चेन १२५८-१३०८ ने वहां बौद्धधर्म की ट्रुच लाम शाखा स्थापित की। बीच में चम्पा और चीन का अधिकार हुआ पर अन्त में ले

वंश ने १६ वीं शती में वियतनाम राज्य स्थापित किया। इसके बाद वहां केथोलिक मिसनरीज, पोर्तुगीज, स्पेनिश और फ्रेन्च पहुंचे जिन्होंने उसपर अपना-अपना प्रभाव डाला। इसके बाद १७४३ में टे सोन के प्रयत्न से वियतनाम पर फ्रान्स का अधिकार रहा जो १९५४ तक बना रहा।

वियतनाम के इस उथल पुथल भरे संघर्ष काल में भी बौद्धधर्म वहां बना रहा। कम्युनिस्टों के सहयोग से १९५४ में फ्रान्स और १९७५ में अमेरिका को वहां से जाना पडा। दक्षिणपूर्व एशियामें वस्तुतः वियतनाम ही एक ऐसा देश है जिसने पाश्चात्य शक्तियों को वहां पनपने नहीं दिया।

१९३२ में वियतनामी बौद्ध संघ की स्थापना हुई। कम्युनिस्ट शासनकाल में बौद्ध संघ पर सरकार का अधिकार रहा। इस बौद्धसंघ में खमेरवादी थेरवादी बौद्धधर्म और महायान बौद्धधर्म के अनुयायी एक साथ काम करते रहे। भिक्षुणी संघ यहां नहीं बन सका। महायान के करुणावाद ने जनता को आकर्षित किया।

इस तरह बौद्धधर्म उत्तर की ओर कश्मीर, पंजाब, अफगानिस्तान, ईरान, तुर्किस्तान से चीन, तिब्बत, मंगोलिया कोरिया, जापान आदि देशों में फैला। यहां महायान सम्प्रदाय का प्रचार अधिक हुआ। गन्धार और समीपवर्ती प्रदेश पर अशोक, चन्द्रगुप्त मौर्य का भी शासन रहा। ग्रीक राजा मेनान्डर ने बौद्धधर्म को अपनाया। कनिष्क ने सर्वास्तिवाद को आश्रय दिया। कुषाण राजा शासनकाल में बौद्धधर्म का अच्छा विकास हुआ। वामियान में १७७ फीट ऊंची बुद्ध मूर्ति इसका प्रमाण है। पांचवीं शती के बाद हूण आदि के आक्रमणों ने बौद्धधर्म के विस्तार को अवरुद्ध कर दिया।

सिल्क रोड

मध्य एशिया के जिस भाग से बौद्धधर्म चीन पहुंचा वह सिल्करोड ही था। इसी रोड से व्यापारी वर्ग अपना महीन सिल्क ऊंटों से पश्चिमी बाजार में ले जाया करते थे। इसी व्यापारी वर्ग के माध्यम से सभी प्रकार की विचारधाराएं, धर्म और बौद्ध प्रचारक संघ पार्थियन्स, सोघदिटान्स, बेविट्रयन्स, कुषाण और भारतीय आदि सभी लोग इसी मार्ग से आवागमन किया करते थे। सिल्क रोड का एक भाग तरीम बेसिन से तकलामकन और तियानसान, कुन लुन आदि पर्वतीय भागों को पार करता हुआ निकलता था। आज यह भाग तुर्किस्तान में आता है पर प्राचीन काल में यह जडे गेट से चीन पहुंचता था। चीन के लिए यह प्रवेश द्वार था जिसकी वह सुरक्षा किया करता था। तुङ् हुआङ् के बाद सिल्क रोड दो भागों में विभक्त हो जाता था। एक भाग उत्तर की ओर तुरफान, कुच्छ और काशगार की तरफ जाता था तो दूसरा भाग दक्षिण की ओर खोतान तरफ मुडता था।

इस भाग का महत्त्व मात्र इसलिए नहीं था कि उससे बौद्धधर्म चीन आदि दूरवर्ती प्रदेशों तक पहुंचता था बल्कि इसलिए भी था कि व्यापार के माध्यम से उन प्रदेशों से संपर्क स्थापित हो जाता था। बौद्ध संस्कृति जिसे सिनो-इण्डियन कहा जाता है यहीं पनपी थी। मध्य एशिया से बौद्ध प्रचारक उसे यहां ले आये थे। कनिष्क का राज्य भी यहीं था। इस प्रदेश की एक विशिष्ट कला थी जिसपर ग्रीको रोमानियन, ईरानियन और भारतीय कला का प्रभाव था। चीन का प्रभाव भी उस पर दृष्टव्य है।

१८८८ में क्रूर अफगान आऊद मुहम्मद ने करकोरम में एक स्काटवासी एनड्रू दलग्लेश की हत्या कर दी थी। ब्रिटिश एजेण्ट लेफ्टीनेन्ट हेमिल्टन बोवर उस समय वहीं था। उसने हत्यारे की खोज की। खोजन के दौरान वह कुन्छ गया और वहां ब्राह्मी में लिखी चिकित्सा विषयक एक पाण्डुलिपि खरीदी। इस प्रकार की संस्कृत, प्राकृत, गान्धारी, तोखारियन, सोघदियन, खोतानीज आदि प्राच्य भाषाओं में लिखी और भी पाण्डुलिपियां थीं। जब पश्चिम और जापान में यह समाचार फैला तो पुरातत्त्वज्ञ और भाषाविज्ञ सिल्क रोड के अन्तिम नगर की ओर दौडे। सर ओरेल स्टेन ब्रिटेन से, प्रोफेसर पाबुल पेलियाट फ्रान्स से, काउण्ट को जुइ ओहटानी जापान से, प्रोफेसर आलबर्ट वोन लेकाग जर्मनी से वहां पहुंचे। उन्होंने वहां बहुत सारा मटेरियल इकट्ठा किया और विदेशी संग्रालयों में भेज दिया। ब्रिटिश संग्रहालय में ही इतनी सामग्री पडी हुई है कि उसका अधिकांश भाग अभी भी अध्ययन की प्रतीक्षा में है।

आडरेल स्टेन को टुनहांग में सबसे बडा संग्रह मिला। इसमें एक हजार मन्दिर वाला एक विहार था जिसमें चीन और भारत से बौद्ध भिक्षु आकर रहा करते थे। यह वस्तुतः एक अनुवाद केन्द्र था। स्टेन को यहां बडी सुन्दर चित्रकारिता भी मिली और दसमी शताब्दी की सिल्क पर बनी पेन्टिंग और लिखी पाण्डुलिपियां मिलीं। यह मुस्लिम बहुल क्षेत्र है और चीनी कम्युनिस्ट शासित प्रदेश है। मुस्लिम आक्रमणों के कारण यहां के बौद्ध केन्द्र नष्ट-भ्रष्ट हो गये। यह एक मरुस्थल जैसा प्रदेश है जो पिछले हजार वर्ष से ऐसा ही पडा हुआ है।

१४. चीन में बौद्धधर्म

जनसंख्या की दृष्टि से चीन विश्व का सबसे बड़ा राष्ट्र है। संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से भी उसे बहुत प्राचीन कहा जाता है। शायद हिमयुग से ही उसका मानव इतिहास प्रारम्भ हो जाता है। सही इतिहास २२१ ई. पू. से प्रारम्भ होता है जब छिन्

राजवंश की स्थापना हुई। चीनी लिपि का प्रभाव कोरिया, अनाम, जापान, उइगुर, मंगेल और मचु लिपियों पर भी पड़ा।

ई. पू. ५ वीं ६ वीं शताब्दी में बुद्ध और महावीर के समान चीन में भी विचार क्रान्ति करने वाले कन्फूसी, मोती, और लाउज़ हुए जिन्होंने चीन के जन जीवन में आदर्शवाद और रहस्यवाद की शिक्षा दी। चीन में कन्फ्यूसिनिज्म का संस्थापक Confucious (५५१-४७९ ई. पू.) था। तथागत बुद्ध का वह समकालीन था। उस समय चीन में विखराव था। कन्फ्यूसियस ने उसमें राजनीतिक और दार्शनिक एकता स्थापित की। वह वस्तुतः दर्शन की अपेक्षा सामाजिक और राजनीतिक धर्म अधिक था, मानवीयता के आधार पर प्रजा का कल्याण करने वाला था, दूसरी ओर दाओज्म वैयक्तिक था, व्यक्ति के कल्याण की बात सोचता था। दोनों परम्पराएं चीनी संस्कृति से जुडी हुई थीं। २२१-२०७ई. पू. में चाउवंश के बाद छिन् वंश की प्रभुसत्ता हुई। चेङ् वहां का प्रथम सम्राट् बना। इस काल में चीनी भाषा और साहित्य का विकास उल्लेखनीय रहा। चीनी दीवार का निर्माण भी इसी के राज्यकाल में हुआ। हूणों के आक्रमणों से बचने के लिए यह १५०० मील लम्बी अभेद्य दीवाल बनाई गई थी। उसकी मृत्यु के बाद चीन से उसके वंश की प्रभुसत्ता समाप्त हो गई। चीन पुनः अनेकता में फंस गया।

छिन् वंश के बाद पश्चिमी हान् (२०२ ई. पू. ९ ई.) वंश आया। पर उसे हूणों से कठोर संघर्ष करना पड़ा। अन्त में ऊ-ती ने हूणों पर विजय पा ली। उसने चाङ् वयाङ् को भी हूणों से लोहा लेने भेजा था पर हूणों ने उसे दस साल तक बन्दी रखा। बाद में वह चीन आया ई. १२८ में। उसने बताया कि चीनी वस्तुएं जेजुआन तथा युन् नन् के मार्ग से भारत पहुंचती हैं। इसी मार्ग से बाद में फा-शि-यन् नशाङ्, ई-चिङ्, वगैरह यात्री भी भारत में आये। हान काल में तिब्बत चीन का भाग नहीं था।

पूर्वी हानवंश ने २५-२२० ई. तक शासन किया। इसी वंश के राजा मिङ्ती ने बौद्धधर्म ग्रहण किया। ई. ९ में पश्चिमी हानवंश लुप्तप्राय हो गया। सम्राट् ऊ-ती ने फरमाना तक अपना सम्राज्य विस्तृत किया। च्याङ्-क्याङ् के अनुसार इस सम्राट् के पास एक बुद्ध मूर्त्ति थी। चीन में सर्वप्रथम बौद्धधर्म प्रचारक ६७ई. में पहुंचा।

कहा जाता है, पूर्वी हान्वंश के सम्राट् मिङ्ती (५८-७५ ई.) ने स्वप्न में एक स्वर्णिम महापुरुष देखा जिसे बुद्ध कहा गया। सम्राट् ने वाङ्त्सुन् के नेतृत्व में १७ व्यक्तियों के दल को बुद्ध के धर्म की खोज में भेजा। यह दल काश्यप मातङ् तथा शान्तिभिक्षु (धर्मरत्न) और धार्मिक ग्रन्थों के साथ राजधानी वापिस आया। काश्यप

मातङ् तक्षशिला के आचार्य थे। उन्होंने सर्वप्रथम चीनी भाषा में 'द्वाचत्वारिंशत् सूत्र' का अनुवाद किया शान्तिभिक्षु ने भी कुछ बौद्ध साहित्य का सृजन किया। इसके अतिरिक्त मिङ्ती ने श्वेताश्व बिहार बनवाकर बौद्धधर्म के अस्तित्व को और भी सक्षम बना दिया। मातङ् के बाद भी अनुवाद परम्परा अक्षुण्ण बनी रहती है। इस परम्परा में पार्थिय लोगों ने अपना बौद्धधर्म प्रेम प्रदर्शित किया। सोकाउ उनमें प्रमुख थे। उन्होंने लगभग ९५ बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। कुछेक वर्ष बाद लोकक्षम हुए जिन्होंने २३ ग्रन्थों का अनुवाद किया चीनी भाषा में। कुछ और भी अनुवादक थे। इन हानवंशीय विद्वान अनुवादकों ने ४३४ ग्रन्थों का अनुवाद किया। बौद्धधर्म की दृष्टि से हानवंश का राज्यकाल बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। इस काल में बौद्ध साहित्य और कला का पर्याप्त विकास हुआ है।

हान्वंश के बाद चीन की एकसूत्रता नष्टप्राय हो गई। उसे शू (२२१-६४ ई.), वेई (२२०-६५ ई.) और ऊ (२२२-८० ई.) राजवंशों ने विभाजित कर लिया। फिर भी बौद्धधर्म की प्रगति में यह विभाजन व्यवधान नहीं बन सका। श्वेताश्व बिहार अभी भी धर्म प्रचार का केन्द्र बना हुआ था। वेई काल में धर्मपाल, संघवर्मा, धर्मसत्य, पो-यङ् और धर्मभद्र प्रमुख अनुवादक थे। उनके सुखावतीव्यूह आदि अनुदित ग्रन्थ मिलते हैं। ऊवंश में मू-चू नामक विद्वान (१७० ई.) ने बौद्ध दार्शनिक परम्परा प्रारम्भ की। कुछ उल्लेखनीय अनुवादक भी हुए जिनमें ची-चियेन् अधिक प्रसिद्ध हुआ। ची-च्येन् (२२३-२५३ ई.) ने १२७ ग्रन्थों का अनुवाद किया। अवदानशतक, मातंगीसूत्र, ग्रह्मजालसूत्र, वत्ससूत्र उनमें प्रमुख हैं। विघ्न (२२४ ई.) और लिड-येन् ने धम्मपद आदि का अनुवाद किया। खाङ् सेङ्गे के संयुक्तावदान आदि १४ ग्रन्थ अनुदित है। कहा जाता है, इसी समय किसी बौद्ध भिक्षु ने चाय का आविष्कार किया। चीनी मिट्टी के वर्तन और चीनांशुक पहले से ही प्रसिद्ध थे।

चतुर्थ शताब्दी में उत्तरी चीन पर हूणों का अधिकार हो गया। ये हूण मंगोलों से सम्बद्ध अबार थे। उस समय बौद्धधर्म की प्रतिद्वन्दिता में ताउवाद खड़ा हुआ था। फिर भी वह बौद्धधर्म का प्रचार नहीं रोक सका। चतुर्थ शताब्दी के उत्तरार्ध में बौद्धधर्म कोरिया पहुंच गया। चीनी लिपि से भी वे परिचित हो गये। लगभग १५० वर्ष बाद कोरिया से ही बौद्धधर्म जापान गया। कोरिया में ताड-आन के शिष्य हुइ-युवेन को सुखावती, पुण्डरीक अथवा अमिताभ सम्प्रदाय (३१४-३८५ ई.) का प्रतिष्ठापक माना जाता है। यहीं कुमारजीव (३४४-४१३ ई.) के शिष्य चू-ताड-सेङ् (३९७-४३४ ई.) भिक्षु ने ध्यान सम्प्रदाय (जापानी जेन) की स्थापना की। उसी समय बौद्ध सम्प्रदाय में

चिकित्सा के द्वारा जनसेवा करना भी श्रेयस्कर माना जाने लगा। भिक्षु धर्मरक्ष, जीवक, यू-चा, यू-झ-चा-खाई आदि चिकित्सक उल्लेखनीय हैं।

बौद्धसंघ इस बीच अपराधियों को छिपाने का अड्डा बन गया। भिक्षु सम्पत्ति रखने लगे टेक्स चोरी में लिप्त हो गये, अन्न छिपाने लगे अकाल के समय, सैनिक विद्रोह को आश्रय देने लगे, सरकार को ध्वस्त करने का सूत्र देने लगे। राजा ने बिहारों से शास्त्रास्त्र एकत्रित किये। संघ के इस मायावी रूप ने राजा को बौद्धधर्म का विरोधी बना दिया। उसने भिक्षुओं का बध कराया, बौद्धमन्दिर और बिहार नष्ट कराये, शास्त्र भण्डार जलाये। वुची मृत्यु ४५४ में हो गई इसके बाद उसके उत्तराधिकारी पुत्र ने बौद्धधर्म को पुनरुज्जीवित किया।

५७४ में बौद्धधर्म को दूसरा आघात लगा जब चाओ वंशीय राजा चुने उसे नष्ट करने का प्रयत्न किया। इस समय तक विदेशी वंशों ने दो शतक तक यहां राज्य किया, अन्तर्देशीय वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर मूल चीनी संस्कृति में मिश्रित हुए। हान साम्राज्य की पुन:स्थापना की दृष्टि से बौद्धधर्म पर अंगुलि उठने लगी। धर्म की प्राचीनता और सैद्धान्तिकता पर वाद विवाद हुए, Laozi वस्तुतः भारत में बुद्ध बनने के लिए गया या नहीं। इन सारे विवाद भरे प्रश्नों पर शास्त्रार्थ हुए और अन्ततः राजा वु ने कन्फ्यूसियस का पक्ष लेकर उसे राजधर्म के रूप में घोषित किया और ताओज्म तथा बौद्धधर्म को कुचलने का प्रयत्न किया। बौद्धभिक्षुओं का बध किया गया, मन्दिर-बिहार नष्ट किये गये और सूत्र जला दिये गये। इस दुष्कृत्य से वुवंश का पतन हुआ ५८१ में और उसका स्थान सुई वंश ने ले लिया।

सुई वंश ५८१-६०४ ई. का प्रथम राजा वेन अधिक चतुर और सहिष्णु था। वह स्वयं बौद्धधर्मावलम्बी था उसने कन्फ्यूसियज्म को भी आश्रय दिया। उसके शासनकाल में चीन में अच्छा विकास किया। ५८९ में उसने दक्षिण चीन पर विजय प्राप्त की और वहां के बौद्धसंघ की स्थिति को संभारा। उसने चीन में सम्राट् अशोक के समान बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार किया। जापान में बौद्धधर्म उसी के माध्यम से पहुंचा। इसी समय कुछ बौद्ध विद्वान भी सामने आये। भारत से अनेक ग्रन्थ सिल्क रोड से चीन पहुंचे। जिनपर उसने गंभीर विचार मन्थन किया और नाम चीनी बौद्ध सम्प्रदाय की स्थापना की। सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र की भक्ति भावना उसका प्रेरक तत्त्व था। राजावेन का पुत्र महत्वाकांक्षी था। उसने अपने पिता की हत्या कर दी और स्वयं शासक बन गया। उसने भी बौद्धधर्म को आश्रय दिया। ६१८ में उसकी भी हत्या कर दी गई और सुई वंश समाप्त हो गया।

चीन में २८४ ई. ४५० ई. के बीच बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद बहुत अधिक हुआ। पश्चिमी छिन्वंश (२१५-३१६ ई.) के राज्यकाल में इन अनुवादकों में ३६ भाषाओं के ज्ञाता धर्मरक्ष (२८४-३१३ ई.) प्रमुख हैं। कहा जाता है, उन्होंने २११ ग्रन्थों का अनुवाद किया था।

चीन में बौद्धधर्म की अच्छी स्थिति देखकर यह प्रश्न उठता है कि संघ और राजा के बीच सम्बन्ध कैसा होना चाहिए। बौद्ध भिक्षु राजा से छोटा है या संघ की स्वतन्त्र स्थिति होनी चाहिए। कन्फ्यूसियसवादी लोगों की धारणा थी कि बौद्धसंघ को चीनी समाज के अनुसार अपने आपको बदलना चाहिए। संघ जैसे ही शक्तिसंपन्न हुआ, कन्फ्यूसियस वादियों ने बौद्ध सिद्धान्तों की कटु आलोचना प्रारम्भ कर दी और उसके पुनर्जन्म जैसे सिद्धान्तों पर आघात किया। इसके बावजूद बौद्धधर्म की स्थिति दृढतर होती रही। सरकार ने उसे विस्तार करने का अवसर दिया। टेक्स वसूल करने और अकाल जैसे बुरे समय पर अन्न बांटने का उत्तरदायित्व बौद्धसंघ पर डाल दिया। श्रमिकों की समस्या को भी उसे देखना पडा। इन सभी कारणों से बौद्ध विहार एक प्रकार से राजा का एक भाग बन गया। यद्यपि उस पर राजा का अधिकार था पर संघ एक प्रकार से जमींदार बन गया। इससे बौद्धधर्म की लोकप्रियता और बढ गई उसके भक्ति तत्त्व ने लोगों को बहुत आकर्षित किया। इस समय की बौद्धकला भी समुन्नत थी। उनमें प्रज्ञापारमिता, दशभूमिकसूत्र, सद्धर्मपुण्डरीक, ललितविस्तर जैसे ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। धर्मरक्ष ने Tian Tai अवलोकितेश्वर के नाम पर अवलोकित सम्प्रदाय की भी स्थापना की थी। अन-फा-किङ् तथा चू-शीः हिङ् भी कुशल अनुवादक थे। पूर्वी छिनवंश (३१७-४२० ई.) में प्रायः सभी राजा बौद्धधर्मावलम्बी थे। इस समय धर्मरत्न ने ११० संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद किया जिनमें अधिकांश सूत्रपिटक के ग्रन्थ सम्मिलित थे। मिलिन्दप्रश्न का भी रूपान्तरण इसी समय हुआ। कुमारबोधि, धर्मनन्दि, संघदेव और संघभूति भी प्रधान अनुवादक रहे हैं जिन्होंने सुत्तपिटक और सर्वास्तिवादी अभिधर्मपिटक के अनुवाद प्रस्तुत किये। अनुवाद कार्य पूरा करने के लिए सम्राट् फू-की येन ने कठोर संघर्ष के बाद भी कूचावासी भिक्षु कुमारजीव को लाने का उपक्रम किया। किन्तु याङ् चान द्वारा बीच में ही हत्या किये जाने के कारण कुमारजीव को प्राक्तन छिनवंश (३५१-९४ ई.) के संस्थापक याङ्चान् के पास रुकना पड़ा। यह याङ्-चान् सर्वमान्य बौद्ध सम्राट् था। उसके युग में बौद्धधर्म और साहित्य का बहुत प्रचार हुआ। कमारजीव और कुमाजीव के गुरु बुद्धवंश ने उसी के काल में अनुवाद कार्य का सम्पादन किया। बुद्धबंश कश्मीरी ब्राह्मण थे। हीनयान और महायान ग्रन्थों के गंभीर विद्वान थे। दीर्घागम आदि ग्रन्थों का उन्होंने अनुवाद किया। पाचवीं शताब्दी में विनय ग्रन्थों का अनुवाद प्रारम्भ हुआ। बुद्धभद्र और फा-शि-यान् ने महासांघिक विनय का अनुवाद किया। पुष्पतर ने सर्वास्तिवादी विनय, कुमारजीव ने महायानी विनय, और बुद्धवंश ने धर्मगुप्तीय ने विनय का अनुवाद किया।

कुमारजीव (३३२-४१३ ई.) के पिता कुमारायन भारतीय भिक्षु थे। उन्होंने कूचा की राजकुमारी जीवा से विवाह कर लिया। कुमारजीव के बड़े होने पर उसकी मां उसे उच्च शिक्षा देने के लिए कश्मीर ले आई। कुमारजीव ने लगभग बीस वर्ष की अवस्था तक अध्ययन किया और फिर मां के साथ कूचा वापिस हो गये। कुमारजीव ने तीन वर्ष तक महायान का प्रचार किया। उनकी कीर्ति चीन तक पहुंची। बाद में चीनी सम्राट् उन्हें चीन ले गये। कुमारजीव का संस्कृत, तुखारी और चीनी भाषा पर असाधारण अधिकार था। उन्होंने अन्य भिक्षुओं को सहयोग देकर १०६ ग्रन्थों का अनुवाद किया। काशगर में कुमारजीव का परिचय भिक्षु सूर्यसीम से हुआ। उनके ही कारण कुमारजीव महायानी बन गये। कुमारजीव ने नागार्जुन-आर्यदेव के माध्यमिक शून्यवाद का अनुकरण-अभ्यास किया था। इसलिए प्रज्ञापारमिता से सम्बद्ध ग्रन्थों (पंचविंशति-साहस्रिका, दशसाहस्रिका, वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता, प्रज्ञापारमिताहृदय, प्रज्ञापारमितासूत्र) का अनुवाद किया। इन माध्यमिक ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्होंने नागार्जुन की माध्यमिककारिका और उस पर आर्यदेव की टीका तथा आर्यदेव के शतशास्त्र का भी अनुवाद किया। हरिवर्मा का सत्यसिद्धिशास्त्र तथा कुछ विमलकीर्ति निर्देश, सद्धर्मपुण्डरीक, सुखावतीव्यूह आदि जैसे अन्य ग्रन्थों का भी अनुवाद कुमारजीव ने किया। इस प्रकार कुमारजीव का सारा जीवन भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार में ही व्यतीत हुआ।

उत्तरी चीन में ४२०-५८९ ई. के बीच में अनेक अनुवादक हुए। तोपा वंश (३८६-५३५ ई.) के राजाओं ने पांच गुफायें बनवाई जिनमें बुद्ध मूर्तियां उकेरी गईं। सबसे बड़ी बुद्ध मूर्ति ७० फीट ऊची है। तोपा काल में दस विद्वानों ने अनुवाद का काम किया धर्मरुचि, रत्नमति, बोधरुचि, बुद्धशान्त, बोधिधर्म और की-क्या-ये। इनमें अधिकांश भारतीय भिक्षु थे। धर्मरुचि के तीन ग्रन्थ मिलते हैं। रत्नरुचि ने योगाचार दर्शन के महायानोत्तर तन्त्र का भी अनुवाद किया। बोधिरुचि ने ३९ ग्रन्थों का अनुवाद किया जिनमें विशेषचिन्ता, दशभूमिक गयाशीर्ष, लंकावतार, धर्मसंगीति प्रमुख हैं। बुद्धशान्त ने महायान समपरिग्रहशास्त्र आदि ९ ग्रन्थों का अनुवाद किया। बोधिधर्म ध्यान सम्प्रदाय के संस्थापक के-को-क्या-ये के पांच अनुवादित ग्रन्थ उपलब्ध हैं जिनमें संयुक्त रत्नपिटक और महायान परम्परा प्रमुख है। महायान परम्परा में बुद्ध के बाद बने भिक्षुसंघों के प्रधान आचार्यो की परम्परा इस प्रकार दी हुई है - १. महाकाश्यप, २. आनन्द, ३. शाणवास, ४. उपगुप्त (ई. पू. २५०), ५. घृतक, ६. मेचक, ७. वसुमित्र, ८. बुद्धनंदी, ९. बुद्धमित्र, १०. पार्श्व ११. पूर्णयश, १२. अश्वघोष (प्रथम शती ई.),

१३ राहुल, १७, संघनन्दी, १८. संघयक्ष, १९. कुमारलात, २०. जयंत, २१. वसुबन्धु, २२. मो-नो-लो, २३. हो-ले-हो, २४. सिंह, २५. व-सि-या-सि-ता, २६. पू-तो-नो-मि-तो, २७ प्रज्ञातर, २८. बोधिधर्म, २९. हुई के (४८६-५९३ ई.) ३०. सेङ्चम, ३१. ताउसिन्, ३२. हुङ्जिन (६०५-७५), और हुई-नेङ् (६३१-७१३)। इनमें सिंह के बाद के ९ नाम चीन परम्परा के स्थविरों के है।

उत्तरी वेई लोयाङ् (३८६-५३५ ई.) के राज्यकाल में वाराणसी निवासी गौतम प्रज्ञारुचि ने २३ ग्रन्थों का अनुवाद किया, जिनमें सद्धर्म स्मृति उपस्थान, मध्यन्तानुगम और एकश्लोकशास्त्र प्रमुख ग्रन्थ हैं। यह युग बौद्ध धर्म के लिए स्वर्णयुग कहा गया है। लियाङ् सम्राट ऊ (५०२-५४९ ई.) ने बौद्ध धर्म के प्रचार में जो योगदान दिया, उसे दृष्टिपथ में रखते हुए उसको अशोक कहना अतिरंजित नहीं होगा। ४३४ ई. में चीनी महिलाओं को संघ में भिक्षुणी बनने का अवसर मिला। इस समय की कला भी प्रगति पर थी। उस पर तक्षशिला पेशावर और मथुरा की कला का प्रभाव दिखाई देता है। संगीत में भी बौद्धराग समन्वित था। इसी समय आत्म बलिदान और तीर्थ यात्रायें करना भी प्रारम्भ हुआ। शी-चे-मोङ् (४०४-५३), शी-फा-शेङ्, बुद्धवर्मा, धर्मक्षेत्र आदि प्रसिद्ध आचार्य और अनुवादक भी इसी काल में हुए। बुद्ध चरित, सुवर्णप्रभाससूत्र, आदि ग्रन्थों के उन्होंने अनुवाद किये।

दक्षिणी चीन में ल्यू-सुङ् के राज्यकाल ४२०-६९ ई. में बौद्ध धर्म खूब फला-फूला। भारत की अनेक तीर्थ यात्रायें की गई। बुद्ध जीव, गुणवर्मा, गुण भद्र, संघभद्र, उपशून्य, परमार्थ आदि अनेक आचार्यों ने बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। दक्षिणी चीन का सम्राट् युवान् भी (५५२-५५ ई.) स्वयं विद्वान था। उसका स्वयं का बहुत बड़ा ग्रन्थालय था। पर दुर्भाग्य वशात् उसके ग्रन्थालय को उसके शत्रुओं ने भस्म कर दिया। लगभग डेढ लाख पुस्तकें अग्नि में होम कर दी गईं। यही कारण है कि अनेक ग्रन्थों का मात्र उल्लेख मिलता है। इसी प्रदेश में उज्जैनवासी परमार्थ (४९८-५६९ ई.) ने अपना साहित्यिक योगदान किया। उन्होंने लगभग ७० ग्रन्थों को अनुदित किया। सप्तदशभूमिशास्त्र, और स्वर्णप्रभाससूत्र उन ग्रन्थों में अधिक लोकप्रिय हुए। परमार्थ ने भूततथता और आलयविज्ञान का भी यहां प्रचार किया, उसका आधार था महायानश्रद्धोत्पाद नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ।

पूर्वी वेई वंश के बाद ५३० ई. में उत्तरी ची वंश की स्थापना हुई। इसके प्रथम सम्राट् वेन-हुवेन् (५५०-५८ ई. ने तावकवादियों के प्रतिपक्ष में बौद्धों का पक्ष ग्रहण किया। इसी समय भारतीय भिक्षु नरेन्द्र यश ५१८-८९ ई.) यहां आये और उन्होंने सात ग्रन्थों का अनुवाद किया। ५७७ ई. में बौद्धधर्म पर पुनः उत्पाद किया गया। लगभग १००

वर्ष बाद के यु-वान ने उत्तरी च्यू (५५७-८१ ई.) के नाम से एक राजवंश की स्थापना की। इस राज्यकाल में ज्ञानभद्र, जिनयश, जिनगुप्त और यशोगुप्त नामक भारतीय भिक्षुओं ने बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार दिया।

सुई वंश (५८१-६१८ ई.) ने चीन को पुनः एकसूत्रबद्ध करने का प्रयत्न किया और बौद्धकला साहित्य को नष्टभ्रष्ट होने से बचाया। इस वंश के काल में गौतम धर्मज्ञान, विनीतरुचि, नरेन्द्रयश, जिनगुप्त बोधिज्ञान, धर्मगुप्त, फि-चिङ्, ची-ई और पाउ-कोई विद्वानों ने अनुवाद के माध्यम से बौद्ध साहित्य और संस्कृति को आगे बढ़ाया।

थाङ्वंश (६१८-९०७ ई.) को चीन का गुप्तकाल कहा जा सकता है। इस वंश ने तुर्कों पर विजय प्राप्त की तथा तिब्बत और भारत के सम्बन्ध स्थापित किया। यहीं से बौद्धधर्म पर ८४२-८४५ ई. में अत्याचार प्रारम्भ हुआ। ली-शो मिन् नाइ-चुङ् के काल में भिक्षु-भिक्षुणियों पर प्रतिबन्ध लगाये गये। नवीन विहार, मूर्तियों और ग्रन्थों का निर्माण एक अपराध माना गया। इसके बावजूद बौद्धधर्म लोकप्रिय होने से नहीं बचाया जा सका। श्वान् च्वांग (६२९-६४५ ई.) तथा ईत्सिंग (६७१-९० ई.) इन अत्याचारों को देखकर भारत की यात्रा पर आये। लौटकर उन्होंने भी बौद्धधर्म का प्रचार किया। भारतीय ज्योतिष और चिकित्साशास्त्र ने इसमें और भी सहयोग दिया। इस वंश के राज्यकाल में प्रभाकर मित्र, अतिगुप्त, यानभद्र, दिवाकर, बुद्धपाल, बोधिरुचि, अमोघवज्र, अजितसेन आदि भारतीय अनुवादकों ने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। श्वां-च्वांग ने योगाचार, अभिधर्म, प्रज्ञापारमिता और सर्वास्तिवादी अभिधर्म का अनुवाद किया। योगाचार, विज्ञानवाद की चीन में स्थापना भी उन्होंने की। ईत्सिंग ने भारत में विनय का संग्रह किया। उन्होंने मूल सर्वास्तिवादी पिटक का चीनी अनुवाद भी किया। मातृचेट के अध्यर्धशतक के भी अनुवादक के रूप में उनका नाम है। श्वां-च्वांग और ईत्सिंग के बीच (६४५-७१ ई.) लगभग ६० भिक्षुओं ने भारत की यात्रा की। शुभंकर सिंह (७१६ ई.), पां. श्रीमित्र (३०७-१२ ई.), वज्रबोधि (६००-७३२ ई.), अमोघवज्र ६९८-७३२ ई., आदि भिक्षुओं ने अनेक ग्रन्थों का अनुवाद किया। ८६८ ई. में सर्वप्रथम मुद्रण का कार्य प्रारम्भ हुआ। वज्रच्छेदिका को सबसे पहले छापा गया। चीन का यह बहुत बड़ा योगदान था। थाङ्वंश का पतन हो रहा था। साथ ही बौद्धधर्म के बिहार, स्तूप, मन्दिर आदि भी विनष्ट किये जा रहे थे। पर चीन के ही हाङ् चाऊ के राजाओं ने त्रिपिटक के कुछ भाग पत्थरों पर उत्कीर्ण कराये और बिहार, स्तूप, मन्दिर आदि भी बनवाये।

सुङ्गोल ९६०-१२१९ ई. में बौद्धधर्म और कन्फूसी दर्शनों का समन्वित रूप उभरने लगा। इस काल में ३१ विद्वान भारत से चीन पहुंचे और संस्कृत ग्रन्थों का चीनी

भाषा में अनुवाद प्रस्तुत किया। धर्मदेव (९७३-१००१ ई.) नालन्दा बिहार के स्नातक थे। इस समय तक वज्रयान का विकास हो चुका था। धर्मदेव इसलिए धारणियों और मन्त्रों के अधिपति हुए। उन्होंने ११८ ग्रन्थों का अनुवाद किया। ति-यान्-सि चइ ९८० ई. कश्मीर के भिक्षु थे। उन्होंने मंजुश्रीमूलतन्त्र आदि १८ ग्रन्थों का अनुवाद किया। दानपाल ने छोटे-बड़े १११ ग्रन्थों का अनुवाद किया। धर्मरक्ष १००४ ई. बिहार के भिक्षु थे। उन्होंने बोधिसत्त्वपिटक, अचिन्तयगुह्यनिर्देश, बोधिचर्यावतार (महायानसंगीत बोधिसत्व विद्या), और प्रज्ञप्तिवाद का अनुवाद किया। वेह-चिङ् और सूर्यवंश ने क्रमशः माध्यमिककारिका पर स्थिरमति की टीका तथा अश्वघोष के कुछ ग्रन्थों का अनुवाद किया। इनके अतिरिक्त ज्ञानश्री, १०५३ ई. सुवर्णधारी ११५३ ई. और मैत्रेयभद्र ने भी अनेक ग्रन्थों के अनुवाद किये। मुसलिम आक्रमणों के कारण बौद्धधर्म की स्थिति भारत में सन्तोषप्रद नहीं थी।

मंगोल (१२६०-१३६८ ई.) वासियों ने कठोर संघर्ष के उपरान्त अपने राज्य की स्थापना की। उन्हें खित्तन, तंगुत और जुर्जेन राज्यों से अधिक लोहा लेना पड़ा। हूणवंशज मंगोलियो ने छिंगीस खान आदि घुमन्तू कबीलों के सहयोग से चीन पर अधिकार किया। मंगोलों के ऊपर १३ वीं शताब्दी तक बौद्धधर्म का प्रभाव नहीं था। तिब्बती फक्स-पा के कारण तावचादियों में बौद्धधर्म का प्रचार हुआ। बौद्धभिक्षु यु-आन्-चाङ् (१३२८-९८ ई.) ने १३५६ ई. में मंगोल राज्य को समाप्तकर नानकिङ् पर अधिकार किया और मिङ् वंश (१३६८-१६४४ ई.) का शासन स्थापित किया। पर बौद्धधर्म उपेक्षित सा ही रहा। मिङ् वंश के बाद मंचू वंश (१९४४-१९११ ई.) ने चीन पर शासन किया। बाद में मंचू चीनी बन गये। बौद्धधर्म की स्थिति इस काल में साधारणतः अच्छी रही है।

चीनी बौद्धधर्म के सम्प्रदाय

हानवंश से चांग वंश तक के कार्यकाल में अनेक बौद्ध सम्प्रदायों की स्थापना हुई। साधारणतौर पर दस सम्प्रदायों के नाम विशेष रूप से लिये जाते हैं। भारतीय बौद्ध सम्प्रदाय माध्यमिक सिद्धान्तों पर आधारित रहे हैं जबकि चीनी बौद्ध सम्प्रदाय आगम ग्रन्थों को केन्द्र में रखकर उत्थित हुए हैं। इनमें दो सम्प्रदाय हीनयान से संबद्ध रहे हैं और शेष सम्प्रदायों का सम्बन्ध महायान सम्प्रदाय से रहा है। ये सम्प्रदाय वियतनाम, कोरिया और जापान में भी प्रचलित रहे हैं।

Tien-Tai या White Lotus Schol

यह सम्प्रदाय सद्धर्मपुण्डरीक पर आधारित है। इसकी स्थापना राजा (५३८-

५९७ ई.) ने की जो नामक पर्वत पर रहता था। इस पर नागार्जुन के शून्यवाद का भी प्रभाव है। राजा ने अहिंसा को मूल धर्म माना और मांस भक्षण पर रोक लगा दी। बाद में यह सम्प्रदाय जापान में विकसित हुआ।

विनय सम्प्रदाय (Lu-Tsung)

यह धर्मगुप्त सम्प्रदाय जो हीनयान सम्प्रदाय का एक भेद है। महायान सम्प्रदाय में विनय का विकास अधिक नहीं हुआ। कुमारजीव के काल से विनय चीन में रहा है पर Lu-Tsung सम्प्रदाय का जन्म सातवीं शती में हुआ। इसके संस्थापक हैं Dao Xuan (596-667)। जापान में इसका विशेष प्रचार है। बुद्धवंस द्वारा अनुदित विनय इसका आधार है।

२. अभिधर्म कोश सम्प्रदाय (Chu-She)

३. भारतीय महायान सम्प्रदाय (नागार्जुन के माध्यमिक शास्त्र और द्वादशद्वार पर आधारित है।

४. माध्यमिक सम्प्रदाय (San Lun)

अनुवादक लोकक्षेम का चीनी महायान सम्प्रदाय का संस्थापक साधारण तौर पर माना जाता है। यह सम्प्रदाय कुमारजीव के समय से प्रचलित हुआ है। दक्षिण चीन में यह अधिक लोकप्रिय रहा है। ताओवाद से मिलता-जुलता यह सिद्धान्त 'शून्यता' पर आधारित है। बाद में सूर्यप्रभास ने ६७९ ई. में इसका विज्ञानवाद सम्प्रदाय असंग के महायान संग्रह पर आधारित यह सम्प्रदाय ५६३ में स्थापित हुआ।

५. विज्ञानवाद सम्प्रदाय (Wei Shih)

६. तान्त्रिक सम्प्रदाय (Zhen Yan)

शुभाकरसिंह, वज्रबोधि और अमोघवज्र की कृतियों पर आधारित यह सम्प्रदाय आठवीं शती में स्थापित हुआ। चीन, जापान में अनेक मन्दिर इस पर निर्मित हुए।

७. चीनी महायान सम्प्रदाय

८. San Chieh Chiao (Three Ages)

सम्प्रदाय के संस्थापक Xin Xing हैं जिन्होंने छठी शती में धर्म के स्वरूप पर चिन्तन किया।

९. Tian Tai सम्प्रदाय

यह सम्प्रदाय पर्वत के नाम पर आधारित है जहां इसके संस्थापक ५३८-९७ रहा करते थे। इसमें उपाय को महत्त्व दिया गया है। इसका मुख्य ग्रन्थ है दशभूमिक सूत्र। कहा जाता है, बुद्ध ने पहले अवतंसक सूत्र का उपदेश दिया। बाद में प्रज्ञापारमिता सूत्र का और अन्त में सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र का जो इसका मुख्य सूत्र ग्रन्थ है। इस सम्प्रदाय पर विज्ञानवाद का प्रभाव अधिक है।

१०. Hua-Yen (अवतंसक सूत्र) सम्प्रदाय

यह सम्प्रदाय अवतंसकसूत्र पर आधारित है। दशभूमिकशास्त्र इसी का एक भाग है। बुद्धभद्र ने इसका अनुवाद ४२० में किया था। इसकी स्थापना ने ६४३-७१२ में की। इसमें बुद्ध के धर्मकाय पर जोर दिया गया है। Pure Land और ध्यान सम्प्रदाय इसीके घटक है।

११. Ching Tu (Pure Land) सम्प्रदाय

यह सम्प्रदाय सुखावती व्यूह पर आधारित है। विनय और धर्म पर अधिक बल दिया गया है इसमें अमिताभ बोधिसत्त्व को इसमें प्रमुख स्थान मिला है। Huai-Yuan (३३४-४१६ ई.) ने इसकी स्थापना की।

१२. Chan (ध्यान) सम्प्रदाय

जापान का सम्प्रदाय ध्यान पर आधारित है। लंकावतार, विमलकीर्ति निर्देश और वज्रच्छेदिका पर यह सम्प्रदाय टिका हुआ है। इसमें सूत्रों का अध्ययन नहीं होता, मात्र साधना होती है। बोधिधर्म ने ५२० ई. में इसकी स्थापना की थी। बाद में Hui-neng (६३८-७१३ ई.) ने इसका विकास किया। इसका संघ व्यापार में भी जुट गया और भिक्षु समृद्ध हो गये। मुद्रण भी इसी संघ ने प्रारम्भ किया। सरकार ने बाद में इस संघ पर अंकुश लगाया और राजा ८४१-८४७ ई. ने संघ की संपत्ति को अपने अधिकार में कर लिया और बौद्ध मन्दिर नष्ट कर दिये।

१३. Fa-Hsing (आदर्शवाद सम्प्रदाय)

वसुबन्धु की विंशतिकारिका पर यह सम्प्रदाय आधारित है। ह्यून सांग ५९६-६६४ ई. पू. इसके संस्थापक माने जाते हैं।

१४. मन्त्र सम्प्रदाय (Chen-yan)

यह सम्प्रदाय महावैरोचन सूत्र पर आधारित है। इसके संस्थापक हैं शुभकर

सिंह ६३७-३५ ई. बाद में वज्रबोधि ६७०-७४१ ई. और अमोघवज्र ७०५-७७४ ई. ने इसका विकास किया।

टांग वंश राजविद्रोह के कारण समाप्त होने लगा। ८७५ से ९०७ की स्थिति उसकी अच्छी नहीं रही। ८८१ में यद्यपि उसे दबाने का प्रयत्न किया गया पर ९०७ तक उसका बिलकुल अन्त हो गया। बाद में सांगवंश और मंगोलियन लियोवंश ने ९०७-११२४ तक राज्य किया। १०३१-६४ के बीच चीनी त्रिपिटक का मुद्रण हुआ जो कोरियन त्रिपिटक के लिए आदर्श बन गया।

बौद्धधर्म की इस स्थिति का पर्यालोचन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्राचीन कन्फ्यूसियनिज्म को नये साचे में ढाला गया। उसे बौद्धधर्म की पृष्ठभूमि में विकसित किया गया। महायान का सिद्धान्त है कि संसार की प्रत्येक वस्तु में बुद्ध के धर्मकाय की प्रतिष्ठा है। इस सिद्धान्त को आधार बनाकर शून्यता के सिद्धान्त को भी रूपान्तरित किया गया। यह कार्य सोंग वंश काल में ११३०-१२०० के बीच बडी खूबी से हुआ। इससे साधारण जनता में कन्फ्यूसियनिज्म के नये संस्करण ने स्थान बना लिया। और बोद्धधर्म पीछे रह गया।

दूसरा कारण था भारत में बौद्धधर्म का पतन। भारत से नये बौद्ध विद्वानों का जाना बन्द हो गया। चीनी बौद्धसंघ में श्रेणीगत अन्तर आ गया। शुंगकाल में बौद्धसाधु का प्रमाणपत्र प्रस्तुत करने पर कुछ विशेष सुविधाएं मिलने लगीं। पर इसका दुरुपयोग होने लगा। अपराधियों ने भी उन्हें प्राप्त कर सामाजिक समस्यायें पैदा कर दीं। इससे बौद्धसंघ का प्रभाव कम हो गया।

बौद्धधर्म का यह भी सिद्धान्त है कि धर्म के विनाश का भी एक चक्र चलता रहता है। टांग काल में बौद्धधर्म की स्थिति काफी अच्छी थी। प्योर लेण्ड के आचार्य धर्म प्रभावक थे। बौद्ध संघ की भी स्थिति प्रतिकूल नहीं थी। चान धर्म के लिए शुंगकाल स्वर्णयुग था। मंगोलियन राजा बौद्धधर्म के पक्षधर थे।

१५. कोरिया में बौद्धधर्म

३७२ ई. में बौद्धधर्म चीन से कोरिया पहुंचा। वहां चीनी संकेत लिपि का ही प्रचार अधिक है। अतः अनुवाद की समस्या उतनी अधिक नहीं थी। कोरिया के जन जीवन में बौद्धधर्म का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। प्रारम्भ से ही यहां बौद्ध विहारों और मन्दिरों का निर्माण होने लगा। पर काष्ठ का उपयोग अधिक होने के कारण उनका विनाश भी अपेक्षाकृत जल्दी हुआ। इसके बावजूद फू-बून बिहार और सुखावती मन्दिर

जैसे प्राचीन बौद्ध स्थल मिल जाते हैं। कोरिया तीन राज्यों में विभक्त हैं - सिला (६६८-९१८ई.), पाइकछे कोरये (९१८-१३१२ई.), और १३९२-१९१० ई.। कोरिया में १२ वीं शताब्दी के बाद बौद्धधर्म का ह्रास प्रारम्भ हो गया परन्तु १९१० ई. में जापान द्वारा पराजित किये जाने पर पुन: बौद्धधर्म पनपने लगा।

कोरिया में कोंग्यूरों प्रदेश चीन के हस्तक्षेप के बावजूद लगभग २०० ई. में सशक्त बना रहा। चीन का हान वंश इस समय तक निर्बल हा चुका था। उत्तरी चीन ने कोंग्यूरो के राजा सोसूरिम ३७१-८४ के पास अपना बौद्ध भिक्षु सुन्दो के ३७२ में दूत के रूप में राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए भेजा एक बुद्ध मूर्ति और बौद्धागम के साथ। राजा ने इसके लिए अपने यहां कोरिया में बौद्ध मन्दिर बनवाया। प्राचीन साक्ष्यों से पता चलता है कि ३७२ के पूर्व भिक्षु आदी चीन से कोरिया आया था। अत: कोरिया में बौद्धधर्म इसके पहले पहुंचा होगा।

पईकचे प्रान्त में लगभग ३८४ में बौद्ध भिक्षु मालानन्द पहुंचा था दक्षिण चीन से। उसके सम्मान में राजा ने बौद्ध मन्दिर भी बनवाया। सिल्ला में बौद्ध भिक्षु पांचवी शताब्दी में पहुंचा। यहां ५३४ में राजा पोफंग ने बौद्ध विहार बनवाया जहां बाद में राजा-रानी ने भिक्षु-भिक्षुणी का जीवन बिताया। लगता है, कोरिया में बौद्धधर्म रोग मुक्ति और दुर्भाग्य मुक्ति कराने वाले धर्म के रूप में पहुंचा, सिद्धान्त के रूप में नहीं। बौद्धधर्म के पहले कदाचित् वहां शमणिज्म रहा होगा। ५७२ में सैनिकों की मृत्यु समारोह में बौद्ध उत्सव मनाया गया। छठी शती में राजा चिंहुंग के पास चीन से दो प्रतिनिधि आये एक बौद्ध रेलिक्स ले आया और दूसरा बौद्ध ग्रन्थ। सिल्ला में तीन बौद्ध भिक्षुओं का प्रभाव अधिक रहा-छजंग (६०८-६८६), वोन्ह्यो ६१७-६८७ और उईसांग ६२५-७०२। इन भिक्षुओं ने बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन की परम्परा डाली, षाण्मासिक सम्मेलन किये जिनमें बौद्ध विनय परिपालन की समीक्षा की जाती थी, धर्मदीक्षादान का एक निश्चित स्थान और राज्यद्वारा बौद्ध मन्दिरों और संघों, आदि के संरक्षण की समीक्षा हुई। वोन्ह्यो ने लगभग बीस बौद्ध ग्रन्थों की टीकायें भी लिखीं।

सिल्लाकाल और बौद्ध सम्प्रदाय (६६८-९३५)

५९८ में कोरिया के कोगुर्योऔर चीन के सुई राजाओं के बीच युद्ध हुआ जिससे टांगवंश का उदय हुआ। ६१८ में और सिल्ला के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित हुए। इससे ६६० में पइकचे और ६६८ में कोगर्यो ने आत्मसमर्पण किया। सिल्ला एक सशक्त प्रदेश के रूप में उभरा और बौद्धधर्म की उन्नति में उसने सहयोग दिया।

कोरिया में प्रथम बौद्ध सम्प्रदाय चीनी Tian Tai की स्थापना ह्योंगवांग ने पईकचे प्रदेश में ५६५ में की। दूसरा सम्प्रदाय था Hua Yan जो अवतंसक सूत्र पर आधारित था। इसकी स्थापना Uisang ने की ६७० में। ये दोनों सम्प्रदाय चीनी बौद्धधर्म के थे। वोन्ह्यो ने सिल्ला बौद्ध सम्प्रदाय पोपसांग की स्थापना की। एक अन्य सम्प्रदाय था योल्वान या निर्वाण जो निर्वाणसूत्र पर आधारित था। पंचम सम्प्रदाय था तान्त्रिक जिसे शिंगोन कहा जाता है। ये सभी सम्प्रदाय चमत्कार प्रदर्शन और रोगमुक्ति का काम करते थे। एक अन्य सम्प्रदाय विनय से सम्बद्ध था जिसकी स्थापना ६०२ में छिम्योंग ने की।

इसके बाद बौद्धधर्म के इन सम्प्रदायों को सुसंगठित करने का प्रयत्न हुआ। कोरिया के तीनों राज्यों के बीच सौहार्द वातावरण बना और वही वातावरण इन सम्प्रदायों में भी स्थापित हुआ। आठवीं शती के अन्त तक सिल्ला राज्य का पतन हुआ। और जापानी ज़ेन सम्प्रदाय का यहां प्रभाव बढा। ९११ में Sumisan सम्प्रदाय और Son सम्प्रदायों का उद्‌भव हुआ। इन नौ सम्प्रदायों को Nine Mountains Schools कहा जाता है। इन सम्प्रदायों में ध्यान परम्परा पर आधिक जोर दिया गया है।

The Koryo Period (918-1392)

इसके बाद के राजाओं ने इन सम्प्रदायां को अलग-अलग ढंग से आश्रय दिया। Koryo के राजा Taezo ने सभी को समान दृष्टि से देखा पर उसके उत्तराधिकारी Kwangiong ने Tian Tai School पर हाथ रखा फिर भी सभी सम्प्रदाय टेक्स, मिलेट्री सर्विस और हठात श्रम से मुक्त रहे। बौद्ध संघ में आ जाने से सम्पत्ति, सत्ता आदि सुख भी मिलने लगा। कुछ भिक्षु मन्दिर निर्माण, बौद्ध ग्रन्थ लेखन, मन्दिर संरक्षण, राष्ट्र संरक्षण आदि में संलग्न हो गये। आवश्यकता पडने पर युद्ध क्षेत्र में जाने में भी उन्हें संकोच नहीं रहा। आध्यात्मिकता से संघ दूर होता गया। जो भी हो, हम इस बौद्ध धर्म को स्वर्णयुगीन बौद्धधर्म कह सकते हैं। ६००० भागों में Woodlock Printing के माध्यम से बौद्ध ग्रन्थों का मुद्रण हुआ । राजा Munjong १०४६-८३ के शासनकाल में ।

इन सभी सम्प्रदायों के बीच समन्वय स्थापित करने में सोन सम्प्रदाय के भिक्षु Chinul (११५८-१२१०) का विशेष योगदान रहा है। उसने ध्यान और सिद्धान्त दोनों पर समान रूप से जोर दिया। उसने Suson Monastery का निर्माण कराया इसके लिए। १२३१ से १२५८ के बीच छह मंगोल आक्रमणों से कोरिया को सामना करना

पड़ा। देश को उन्होंने भरपूर लूटा और नष्ट किया। १३९२ में किसी तरह उनसे मुक्ति मिली। उसके बाद इसी समय कोरियन त्रिपिटक का मुद्रण किया गया।

The Choson Priod (1392-1910)

अभी तक कन्फ्यूसियनिज्म और बौद्धधर्म साथ-साथ चलते रहे। जनरल Yi Song-gye ने भी दोनों को आश्रय दिया। पर दोनों के बीच संघर्ष प्रारम्भ हो गये। बौद्ध संघ देश के संरक्षण आदि में अधिक सहयोगी नहीं बन सका। जबकि न्यू कन्फ्यूसियनिज्म ने लोकप्रियता प्राप्त की और देश का संरक्षण भी किया। १९ वीं शताब्दी तक आते-आते बौद्ध मन्दिर बन्द होने लगे। कुल ३६ मन्दिर शेष रहे। सभी सम्प्रदायों को सोन और क्यो सम्प्रदायों में विभक्त कर दिया गया।

बाद में बौद्धधर्म की स्थिति कुछ अवश्य सुधरी पर जापानी (१९९२-१५९७), और मन्चूरियन (१६२७ और १६३७) आक्रमणों ने देश की स्थिति निर्बल कर और उसका प्रभाव बौद्धधर्म पर भी पड़ा। इसके उपरान्त विदेशी तत्त्वों ने हस्तक्षेप किया। अमेरिका और फ्रान्स ने वहां पैर रखे। चीन, रूस और जापान के बीच कोरिया को लेकर द्वन्द्व हुआ। अन्त में १९१० में कोरिया पर जापान का अधिकार हो गया।

१९७० से वर्तमान तक

जापान ने कोरिया पर नवीन बौद्धधर्म को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद। १५ अगस्त १९४५ को कोरिया को स्वतन्त्रता मिली पर उसे विभाजित कर और रूस ने १९४८ में उत्तर कोरिया सोवियत यूनियन को और दक्षिण कोरिया अमेरिका को सौंप दिया। दोनों भागों में आज भी एकता स्थापित नहीं हो सकी। उत्तर कोरिया में कम्युनिस्ट शासन होने के कारण बौद्धधर्म को कोई आश्रय नहीं मिला और दक्षिण कोरिया में उसका अस्तित्व अवश्य बना रहा पर उसे कन्फ्यूसियनिज्म, क्रिश्चिनिटी, बहाई आदि धर्मों से जूझना पड़ा।

१६. जापान में बौद्धधर्म

जापानी मूल रूप से मंगोलियन हैं। जापानी भाषा अलताईक भाषा परिवार से सम्बद्ध है। कोरियन और मंगोलियन भाषाएं भी इसी परिवार की मानी जाती हैं। जापान में चीनी संस्कृति का प्रभाव है जो कोरिया के माध्यम से वहां पहुंची। फिर भी उसकी अपनी संस्कृति है। ई. ५७ में जापानी प्रतिनिधि चीन के हान दरबार में पहुंचा। इस समय जापान आदिम काल में था। बाद में उसने कोरिया से बहुत कुछ ग्रहण किया।

जापान की मूल जाति उजिन्थी जो कामी देवता को मानती थी। यहां अनेक कबीले थे। वे सभी कमि देवता को स्वीकारते थे। उनमें यमतो जाति ने अधिक सबल हो गई और उसने पांचवीं शती में अपनी स्वतन्त्र देवी अमतेरसु (सूर्य देवी) को स्थापित किया। आज भी जापान का राजा इसी देवी की पूजा करता है। जापान के सभी धर्म लगभग एक जैसे हैं। उन्हें शिन्तो संज्ञा से जाना जाता है। जिसका अर्थ है- Way of the Gods. कमि को एक शक्तिशाली देव के रूप में माना जाता है। पर्वत, नदी, शस्त्रास्त्र आदि को भी कमि संज्ञा दी गई है। यहां के भिक्षु को Shaman or Miko कहा जाता है। यह Shamanism चमत्कार, आयुर्वेद, भूत-प्रेत आदि में विश्वास करता है। बौद्धधर्म से यह बिलकुल अलग है।

कोरिया और जापान का सांस्कृतिक सम्बन्ध बहुत पुराना है। हानवंश (२०८ ई.पू. २२० ई.) के काल में दोनों देश इन्हीं सम्बन्धों से निकट आये थे। जापान में एन्यू, मलय और यमातो जातियां प्रमुख हैं। दक्षिण कोरिया के कुदारा राज्य ने ५३८ ई. में यमातो राजा के पास कुछ बौद्धग्रन्थ, बुद्ध मूर्तियां तथा एक पत्र भेजा। यमातो के निकटवर्ती सोमावंश ने उसका विरोध किया फिर भी बौद्धधर्म का प्रभाव बढ़ चला। इसके पूर्व जापान में ५२२ ई. में सिवातचिता नामक एक चीनी बौद्ध पूर्वी तट से जापान आ पहुंचा था। उसने भी बौद्धधर्म संस्कृति और बौद्धकला का प्रचार किया। जापान के राजा सुशुन और उनकी पत्नी बौद्धधर्म से प्रभावित थे। सोगावंश का विरोध तीव्रतर हो रहा था। शायद उसी का फल था कि सुशुन का वध कर दिया गया और उसके पुत्र शोतोकू को राज्य न देकर उसे उपराजा बना दिया गया। ५९२ ई. में शोतोकू ने युद्धकर राज्य वापिस ले लिया। और बौद्धधर्म को राजधर्म घोषित कर दिया। शोतोकू माध्यमिक दर्शन का अध्येता था। उसने बौद्धधर्म के अध्ययन/अध्यापन के लिए एक ओर जहां छात्रों को कोरिया और जापान भेजा वहीं दूसरी ओर यह व्यवस्था जापान में भी करा दी। फलतः बौद्धधर्म बहुत लोकप्रिय हो गया। ६०४ ई. में उन्होंने बौद्धधर्म से आप्लावित संविधान भी बनाया जो आज भी एक गौरव वस्तु मानी जाती है। राजकुमार शोतोकू ने सद्धर्मपुण्डरीक, विमलकीर्तिनिर्देश, और मालादेवी सिंनाद पर टीका ग्रन्थ भी लिखे हैं। ६२१ ई. में शोतोकू का देहावसान हो गया। वह जापान में सर्वाधिक लोकप्रिय राजा हुआ। देश के विकास में उसने सर्वस्व लगा दिया। शोतोकू ने ५८७ ई. में जापान में हार्योजी का मन्दिर बनवाया। यह प्राचीनतम मन्दिर काष्ठ शिल्प से समलंकृत है। यही वह स्थान है जहां से जापान में सभ्यता, कला, विज्ञान और धर्म की शिक्षा ग्रहण की।

शोतोकू के बोद्धभिक्षु हो जाने पर उसकी पुत्री Koken राज्ञी बनी आर उसने ७५२ में एक विशाल समारोहकर बुद्ध मूर्ति को Todai मन्दिर में प्रतिष्ठापित कराई। इसमें दस हजार भिक्षु सम्मिलित हुए। इसकाल में शिन्तो देव का स्थान बौद्धदेवता से हीन हो गया। शिन्तोमन्दिरों की संख्या कम हो गई। प्रत्येक मन्दिर में शिन्तो और बुद्ध की मूर्ति की प्रतिष्ठा एक साथ की जाने लगी।

राज्ञी कोकेन ने बाद में अपनी राजधानी नारा से क्योतो स्थानान्तरित कर दी। उसके दरबार में एक बौद्ध भिक्षु डोक्यो था जिससे वह प्यार भी करने लगी। ७६५ में उसके विरोध में एक जोरदार आन्दोलन जिसे कुचल दिया गया। कोकेन राज्ञी की मृत्यु ७७० में हो गई। इसके बाद जापान के सभी बौद्ध सम्प्रदाय साधारण तौर पर तेन्दई और शिंगोन इन दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गये।

शिगोन सम्प्रदाय

शिंगोन सम्प्रदाय चीनी तान्त्रिक सम्प्रदाय से उद्भूत हुआ। इसका संस्थापक कूकई ७७३-८३५ था जिसे कोबो दैशी के नाम से जाना जाता है। कूकई एक समृद्ध परिवार से था। वह कन्फ्यूसियनिज्म, ताओज्म और बौद्धधर्म का कुशल विद्वान था। उसे ८९४ में चीन भेजा गया विशेष अध्ययन के लिए। ८०६ में कूकई चीन से वापिस आया। तब तक राजा कम्मू की मृत्यु हो चुकी थी। उसका उत्तराधिकारी सागा ८०६-२४ कुकई से प्रभावित था। दोनों शिंतो से प्रभावित थे। ८१६ में कूकई ने शिंगोन सम्प्रदाय की स्थापना की। उसकी मृत्यु ८३५ में हो गई।

काम्ककुर काल में जापान बौद्धधर्म तीन समुदायों की सत्ता के साथ रहा - धन्नसम्पन्न, योगडा वर्ग, और भिक्षुसंघ, इनके साथ एक मध्यमवर्ग भी रहा जो केन्द्र में रहा पर विवादास्पद स्थिति में वह खडा रहा। नारा काल मूलत: चीनी संस्कृति से संबद्ध रहा पर बौद्धधर्म भी उस काल में पनपता रहा। कन्क्कुर काल में जापानी बौद्धधर्म मध्यम और निम्नवर्ग की आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तित होता रहा। इसमें जापान के परम्परागत सामाजिक गुण पल्लवित होते रहे। इससे बौद्धधर्म को पनपने का अच्छा अवसर मिलता रहा।

काम कुर काल में बौद्धधर्म के चार रूप उपलब्ध होते हैं - जोदो, जोदो शिंन्यू, निचिरेन और जेन। ये चारों सम्प्रदाय तेन्दई परम्परा से संबद्ध रहे हैं।

तेन्दई सम्प्रदाय

यह सम्प्रदाय सुखावती व्यूह पर आधारित है। सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र का

भक्तितत्त्व भी इसमें सन्नद्ध है। अमिताभ का भक्तितत्त्व भी इसमें सन्नद्ध है। अमिताभ बुद्ध इस सम्प्रदाय का मुख्य देवता है। तेन्दई भिक्षु (७९४-८६४) इस भक्ति परम्परा को चीन से ले आये थे। होनेन ने ११७५ के बाद उपदेश देना शुरू किया। इसमें अमिताभ के नाम स्मरण पर जोर दिया गया।

शोतोकू के बाद सम्राट् शीम् (७२४-४९ ई.) दूसरे बौद्धधर्मावलम्बी राजा थे। उन्होंने अपनी राजधानी नारा में संगठित की। यहां सम्राट् ने ७५२ ई में विश्व की प्राचीनतम और उच्चतम पीतल की बुद्ध मूर्ति के रूप में दाईबुत्सु महाबुद्ध को प्रतिष्ठित किया। उसके अतिरिक्त अनेक और भी बौद्धविहार और मन्दिर हैं जिनका निर्माण यथासमय बौद्ध सम्राट् कराते रहे हैं।

जैसा पहले कहा जा चुका है, जापान को अनुवाद की समस्या का समाधान नहीं खोजना पड़ा। फिर भी अग्रिम अध्ययन के लिए दो-शो (६२९-७००ई.) जैसे कुछ विद्वान चीन पहुंचे। वहां उन्होंने शांग से शिक्षा प्राप्त की। ७३६ में भारद्वाजगोत्रीय बोधिसेन जापान गये। ८ वीं शताब्दी तक जापान में बौद्धधर्म पूरी तरह से फैल गया। फलस्वरूप जापान में लगभग ११ सम्प्रदाय खड़े हो गये - होस्सो (३२९-७०० ई.) केगोन (७४२ ई.), रित्सु (७५४ ई.), तेन्दई (७८८ ई.), जेन् (११४०-१२१५ ई.) जोदो (११७४-६१११ ई.), शिन्-शू (११७३-१२४२ ई.), निचिरेन (१२२२-८९ ई.), और जिशू (१२३९-६२ ई.)। उनमें प्रमुख सम्प्रदायों का वर्णन इस प्रकार है -

१. **केगोन सम्प्रदाय** - इसकी स्थापना तू-फा-शुन ने की थी। यह सम्प्रदाय योगाचार का एक अंग है। अवतंसक (केगोन) सूत्र इस सम्प्रदाय का मूलग्रन्थ है। इसका मुख्य सिद्धान्त है - एकचित्तान्तर्गतधर्मलोकः अर्थात् एक ही चित्त के परिणाम स्वरूप यह समूचा विश्व खड़ा हुआ है। इसी चित्त का नाम धर्मकाय है।

२. **तेन्दई सम्प्रदाय** - इस मत के संस्थापक हैं - देवियों। इसका मूल ग्रन्थ है सद्धर्मपुण्डरीक। कालक्रम के अनुसार इस सम्प्रदाय ने बुद्ध को शिक्षाओं की पांच भागों में विभक्त किया है-अवतंसक सूत्र, आगमसूत्र, वैपुल्य सूत्र, प्रज्ञापारमितासूत्र, और सद्धर्मपुण्डरीक तथा महानिर्वाणसूत्र। व्यावहारिक वर्गीकरण चार प्रकार का है - आकस्मिक, क्रमिक, गुप्त, और अनिर्वचनीय। तथा सिद्धान्तानुसारी वर्गीकरण भी चार प्रकार का है - त्रिपिटक, सामान्यशिक्षा, विशिष्टशिक्षा और पूर्णशिक्षा। इसके सम्प्रदाय के अनुसार व्यवहार और परमार्थ सत्य परस्पर पूरक हैं। माध्यमिक सम्प्रदाय की ओर तेन्दई सम्प्रदाय का झुकाव अधिक है।

३. शिंगोन - सम्प्रदाय - यह सम्प्रदाय बौद्धधर्म के मन्त्र सम्प्रदाय से सम्बद्ध है। इसके संस्थापक कू-कइ अथवा को-बो-धा-इ-सी (७७४-८३५) प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने महावैरोचनसूत्र, वज्रशेखरसूत्र आदि ग्रन्थों का अध्ययन कर मन्त्र सम्प्रदाय का अनुकरण किया। ८०४ ई. में वे अध्ययनार्थ चीन गये और ८०६ ई. में वापिस आ गये। ८२२ ई. में उन्होंने 'रहस्यनिधि-कुचिका' नामक ग्रन्थ भी लिखा। मन्त्रयान के प्रधान देवता बुद्ध वैरोचन का चित्रण जापान और तिब्बत में कलाकारों ने भरसक किया है।

४. जेन सम्प्रदाय - इसे ध्यान सम्प्रदाय कहा जा सकता है। इसके संस्थापक येइ-साइ (११४१-१२१५ ई.) थे। इस सम्प्रदाय का मूल ग्रन्थ है - लंकावतारसूत्र। इस सम्प्रदाय के अनुयायी अपने को महाकाश्यप के अनुयायी मानते हैं। ध्यान और आत्मसंयम को ये प्रधानता देते हैं। जापान का मध्यवर्ती पर्वत फ्यूजीयामा इस सम्प्रदाय का तीर्थस्थल है। बोधिसत्व मंजुश्री और उनकी शक्ति अचला की पूजा इस सम्प्रदाय में की जाती है। चाय इस सम्प्रदाय का धार्मिक पेय है।

जेन शब्द चीन के चान का प्रतिरूपक है। संस्कृत में इसी को 'ध्यान' कहा जाता है। बोधिधर्म ने चीन में बौद्धधर्म की ध्यान प्रक्रिया को प्रचलित किया। छठी शती में इसके बाद दोशो, गिकू सैचो आदि अनेक व्यक्तियों ने जेन को जापान में लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया पर उन्हें सफलता नहीं मिली। यह ठीक भी था। जेन बुद्धिवादी नहीं है, वह आगम, सिद्धान्त और अनुष्ठान पर भी विश्वास नहीं करता। ११ वीं शती में स्थिति परिवर्तित हुई। लोग सिद्धान्त के स्थान पर भक्ति की ओर मुड़े।

एसाई जापान की राजनीतिक और धार्मिक स्थिति से असन्तुष्ट था। उसने चीन की दो यात्राएं ११६८ और ११८७ में कीं। वह चाहता था कि जापान में जेन सम्प्रदाय की स्थापना हो। वह राष्ट्रभक्त था, पुरानी परम्परा का भक्त था बौद्धागम ग्रन्थों को मान्यता देने वाला था। वह चीन की चान परम्परा को जापानी परम्परा में ढालकर ज़ेन सम्प्रदाय की स्थापना करना चाहता था।

दोगेन समृद्ध परिवार से था। राजा उसे बड़ा पद देना चाहता था पर वह तेरह वर्ष की अवस्था में ही दीक्षित हो गया। उसने ईसाई विहार में १२१७ में जेन का अभ्यास किया और फिर १२२३ में चीन की यात्रा पर चला गया, वहां मास्टर सोतो से ध्यान का अभ्यास किया। १२२८ में जापान वापिस आकर उसने जेन की साधना की। जनता और सरकार ने उसे अनेक प्रकार से प्रलोभन दिये पर उसने उन्हें ठुकरा दिया। १२५३ में उसकी मृत्यु हो गई। मृत्यु के बाद ही उसे सोतो जेन सम्प्रदाय का संस्थापक घोषित किया गया।

यह सम्प्रदाय विवाहित बौद्ध पुजारियों द्वारा संचालित था, भिक्षुओं द्वारा नहीं। उसके कोई विहार भी नहीं थे। मन्दिरों में पूजा करने के लिए जनता एकत्रित अवश्य होती थी। शिंशु पुजारी विवाह किया करते थे। अन्य सम्प्रदायों के साथ उसके सम्बन्ध भी अच्छे नहीं थे। इसलिए जापान में यह सम्प्रदाय कभी भी लोकप्रियता प्राप्त नहीं कर सका।

५. जोदो सम्प्रदाय – इस सम्प्रदाय के प्रधान तीन आचार्य हैं – कूय शोनिन ९०२-९७२ ई., होनेन शोनिन (११३३-१२१२ ई.) और शिनरान (११७३-१२६२ ई.)। जोदो सम्प्रदाय मुख्यतः भक्ति पर आधारित है। उसकी दृष्टि से आत्मसमर्पण कर अमिताभ की प्रार्थना करने से ही उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है। इस सम्प्रदाय के मूल दो ग्रन्थ हुए हैं – सुखावती व्यूहसूत्र और अमितायुध्यानसूत्र।

जापान में Pure Land Buddhism के दो सम्प्रदाय स्थापित हुए। चीन में भी इसी तरह के दो रूप प्रचलित हुए। चीन के सम्प्रदाय में अमिताभ बुद्ध के नामस्मरण का साधारण रूप है जबकि जापान के सम्प्रदायों में समर्पण की भावना अधिक है। उन्होंने होनेन की शिक्षाओं को पूर्ण रूप से आत्मसात किया है। होनेन को संघ से निष्कासित किया गया १२०७ में। शिनरिन भी सपरिवार होनेन के साथ हो लिये।

होनेन के विरोधियों ने उसपर यह दोषारोपण लगाया कि 'अमिताभ का कृपा मात्र' वाले सिद्धान्त ने समाज में नैतिक तत्त्व उपेक्षित हो गया। शिनरेन ने इस आलोचना का सशक्त ढंग से उत्तर दिया और 'कृपा मात्र' पर पूरी आस्था व्यक्त की। इससे नीति तत्त्व पर कोई आंच नहीं आती। उनका मन्तव्य था कि वेश, ब्रह्मचर्य, संस्कार, नैतिकता आदि जैसे तत्त्व मात्र अभिमान के प्रतीक हैं। अमित बुद्ध पर पूर्ण आस्था ही निर्वाण को प्रदान कराने वाली होती है। 'नेमबित्सु' का उच्चारण ही वहां तक साधक को ले जाता है। शिनरेन के पूर्व भी ब्रह्मचर्य का परिपालन बौद्ध भिक्षु के लिए आवश्यक नहीं था। वह परिवार बसा कर भी भिक्षु बना रहता था। शिनरेन ने इसी परम्परा को और भी सशक्त बना दिया। इससे सम्प्रदाय का और मन्दिरों का उत्तराधिकार दित्व पैतृक हो गया।

६. निचिरेन सम्प्रदाय – इस सम्प्रदाय के संस्थापक हैं निचिरेन शोनिन (१२२२-१२८२ ई.)। सद्धर्मपुण्डरीक इसका आधार ग्रन्थ है। इसके अनुसार बुद्ध सर्वव्यापक हैं। तेन्दई सम्प्रदाय का इसे व्यावहारिक प्रयोग माना जा सकता है। निचिरेन जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में तेन्दई सम्प्रदाय में दीक्षित होकर माउण्ट हिमाई पर रहने १२४३ में पहुंच गया और वहां दस वर्ष रहकर बौद्ध धर्म का अध्ययन किया। सद्धर्मपुण्डरीक का अध्ययन कर वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि व्यक्ति की धार्मिक

क्रियाएं सरल होनी चाहिए। इसलिए उसने 'नमो अमिद वृत्सु' के स्थान पर 'नम म्योहो रेंगे क्यो' स्मरण करने के लिए अनुरोध किया। निचिरेन ने राजनीतिकों की भयंकर आलोचना की। उन्हें भ्रष्ट, असत्यवादक और प्रलापक कहा। इसलिए उसे दो बार देश छोडना पडा और अनेक बार विरोधियों के क्रोध का शिकार होना पडा। उसकी भविष्यवाणियां भी सही निकलती थीं। उसने कहा मंगोलियन राजा कुबलई खान जापान के लिए खतरा बन सकता है। १२७४ में यह घटना घटित भी हुई। कामकुर को वापिस बुलाया गया यह जानने के लिए कि इस आक्रमण से बचने का उपाय क्या है। निचिरेन ने कहा भ्रष्ट राजनीतिकों को दण्डित किया जाये और जापान के मूल धर्म की ओर लौटा जाये। उसकी यह सलाह नहीं मानी गई। फलतः वह अपने साथियों के साथ फुजी पर्वत पर चला गया। १२८१ में आक्रमण पुनः हुआ और जापान लगभग तीन सौ वर्षों के लिए पराजित सा हो गया।

१७. तिब्बत में बौद्धधर्म

१९४५ से १९५२ तक का काल जापान में अमेरिका का रहा। इस समय जापान में रचनात्मक और विध्वंसात्मक दोनों प्रकार के कार्य हुए। १९४६ में राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतिबंध हटा लिये गये। इसका फल यह हुआ कि यहां लगभग २०० धर्म सम्प्रदाय उठ खडे हुए। इन बौद्ध सम्प्रदायों में मुख्य रूप से तीन थे-रेप्यकाई, रिस्सो कोसिकाई और सोक गक्की। ये तीनों सम्प्रदाय निचिरेन सम्प्रदाय से उद्‌भूत हुए थे। इनमें सोक गक्की सम्प्रदाय सबसे बडा और विवादास्पद सम्प्रदाय रहा है। यह मूलतः गृहस्थों का सम्प्रदाय था। वह एक प्रकार से योद्धाओं का समुदाय था जो समूचे संसार पर अपना शासन स्थापित करना चाहता था। लगभग १३ करोड की जनसंख्या वाले जापान में अस्सी प्रतिशत बौद्ध हैं। उनमें शिंनो, निचिरेन, रेईयूकाई, कोसेइकाई, जेन, प्योर लेण्ड आदि सम्प्रदाय के पक्षधर हैं। इनमें भक्ति तत्त्व समाहित है।

तिब्बत में बौद्धधर्म के विकास की प्रक्रिया जापान जैसी दिखाई देती है। इस पर शामणिज्म का प्रभाव है। भारत की अपेक्षा वह चीन के अधिक समीप है हर दृष्टि से। सिल्क रोड के दक्षिणवर्ती प्रदेश में अवस्थित तिब्बत बौद्धधर्म के विकास की दृष्टि से बडा महत्त्वपूर्ण है। उसका मूल धर्म शामणिज्म रहा है जिसे बोन कहा जाता था। उस पर तान्त्रिक बौद्ध धर्म का प्रभाव विशेष दृष्टव्य है। तिब्बत में बौद्धधर्म का प्रथम प्रवेश ६००-१००० ई. ८१७ ई. में चोगयाल वंश का ४० वां राजा रल-पा चन हुआ। उसने अनुवाद कार्य के लिए एक मानक कोश तैयार कराया। बौद्ध विरोधी भाइयों द्वारा उसका वध हो गया।

सर्वप्रथम यहां भारतीय राजकुमार ने १२७ ई. में अधिकार किया। उसका राजवंश चोगयाल नाम से प्रसिद्ध हुआ। ४३३ में उसके शासन काल में यहां बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ। इस वंश का प्रथम धर्मराजा तिब्बत में जन्मा स्रोङ्-गचन्-स्गम्-पो (६१५-६५० ई.) सप्तम शताब्दी का विश्वविजेता माना जा सकता है। उसने आसाम से कश्मीर और चीन के कुछ भागों पर अधिकार कर लिया था। फलस्वरूप चीन के राजा चित्सुङ लुन्तसान ने अपनी सुपुत्री कोङ्जो और नेपाल के राजा अंशुवर्मन् ने अपनी सुपुत्री खाचुन को उपहार के रूप में विजेता राजा स्रोङ् गचन को भेंट की। दोनों राजकुमारियां बौद्ध थीं। सम्राट् भी बौद्ध हो गया। इसके बाद स्रोङ् गचन ने ल्हासा को अपनी राजधानी बनाया और ६४० ई. में जो-खङ् तथा रमोछी मन्दिरों का निर्माण किया। ये बौद्ध मन्दिर आज भी अपना इतिहास कह रहे हैं। इस युग में भोट भाषा को लिपिबद्ध करने के योग्य भी बनाया गया। स्रोङ् गचन् ने स्वयं इसका अध्ययन किया। भाषा और लिपि को परिष्कृत करने का श्रेय थोन्मी को है। स्रो' गचन् के प्रपौत्र खि-ल्दे-ग्चुग-व्र्तन (७०४-४४ ई.) ने भी भोट भाषा और साहित्य का वर्धन किया। भोट भाषा में बौद्ध ग्रन्थों का अक्षरशः अनुवाद किया गया। भारतीय ग्रन्थ जो लुप्त हो गये हैं उनका अनुवाद विशुद्ध अवस्था में तिब्बती भाषा में मिलता है।

८०२ ई. में खि-सो'-लदे-व्चन् (७५५-९७ ई.) राजसिंहासन पर बैठा। उसने बौद्धधर्म की स्थिति में सुधार लाने की दृष्टि से नालन्दा पीठस्थविर के आचार्य शान्तरक्षित को निमन्त्रित किया। शान्तरक्षित ने वहां पहुंचकर विविध विषयों पर उपदेश दिये। राजा ने विशाल बिहार और मठ बनवाये। बाद में शान्तरक्षित ने वहां ज्ञानेन्द्र, शीलेन्द्ररक्षित, वैरोचनरक्षित आदि सात तिब्बतियों को बौद्ध भिक्षु बनाया। शान्तरक्षित के बाद तिब्बत में कुछ धार्मिक मतभेद पैदा हो गये जिसका समाधान करने के लिए आचार्य कमलशील वहां पहुंचे। इसी काल में आचार्य विमलमित्र, बुद्धगुह्य, शान्तिगर्भ और विशुद्धसिंह ने कुछ तिब्बती विद्वानों के सहयोग से बौद्धग्रन्थों का भोट भाषा में अनुवाद किया। बौद्ध विहारों की स्थापना भी इस शासन की देन है।

खि-सो' के बाद उसका पुत्र मु-नि-ब्चन-पो ७८०-९७ ई. और खि-लदे-व्चन्-पो (८०४-१६ ई.) ने राज्य किया। ख्रि-ल्दे के काल में बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों का विशुद्ध अनुवाद प्रारम्भ हो गया। नागार्जुन, असंग, बसुबन्धु, चन्द्रकीर्ति, विनीतदेव, शान्तरक्षित, कमलशील आदि जैसे गम्भीर दार्शनिक आचार्यों के ग्रन्थ भी इसी समय अनुदित हुए। अनुवादकों में जिनमित्र, धर्मताशील, ज्ञानसेन प्रमुख हैं। इसके बाद के राजाओं के राज्यकाल में बौद्धधर्म और साहित्य की कोई विशेष प्रगति नहीं हो सकी। सर्वास्तिवादी परम्परा अधिक लोकप्रिय रही है यहां।

इसी तरह समय-समय पर बौद्धधर्म को बोनधर्म का और राजाओं का विरोध सहना पडा। राजा ८३६-४२ ने अपने शासन काल में बौद्धधर्म को समाप्त करने का प्रयत्न किया। इसके बावजूद बौद्धधर्म तिब्बत से समाप्त नहीं किया जा सका। ८६६ में बौद्धधर्म के पक्ष में गृहयुद्ध हो गया और फलतः लद्दाख आदि स्थानों पर बौद्धधर्म प्रतिष्ठित हो गया।

नियंगमया और बोन

नियंगमपा सम्प्रदाय के बीज तिब्बती बौद्धधर्म में यद्यपि बहुत पहले से देखे जा सकते हैं पर उनकी खोज तब हो सकी जब तिब्बती साहित्य १४ वीं शती तक प्रकाश में आया। उसका तान्त्रिक साहित्य ११ वीं शती से भी पूर्व का है जिनका सम्बन्ध पद्मसंभव से रहा है। इसे प्राचीन तन्त्र साहित्य कहा जा सकता है। पद्मसंभव को साधारण तौर पर नियंगमपा सम्प्रदाय का संस्थापक माना जाता है। उसने आठवीं शती में बोन पुजारियों पर शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त की थी।

पद्मसंभव का ऐतिहासिक व्यक्तित्व असंदिग्ध नहीं है। उसके जीवन से अनुश्रुतियां अधिक जुडी हुई हैं। गुरु रिंपोचे के रूप में उसकी मान्यता तिब्बती परम्परा में विद्यमान है। बोन और नियंगमपा सिद्धान्तों में काफी समानताएं हैं। दोनों की आस्था और साधना रीति समान है, चमत्कार प्रदर्शन विधा भी दोनों में मिलती है। इसी तरह मन्त्र, मुद्रा, मण्डल जैसी तान्त्रिक परम्परा की दृष्टि से भी दोनों में समानताएं हैं। नियंगमपा सम्प्रदाय की संभोगात्मक तान्त्रिकता उल्लेखनीय है। लामाओं के साथ विभिन्न स्थितियों में उनकी पत्नियों का चित्रांकन हुआ है। उपासक वर्ग में भी यह परम्परा चलती रही है। तिब्बती अन्य सम्प्रदायों में ब्रह्मचर्य का पालन करना अनिवार्य माना गया है। संभोगात्मक स्थिति ध्यान साधना के समय ही होती है। ऐसे तान्त्रिक सम्प्रदाय इस प्रकार हैं-

कदम्प सम्प्रदाय

तिब्बती में क्रमबद्ध बौद्धधर्म ११ वीं शती से प्रारंभ होता है जब भारत से अतीश भिक्षु १९४२ में वहां पहुंचे। कदम्प सम्प्रदाय उसी भारतीय भिक्षु अतीश (९८२-१०५४) द्वारा संस्थापित हैं। उसे विषय में अनुश्रुतियां अधिक है। भिक्षु बनकर वह बंगाल से वर्मा, अफगानिस्तान होता हुआ तिब्बत पहुंचा १०४२ में। यहां से उसने विक्रमशिला के लिए आर्थिक सहायता भेजी। ल्हासा पहुंचने पर उसका हार्दिक स्वागत हुआ। वहां स्मृति नामक भारतीय बौद्ध भिक्षु तिब्बती भिक्षुओं के सहयोग से अनुवाद कार्य में संलग्न था। अतीश को तिब्बत में बौद्धधर्म का संस्थापक माना जाता है। वह कुशल विद्वान और तान्त्रिक था। प्रज्ञापारमिता सूत्र और गुह्यसमाजतन्त्र पर उनकी

साधना टिकी हुई थी। अवलोकितेश्वर की करुणा पर भी उनका ध्यान केन्द्रित था। बोधि पथ प्रदीप नामक उनका एक ग्रन्थ भी उपलब्ध है।

११ वीं शताब्दी तक आते-आते बौद्धधर्म तिब्बत में विकृत हो गया। यह देख आचार्य ज्ञानप्रभ ने कुछ भिक्षुओं को कश्मीर भेजा। कश्मीर से वापिस आने पर रिन्-छेद् वस' पो ने श्रद्धाकर वर्मा, पद्मगुप्त, बुद्धश्रीशान्त, बुद्धपाल आदि की सहायता से हस्तवालप्रकरण (आर्यदेव), अभिसमयालंकारालोक (हरिभद्र), अष्टांगहृदयसंहिता (नागार्जुन), चतुर्विपर्ययकथा (मातृचेट), सप्तगुणपरिवर्णनकथा (बसुबन्धु) आदि ग्रन्थों के अनुवाद किये। इसी शताब्दी में १०४२ ई. में विक्रमशिला के प्राचार्य दीपंकर श्रीज्ञान तिब्बत आमन्त्रित किये गये। वहां उन्होंने बौद्धधर्म को सुव्यवस्थित किया, बोधिपथप्रदीप, आदि अनेक ग्रन्थ लिखे और कालचक्र, मध्यमकरत्नप्रदीप आदि ग्रन्थों की टीकायें एवं अनुवाद भी किये। दीपंकर के बाद सोमनाथ (१०२७ ई.), गयाधर (१०७४ ई.), स्मृति ज्ञानकीर्ति (१२०४ ई.), शान्तिप्रभ, ङोग-लो-च-व और प-छब्पा (१०५५ ई.) ने बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद कर भोट भाषा और साहित्य को समृद्ध कर दिया। प-छब्-पा ने चतुःशतकशास्त्र (आर्यदेव) माध्यमिकावतारभाष्य (चन्द्रकीर्ति), अभिधर्मकोश-टीका, आदि ग्रन्थों का सफलतापूर्वक अनुवाद किया। इसके बाद शाक्यश्रीभद्र (११२६-१२२५ ई.), संघराज (१२५१-७० ई.) आदि अनेक आचार्य हुए जिन्होंने साहित्य क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

१३ वीं शताब्दी के अन्त तक बौद्धधर्म भारत से लुप्त सा हो गया। इसी समय तिब्बत में रिन्-छेन्गुव् (१२९०-१३६४ ई.) ने उपलब्ध ग्रन्थों का क्रमानुसार संग्रह किया। इस संग्रह को दो भागों में विभाजित किया गया। स्क-ग्युर (कन्जुर) अर्थात् बुद्धवचन और स्तन्-ग्युर् (तन्जुर) अर्थात् बुद्धवचन से भिन्न दर्शन, काव्य, ज्योतिष तथा अनुवाद आदि ग्रन्थ। रिन्-छेन्-गुव् (वुस्तोन्) के बाद चो'खप (१३५७-१४१६ ई.), सुखस्-ग्रुप् (१३८५-१४३८ ई.), वनरत्न (१३८४-१४६८ ई.), धर्मपालभद्र (१५२७ जन्म), लामा तारानाथ (१३७५ ई. जन्म) आदि विद्वानों ने बौद्धधर्म की बहुत सेवा की। परन्तु इनका समय शान्ति का समय नहीं था। तिब्बत अब विरोध और संघर्ष का स्थल बन चुका था।

तिब्बती समाज में स्कर्-म-बक्-सि के देहावसान (१२८२ ई.) के बाद अवतारवाद की प्रथा चल पड़ी। अब दलाई लामा (ग्र्यल्-व रिन्-पो-छे) तथा टशी लामा (पण्-छेन्-रिन्-पो-छे) के चुनावों में इसी अवतारवाद को अपनाया जाने लगा। ये पद पैतृक सम्पत्ति जैसी हो गई। कुछ दलाईलामा मंगोल जाति के थे। इसलिए अपने धर्मप्रचार में उन्होंने मंगोलियों से बहुत सहायता मिली। अनेक युद्ध भी इसके लिए हुए। तिब्बत में सबल केन्द्रीय सरकार न होने से मंगोलियन मुस्लिम आक्रमण १३ वीं शती में

प्रारम्भ हो गये। १२३९ में पहला आक्रमण हुआ। १२४५ में तिब्बत ने गोदाम को दूत के रूप में भेजा। शाक्य पण्डित ने भी अपने ढंग से समस्या को सुलझाया। दोनों की मृत्यु १२५१ में हो गई। कुबलाई खान ने १२५३ में राज्य की बागडोर हाथ में ली। वह बौद्धधर्म से प्रभावित था। बाद में शाक्यप और नियंगमप लामाओं ने बौद्ध साहित्य को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया। इस प्रकार तिब्बत देश की संस्कृति, साहित्य और कला भारतीय संस्कृति, साहित्य और कला पर आधारित रही है। यदि भारतीय साहित्य तिब्बत में सुरक्षित न होता तो हमारे बहुत से ग्रन्थ अनुपलब्ध बने रहते।

१८. भूटान

हिमालय का दक्षिण-पूर्व भाग में सिक्किम भूटान बसे हुए हैं। भूटान का सम्बन्ध भी तिब्बत से अधिक है। भूटान के दोमन्दिर केरधू और व्यंसया तिब्बती राजा स्रोंग सान-गामपो (६२७-५०) के शासनकाल में निर्मित हुए। अतः बौद्धधर्म लगभग इस समय यहां आया होगा। शान्तरक्षित और पद्मसंभव इसके बाद यहां पहुंचे।

यहां तिब्बत के सम्प्रदायों में दो सम्प्रदाय अधिक लोकप्रिय हुए-नियंगपा और गेलुगया। डुगया और डुंग संप्रदाय गेलुगया सम्प्रदाय के ही भेद हैं। १६४१ में भूटान पर तिब्बत की विजय हुई। पंचम दलाई लामा का सम्बन्ध भूटान से रहा है १७०८ में। १७१४ और १७३० में तिब्बती आक्रमण पुनः हुए। ब्रिटिश और भूटान की सन्धि के अन्तर्गत १९०७ में भूटान राजा का अभिषेक हुआ। तबसे यही परम्परा प्रचलित है। यहां अनेक किले तुल्कु के माध्यम से शब्दुंग (धर्मराज) का शासन बदलता रहता है।

१९. मंगोलिया में बौद्धधर्म

यद्यपि मंगोलिया चीनी बौद्धधर्म के संपर्क में लगभग चतुर्थ शताब्दी में आया पर तिब्बत से उसका सम्बन्ध अधिक रहा। मंगोल वंश चीन में तिब्बती बौद्धधर्म स्थापित किया। मंगोल के खान में तिब्बत में अपना शक्तिशाली साम्राज्य खडा किया। वहां उसने शाक्य और गेलुग परम्परा का सूत्रपात किया। १६ वीं शती में मंगोलिया में बौद्धधर्म का विकास बहुत अधिक हुआ। अनेक तुलक या खुबिलगन बौद्धधर्म के साथ जुडे। इन्हें आर्य कहा जा सकता है। सातवें खुबिलगन की मृत्यु १९२४ में हुई। चीन से स्वतन्त्र होनेपर उसका राज्य कुछ समय के लिए वहां रहा। वर्तमान में मंगोलिया के दो भाग हो गये। एक अन्तर भाग चीन के अधिकार में है। उसमें बौद्धधर्म की स्थिति चीन जैसी ही है। दूसरा बाह्य भाग १९२० में रूप की सहायता से स्वतन्त्र देश के रूप में स्थापित है। यहां बौद्धधर्म प्रभावक स्थिति में है। गन्डान में एक विशाल विहार है जो खाम्बोलामा के नेतृत्व में काम कर रहा है। १९८२ में दलाई लामा भी यहां पहुंचे और

लगभग १५० लोगों को यमान्तक भिक्षु धर्म की दीक्षा दी। १९९१ में उन्होंने कालचक्र की भी दीक्षा दी।

मंगोलिया को हूणों की जन्मभूमि के रूप में इतिहासकार स्मरण करते हैं। मंगोलियों के बीच बौद्धधर्म तरिम उपत्यका के निवासियों द्वारा ई. पू. प्रथम शताब्दी में पहुंचा दिया गया था। इसके बाद तुर्कों, अवारों, उइगरों आदि जातियों में भी बौद्धधर्म ने प्रवेश किया। मंगोल (१२६०-१३६८ ई.) वासियों ने बड़े संघर्ष के बाद अपने राज्य की स्थापना कर पायी। उन्हें खित्तन (९०७-११२१), तंगुत और जुर्जेन (किन्) (१११५-१२१४ ई.) से कठोर संघर्ष करना पड़ा। इन तीनों राज्यों में बौद्धधर्म की स्थिति अच्छी थी। मंगोल का पुराना नाम तातार था। वे हूणों के वंशज थे। उन्होंने छिंगीस खान आदि घुमन्तू कबीलों के सहयोग से चीन को अनेक बार पराजित किया। मंगोली के ऊपर तेरहवीं शती तक बौद्धधर्म का प्रभाव नहीं था। ताववादियों से उनके वाद-विवाद हुए और उनमें वे सफल सिद्ध हुए। फलतः कुछ तावादी बौद्ध बन गये और २३७ बिहार बौद्धों को वापिस कर दिये गये। १२६० ई. में शास्त्रार्थकर्ता फक्स-पा को कुबिले ने राजगुरु बनाया। भारत की अपेक्षा अब तिब्बत ने बौद्धधर्म के प्रचार का बीड़ा उठाया। फक्स-पा ने मंगोल भाषा के लिए एक लिपि तैयार की। इसी काल में अनेक ग्रन्थों का अनुवाद किया गया, पर वे तिब्बती अनुवादों से ही अनुदित हैं।

१३३८ में चीन से मंगोल शासन समाप्त हो गया, पर बौद्धधर्म वहां का राष्ट्रधर्म बना रहा। बाद में मंगोल में भी बौद्धधर्म को राष्ट्रधर्म के रूप में स्वीकार कर लिया गया। बौद्धभिक्षु यु-आन-चा' १३२८-९८ ई. ने १३५६ ई. में मंगोल राज्य को समाप्त कर नानकि' पर अधिकार किया और मिङ्वंश का शासन स्थापित किया। चो'-खा-पा सुमतिकीर्ति (१३५७-१४१४ ई.) और उसके शिष्यों द्वारा स्थापित तिब्बती महाविद्यालयों में मंगोलिया के छात्र अध्ययन करने आने लगे। फलतः बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार बढ़ने लगा। तृतीय और चतुर्थ दलाईलामा मंगोलिया के ही थे। पंचम दलाईलामा के समय मंगोलियन सेना ने बौद्ध भिक्षुओं पर हुए अत्याचार को समाप्त कर दिया था। इससे स्पष्ट है कि मंगोलिया में बौद्धधर्म बहुत लोकप्रिय रहा है।

कनजोर और तनजोर के लगभग ३०८ ग्रन्थ थे। उनमें कनजोर के १०३ ग्रन्थों का अनुवाद १२१३ ई. में कागान्-लेग-दन्-ऊ-तुक्तू (१६०३-३४ ई.) के शासन काल में हुआ। और तनजोर के २३५ ग्रन्थों का अनुवाद चियेन लु' (१७३६-९५ ई.) ने कराया। यह अनुवाद चन्-स्क्या-रोल-पइ-दो-जें और ब्लो-वजङ्-वस्तन-पइ-त्रिमा

नामक विद्वानों के सान्निध्य में सम्पन्न हुआ। उन्होंने एक तिब्बती-मंगोल कोश तथा व्याकरण भी तैयार की। यह कार्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। कम्युनिस्ट शासन होने के बावजूद यहां आज भी बौद्धधर्म अच्छी स्थिति में है।

२०. नेपाल में बौद्धधर्म

नेपाल को बौद्धधर्म का सबसे अधिक पवित्र तीर्थ स्थल कहा जा सकता है। भगवान् बुद्ध का जन्म वहां के लुम्बनी कपिलवस्तु नामक ग्राम में हुआ था। बोधिप्राप्ति के बाद भी वे एक बार लुम्बिनी वापिस गये थे, जहां उनका पुत्र राहुल बुद्धधर्म में दीक्षित हुआ था। अशोक ने नेपाल की राजनीतिक स्थिति को शान्त कर लुम्बनी की यात्रा भी की थी। इस यात्रा की स्मृति के स्वरूप वहां एक शिलालेख भी उत्कीर्ण कराया था। इस प्रकार नेपाल भगवान् बुद्ध के प्रारम्भिक काल से ही बौद्धधर्म का स्थान बना हुआ है।

नेपाल के बौद्धधर्म के इतिहास में राजा अंशुवर्मन (७ वीं शती) का विशेष स्थान है। वह कट्टर बौद्ध शासक था। उसने तिब्बत के राजा स्रो'-वत्सन-स्गम पो से अपनी पुत्री का विवाह सम्बन्ध किया था। शीलमंजु पण्डित उसी के राज्याश्रय में थे जिन्होंने संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया कराया है। शान्तरक्षित के समय यह सम्बन्ध और भी दृढतर हुआ। मुसलमानों के आक्रमणों से बिहार-बंगाल के बौद्ध भिक्षुओं को नेपाल में ही शरण मिल सकी थी। उन भिक्षुओं के साथ अनेक ग्रन्थ भी आये थे, जो नेपाल और तिब्बत में आज भी सुरक्षित हैं।

लगभग १२ वीं शती के बाद वहां हिन्दूधर्म का प्रभाव बढ़ने लगा। फलतः जातिभेद का विरोध वहां कम हो गया। आजकल वहां बौद्धधर्म के चार सम्प्रदाय प्रमुख रूप में हैं - स्वाभाविक, ईश्वरिक, कार्मिक और यात्रिक। नेपाल भारत और तिब्बत के बीच एक अजस्र कड़ी रही है, जिससे दोनों देशों के बीच सांस्कृतिक सम्बन्ध जुड़े रहे हैं। आज भी नेपाल में बौद्धधर्म अच्छी स्थिति में है।

नेपाल में बौद्धधर्म

वर्तमान में वज्रतन्त्र को जोर अधिक है शैव तन्त्र के प्रभाव के कारण। बिहारों में गृहस्थ जैसे सपत्नीक भिक्षुओं की संख्या अधिक हो गई। वैदिक देवी-देवता और अनुष्ठानों का प्रभाव अधिक हो गया। जातिप्रथा भी समाविष्ट हो गई। विहारों का विकास हुआ। वज्राचार्य और शाक्यभिक्षु बिहारों के बाहर भी रहते हैं और स्वर्ण ताम्रादि का व्यापार भी करते हैं। वेतन भी लेते हैं, हिंसक-अहिंसक यज्ञ करते हैं। मत्स्येन्द्रनाथ अवलोकितेश्वर लोकनाथ के रूप में पूजे जाते हैं। अमृतानन्द थेर के कारण यहां थेरवाद परम्परा भी स्थापित हो गई। तिब्बती परम्पराएं भी यहां प्रचलित हैं। इस प्रकार

बौद्धधर्म प्रारम्भ से ही भारतेतर देशों के लिए भी आध्यात्मिक प्रेरणा और शान्ति का सन्देशवाहक रहा है। उसने आध्यात्मिक क्रान्ति ही नहीं, राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक क्रान्ति भी की है। इस दृष्टि से विदेशों में बौद्धधर्म के प्रसार-प्रसार का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

बौद्ध कला

कला जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति है, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक साधना का जीवन्त क्षेत्र है जो प्रतीकात्मक पद्धति पर अवलम्बित है। बौद्ध कला के साधकों ने भी स्वान्तः सुखाय उसी सुरम्य प्रा'ण को द्योतित किया है। स्तूप, चैत्य, चक्र, गुहा आदि सभी उपकरणों में भावनायें अंकित हुई हैं। यहीं कला और धर्म तथा जीवन और साधना का समन्वय होता है। बौद्धाचार्यो ने इस समन्वित रूप को भलीभांति सुरक्षित रखा है। पालि साहित्य उनका आधार रहा है।

पालि त्रिपिटक में यत्र तत्र कला की सामग्री बिखरी पड़ी है। दीघ निकाय में शिल्पियों की एक लम्बी सूची दी गई है। ब्रह्मजालसुत्त विद्याओं के प्रकरण में वास्तु विद्या का उल्लेख है। विनयपिटक के सेनासनक्खन्धक में बिहार के निर्माण की प्रक्रिया दी गई है। सम्भव है, यह प्रक्रिया उत्तरकालीन रही हो। मूलतः बौद्ध भिक्षुओं के लिए अरण्य, वृक्ष, पर्वत, कन्दरा, गिरिगुहा, श्मशान, वनप्रस्थ और अध्याकाश (प्रा'ण) में रहने का विधान था। परन्तु बाद में भगवान् बुद्ध ने बिहार, अड्ढ योग, प्रासाद, हर्म्य तथा गुहा को निवास स्थान के लिए चुना। इसी प्रसंग में बिहार आदि बनाने की प्रक्रिया भी दी गई है। जातक और दिव्यावदान में भी एतत्सम्बन्धी सामग्री प्रचुरमात्रा में मिलती है।

बौद्धकला का प्रारम्भ भगवान् बुद्ध के धातु-विभाजन से हुआ लगता है। ये धातुएं तीन प्रकार की हैं - शारीरिक, औद्देशिक और पारिभोगिक। शारीरिक धातुयें वे हैं जिनका सीधा सम्बन्ध भगवान् बुद्ध के अंगोपांगों से रहा है। महापरिनिब्बान सुत्तन्त के अनुसार बुद्ध के परिनिवृत्त हो जाने पर उनके दग्ध शव में से अवशिष्ट धातुओं का विभाजन कुसीनगर के मल्ल, राजगृह के अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छवि, कपिलवस्तु के शाक्य अल्लकप्प के बुलि, पावा के मल्ल, रामगाम के कोलिय, और वेठदीपक ब्राह्मण, इन आठ लोगों के बीच हो गया और उन्होंने क्रमशः कुशीनगर, राजगृह, वैशाली, कपिलवस्तु, अल्लकप्प, पावा, रामग्राम और वेठद्वीप में उन धातुओं पर स्तूप बनवाये। इसी प्रकार बुद्ध की दन्त धातु का भी उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त अर्हतों द्वारा प्रयुक्त वस्त्र, पात्र, वृद्ध आदि की भी पूजा का विधान हुआ है।

इन धातुओं को पृथ्वी के भीतर किसी बर्तन आदि में रखकर ऊपर से मिट्टी का

सुन्दर कलात्मक ढेर लगा दिया जाता था। स्मारक का यह प्राथमिक रूप रहा होगा। उसके संरक्षण के लिए वेदिका का निर्माण, सौन्दर्य वर्धन के लिए हर्मिका और छत्र का विधान शनैः शनैः विकास के रूप में होता रहा होगा। चैत्य भी लगभग इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहां स्तूप आदि में किसी धातु विशेष का निधान आवश्यक नहीं। उसके बिना भी अर्चना के प्रतीकात्मक रूप में स्तूप बना दिया जाता था।

शैशुनाग-नन्द-युग (छठी शती ई.पू. से चौथी शती ई.पू.) -प्राङ्मौर्य काल की कला में पिपरहवा बौद्ध स्तूप और उसमें प्राप्त धातु गर्भ मंजूषा उल्लेखनीय है। पिपरहवा नेपाल की सीमा पर बस्ती जिले में कपिलवस्तु से ११ मील दूर पर स्थित है। सम्भवतः यह प्राचीनतम स्तूप है। इसे शाक्य के सम्बन्धियों ने बनवाया था (इयं सलिल निधने बुधस भगवते सकियानं)। यह स्तूप ईंटों से निर्मित अण्डाकार का था। इसकी ऊँचाई २१.५ फुट और पादमूल की चौड़ाई ११६ है। स्तूप के गर्भ में प्राप्त मंजूषा में बुद्ध की शरीर धातु के अतिरिक्त शताधिक कलात्मक वस्तुयें उपलब्ध हुई हैं।

मौर्यकाल-(३२५-१८४ ई.पू.) ३२३ ई.पू. में चन्द्रगुप्त मौर्य के सिंहासनारूढ होने पर भारत की राजनीतिक स्थिति दृढतर हो गई। उसके बाद उसके पुत्र बिन्दुसार (२९८-२७२ ई.पू.) और पौत्र अशोक (२७२-२३२ ई.पू.) ने राज्य में और भी शान्ति स्थापित की। अशोक का तो अध्यात्मिक और राजनीतिक क्षेत्रों का समन्वय अनुकरणीय रहा है। कला के क्षेत्र में भी अशोक की यही विशेषता रही है। असने एकाश्मक स्तम्भों और स्तूपों का कलात्मक सृजन कराया था। बुद्ध के जन्मस्थान की यात्रा के स्मरणार्थ पाटलिपुत्र, लीरियानन्दन गढ, लोरिया अरराज, बखिरा और लुम्बिनी में स्तम्भ बनवाये। इसी प्रकार सारनाथ और बोधगया में भी स्तम्भों का निर्माण कराया। ये स्तम्भ एक ही पत्थर से बनाये गये हैं। उनपर लगाये गये पशु शीर्षक अधिक आकर्षक हैं। उसकी कला की यह मौलिकता है। कुछ विद्वानों ने उसकी कला पर ईरानी कला का प्रभाव बताया है। यह सही भी हो, पर उसकी मौलिकता पर आघात नहीं किया जा सकता।

अशोक के स्तम्भों की विशेषता है - एकात्मकता और उनपर पशुओं की आकृतियां। सारनाथ में उपलब्ध वेदिका एक ही पत्थर की बनी हुई है। वह जगतसिंह स्तूप की हर्मिका का एक अंश थी। चमकदार पालिश इसकी विशेषता है। अभी तक अशोक के १४ स्तम्भ मिले हैं। उनमें सारनाथ, सांची, कौशाम्बी, लुम्बिनी, और लोरियां अरराज के स्तम्भ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन स्तम्भों के साधारणतः तीन भाग हैं - मूल भाग कमल के आकार का है, मध्यभाग की पट्टिका पर हंस, अश्व आदि उकेरे गये हैं और शिरोभाग में सिंह, गज आदि की मूर्ति बनायी गई है। सारनाथ का स्तम्भ इस दृष्टि

से उदाहरणीय है। इसके नीचे का भाग पद्माकार है। मध्यभाग की वर्तुल पट्टिका के बीच धर्मचक्र और अन्तराल में चार महाआजानेय पशु अंकित हैं तथा शीर्ष भाग में चार सिंह पीठ सटाये खड़े हुए हैं। उनके ऊपर एक धर्मचक्र भी दृष्टव्य है जिसका आध्यात्मिक महत्त्व है। यह प्रतीकात्मक है। इसे कालचक्र अथवा भवचक्र का सूचक समझा जाना चाहिए। सांची का भी सिंह स्तम्भ सारनाथ से मिलता-जुलता है। सिंह, गज, आदि बुद्ध के प्रतीक हैं। पद्म विशुद्धि का प्रतीक है। कला की दृष्टि से अशोक के ये स्तम्भ आज भी अभूतपूर्व हैं। कहा जाता है कि अशोक ने ८४ हजार स्तूप बनवाये थे। चन्द्रगुप्त कालीन स्तम्भों पर पशुशीर्षक नहीं थे।

शुंग काल (१८४-७२ ई.पू.)-शुंग काल पुष्पमित्र के राज्याभिषेक से प्रारम्भ होता है। पुष्पमित्र कट्टर बौद्ध विरोधी माना गया है पर उसके युग में बौद्ध कला का विनाश नहीं हो पाया। सच तो यह है कि उसके विरोध के बावजूद बौद्धकला का उत्थान ही हुआ है। भरहुत और सांची के स्तूप इसके निदर्शन है। पाषाण का अधिकाधिक प्रयोग, उसमें विविध नक्काशी और अलंकरण, मूर्ति शिल्प में लालित्य, केश विन्यास, दिव्य सौन्दर्य इस युग की कला की विशेषतायें हैं। शुंग काल में स्तूप, बिहार, स्तम्भ, चैत्य, देवमन्दिर और चतु:शालवेदिका युक्त तोरण का विशेष निर्माण हुआ है। अष्टमांगलिक चिन्ह, पुष्पमालाएं, पूर्णघट, हंसपंक्ति आदि का उत्कीर्णन हुआ। कालान्तर में ये शिलाफलक अलंकृत होने लगे सारनाथ के धमेख स्तूप के आवरण के लिए देवदूष्य वस्त्र की कल्पना की गई। स्तूप को विस्तृत आकार दिया जाने लगा।

भरहुत स्तूप - स्तूप और चैत्य प्राय: समानार्थक हैं। स्तूप की संचित मिट्टी को ईंटों से आच्छादित कर दिया जाता था और उसपर चूने से लेप कर दिया जाता था। भारहुत (नागोद) स्तूप का तो थोड़ा-सा ही भाग शेष रहा है पर सांची का स्तूप प्राय: वैसा का वैसा ही है। इस पर निर्मित शिलापट्ट शुंग काल की देन है। इसके बाद वेदिका और अलंकृत तोरण भी निर्मित होने लगे। तोरण द्वार चारों दिशाओं में चार होते थे। भरहुत स्तूप का व्यास ६७ फुट ८.५ इंच था। कनिंघम को फूसका थोड़ा सा उसका भाग हाथ लग पाया। स्तूप पक्की ईंटों से बना था उसकी नीव भी मजबूत थी। इसमें वज्रलेप युक्त प्रदक्षिणा पथ भी था। तोरण द्वार मगर मच्छ की आकृतियों से सुशोभित थे। प्रत्येक तोरण द्वार दो बड़े स्तम्भों से निर्मित था। यह ज्ञातव्य है कि भारहुत में बुद्ध की मूर्ति उपलब्ध नहीं हुई। उसके स्थान पर स्तूप, धर्मचक्र, बोधिवृक्ष, त्रिरत्न, उष्णीस, चूड़ा, चरणपादुका आदि प्रतीक अवश्य मिले हैं। भारहुत शिल्प में अनेक जातक कथाओं का अंकन हुआ है, इस स्तूप का मूलत: निर्माण अशोक के काल में हुआ था पर शुंग काल में उसमें ईंट के स्थान पर पत्थर की वेदिका और तोरणों का निर्माण कर दिया गया था।

सांची स्तूप - सांची स्तूप विदिशा से लगभग ५.५ मील दूर स्थित है। प्रारम्भ से ही अशोक और विदिशा का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। सांची स्तूप को महाचैत्यगिरि कहा गया है। इसके आसपास लगभग ६१ स्तूप हैं- सोनरी में ५, सतधारा में ३, अंधेर में ३७, भोजपुर में ८ और सांची में ८। इनमें सांची के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्तूप है। सं. १-२ और ३। ये स्तूप अशोक काल में ईंटों से बनाये गये थे पर शुंग काल में ये शिलाच्छादित कर दिये गये। तोरण द्वार और अलंकृत वेदिका का निर्माण भी इसी काल में हुआ। आगे चलकर वासिष्ठपुत्र सातकर्णी ने इसे आगे बढ़ाया और गुप्त काल में फिर इसका विशेष विकास हुआ। अशोक कालीन स्तूप के व्यास को भी दुगुना कर दिया गया अतः इसे महास्तूप कहा जाने लगा। तोरण द्वारों में एक वैशिष्ट्य है जो विदिशा के दन्तकारों का स्मरण कराता है। स्तूप नं. ३ में सारिपुत्त और महामौद्गल्यायन की अस्थियां रखी गई हैं। महास्तूप में भगवान् बुद्ध की और नं. २ में अन्य प्रमुख प्रचारकों की अस्थियां नियोजित की गई हैं। स्तूपों के अतिरिक्त अशोक स्तम्भ और चैत्यगृह भी मिले हुए हैं। शिलापट्टों की रचना इसी काल में हुई।

बोधगया में अशोक ने भगवान् बुद्ध द्वारा महाबोधि प्राप्ति के उपलक्ष्य में महाबोधि संघाराम बनाया। उसके समक्ष चार अर्धस्तम्भ थे और पीछे बोधिवृक्ष या पीपल का ऊँचा तना था। धर्मचक्र और त्रिरत्न के चिन्ह भी स्तम्भों पर मिलते हैं। सपक्ष सिंह, अश्व, हस्ती, मृग आदि का अंकन बोधगया की विशेषता है। इस बोधगया मन्दिर का अनेक बार विकास हुआ है।

शुंग कला की कला का दर्शन भुवनेश्वर से ५ मील दूर खण्डगिरि और उदयगिरि की सुरम्य पर्वत श्रृखंलाओं में उत्कीर्ण हीनयानी गुफाओं में भी होता है। अशोक ने बिहार की बराबर पर्वत श्रेणी में गुफायें उत्कीर्ण कराने की परम्परा को स्थापित किया था जिसे उसके पौत्र दशरथ ने भी अनुकृत किया था। इसी समय रेवतक पर्वत, शूपरिक, भाजा, कार्ले, कन्हेरी जैसी गुफाओं का उत्कीर्णन भी मिलता है। यहां विशाल चैत्य मन्दिर और विहार भी बनाये गये थे। ये चैत्य मन्दिर आयताकार थे, चतुरावलि हर्मिका और वेदिका तथा प्रदक्षिणापथ से अलंकृत थे। सामने लगे उत्तुंग कीर्तिस्तम्भ भी मिलते हैं। चैन्यगृहों की भित्तियां वेदिकाओं से अलंकृत थीं। कला की यह शैली ३ री शती ई.पू. से होकर ८ वीं शती तक मगध से कलिंग तक और सौराष्ट्र से दक्षिण में महाबलीपुरम तक लोकप्रिय हुई है। यहां कुछ हीनयानी गुफायें हैं जिनका निर्माण ३ री शती ई.पू. से २ री शती ई. तक हुआ और कुछ महायानी गुफायें हैं जिनका निर्माण ५ वीं शती ई. से १० वीं शती तक हुआ। इनमें दो रूप मिलते हैं -चैत्यगृह और बिहार। हीनयानी चैत्यगृह भाजा, कौण्डाने, पीतल खोरा, अजन्ता (गुहा सं.९-१०), नासिक और कार्लेमें अवस्थित हैं। चैत्यगृहों में मण्डप, प्रदक्षिणापथ, स्तम्भ, गर्भगृह,

और स्तूप रहा करते थे। बिहार में एक मण्डप (आंगन), तीन या चार ओर चौकोर गर्भ शालायें (कमरे), सामने प्रवेश द्वार और उसके सामने स्तम्भों पर बना हुआ मुखमण्डप (बरामदा) रहता था। इन बिहारों में बौद्ध भिक्षु रहा करते थे। ये चैत्यगृह और बिहार पहले काष्ठ के बना करते थे पर इस काल में पाषाण के बनने लगे कारीगरों का कौशल यहां दर्शनीय है।

भारत के पश्चिमी भाग में बने चैत्यगृहों और बिहारों में भाजा, अजन्ता आदि स्थल भी महत्त्वपूर्ण हैं। भाजा उनमें सम्भवतः प्राचीनतम रहा होगा। यहां बिहार, चैत्यगृह और स्तूप बनाये गये थे। बिहारों में बनी प्रत्येक कोठरी में भिक्षु को सोने के लिए पत्थर की चौकी बनी हुई है। रथिकाओं में सुन्दर सुन्दर मूर्तियां उकेरी गई हैं। भाजा का चैत्यगृह ५५ फुट लम्बा और २६ फुट चौड़ा है। प्रदक्षिणापथ और स्तूप वेदिका से अलंकृत हैं। यहां मूर्ति तो नहीं मिली पर त्रिरत्न, नन्दिपद, श्रीवत्स आदि मांगलिक चिन्ह अवश्य प्राप्त होते हैं। भाजा में १४ स्तूप भी मिले हैं। कार्ले से १० मील दूरी पर कोण्डाने का चैत्यगृह और बिहार है जो काष्ठ शिल्प का अनुकरणमात्र है। पीतलखीरा (औरंगाबाद के समीप) के चैत्यगृह की विशेषता है - स्तूप के गर्भ में स्फटिक की मंजूषायें और एक सोपान मार्ग। अजन्ता के चैत्यगृह और बिहार हीनयानी और महायानी, दोनों हैं। इसका निर्माण द्वितीय शती ई.पू. से सप्तम शती ई. तक होता रहा है। यहां २९ गुफायें हैं। इनमें अनेक प्रकार के रमणीय चित्रों का भी अंकन हुआ है। नासिक में १७ गुफायें हैं। यहां जो चैत्यगृह है वह प्रारम्भिक गुहा के निर्माण के बाद का होगा। इस चैत्यगृह में काष्ठ शिल्प का प्रयोग बिलकुल नहीं किया गया। जुन्नार (पूना से ४८ मील दूर), कार्ले(बम्बई से ७८ मील दूर) और कन्हेरी (बम्बई से १६ मील दूर) की गुफायें चैत्यगृह और स्तम्भ की शैली में लगभग समान है। कला की यहां जीवन्त साधना हुई है।

पवनी (भण्डारा जिला, महाराष्ट्र) ग्राम में १९६९-७० ई. के उत्खनन में शुंगकाल के दो विशाल स्तूपों के अवशेष उपलब्ध हुए हैं। ये अवशेष जगन्नाथ टेकड़ी और सुलेमान टेकड़ी के अधोभाग से निकाले गये हैं। इन दो स्तूपों में एक का तो आकार व्यास सांची के प्रमुख स्तूप से भी अधिक है। ये स्तूप शुंग-सातवाहन काल के हैं। मूलतः इनका निर्माण मौर्यकाल में हुआ था तथा शुंग-सातवाहन काल में इसके रूप विन्यास में कुछ परिवर्तन किये गये। भरहुत की भांति इसके स्तूप की वेदिका और तोरण के भाग भी बौद्धधर्म से सम्बद्ध उकेरे गये शिल्प से अलंकृत थे। इनके कुछ अवशेष भी उपलब्ध हुए हैं।

कुषाणकाल - कुषाणकालमें मथुरा कला का सर्वमान्य केन्द्र था। यहां के कुषाण राजा कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव ने अपने संरक्षण में कला का उत्कर्ष किया। मथुरा के कारीगरों ने भरहुत और सांची की कला को और आगे बढ़ाया। बाह्य आकृति और भावों के उभार में समन्वयात्मक वृत्ति उनकी विशेषता थी। प्राकृतिक चित्रणों को भी इसमें समुचित स्थान दिया गया है। बौद्धों के यहां दो स्तूप मिले हैं - एक कचहरी के पास हुविष्क का बनवाया हुआ है और दूसरा भूतेश्वर टीले की भूमि पर निर्मित है। ये स्तूप प्रायः व्यस्त हो गये हैं फिर भी अवशेष उपलब्ध होने से उन्हें ई.पू. प्रथम शती के आसपास का माना जा सकता है। कुषाणकाल के शिल्पियों ने वेदिका के अलंकरण पर विशेष ध्यान दिया है। स्तम्भों पर नये-नये दृश्य और शालभ्जिकायें भी उकेरी गई हैं।

बुद्धमूर्ति बनाने का श्रेय कुषाणकालीन मथुरा को है। सम्भव है गन्धार का भी उसमें योगदान रहा हो। अभी तक बुद्ध की पूजा मात्र प्रतीकों पर आधारित थी। इस समय तक भक्ति आन्दोलन काफी विकसित हो चुका था। प्रतीक पूजा मथुराकला में दिखाई देती है। पर उसके साथ ही बौद्धेतर सम्प्रदायों से प्रभावित होकर बौद्धधर्म में भी बुद्ध मूर्ति की पूजा होना प्रारम्भ हो गयी। बुद्ध और बोधिसत्व की अनेक सुन्दर मूर्तियां मथुरा में उपलब्ध हुई हैं। कनिष्क के काल में मुद्राओं पर भी बुद्ध मूर्ति का अंकन होने लगा था। सारनाथ की बोधिसत्त्व की मूर्ति कनिष्क के राज्यकाल के तृतीय वर्ष में बनी हुई है। उसका निर्माण परखम यक्ष के रूप पर आधारित है। बोधिसत्त्व की दूसरी मूर्ति कौशाम्बी में प्राप्त हुई है जो कनिष्क के राज्यकाल के द्वितीयवर्ष की है। वासिष्क, हुविष्क और वासुदेव ने भी अनेक मूर्तियों का निर्माण कराया था। महायानी आचार्यो की प्रेरणा कनिष्क के लिए बुद्ध मूर्ति के निर्माण में मूल कारण रही। उत्तरकाल में धीरे-धीरे प्रतीक परम्परा समाप्त होती गई और मात्र मूर्ति बनायी जाने लगी। ३२ महापुरुष लक्षणों से उसे अनुरंजित किया गया। प्रथम शती ई. की यह विशेषता रही है। कुषाणकालीन बुद्ध मूर्तियों में कुछ खड़ी हुई हैं और कुछ बैठी हुई हैं। आजानवाहु, उष्णीस, चक्रचिन्हित हस्तपाद, नासाग्रदृष्टि, लम्बकर्ण आदि जैसी विशेषताओं से बुद्ध मूर्ति अलंकृत की जाने लगी। मस्तक के पीछे प्रभामण्डल भी रहा करता था। मथुरा और गन्धार में निर्मित बुद्धमूर्तियों की संरचना में सम्भवतः सर्वास्तिवादी आचार्यो का विशेष योगदान रहा होगा।

गन्धारकला - तक्षशिला और पुष्कलावती का क्षेत्र गन्धार अथवा गान्धार प्रदेश माना जाता था। इसके प्रमुख सात केन्द्र थे-तक्षशिला, पुष्कलावती, नगरहार, स्वातघाटी या उड्डीयान, कापिशी, वामियां और बाह्लोक अथवा बैक्ट्रिया। इन केन्द्रों

में यूनानी शिल्प को बौद्ध आदर्शों में प्रतिबिम्बित किया गया। इस कला की उत्पत्तिका समय ई.पू. प्रथम शती अथवा ई. प्रथम शती है। तक्षशिला के समीपवर्ती सिरमुख, मोहरा मोराडू, पिप्पल और जौलियां में बौद्ध बिहार और स्तूप मिले हैं। यहां अनेक बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार प्रतिमाशास्त्र की दृष्टि से गन्धार कला की ये विशेषतायें हैं-बुद्ध के जीवन की घटनायें, बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियां, जातक कथायें, यूनानी देव-देवी और गाथाओं के दृश्य, भारतीय देवता और देवियां, वास्तु, सम्बन्धी विदेशी विन्यास, भारतीय अलंकरण, एवं यूनानी, ईरानी, और भारतीय अभिप्राय एवं अलंकरण। इन विशेषताओं से समलंकृत बुद्ध की मूर्ति में सजीवता और शाश्वतता झलकती है। यहां के शिल्पियों ने मथुरा और मध्यप्रदेश की कला से अनेक अभिप्राय लिये जो बौद्धधर्म की दृष्टि के अनुरूप थे।

आन्ध्र सातवाहनयुग - सातवाहनों को पुराणों में 'आन्ध्रभृत्य' कहा गया है। इनका साम्राज्य आन्ध्र में लगभग २०० ई. पू. से २०० ई. तक रहा है। उसके बाद यहां इक्ष्वाकू राजाओं का आधिपत्य हुआ जिनके सान्निध्य में नागार्जुनीकोण्डा जैसे स्तूपों का निर्माण हुआ है। अशोक के प्रताप से आन्ध्र प्रदेश में बौद्धधर्म ने लगभग द्वितीय शती ई.पू. में पदार्पण किया। तबसे आन्ध्र बौद्धधर्म का केन्द्र बना रहा। विभिन्न निकाय वहां पुष्पित-फलित हुए हैं। उदाहरणार्थ अमरावती में चैत्यक निकाय, नागार्जुनकोण्डा और अल्लूरु में पूर्वशैलीय निकाय, पेड्डुवेगी और घण्टशाल में अपरशैलीय निकाय। राजगिरी और सिद्धार्थक निकायों का भी अस्तित्व यहां रहा है। बौद्ध स्तूपों का निर्माण इन सभी निकायों की प्रेरणा से हुआ है।

अशोक की कला का प्रभाव यहां के स्तूपों आदि में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इस दृष्टि से गुटपल्ले और संकाराम के स्तूप उदाहरणीय हैं। गुटपल्ले का स्तूप तृतीय शती ई. पू. के मध्य में और संकाराम का स्तूप द्वितीय शती ई.पू. में बनाया गया है। यहां शैलगुहा की शैली का आधार लिया गया है। यहीं चैत्यगृह भी मिले हैं। बिहारों के मण्डप, भिक्षुनिवास के रूप में गर्भशालायें, मुखमण्डप में द्वार और वातायन आदि सभी कुछ उसी शैली में बनाये गये हैं। अधिक सम्भावना यह है कि ये कला स्थल प्रारम्भिक काल के रहे होंगे। काष्ठशिल्प की अनुकृति भी यहां मिलती है। गुण्टपल्ले का शिला निर्मित चैत्यगृह सुदामा, जुन्नार और कोण्डीविटे के चैत्यों से समानता लिए हुए है। यहां दो सुन्दर स्तूप भी मिले हुए हैं। जिनमें सांची का अनुकरण दिखाई देता है। संकाम में भी चैत्य, बिहार और स्तूप मिले हैं। ये सभी वृहदाकार में ईंटों से बने हुए हैं। इसी प्रकार गोली (गुण्टूर जिला), भट्टिप्रोलु, घण्टशाल और जगय्यपेट के महास्तूप भी आकार में

बहुत बड़े हैं। इनका निर्माण प्राय: द्वितीय शती ई.पू. से लेकर पंचम शती ई. (पल्लव राजकाल) तक होता रहा है। इनमें प्रदक्षिणापथ और महावेदिकायें भी बनायी गयी थीं। आन्ध्र सातवाहन युग की कला में अमरावती स्तूप का विशेष स्थान है। इसका नाम महाचेतिय था जिसका निर्माण चैत्यक निकाय की प्रेरणा से हुआ था। इस स्तूप का निर्माण धान्यकटक में हुआ था। इसके शिलापट्टों पर शताधिक दानलेख उट्टंकित हैं जिनसे वहां की जनता की भावनाओं का पता लगता है। स्तूपों के साथ ही प्रदक्षिणापथ, महावेदिकायें, तोरणद्वार, स्तम्भ आदि भी बनाये गये हैं जिनपर बोधिवृक्ष, धर्मचक्र जैसे प्रतीक चिन्ह उकेरे हुए मिलते हैं। यहां उपलब्ध मूर्तियों की संख्या भी कम नहीं है। स्तूपों और मूर्तियों की कला में अमरावती की कला का इतिहास झलकता है। लगभग ५वीं शताब्दी तक यहां कला का विकास होता हुआ दिखाई देता है। प्रारम्भिक काल में बुद्ध के प्रतीक मात्र मिलते हैं। द्वितीय काल में प्रतीक के साथ मूर्तियों और दृश्यों का भी विन्यास हुआ है। तृतीय काल में यहां का वास्तु और शिल्प और अधिक विकसित हो गया था। इस समय अमरावती कला में निखार और अधिक आ गया। चतुर्थ काल में विविध आभूषण और अलंकरण गुप्तकाल में प्राप्त आभूषणों और अलंकरणों का स्मरण कराते हैं।

नागार्जुनीकोण्ड (गुण्टूर जिला) का महास्तूप अमरावती से लगभग ६० मील दूर है। यहां अनेक बिहार स्तूप, धातुमंजूषायें, और मृत्तिकापात्र मिले हैं। इनके खम्भो पर जो लेख प्राप्त हुए हैं उनसे इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं का इतिहास ज्ञात होता है। नागार्जुनोकोण्ड में महीशासक और गोकुलक बहुश्रुतीय शाखा का प्रभाव अधिक था। यहां का महाचेतिय स्तूप बुद्ध पूजा के लिए निर्मित किया गया था। मूलत: यह स्तूप अल्पेशाख्य था पर उत्तरकाल में इसे महेशाख्य के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। यहां का मूर्ति शिल्प भी समृद्ध है। नागार्जुनीकोण्डा की कला में सूक्ष्म भावों को उकेरने और मुद्राओं के विभिन्न विन्यास बनाने की विशेषतायें निहित हैं।

गुप्तकाल - गुप्तकाल भारतीयकला, विशेषत: बौद्धकला, की दृष्टि से स्वर्णयुग कहा जाता है। मथुरा और सारनाथ गुप्तकालीन कला के प्रसिद्ध केन्द्र रहे हैं। इस युग की मूर्तियों में कांस्य मूर्तियों के समान ही सौष्ठव है। गुप्तकाल की मूर्तियों में प्रभाचक्र, सावर्त केश, कुड्मलाकार नयन और शान्त मुखाकृति विशेष रूप से दृष्टव्य है। इन मूर्तियों में चीवर का अंकन दो तरह से हुआ है। कुछ मूर्तियों में चीवर का विधान प्रान्तनिर्देश से होता था और कुछ में महीन रेखाओं के माध्यम से उसे उकेरा जाता था। सारनाथ और मथुरा की मूर्तियां इस दृष्टि से दृष्टव्य हैं। अजन्ता की कला भी गुप्तकला की विशेषतायें संजोये हुए है। यहां भी बुद्ध और बोधिसत्त्व के जीवन चित्रों का आलेखन

हुआ है। एलोरा का भी इसी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये स्थान गुप्तकालीन चित्रकला की दृष्टि से उदाहरणीय हैं।

गुप्तकाल के बाद बौद्धधर्म की स्थिति भारत से बहुत डांवाडोल हो गयी थी। जन साधारण पर उसका प्रभाव समाप्त हो चुका था। इस स्थिति में साहित्य और कला के क्षेत्र में बौद्धधर्म का विशिष्ट योगदान पीछे पड़ गया। इसका तात्पर्य यह नहीं कि बौद्ध कला अपने क्षेत्र से बिलकुल बाहर हो गई। तथ्य तो यह है कि उसने अपना पग भारत को छोड़कर विदेशों की संस्कृति को आत्मसात करने के क्षेत्र में आगे बढ़ा दिया। सम्भव है, इसी प्रभाव ने बौद्धकला को भारत में भी किसी तरह जीवित रखा। गुप्त काल की कांसे की बनी बुद्ध मूर्तियां पाषाण की मूर्तियों से कम कला पूर्ण नहीं थीं। बिहार (सुलतान गंज) में प्राप्त बुद्ध मूर्ति (पांचवीं शती) ऐसी ही हैं। आठवीं ई. तक धातु मूर्तियों का निर्माण अच्छी तरह होने लगा था। पालवंश ९-१२ वीं शती तक की धातु मूर्तियां आध्यात्मिक सौन्दर्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। ये मूर्तियां नालन्दा और कुर्किहारा से उपलब्ध हुई हैं। बौद्ध कास्य मूर्तियां दक्षिण में विशेष रूप से तंजोर जिले में प्राप्त हुईं। उनका समय लगभग ९ वीं शताब्दी से १५ वीं शताब्दी तक माना जा सकता है।

विश्व बौद्ध कला

विश्व बौद्ध कला भारतीय कला का अंग होकर विश्वकला का अंग बन गई थी। लंका, वर्मा, थाइलेन्ड, नेपाल, तिब्बत, चीन आदि देशों में बौद्ध कला का पर्याप्त विकास हुआ है। अशोक का सम्बन्ध विदेशी राजाओं से रहा ही है। उसके स्तम्भों पर पारसी प्रभाव कदाचित् रहा भी हो, फिर भी भारतीय कला ने भी अन्य कला को प्रभावित किया ही है। यही कारण है कि मथुरा के क्षत्रपों के समय में और कुषाण काल में देशी-विदेशी कलाओं का संमिश्रण होने लगा था। गन्धार कला का जन्म इसी संमिश्रण से हुआ है। अफगानिस्तान के वेगराम में प्राप्त मूर्तियां भी इसी तरह की हैं। ग्रीक-रोमन का प्रभाव गन्धार कला पर अवश्य पड़ा है जिसका प्रमाण बुद्ध की आदमकद मानवीय प्राचीन मूर्तियां हैं। अपोलो ग्रीक देवता के शारीरिक सौन्दर्य ने बुद्ध के शारीरिक सौन्दर्य को आकर्षित किया है। वामियान (अफगानिस्तान) की दो बुद्ध मूर्तियां गन्धार कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं जिन्हें तालिबान शासन ने नष्ट कर दिया है। अफगानिस्तान के फोन्दुकिस्तान में ही उत्तर कालीन गन्धार कला की बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियां मिलती हैं।

नेपाल और तिब्बत की बौद्धकला पर पालवंशी बौद्धकला का प्रभाव है। वहां ध्यानी, मानुषी, भैषज्य, मैत्रेय, आदि बुद्ध और बोधिसत्वों के साथ ही तारा,

लोकपाल, मारीचि आदि देवी देवताओं का अंकन हुआ है। काठमाण्डु के छवेल और वांगेमुर में प्राप्त बुद्ध की खडी मूर्तियां पांचवीं शती की हैं। गुप्तशैली में निर्मित नेपाल में मूर्तियों के अतिरिक्त शम्भूनाथ और बोधिनाथ के स्तूप विशेष आकर्षक रहे हैं। चीनी तुर्किस्तान में भी बौद्ध कला का अच्छा प्रभाव रहा है।

जावा की बौद्धकला में आठवीं से १०० सवीं शती तक पाल और चोल वंश का प्रभाव रहा है। चण्डी मेन्दुत मंदिर बुद्ध बोधिसत्वों से परिवृत है। बोरोबुदूर का स्तूप भी अत्यन्त आकर्षक है। सिंगसारी (जावा) में प्राप्त १२-१३ वीं शती की प्रज्ञापारमिता की मूर्ति तो विश्व प्रसिद्ध है ही।

श्रीलंका में बौद्धकला की दृष्टि से अनुराधापुर, पोलोन्नरुआ, और सिरिगिरिय विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। अनुराधापुर की ध्यानावस्थित मूर्ति तो बहुत प्राचीन है। वैसे ११-१२ वीं शती की कला अधिक मिलती है। स्तूप और दगोबा भी अनेक हैं। वर्मा की कला में छठी शती की खडी बौद्ध मूर्ति और दसवीं शती का पैगन कागक्ये नदौन स्तूप उदाहरणीय हैं। यहां सारनाथ और नागार्जुनीकोण्डा का अधिक प्रभाव दिखता है।

बौद्धकला का विकास उन स्थानों पर अधिक रहा है जिनका विशेष सम्बन्ध बौद्धधर्म से रहा है। ऐसे स्थानों में मुख्य स्थान उत्तरी भारत में लुम्बिनी, सारनाथ, बोधगया, कुशी नगर (परिनिर्वाण भूमि), श्रावस्ती (सहेतमहेत), संकाश्व (संकिसा, फर्रुखाबाद), राजगृह, वैशाली, सांची, तक्षशिला, कौशाम्बी और नालन्दा हैं, पश्चिमी भारत में गिरनार, धांक (जूनागढ़), सिद्धसर (जूनागढ़), तलाजा भावनगर, सान्हा भावनगर, वलभी भावनगर, कम्पिल्य गुजरात, नवसी, भाज, कोण्डाणे, पितल खोरा, अजन्ता, वेदसा, नासिक, जुन्नर, कार्ले, कान्हेरी, गोआ और कर्नाटक हैं, दक्षिण भारत में पवनी, भण्डारा, महाराष्ट्र, अमरावती, नागार्जुनीकोण्डा गुन्टूर, भट्टिप्रोलु, जगय्यपेटा, गुसिवाड़ा, घण्टिशाल कृष्णा जिला, नागपट्टन मद्रास, श्री भूलवासम् और मांची। इन सभी स्थानों का सम्बन्ध बौद्धसंस्कृति के साथ घनिष्ठतम रहा है। इसलिए यहां पर बौद्ध कला का विकास हुआ है।

इस प्रकार बौद्धकला ने अपनी मातृभूमि से बाहर जाकर विशेष विकास किया है। विदेशी कला से वह प्रभावित तो हुई ही है पर उसका भी विदेशी कला पर प्रभाव कम नहीं रहा। इस दृष्टि से भारतीय सांस्कृतिक क्षेत्र में बौद्धकला का अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है। समूची बौद्ध कला पालि भाषा और दर्शन से प्रभावित है।

ॐ

परिवर्त ११

पालि-बौद्धधर्म के अध्ययन का पुनरुत्थान

जैसा हम जानते हैं, बौद्धधर्म भारत से लगभग १३ वीं शताब्दी में समाप्तप्राय हो चुका था। मुहम्मद-इन-बख्त्यार (११९७ ई.) के आक्रमण के बाद और नालन्दा तथा विक्रमशिला विश्वविद्यालयों के विनाश के बाद एक के बाद एक बौद्ध मन्दिर, शास्त्र भण्डार आदि नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गये। लगभग चार-पांच शताब्दियों के बाद ब्रिटिश प्रशासकों ने पालि-बौद्ध अध्ययन को पुनरुज्जीवित किया। जर्मन विद्वान Arthur Schapenhauer (१७८८-१८६०) कदाचित् पहला व्यक्ति था जिसने पाश्चात्य जगत को बौद्धधर्म से परिचित कराया "The World as will and Representation" नामक पुस्तक को १८१९ में प्रकाशित कर। इसके बाद पुरातत्त्व विभाग ने अशोक स्तम्भ शिलालेख आदि खोज निकाले जिसमें कनिंघम (१८१४-१८९३) का विशेष हाथ था। जेम्स प्रिन्सेप (१७९९-१८४०) ने प्राकृत शिलालेखों का अध्ययन कर तथा जार्ज टर्नर (१७९९-१८४३) ने महावंस का अनुवादकर पालि अध्ययन को नई दिशा दी। सर विलियम जोन्स, ईस्ट इण्डिया कं. के जज द्वारा कलकत्ता में १७८४ में Asiatic Society of Bengal की स्थापना से पालि एवं बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन का नूतन क्षितिज आविष्कृत हुआ। १८९२ में Buddhist Text Society की स्थापना से शास्त्री, विद्याभूषण, विधुशेखर भट्टाचार्य, बी.सी.ला. बागची आदि विद्वानों को बौद्ध साहित्य के अध्ययन की प्रेरणा मिली। १८८१ में Pali Text Society की स्थापना लण्डन में हुई और इधर अनागारिक धम्मपाल, राहुल सांकृत्यायन, जगदीश कश्यप, आनन्द कौशल्यायन, के.पी. जायसवाल डी.डी. कौसाम्बी आदि विद्वानों ने पालि अध्ययन का प्रचार-प्रसार किया।

यहा हम यूरोप, अमेरिका और भारत देशों में पालि-बौद्ध साहित्य पर हुए कार्यो का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे संक्षेप में।

यूरोप और अमेरिका में पालि-बौद्धधर्म का अध्ययन क्रम

योरोपियन और अमेरिकी विद्वानों ने श्रीलंका और भारत में आकर पालि-बौद्धधर्म का गहन अध्ययन किया और सम्पादन तथा अनुवादकर ग्रन्थों को प्रकाशित किया। यहां हम उनके अध्ययन-क्रम का संक्षेप में मात्र उल्लेख कर रहे हें-

सर्व प्रथम ने महावंस आदि पालि साहित्य के आधार पर अशोक शिलालेखों में प्रयुक्त 'पियदस्सी' की पहचान अशोक सम्राट से स्थापित की और George Turnour ने महावंस का सम्पादन १८३७ में किया। Prof. Vincent Fausball ने धम्मपद का लेटिन अनवुाद १८५५ में किया। इससे पालि-बौद्ध अध्ययन की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ। फलत: B.H. Hodgson ने Buddhist Sanskrit Manuscripts from Nepal (१८२१-४१), Cosma de Koros ने Tibetan English Dictionary (१८३४), R.C. Childres ने Pali English Dictionary (१८७५) तैयार की तथा Bunyiu Nanjio का Catalogue of the Chinese Tripitaka (१८३३) प्रकाशित हुआ।

पाश्चात्य देशों में, विशेषत: यूरोप में पालि-बौद्धधर्म का प्रथमत: अध्ययन प्रारम्भ हुआ। R.K. Risk प्रथम यूरोपियन विद्वान थे जिन्होंने १८२१ में श्रीलंका जाकर पालि और सिंहली का अध्ययन प्रारम्भ किया। Houghton ने नेपाल जाकर १८२४ से १८४८ तक रहकर १४४ बौद्ध पाण्डुलिपियां एकत्रित कीं। और उन्हें Asiatic Society of Bengal आदि जैसे संस्थानों को दे दीं। Burnouf कदाचित् पहले यूरोपियन विद्वान थे जिन्होंने सर्वप्रथम यूरोप को १८२६ में पालि से अवगत कराया और पालि व्याकरण और बौद्धधर्म आदि पर अनेक ग्रन्थ लिखे। इसके बाद Fausball का नाम आता है जिन्होंने जातक का संस्करण निकाला तथा धम्मपद (१८५५) और सुत्तनिपात (१८८१) का अनुवाद लेटिन में किया। इसी तरह Oldenburg ने विनयपिटक थेर-थेरीगाथा आदि पालि ग्रन्थों के संस्करण प्रकाशित किये।

Rhys David १८६४ में सीलोन सिविल सर्विस में आये और वहां रहकर पालि का अध्ययन किया। १८८१ में उन्होंने Pali Text Society की स्थापना की और मृत्यु पर्यन्त १९२२ तक उसकी सेवा करते रहे। उनके सान्निध्य में लगभग पूरा पालि त्रिपिटक रोमन लिपि में सम्पादित होकर प्रकाशित हो गया। उन्होंने स्वयं दीघनिकाय (१८८९-१९१०), अभिधम्मत्थ संगहो (१८८४), दाठावंस (१८८४ आदि ग्रन्थों का सम्पादन और अंग्रेजी अनुवाद किया। Muller ने Sacred Books of the East

Series के अन्तर्गत ५० अंग्रेजी अनुदित भाग प्रकाशित किये और इसी क्रम में PTS के तत्त्वावधान में Sacred books of the Buddhist Series के संपादन का भार हाथ में लिया। १९०० में उनकी मृत्यु के बाद यह कार्य Rhys David ने अपने हाथ में लिया और थेर-थेरीगाथा, दीपवंस, विनय पिटक आदि ग्रन्थ प्रकाशित किये (१८८१-१८८५)। इसी क्रम में Senart का महावस्तु संस्करण (१८९७) और Edwin Arnold का The Light of Asia भी उल्लेखनीय हैं। १८६० के आसपास विद्वत्परम्परा में कुछ नाम और भी स्मरणीय हैं। इस संदर्भ में R. Otto Franke (१८६२-१९२८), Oldenburg (१८६३-१९३४), Sylvan Lavi (१८६३-१९३५), Stechearbatsky (१८६६-१९४२), F.W. Thomas (१८६७-१९५६), E.J. Thomas (१८६९-१९५८), V. Poussin (१८६९-१९३८) और Heinrich Luders (१८६९-१९४३) के नाम भी उल्लेखनीय हैं जिन्होंने बुद्धचरित, धम्मपद, दिव्यावदान, मज्झिम निकाय, चूलकम्मविभंग-सुत्त, माध्यमिकावतार, बोधिचर्यावतार, न्यायबिन्दु, राष्ट्रपालपरिपृच्छा, न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका, महायान सूत्र आदि पालि बौद्ध ग्रन्थ सम्पादित किये। प्रो. Tucci प्रसिद्ध इटालियन विद्वान रहे हैं जिन्होंने अनेक बौद्धग्रन्थों का लेखन किया है। Franklin Edgerton की Hybrid Sanskrit Grammer और Hybrid Sanskrit Dictionary (१९५३) भी उल्लेखनीय हैं।

इस सर्वेक्षण से यह तथ्य उद्घाटित होता है कि पालि बौद्ध अध्ययन के क्षेत्र में यूरोपीय विद्वान बहुत आगे रहे हैं। १७८४ ई. में The Asiatic Society of Bengal की स्थापना ने इस अध्ययन को तीव्रगति प्रदान की और Burnouf (१८०१-५२), Max Muller (१८२३-१९००), Hermann Oldenberg (१८५४-१९२०), Rhys Davids (१८४३-१९२२) जैसे विद्वानों ने उस अध्ययन को नई दिशा दी। इसमें Cunningham और Stein ने पुरातात्त्विक आधार पर इस दिशा को और भी सबल बनाया।

बौद्ध अध्ययन का सूत्रपात वस्तुतः यूरोप में हंगरी विद्वान Alexander Csoma de Koros (१७८४-१८४२) से हुआ जिसने लद्दाख में जाकर तिब्बती भाषा को सीखा और उसके व्याकरण और कोश को तैयार किया (१८३४)। जर्मन दार्शनिक Arthur Schopen hauer (१७८८-१८६०) ने बौद्ध अध्ययन कर उसकी विशेषताओं से यूरोप जगत को अवगत कराया। इससे यहां पालि-बौद्ध अध्ययन की ओर रुचि जाग्रत हुई, और विश्वविद्यालयीय स्तर पर अध्ययन प्रारम्भ हुआ। Eugene

Burnouf (१८०१-१८५२) और Charles Lassen (१८००-१८७६) ने पालि अध्ययन को समाज के समक्ष प्रस्तुत किया १८२६ में। लगभग उसी समय Benjamin clough भी अपना अध्ययन प्रस्तुत कर चुके थे (१८२४)। अन्य विद्वानों ने श्रीलंका जाकर पालि का विशेष अध्ययन किया। Brian Hodgson (१८००-१८२४) ने काठमाण्डु में रहकर बौद्ध संस्कृत साहित्य का अध्ययन किया। Burnouf ने उसी अध्ययन को आगे बढाया और तिब्बती भाषा के माध्यम से बौद्धधर्म को प्रस्तुत किया। इससे संस्कृत, पालि, तिब्बती, चीनी, सिहली, मंगोलियन आदि भाषाओं के महत्त्व को समझा जा सका। इनमें तिब्बती बौद्ध साहित्य पर विशेष ध्यान दिया गया। Isaak Jakob Schmidt (१७७९-१८४७) और हंगेरियन विद्वान Alexander Csoma de koros (१७८४-१८४२) के नाम इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय हैं।

इनमें हंगेरियन विद्वान Koros ने बौद्धधर्म और पालि के अध्ययन / अध्यापन के क्षेत्र को अधिक विस्तृत किया। उन्हीं का अनुकरण कर Brin Houghton Hodgson (१८००-१८९४) ने नेपाल और दार्जिलिंग में रहकर Kahgvur और Stangvur नामक दो ग्रन्थ भागों में ३३४ तिब्बती पुस्तकों का प्रकाशन किया जिन्हें Dulva Do और Sherchin में विभक्तकर संस्कृत त्रिपिटक को प्रस्तुत किया। Stangvur को दो भागों में विभाजित किया गया -Rgyud और Mdo जो क्रमशः तन्त्र और सूत्र साहित्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनका द्वितीय योगदान है लगभग २०० पालि और बौद्ध ग्रन्थों को एकत्रितकर उन्हें लंदन, पेरिस और कलकत्ता के भिन्न-भिन्न पुस्तकालयों में सुरक्षित कर देना। राजेन्द्र लाल मित्र जैसे विद्वानों ने इन पाण्डुलिपियों का विशेष अध्ययन किया।

Eugene Burnouf (१८०१-१८०२)ने उपर्युक्त ग्रन्थों का अध्ययनकर l' Historie du Bouddhime Indian नामक पुस्तक १८४४ में प्रकाशित की। सद्धर्मपुण्डरीक का भी अनुवाद उन्होंने सफलता पूर्वक किया। उन्होंने पालि को थेरवाद अध्ययन के लिए अपरिहार्य साधन माना। इस सन्दर्भ में उनकी पुस्तक Essai Sur le Pali १८२७ में प्रकाशित हुई। इसके अतिरिक्त Burnour ने दिव्यावदान और अवदानशतक जैसे अनेक ग्रन्थों का फ्रेन्च अनुवाद भी किया।

इसके बाद ब्रिटिश विद्वान George Turnour (१७९९-१८४३) ने यूरोप में पालि-बौद्ध अध्ययन का प्रचार-प्रसार किया। श्रीलंका में रहकर उन्होंने महावंस का संपादन और अनुवाद किया (१८३७) तथा Journal of the Asiatic Society of

Bengal में समय-समय पर पाण्डित्यपूर्ण आलेख लिखे। इसी श्रृंखला में Rasmus Kristian Rask (१७८७-१८३२) का नाम आता है जिसने श्रीलंका में रहकर पालि और सिंघल भाषा का अध्ययन किया, बालावतार के आधार पर पालि व्याकरण लिखा और पालि पाण्डुलिपियों का संग्रह किया। Viggo Fausball (१८२१-१९०८) Turnour के शिष्य थे। उन्होंने भी पालि और सिंहलीज का अध्ययन कर बौद्ध अध्ययन के क्षेत्र का विस्तार किया। उन्होंने सात भागों में जातक का अनुवाद किया, धम्मपद का लेटिन में और सुत्तनिपात का अंग्रेजी में अनुवाद किया। इस पालि अध्ययन को Renchkner, Dines, Anderson, Poul Tuxen जैसे शिष्यों ने आगे बढाया। Rencknew (१८२४-१८९१) ने अभिधानप्पदीपिका, दीघनिकाय, मिलिन्दपञ्ह, मज्झिमनिकाय, पपंचसूदनी, अट्ठसालिनी, सारसंगह, संयुत्तनिकाय, सुत्तनिपात, अंगुत्तरनिकाय, मनोरथपूरणी, परमत्थदीपनी, उदान, इतिवुत्तक, बुद्धवंस, थेर-थेरीगाथा आदि पालि ग्रन्थों का सम्पादन किया और पालि शब्दकोष तैयार किया।

कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि बौद्धधर्म अपनी मातृभूमि भारत से १३ वीं शती तक लगभग समाप्त हो गया। भौतिकवाद और मार्क्सवाद के प्रभाव ने उसे और भी जर्जर कर दिया। पर जैसे ही वह पश्चिमी देशों में पहुंचा, उसका प्रभाव अहर्निश बढता रहा। उसने पश्चिम में कब प्रवेश किया यह कहना बडा कठिन है पर उत्तर भारत में ग्रीक समुदाय ने व्यापार आदि के माध्यम से सिल्क रोड वगैरह होते हुए जैसे ही प्रवेश किया कि उसे भारतीय संस्कृति से परिचित होने का अच्छा अवसर मिला। वैदिक, जैन, बौद्ध संस्कृतियों में पाश्चात्य संस्कृति भी घुलमिल गई। इसी समय उसे बौद्ध संस्कृति से भी अच्छा परिचय हो गया। कहा जाता है, क्रिश्चियन धर्म पर बौद्धधर्म का और उसके बोधिसत्त्व सिद्धान्त का पर्याप्त प्रभाव हुआ है। मुस्लिम समुदाय के कारण इसमें व्याघात अवश्य उपस्थित हुए पर उसके प्रभाव को अवरुद्ध नहीं किया जा सका।

१९ वीं शताब्दी में यूरोपीय विद्वानों ने बौद्धधर्म और उसकी प्राच्य भाषाओं का अध्ययन प्रारम्भ किया। यहीं १७८४ में कलकत्ता में Asiatic Society of Bengal की स्थापना हुई। Sir William Jones (१७४६-१७९४) East India Company के माध्यम से यहां आये। वे संस्कृत के प्रगाढ विद्वान थे। हंगेरियन Csoma de Koros (१७८४-१८४२) ने तिब्बती भाषा का अध्ययन किया और फ्रेन्च विद्वान Burnouf (१८०१-१८५२) ने बौद्धधर्म को गहराई से पढा, वे स्वयं संस्कृत के प्रोफेसर थे। जर्मन विद्वान Max Muller (१८२३-१९००) तथा Hermaan Oldenberg (१८५४-१९२०) ने उसको पढा/समझा। १८८१ में Sir Alexander Cunningham (१८४३-१९२२) ने Pali Text Society की स्थापना की। वे श्रीलंका की सिविल सर्विस में थे और पालि ग्रन्थों से परिचित थे।

पुरातत्त्व के क्षेत्र में Sir Alexander Cunningham ने उत्तर भारत के प्राचीन बौद्ध स्थलों की खोज की और बुद्ध को ऐतिहासिक महापुरुष के रूप में स्थापित किया। इस समय १८७९ में Edwin Arnold की प्रसिद्ध पुस्तक The Light of Asia प्रकाशित हुई। जिसने पश्चिम देशों का ध्यान बौद्धधर्म की ओर आकर्षित किया। रसियन Madame Helena Petrovna Blavatsky (१८३१-१८९१) और उनके अमेरिकन साथी Colonel Henry Steel Olcott (१८३२-१९०६) ने श्रीलंका में पंचशील ग्रहण कर स्वयं को बौद्धधर्म में दीक्षित घोषित कर दिया। इससे बौद्धधर्म का प्रभाव और अधिक बढ गया। मद्रास में इसका कार्यालय स्थापित हुआ। और वहीं से बौद्धधर्म का पुनरुद्धार प्रारम्भ हुआ। अनागारिक धम्मपाल १८६४-१९३३ के सहयोग से इस कार्य ने और भी गति पकडी। १८९१ में धम्मपाल ने कलकत्ता में महाबोधि सोसायटी की स्थापना की और बोधगया को हिन्दु समुदाय से मुक्त कराने का आन्दोलन प्रारम्भ किया।

बीसवीं शताब्दी (प्रथम विश्वयुद्ध)

The Light of Asia से प्रभावित होकर पश्चिमी विद्वान Allan Bennett (१८७२-१९२३) ने श्रीलंका वर्मा आदि देशों की यात्रा की और १९०१ में वर्मा में बौद्ध भिक्षु बनकर आनन्द मैत्रेय नाम ग्रहण किया। यूरोप की यात्रा कर उन्होंने बौद्धधर्म का प्रचार किया Buddhist Society of Great Britain and Ireland की स्थापना १९०७ में की । १९०८ में ब्रिटेन आये। फिर रंगून वापिस हो गये। उनकी पत्रिका Buddhism में एक विज्ञापन पढकर स्काटी विद्वान MeKechnnie (१८७१-१९५१) ने १९०५ में बौद्ध संघ में प्रवेश लेकर भिक्षु सीलचर नाम ग्रहण किया। १९२३ तक दोनों ने मिलकर बौद्धधर्म के प्रचार का कार्य किया और बाद में बीमारी से त्रस्त होकर उन्हें यह कार्य छोड देना पडा।

जर्मन विद्वान Anton Gueth (१८७८-१९५७) ने बौद्धधर्म में दीक्षित होकर रंगून में १९०३ में ज्ञानतिलोक भिक्षु के नाम से नया रूप स्वीकार किया और श्रीलंका में अपना आवास बनाया। वहां उन्होंने Buddhist Publication Society की स्थापना की। बर्लिन में Dr. Paul Dahlke (१८६५-१९२८) ने एक बौद्ध विहार बनवाया और स्वयं बौद्धभिक्षु होकर जीवन बिताया। १९२३ में George Grimm (१८६८-१९४५) ने "Ola Buddhist Community" "नामक संगठन Bavaria में स्थापित किया।

रूस में Buryat और Kalmuck के कारण यूरोप में बौद्धधर्म का प्रभाव बढा

Ukhtomsky (१८६१-१९२१) ने बौद्धकला पर काम किया, रसियन विद्वानों ने महायान ग्रन्थों का अध्ययन किया। I.P. Minayev, S.T. Oldenburg, O. Rosenberg, Y.N. Roerich (१९०२-१९६०) और Stcherbatsky (१८६६-१९४२) जैसे विद्वानों ने इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया। Russian Academy of Science ने भी इस कार्य में सहयोग दिया और Tennisons (१८७३-१९६२) जैसे कुछ लोगों ने बौद्धसंघ में प्रवेश कर इस कार्य को और आगे बढाया।

प्रथम विश्वयुद्ध का उत्तरकाल

प्रथम विश्वयुद्ध के कड़ुए अनुभव ने पाश्चात्य जनता को अध्यात्म की ओर मोडा और बौद्धधर्म के प्रचार ने गति पकडी। Advocate Christmas Humpreys (१९०१-१९८३) ने ब्रिटिश बौद्ध आन्दोलन को आगे बढाया। वे पहले से ही Theosophical Society से जुडे हुए थे। उसी के सहयोग से उन्होंने Buddhist Society of London की स्थापना की और थेरवादी बौद्धधर्म पर भाषण आदि का संयोजन करते रहे।

१९२२ से महायान बौद्धधर्म की ओर विद्वानों का झुकाव हुआ। Kneight, Ellam, Fletcher, McGovern जैसे विद्वानों ने दलाई लामा के पास रहकर महायान का अध्ययन किया और उसके प्रचार के संदर्भ में विचार-मंथन किया। इन प्रचारको में McGovern ही ल्हासा जा सके। उनके अन्य साथी Fletcher ने शिगत्से में Gelug सम्प्रदाय में दीक्षा लेकर Kunigaikshtis Gedyminas नाम ग्रहण किया और लामा जैसा जीवन व्यतीत किया। श्रीलंका जाकर उन्होंने थेरवादी दीक्षा ली। वर्मा, भारत आदि देशों में भी रहे और लामा दोरजी प्रज्ञानन्द के नाम से विख्यात हुए।

इसी कडी में फ्रेन्च विदुषी Alexendra David Neel (१८६८-१९६९) का भी नाम लिया जा सकता है जिसने १९०४ में भारत श्रीलंका आदि देशों की यात्रा की और चीन, तिब्बत आदि देशों में रही। दलाई लामा के पास भी रहकर उसने अध्ययन किया। उसकी पुस्तक With Mystics and Magicians in Tibet and My Journey to Lhasa बहुत लोकप्रिय हुई। इसी तरह L.A. Wadell की पुस्तक "Lamaism or the Buddhism of Tibet" और Sir Charles Bell की कुछ पुस्तकों ने बडी लोकप्रियता प्राप्त की। उस समय दार्जिलिंग में १९१०-१९१२ और १९२०-१९२१ में दलाई लामा देश निष्कासन की स्थिति में रह रहे थे। Evens Wentz (१८७५-१९६५) की पुस्तक The Tibetan Book of the Dead भी उल्लेखनीय है।

१९२५ में अनागारिक धम्मपाल ने इंगलेण्ड पहुंचकर महाबोधि सोसायटी की स्थापना Olcott के सहयोग से की। Buddhist Society भी यहीं काम कर रही थी। इसी समय यहां Tai Hsu चीन से Dr. D.T. Suzuki जापान भी यहां आये। सुजकी ने जेन सम्प्रदाय के लिए बहुत कुछ किया है। Alan Watts (१९१५-१९७३) ने भी उनको सहयोग दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व की यह स्थिति बौद्धधर्म की एक विशिष्ट यात्रा थी।

यूरोप में बौद्धधर्म

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अध्यात्म की ओर विश्व की दृष्टि घूमी। परिस्थिति बदली, पाश्चात्य धर्म असहाय से खडे रहे। वे नयी पीढी को कोई उत्तर नहीं दे सके। फलत: उनका मानस पूर्वीय धर्मों की ओर झुका। उन्होंने भारत, नेपाल, श्रीलंका, जापान, कोरिया, थाईलेण्ड आदि देशों की यात्रायें कीं और बौद्धधर्म की ओर उनका झुकाव बडा।

Zen सम्प्रदाय - डा. सुजुकी की विद्वत्ता ने ब्रिटेन और यूरोप के विद्वानों को आकर्षित किया। जेन सम्प्रदाय की ओर जिज्ञासा जाग्रत हुई। Hamphreys और Watts ने इस दिशा में अच्छा प्रयत्न किया। Imgard Schloegl ने जापान जाकर Zen का प्रशिक्षण लिया और इंगलेण्ड में ज़ेन केन्द्र स्थापित कर लोगों को प्रशिक्षित किया। इस कार्य में Sochu Suzuki Roshi और Nakagawa Soen Roshi (१९०७-१९८४) ने भी प्रशंसनीय योगदान दिया। विशेष रूप से Rinzai और Soto परम्पराओं का प्रचार अधिक हुआ। १९७० में Jiyu Kennette Roshi ने Zen Mission Society की स्थापना Mount Shasta केलिफोर्निया में की और यहां Soto Zen का प्रशिक्षण दिया।

सोतो ज़ेन के प्रचार में Taisen Desh-imaru (१९१४-१९८२) का भी योगदान सराहनीय है। उन्होंने L'Association Zen D'Europe की स्थापनाकर बेल्जियम, वेस्ट जर्मनी, अमेरिका, अफ्रीका आदि देशों में भी उनका प्रचार किया। अपने मित्रों के सहयोग अनेक पुस्तकों का भी प्रकाशन किया। न्यूयार्क आदि अनेक शहरों में Zen Centers की स्थापना हुई। Douglas Harding ने भी इस कार्य में सहयोग दिया। वर्तमान में अनेक संस्थान ज़ेन सम्प्रदाय के प्रचार में जुटे हुए हैं।

१९३७ में Edward Conze (१९०४-१९७९) को डॉ. सुजुकी की एक पुस्तक ब्रिटिश म्यूजियम के समीप एक पुस्तकों की दुकान में मिली और उसने उन्हें बौद्धधर्म के गंभीर अध्ययन में लगा दिया। उन्होंने अनेक विद्वत्तापूर्ण पुस्तकें लिखीं।

उनमें Buddhist Thought in India, Buddhism: Its Essence and Manifestations, Buddhist Meditation, Thirty Years of Buddhist Studies विशेष प्रसिद्ध हैं। वाशिंगटन विश्वविद्यालय में प्रोफेसर रहकर उन्होंने इस दिशा में बहुत काम किया।

Tibetan Buddhism

प्रोफेसर डुची (१८९४७१९८४) ने रोम में IsMEO की स्थापना कर तिब्बती बौद्धधर्म के अध्ययन का क्षेत्र विस्तृत कर दिया। उन्होंने १९२७ और १९४९ के बीच तिब्बत में जाकर पाण्डुलिपियों की खोज की Hoffmann (१८९८-१९८६) उर्फ लामा अनागारिक गोविन्द ने पुरातत्त्व और पालि का अध्ययन कर तिब्बत की परम्पराओं को Foundation of Tibetan Mysticism पुस्तक में समाहित किया है।

१९५९ में तिब्बती बौद्धधर्म की स्थिति बदल गई। दलाई लामा के भारत आ जाने पर तिब्बती अध्ययन तिब्बत के बाहर अधिक होने लगा। १९६३ में Trungpa Rimpoche इंगलेण्ड पहुंचे। तुल्कू के साथ रहकर उन्होंने वहां विशेष अध्ययन किया और Meditation in Action, Cutting Through Spiritual Materialism जैसी पुस्तकें लिखकर तिब्बती बौद्धधर्म के अध्ययन को और भी गति दी। उन्होंने Tibetan Buddhist Center की स्थापना कर उसके प्रचार में और भी तेजी ला दी। अमेरिका में भी उन्होंने उसका प्रचार किया।

समये लिंग ने ब्रिटेन और अफ्रीका में तिब्बती बौद्धधर्म का प्रचार किया। Karma Kagyu Tulku ने भी यही कार्य किया। उन्होंने Kagyu School, Gelug School आदि का भी प्रचार किया। अनेक लामाओं में Thubten Yeshe (१९३५-१९८४) का नाम उनमें विशेष उल्लेखनीय है जिन्होंने उनके साथ बौद्धधर्म का प्रचार किया। इसी तरह Geshe Rabten (१९२०-१९८६) ने भी इस क्षेत्र में अच्छा कार्य किया। १९८४ में दलाई लामा ने लण्डन की यात्रा की और वहां तिब्बती बौद्धधर्म का प्रशिक्षण दिया। इससे उसका और भी प्रचार बढा।

यूरोप में १९७७ में तिब्बतन शाक्य परम्परा भी स्थापित हुई। Ngakpa Jampa Thaye ने इस कार्य का नेतृत्व किया। मेनचेस्टरर विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त कर उन्होंने इस परम्परा को अनेक केन्द्रों की स्थापना कर बहुत आगे बढाया। Phende Rimpoche और उनके परिवार ने भी इसके प्रचार में बहुत सहयोग दिया। Hyingma School का भी प्रचार विदेशों में हुआ।

Pure Land Buddhism

डॉ. सुजुकी ज़ेन बौद्ध सम्प्रदाय से संबद्ध माने जाते हैं पर उन्होंने Pure Land के सूत्रों का भी अनुवाद किया है। इस सम्प्रदाय में अमिताभ की पूजा की जाती है। यह सम्प्रदाय चीन से जापान पहुंचा। वहां इसके दो सम्प्रदाय १३वीं शती में हुए Pureland of Honenn और True Pure Land School of Shinran ये दोनों सम्प्रदाय मप्पो के इस सिद्धान्त पर आधारित हैं कि वर्तमान काल में स्वयं के प्रयत्नों से निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता। अतः हमें अमिताभ की अनन्त कृपा पर निर्भर रहना पडेगा। उसे उनके सुखावती व्यूह स्वर्ग में जन्म लेकर उसकी साधना करनी पडेगी। दोनों सम्प्रदायों में विशेष अन्तर यह है कि होनेन स्व-प्रयत्नों पर कुछ विश्वास करते हैं जबकि शिनरेन ने उस पर बिलकुल विश्वास नहीं किया और पूरी तरह से अमिताभ की कृपा पर निर्भर रहने के लिए विवश कर दिया। शिनरन ने विवाह प्रथा का भी प्रारम्भ किया और वर्तमान में यह सम्प्रदाय पश्चिम में सर्वाधिक प्रभावशाली है। दोनों सम्प्रदाय 'नेम वुत्सु' मन्त्र पर समान रूप से जोर देते हैं। सिन परम्परा ब्रिटेन और अन्य यूरोपीय देशों में कम है। कुछ Buddhist Associations अवश्य बने हैं, आस्ट्रेलिया, स्विटरजरलेण्ड आदि देशों में भी कुछ लोग है पर अधिक प्रभावक नहीं है।

निचिरेन सम्प्रदाय

जापान का निचिरेन सम्प्रदाय भी ब्रिटेन और युरोप के अन्य देशों में प्रचलित है। निचिरेन सोसु की स्थापना १९३० में Makiguchi (१८७१-१९४४) द्वारा हुई। यूरोप में वह १९७० में पहुंचा। अपनी भौतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए नई पीढी इस संघ में पहुंचती है फिर भी इसमें आध्यात्मिकता जुडी हुई है। इसमें Gohonzon के प्रति श्रद्धा-भक्ति रखना तथा बौद्धसूत्रों और ''नमो म्योहो रेंगे-क्यो' मन्त्र का पाठ करना आवश्यक माना गया है। सद्धर्मपुण्डरीक के सूत्रों का पाठ करना Reiyukai परम्परा में अधिक प्रचलित है। इसकी स्थापना जापान में १९१९ में हुई थी।

Nipponzan Myohoji नामक इसका एक और सम्प्रदाय है जो विनय के कठोर नियमों में विश्वास करता है। इसके संस्थापक हैं फुजी (१८८५-१९८५) जो महात्मा गांधी से प्रभावित थे। वे धर्म के सही रूप को स्वीकारते थे। इस सम्प्रदाय के भिक्षु ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। इसमें 'ओडइमोकु' का पाठ किया जाता है।

थेरवाद

महायान सम्प्रदाय के साथ ही पाश्चात्य देशों में थेरवाद परम्परा भी लोकप्रिय हो गई है। १९६० से इसकी एक परम्परा तो मूल परम्परा से जुडी हुई है जिसमें मन्दिर, सेन्टर आदि की स्थापना है और दूसरी परम्परा पाश्चात्य देशों में जन्में संघ से संबद्ध है।

उदाहरण के तौर पर महाबोधि सोसायटी की स्थापना १९२६ में लण्डन में अनागारिक धम्मपाल ने की थी। १९४८ में पश्चिम में जन्में नारद थेर ने Buddhist Vihar Society इंगलेण्ड की स्थापना की और वहां वे १९५७ तक रहे। बाद में सद्धतिस्स थेर (१९१४-१९९०) यहां रहे और फिर मेडागम वजिरगंज इसके अधिष्ठाता हुए। यहां एक थाई विहार भी है जो १९६६ में लण्डन में थाई सरकार ने स्थापित किया था। इसमें सर्वप्रथम महाविचित्त तिस्सदत्तो रहे जो बाद में इसी विहार के प्रधान बन गये। १९७१ में उन्होंने भिक्षु अवस्था छोड दी।

यहीं बुद्धपदीप मन्दिर का निर्माण १९७५ में हुआ। १९७८ में वर्मी समुदाय ने एक विहार बनवाया। भिक्षु सयदव यहीं रहते थे। (१९०४-१९९२) यहां अनेक वर्मी लोग आते रहे। ब्रिटिश भिक्षु प्रशिक्षण के लिए श्रीलंका आदि देशों में जाते रहे। ज्ञानमोलि १९४९ में वहां गये। सयदव, पंचवद्धो आदि भी इन देशों में प्रशिक्षण लेने पहुंचे। विपश्यना का प्रशिक्षण यहां दिया जाता है। गोयनका आदि महानुभावों ने यहीं प्रशिक्षण लिया है। यहां रहने वाले भिक्षुओं में ऐसी भी संख्या कम नहीं है जो चीवर छोडकर गृहस्थ बन गये।

पाश्चात्य प्रकार का बौद्धधर्म

पाश्चात्य देशों में बौद्धधर्म के साथ विज्ञान, बुद्धिवाद, मनोविज्ञान आदि तत्त्व भी जुड गये। Ellam ने इसे 'नवयान' शब्द का प्रयोग किया। उन्होंने १९५१ में इस विषय पर एक पुस्तक भी लिखी। सुमंगलो थेर(१९०३-१९६३) ने यहां एक बौद्धसंघ की स्थापना की जिसका मूल उद्देश्य थेरवादी बौद्धधर्म की नवीन व्याख्या करना। इसकी पृष्ठभूमि में संघ रक्षित थेर थे जिन्होंने वाराणसी में भिक्षु जगदीश काश्यप से अध्ययन किया था। वे कुशल विद्वान और लेखक रहे हैं। वे बुद्धिवादी समीक्षा के साथ ही सूत्रपाठ, भक्ति, पूजा, ध्यान आदि में व्यस्त रहते थे। ऐसे और भी विद्वान भिक्षु रहे हैं जिन्होंने बौद्धधर्म की बुद्धिवादी समीक्षा की और उसे नयी पीढी के अनुकूल बनाया।

उत्तरी अमेरिका

यूरोप में जिस तरह बौद्धधर्म व्यापार के माध्यम से पहुंचा उसी तरह अमेरिका में भी उसने पूर्वीय समुद्री मार्ग से १९ वीं शती के अन्तिम दशक में प्रवेश किया। प्रारम्भ में ये बौद्ध सिद्धान्त अंग्रेजी दार्शनिकों के माध्यम से आये। H.D. Thoreau (१८१७-१९६२) ने आध्यात्मिक अनुभव की दृष्टि से अरण्यवास किया और उसका अनुभव अपने साहित्यिक कार्य Walden में उतारा। इसमें सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र का अनुवाद अंग्रेजी में हुआ। पश्चिमी समुद्री तट से सस्ते चीनी मजदूर केलिफोर्निया में रेलमार्ग आदि के

निर्माण के लिए पहुंचे। ये मजदूर अपने साथ कन्फ्यूसियनिज्म, बुद्धिज्म आदि के मन्दिर साथ में ले आये, चान, प्योर लेण्ड अमिताभ संस्कृति लेकर। हवाई में १८९९ में जापानी मन्दिर भी बनाया गया।

१८९३ में विश्व धर्म परिषद का आयोजन शिकागों में किया गया जिसमें अनागारिक धम्मपाल वगैरह अनेक बौद्ध विद्वानों ने भी भाग लिया। उनका प्रभाव अमेरिकी जनता पर बहुत पडा। Paul Carus ने D.T. Suzuki (१८७०-१९६६) की सहायता से बौद्धग्रन्थों का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया विशेष रूप से Zen सम्प्रदाय के। कोलंविया विश्वविद्यालय में फिर इसका एक विभाग भी स्थापित हो गया १९५० में। इसमें Sensai (१८७६-१९५८) और Saski (१८८२-१९४५) ने भी अपना योगदान दिया। ज़ेन सम्प्रदाय यहां सशक्त रूप से पल्लवित हुआ। १९३१ में प्रथम ज़ेन संस्थान की स्थापना न्युयार्क में हुई। अनेक उपन्यास आदि भी ज़ेन विषय पर प्रकाशित हुए Watts आदि विद्वानों के बीट्स और हिप्पीज ने भी संगीत आदि के माध्यम से बौद्धधर्म का प्रचार किया। वर्तमान में दसों Zen Centers अमेरिका में काम कर रहे हैं। पचासों विहार, मन्दिर, पुस्तक प्रकाशन, प्रशिक्षण केन्द्र, ज्ञान संस्थान इस क्षेत्र में काम कर रहे हैं। इसमें सोतो सम्प्रदाय का प्रचार अधिक हुआ है। Roshi जैसे अनेक विद्वान जापान गये द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद और वहां से विभिन्न बौद्ध सम्प्रदायों में प्रशिक्षित होकर वापिस अमेरिका आये और Moon Zen Mountain Center जैसे संस्थानों की स्थापना की।

चीन की चान परम्परा की स्थापना का श्रेय Hsuan Hua को जाता है जिन्होंने हजारों अनुयायियों के साथ अमेरिका में ध्यान मोनस्टरीज की स्थापना की। वर्तमान में न्यूयार्क में Chang Hwa Institute of Buddhist Studies संस्थान अच्छा कार्य कर रहा है।

कोरिया के Soen Sa Nim ने १९७२ में और Samu Sunim ने १९६७ में Zen Schools खोले। बाद में Zen Lotus Societies की स्थापना हुई।

तिब्बती बौद्धधर्म को प्रारम्भ करने का श्रेय Gelugpas को जाता है जिन्होंने १९५१ में उत्तरी अमेरिका में Freewood Acres, New Jersey की स्थापना की, First Buddhist Temple बना १९५५ में। उसके बाद तो अनेक लामा आये, दलाई लामा भी १९७९ में यहां पहुंचे जिन्होंने कालचक्र संस्थान का उद्घाटन किया १९८१ में। रिमपोचे ने कोलाराडो आदि में अनेक नगरों में वज्रधातु, वज्र रेजेन्ट आदि अनेक संस्थानों की स्थापना की। इनमें Tendzin (१९४५-१९९०) आदि के विषय में विवाद भी सामने आया जिसने इन संस्थानों पर प्रश्न चिन्ह खडा कर दिया।

तिब्बती बौद्धधर्म के प्रचार में Kalu Rimpoche (१९०५-८९) जैसे अनेक विद्वानों और साधकों ने अपना योगदान दिया जिन्होंने कालचक्र केन्द्रों की स्थापना की नियगम सम्प्रदाय की स्थापना Tarthang Tulku ने १९६९ में बरक्ले में की जिसमें प्रशिक्षण देने के लिए Kazi, रिमपोचे आदि अनेक विद्वान आये। शाक्यपा सम्प्रदाय का प्रचार Turrell Wylie (१९२७-१९८४ ने किया। बाद में रिमपोचे आदि अनेक विद्वानों ने उत्तरी अमेरिका के विभिन्न नगरों में केन्द्रों की स्थापना की।

थेरवादी परम्परा का प्रचार महायानी परम्परा की तुलना में कम हुआ। इस परम्परा के प्रचारकों में सुमेघो, भिक्खु बोधि, सयदव, आनन्द गुरगे धीरवंस जैसे विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं। जिन्होंने विपश्यना केन्द्र स्थापित किये। भावना सोसायटी, विहार आदि संस्थान भी काम कर रहे हैं श्रीलंका, वर्मा, थाईलेण्ड आदि देशों की मदद से। इस परम्परा के पच्चीसों केन्द्र आज अमेरिका में काम कर रहे हैं।

निचिरेन सम्प्रदाय भी लोकप्रिय हो रहा है। इसका श्रेय सदानग को जाता है जो १९५० में छात्र के रूप में आया और Nichiren Sho-Shu America जैसे संस्थानों की स्थापना १९६७ में की। आज हजारों अनुयायी इस सम्प्रदाय के अमेरिका में काम कर रहे हैं। पचासों संस्थानों की स्थापना हो चुकी है।

बौद्ध विद्वानों में Luis Gomez, Robert Thurman, Donald Lopez, Philip Yampolsky, Hopkins, Buswell, Thomas Cleary, आदि के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने साहित्य सृजन कर इस विधा का प्रचार-प्रसार किया। यहां बौद्धधर्म के प्रचार के साथ कुछ प्रश्न भी खडे हो गये। हम जानते हैं बौद्धधर्म में नारी वर्ग को वह स्थान नहीं दिया गया जो पुरुषवर्ग को मिला है। उन्हें आध्यात्मिक साधना में बाधक माना जाता है। भिक्खुणी संघ भी समाप्त प्राय हो गया है। पर अमेरिका में नारीवर्ग के लिए कुछ स्वतन्त्र केन्द्रों की स्थापना हुई है और Roshi, Pema जैसी महिलाएं इस दिशा में काम कर रही हैं। अनेक विदुषी महिलाओं ने भी भरपूर सहयोग दिया है।

अमेरिका में कोई मूल बौद्धधर्मावलम्बी नहीं है। वर्तमान में वहां तीन बौद्ध समुदाय हैं - १) अमेरिका में जन्मा पर बौद्धधर्म में परिवर्तित समुदाय, २) एशियन देशो से आया शरणागत बौद्ध समुदाय, और ३) चीनी और जापानी समुदाय। इन समुदायों में बीसवीं शताब्दी के मध्य दशकों में धर्मान्तरित और बाहर से आये बौद्ध समुदाय ने बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार में अच्छा योगदान दिया। उन्होंने अमेरिकों के अनुसार धर्म में परिवर्तन कर दिया और उसके कर्मकाण्ड को तदनुरूप बना दिया। इससे पालि अध्ययन

की ओर भी उनमें रुचि जाग्रत हुई। ऐसे लोगों की संख्या लगभग पचास लाख होगी। इसी तरह फ्रान्स में लगभग एक करोड़ और ग्रेट ब्रिटेन में लगभग तीन लाख बौद्ध हैं। अमेरिका में लगभग १०० बौद्ध स्तूप हैं। यहां बौद्ध धर्म के सभी सम्प्रदाय कार्यरत हैं। परन्तु थेरवाद अधिक प्रचलित है। लगभग दस बौद्ध विश्वविद्यालय हैं। इसी तरह आस्ट्रेलिया, श्रीलंका, भारत और अमेरिका आदि देशों में अनागारिक धम्मपाल ने पालि बौद्धधर्म के प्रचार में अपना सारा जीवन समर्पित कर दिया। परिणामतः इन देशों में भी पालि और बौद्धधर्म काफी लोकप्रिय हो रहा है।

अब एक प्रश्न यह भी उठ रहा है कि क्या बौद्धधर्म वर्तमान अशान्त वातावरण को सुधारने और शान्ति प्रस्थापित करने में सक्रिय सहयोग कर सकता है ? इस दिशा में Thick Nht Hanh ने एक नया शब्द निकाला है Engaged Buddhism और Robert Aitken Roshi ने १९७८ में की Buddhist Peace Fellowship की स्थापना की। इस माध्यम से सामाजिक, पर्यावरणीय और शान्ति स्थापना जैसे विषयों पर गंभीर विचार किया जाता है।

विवाहित भिक्षुओं और भिक्षुणियों ने भी एक प्रश्न खडा कर दिया कि क्या ऐसे लोग बौद्धधर्म के प्रभाव को बढा सकेंगे ? पर यह समुदाय भी एक सम्प्रदाय के रूप मे काम कर रहा है और बौद्धधर्म के प्रचार करने में जुटा हुआ है।

बौद्धधर्म और मनोविज्ञान

वर्तमान में बौद्धधर्म का उपयोग मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी हुआ है। जुंग जैसे मनोवैज्ञानिकों ने इस दिशा में काम किया है। Sigmund Freud (१८५६-१९३९), Carl Gustav Jung (१८७५-१९६१) ने मनोविज्ञान के अनेक पक्षों को बौद्धधर्म के अभिधर्म में से खोजकर समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। जुंग का ग्रन्थ "Psychological Commentaries" एक अच्छा योगदान है। जो Tibetan book of the Dead (१९३९-५३) और The Tibetan Book of the Great Liberation (१९३९-५४) आदि जैसे ग्रन्थों पर लिखा गया है। Eric Grahim Howe, Alan Watts आदि विद्वानों ने इस चिन्तन को आगे बढाया।

मनोवैज्ञानिकों में Zen बौद्धधर्म अधिक रुचिकर रहा है। D.T. Suzuki (१८७०-१९६६), Karen Horney आदि विद्वानों ने इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया है। सुजुकी के "Unconscious" शब्द ने एक नई चेतना स्थापित की। उनकी पुस्तक 'Psycho Analysis and Zen Buddhism' बडी लोकप्रिय हुई। इससे बौद्ध मनोविज्ञान के अध्ययन में रुचि जाग्रत हुई। R.D. Laing, Richard Alpert

जैसे मनोवैज्ञानिकों ने श्रीलंका, थाईलेण्ड, वर्मा जैसे देशों की यात्रा कर बौद्ध मनोविज्ञान का अध्ययन किया और Beyond Ego जैसी पुस्तकें लिखकर इस क्षेत्र में नई चेतना का स्वर उठाया। Willber की पुस्तक 'In Praise of Ego' ने एक दूसरी ही दिशा प्रदान की है चिन्तन की दृष्टि से। ध्यान साधना की दृष्टि से यह सब योगदान उल्लेखनीय है। मेरी पुस्तक **बौद्ध मनोविज्ञान** भी इस सन्दर्भ में दृष्टव्य है।

भारत में पालि-बौद्ध अध्ययन की स्थिति

जैसा हम पीछे लिख चुके हैं, १८-१९ वीं शती में भारत में पालि-बौद्धधर्म के अध्ययन का पुनरुत्थान Sir William Jones द्वारा स्थापित The Asiatic Society of Bengal कलकत्ता (१७८४) के माध्यम से प्रारम्भ हुआ और Prince (१७९९-१८४३) और Cunningham जैसे पुरातत्त्वज्ञों के अथक प्रयत्नों से वह फलीभूत हुआ। बुद्ध गया (१८७४), Sanskrit Buddhist Literate in Nepal (१८८२), राजेन्द्रलाल मित्र का ललितविस्तर (१८८७) आदि जैसे ग्रन्थों ने बौद्ध अध्ययन की दिशा को लोकप्रिय बनाया। Tieffenthaler द्वारा आविष्कृत दिल्ली-मेरठ स्तम्भ, और कोशाम्बी स्तम्भ पर उत्कीर्ण ब्राह्मी शिलालेख, लौरिय असरज स्तम्भ (१७८४) और बारबर हिल गुहाभिलेख (१७८५), दिल्ली-टोपरा स्तम्भ कोटला, अजन्ता, एलोरा, नासिक, कार्ले, भज, जुन्नार, गिरनार, शिलालेख (१८२२), इलाहाबाद स्तम्भ अभिलेख (१८३४)। कनिंघम की खोजों ने उनकी पुस्तक Ancient Geography of India, Part-I, The Buddhist Period ने, डॉ. भगवान लाल इन्द्रजी, James Burgess राजेन्द्र लाल मित्र, सरत चन्द्र दास आदि विद्वानों के अथक परिश्रम ने पालि-बौद्ध अध्ययन की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। Buddhist Text Society कलकत्ता (१८९२) की स्थापना ने भी उसमें जाग्रति का संचार किया। Nepalese Buddhist Literature of India (१८८२), Indian Pandits in Tibet, अवदान कल्पलता (१८८८), स्वर्ण प्रभास (१८९८), Tibetan English Dictionary आदि ग्रन्थों के प्रकाशन से भी पालि अध्ययन की दिशा में अच्छी प्रगति हुई।

Helena Blavastsky (१८३१-९१) और Colonel Olcott (१८३२-१९०६) ने १८७५ में Theosophical Society की स्थापना की। इसी तरह अनागारिक धम्मपाल (१८६४-१९३३) ने कोलम्बो में एक और सोसायटी महाबोधि सोसायटी खडी की। इन सोसायटीज ने बौद्धधर्म का पुनरुद्धार किया। अडयार मद्रास को इसका केन्द्र बनाया। महाबोधि सोसायटी की अनेक शाखाएं मद्रास, कुशीनगर,

अनुराधापुर आदि अनेक स्थानों पर स्थापित हुई १९०० में। उसके माध्यम से त्रिपिटक का अनुवाद हुआ, अनेक प्रकार के आन्दोलन हुए, Foster ने दोनों सोसयटीज के बीच समन्वय स्थापित किया, महाबोधि जर्नल का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसी बीच The World Parliament of Religions का सम्मेलन शिकागो में १८९३ में हुआ जिसमें **अनागारिक धम्मपाल** ने अपनी अच्छी छाप छोड़ी। इससे पालि-बौद्धधर्म के अध्ययन की ओर विद्वानों के मन में अभिरुचि जाग्रत हुई। सरत चन्द्र दास (१८४९-१९१७) ने The Buddhist Text Society की स्थापना १८९२ में की और विश्वभारती तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय ने उनके आन्दोलन को बढाने में अमित सहयोग दिया। सतीशचन्द्र विद्याभूषण, हर प्रसाद शास्त्री, विधुशेखर, बी.सी.ला, बी.एम. बरुआ, नलिनाक्षदत्त, पी.सी. बागची, नगेन्द्रनाथ बसु आदि शीर्षस्थ विद्वान इन्हीं विश्वविद्यालयों से जुडे थे जिन्होंने पालि-बौद्ध साहित्य पर गंभीर कार्य किया। कृपासरल महाथेर (१८६५-१९२६) द्वारा स्थापित The Bengal Buddhist Association (१८९२) ने भी इस दिशा में अच्छा कार्य किया।

बीसवीं शती

२० वीं शताब्दी के प्रथम दशक में बम्बई, पुणे, और बडोदा में पालि-बौद्धधर्म के विभागों की स्थापना हुई। प्रो. **धर्मानन्द कोसामबी**, आर.जी. भण्डारकर भगवान लाल इन्द्रजी और के.बी. पाठक ने इसमें अच्छा सहयोग दिया। कोशाम्बी ने हारवर्ड वि.वि. से विसुद्धिमग्ग पर पी-एच.डी. की। उनके चार शिष्य प्रसिद्ध हैं -पी. व्ही. बापट, सी.व्ही जोशी एन.के. भागवत और सी.व्ही. राजवाडे।

प्रो. **बापट** ने हारवर्ड वि.वि. से विमुत्तिमग्ग पर पी-एच.डी. की और फर्ग्यूसन कालेज में पालि के प्राध्यापक नियुक्त हुए १९४५ में। बाद में विश्वभारती और दिल्ली विश्व विद्यालय में काम किया। उन्होंने सुत्तनिपात, विमुत्तिमग्ग और विसुद्धिमग्ग, धम्मसंगणि, अट्ठसालिनी, अर्थपादसूत्र, 2500 Years of Buddhism, धुतांगनिर्देश, पालिसंगहो, धम्मपद, विनयसूत्र आदि ग्रन्थों पर काम किया। एन.के. भागवत (१८८७-१९६२) ने निदानकथा, महावंस, दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, थेर-थेरीगाथा महावग्ग, बुद्धघोसुप्पत्ति आदि ग्रन्थों का सम्पादन किया। व्ही.व्ही. गोखले भी फर्ग्यूसन कालेज और दिल्ली वि.वि. में रहे। उन्होंने प्रतीत्य समुत्पाद, प्रतीत्य समुत्पाद हृदय, अक्षरशतक, अभिधर्मकोश कारिका, अभिधर्मसमुच्चय आदि ग्रन्थों का सम्पादन किया। पी.एल. वैद्य ने धम्मपद और

चतुःशतकम् पर काम किया। इसी तरह आर.डी. वेडेकर, ए.बी. ध्रुव, गंगानाथ झा, हरिशंकर गौर, हरदयाल आदि विद्वानों ने भी पालि-बौद्धधर्म के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

इसके बाद इस क्षेत्र में तीन विद्वानों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं- **राहुल सांकृत्यायन (१८९३-१९६३), जगदीश कश्यप (१९०८-१९७६) और आनन्द कौशल्यायन (१९०५-१९८८)**। इन तीनों विद्वानों का अध्ययन धर्मालंकार वि.वि. श्रीलंका में हुआ। वहां से निकलकर उन्होंने भारत में पालि-बौद्धधर्म का प्रचार किया। राहुल सांकृत्यायन विशिष्ट प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने नेपाल, तिब्बत, भूटान आदि देशों की यात्रा कर शताधिक बौद्ध ग्रन्थों की पाण्डुलिपियां एकत्रित कीं और काशी जायसवाल शोध संस्थान पटना को समर्पित कर दीं। उन्होंने निम्नलिखित प्रमुख ग्रन्थ बौद्धधर्म पर लिखे और सम्पादित किये - १. बुद्धचर्या (१९३०), धम्मपद (१९३३), मज्झिमनिकाय हिन्दी अनुवाद (१९३३), विनयपिटक-हिन्दी अनुवाद (१९३४) तिब्बत में बौद्धधर्म (१९३५), बौद्ध दिग्दर्शन (१९४२), पालि साहित्य का इतिहास, बौद्ध संस्कृति, पुरातत्त्व निबन्धावली, महामानव बुद्ध (१९५६), अभिधर्मकोष (१९३०), विज्ञप्ति मात्रता सिद्धि (१९३४), प्रमाणवार्तिक (१९३५), अध्यार्ध शतक (१९३५), प्रमाणवार्तिक भाष्य (१९३६), प्रमाण वार्तिकवृत्ति (१९३६), प्रमाणवार्तिक स्ववृत्ति (१९३६), प्रमाणवार्तिक स्ववृत्तिटीका (१९३७), विग्रहव्यावर्तिनी (१९४३), वादन्याय (१९४३), विनयसूत्र (१९४३), हेतुबिन्दु (१९४४), सम्बन्ध परीक्षा (१९४४), निदानसूत्र परीक्षा, महापरिनिर्वाणसूत्र (१९५१)। राहुलजी वस्तुतः बौद्ध अध्ययन के महास्तम्भ थे।

जगदीश काश्यप की शिक्षा, वाराणसी में हुई। इसके बाद वे विद्यालंकार परिवेण श्रीलंका गये और फिर चीन, सिंगापुर, मलयेशिया और वर्मा। वाराणसी वि.वि. में उन्होंने पालि पढाना प्रारंभ किया। बाद में उन्होंने नालन्दा महाविहार के निदेशक पद पर कार्य किया। उन्हीं के सान्निध्य में पालि त्रिपिटक के ४१ भाग प्रकाशित हुए। कुछ समय के लिए वे सं. संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के भी प्रोफेसर रहे। पटना, रांची, मगध वि. विद्यालयों में भी पालि विषय का अध्यापन उन्हीं के प्रेरणा से प्रारम्भ हुआ। संयुत्तनिकाय, मिलिन्दपञ्हो, उदान का उन्होंने हिन्दी अनुवाद किया। पालि महाव्याकरण तथा Abhidhamma Philosophy उनके अन्य ग्रन्थ हैं।

आनन्द कौशल्यायन भी पालि बौद्धधर्म के अच्छे प्रचारक रहे हैं। उन्होंने ब्रिटेन, पेरिस, बारलिन, श्रीलंका आदि देशों में बौद्धधर्म का प्रचार किया। विद्यालंकार परिवेण में वे हिन्दी के अध्यापक रहे। बादमें नागपुर में उन्होंने अपने अन्तिम वर्ष

बिताये। महावंस, अंगुत्तरनिकाय और जातक का हिन्दी अनुवाद उन्होंने किया। मेरे उनसे घनिष्ठ सम्बन्ध श्रीलंका में रहे और मेरे नागपुर आने पर मैंने उन्हें यहां बौद्धधर्म के प्रचार के लिए आमन्त्रित किया।

इसी क्रम में प्रो. लोकेशचन्द्र का भी नाम लिया जा सकता है। संस्कृत, पालि, प्राकृत, ग्रीक, लेटिन, चीनी, जापानी, पुरानी पर्शियन आदि भाषाओं के गंभीर विद्वान हैं। उनकी लगभग ३५० पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। Tibetan Dictionary (४० भाग), Materials for a History of Tibetan Literature (२० भाग) आदि अनेक बौद्ध ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। वे अपने International Academy of Indian Culture के निदेशक हैं।

भारतीय विश्वविद्यालयों में पालि-बौद्धधर्म

भारतीय विश्वविद्यालयों में कदाचित् कलकत्ता विश्वविद्यालय प्राचीनतम विश्वविद्यालय है जहां (१९०७) में पालि विभाग की स्थापना हुई। इसमें सर आशुतोष मुकर्जी और कृपाशंकर महाथेर का बहुत बडा हाथ रहा है। इस विभाग से डी.डी. कोसाम्बी, विद्याभूषण, राखलदास बनर्जी, सुनीति कुमार चटर्जी, हेमचन्द्र राज चौधरी, प्रबोधचन्द्र बागची, सातकारी मुकर्जी, द्विजेन्द्र लाल बरुआ, आदि जैसे प्रगल्भ विद्वान सम्बद्ध रहे हैं। बी.एम. बरुआ, नलिनाक्ष दत्त, ए.सी.बनर्जी, के.एल.हजारा, आदि विद्वान भी यहीं से निकले थे। गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज कलकत्ता में भी पालि विषय है। (१९५९) से।

नवनालन्दा महाविहार **नालन्दा** (१९५१) में स्थापित हुआ। इसी के साथ बिहार में मिथिला इन्स्टीटयूट दरभंगा, के.पी. जायसवाल इन्स्टीटयूट पटना, विहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना, प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली संस्थान भी प्रारम्भ हुए थे। महाविहार में पालि-बौद्धधर्म के अध्ययन/अध्यापन की समुचित व्यवस्था है। अब तो यह डीम्ड युनिवर्सिटी बन चुकी है। इसमें विदेशी छात्र अधिक आते हैं। पुस्तकालय अच्छा है और प्रकाशन भी बहुत हुए हैं। डॉ. सामतानी, डॉ. महेश तिवारी यहीं के छात्र रहे हैं।

विश्व भारती, **शान्ति निकेतन**, वेस्ट बंगाल भी एक अच्छा सेन्टर रहा है। इसमें सिलवन लेवी ने १९२१ में तिब्बतन स्टडीज विभाग प्रारम्भ किया था। विधुशेखर भट्टाचार्य, प्रभात कुमार मुखर्जी, प्रबोधचन्द्र बागची यहीं के छात्र रहे हैं। यहां के पुस्तकालय में तंजोर और कंजोर दोनों सेट हैं।

दिल्ली विश्वविद्यालय में बौद्ध अध्ययन विभाग की स्थापना बुद्ध के २५०० वें महापरिनिर्वाण महोत्सव के समय हुई। प्रो. वापट की अध्यक्षता में विभाग में तिब्बती

और चीनी भाषाओं के अध्ययन की व्यवस्था हुई। विदेशी छात्र भी आकर्षित हुए। उन्होंने गुणप्रभ की विनयसूत्र पर लिखी सर्वास्तिवादी प्रव्रज्या वस्तु का सम्पादन किया। १९५७ के बाद प्रो. गोखले, पाण्डे, संघसेन, तिवारी, जैसे विद्वान विभागाध्यक्ष हुए और विभाग ने चतुर्मुखी प्रगति की।

संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय **वाराणसी** में पालि और थेरवाद तथा बौद्ध दर्शन विभागों की स्थापना हुई १९५९ में प्रोफेसर जगदीश कश्यप की अध्यक्षता में। बाद में पं. जगन्नाथ उपाध्याय, रामशंकर त्रिपाठी, लक्ष्मी नारायण तिवारी, ब्रह्मनारायण शर्मा अध्यक्ष बने। यहां शास्त्री, आचार्य आदि की परीक्षाएं होती हैं। यहीं सारनाथ वाराणसी में Central Institute of Tibetan Studies संस्थान है जो आज Deemed University हो चुकी है। १९५९ में दलाई लामा सहित लाखों तिब्बती शरणार्थी के रूप में भारत आये थे। प्रधान मन्त्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने १९६७ में इस संस्थान की स्थापना की इस उद्देश्य से कि यहां तिब्बती भाषा का विशेष अध्ययन हो सके। शत प्रतिशत् केन्द्रीय संस्थान है यह। लामा रिमपोचे के निदेशन में इस संस्थान ने अच्छा कार्य किया है। शास्त्री, आचार्य आदि उपाधियों के साथ ही शोध ग्रन्थों का प्रकाशन भी यहां होता है।

नागार्जुन विश्वविद्यालय में Centre for Mahayana Buddhism १९८२ में स्थापित हुआ। डॉ. के.एस. मूर्ति प्रथम निदेशक हुए। डॉ. सामतानी भी यहां कुछ समय निदेशक के रूप में रहे।

महाराष्ट्र बौद्धदर्शन और पालि अध्ययन का केन्द्र रहा है। डॉ. बाबासाहेब आम्बेडकर की यह कर्मभूमि भी रही है। यहां नागपुर विश्वविद्यालय में पालि-प्राकृत विभाग की स्थापना मारिस कालेज में १९४५ में हुई जब डॉ. हीरालाल जैन यहां आये। नागपुर विश्वविद्यालय में उसकी स्थापना १९६२ में हुई। अनेक ग्रन्थों के लेखक डॉ. भागचन्द्र जैन १९६५ में प्राध्यापक और अध्यक्ष के रूप में यहां नियुक्त हुए और विभाग ने उनके निर्देशन में अच्छी प्रगति की। यहां पालिप्राकृत का संयुक्त अध्ययन किया जाता है। डॉ. जैन राष्ट्रिय/अन्तर्राष्ट्रिय ख्याति के लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान हैं। १९९६ में वे सेवा निवृत्त हो गये। २००४ में राष्ट्रपति पुरस्कार से भी वे सम्मानित हुए। उनके ही प्रयत्नों से अमरावती, औरंगाबाद, जलगांव आदि वि. विद्यालयों में भी यह विषय संयोजित हुआ है।

बनारस हिन्दू वि.वि. में आचार्य नरेन्द्रदेव ने पालि विषय को संस्कृत के साथ संलग्न कर दिया था। बाद में लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान और राष्ट्रपति पुरस्कार से पुरस्कृत

डॉ. एन.एच. सामतानी के प्रयत्नों से स्वतन्त्र विभाग के रूप में स्थापित हुआ। यहां विदेशी छात्र अधिक आते हैं। इसी तरह मगध वि.वि. बोधगया तथा विहार के अन्य महाविद्यालयों में पालि विषय के अध्ययन की व्यवस्था है। उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद, लखनऊ, गोरखपुर आदि वि. विद्यालयों में इसे संस्कृत विभाग के साथ जोड़ दिया गया है। डॉ. गोविन्दचन्द पांडे जैसे विद्वान यहीं से निकले हैं जिन्होंने बौद्धधर्म का गहन अध्ययन किया और अनेक ग्रन्थ लिखे।

जम्मू विवि. में १९८७ में बौद्ध अध्ययन विभाग की स्थापना हुई। उसमें आज डॉ. राकेश मिश्र और डॉ. बी.लाभ काम कर रहे हैं। Sikkim Research Institute of Tibetology Gangtok की स्थापना १९५८ में हुई। इस संस्थान ने बौद्ध अध्ययन के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया है। आज वह Deemed University हो गई है। इसी तरह Central Institute of Buddhist Studies Leh-Laddakh १९५९ में स्थापित हुआ। वर्तमान में वह संपूर्णानिन्द सं वि.वि. से संलग्न है। इसमें बौद्ध हिमालय ग्रन्थमाला तथा लद्दाख प्रभा सीरीज के अन्तर्गत अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं।

विपस्सना रिसर्च इन्स्टीट्यूट की स्थापना **इगतपुरी** महाराष्ट्र में १९८५ में हुई। यहां से पालि त्रिपिटक और अट्ठकथाएं नागरी लिपि में प्रकाशित हुई हैं। इस संस्थान में विपस्सना ध्यान की भी अच्छी व्यवस्था है। गोयनका जी के प्रयत्नों से संस्थान अबाध गति से चल रहा है। भारतीय सरकार द्वारा प्रस्थापित राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान दिल्ली भी पालि और बौद्ध अध्ययन के विकास के लिए कृत संकल्प है। उसके पूर्व कुलपति प्रोफेसर राधाबल्लभ त्रिपाठी विविध योजनाओं के साथ उसके विकास में लगे हुए हैं। जगद्गुरु रामानन्दाचार्य सं.वि.वि. जयपुर के पूर्व कुलपति सारस्वत मनीषी श्री रामानुज देवनाथन् एवं वर्तमान कुलपती प्रो. विनोदकुमार शर्मा भी पालि एवं बौद्ध अध्ययन के विकास के लिए मनोयोग से जुटे हुए हैं। अन्य विश्वविद्यालयों में भी यह कार्य तेज गति से बढ रहा है। प्रसन्नता का विषय है कि उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश सरकार ने भी बौद्ध विश्वविद्यालय प्रस्थापित करने का उपक्रम प्रारंभ कर दिया है। इससे अन्य सरकारों और संस्थानों को भी इस विषय को बढाने के लिए प्रेरणा मिल सकेंगी।

इस तरह अब ऐसा लगता है कि भारत में पालि-बौद्धधर्म के अध्ययन / अध्यापन की स्थिति उज्ज्वलतर है, विदेशी छात्रों के लिए भी व्यवस्था अच्छी है। नये-नये विश्वविद्यालयों में इस विषय के खुल जाने से उसकी लोकप्रियता बढ रही है। बौद्ध देश भी उसकी स्थापना में अधिक रुचि दिखा रहे हैं। पर्याप्त छात्रवृत्तियां भी उपलब्ध हो रही हैं। शोध का क्षेत्र भी वृद्धिंगत हो रहा है।

SELECT BIBLIOGRAPHY

Original Sources

- Abhidhanappadipika along with Ekakkharakosa, Ed. Subhuti, Colombo 1883; Muni Jinavijaya, Ahmedabad, 1923; Bhagchandra Jain, Nagpur, 1974
- Anguttara Nikaya, Ed. R. Morris and E. Hardy, 5 Vols. P.T.S., London, 1885-1900, 1956; Devamitta Edition, Colombo, 1893; Ed. N.K.Bhagwat, Bombay University, 1936
- Anagatavamsa, Ed. Minieyeff, JOPTS. 1886
- Apadana Atthakatha (Visuddhajanavilasini), Ed. C.E. Godakumbura, P.T.S. London, 1954
- Atthasalini , Ed. E. Muller,P.T.S. London, 1897
- Buddhaghosauppatti, Ed. Jemes Grey, PTS. London, 1892
- Buddhavamsa and Cariyapitaka , Ed. Vimala Charan Laha, Lahore, 1924
- Buddhavamsa Atthakatha, (Madhuratthavilasini), Ed. I.B.Horner, P.T.S.London, 1946
- Cariyapitaka Atthakatha, (Paramatthadipini), Ed. D.L.Barua, P.T.S.London 1939; Ed. Vimalacharan Laha:
- Chhakeshadhatuvamsa, Ed. Miniyef, JOPTS, 1885
- Culavamsa Ed. W.Geiger, 2 Vols. P.T.S.London, 1925
- Cullaniddesa, Ed. W. Stede, P.T.S.London 1918
- Dathavamsa, Ed. Dr. Rhys Davids, PTS.London, 1884.
- Dhammapada, Ed. Suriyagoda, Sumangala, P.T.S., London, 1914 Dighanikaya, Ed. T.W.Rhys David and J.F. Carpenter, 3 Vols., P.T.S. London, 1890-11, Hindi translation by Rahul Sankratyayan and B. Jagdish Kashyap, Saranath, 1937
- Gandhavamsa, Ed. Minieyef, JOPTS, 1886
- Itivuttaka, Ed. Ernst Windisch, P.T.S., London 1915
- Khuddakapatha, Ed. Helmer Smith, P.T.S. London, 1915; Ed. By R.Sankratyayana, Ananda kausalyayana and J.Kashyap,1937; B. Dharmarakkhit, Sarnath, 1954; So many editions with Hindi Marathi and English. Translation published so far.

- Majjhima Nikaya,Ed. Trendkber and R. Chalmers, 3 Vols., P.T.S. London1888-96; Ed. N.K.Bhagawat, Bombay University, 1937-38; Hindi translation by R. Sankratyayan, Saranarh, 1933Mahabodhivamsa, Ed. M.A. Strang, PTS.London, 1890
- Nalatadhatuvamsa Series. Ed. Miniyef, Jof. Pali Text Series1885
- Saddhamasangaho, Ed. Sadanand, JPTS. 1890
- Samyutta Nikaya , Ed. Leon Fee, and Rhys Davids 5 Vols. P.T.S. London 1884-1904; Amarsingh edition, Valitara, 1818; Hindi translation, by B.Jagadish kashyapand B. Dharmarakshit, Saranath, 1954
- Sasanavamsa Ed. M.H.Bode, P.T.S. London1897
- Sutta Nipata, Ed. DinesAnderson and Helmer Smith, P.T.S. London, 1948
- Telakatahagatha, Ed. Gunratn, E.R., JOPTS, 1884; Hindi translation by Dharmarakshit, Sarnath, 1948
- Thera and Therigatha, Hermanna Oldenburg and Rechard Pischel, P.T.S,.London , 1930
- Thupavamsa, Ed. Dr. Vimalacharana Laha, PTS. London, 1935
- Udan, Ed. Paul Steinthal, P.T.S. London, 1885, 1948
- Vinaya Pitaka, Ed. H. Oldenburg, Vols. 1-4 , P.T.S. London1879-83; Ed. R. Sankratyayan, Sarnath, 1935;
- Hindi translation by Sankratyayayan, Delhi, 1934
- Pali Tripitaka, Devanagari Edition, Ed. Jagdish Kashyap,
- Pali Publication Board, Bihar Government, 1956 onwards, and Igatpuri Edition. 1998
- Anguttanikaya Atthakatha (Manoratha Purani), 4 Vols. Ed. Walleser and Karmanna Kopp. P.T.S. London 1924-40
- Dhammapada Atthakatha, 5 Vols. Ed. H.C.Norman & L.S.Tailong, P.T.S. London 1906-15
- Dhammasangani Atthakatha , Atthasalini, Ed. E. Muller, P.T.S. London, 1897 Dhatukatha, (with Commentary), Ed. Goonratne, E.R. PTS. London, 1892
- Digha Atthakatha (Sumangala Vilasini), 5 Vols. Ed. TG.W.Rhys Davids and others, P.T.S. London, 1886-1932
- Dipavamsa Ed. H.Oldenburg, London 1879

- Gandhavamsa, Ed. Prof. Minayeff, Journal of the Pali Text Society, London 1886
- Itivuttaka Commentary (Atthakatha), 2 Vols. Rd. M.M. Bose, London 1932; Ed. Sankratyayan, J.Kashyapa and A.Kausalyayana, 1937; Hindi transolation by B. Dharmarakshit, Sarnath 1956
- Jatakas with Commentary, 7 Vols. Ed. Fausboll. P.T.S.London, 1895-1907 Jinacarita, Ed. Rauz, W.H.D., JOPTS, 1904
- Jinalankara, Ed. Jems, PTS, London1894
- Kaccayana Vyakarana, Ed. Senart, JORAS, 1871; Satishchabdra Vidyabhushan, Calcutta, 1891; L.Tiwari and Vir. Sharma, Varanasi, 1962Kathavatthu, Ed. A.C. Teller, PTS. London, 1894, 1897; Hindi translation by Kausalyayana, Prayag
- Kathavatthuppakarana Atthakatha, Ed. J. Miniyeff, JPTS, London, 1889
- Khuddakapatha, Colombo, 1922
- Khuddakapatha Atthakatha; Ed. Helmer Smith, PTS. London, 1915 Mahavamsa W. Geiger, Colombo, 1950; Hindi translation by Kausalyayana, Prayag, 1942
- Mahavamsatika (Vamasatthappakasini), Mahavamsa Atthakatha, G.P.Malalasekhar, P.T.S.London, 1935
- Mahaparinibbanasuttanta and Cullavagga, Ed. L.Finot, IHQ. 8, 241-46
- Majjhimanikaya Atthakatha (Papanchasudani), 5 Vols. Ed. J.H.Woods, D. Kosambi and I.B.Horner, P.T.S., London, 1922-38
- Minilndapanha, Ed.V. TTrenckner, London 1928; Hindi translation by Kashyapa, Varanasi, 1965
- Moggallana Vyakarana, Ed. Devamitta, Colombo, 1890
- Manorathapurani, M. Welleser, H. Kopp, Vols, 1-4, London, 1924-1956
- Niddesavannana (Saddhammapajjotika Mahaniddesa Atthakatha), 1-111, Ed. A.P.Buddhadatta, P.T.S. London1931-41
- Pajjamadhu, Ed. Gunratna, JOPTS, 1887; A.Das, Calcutta, 1990
- Pancagatidipana, Ed. Lion Fear, JOPTS, 1884
- Pali Kosa Sangaho, Ed. Jinavijay, Ahmedabad, 1980; Jain, Bhagchandra Bhaskar, Nagpur, 1974
- Pali Literature of Burma, Mebil Bod, Rangun.

- Pali Sandesavali, Ed Buddhadatta, Colombo, 1962 Papanchasudani, B.C.Law, Indian Culture, Vol. XII 1945
- Paramatthajotika (Khuddakapatha Commentary), 1, Ed. Helmer Smitth, P.T.S. London, 1915
- Paramatthajotika (Suttanpata Commentary) 11, Ed.Helmer Smith, P.T.S. 1916-18
- Patimokkha, Ed. And translated by prof. Bhagchandra Jain, Nagpur, 1972
- Patthana, Ed. Smt. Rhys Davids, PTS, London, 1906
- Patisambhidamagga Atthakatha (Saddhamappakasini), 1-111, Ed. C.V.Joshi, P.T.S. London , 1933-47
- Petavatthu with Atthakatha Paramatthadipini, Ed. Ed. E. Hardy, P.T.S.London 1894
- Prakrit Dhammapada Ed. Varua and Surendranath Mitra, Calcutta university, 1921; Bhagchandra Jain Bhaskar, Prakrit Bharati, Jaipur 1990; Ed.
- Puggalapannatti, Ed. Moris, PTS, London 1883
- Puggalapannatti Atthakatha,Ed. G. Landsberg and Mrs. Rhys Davids, JPTS, London, 1913-14
- Rasavahini, Ed. Saranatissa, Colombo, 1901
- Saddaniti, Ed. Helmer Smith, PTS.London, 1970
- Saddhammasangaha, JPTS, London, 1890
- Saddhammopayan, Ed. Rechord Moris, JOPTS, 1887
- SadhucaritodayaEd. C.E. Godakumbura, JBCBRAS 1845-1945.
- Sihalavatthupakarana and Pali Atthakatha Literature, JPBS, 1889 The Sahassavatthu Atthakatha Ed. Rahul, T, UCR. 1984
- Samantapasadika (Vinaya Atthakatha), B.C.Law, Indian Culture, Vol.XII 1946
- Sammohavinidini, Ed. Buddhadatta Thera, PTS. Londn, 1923 Samyuttanikaya Atthakatha (Saratthappakasini), 3 Vols, Ed. F.L. Woodward, P.T.S.London,1929-37
- Sumangalavilasini, Ed. T.W.Rhys Davidsand J.E. Carpenter, W. Stede, P.T.S.London, 1866.
- Suttanipata, Rd. Bapat, Pune, 1924; Hindi translation by B. Dharmarakshit, Sarnath 1944
- Suttanipata Atthakatha (Paramatthajotika), 3 Vols. Heliner Smith, P.T.S.London ,1916-18.

- Thera-Therigatha Ed. Sankratyayana, Kashyapa and Kaushalyayan, 1937; Ed. Bhagawat, Bombay University, 1937; Hindi trans;ation by B. Dharmarakkshit, 1959; Hindi translation by Kaushlayayana, Prayag, 1971
- Theragatha Atthakatha (Paramatthadipini) 3 Vols. Ed. F.L.Woodward, P.T.S. London, 1940-59.
- Therigatha Atthakatha, Ed. Muller, LOndon, 1892
- Udana, Ed. R. Sankratyayan, Ananda Kausalyayan and B. Jagadish Kashyap, Sarnath, 1937; Hindi translation by J.Kashyap, Sarnath, 1937
- Udana Atthakatha, Ed. F.L. Woodward, P.T.S. London 1926 Vibhanga Atthakatha Samhohavinodani, Ed. A.P.Buddhadatta, P.T.S.London, 1923
- Vimanavatthu with Atthakatha, Ed. H. Hardy, P.T.S. London 1901; Ed. By Sankratyayan, Kaushlayayan, and B.Kashyapa 1937
- Vinayapitakam H.Oldenburg, 5 Vols. London, 1879-83
- Visuddhimagga , Ed. Rhys Davids, 2 Vols., P.T.S. London, 1920-21; Ed. D. Kausambi, Bombay, 1940; Hindi translation by Dharmarakkshit, Sarnath, 1956-7
- Yamakappakarana Atthakatha Ed. A.F. Rhys Davids, JPTS: 1910-1
- Yamaka, Ed. Rhys Davids, , PTS, London, 1911-13

Secondary Sources

- Adikaram E.W., Early History of Buddhism in Ceylon, Colombo, 1946
- Bapat, P.V. Vimuttimagga and Visuddhimagga, A Comparative Study, Poona, 1937
- Barua , B.M. Buddhadatta and Buddhaghosa, 1945Bronkhorst, J., Dharma and Abhidharma, BSOAS, 48, 1985
- Barua, B.M.: A History of Pre- Buddhist Philosophy, Calcutta, 1921
- Burlingame, E.W., Buddhist Parables: Yale university, 1922
- Dutt, N.: Early Monastic Buddhism , Calcutta, 1960
- Dutt, N: Spread of Buddhism and Buddhist Schools: London:
- Dutt, S.: Early Buddhist Monasticism, London, 1960
- Dutt S.: Buddhist Monks and Monasteries of India, London, 1962

- Edgerton F. Buddhist Hybrid Sanskrit Dictionary, New Haven , 1953
- Endo T. : A Study of the Rasabahini with Special Reference to the Concept of Dana, Buddhist Studies, 1988
- Franke R.O., Dipavamsa and mahavamsa, WZKM.21, 203-250, 1907
- Geiger, W.: Pali Literature and Language Translated by Ghosh, Calcutta, 1956
- Hazra, K.L. : Studies on the Pali Commentaries, Delhi, 1991
- Hazra, K.L.: Pali Litrerature and Language, : A Systematic Survey and Historical Study, Vol. 1 & 11 , Delhi, 1914
- Hinuber, O.: Notes on the pali Tradition in Burma, NAWGNr. 3, 1983
- Hinuber O.: Selected Papers on Pali Studies: Oxford, 1994
- Jain, Bhagchandra Bhaskar, Bauddhasanskriti ka Itihasa, Nagpur 1974
- Jayavardhane, S: Handbook of Pali Literature, Colombo, 1994
- Jayvardhane S: A Critical Introduction to the Study of pali Tikas:Uragoda, 1995
- Law, B.C. A History of Pali Literature, 2 Vols. London ,
- Law B.C., Buddhaghosha , Bombay, 1933
- Luce, G.H. : The 550 Jatakas in Burmna, Artibus Asiae, 1966
- Malalsekera,G.P.: The pali Literature of Ceylon, Colombo,1928
- Malalsekher , G.P. Dictionary of Pali Proper Names, 2 Vols, London, 1937-38.
- Mellick Cutler, S. The pali Apadana Collection, JPTS, 1994
- Mizuno, K: A Comparative Study of the Theragatha and the Therigatha, Buddhist Studies, 1933
- Mori, S: Sinhalavatthuppakarana and Pali Atthakatha Literature , Journal of pali and Buddhist Studies, 1988
- Pachow, W: A Comparative Study of the Pratimoksa on the Basis of Its Chinese Tibetan , Sanskrit and pali Versions, Shantiniketan, 1956
- Pande G.C.: Studies in the origins of Buddhism , Delhi, 1974
- Pande, G.C.: Bauddhadharma Ke Vikasa ka Itihasa, Lucknow, 1980
- Pind, O.: Studies in the Pali Grammarians JPTS 1990

- Rahul, T: The Rasabahibi abd Sahassavatthu : A Comparision JIABS, 1984
- Rahul W: History of Buddhism in Ceylon, Colombo, 1966
- Rhys Divids T.W.: The Pali English Dictionary, PTS. London 1921-24.
- R.H. Robinson, The Buddhist Religion: A Historical Introduction, Belmont 1970
- Real Noble Rose, Buddhism: A History, Berkeley, USA
- Rajendra Ram, History of Buddhism in Nepal, 1978
- Saddhatissa, H: Pali Literature of Thailand, 1974
- Saddhatiss H: Pali Literature from Laos, 1979
- Saddhatiss H: Pali Literature in Combodia, JPTS, 1981
- Saddhatissa H: Pali Literature in Soyuth -East Asia, Singapore, 1993
- Skilling, P: Theravada Literature in Tibetan Translation, JPTS. 1993
- Trenckner, V. : A Critical pali Dictionary , Copebhagen, Vol. 1 1994
- Upadhyaya, B.S.: Pali Sahitya ka Itihasa, Prayag, 1972
- Yashimoto, S,: On the Sarasangaho, Buddhist Studies, 1995
- Conze Edward , Buddhist Thought in India, USA, 1962
- Humphreys, C. Popular Dictionary of Buddhism, London, 1976
- Heinz Bechert & Rechard Gombrich, The World of Buddhism, London 1984
- John Snelling , The Buddhist Handbook, NY. 1991
- Ling, T.O., Dictionary of Buddhism: NY. 1972
- Nakmura, H.: Indian Buddhism: A Survey with Bibliographical Notes: Tokyo, 1980
- Warder, A.K., Indian Buddhism, Delhi, 1980
- Gaulier and others, Buddhism in Afganistan and Central Asia, 2 Volums, London, 1976
- Petech, L. Mediaeval History of Nepal, Rome, 1958
- Narayan, A.K.: Studies in the History of Buddhism, Ed. Delhi, 1980
- Tagare G. Vasudeo, Pali Sahityaca Itihasa, Pune, 1982
- Sarao, K.T.S. Origin & Nature of Ancient Indian Buddhism, Delhi 10
- Shastri, Indrachandra, Pali Bhasha aur Sahitya, Du 1987.

संक्षिप्त परिचय



प्रोफेसर भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

स्थायी पता : 133, तुकारामचाल, सदर,
नागपुर – 440001 (महाराष्ट्र)
फोन : 0712–2541726, मो. 09421363926
Email : drbcjain@hotmail.com

1. वय, जन्म तिथि एवं स्थान : लगभग 75 वर्ष – 11.09.1936 (मातृभाषा – हिन्दी)

2. (क) **शैक्षणिक योग्यता** : 1) डी.लिट् (संस्कृत), 2) डी.लिट् (पालि–प्राकृत), 3) डी.लिट् (हिन्दी), 4) पी–एच.डी. (पालि–प्राकृत) विद्योदय विश्वविद्यालय, 5) एम.ए. (प्रा.भा.इ.सं. एवं पुरातत्त्व), 6) एम.ए. (पालि), 7) एम.ए. (संस्कृत), 8) शास्त्राचार्य (प्राकृत–जैनदर्शन), 9) आचार्य (संस्कृत साहित्य), 10) साहित्यरत्न (हिन्दी)।

(ख) शैक्षणिक नियुक्तियाँ :

1. पूर्व एमेरिटस प्रोफेसर, मद्रास वि.वि. चेन्नई 2009–10
2. पूर्व प्रोफेसर एवं सं. निदेशक. रा. प्राकृत शोध सं. श्रवणबेलगोल (2004–9)
3. मानद प्रोफेसर एवं निदेशक, सन्मति प्राच्य शो.सं. नागपुर
4. पूर्व प्रोफेसर एवं निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी 1999–2000
5. पूर्व प्रोफेसर एवं निदेशक, जैन अनुशीलन केन्द्र, राजस्थान वि.वि. जयपुर – 1983–85
6. पूर्व अध्यक्ष–नागपुर वि.वि. पालि–प्राकृत विभाग, 1965–1996
7. पूर्व रीडर, बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली वि.वि. 1977

8. वर्तमान में कार्यरत प्रोफेसर एवं अध्यक्ष जैनदर्शन पीठ ज. रामानन्द संस्कृत वि.वि. जयपुर

3. प्राचीन पाण्डुलिपियों का सम्पादन/अनुवाद

1. (क) प्राकृत–अपभ्रंश संस्कृत जैन ग्रन्थ

1. प्राकृत धम्मपद – प्राकृत भारती, जयपुर 1984 (350 पृ.)
2. संवोह पंचासिया – राज. वि.वि. जयपुर 1985 (100 पृ.)
3. वयकहा – राज. वि.वि. जयपुर 1985 (50 पृ.)
4. चंदप्पहचरिउ (यशःकीर्ति) –वीर सेवा मं. ट्रस्ट 1985 (300 पृ.)
5. धम्मपरिक्खा (हरिषेण) – सन्मति प्राच्य शोध संस्थान, नागपुर 1983 (300 पृ.)
6. दोहाकोस (सरहपा), वही 1992 (80 पृ.)
7. अलंकार दप्पण – पार्श्वनाथ वि.पीठ, वाराणसी 2001 (80 पृ.)
8. मूलाचार (कुन्दकुन्द) 2 भाग, श्रवणबेलगोला, 2004 (1200 पृ.)
9. कसायपाहुड (गुणधर) – श्रवणबेलगोला, 2004 (120 पृ.)
10. सड्खण्डागम (पुष्पदन्त–भूतबली), वही, 2 भाग (1000 पृ.)
11. कसायपाहुड चुण्णिसुत्तं (यतिवृषभ), वही, 2004 (600 पृ.)
12. कुन्दकुन्द ग्रन्थावली, वही 2004 (600 पृ.)
13. तिलोयपण्णत्ति (यतिवृषभ), वही दो भाग (1500 पृ.)
14. कत्तिगेयाणुवेक्खा (कार्तिकेय), वही (300 पृ.)
15. भगवती आराधना (शिवार्य), वही (300 पृ.)
16. नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ग्रन्थावली, वही (1000 पृ.)
17. धवला – तीन भाग, वही (1200 पृ.)
18. जयधवला तीन भाग, वही (1500 पृ.)
19. योगीन्दु ग्रन्थावली, वही (600 पृ.)
20. शेष प्राकृत ग्रन्थावली, वही तीन भाग (1200 पृ.)
21. बौद्ध दोहाकोस–गीत (सरहपा) – कला प्रकाशन वाराणसी 2008 (100 पृ.)

22. यशोधरचरितम् (सकलकीर्ति) सन्मति प्रा.शो.सं. नागपुर 1989 (150 पृ.)
23. षोडशक प्रकरण (हरिभद्र) – पार्श्वनाथ वि.पी. वाराणसी 2004 (250 पृ.)
24. प्राकृत भाषा और स्वरूप (कन्नड) श्रवणबेलगोला 2006 (150 पृ.)
25. सूयगडंग टीका (शीलांक) (शोध योजना)
26 जिन भक्ति प्रसून, नागपूर, 2002

ख) पालि एवं बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों का सम्पादन/अनुवाद

1. अभिधानप्पदीपिका – आलोक प्रकाशन नागपुर 1972 (200 पृ.)
2. पातिमोक्ख–हिन्दी अनुवाद सहित – वही, 1974 (225 पृ.)
3. अभिधम्मत्थ संगहो – वही 1975 (150 पृ.)
4. सारत्थप्पकासिनी – 1990, दो भाग भारत सरकार में प्रस्तुत
5. पालि तिपिटक सम्पादन (शोध योजना)
6. चतुःशतकम् (आर्यदेव) आलोक प्रकाशन, नागपुर 1974 (350 पृ.)
7. चतुःशतकम् (आर्यदेव) द्वि.सं. वाराणसी 2004 (पृ. 3001)
8. हेवज्रतन्त्र – प्र.सं. सन्मति प्रा.शो.सं. नागपुर 1996
9. हेवज्रतन्त्र–द्वि.सं. 2 भाग, कला प्रकाशन, वाराणसी 2009 (600)

3. स्वतन्त्र ग्रन्थों का लेखन

1. (क) प्राकृत एवं जैनधर्म

1. Jainism in Buddhist Literature (Ph.D. Thesis) नागपुर 1966 (250 पृ.)
2. महावीर और उनका चिन्तन – रत्न पुस्तकालय धूलिया 1976 (200 पृ.)
3. श्रमण दर्शन, साहित्य और संस्कृति (डी.लिट. शोध प्रबन्ध)
4. जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास – नागपुर वि.वि. 1978 (500 पृ.)
5. Jain Logic, मद्रास वि.वि. चेन्नई 1992 (100 पृ.)

6. Studies in Jainism and Buddhism (डी. लिट् थीसिस)
7. A Survey of Prakrit Literature लाडनूं 1991
8. जैन–बौद्ध दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन, वाराणसी 1992 (150 पृ.)
9. Jainism and Mahaveer, दिल्ली 1993 (150 पृ.)
10. भारतीय दर्शनों में निर्वाण का स्वरूप, जयपुर 1989 (250 पृ.)
11. समयसार का दार्शनिक चिन्तन – दिल्ली 1996 (250 पृ.)
12. मूकमाटी : चेतना के स्वर (डी. लिट् हिन्दी शोध प्रबन्ध), नागपुर 1995 (400 पृ.)
13. Reality of Knowledge, लाडनूं 1995 (50 पृ.)
14. जैन संस्कृति कोश – तीन भाग, वाराणसी 2002
    1) जैन इतिहास संस्कृति और पुरातत्त्व (800 पृ.)
    2) जैन दार्शनिक और आध्यात्मिक चेतना (400 पृ.)
    3) जैन सांस्कृतिक चेतना (400 पृ.)
15. Jain Anthology, वाराणसी, 2004
16. जैनधर्म और संस्कृति, नागपुर 1970 (150 पृ.)
17. Jainism : A Religion of Ascetism
18. समय की शिला पर उभरते भावचित्र (काव्य संग्रह, 3 भाग)
19. Jainism (700 पृ.)
20. जैनधर्म (400 पृ.)
21. जैनाचार्य कोश (शोध योजना)
22. जैनधर्म और पर्यावरण, दिल्ली 2005 (300 पृ.)
23. जैन–बौद्ध संस्कृति में अहिंसा, अनेकान्त, अपरिग्रह एवं पर्यावरण (350 पृ.)
24. शौरसेनी भाषा और साहित्य का इतिहास (500 पृ.)
25. तीर्थंकर महावीर और उनके दशधर्म, वाराणसी 2001 (150 पृ.)

26. भक्ति गीतांजलि–वाराणसी 2008 (250 पृ.)
27. भक्तामर स्तोत्र और णमोकार मन्त्र का वैज्ञानिक अध्ययन (250 पृ.)
28. लगभग 200 शोधनिबन्ध प्रकाशित
29. जैन संस्कृत साहित्य का इतिहास (500 पृ.)

(ख) पालि एवं बौद्धधर्म–दर्शन

1. बौद्ध संस्कृति का इतिहास – नागपुर 1974 (350 पृ.)
2. भारतीय संस्कृतिला बौद्धधर्माचे योगदान (मराठी) – नागपुर वि.वि. 1976 (500 पृ.)
3. बौद्ध मनोविज्ञान – नागपुर 1991 (250 पृ.)
4. डॉ. अम्बेडकर और बौद्धधर्म – नागपुर 1991 (250 पृ.)
5. Buddhism – नागपुर
6. बौद्ध संस्कृति, (300 पृ.)
7. पालि भाषा और साहित्य का इतिहास (300 पृ.)
8. माध्यमिक दर्शन (300 पृ.)
9. बौद्ध विश्व दिग्दर्शन (300 पृ.)
10. डॉ. अम्बेडकर–कांशीराम–मायावती और बौद्धधर्म, वाराणसी 2009 (600 पृ.)
11. पालि–हिन्दी–अंग्रेजी कोश
12. चतुःशतकम् (अंग्रेजी अनुवाद)।

इन ग्रन्थों में कतिपय ग्रन्थ अद्यावधि अप्रकाशित है।

5. लगभग तीस शोध छात्रों ने पी–एच.डी./डी.लिट् उपाधियां आपके निर्देशन में प्राप्त कीं।
6. लगभग 30 अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों में भाग लिया और सत्रों की अध्यक्षता की (न्यूयार्क, रोम, हार्वर्ड वि.वि)
7. लगभग 100 राष्ट्रीय संगोष्ठियों में भाग लिया और सत्रों की

अध्यक्षता की एवं अनेक विश्वविद्यालयों में विविध विषयों पर व्याख्यान दिये।

8. पालि–प्राकृत–संस्कृत को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया तथा उनमें काव्य–सृजन किया।
9. लगभग 35 वर्षों का प्रशासकीय अनुभव
10. देश–विदेशों में भ्रमण एवं व्याख्यान दिये
11. शैक्षणिक संस्थानों के सम्मानित सदस्य
    1. दिल्ली, नागपुर आदि विद्यापीठों के शिक्षा परिषद् आदि के सदस्य
    2. अखिल भारतीय प्राच्य परिषद्
    3. International Religious Foundation, New York
    4. International Asian and African studies, Canada
    5. राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन एवं शोध संस्थान श्रवणबेलगोल
    6. राष्ट्रीय प्राकृत संसद
    7. इंडियन एसोसिएशन ऑफ बुद्धिस्ट स्टडीज
    8. इंडियन एसोसिएशन ऑफ प्राकृत–अपभ्रंश अँड जैन स्टडीज
12. संस्कृत, पालि, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती भाषाओं में दक्षता
13. शोध पत्रिकाओं के मानद सम्पादक – श्रमण, रत्नत्रय, नागपुर विद्यापीठ शोध पत्रिका, प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्धार
14. प्राप्त साहित्यिक सम्मान विवरण
    1. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग शोध छात्रवृत्ति 1962
    2. कामन्वेल्थ फेलोशिप श्रीलंका – 1963–65
    3. नेशनल यू.जी.सी. फेलोशिप 1985–87
    4. भारतीय केन्द्रीय सरकार पुरस्कार, 1980
    5. प्रदीप रामपुरिया पुरस्कार, बीकानेर, 1986
    6. महावीर पुरस्कार, महावीरजी, 1990
    7. कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुरस्कार, इन्दौर, 1996

8. प्राकृत एवं जैन दर्शन संस्कृति सेवा पुरस्कार, 1995
9. पूरणचन्द्र रिद्धिलता पुरस्कार, महावीरजी, 1996
10. विद्वत्सम्मान पुरस्कार 1998
11. जेजानी ट्रस्ट पुरस्कार, नागपुर 1990
12. श्रुतसम्बर्धन पुरस्कार, मेरठ, 1994
13. अहिंसा इन्टरनेशनल पुरस्कार, दिल्ली 2002
14. सिद्धान्त संरक्षण समिति पुरस्कार, दिल्ली 1996
15. नागपुर विद्यापीठ अमृत महोत्सव पुरस्कार 1998
16. शास्त्री परिषद् पुरस्कार 1980
17. द्रोणप्रान्तीय विद्वत्सम्मान पुरस्कार 1990
18. केलादेवी पुरस्कार 1994
19. राष्ट्रपति पुरस्कार पालि–प्राकृत क्षेत्र में विशिष्ट योगदान के लिए 2004
20. Men of the year 1998 – 2004 अमेरिका
21. अहिंसा पुरस्कार नागपुर 2005
22. गोम्मटेश विद्यापीठ पुरस्कार श्रवणबेलगोला 2007
23. मंजुश्री सम्मान बौद्ध अध्ययन के क्षेत्र में 2010
24. जैन रत्न, अमेरिका 2011
25. कवि कुलगुरू कालिदास संस्कृत विश्वविद्यालय, रामटेक/नागपुर द्वारा प्रदत्त महामहोपाध्याय विरूध 2012

16. सामाजिक एवं शैक्षणिक क्षेत्र में प्रदत्त सेवाएं

1. अनेक संस्थाओं के सदस्य/अध्यक्ष
2. पू. माता–पिता श्रीमती तुलसादेवी गोरेलाल जैन चेरीटेबल ट्रस्ट की स्थापना और उससे लाखों रूपयों का दान
3. छात्रावास एवं विद्यालय की स्थापना
4. राष्ट्रपति पुरस्कार चुनाव समिति के सदस्य
5. विभिन्न विश्वविद्यालयों की चुनाव समितियों के सदस्य

संक्षिप्त शीर्षक शब्द सूची

